उपनिषत्सञ्चयनम्

ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषदः

आचार्य केशवलाल वी. शास्त्री

॥ श्रीः ॥

व्रजजीवन प्राच्यभारती ग्रन्थमाला
162

उपनिषत्सञ्चयनम्

(हिन्दीभाषानुवादसहितम्)

द्वितीयः खण्डः

(ब्रह्मोपनिषदाऽऽरभ्य मुद्गलोपनिषत्पर्यन्तम्)

अनुवादकः
आचार्य केशवलाल वि० शास्त्री

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
दिल्ली

उपनिषत्सञ्चयनम्

प्रकाशक
चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
38 यू. ए. बंगलो रोड, जवाहर नगर
पो. बा. नं. 2113
दिल्ली 110007
दूरभाष : (011) 23856391, 41530902

प्रथम संस्करण 2015 ई.
मूल्य : 375.00

अन्य प्राप्तिस्थान
चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
के. 37/117, गोपालमन्दिर लेन
पो. बा. नं. 1129, वाराणसी 221001

•

चौखम्बा विद्याभवन
चौक (बैंक ऑफ बड़ौदा भवन के पीछे)
पो. बा. नं. 1069, वाराणसी 221001

•

चौखम्बा पब्लिशिंग हाउस
4697/2 गली नं. 21-ए, अंसारी रोड
दरियागंज, नई दिल्ली-110002

•

मुद्रक
ए.के. लिथोग्राफर्स, दिल्ली

ISBN : 978-81-7084-613-0 (Vol. 2)
978-81-7084-617-3 (Set)

प्राक्कथन

परम्परा तो ऐसा कहती है कि हरएक वैदिक शाखा की अपनी एक-एक उपनिषत् थी; यदि इस किंवदन्ती में कुछ तथ्य हो, तब तो हमारा विशाल उपनिषत्साहित्य कालग्रस्त हो गया है, ऐसा अनुमान किया जा सकता है; पर जो-कुछ भी हो, उपनिषदें कुछ कालग्रस्त हुईं भी हों या न हों, तथापि उपनिषदों के निर्माण का सिलसिला तो आधुनिक काल तक जारी ही रहा है। सभी उपनिषदें एक साथ तो नहीं बनी हैं। वैदिककालीन उपनिषदों का भी भाषाकीय दृष्टि से विद्वानों ने क्रम बताया ही है; जैसे—प्रारम्भ में बृहदारण्यक, तैत्तिरीय, ऐतरेय, कौषीतकी, केन और छान्दोग्य आदि गद्य उपनिषदें बनीं। मध्यकाल में कठ, ईश, श्वेताश्वतर, मुण्डक और महानारायण आदि पद्यात्मक उपनिषदें बनीं तथा उसी श्रौतकाल के अन्तभाग में प्रश्न, मैत्रायणी और माण्डूक्योपनिषद् जैसी गद्यात्मक उपनिषदों का निर्माण हुआ—ऐसा भाषावैज्ञानिक विद्वानों का मानना है। यह तो केवल श्रौतकालीन उपनिषदों के भाषाकीय वर्गीकरण के आधार पर उनके समय की क्रमिकता बताने का अनुमान है, परन्तु इसके बाद भी उपनिषदों के निर्माण का क्रम चालू ही रहा है। इसको समझने के लिए हमें इतिहास पर थोड़ी दृष्टि डालनी होगी।

हमारे देश का प्राचीन नाम आर्यावर्त है, पर इसका यह अर्थ नहीं है कि इसमें केवल आर्य-श्रौत-वैदिक लोग ही निवास करते थे; हाँ, आर्य लोगों की अधिकता अवश्य थी। आर्यावर्त में आर्येतर शबर, पुलिन्द आदि कई अन्य लोग भी बसते ही थे। भागवत में ऐसी छोटी-मोटी नौ जातियों का उल्लेख है। तो आर्य और आर्येतर जाति एक ही भूमि पर रहते हुए भी विभिन्न संस्कृति वाली, विभिन्न धर्मभावना वाली और विविध उपासना पद्धति वाली थी। इस तरह दो समान्तर विचारधाराएँ एक ही भूमि पर वर्षों तक प्रवहमान रहीं। श्रौतभावधारा का नाम 'निगम' और इतर भावधारा का सामुदायिक नाम 'आगम' पड़ा।

कालान्तर में दोनों भावधाराओं का—दोनों संस्कृतियों का अभीष्ट संगम हुआ। और ऐसी एक समन्वयात्मक संस्कृति का निर्माण हुआ कि आज हम उन दोनों का पृथक्करण कर ही नहीं सकते; परिणाम यह हुआ कि एक ओर निगमों ने आगम को अपनी उपनिषदों की कुछ विद्याओं में स्थान दिया (जैसे अग्निविद्या आदि) और दूसरी ओर उन आगमों ने भी अपने को, 'वेदबाह्य नहीं हैं, वेदमूलक हम भी हैं'—ऐसा ठहराने का प्रयत्न किया। इसके लिए सबसे सरल मार्ग यह था कि अपने मत की ऐसी कोई उपनिषद् बनाकर किसी-न-किसी वेद के साथ में जोड़ दें। और उन आगमवादियों ने यही मार्ग पसन्द किया और फलस्वरूप हमें कुछ शैव, वैष्णव, शाक्त, गाणपत्य और हठयोग आदि की उपनिषदें मिलीं। उपनिषद् निर्माण का सिलसिला जारी ही रहा। ऐसा होने में निगम-आगम दोनों पक्षों का सहयोग था। निगम पक्ष में इस प्रक्रिया के पुरस्कर्ता 'शुभागमपंचक' (शुक, सनत्कुमार आदि) को माना जाता है। यह घटना अतिप्राचीन है। इस तरह उपनिषदें निर्मित होती रहीं।

श्रौतकाल के बाद की यह ऐतिहासिक घटना है। बौद्धकाल में भी यह समन्वयात्मक उपनिषत् निर्माण का प्रवाह चालू ही रहा और बौद्धमार्ग की छायावाली एक 'वज्रसूचि' नामक उपनिषद् भी मिलती है। समन्वय-भावना भारतीय संस्कृति की नसों में प्रवहमान है। और तो क्या कहें ? मुसलमानों के अर्वाचीन शासनकाल में भी उपनिषदों का बहुत बड़ा विस्तार देखा जाता है। एक 'अल्लोपनिषद्' भी मिलती है। इतना ही नहीं आज तक यह प्रक्रिया चालू ही है। विविध मतवादों को वेदमूलक बताने

की यह समन्वयात्मक प्रक्रिया है। हमारी संस्कृति का यह एक ऐसा शाश्वत तत्त्व है कि जिसके कारण हमारी संस्कृति हजारों वर्षों से जीवित रही है, कभी पतली और कभी अन्त:सलिला सरस्वती की तरह छिपी रहकर भी जीवित ही है। अभी थोड़े समय पहले ही हमारे प्रथम गवर्नर जनरल राजगोपालाचारी ने 'रामकृष्णोपनिषद्' नाम की एक उपनिषत् लिखी थी, परन्तु वह अंग्रेजी में होने से उपनिषदों की शैलीयुक्त नहीं थी इसलिए बेंगलूरू के स्वामी हर्षानन्द ने इसे उपनिषदों की शैली में पुन: संस्कृत में प्रस्तुत किया है।

यह सारा इतिहास हमारे वेदों, हमारी उपनिषदों और हमारी समन्वयभावना का महिमागान कर रहा है, हमारी वेदमूलकता को बढ़ावा दे रहा है, तथा उपनिषद् की उपादेयता बता रहा है।

आज तो इन उपनिषदों की संख्या सम्भवत: 272 तक पहुँच गई है, परन्तु उनमें से महत्त्वपूर्ण उपनिषदों का विद्वानों ने संचय या समुच्चय किया है। कभी-कभी उसे उपनिषत्संहिता भी कहा जाता है। इस प्रकार के समुच्चय दो प्रकार के हुए हैं—एक उत्तर भारतवर्ष में हुआ है और दूसरा दक्षिण भारत में व्यवस्थित हुआ है। पहले समुच्चय में 52 उपनिषदें आती हैं और दूसरे समुच्चय में 108 उपनिषदें आती हैं। पहले समुच्चय के ऊपर श्रीनारायण की दीपिका नाम की टीकाएँ हैं, और उसकी व्यवस्था भी नारायण ने ही रची है, ऐसा विद्वानों का अनुमान है। इसके बाद का दूसरा समुच्चय जो कि मुक्तिकोपनिषत् में प्रस्तुत की गई (108 उपनिषदों वाली) सूची के अनुसार है, जो अधिक प्रचलित है और 'अष्टोत्तरशतोपनिषत्' की संज्ञा से प्रतिष्ठित है, अत: प्रस्तुत संस्करण में इस दूसरे अधिक प्रचलित समुच्चय को ही ग्रहण किया गया है, और उस समुच्चय में कुछ उपनिषदों के पूर्व और उत्तर ऐसे दो भाग होने से कुल एक सौ ग्यारह उपनिषदें होती हैं।

मुक्तिकोपनिषत् में दिये गए विवरण के अनुसार 108 उपनिषदों की सारणी इस प्रकार है—इसमें ऋग्वेद की 10, शुक्लयजुर्वेद की 19, कृष्णयजुर्वेद की 32, सामवेद की 16 और अथर्ववेद की 31 = कुल मिलाकर 108 उपनिषदें होती हैं, जिसका विवरण यहाँ दिया जा रहा है—

१) ऋग्वेदीय उपनिषदें—ऐतरेय, कौषीतकि, नादबिन्दु, आत्मबोध, निर्वाण, मुद्गल, अक्षमालिका, त्रिपुरा, सौभाग्यलक्ष्मी और बह्वृच (कुल 10)।

२) शुक्लयजुर्वेदीय उपनिषदें—ईश, बृहदारण्यक, जाबाल, हंस, परमहंस, सुबाल, मंत्रिका, निरालम्ब, त्रिशिखिब्राह्मण, मण्डलब्राह्मण, अद्वयतारक, पैंगल, भिक्षुक, तुरीयातीतावधूत, अध्यात्म, तारसार, याज्ञवल्क्य, शाट्यायनी और मुक्तिका (कुल 19)।

३) कृष्णयजुर्वेदीय उपनिषदें—कठ, तैत्तिरीय, ब्रह्म, कैवल्य, श्वेताश्वतर, गर्भ, नारायण, अमृतबिन्दु, अमृतनाद, कालाग्निरुद्र, क्षुरिका, सर्वसार, शुकरहस्य, तेजोबिन्दु, ध्यानबिन्दु, ब्रह्मविद्या, योगतत्त्व, दक्षिणामूर्ति, स्कन्द, शारीरक, योगशिखा, एकाक्षर, अक्षि, अवधूत, कठरुद्र, रुद्रहृदय, योगकुण्डलिनी, पंचब्रह्म, प्राणाग्निहोत्र, वराह, कलिसंतरण, सरस्वतीरहस्य (कुल मिलाकर 32)।

४) सामवेदीय उपनिषदें—केन, छान्दोग्य, आरुणि, मैत्रायणि, मैत्रेयी, वज्रसूचिका, योगचूडामणि, वासुदेव, महा, संन्यास, अव्यक्त, कुण्डिका, सावित्री, रुद्राक्षजाबाल, जाबालदर्शन और जाबालि (कुल 16)।

५) अथर्ववेदीय उपनिषदें—प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, अथर्वशिर, अथर्वशिखा, बृहज्जाबाल, नृसिंहतापिनी, नारदपरिव्राजक, सीता, शरभ, त्रिपाद्विभूतिमहानारायण, रामरहस्य, रामतापिनी,

शाण्डिल्य, परमहंसपरिव्राजक, अन्नपूर्णा, सूर्य, आत्मा, पाशुपतब्रह्म, परब्रह्म, त्रिपुरातापिनी, देवी, भावना, ब्रह्मजाबाल, गणपति, महावाक्य, गोपालतापिनी, कृष्ण, हयग्रीव, दत्तात्रेय, गरुड (कुल 31)।

हमने नृसिंहतापिनी, रामतापिनी तथा गोपालतापिनी इन तीनों उपनिषदों के जो पूर्वतापिनी और उत्तरतापिनी ऐसे दो विभाग प्रचलित हैं, उन्हीं का स्वीकार करके दो-दो उपनिषदों की गणना की है, इस प्रकार इस दूसरे समुच्चय में उपनिषदों की कुल संख्या 111 होती है।

हमारी आज की संस्कृत भाषा की अपेक्षा प्राचीन उपनिषदों की वैदिक संस्कृत भाषा कुछ अलग है और अर्वाचीन उपनिषदों में भी पारिभाषिकता अधिक होने से संस्कृत के अनभिज्ञ लोगों के लिए और कभी-कभी अभिज्ञ लोगों के लिए भी दुरूह हो गई हैं, फिर भी उपनिषदों के आदर्श इतने महान् और भव्य हैं कि सम्पूर्ण विश्व की दृष्टि को अपनी ओर उन्होंने आकर्षित किया है। ई. 1640 में शाहजहाँ के ज्येष्ठपुत्र दाराशिकोह ने अपने काश्मीरवास के दरमियान उपनिषदों के बारे में कुछ बातें सुनकर वाराणसी के कुछ पण्डितों को दिल्ली बुलाकर पहले-पहल उपनिषदों का फारसी अनुवाद करवाया। सन् 1775 में फैजाबाद में रहने वाले फ्रांसीसी राजदूत ली जेन्टील ने उस अनुवाद की एक कापी अपने मित्र एकेलीन दुपरो को दी। उन्होंने उन उपनिषदों का लैटिन में अनुवाद किया और 1801-2 में वह प्रकाशित हुआ। वह अनुवाद क्लिष्ट होने पर भी शोपनहॉवर ने उसे बड़े उत्साह से पढ़ा। उन पर उसका बड़ा भारी प्रभाव पड़ा। उन्होंने लिखा है—"इस नवीन शताब्दि में सबसे महत्त्वपूर्ण लाभ यह हुआ है कि उपनिषदों के अनुवाद ने वेदों के अपौरुषेय ज्ञान का मार्ग खोल दिया है। मेरा यह विश्वास है कि संस्कृत साहित्य का प्रभाव उतना ही गम्भीर और व्यापक होगा, जितना की पंद्रहवी शताब्दि में पुनरुत्थानकाल में ग्रीक साहित्य का हुआ था। मेरी यह मान्यता है कि यदि किसी व्यक्ति ने प्राचीन भारतीय दर्शन का ज्ञान प्राप्त किया है, और उसने उसे समझा हो, तो उसे मैं जो कुछ भी कहना चाहता हूँ, वह इससे और भी स्पष्ट हो जाएगा। उपनिषदों में अपना अलग-अलग अस्तित्व रखने वाले अनेक क्लिष्ट सूत्र जो हैं, वे मेरे वर्णन से सरल-सुबोध हो जाएंगे।" (हाल्डेन एवं केम्प कृत अनुवाद)

उपनिषदों की अपनी भूमिका में मैक्समूलर ने कहा है—"शोपनहॉवर ने उपनिषदों को जो 'उच्चतर मनीषा की उपज' कहा है, वह ठीक ही है, किन्तु और भी तथ्य उन्होंने बताया वह भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है, वह यह कि उपनिषदों में जो बहुदेववाद दिखाई देता है, वह ब्रूनो, मेलकांश, स्पिनोजा और स्काट्स एरिजिना के बताए हुए बहुदेववाद से कहीं अधिक उच्चतर है। इन महान् ज्ञान-भाण्डागारों को उच्चतम स्थान दिलाने के लिए इतना ही पर्याप्त है। इनके सम्बन्ध में कुछ कहूँ, तो उससे अधिक वे स्वयं प्रमाण हैं।"

इसके बाद स्वामी विवेकानन्द आए। इनके पहले भी कुछ भारतीय विद्या के प्रेमी हुए थे, पर बहुत ही व्यापक प्रमाण में उन्होंने उपनिषदों के वेदान्ती ज्ञान को सारे पश्चिम में एक झंझावात की तरह फैला दिया। और आज तो प्रत्येक विचारक उपनिषदों को लक्ष्य में लिए बिना रह ही नहीं सकता। डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् को भी इसका श्रेय जाता है।

ऐसे हमारे संचित निधि के रूप में आज भी वे जगमगा रहे हैं। उपनिषदों के ही प्रभाव से एक युग के कट्टर शत्रु 'विज्ञान' और 'अध्यात्म' आज नजदीक आ गए हैं। एक समय था जब अध्यात्म और विज्ञान के बीच पूर्णिमा और अमावास्या जितना बड़ा अन्तर था, जो आज शुक्ल चतुर्दशी और पूर्णिमा जितना मात्र ही रह गया है, दोनों के रास्ते अलग होने पर भी लक्ष्य एक ही है। विज्ञान बाहर से जिस तत्त्व की खोज कर रहा है, उसी तत्त्व की खोज अध्यात्म भीतर (अन्तस्) से कर रहा है। एक

शक्ति केन्द्रोत्सारी है, दूसरी केन्द्रगामी है। अनादि काल से दोनों की प्रक्रियाएँ अविरत चल ही रहीं हैं। कौन प्रथम और कौन द्वितीय है—यह कौन कह सकता है ? कोई नहीं। अत: हमें दोनों का स्वीकार करके चलना है। ऐसा नहीं करेंगे तो गति रुक जाएगी। इसलिए हमें आज केन्द्रगामी शक्ति के छूट जाने का भय सता रहा है, और उसे परितुष्ट केवल उपनिषदें ही कर सकतीं हैं; चलिए हम फिर से उस केन्द्रगामी शक्ति को जगाएँ और उपनिषद् के विचारों को सोच-समझकर अपने जीवन को सुव्यवस्थित बनाएँ। हमें ये सभी विविध अध्यात्म विभावनाएँ मान्य हैं, लेकिन हम उनमें से अपनी रुचि, रस, रुझान, योग्यता, अधिकार के योग्य वस्तु चुनकर जीवन को संतुलित करेंगे—'एकं सद् बहुधा विप्रा वदन्ति।'

प्रकृत संस्करण के सन्दर्भ में

मुक्तिकोपनिषत् में वर्णित क्रम के अनुसार, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, उपनिषदों की संख्या 108 मानने की परम्परा चली आ रही है। श्री शंकराचार्य के भाष्यवाली उपनिषदों के अलावा एक-दो और उपनिषदों का मन्त्रश: हिन्दी अनुवाद तो मिलता है, इसके अतिरिक्त 98 उपनिषदों का मन्त्रश: हिन्दी अनुवाद हमारी दृष्टि में नहीं आया है। अत: हमने औपनिषदिक मन्त्रों के मौलिक स्वरूप को ध्यान में रखते हुए जहाँ तक बन सका है, मूलपाठों का अन्वय करके शब्दश: अनुवाद करने का प्रयास किया है। उपनिषत्कथित उपासनाओं की निदर्शनीय प्रक्रियाएँ अब लुप्त-प्राय हो गईं हैं, इसलिए भिन्न-भिन्न व्याख्याकारों ने अपने विशिष्ट ढंग से उन मन्त्रों की विवेचना की है। उनमें से हमें जो ज्यादा सरल और सुगम जान पड़ी, उसी के आधार पर मन्त्रों का अनुवाद प्रस्तुत किया है। उपासनाओं की गुत्थियों को सुलझाने के लिए पं० वासुदेवशरण अग्रवाल प्रभृति विद्वानों के अभिप्रायों को लक्ष्य में लेने का यथा सम्भव प्रयास किया है। तान्त्रिक, यौगिक एवं सम्प्रदाय-विशेष की उपनिषदों के अनुवाद में सुगमता एवं सरलता का विशेष ध्यान रखा गया है।

आशा है मेरा यह प्रयास संस्कृत एवं संस्कृति-प्रेमियों को पसन्द आयेगा।

विदुषामनुचर:
केशवलाल वि० शास्त्री

31,ओंकार टावर,
राजकोट (गुजरात)

उपनिषत्क्रम

पृष्ठांक

❋

॥ श्रीः ॥

उपनिषत्संग्रहः

(11) ब्रह्मोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

तेईस मंत्रों की इस कृष्णयजुर्वेदीय उपनिषद् में ब्रह्म का स्वरूप और उसकी प्राप्ति का उपाय बताया गया है। इसीलिए इस उपनिषद् का नाम ब्रह्मोपनिषद् पड़ा है। कुछ लोग इसे ही ब्रह्मबिन्दूपनिषद् कहते हैं, परन्तु कुछ विद्वानों की ऐसी राय है कि ब्रह्मबिन्दूपनिषद् तो कृष्णयजुर्वेदीय अमृतबिन्दूपनिषद् का ही दूसरा नाम है। वह अमृतबिन्दूपनिषत् तो इससे अलग ही है। उसमें तो बाईस मन्त्र हैं।

यहाँ प्रस्तुत ब्रह्मोपनिषद् में चतुष्पाद ब्रह्म का वर्णन किया गया है। इसके बाद परब्रह्म का अक्षरत्व, ब्रह्म और निर्वाण की एकरूपता, हृदय में विद्यमान देवगण, प्राण और ज्योति—ऐसे ब्रह्म के तीन स्वरूप (त्रिवृत्सूत्र) का वर्णन, यज्ञोपवीत का तात्त्विक रहस्य, शिखा, यज्ञोपवीत आदि का स्वरूप - ज्ञान, ब्राह्मणों के लिए उस ज्ञान की आवश्यकता आदि विषय सुचारु रूप से बताए गए हैं। बाद में ब्रह्मप्राप्ति का उपाय, सत्य, तप आदि की महिमा बताकर, जिस प्रकार दूध में घी मिला हुआ ही रहता है, ठीक उसी प्रकार आत्मा और ब्रह्म की एकता स्थापित की गई है। ब्रह्म की व्यापकता, सर्वसत्तावत्ता की अनुभूति करनेवाला साधक स्वयं ब्रह्मस्वरूप हो जाता है, यह बताया गया है। कुछ विद्वान् इसे अथर्ववेदीय भी बताते हैं।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

हे पूर्णब्रह्म परमात्मा ! आप हम दोनों (गुरु-शिष्य) की साथ-साथ रक्षा करें। हम दोनों का साथ-साथ पालन करें। हम दोनों साथ-साथ शक्ति प्राप्त करें। हम दोनों द्वारा प्राप्त की गई विद्या तेजोमयी हो। हम दोनों आपस में कभी द्वेष न करें।

हे परमात्मन् ! हमारे त्रिविध (आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक) तापों की शान्ति हो।

अथास्य पुरुषस्य चत्वारि स्थानानि भवन्ति। नाभिर्हृदयं कण्ठं मूर्धेति। तत्र चतुष्पादं ब्रह्म विभाति। जागरितं स्वप्नं सुषुप्तं तुरीयमिति। जागरिते ब्रह्मा स्वप्ने विष्णुः सुषुप्तौ रुद्रस्तुरीयमक्षरम्। स आदित्यो

विष्णुश्चेश्वरश्च स्वयममनस्कमश्रोत्रमपाणिपादं ज्योतिर्विदितम् ॥1॥

इस शरीर में नाभि, हृदय, कण्ठ और ब्रह्मरन्ध्र—ये चार आत्मा के (विशिष्ट) स्थान हैं। (उन चार स्थानों में) चार चरणवाला वह ब्रह्म प्रकाशित होता है। उस आत्मा की जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय—ऐसी चार अवस्थाएँ होती हैं। उन अवस्थाओं में से जाग्रत् में ब्रह्मा के रूप में, स्वप्न में विष्णु के रूप में और सुषुप्त अवस्था में रुद्र के रूप में तथा चौथा तुरीय अवस्था में अक्षर अर्थात् परमात्मा के रूप में वह प्रकाशित होता है। यह आत्मा स्वयं तो मन, इन्द्रियों, हाथ, पैर आदि से रहित ही है। वह केवल ज्योतिस्वरूप ही है, ऐसा सर्वविदित ही है।

यत्र लोका न लोका देवा न देवा वेदा न वेदा यज्ञा न यज्ञा माता न माता पिता न पिता स्नुषा न स्नुषा चाण्डालो न चाण्डालः पौष्कसो न पौष्कसः श्रमणो न श्रमणस्तापसो न तापस एकमेव तत्परं ब्रह्म विभाति निर्वाणम् ॥2॥

उस आत्मा में (ब्रह्म में) लोक लोकरूप में नहीं होते, देव देवों के रूप में नहीं होते, वेद वेदरूप में नहीं हैं, यज्ञ यज्ञों के रूप में नहीं हैं, माता माता के रूप में नहीं है, पिता पिता के रूप में नहीं है, बहू बहू के रूप में नहीं है, चाण्डाल चाण्डाल के रूप में नहीं है, भील भील के रूप में नहीं है, संन्यासी संन्यासी के रूप में नहीं है, वानप्रस्थ वानप्रस्थ के रूप में नहीं है, परन्तु वह तो सदैव एकरूप ही है, अत: वह निर्वाणरूप में और ब्रह्मरूप में प्रकाशित होता है।

न तत्र देवा ऋषयः पितर ईशते प्रतिबुध्यः सर्वविद्येति ॥3॥

उस ब्रह्म में देवलोग, ऋषिलोग और पितृलोग अपना सामर्थ्य नहीं रख सकते। वह तो ज्ञान द्वारा ही जाननेयोग्य है और वह सर्वविद्यास्वरूप है।

हृदिस्था देवताः सर्वा हृदि प्राणाः प्रतिष्ठिताः।
हृदि प्राणाश्च ज्योतिश्च त्रिवृत्सूत्रं च तद्विदुः॥
हृदि चैतन्ये तिष्ठति ॥4॥

''सभी प्राणियों के हृदय में सभी देवता रहते हैं। हृदय में ही प्राण अवस्थित हैं। हृदय में ही प्राण और ज्योति हैं। इस प्रकार तीन स्वरूप से परमात्मा अवस्थित हैं—ऐसा जो सूचित करता है वह तीन तन्तुओं वाला यज्ञोपवीत है।'' यह बात उसके रहस्य को जाननेवाले समझ सकते हैं। वह परमात्मा चेतना के रूप में हृदय में निवास करता है—ऐसा बताते हैं।

यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः ॥5॥

(हृदयस्थ आत्मा को सूचित करता हुआ यह—) यज्ञोपवीत परम पवित्र है। वह प्रजापति के साथ पहले ही उत्पन्न हो गया है। वह आयुष्य को देनेवाला है।—ऐसा समझकर तुम उत्तम और उज्ज्वल उपवीत धारण करो। वह यज्ञोपवीत तुम्हें बल देनेवाला और तेज देनेवाला हो।

सशिखं वपनं कृत्वा बहिःसूत्रं त्यजेद् बुधः।
यदक्षरं परं ब्रह्म तत्सूत्रमिति धारयेत् ॥6॥

शिखासहित मुण्डन कराने के बाद अर्थात् संन्यासी होकर ज्ञानी को उस बाहर के सूत्र को

(उपवीत को) छोड़ देना चाहिए। और जिसे अविनाशी परब्रह्म कहा जाता है, उसे ही सूत्र समझकर उसी को हृदय में धारण कर लेना चाहिए।

सूचनात्सूत्रमित्याहुः सूत्रं नाम परं पदम्।
तत्सूत्रं विदितं येन स विप्रो वेदपारगः ॥7॥

उपवीत परब्रह्म की हृदय में ही स्थिति सूचित करता है, इसीलिए उसे 'सूत्र' कहा जाता है। सूत्र ही परमपद है। जिसने उस सूत्र को पहचान लिया है, वह वेदों का पारंगत विप्र है, ऐसा माना जाता है।

येन सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।
तत्सूत्रं धारयेद्योगी योगवित्तत्त्वदर्शिवान् ॥8॥

जिस तरह सूत के तन्तु में मनके पिरोये होते हैं, उसी प्रकार ब्रह्म में यह सब कुछ पिरोया है। इसीलिए तो वह सूत्र कहा जाता है। ऐसे सूत्र को योगवेत्ता और तत्त्वदर्शी योगी को अपने हृदय में धारण करना चाहिए।

बहिःसूत्रं त्यजेद्विद्वान् योगमुत्तममास्थितः।
ब्रह्मभावमिदं सूत्रं धारयेद्यः स चेतनः।
धारणात्तस्य सूत्रस्य नोच्छिष्टो नाशुचिर्भवेत् ॥9॥

उत्तम योग में लगे हुए पुरुष को बाहर का सूत्र छोड़ देना चाहिए, क्योंकि—ब्रह्मस्वरूप होना ही यह सूत्र है। इस सूत्र को जो धारण करता है, वही चेतन है। इसलिए उत्तम योग को धारण करनेवाले विद्वान् (ज्ञानी) को बाहर के सूत्र का त्याग कर देना चाहिए। इस सूत्र को धारण करने से मनुष्य उच्छिष्ट या अपवित्र नहीं होता।

सूत्रमन्तर्गतं येषां ज्ञानयज्ञोपवीतिनाम्।
ते वै सूत्रविदो लोके ते च यज्ञोपवीतिनः ॥10॥

ज्ञानरूपी यज्ञोपवीत धारण करने वाले जिन लोगों के हृदय में ब्रह्मरूप सूत्र (जनेऊ) ही स्थित रहता है, वे ही इस सूत्र के स्वरूप को पहचानते हैं और वे ही सही रूप में यज्ञोपवीत धारण किए हुए माने जाते हैं।

ज्ञानशिखिनो ज्ञाननिष्ठा ज्ञानयज्ञोपवीतिनः।
ज्ञानमेव परं तेषां पवित्रं ज्ञानमुच्यते ॥11॥

जो लोग ज्ञानरूपी शिखावाले हैं, ज्ञान में ही निष्ठा रखनेवाले हैं और ज्ञानरूपी यज्ञोपवीत को धारण करनेवाले हैं, उनके लिए ज्ञान ही सर्वश्रेष्ठ है, उन्हीं का ज्ञान पवित्र कहा जाता है।

अग्नेरिव शिखा नान्या यस्य ज्ञानमयी शिखा।
स शिखीत्युच्यते विद्वान् नेतरे केशधारिणः ॥12॥

जिस पुरुष की अग्नि की शिखा जैसी ही ज्ञानरूपी शिखा होती है, दूसरी कोई शिखा नहीं होती, वही सही रूप में शिखाधारी कहलाता है, वही सच्चा ज्ञानी है, बालों की चोटी रखनेवाले अन्य कोई शिखाधारी हैं ही नहीं (बाहरी शिखा का कोई अर्थ नहीं)।

कर्मण्यधिकृता ये तु वैदिके ब्राह्मणादयः ।
तेभिर्धार्यमिदं सूत्रं क्रियाङ्गं तद्धि वै स्मृतम् ॥13॥

(परन्तु) जो ब्राह्मणादि लोग वैदिक कर्मों के अधिकारी हैं, उन्हें तो यह यज्ञोपवीत (सूत्रात्मक) धारण करना ही चाहिए क्योंकि उसे (जनेऊ को) क्रिया का अंग माना गया है ।

शिखा ज्ञानमयी यस्य उपवीतं च तन्मयम् ।
ब्राह्मण्यं सकलं तस्य इति ब्रह्मविदो विदुः ॥14॥

ब्रह्मवेत्ता लोग कहते हैं कि जिसकी शिखा ज्ञानमयी है, और यज्ञोपवीत भी ज्ञानमय है, उसका ब्राह्मणत्व सम्पूर्ण होता है । यह ज्ञान ही तो उपवीत है, वही तो परम ज्ञानमय है ।

इदं यज्ञोपवीतं तु परमं यत्परायणम् ।
स विद्वान् यज्ञोपवीती स्यात्स यज्ञस्तं यज्वानं विदुः ॥15॥

यह यज्ञोपवीत ही ज्ञान है, यही परमपरायण (ब्रह्मपरायण) है । इसीलिए ज्ञानी पुरुष ही सही रूप में यज्ञोपवीत धारण करनेवाला है, वही यज्ञरूप है और वही यजमान कहा जाता है ।

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥16॥

परमात्मा एक है, सभी प्राणियों में छिपा हुआ है, वह सर्वव्यापक और सभी प्राणियों का अन्तर्यामी है, वह सभी के कर्मों को नियम में रखनेवाला है, सभी प्राणियों का वह आश्रयस्थान है । वह सबका साक्षी है, वह चैतन्यस्वरूप है, वह शुद्ध है, एकमात्र है और वह निर्गुण है ।

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मैकं रूपं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥17॥

सबको वश में रखनेवाला वह एक ही है, वह सभी प्राणियों का अन्तरात्मा है; अपने एक ही रूप को वह अनेक रूपों में प्रकट करता है । जो बुद्धिमान लोग उसे अपनी आत्मा में ही अवस्थित देखते हैं, उन्हीं को स्थायी शान्ति प्राप्त होती है, दूसरों को नहीं मिलती ।

आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् ।
ध्याननिर्मथनाभ्यासादेवं पश्येन्निगूढवत् ॥18॥

आत्मा को निम्नभाग की अरणि बनाकर तथा प्रणव (ॐकार) को ऊपर की अरणि बनाते हुए ध्यानरूपी मन्थन के अभ्यास से (बार-बार करने से) इस प्रकार उस निगूढ (छिपे हुए) आत्मा का साक्षात्कार करना चाहिए ।

तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिरापः स्त्रोतःस्वरणिष्विवाग्निः ।
एवमात्मात्मनि जायतेऽसौ सत्येन तपसा योऽनुपश्यति ॥19॥

तिल में तेल की तरह, दही में घी की तरह, झरनों में पानी की तरह और लकड़ी में अग्नि की तरह यह आत्मा हम सब में छिपकर (निगूढ रूप में) विद्यमान है । वह आत्मा सत्य और तप से हममें प्रकट होता है । अथवा ऐसा ही अधिकारी उसे प्राप्त करता है ।

ऊर्णनाभिर्यथा तन्तून्सृजते संहरत्यपि ।
जाग्रत्स्वप्ने तथा जीवो गच्छत्यागच्छते पुनः ॥20॥

जिस प्रकार मकड़ी तन्तुओं को उत्पन्न करती है और उन्हें समेट भी लेती है, ठीक उसी प्रकार जीवात्मा भी जाग्रत् और स्वप्नावस्था में आता है और जाता है।

नेत्रस्थं जागरितं विद्यात्कण्ठे स्वप्नं समाविशेत् ।
सुषुप्तं हृदयस्थं तु तुरीयं मूर्ध्नि संस्थितम् ॥21॥

जाग्रत् अवस्था का आत्मा (विश्व) आँख में रहता है, स्वप्नावस्था का आत्मा (तैजस्) कंठ में रहता है, सुषुप्तावस्था का आत्मा (प्राज्ञ) हृदय में रहता है और तुरीय आत्मा मस्तक (ब्रह्मरन्ध्र) में रहता है, ऐसा समझना चाहिए।

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।
आनन्दमेतज्जीवस्य यज्ज्ञात्वा मुच्यते बुधः ॥22॥

जहाँ मनुष्य का मन और वाणी पहुँच नहीं सकते (मन के साथ वाणी जिसे पाये बिना लौट जाते हैं) ऐसे आत्मा के आनन्द को जानकर ज्ञानी पुरुष मुक्त हो जाता है।

सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम् ।
आत्मविद्या तपोमूलं तद्ब्रह्मोपनिषत्पदं तद्ब्रह्मोपनिषत्पदमिति ॥23॥

इति ब्रह्मोपनिषत्समाप्ता ।

दूध में घी की तरह सर्वव्यापक आत्मा को आत्मज्ञान और तप से प्राप्त किया जा सकता है। वह आत्मा ही ब्रह्म है। वही उपनिषदों का परम पद है।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु । सह नौ····मा विद्विषावहै ॥ (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

❋

(12) कैवल्योपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

कुछ विद्वान् इस उपनिषद् को कृष्णयजुर्वेदीय शाखान्तर्गत मानते हैं जबकि कुछ विद्वान् इसे अथर्ववेदीय मानते हैं। आश्वलायन और परमेष्ठी (ब्रह्मा) के संवाद रूप में यह उपनिषद् है। परमेष्ठी (ब्रह्माजी) आश्वलायन से कहते हैं कि गृहस्थाश्रम में रहकर कर्म करने से मुक्ति नहीं प्राप्त की जा सकती। मोक्ष का साधन तो त्याग ही है, संन्यास ही है। एकान्त में जाओ, पवित्र स्थान में ध्यान करो, आत्मा और परमात्मा को अरणिकाष्ठ-सा मानकर ध्यानरूपी मथनी से मंथन करो, तब आत्मसाक्षात्कार हो सकता है। हृदयकमल में ब्रह्म का ध्यान करना चाहिए। भगवान् शंकर का निरन्तर ध्यान करो। इस प्रकार श्रद्धा, भक्ति, ज्ञान और योग का सहारा लेने की सीख दी गई है। अभेद की सिद्धि करना ही इस उपनिषद् का तात्पर्य है।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ····मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इस शान्तिपाठ का हिन्दी रूपान्तर आरम्भ में (ब्रह्मोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

ॐ यथाश्वलायनो भगवन्तं परमेष्ठिनमुपसमेत्योवाच—
अधीहि भगवन्ब्रह्मविद्यां वरिष्ठां सदा सद्भिः सेव्यमानां निगूढाम्।
यथाऽचिरात्सर्वपापं व्यपोह्य परात्परं पुरुषं याति विद्वान् ॥1॥

आश्वलायन नामक महाऋषि प्रजापति ब्रह्माजी के पास जाकर समित्पाणि होकर कहने लगे कि—''हे भगवन्। आप मुझे उस ब्रह्मविद्या का उपदेश दीजिए कि जो विद्या संतजनों के द्वारा सदैव सेवित है, जो अत्यन्त रहस्यमय है; जो सभी विद्याओं में श्रेष्ठ है और जिसे पाकर विद्वान् लोग एकदम सभी पापों से मुक्त हो जाते हैं और परब्रह्म (परमपुरुष) को प्राप्त कर लेते हैं।''

तस्मै स होवाच पितामहश्च श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवैहि ॥2॥

इसके बाद पितामह ब्रह्माजी ने आश्वलायन से कहा—''(हे आश्वलायन!) श्रद्धा, भक्ति, ध्यान (चिन्तन) और योगाभ्यास के साधन से तुम उस परमतत्त्व को सिद्ध कर सकते हो।''

न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः।
परेण नाकं निहितं गुहायां विभ्राजते यद्यतयो विशन्ति ॥3॥

उस अमृतत्त्व की प्राप्ति कर्म से नहीं होती, न वा प्रजा से ही हो सकती है। धन के द्वारा भी वह नहीं हो पाती। उस अमृतत्व को ठीक तरह से जाननेवाले ज्ञानियों ने उसे केवल त्याग के द्वारा ही प्राप्त किया है। स्वर्गलोक से भी परे गुहा में अर्थात् हृदयरूपी गुफा में प्रतिष्ठित होकर जो ब्रह्मलोक प्रकाश से परिपूर्ण है, ऐसे उस ब्रह्मलोक में संयमी योगी ही प्रवेश पा सकते हैं।

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः ।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥4॥

जिन योगीजनों ने वेदान्त के विशेष ज्ञान से अपने अर्थ (ब्रह्मप्राप्ति रूप लक्ष्य) का दृढ निश्चय कर लिया है, ऐसे पवित्र अन्त:करणवाले योगीजन संन्यासयोग के द्वारा ब्रह्मा के लोक को पहले प्राप्त होते हैं और कल्प का अन्त होने पर अमृततुल्य होकर मुक्त हो जाते हैं।

विविक्तदेशे च सुखासनस्थः शुचिः समग्रीवशिरःशरीरः ।
अन्त्याश्रमस्थः सकलेन्द्रियाणि निरुध्य भक्त्या स्वगुरुं प्रणम्य ॥5॥

साधक पहले स्नान आदि से अपने शरीर को पवित्र करके बाद में किसी एकान्त स्थल में बैठे। बाद में ग्रीवा, मस्तक एवं शरीर को एक सीध में रखकर और सभी इन्द्रियों का निग्रह करके भक्तिपूर्वक अपने गुरु को प्रणाम करे।

हृत्पुण्डरीकं विरजं विशुद्धं विचिन्त्य मध्ये विशदं विशोकम् ।
अचिन्त्यमव्यक्तमनन्तरूपं शिवं प्रशान्तममृतं ब्रह्मयोनिम् ॥6॥

जब रजस्—पापादि से रहित विशुद्ध तथा शोकरहित और निर्मल हृदयरूपी कमल हो जाता है, तब उसके बीच जो (परमात्मा) अचिन्त्य है, जो अव्यक्त है, जो अनन्तरूपों को धारण कर सकते हैं, जो कल्याणकारी है, जो शान्त और अमृतमय है, जो समग्र ब्रह्माण्ड का मूल कारण है और—

तमादिमध्यान्तविहीनमेकं विभुं चिदानन्दमरूपमद्भुतम् ।
उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम् ।
ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिं समस्तसाक्षिं तमसः परस्तात् ॥7॥

जो आदि, मध्य और अन्त से रहित है, जो सर्वव्यापक है, जो चित्-आनन्द स्वरूपी है, जिसका कोई आकार नहीं है, जो अद्भुत (भव्य) है, जो उमा (ब्रह्मविद्या) के साथ रहता है, जिसका कण्ठ नीलवर्ण है, जिसके तीन लोचन हैं, जो शान्त और ध्यानस्थ है—ऐसे सकल भूतों के उपादान कारणरूप, समस्त ब्रह्माण्ड के साक्षिस्वरूप परम तत्त्व का ध्यान करके मुनिलोग तमस् को पार कर लेते हैं।

स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट् ।
स एव विष्णुः स प्राणः स कालोऽग्निः स चन्द्रमाः ॥8॥

वही परमात्मा - परम पुरुष ब्रह्मा - है, वही शिव है, वही इन्द्र है, वही अक्षर (शाश्वत) है, वही श्रेष्ठ - परमोत्तम ब्रह्म है, वही विष्णु है, वही प्राण है, काल भी तो वही है, अग्नि और चन्द्रमा भी वही है।

स एव सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यं सनातनम् ।
ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति नान्यः पन्था विमुक्तये ॥9॥

जो कुछ हुआ है और जो कुछ होनेवाला है, वह सब कुछ वही है। उस सनातन तत्त्व को जानकर ही मनुष्य मृत्यु की सीमा को लाँघ सकता है। और तो मुक्ति के लिए कोई भी उपाय नहीं है।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
सम्पश्यन्ब्रह्म परमं याति नान्येन हेतुना ॥10॥

अपने आत्मा को सभी प्राणियों में अवस्थित रहता हुआ, तथा सभी प्राणियों को अपने आत्मा में अवस्थित रहते हुए देखनेवाला मनुष्य ही परमपद को प्राप्त कर सकता है। इसके लिए अन्य कोई उपाय नहीं है (अन्य किसी उपाय से ब्रह्म प्राप्त नहीं किया जा सकता)।

आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ज्ञाननिर्मन्थनाभ्यासात् पापं दहति पण्डितः ॥11॥

ज्ञानी पुरुष अपने आत्मा को नीचे की अरणि तथा ओम्(ॐ)कार को ऊपर की अरणि बनाकर और फिर ज्ञानरूपी मथनी से बारम्बार मन्थन द्वारा अनुशीलन करने से अपने पाप को जला देता है।

स एव मायापरिमोहितात्मा शरीरमास्थाय करोति सर्वम्।
स्त्रियन्नपानादिविचित्रभोगैः स एव जाग्रत्परितृप्तिमेति ॥12॥

वही जीवात्मा माया से अपने आपको मोहित कर लेता है, शरीर में रहकर - देह को ही सब कुछ मानकर - सभी प्रकार के कार्य करता रहता है। स्त्री, अन्न, खान-पान आदि भाँति-भाँति के भोगों के द्वारा वह जाग्रदवस्था में परितृप्ति का अनुभव करता रहता है।

स्वप्ने स जीवः सुखदुःखभोक्ता स्वमायया कल्पितजीवलोके।
सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोऽभिभूतः सुखरूपमेति ॥13॥

वही जीवात्मा स्वप्नावस्था में अपनी माया से कल्पित जीवलोक में सुखों और दुःखों का भोगनेवाला होता है। और फिर वही सुषुप्तिकाल में तमोगुण (अज्ञान) से अभिभूत होता हुआ सुख रूप को प्राप्त करता है।

पुनश्च जन्मान्तरकर्मयोगात्स एव जीवः स्वपिति प्रबुद्धः।
पुरत्रये क्रीडति यश्च जीवस्ततस्तु जातं सकलं विचित्रम्।
आधारमानन्दमखण्डबोधं यस्मिँल्लयं याति पुरत्रयं च ॥14॥

इसके बाद, फिर से यह जीवात्मा जन्मजन्मान्तरों के कर्मों की प्रेरणा के कारण सुषुप्ति से स्वप्नावस्था में उतर आता है। और इसके बाद वह जाग्रत् अवस्था में भी वापस लौट आता है। इस प्रकार स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीररूप तीनों नगरियों में जीव जो क्रीडा करता है, उसी से सभी प्रपंचों की यह विचित्रता उत्पन्न होती है। इन सभी प्रपंचों का आधार (अवलम्बन) आनन्दस्वरूप अखण्ड ज्ञानस्वरूप (ब्रह्म) ही है, जिसमें स्थूल, सूक्ष्म और कारणस्वरूप तीनों पुरियाँ विलीन हो जाती हैं।

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्ज्योतिरापश्च पृथ्वी विश्वस्य धारिणी ॥15॥

इसी परमतत्त्व से प्राण, मन और सभी इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। और आकाश, वायु, जल, तेज और विश्व को धारण करनेवाली पृथ्वी—ये सब जन्म लेते हैं।

यत्परं ब्रह्म सर्वात्मा विश्वस्यायतनं महत्।
सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नित्यं स त्वमेव त्वमेव तत् ॥16॥

जो परब्रह्म सभी का आत्मस्वरूप है, जो विश्व का महान् आश्रय है, जो सूक्ष्म से भी अतिसूक्ष्म है, जो नित्य है, वह तुम्हीं हो वह तुम्हीं हो।

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादि प्रपञ्चं यत्प्रकाशते ।
तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्वबन्धैः प्रमुच्यते ॥17॥

जो यहाँ जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति आदि प्रपंच (विश्व) दिखाई दे रहा है (प्रकाशित हो रहा है), वह ब्रह्म ही है और वह ब्रह्म मैं ही हूँ—ऐसा ज्ञान प्राप्त करके मनुष्य सभी प्रकार के बन्धनों से छुटकारा पा लेता है ।

त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद्भवेत् ।
तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः ॥18॥

तीनों लोकों में जो कुछ भोग्यपदार्थ हैं, जो भोक्ता हैं, जो भोगक्रिया हैं, उन सबसे यह साक्षी विलक्षण ही है । वह साक्षी सदा मंगलस्वरूप, चिन्मय जो है, वह मैं ही हूँ ।

मय्येव सकलं जातं मयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
मयि सर्वं लयं याति तद्ब्रह्माद्वयमस्म्यहम् ॥19॥

मुझमें ही यह सब कुछ उत्पन्न हुआ है, मुझमें ही यह सब कुछ अवस्थित रहता है और मुझ ही में यह सब कुछ विलीन भी होता है । वह अद्वितीय जो ब्रह्म है, वह मैं ही हूँ ।

अणोरणीयानहमेव तद्वन्महानहं विश्वमिदं विचित्रम् ।
पुरातनोऽहं पुरुषोऽहमीशो हिरणमयोऽहं शिवरूपमस्मि ॥20॥

परब्रह्मस्वरूप मैं अणु से भी अणु (परमाणु) भी हूँ और उसी प्रकार यह वैविध्यपूर्ण विश्व के रूप से बड़े से बड़ा भी तो मैं ही हूँ । मैं पुरातन (सबसे पहले का) पुरुष हूँ, मैं ईश्वर हूँ, मैं ही हिरणमय हूँ और मैं ही परमतत्त्व (ब्रह्म) स्वरूप हूँ ।

अपाणिपादोऽहमचिन्त्यशक्तिः पश्याम्यचक्षुः स शृणोम्यकर्णः ।
अहं विजानामि विविक्तरूपो न चास्ति वेत्ता मम चित्सदाहम् ॥21॥

मेरे हाथ-पैर न होते हुए भी मैं अचिन्त्य शक्तिसम्पन्न हूँ । मेरी आँखें न होते हुए भी मैं देखता रहता हूँ । मेरे कान न होने पर भी मैं सुनता रहता हूँ । बुद्धि आदि से अलग स्वरूपवाला होते हुए भी मैं सब कुछ जानता रहता हूँ । किन्तु मुझे जाननेवाला कोई भी नहीं है । मैं शाश्वत चित्स्वरूप हूँ ।

वेदैरनेकैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहम् ॥22॥

समस्त वेदों और उपनिषदों के द्वारा मैं ही जानने योग्य हूँ, वेदान्त ज्ञान (ब्रह्मज्ञान) का जनक भी तो मैं ही हूँ । सब वेदों का जाननेवाला भी मैं ही हूँ ।

न पुण्यपापे मम नास्ति नाशो न जन्म देहेन्द्रियबुद्धिरस्ति ।
न भूमिरापो न च वह्निरस्ति न चानिलो मेऽस्ति न चाम्बरं च ॥23॥

ब्रह्मस्वरूप मुझे पुण्य-पाप स्पर्श नहीं कर सकते । मेरा कभी नाश नहीं होता । न ही मेरा कोई जन्म ही होता है । मेरा कोई शरीर नहीं है, कोई इन्द्रियाँ नहीं हैं, कोई बुद्धि भी नहीं है । ये पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश—पञ्च महाभूत भी मेरे नहीं हैं (क्योंकि ये अनित्य हैं और मैं नित्य हूँ) ।

एवं विदित्वा परमात्मरूपं गुहाशयं निष्कलमद्वितीयम् ।
समस्तसाक्षिं सदसद्विहीनं प्रयाति शुद्धं परमात्मरूपम् ॥24॥

इस प्रकार हृदयरूपी गुहा में स्थित अंशादि भाग रहित, अद्वितीय परमात्मस्वरूप, समग्र सचराचर के साक्षिस्वरूप, सत्-असत् की सापेक्षता से ऊपर उठे हुए निर्गल ब्रह्म को जानकर मनुष्य परमात्मस्वरूप को पा लेता है।

यः शतरुद्रियमधीते सोऽग्निपूतो भवति स वायुपूतो भवति स आत्मपूतो भवति स सुरापानात्पूतो भवति स ब्रह्महत्यायाः पूतो भवति स सुवर्ण-स्तेयात्पूतो भवति स कृत्याकृत्यात्पूतो भवति तस्मादविमुक्तमाश्रितो भवत्वित्याश्रमी सर्वदा सकृद्वा जपेत् ॥25॥

जो मनुष्य इस शतरुद्रिय का पाठ करता है, वह अग्नि की तरह पवित्र हो जाता है, गतिशील वायु की तरह रहता हुआ विशुद्ध हो जाता है, वह अपने मन से निर्मल हो जाता है, सुरापान और ब्रह्महत्या के दोष से वह मुक्त हो जाता है। उसे सुवर्ण की चोरी का पाप भी नहीं लगता। शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्मों से उसका छुटकारा हो जाता है। भगवान् सदाशिव के प्रति वह स्वयं समर्पित होकर वह अविमुक्त को अर्थात् अविमुक्तक्षेत्र को (काशी को) प्राप्त करता है। (या मोक्ष को प्राप्त करता है।) वह अत्याश्रमी (सभी आश्रमों का पारगामी) हो जाता है।

अनेन ज्ञानमाप्नोति संसारार्णवनाशनम्।
तस्मादेवं विदित्वैनं कैवल्यं पदमश्नुते ॥
कैवल्यं पदमश्नुत इति ॥26॥

इति कैवल्योपनिषत्समाप्ता।

इससे (इस पाठादि के करने से) ऐसे विशिष्ट ज्ञान की प्राप्ति होती है, जो संसार-सागर का नाश कर देता है। अतः इस प्रकार समझकर मनुष्य कैवल्यपद को प्राप्त कर सकता है।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ...... मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

(13) जाबालोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

कुछ विद्वान् इस उपनिषत् को अथर्ववेद से सम्बद्ध मानते हैं और कुछ अन्य विद्वान् इसे शुक्लयजुर्वेद से सम्बद्ध मानते हैं। शान्तिपाठ में यजुर्वेद के ही शान्तिपाठ देखने में आए हैं। इस उपनिषत् के कुल छः खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में बृहस्पति और याज्ञवल्क्य का संवाद है। इस खण्ड में प्राणविद्या का विवेचन है। याज्ञवल्क्य ने प्राण का स्थान 'ब्रह्मसदन' कहा और देवयजन का एकमात्र स्थान 'अविमुक्त' बताया है। यह 'अविमुक्त' स्थान ब्रह्मरन्ध्र -काशी है। इस स्थल में रुद्रदेव सदैव विद्यमान रहते हैं, और अन्तिम क्षणों में "तारक मंत्र" देकर जीव को विमुक्त कर देते है।

द्वितीय खण्ड में अत्रिमुनि और याज्ञवल्क्य का संवाद है। इसमें 'अविमुक्त क्षेत्र' को भृकुटि के बीच में बताया गया है। इसकी उपासना करने से मिले हुए ज्ञान के आधार पर दूसरों को ज्ञान देना संभव हो जाता है।

तृतीय खण्ड में याज्ञवल्क्य अमृतप्राप्ति का उपाय बताते हैं। शतरुद्रीयपाठ ही यह उपाय है। वह मृत्यु पर विजय प्राप्त करवाता है। चौथे खण्ड में जनक द्वारा संन्यास-सम्बन्धी पूछे गए प्रश्न का उत्तर याज्ञवल्क्य ने विशद रूप से दिया है। संन्यास का क्रम-विधि-व्यवस्था-कृत्य आदि उसमें है। पाँचवें खण्ड में अत्रि मुनि ने फिर से याज्ञवल्क्य मुनि से संन्यास सम्बन्धी अनेक प्रश्नों का मार्गदर्शन प्राप्त किया है। इसका सारतत्त्व यह है कि संन्यासी को मन-वाणी से पूर्णतया विषय विकारों से दूर रहना चाहिए। और छठे खण्ड में संवर्तक, आरुणि, श्वेतकेतु, दुर्वासा, ऋभु आदि संन्यासियों के आचरण की समीक्षा की गई है। और अन्त में दिगम्बर परमहंस का लक्षण बताया गया है।

शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

ॐ रूप में अभिव्यक्त वह (परमब्रह्म) पूर्ण है और यह (कार्यब्रह्म - जगत्) भी पूर्ण है। क्योंकि पूर्ण में से ही पूर्ण होता है। (एवं प्रलय के समय) पूर्ण का (कार्यब्रह्म का) पूर्णत्व लेकर (अर्थात् स्वयं के भीतर समाकर) पूर्ण (परब्रह्म) ही शेष रह जाता है।

प्रथमः खण्डः

ॐ बृहस्पतिरुवाच याज्ञवल्क्यं यदनु कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम्। अविमुक्तं वै कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम्। तस्माद्यत्र क्वचन गच्छति तदेव मन्येत तदवि-

मुक्तमेव। इदं वै कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम्। अत्र हि जन्तोः प्राणेषूत्क्रममाणेषु रुद्रस्तारकं ब्रह्म व्याचष्टे येनासावमृतीभूत्वा मोक्षीभवति। तस्मादविमुक्तमेव निषेवेत। अविमुक्तं न विमुञ्चेदेवमेवैतद्याज्ञवल्क्यः ॥1॥

इति प्रथमः खण्डः।

बृहस्पति ने याज्ञवल्क्य से कहा कि—"प्राणों का स्थान कौन-सा है ? इन्द्रियों के देवयजन का रहस्य क्या है ? और समग्र प्राणियों का देवसदन क्या है ?" तब याज्ञवल्क्य ने उत्तर में कहा कि—प्राणों का क्षेत्र 'अविमुक्त' ही है। उसी को इन्द्रियों का देवयजन कहा गया है। और वही सब प्राणियों का देवसदन है। इसलिए किसी भी स्थान पर जानेवाले मनुष्य को यही समझना चाहिए। वही (कुरुक्षेत्र) प्राणस्थान—इन्द्रियों का देवयजन है। और समस्त प्राणियों का ब्रह्मस्थान—ब्रह्मसदन है। जब इस लोक में जीव के प्राणों का उत्क्रमण होता है, तब रुद्रदेव तारक ब्रह्म के सम्बन्ध में उपदेश देते हैं, जिससे कि यह जीव अमृतत्व को प्राप्त करके मोक्षलाभ करता है। अत: हर एक प्राणी को चाहिए कि वह हमेशा अविमुक्त की ही उपासना किया करे। उसका त्याग वह कभी न करे। इस प्रकार ऋषि याज्ञवल्क्य ने यह तथ्य प्रकट किया। [पापकर्म के क्षेपणपूर्वक स्वजनों का परित्राण करनेवाला कुरुक्षेत्र कहा जाता है। अथवा कु - पृथ्वी, उसमें होनेवाला (रु:) प्राण है, उसका क्षेत्र यानी शरीर को भी कुरुक्षेत्र कहा जा सकता है।]

यहाँ प्रथम खण्ड पूरा हुआ।

❋

द्वितीयः खण्डः

अथ हैनमत्रिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्यम्। य एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा तं कथमहं विजानीयामिति। स होवाच याज्ञवल्क्यः सोऽविमुक्त उपास्यो य एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा सोऽविमुक्ते प्रतिष्ठित इति ॥1॥

इसके बाद ऋषि अत्रि ने याज्ञवल्क्य से पूछा—'मैं इस अनन्त और अव्यक्त आत्मा को किस तरह जान सकता हूँ ?' तब याज्ञवल्क्य ने कहा—'इस आत्मा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए अविमुक्त की ही उपासना करनी चाहिये। क्योंकि यह अनन्त और अव्यक्त आत्मा अविमुक्त में ही प्रतिष्ठित है।' [अविमुक्त = काशीक्षेत्र = भृकुटी के बीच में अवस्थित ज्योतिर्लिङ्ग को कहा जाता है, यह पहले बता दिया है।]

सोऽविमुक्तः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति। वरणायां नास्यां च मध्ये प्रतिष्ठित इति। का वै वरणा का च नाशीति। सर्वानिन्द्रियकृतान्दोषान्वारयतीति तेन वरणा भवति। सर्वानिन्द्रियकृतान्पापान्नाशयतीति तेन नाशी भवतीति। कतमञ्चास्य स्थानं भवतीति। भ्रुवोर्घ्राणस्य च यः संधिः स एष द्यौर्लोकस्य परस्य च सन्धिर्भवतीति। एतद्वै सन्धिं सन्ध्यां ब्रह्मविद उपासत इति। सोऽविमुक्त उपास्य इति। सोऽविमुक्तं ज्ञानमाचष्टे। यो वै तदेतदेवं वेदेति ॥2॥

इति द्वितीयः खण्डः।

'यह अविमुक्त किसमें प्रतिष्ठित है ?'—ऐसा पूछने पर याज्ञवल्क्य बोले—'वह वरणा और नासी के बीच में अवस्थित है ।' तब फिर अत्रि ने पूछा—'यह वरणा कौन है और यह नासी कौन है ?' तब याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—'ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के द्वारा किए गए सभी पापों का निवारण करती है, इसलिए वह 'वारणा' है और उन दसों इन्द्रियों द्वारा किए गए पापों का नाश करती है इसलिए वह 'नासी' है ।' तब अत्रि ने फिर से पूछा कि—'इसका स्थान क्या है ?' याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि—दोनों भौंहों और नाक का जहा मिलन (संधि) होता है, वही द्युलोक और परलोक का सन्धिस्थल (संगमस्थल) है । ब्रह्मज्ञानी लोग इस भ्रू - घ्राण सन्धि (संगमस्थल) की ही उपासना करते हैं । इसलिए यह अविमुक्त ही उपासना करने लायक है । इस प्रकार अविमुक्त की उपासना से जिसने ज्ञान प्राप्त कर लिया है, ऐसा मनुष्य ही अन्य मनुष्यों को ब्रह्मज्ञान के बारे में अर्थात् आत्मा के विषय में बोध कराने में समर्थ या योग्य माना जा सकता है ।

यहाँ दूसरा खण्ड पूरा हुआ ।

❋

तृतीयः खण्डः

अथ हैनं ब्रह्मचारिण ऊचुः । किं जप्येनामृतत्वं ब्रूहीति । स होवाच याज्ञवल्क्यः । शतरुद्रियेणेत्येतानि ह वा अमृतनामधेयान्येतैर्ह वा अमृतो भवतीति ॥1॥

इति तृतीयः खण्डः ।

इसके बाद कुछ ब्रह्मचारियों ने याज्ञवल्क्य से पूछा—'किसका जप करने से अमृतत्व को प्राप्त किया जा सकता है ?' तब याज्ञवल्क्य ने उत्तर में कहा—'शतरुद्रीय के जप के द्वारा अमृतत्व प्राप्त किया जा सकता है । इसके द्वारा साधक मृत्यु पर विजय प्राप्त कर सकता है' ।

यहाँ तीसरा खण्ड पूरा हुआ ।

❋

चतुर्थः खण्डः

अथ ह जनको ह वैदेहो याज्ञवल्क्यमुपसमेत्योवाच । भगवन् संन्यासमनुब्रूहीति । स होवाच याज्ञवल्क्यः । ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत् । गृही भूत्वा वनी भवेत् । वनी भूत्वा प्रव्रजेत् । यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद्वा वनाद्वा । अथ पुनरव्रती वा व्रती वा स्नातको वाऽस्नातको वा उत्सन्नाग्निरनग्निको वा यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत् ॥1॥

एक बार विदेह के राजा जनक ने समित्पाणि होकर मुनि याज्ञवल्क्य से पूछा कि—'हे भगवन् ! मुझे संन्यास के विषय में कहिए ।' तब उन याज्ञवल्क्य मुनि ने कहा कि—'पहले ब्रह्मचर्याश्रम का पालन करके उसके बाद गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहिए । गृहस्थाश्रम के बाद वानप्रस्थाश्रम में जाना चाहिए । उसके बाद फिर अंत में संन्यास को ग्रहण करना चाहिए । अथवा तो ब्रह्मचर्य से सीधे ही संन्यास ले लेना चाहिए । अथवा गृहस्थाश्रम या वानप्रस्थाश्रम से भी संन्यास लिया जा सकता है । और

भी एक बात है कि यदि पुरुष व्रती हो या अव्रती हो, स्नातक हो या स्नातक न भी हो, यदि उसने अग्नि ग्रहण किया हो (गृहस्थ बना हो) या वह किसी प्रकार से अग्निरहित हो (गृहस्थाश्रमी न बना हो) पर जिस दिन उसे वैराग्य हो जाए, उसी दिन वह संन्यास ले, इसमें कोई क्षति नहीं।

तद्धैके प्राजापत्यामेवेष्टिं कुर्वन्ति। तत्तथा न कुर्यादाग्नेयीमेव कुर्यात्। अग्निर्ह वै प्राणः। प्राणमेवैतया करोति। पश्चात् त्रैधातवीयामेव कुर्यात्। एतयैव त्रयो धातवो यदुत सत्त्वं रजस्तम इति। अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः। तं प्राणं जानन्नग्न आरोहाथा नो वर्धया रयिम्। इत्यनेन मन्त्रेणाग्निमाजिघ्रेत्। एष ह वा अग्नेर्योनिर्यः प्राणः। प्राणं गच्छ स्वाहेत्येवमेवैतदाह ॥2॥

इस प्रसंग में कुछ लोग प्राजापत्य इष्टि करते हैं, परन्तु ऐसा नहीं करना चाहिए। उनको आग्नेयी इष्टि करनी चाहिए। क्योंकि अग्नि ही प्राण है। अग्नि की इष्टि करने से प्राण की अभिवृद्धि होती है। इसके बाद उन्हें त्रिधातु इष्टि करनी चाहिए। सत्त्व, रजस् और तमस्—ये तीन धातुएँ हैं। (अनुक्रम से शुक्ल, लोहित और कृष्ण उनके वर्ण हैं) इन इष्टियों के करने के बाद, इस मंत्र से अग्नि का अवघ्राण करना चाहिए कि—'हे अग्ने! आप प्राण को दग्ध करनेवाले हैं; आप प्रकाश और बुद्धि को प्राप्त करानेवाले हैं। आप हमारी भी वृद्धि करें। जो अग्नि की योनि (अग्नि का उत्पत्तिस्थान) है, वह प्राण है। अतः हे अग्निदेव! आप उस प्राण में प्रविष्ट हों'—ऐसा कहकर आहुति देनी चाहिए।

ग्रामादग्निमाहृत्य पूर्ववदग्निमाघ्रापयेत्। यद्यग्निं न विन्देदप्सु जुहुयात्। आपो वै सर्वा देवताः। सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुहोमि स्वाहेति हुत्वा समुद्धृत्य प्राश्नीयात्साज्यं हविरनामयम्। मोक्षमन्त्रस्त्रय्यैवं विन्देत्। तद्ब्रह्मैतदुपासितव्यम्। एवमेवैतद्भगवन्निति वै याज्ञवल्क्यः ॥3॥

इति चतुर्थः खण्डः।

गाँव के किसी श्रोत्रिय के घर से अग्नि को लाकर, पहले कहे गए मन्त्र से उसका अवघ्राण (सूँघने की क्रिया) करना चाहिए। अगर अग्नि उपलब्ध न हो, तो पानी में भी आहुति देनी चाहिए। क्योंकि पानी ही समस्त देवतारूप है। 'मैं समस्त देवताओं को आहुति दे रहा हूँ'—ऐसा भाव करके जल में आहुति देकर घी से युक्त उस बाकी बचे हुए हविष्यान्न को उठाकर भक्षण करे। मोक्षमन्त्र तीन अक्षरों (अ, उ, म्), वाला है, ऐसा समझना चाहिए। वही ब्रह्म है, वही उपासना के योग्य है—ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा।

यहाँ चौथा खण्ड पूरा हुआ।

❋

पञ्चमः खण्डः

अथ हैनमत्रिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्यम्। पृच्छामि त्वा याज्ञवल्क्य अयज्ञोपवीती कथं ब्राह्मण इति। स होवाच याज्ञवल्क्यः। इदमेवास्य तद्यज्ञोपवीतं य आत्मा अपः प्राश्याचम्यायं विधिः परिव्राजकानाम् ॥1॥

इसके बाद अत्रि ऋषि ने याज्ञवल्क्य से पूछा—'हे याज्ञवल्क्य! मैं आपसे यह पूछना चाहता हूँ कि जिसने यज्ञोपवीत धारण नहीं किया है, वह ब्राह्मण किस तरह हो सकता है?' तब याज्ञवल्क्य ने

उत्तर देते हुए कहा—उसका (संन्यासी का) आत्मा ही यज्ञोपवीत होता है। परिव्राजकों के लिए तो यही विधि है कि वे जल से तीन बार प्राशन और आचमन करे।

वीराध्वाने वाऽनाशके वाऽपां प्रवेशे वाऽग्निप्रवेशे वा महाप्रस्थाने वा। अथ परिव्राड्विवर्णवासा मुण्डोऽपरिग्रहः शुचिरद्रोही भैक्षाणो ब्रह्म-भूयाय भवति। यद्यातुरः स्यान्मनसा वाचा संन्यसेत्। एष पन्था ब्रह्मणा हानुवित्तस्तेनैति संन्यासी ब्रह्मविदित्येवमेवैष भगवन्निति वै याज्ञ-वल्क्यः ॥2॥

इति पञ्चमः खण्डः।

वीर के मार्ग में, अनशन की स्थिति में, जल में प्रवेश करने पर, अग्नि में प्रवेश किए जाने पर, महाप्रस्थान में, परिव्राजक संन्यासी के लिए यही धर्म विहित है कि वह गेरुआ वस्त्र धारण करके, मुण्डितमस्तक होकर अपरिग्रही बनकर पवित्र और दोषरहित होकर, लोकल्याण के लिए भिक्षावृत्ति अपनाकर, जीवन बिताए। यदि कोई संन्यास के लिए आतुर हो, तो उसे मन और वाणी से सभी विषयों का त्याग कर देना चाहिए (सभी विषय छोड़ देने चाहिए)। यज्ञ ज्ञानमार्ग वेद प्रतिपादित है। इसलिए संन्यासी के लिए यह सर्वथा योग्य है। क्योंकि संन्यासी ब्रह्मविद् होता है। इस तरह याज्ञवल्क्य ने. अपना मत प्रकट किया।

यहाँ पर पाँचवाँ खण्ड समाप्त होता है।

❋

षष्ठः खण्डः

तत्र परमहंसा नाम संवर्तकारुणिश्वेतकेतुदुर्वासऋभुनिदाघजडभरतदत्ता-त्रेयरैवर्तकप्रभृतयोऽव्यक्तलिङ्गा अव्यक्ताचारा अनुन्मत्ता उन्मत्तवदा-चरन्तः ॥1॥

संवर्तक, आरुणि, श्वेतकेतु, दुर्वासा, ऋभु, निदाघ, जडभरत, दत्तात्रेय, रैवर्तक आदि ये सब परमहंस संन्यासी हुए हैं। वे सब संन्यासियों के चिह्नों से रहित ही थे। उनका आचरण भी अव्यक्त था। वे भीतर से पागल न होते हुए भी पागलों का-सा वर्तन करते थे।

त्रिदण्डं कमण्डलुं शिक्यं पात्रं जलपवित्रं शिखां यज्ञोपवीतं चैतत्सर्वं भूः स्वाहेत्यप्सु परित्यज्यात्मानमन्विच्छेत् ॥2॥

ऐसा संन्यासी त्रिदण्ड, कमण्डलु, शिखा, जलपवित्र पात्र, भिक्षापात्र, शिखा, यज्ञोपवीत—इन सबको 'भूः स्वाहा'—ऐसा कह करके पानी में परित्याग कर दे और आत्मा की खोज (अनुसन्धान) में ही लगा रहे।

यथा जातरूपधरो निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहस्तत्तद् ब्रह्ममार्गे सम्यक्सम्पन्नः शुद्धमानसः प्राणसन्धारणार्थं यथोक्तकालेऽविमुक्तो भैक्ष्यमाचरन्नुदर-पात्रेण लाभालाभौ समो भूत्वा शून्यागारदेवगृहतृणकूटवल्मीकवृक्ष-मूलकुलालशालाग्निहोत्रशालानदीपुलिनगिरिकुहरकन्दरकोटरनिर्झर-स्थण्डिलेष्वनिकेतवास्यप्रयत्नो निर्ममः शुक्लध्यानपरायणोऽध्यात्म-

निष्ठः शुभाशुभकर्मनिर्मूलनपरः संन्यासेन देहत्यागं करोति स परमहंसो नाम स परमहंसो नामेति ॥3॥

इति षष्ठः खण्डः ।

इति जाबालोपनिषत्समाप्ता ॥

परमहंस संन्यासी यथाजातरूपधारी अर्थात् निर्दोष, निर्दंश, निश्छल और निःस्पृह होता है। वह निर्द्वन्द्व, अपरिग्रही, तत्त्वरूप ब्रह्ममार्ग में अच्छी तरह सम्पन्न, निर्मल मानसवाला, जीवन्मुक्त होने से केवल प्राण धारण करने के लिए ही उदररूपी पात्र से भिक्षा आदि ग्रहण करनेवाला होता है। वह किसी भी प्रकार के लाभ या हानि को समान मानता है। वह शून्य स्थल, देवगृह, घास की झोपड़ी, साँप का बिल, वृक्ष का मूल, कुम्हार का घर, अग्निहोत्र का स्थल, नदी का तट, पर्वत, गुफा, खाई और झरने आदि निर्मल प्रदेश में पहले के घर का ध्यान न रखते हुए ममतारहित होकर रहता है। वह निरन्तर शुक्ल (सत्त्वशील) ध्यान में तन्मय होकर अच्छे और बुरे कर्मों को मूल सहित उखाड़ता रहता है। ऐसे संन्यास धर्म का पालन करता हुआ जो संन्यासी अपनी देह का परित्याग कर देता है, वही परमहंस है, वही परमहंस है।

यहाँ छठा खण्ड पूरा होता है।
यहाँ उपनिषत् पूर्ण होती है।

शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं······पूर्णमेवावशिष्यते ॥ (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

❋

(14) श्वेताश्वतरोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

श्वेताश्वतर उपनिषद् कृष्णयजुर्वेद की शाखा के अन्तर्गत आता है। श्वेताश्वतर तो उन मुनि का ही नाम है, जिन्होंने इस उपनिषत् को रचा। यों तो श्वेताश्वतर शब्द का व्युत्पत्तिगम्य अर्थ होता है, "श्वेत = सफेद और अश्वतर = खच्चर (घोड़े का-सा छोटा प्राणी) ऐसा प्राणी जिसके पास हो, ऐसा मनुष्य।" एक अन्य संभावित अर्थ यह भी है—"श्वेत = निर्मल और अश्वतर = इन्द्रियाँ। कठोपनिषद् (1.3.3.9) में शरीर को रथ की, आत्मा को रथ के भीतर बैठे हुए रथस्वामी की, और इन्द्रियों को घोड़ों की उपमा दी गई है (इन्द्रियाणि हयानाहुः)। घोड़ों को काबू में रखने की कठिनाई तो हम सब जानते ही हैं। यदि वश में रहें तो अश्व आपके मित्र भी बन सकते हैं। पर वश में न रहने पर वे आपको ही गुलाम बना देंगे। तो इन श्वेताश्वतर मुनि ने अपनी इन्द्रियाँ वश में कर ली हैं। वे स्थिरचित्त हो गए हैं—ऐसा अर्थ होता है।

इस उपनिषद् में छः अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में क्रमशः 16, 17, 21, 22, 14 और 23 मन्त्र हैं। कुल मिलाकर 113 मन्त्र हैं। कुछ प्रश्नों के साथ उपनिषत् का प्रारंभ होता है। विश्व का कारण क्या है ? हमें किसने बनाया ? हम कहाँ से आए हैं ? अन्त में हम कहाँ जाएँगे ? हमें कभी सुख और कभी दुःख क्यों होता है ? उपनिषत् कहती है—सारे विश्व का कारण ब्रह्म ही है। ब्रह्म ही पारमार्थिक सत् है। ब्रह्म को ही परमात्मा कहा जाता है। क्योंकि जो कुछ यहाँ अस्तित्व में है, उस सबका आत्मा वही तो है। जीवात्मा जो अलग-अलग दिखाई देते हैं, उनके जो अलग-अलग नाम और रूप दीखते हैं, वे तो केवल उपाधिमात्र ही हैं। वह तो परमात्मा के ऊपर केवल आरोपण ही है। वास्तव में सभी जीवात्मा परमात्मा के ही रूप हैं। जब हम अपने आपका परमात्मा के रूप में साक्षात्कार करेंगे, तब जन्म-मरण के फेरे से छूट जाएँगे। उपनिषत् कहती है कि हमारे जन्म-मरण का कारण मात्र हमारा उसकी (परमात्मा की) एकता का अज्ञान ही है। यह द्वैत ही दुःख का अर्थात् बन्धन का कारण है और अद्वैत ही मुक्ति का कारण है। जीवन का लक्ष्य ज्ञानप्राप्ति और अद्वैतसाक्षात्कार ही है और वही मुक्ति है।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ........मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (ब्रह्मोपनिषत् में) द्रष्टव्य है।

प्रथमोऽध्यायः

हरि ॐ। ब्रह्मवादिनो वदन्ति—

किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क्व च सम्प्रतिष्ठाः ।
अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ॥1॥

ब्रह्मचर्चा के प्रेमी ऋषिलोग एक बार मिलकर परस्पर पूछने लगे—विश्व का कारण क्या ब्रह्म है ? हम कहाँ से आए हैं ? जब आए ही हैं तो हमें जिलानेवाला कौन है ? अन्त आने पर हम कहाँ जाएँगे ? हे ब्रह्मज्ञ लोग ! हमें नियम में रखनेवाला कौन है कि जिसकी वजह से हम सुख या दुःख के विषय बन जाते हैं ?

कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम् ।
संयोग एषां न त्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः ॥2॥

काल, वस्तु का अपना स्वरूप, कार्यकारणसम्बन्ध, केवल दैव, पंचमहाभूत, जीव—इनमें से विश्व का कारण कौन-सा है ?—यह प्रश्न है । (नहीं, इनमें से तो कोई विश्व का कारण नहीं) और इन सभी का संयोग भी विश्व का कारण नहीं है । जीव इन सभी को एकत्रित तो कर सकता है, पर जीवात्मा भी सुख-दुःख का कारण नहीं हो सकता (क्योंकि वह तो सुख-दुःख का विषय अर्थात् अपने कर्मानुसार भोगनेवाला आश्रय ही है) ।

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् ।
यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ॥3॥

गहरे ध्यान में डूबे हुए योगियों ने विश्व के कारण के रूप में उस प्रकाशित विश्वात्मा की शक्ति को देखा है । वह अपनी त्रिगुणात्मिका माया से अपने आप को ढँक देता है । वही एक और अद्वितीय आत्मा उपर्युक्त सभी कारणों और जीव को भी अपने वश में रखता है ।

तमेकनेमिं त्रिवृत्तं षोडशान्तं शतार्धारं विंशतिप्रत्यराभिः ।
अष्टकैः षड्भिर्विश्वरूपैकपाशं त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोहम् ॥4॥

उस एक नेमि (परिधि) वाले, सत्त्व-रजस्-तमस् रूप तीन प्रकृति गुणों से घिरे हुए, जिसमें सोलहों कलाओं का पर्यवसान होता है ऐसे, पचास आरोंवाले, बीस छोटे आरों वाले, छः अष्टकों वाले तथा एक ही पाश से युक्त, तीन मार्गवाले पापपुण्य के निमित्तभूत, एक मोह वाले संसारचक्ररूपी ब्रह्म को उन्होंने देखा ।

इस मंत्र में विश्व की व्यवस्था को एक चक्र के रूप में बताया गया है । इस नेमिचक्र को बाँधकर रखनेवाली परिधि ही प्रकृति है । इसके तीन वृत्त सत्त्व, रजस् और तमस्—ये तीन गुण हैं । परिधि के सिरे का (उस छोर का) जोड़ सोलह कलाएँ हैं । ये सोलह कलाएँ प्रश्नोपनिषद् के छठे प्रश्न के अन्तर्गत चौथे और पाँचवें मंत्र में बताई गई हैं । और ये पचास अरे अन्तःकरण की वृत्तियों के भेद हैं । (विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि आदि ये 50 भेद हैं ।) बीस सहायक अरों में 10 इन्द्रियाँ, पाँच विषयों और पाँच प्राणों का समावेश होता है । चक्र में अष्टक किसे कहा गया है, वह स्पष्ट नहीं है । यहाँ प्रकृति, शरीरगत धातु, सिद्धियाँ, भाव, देवयोनियाँ और विशिष्ट गुण—ये छः भेद बताए हैं । धर्म, अधर्म और ज्ञानमार्ग—ये तीन मार्ग हैं । पाप और पुण्यकर्म—ये दो निमित्त हैं । यह सब मोहरूपी नाभिक को केन्द्र में रखकर घूम रहे हैं ।

पञ्चस्रोतोऽम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्त्रां पञ्चप्राणोर्मिं पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम् ।
पञ्चावर्तां पञ्चदुःखौघवेगां पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीमः ॥5॥

हम एक ऐसी नदी को पहचाते हैं जिसकी पाँच जलधाराएँ हैं, जिसके पाँच उद्गमस्थल हैं और इसीलिए जो बड़ी वेगवती है, जो टेढ़ी-मेढ़ी चलती है, जिसमें पाँच तरंगें हैं, जिसके पाँच मूल हैं, जो पाँच भँवरोंवाली है, जो पाँच दुःखप्रवाहों से वेगवाली है, जो पाँच पर्वोंवाली और पचास भेदों वाली है।

यहाँ ऋषि विश्वप्रवाह का नदी के रूप में वर्णन करते हैं। पाँच इन्द्रियाँ ही उसकी पाँच धाराएँ हैं, पाँच तत्त्व इसके पाँच उद्गमस्थल हैं, पाँच प्राण उसकी तरंगें हैं, पाँच तन्मात्राएँ ही उसकी भँवरें हैं, गर्भ-जन्म-रोग-जरा-मृत्यु उसका दुःखौघ है, अन्तःकरण की पचास वृत्तियाँ इसके भेद हैं। अज्ञान-अहंकार-राग-द्वेष-भय, ये पाँच पर्व हैं।

सर्वा जीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते अस्मिन्हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति ॥6॥

जब तक जीवात्मा अपने को विश्वात्मा से अलग समझता है, तब तक उसे इस भवचक्र में घूमना ही पड़ता है (अर्थात् उस प्रेरयिता - विश्वात्मा की दया पर संसार के इस दुश्चक्र में आना-जाना पड़ता है)। अन्त में यदि उसकी कृपा हो, तब उसे मुक्ति मिलती है। अर्थात् जब वह विश्वात्मा के साथ ऐक्य का अनुभव करता है, तब एक या दूसरी तरह से विश्वात्मा के साथ एक हो जाता है। मानो विश्वात्मा ही उसे अपनी ओर खींच रहा है, ऐसा होता है।

उद्गीतमेतत्परमं तु ब्रह्म तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाऽक्षरं च।
अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः ॥7॥

विश्वप्रपंच से अलग वर्णित यह ब्रह्म सबसे उत्कृष्ट ही है। भोक्ता, भोग्य और नियन्ता—तीनों इसी में अवस्थित हैं। इन तीनों का भेद पहचानकर (अर्थात् वही विश्वपालक और अविनाशी है ऐसा जानकर) ही ब्रह्मज्ञानी लोग अपने को शरीर से अलग समझते हैं। ब्रह्म ही सबमें अनुस्यूत है, ऐसा जानकर धीरे-धीरे वे ब्रह्म में मिल जाते हैं और फिर उनके लिए जन्म नहीं होता।

संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः।
अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावाज्ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥8॥

विनाशशील और अविनाशी (व्यक्त और अव्यक्त) दोनों एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से संलग्न हैं। क्योंकि ईश्वर ही दोनों का आधार है। वास्तव में ईश्वर ही समग्र सृष्टि का अवलम्बन है। जीवात्मा अपने दिव्य स्वरूप के अज्ञान से अपने को भोक्ता मानकर बन्धन में पड़ता है। परन्तु वही जीवात्मा जब अपने को ब्रह्मरूप में जान लेता है तब वह मुक्त हो जाता है।

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत् ॥9॥

सर्वज्ञ ईश्वर और अज्ञानी जीव—दोनों जन्मरहित हैं। प्रकृति ही जीवात्मा के लिए भोग्य पदार्थ उत्पन्न करती है। विश्वात्मा तो अनन्त है और इसलिए वह साक्षीमात्र ही है। वह अकर्ता है। भोक्तृत्व, भोगत्व और भोग—ये तो जीव के ही हैं। जीव, माया और विश्वात्मा—इन तीनों को जब साधक एक समझ लेता है, तब वह मुक्त हो जाता है।

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः।
तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ॥10॥

प्रकृति (भौतिक विश्व) तो विनाशशील है और अज्ञाननाशक परमात्मा (विश्वात्मा) तो अविनाशी और अक्षय है। वही दिव्य विश्वात्मा सकल विश्व को और जीव को नियमबद्ध रखता है। यदि उस विश्वात्मा का ध्यान किया जाए, तो उस सम्बन्ध के द्वारा मनुष्य धीरे-धीरे उसके साथ ऐक्य का अनुभव करेगा। ऐसा होने पर माया की वैश्विक पकड़ ढीली पड़ जाने से मनुष्य मुक्त हो जाएगा।

ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः।
तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः ॥11॥

उस विश्वात्मा के साथ अपने आत्मा का ऐक्य जानकर मनुष्य अज्ञानजनित सभी बन्धनों से मुक्त हो जाता है और सभी क्लेश क्षीण हो जाने से जन्म-मरण की भी समाप्ति हो जाती है। मृत्यु के समय उस विश्वात्मा (परमात्मा) के ध्यान से तो (पूर्वोक्त दो से) तीसरा स्थान—विश्वात्मा के साथ ऐक्य ही प्राप्त करता है। वह अपने को आप्तकाम (कृतार्थ) ही समझता है। (पापशान्ति और जन्ममरण हानि की अपेक्षा यह ऐक्यानुभव तीसरा स्थान है)।

एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित्।
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत् ॥12॥

ब्रह्म को सदैव अपने भीतर ही अवस्थित हुआ जानना चाहिए। इससे अधिक अच्छा जानने योग्य कुछ है ही नहीं। भोक्ता – जीव, भोग्य – जगत और प्रेरक – परमात्मा—इन तीनों को एक ब्रह्मरूप ही मानो।

वह्नेर्यथा योनिगतस्य मूर्तिर्न दृश्यते नैव च लिङ्गनाशः।
स भूय एवेन्धनयोनिगृह्यस्तद्वोभयं वै प्रणवेन देहे ॥13॥

जिस तरह अपने आश्रय (काष्ठ) में स्थित अग्नि का रूप दिखाई नहीं देता, फिर भी उसके सूक्ष्मरूप का तो नाश नहीं होता और ईंधनरूप कारण द्वारा ही उसका ग्रहण हो सकता है, ठीक उसी प्रकार (उन दोनों के समान) इस देह में प्रणव द्वारा आत्मा का ग्रहण किया जा सकता है।

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येन्निगूढवत् ॥14॥

अपने शरीर को नीचे की अरणि करके और प्रणव को ऊपर की अरणि करके ध्यानरूपी मन्थन के अभ्यास से उस स्वयंप्रकाशित परमात्मा को गुप्ताग्नि की तरह ही देखना चाहिए।

तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिरापः स्रोतस्स्वरणीषु चाग्निः।
एवमात्मात्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति ॥15॥

जैसे तिल में तेल, दही में घी, झरनों में जल और काष्ठों में अग्नि रहता है, उसी प्रकार जो मनुष्य सत्य और तप के द्वारा उसे बार-बार देखने का प्रयत्न करता है, उसी को यह आत्मा, आत्मा में अवस्थित दिखाई देता है।

सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम्।
आत्मविद्यातपोमूलं तद्ब्रह्मोपनिषत्परम्॥
तद्ब्रह्मोपनिषत्परम् ॥16॥

इति श्वेताश्वतरोपनिषत्सु प्रथमोऽध्यायः ॥

आत्मविद्या और तप के कारणरूप, दूध में घी की तरह रहते हुए, सर्वव्यापक आत्मा को सर्व के आश्रयरूप आत्मा के रूप में देखा जा सकता है। अर्थात्, सत्यादि साधन द्वारा अधिकारी पुरुष जिसका अनुभव करता है, वह ब्रह्म ही है। वह ब्रह्म ही है। (यह दो बार कथन अध्याय की समाप्ति का सूचक है)।

इस प्रकार श्वेताश्वतर उपनिषद् में प्रथम अध्याय पूरा हुआ।

❋

द्वितीयोऽध्यायः

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत् ॥1॥

सविता देवता (प्रजापति) प्रथम तो हमारे मन और अन्य प्राणों का विस्तार करके, उन्हें परमात्मा में लगाकर, अग्नि आदि का-सा तेज प्राप्त करके इस धरती पर इस शरीर में स्थापित करे।

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे।
सुवर्गेयाय शक्त्या ॥2॥

सविता देवता की अनुज्ञा मिलने से, परमात्मा से जुड़े हुए मन में, परमात्मा की प्राप्ति के लिए, कारणभूत ध्यान-कर्म के लिए यथाशक्ति हम प्रयत्न करें।

युक्त्वाय मनसा देवान् सुवर्यतो धिया दिवम्।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान् ॥3॥

सविता देव मेरे मन को विश्वात्मा के साथ जोड़ दें। इससे मेरी सारी इन्द्रियाँ उस विश्वात्मा के प्रति प्रेरित होंगी। बाद में उस स्वप्रकाशित आत्मा के साक्षात्कार के लिए मेरी इन्द्रियों को आवश्यक विवेकशक्ति प्रदान करें।

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्महि देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ॥4॥

जो विप्र (ब्राह्मण) लोग अपने मन एवं इन्द्रियों को परमात्मा में जोड़ देते हैं, वे सर्वव्यापक, महान्, सर्वज्ञ, सविता के बहुत ही कृतज्ञ हैं। उन्हें चाहिए कि वे ज्ञानवान सूर्य की सर्व प्रकार से आराधना करें।

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्विश्लोक एतु पथ्येव सूरेः।
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥5॥

ओ मेरी इन्द्रियो और उनके अधिष्ठातृ देवताओ! (हे दोनो!) मैं तुम दोनों को ध्यान, प्रणाम के द्वारा शाश्वत ब्रह्म के साथ जोड़ देता हूँ। ज्ञानियों द्वारा यह स्तुतिमंत्र भले ही चारों ओर फैल जाए। हे अमृत की सन्तानो! और हे दिव्यधाम में रहनेवाले लोगो! तुम सब मेरी यह वाणी सुनो।

अग्निर्यत्राभिमथ्यते वायुर्यत्रानुरुध्यते।
सोमो यत्रातिरिच्यते तत्र संजायते मनः ॥6॥

जहाँ मथन से अग्नि पैदा होता है, जहाँ वायु बहता नहीं है, जहाँ सोमरस से भरपूर घड़े उभरते हैं, वहाँ बाह्य कर्मों का इच्छुक मन लगता है।

सवित्रा प्रसवेन जुषेत ब्रह्म पूर्व्यम् ।
तत्र योनिं कृणवते न हि ते पूर्वमक्षिपत् ॥7॥

सविता देवता द्वारा अनुमति प्राप्त करके उस चिरन्तन ब्रह्म का सेवन करना चाहिए। तुम उस ब्रह्म में निष्ठा रखनेवाले हो जिससे कि तुम्हारा पूर्तकर्म (स्मार्त कर्म) बन्धनकारक नहीं होगा।

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य ।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्त्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ॥8॥

मस्तक-ग्रीवा-छाती—तीनों को उन्नत रखकर (आगे बढ़ाकर) शरीर को सीधा रखकर, मन से इन्द्रियों को भीतर प्रवेश करवाकर ज्ञानी मनुष्य को ॐकाररूप नौका से सभी भयानक जलाशयों को तैर जाना (पार कर जाना) चाहिए।

प्राणान्प्रपीड्येह संयुक्तचेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत ।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान्मनो धारयेताप्रमत्तः ॥9॥

समुचित आहार-विहार करते हुए प्राणों का निरोध करके जब प्राणशक्ति क्षीण हो जाए अर्थात् प्राणधारण-सामर्थ्य चला जाए, तब नासिका से उसे बाहर निकाल देना चाहिए। जैसे शरारती घोड़ों से जुड़े हुए रथ का सारथि सावधान होकर घोड़ों को वश में करता है, उसी प्रकार विद्वान् योगां को भी उस प्राण के प्रति सावधान रहकर मन को केन्द्रित करना चाहिए।

समे शुचौ शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः ।
मनोनुकूले न तु चक्षुपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ॥10॥

जो स्थान समतल एवं पवित्र हो, कंकड़, आग, रेती और कोलाहल से तथा पनघट आदि से रहित हो, जो कि मन के अनुकूल हो और जो आँख को तकलीफ देनेवाला न हो, ऐसे गुफा आदि वायुरहित स्थान में मन को परमात्मा के साथ जोड़ना चाहिए।

नीहारधूमार्कानिलानलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकाशशीनाम् ।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे ॥11॥

योग का अभ्यास करते समय बीच में आनेवाले ओस, धूम, सूर्य, वायु, अग्नि, जुगनू, बिजली, स्फटिकमणि और चन्द्रमा के रूप में शुरू में ब्रह्म की अभिव्यक्ति कराते हों, ऐसे मालूम पड़ते हैं।

पृथिव्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते ।
न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ॥12॥

पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश की अभिव्यक्ति होने पर, पंचभूतमय योग के गुणों का अनुभव होने के बाद, योगाग्निमय शरीर पानेवाले योगी को न रोग आता है, न बुढापा ही, अकालमृत्यु भी नहीं आती।

लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठवं च ।
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति ॥13॥

शारीरिक फुर्तिलापन (लघुता), आरोग्य, अलोलुपता (विषयासक्ति का अभाव), देह के वर्ण की उज्ज्वलता, आवाज का माधुर्य, सुन्दर गन्ध और मूत्रपुरीष की न्यूनता—ये सब योग की पहली सिद्धियाँ मानी जाती हैं।

यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं तेजोमयं भ्राजते तत्सुधान्तम्।
तद्वात्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः ॥14॥

जिस तरह मिट्टी से मलिन हुआ बिम्ब (सोने या चाँदी का टुकड़ा) शुद्ध करने के बाद चमक उठता है, ठीक इसी प्रकार देहधारी जीव आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करके कृतार्थ और शोक से रहित हो जाता है।

यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्।
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥15॥

जब वह योगी दीपक के समान स्वयं प्रकाशित रूप से आत्मतत्त्व के भाव से ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार करता है, तब वह जन्मरहित, अचल (स्थिर) और सभी तत्त्वों से विशुद्ध देव को पहचानकर सभी पापों से मुक्त हो जाता है।

एष ह देवः प्रदिशोऽनुसर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः।
स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ्जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥16॥

यह देव ही पूर्वादि सभी दिशाएँ और उपदिशाएँ हैं। यही देव हिरण्यगर्भ से भी पहले पैदा हुआ था। यही गर्भ के भीतर भी है और यही उत्पन्न भी हुआ है। (उत्पन्न होनेवाला भी तो वही है) सभी देवों के अन्तरात्मा के रूप में वही अवस्थित है। वही सर्वतोमुख है (सभी प्राणियों के मुख उसी के हैं)।

यो देवोऽग्नौ योऽप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश।
य ओषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः ॥17॥

इति श्वेताश्वतरोपनिषत्सु द्वितीयोऽध्यायः ॥

जो देव अग्नि में है, जो पानी में है और जो समस्त भुवन को व्याप्त कर रहा है, जो औषधियों में और वनस्पतियों में भी विद्यमान है, उस देव को नमस्कार हो, नमस्कार हो। (दो बार नमस्कार अध्याय की समाप्ति का सूचक है)।

इस प्रकार श्वेताश्वतर उपनिषत् में द्वितीय अध्याय पूरा हुआ।

❋

तृतीयोऽध्यायः

य एको जालवानीशत ईशनीभिः सर्वाल्लोकानीशत ईशनीभिः।
य एवैक उद्भवे संभवे च य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥1॥

जो एक मायावी परमेश्वर अपनी ईश्वरीय शक्तियों से शासन करता है, जो इस जगत् के प्रादुर्भाव के समय में वह अकेला ही अपनी शक्तियों से शासन करता है। उस परमात्मा को जो कोई जानते हैं, वे अमर हो जाते हैं।

एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य इमाँल्लोकानीशत ईशनीभिः।
प्रत्यङ्जनांस्तिष्ठति सञ्चुकोपान्तकाले संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः ॥2॥

क्योंकि रुद्र (ईश्वर) एक ही है इसलिए ब्रह्मज्ञानी लोग इसके अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा नहीं करते। वह ईश्वर अपनी ब्रह्मादि शक्तियों के द्वारा इन लोगों पर शासन चलाता है—इन्हें

नियम में रखता है। वह सकल जीवों के भीतर बसा हुआ है और सब लोकों का निर्माण करके उनका रक्षक बनकर रहता है। वही प्रलयकाल में संहार भी करता है।

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः ॥3॥

सभी ओर नेत्रवाला, सभी ओर मुँहवाला, सभी ओर हाथवाला और सभी ओर चरणवाला वह देव है। वह एकमात्र प्रकाशमय परमात्मा द्युलोक और पृथ्वी की रचना करते रहते हुए ही वहाँ के पशु, पक्षी, मनुष्य आदि प्राणियों को दो हाथ, दो पैर और दो पंख आदि से युक्त करता है। [अथवा दूसरा अर्थ—वह अपने दो हाथों से विश्व को उत्पन्न करके, उत्पत्ति के समय में उत्पाद्य-उत्पादकादि रूप से अनेक प्रकार के शब्द करता है। यह शंकरानंद का मत है।]

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥4॥

जो रुद्र (ईश्वर) देवताओं की उत्पत्ति तथा ऐश्वर्यप्राप्ति का कारण है, जगत् का पति है, सर्वज्ञ है, जिसने सर्वप्रथम हिरण्यगर्भ को उत्पन्न किया था वह हमें शुद्ध बुद्धि से युक्त करे।

या ते रुद्र शिवा तनूरघोराऽपापकाशिनी।
तया न स्तनुवा शंतमया गिरिशन्ताभिचाकशीहि ॥5॥

हे रुद्र! (हे परमात्मा!) आपकी जो कल्याणकारी, शान्त, पुण्यप्रकाशिका देहमूर्ति है, उस आनन्दमय मूर्ति द्वारा हे गिरिशन्त! (हे पर्वतशिखरवासि!) आप हमपर दृष्टि डालिए (कि जिससे हम अच्छे कार्य करने के लिए प्रेरित हों)।

यामिषुं गिरिशंत हस्ते बिभर्ष्यस्तवे।
शिवां गिरित्र तां कुरु मा हिंसीः पुरुषं जगत् ॥6॥

हे गिरिशिखरवासि! प्राणियों के ऊपर फेंकने के लिए आपने जो अपने हाथ में बाण धारण किया है, उसे मंगलकारी कर दीजिए। हे गिरिरक्षक! हममें से किसी मनुष्य की और सारे जगत् की भी हिंसा आप न करें।

ततः परं ब्रह्म परं बृहन्तं यथा निकायं सर्वभूतेषु गूढम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारमीशं तं ज्ञात्वाऽमृता भवन्ति ॥7॥

इस जगत् से जो परे है, जो ब्रह्मा (हिरण्यगर्भ) से भी परे है, जो महान् है, जो सभी प्राणियों में उनके शरीरों के अनुसार परिच्छिन्न रूप से छिपा हुआ रहता है, और जो एकमात्र परिवेष्टा (सर्वव्यापी) है, उस परमेश्वर को जानकर ही जीवसमूह अमर हो जाता है (उनकी मुक्ति हो जाती है)।

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥8॥

मैं इस महान् पुरुष को जो सूर्य जैसा प्रकाशस्वरूप है और अज्ञानान्धकार से परे है, उसे पहचानता हूँ। मनुष्य उसी को जानकर मृत्यु को लाँघ सकता है। इसके अलावा मृत्यु से छुटकारा पाने का कोई उपाय ही नहीं है।

यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥9॥

जिससे श्रेष्ठ अन्य कुछ नहीं है, और जिससे छोटा और बड़ा भी कुछ नहीं है, ऐसे यह अद्वितीय परमात्मा अपनी द्योतनात्मक (प्रकाशमय) महिमा में वृक्ष की भाँति निश्चल भाव से अवस्थित है। उस परमपुरुष ने ही सारे जगत् को व्याप्त कर रखा है। (वह सारे जगत् को व्याप्त करके स्थित हैं)।

ततो यदुत्तरतरं तदरूपमनामयम्।
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापि यन्ति ॥10॥

उस कारणब्रह्म से जो उत्कृष्टतर है, वह अरूप और अनामय है, उसे जो जानते हैं, वे अमर हो जाते हैं। दूसरे लोग दुःख को ही प्राप्त हुआ करते हैं।

सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतागुहाशयः।
सर्वव्यापी स भगवांस्तस्मात्सर्वगतः शिवः ॥11॥

वह भगवान् चारों ओर मुखवाले, चारों ओर मस्तक वाले और चारों ओर ग्रीवावाले हैं। सभी जीवों के हृदय में छिपे हुए सर्वव्यापी भगवान् शिव सभी में निवास कर रहे हैं।

महान्प्रभुर्वै पुरुषः सत्त्वस्यैष प्रवर्तकः।
सुनिर्मलामिमां प्राप्तिमीशानो ज्योतिरव्ययः ॥12॥

यह परमात्मा महान्, पूर्ण सामर्थ्यशाली, शरीररूपी नगरी में शयन करनेवाला, निर्मल प्राप्ति के उद्देश्य से मन को प्रेरित करनेवाला, सर्वशासक, प्रकाशरूप और अविनाशी है।

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः।
हृदा मन्वीषो मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥13॥

अंगुष्ठ के परिमाणवाला अन्तर्यामी पुरुष जीवों के हृदय में हमेशा विद्यमान है। हृदय और मन से वह चारों ओर प्रकाशित होता है, वह ज्ञान का स्वामी है। उसे जो जानते हैं, वे अमर हो जाते हैं।

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥14॥

वह पुरुष सहस्र (अनेक) मस्तकवाला है, सहस्र आँखों वाला है, सहस्र पैरोंवाला है। वह भूमि को चारों ओर से व्याप्त करके दशांगुल तक (ज्यादा आगे) उसका अतिक्रमण करके भी अवस्थित है।

पुरुष एवेदꣳ सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥15॥

जो कुछ भी भूतकालीन और भविष्यत्कालीन है, और जो कुछ भी अन्न के द्वारा वृद्धि प्राप्त करता है, वह सब यह पुरुष ही है। और वही अमृतत्व अर्थात् मुक्ति का भी प्रभु है।

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥16॥

उस परब्रह्म के हाथ-पैर सभी दिशाओं में हैं। उसकी आँखें, मस्तक और मुख भी सभी दिशाओं

में हैं। उसके कान भी सभी दिशाओं में हैं। इस लोक में वह सबको आवृत किए हुए स्थित है। अर्थात् सबको अपने से व्याप्त करके अवस्थित है।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं बृहत् ॥17॥

वह ज्ञेय (प्रमेय) ब्रह्म सभी इन्द्रियों और विषयों के रूप में (केवल) भासित (ही) होता है, परन्तु वास्तव में सभी इन्द्रियों से रहित ही है। वह सबका प्रभु है, सबका शासक है और सबका आश्रय एवं कारण है।

नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च ॥18॥

समग्र स्थावर-जंगम सृष्टि का स्वामी ऐसा हंसस्वरूप यह परमात्मा ही देहाभिमानी होकर इस नव द्वारवाले देहरूपी नगर में बाह्य विषयों को ग्रहण करने के लिए चेष्टा करता है।

अपाणिपादो जवनो गृहीता पश्यत्यचक्षुः स श‍ृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥19॥

वह निर्विशेष ब्रह्म हाथ-पैरों से रहित होकर भी वेगवान और ग्रहण करनेवाला है। आँखें न होते हुए भी वह देखता है, कान न होने पर भी वह सुनता है। वह सभी ज्ञेय विषयों को जानता है, पर उसको जाननेवाला कोई भी नहीं है। उसी को महान् प्रथम पुरुष (ब्रह्म) कहा जाता है।

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः।
तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम् ॥20॥

वह आत्मा अणु से भी अणु और महान् से भी महान् है। वह जीव के अन्तःकरण में रहता है। उस विषयरूप संकल्प से रहित और महिमामय आत्मा को जो विधाता की कृपा से जान लेता है, वह शोकरहित हो जाता है।

वेदाहमेतमजरं पुराणं सर्वात्मानं सर्वगतं विभुत्वात्।
जन्मनिरोधं प्रवदन्ति यस्य ब्रह्मवादिनो हि प्रवदन्ति नित्यम् ॥21॥

इति श्वेताश्वतरोपनिषत्सु तृतीयोऽध्यायः ॥

ब्रह्मज्ञानी लोग जिसे जन्म से रहित कहते हैं और 'वह नित्य है'—ऐसा भी कहते हैं। वह बुढापे से रहित है, वह पुरातन है, वह सर्वात्मा और सर्वगत है, क्योंकि वह विभु (व्यापक) है, उस आत्मा को मैं जानता हूँ।

इस प्रकार श्वेताश्वतर उपनिषद् में तीसरा अध्याय पूरा हुआ।

❈

चतुर्थोऽध्यायः

य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद्वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति।
वि चैति चान्ते विश्वमादौ स देवः स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥1॥

जो परमात्मा एक और निर्विशेष होकर भी अपनी शक्ति द्वारा सृष्टि के आरम्भ में किसी भी प्रयोजन के बिना ही विविध प्रकार के रूप धारण करता है, और अन्त में (प्रलय काल में) सारा विश्व जिसमें लीन हो जाता है, ऐसा वह प्रकाशस्वरूप परमात्मा हमें सद्बुद्धि से संयुक्त करे (अर्थात् हमें सद्बुद्धि प्रदान करे)।

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदापस्तत्प्रजापतिः ॥2॥

वह आत्मतत्त्व ही अग्नि है, वही आदित्य है, वही वायु है और वही चन्द्रमा है, वही शुक्र (शुद्ध) नक्षत्र है, वही ब्रह्म (हिरण्यगर्भ) है, वही ब्रह्म जल है और वही प्रजापति है।

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी ।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ॥3॥

तू स्त्री है, तू पुरुष है, तू कुमार है और तू ही कुमारी है। तू ही तो बूढ़ा बनकर लाठी लिए चलता है, तू ही प्रपंचरूप से अनेक होने के बाद अनेक रूप हो जाता है।

नीलः पतङ्गो हरितो लोहिताक्षस्तडिद्गर्भ ऋतवः समुद्राः ।
अनादिमत्त्वं विभुत्वेन वर्तसे यतो जातानि भुवनानि विश्वा ॥4॥

तू ही नीलवर्णी मयूर है, तू ही तोता और लाल आँखोंवाली मैना भी तू ही है। विद्युत् को अपने में समानेवाला मेघ भी तू ही है और ऋतुएँ, समुद्र आदि भी तू ही है। तू आदिरहित व्यापक बनकर रहता है और उसी से ये सारे भुवन उत्पन्न हुए हैं।

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजा सृजमानां सरूपाः ।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥5॥

जो माया एक है, वह लाल, सफेद आदि काले रंगवाली है (अर्थात् तेज, जल और पृथ्वीरूप है) और वह अपने समान बहुत-सी प्रजाओं को उत्पन्न करती है, ऐसी माया का सेवन करता हुआ भी एक पुरुष (ईश्वर) उसे छोड़ देता है, और दूसरा (जीव) उसमें अनुरक्त हो जाता है।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥6॥

जीवात्मा और परमात्मारूप दो पक्षी साथ में रहनेवाले दो मित्र होकर एक ही वृक्ष (शरीररूपी वृक्ष) को आलिङ्गन (आश्रय) करके रहते हैं। उन दोनों में से एक (जीव) मीठा लगनेवाला फल खाता है और अन्य (परमात्मा) उसे न खाते हुए केवल देखा ही करता है।

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः ।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥7॥

उस एक ही शरीररूपी वृक्ष पर भोक्ता - जीव (अविद्या, कर्मफल आदि के बोझ से) डूबा हुआ, मोहग्रस्त होकर दीनभाव से शोक करता है। और जिस समय में (अनेक योगमार्गों से) सेवित एवं देहादि से भिन्न ईश्वर और उसकी महिमा को देखता है, तब वह शोक से रहित हो जाता है।

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन्देवा अधिविश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥8॥

सभी देव जिसमें अवस्थित हैं, ऐसे अक्षरब्रह्मरूप परम आकाश में तीनों वेद निवास करते हैं। जो मनुष्य उसे नहीं जानता, वह भला ऋचाओं (वेदों) का क्या करेगा ? जो लोग उसे (ब्रह्म को) जानते हैं, वे धन्य-धन्य हो जाते हैं।

छन्दांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि भूतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति ।
अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत् तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः ॥9॥

वेद, यज्ञ, अग्न्याधानादि क्रतु, व्रत, भूत, भविष्यत् (और वर्तमान) आदि जो कुछ भी अन्यान्य बातें वेदों में बताई गईं हैं, वह सब मायाशक्ति से सम्पन्न ईश्वर ही उत्पन्न करता है। और उसी माया के प्रपंच से जीवात्मा बन्धन में पड़ता है।

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥10॥

माया को तुम जगत् का कारणरूप प्रकृति जानो। और मायाशक्तिसम्पन्न देव को महेश्वर जानो। उस महेश्वर के अवयवों से (कार्यकारणरूप संघात से) यह सारा जगत् व्याप्त है।

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको यस्मिन्निदं सं च वि चैति सर्वम् ।
तमीशानं वरदं देवमीड्यं निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति ॥11॥

जो एक परमेश्वर हर एक जीवजाति को अपने नियम में रखता है, और जिस ईश्वर में यह सारा जगत् समा भी जाता है और फिर उत्पन्न भी होता है, उस सर्वनियामक, वरदाता एवं स्तवनीय देव को जानकर मनुष्य परमशान्ति पाता है।

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः ।
हिरण्यगर्भं पश्यति जायमानं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥12॥

जो रुद्र (परमेश्वर) सभी देवों की उत्पत्ति और ऐश्वर्य प्राप्ति का हेतु है, जो जगत् का स्वामी और सर्वज्ञ है और जिसने सबसे पहले अपने से उत्पन्न हिरण्यगर्भ को देखा था, वह हमें सद्बुद्धि से संयुक्त करे।

यो देवानामधिपो यस्मिँल्लोका अधिश्रिताः ।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥13॥

जो देवों का अधिपति है, जिसके अवलम्बन पर वे सभी लोक टिके हुए हैं, जो दो पैर वाले और चार पैर वाले प्राणियों पर शासन कर रहा है, उस आनन्दस्वरूप देव को हम हवि से पूजते हैं।

सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम् ।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति ॥14॥

इस विश्वप्रपंच के बीच में रहते हुए, सूक्ष्म से भी अतिसूक्ष्म, अनेक रूपों को धारण करनेवाले, विश्व के स्रष्टा और विश्व को व्याप्त किये हुए शिव को जानकर जीव परमशान्ति को प्राप्त करता है।

स एव काले भुवनस्य गोप्ता विश्वाधिपः सर्वभूतेषु गूढः ।
यस्मिन्युक्ता ब्रह्मर्षयो देवताश्च तमेवं ज्ञात्वा मृत्युपाशांश्छिनत्ति ॥15॥

सभी काल में वही तो इस लोक की रक्षा करनेवाला है और सभी भूतों में छिपकर रहता हुआ

वही समग्र विश्व का अधीश्वर है। इसमें महर्षि, देव आदि स्थिर होकर रहते हैं। इसके ऐसे स्वरूप को जानकर मनुष्य मृत्युबन्धनों काट देता है।

घृतात्परं मण्डमिवातिसूक्ष्मं ज्ञात्वा शिवं सर्वभूतेषु गूढम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥16॥

घी के ऊपर स्थित उसके सारभाग के समान अत्यन्त सूक्ष्म, और सभी प्राणियों में छिपे हुए, विश्व को घेर कर रहते हुए उस शिवतत्त्व (ब्रह्म) को जानकर मनुष्य सभी पापों से (पापरूपी बन्धनों से) मुक्त हो जाता है।

एष देवो विश्वकर्मा महात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः।
हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥17॥

यह सर्वव्यापी देव जगत् का कर्ता है और महान् (परम) आत्मा है, इसलिए सदैव सब प्राणियों के हृदय में रहनेवाला है। और उस हृदय द्वारा किए गए ''नेति नेति'' 'अतद्व्यावृत्ति' के उपदेश से, आत्मा-अनात्मा की विवेक, बुद्धि और ऐक्यज्ञान द्वारा जाना जा सकता है। अर्थात् बुद्धि और मन के द्वारा जाना जा सकता है। जो इसे इस प्रकार जानते हैं, वे अमर हो जाते हैं।

यदाऽतमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्न चासच्छिव एव केवलः।
तदक्षरं तत्सवितुर्वरेण्यं प्रज्ञा च तस्मात्प्रसृता पुराणी ॥18॥

जब मनुष्य अज्ञानरहित होता है, तब उसके लिए न दिवस होता है, न रात। न सत् होता है न असत्। तब केवल शिव ही रहते हैं। वह स्वरूप अविनाशी है, वह आदित्यमण्डलाभिमानी देव का श्रेष्ठ तेज है, अत: सुपूजनीय है। उसी में से पुरातन आत्मविद्या निकली है अर्थात् गुरु-परंपरित ज्ञान फैला है।

नैतदूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परिजग्रभत्।
न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः ॥19॥

इस ईश्वर को ऊपर से या तिरछी जगह से या मध्य से कोई ग्रहण नहीं कर सकता (क्योंकि वह अपरिच्छिन्न, निरंश और निरवयव है)। इस ईश्वर की कोई उपमा नहीं है, क्योंकि परिपूर्ण यश ही तो उसका नाम है।

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चिदेनम्।
हृदा हृदिस्थे मनसा य एनमेवं विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥20॥

इस ब्रह्म का रूप कहीं नहीं दीखता। उसे कोई आँखों से नहीं देख सकता। हृदयस्थ इस ईश्वर को जो लोग मन और हृदय से ही—शुद्ध बुद्धि से ही इस प्रकार का जानते हैं, वे अमर हो जाते हैं।

अजात इत्येवं कश्चिद्भीरुः प्रपद्यते।
रुद्र यत्ते दक्षिणं मुखं तेन मां पाहि नित्यम् ॥21॥

हे रुद्र ! तुम जन्मरहित हो—ऐसा जानकर संसार से भयभीत मुझ जैसा कोई तेरी शरण खोजता है और कहता है कि तुम्हारा जो दक्षिण मुख है, उससे मेरी रक्षा करो।

मा नस्तोके तनये मा न आयुषि मा नो गोषु मा न अश्वेषु रीरिषः ।
वीरान्मा नो रुद्र भामिनोऽवधीर्हविष्मन्तः सदमित्त्वा हवामहे ॥22॥

इति श्वेताश्वतरोपनिषत्सु चतुर्थोऽध्यायः ॥

हे रुद्र ! हमारे पुत्र, पौत्र, हमारे जीवन, हमारी गायों, अश्वों के प्रति हिंसक मत बनो । क्रुद्ध होने पर भी तुम हमारे नौकर-चाकरों को नहीं मारना । हम हमेशा हवियुक्त होकर तुम्हें बुलाते हैं ।

इस प्रकार श्वेताश्वतर उपनिषद् में चौथा अध्याय पूरा हुआ ।

❈

पञ्चमोऽध्यायः

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याऽविद्ये निहिते यत्र गूढे ।
क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या विद्याऽविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः ॥1॥

इस अविनाशी और अनन्त परब्रह्म में विद्या और अविद्या (दोनों गूढ रूप से) परिच्छिन्न रूप से निहित हैं । जो क्षर है वह अविद्या है, और जो अमृत है वह विद्या है । और जो उन विद्या और अविद्या दोनों का शासन करता है अर्थात् दोनों को नियम में रखता है, वह तो अलग ही है ।

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको विश्वानि रूपाणि योनींश्च सर्वाः ।
ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत् ॥2॥

जो अकेला ही प्रत्येक स्थान, प्रत्येक (सभी) रूपों और सभी उत्पत्तिस्थानों का नियमन करता है, और जिसने सृष्टि की शुरुआत में जन्मे हुए कपिल मुनि को (हिरण्यगर्भ को) ज्ञानयुक्त किया था, और जन्म लेते हुए भी देखा था (वही विद्या-अविद्या से भिन्न सबका शासक है)।

एकैकं जालं बहुधा विकुर्वन्नस्मिन्क्षेत्रे संहरत्येष देवः ।
भूयः सृष्ट्वा पतयस्तथेशः सर्वाधिपत्यं कुरुते महात्मा ॥3॥

सर्जनकाल में यह देव (परमात्मा) (इस संसारक्षेत्र में) एक-एक जाल को (प्रत्येक प्राणी से सम्बद्ध संसाररूप इन्द्रजाल को अर्थात् कर्मफल बन्धन की जाल को अथवा इन्द्रियादि रूप जाल को) अनेक प्रकार से विकृत करके अन्त में संहार कर देता है । और यह महात्मा ईश्वर ही कल्प के आरंभ में प्रजापतियों को फिर से उत्पन्न करके सबपर अपना आधिपत्य रखता है ।

सर्वा दिश ऊर्ध्वमधश्च तिर्यक्प्रकाशयन्भ्राजते यद्वनड्वान् ।
एवं स देवो भगवान्वरेण्यो योनिस्वभावानधितिष्ठत्येकः ॥4॥

जैसे पूर्वादि सभी दिशाओं को सूर्य प्रकाशित करता है, उसी तरह ऐश्वर्ययुक्त स्तवनीय यह देव अकेला ही ऊपर, नीचे और आसपास के कोनों को भी प्रकाशित करता हुआ कारणस्वभाव पृथ्वी आदि को नियम में रखता है । ('योनिः स्वभावात्'—ऐसा पाठ लेनेपर 'सर्वभूत का कारणस्वरूप ईश्वर अपने स्वभाव से ही नियम में रखता है'—ऐसा अर्थ होगा) ।

यच्च स्वभावं पचति विश्वयोनिः पाच्यांश्च सर्वान्परिणामयेद्यः ।
सर्वमेतद्विश्वमधितिष्ठत्येको गुणांश्च सर्वान्विनियोजयेद्यः ॥5॥

जो जगत्कारणरूप परमात्मा हर एक वस्तु के स्वभाव को निष्पन्न करता है, और जो परिणमन-योग्य सभी पदार्थों को परिणत करता है, वह अकेला ही इस संपूर्ण विश्व का नियमन करता है। वही सत्त्वादि समस्त गुणों को उनके कार्यों में नियुक्त करता है, वही परब्रह्म है।

तद्वेदगुह्योपनिषत्सु गूढं तद्ब्रह्मा वेदते ब्रह्मयोनिम्।
ये पूर्वं देवा ऋषयश्च तद्विदुस्ते तन्मया अमृता वै बभूवुः ॥6॥

वेदों के गोपनीय अंश ऐसे उपनिषदों में उस आत्मा का स्वरूप बताया गया है। वेदों का मूल ब्रह्म है। अतः वेदप्रमाणक आत्मा को हिरण्यगर्भ ब्रह्मा जानते हैं। जो प्राचीन देव और ऋषिलोग उसे जानते थे, वे तो तद्रूप होकर अमर हो गए थे।

गुणान्वयो यः फलकर्मकर्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता।
स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा प्राणाधिपः संचरति स्वकर्मभिः ॥7॥

जो गुणों के साथ जुड़ा हुआ फलप्रद कर्मों का कर्ता होता है और किए हुए कर्मों का फल भोगनेवाला भी होता है, वह विविध रूप धारण करनेवाला, त्रिगुणमय एवं तीन मार्गों से गमन करनेवाला, प्राणों का अधिष्ठाता तथा अपने कर्मानुसार गमन करनेवाला होता है।

अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः सङ्कल्पाहङ्कारसमन्वितो यः।
बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः ॥8॥

जो अंगुष्ठ जैसे परिमाणवाला, सूर्य के समान रूप (तेज) वाला, संकल्प और अहंकार से युक्त तथा बुद्धि और शरीर के गुणों से भी युक्त है, वह दूसरा जीव भी आरा के अग्रभाग जैसा देखने में (जानने में) आया है।

वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥9॥

बाल का अग्र भाग भी यदि सौ भाग में बाँटा जाए, ऐसा उस जीव को (सूक्ष्म) जानना चाहिए। परन्तु वही बाद में अनन्तरूप हो जाता है।

नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते ॥10॥

यह विज्ञानात्मा स्त्री भी नहीं है, पुरुष भी नहीं है और नपुंसक भी नहीं है। वह जिस-जिस शरीर को धारण करता है, उस-उस शरीर के द्वारा उसका रक्षण किया जाता है अर्थात् उस-उस शरीर के द्वारा वह सुरक्षित रहता है।

संकल्पनस्पर्शनदृष्टिमोहैर्ग्रासाम्बुवृष्ट्या चात्मविवृद्धिजन्म।
कर्मानुगान्यनुक्रमेण देही स्थानेषु रूपाण्यभिसम्प्रपद्यते ॥11॥

जिस प्रकार अन्न और जल के सेवन से शरीर कीं वृद्धि होती है, ठीक उसी प्रकार संकल्प, स्पर्शन, दर्शन और मोह से कर्म उत्पन्न होते हैं। इसके बाद यह शरीरधारी आत्मा अपने कर्मों के अनुसार क्रमशः अलग-अलग प्रकार की योनियों में कर्मानुसार रूप धारण करता है।

स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव रूपाणि देही स्वगुणैर्बिभर्ति।
क्रियागुणैरात्मगुणैश्च तेषां संयोगहेतुरपरोऽपि दृष्टः ॥12॥

जीव पाप-पुण्यरूप अपने गुणों के द्वारा स्थूल, सूक्ष्म आदि अनेक देह धारण करता रहता है।

बाद में वह शरीरों के कर्मफल और मानसिक संस्कारों के द्वारा देह प्राप्त होने का दूसरा हेतु (देह संयोग का दूसरा हेतु) भी देखा जाता है।

अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्त्रष्टारमनेकरूपम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वां देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥13॥

इस अतिगम्भीर संसार के बीच, अनादि-अनन्त विश्व के रचनेवाले अनेकविध विश्व को व्याप्त करनेवाले उस एकमात्र देव को जानकर जीव सभी पाशों से मुक्त हो जाता है।

भावग्राह्यमनीडाख्यं भावाभावकरं शिवम्।
कलासर्गकरं देवं ये विदुस्ते जहुस्तनुम् ॥14॥

इति श्वेताश्वतरोपनिषत्सु पञ्चमोऽध्यायः ॥

भावग्राह्य, अशरीरसंज्ञक, सृष्टि और प्रलय करनेवाले, शिवस्वरूप और कलाओं का निर्माण करनेवाले उस देव को जो पहचान लेते हैं, वे अपने देह के बन्धन को छोड़ देते हैं।

इस प्रकार श्वेताश्वतर उपनिषत् में पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ।

❈

षष्ठोऽध्यायः

स्वभावमेके कवयो वदन्ति कालं तथाऽन्ये परिमुह्यमानाः।
देवस्यैष महिमा तु लोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम् ॥1॥

कुछ विद्वान् स्वभाव को जगत् का कारण बताते हैं, और मोहग्रस्त कुछ लोग काल को कारण बताते हैं। पर यह महिमा तो भगवान् की ही है कि जिसके द्वारा यह ब्रह्मचक्र (संसाररूप ब्रह्मविवर्त) घुमाया जा रहा है।

येनावृतं नित्यमिदं हि सर्वं ज्ञः कालकारो गुणी सर्वविद्यः।
तेनेशितं कर्म विवर्तते ह पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखानि चिन्त्यम् ॥2॥

जिसके द्वारा ही यह सब कुछ निश्चित रूप से व्याप्त है, जो ज्ञानस्वरूप और काल का भी कर्ता है, जो निष्पापत्व आदि गुणों से युक्त है, जो सर्वज्ञ है, जिससे प्रेरित होकर ही यह पृथ्वी-जल-तेज-वायु-आकाश का जगत् रूपी कार्य चल रहा है, उसका चिन्तन-मनन करना चाहिए।

तत्कर्म कृत्वा विनिवर्त्य भूयस्तत्तस्य तत्त्वेन समेत्य योगम्।
एकेन द्वाभ्यां त्रिभिरष्टभिर्वा कालेन चैवात्मगुणैश्च सूक्ष्मैः ॥3॥

परमात्मा ने इस सृष्टि का निर्माण करने के बाद इसका पुनर्निरीक्षण किया। उसके बाद जड़ और चेतन को मिलाकर उन्होंने जगत् की रचना की। अर्थात्, एक प्रकृति, दो धर्माधर्म, तीन सत्त्वादि गुण, आठ तत्त्व (पाँच महाभूत और मन-बुद्धि-अहंकार) और काल तथा सूक्ष्म आत्मगुणों से उन्होंने सृष्टि उत्पन्न की।

आरभ्य कर्माणि गुणान्वितानि भावांश्च सर्वान्विनियोजयेद्यः।
तेषामभावे कृतकर्मनाशः कर्मक्षये याति स तत्त्वतोऽन्यः ॥4॥

जो पुरुष सत्त्वादि गुणमय कर्मों का आरंभ करके उन्हें तथा उनके सभी भावों को परमात्मा को

अर्पण कर देता है, तब उनके सम्बन्ध का अभाव हो जाने से उसके पहले किए हुए कर्मों का नाश हो जाता है, और कर्मों का क्षय होने पर वह पृथ्वी आदि तत्त्वों से अलग हो जाता है और वह परमात्मा को प्राप्त हो जाता है।

आदिः स संयोगनिमित्तहेतुः परस्त्रिकालादकलोऽपि दृष्टः।
तं विश्वरूपं भवभूतमीड्यं देवं स्वचित्तस्थमुपास्य पूर्वम् ॥5॥

वह सबका कारण है। शरीर के संयोग के निमित्तभूत अविद्या का हेतु है। वह त्रिकाल से अतीत और कलारहित भी देखा जाता है। अपने अन्तःकरणस्थित सर्वरूप, विश्वरूप, सत्यस्वरूप और स्तवनीय देव की पहले स्तुति कर मनुष्य उसे प्राप्त करता है।

स वृक्षकालाकृतिभिः परोऽन्यो यस्मात्प्रपञ्चः परिवर्ततेऽयम्।
धर्मावहं पापनुदं भगेशं ज्ञात्वात्मस्थममृतं विश्वधाम ॥6॥

वह (परमात्मा) संसाररूप वृक्ष से, उत्पन्न काल से और भौतिक पदार्थों से परे (भिन्न) है। उसी में से यह सात प्रपंच उत्पन्न होते हैं। ऐसे धर्मप्रद, पापनाशक, ऐश्वर्य के नियामक, बुद्धिस्थित, अविनाशी परमात्मा को जानकर मनुष्य संसार में मुक्त होता है।

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम्।
पतिं पतीनां परमं परस्ताद्विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥7॥

ईश्वरों के भी परम महान् ईश्वर, देवताओं के परम देव, पतियों के परम पति, अव्यक्त आदि से भी परे, विश्व के अधिपति उस स्तवनीय देव को हम जानते हैं।

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥8॥

उसका न शरीर है, न इन्द्रियाँ; उसके जैसा कोई नहीं है, उससे अधिक भी कोई नहीं है। उसकी तरह-तरह की शक्ति श्रुतियों में कही हुई सुनाई देती है और वह स्वाभाविक ज्ञानक्रिया और बल-क्रिया है।

न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम्।
स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः ॥9॥

इस लोक में उसका कोई स्वामी नहीं है, उसका कोई शासक नहीं है, उसका कोई चिह्न भी नहीं है, वही सब कारणों का कारण है, वह सब करणों (इन्द्रियों) के स्वामी (जीव) का स्वामी है, उसको कोई उत्पन्न करनेवाला नहीं है और कोई स्वामी भी नहीं है।

यस्तन्तुनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतो देव एकः स्वमावृणोत्।
स नो दधाद् ब्रह्माप्ययम् ॥10॥

जिस तरह मकड़ी अपने तन्तुओं से अपने को ढँक लेती है, उसी प्रकार उस एक देव ने स्वभाव से प्रधानजनित कार्यों के द्वारा अपने को ढँक लिया है। वह हमें ब्रह्म में एकीभाव प्रदान करे।

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥11॥

सभी प्राणियों में गूढरूप से रहा हुआ एक देव है, जो सर्वव्यापी है और सभी प्राणियों का अन्तरात्मा है। वह कर्मों का अधिष्ठाता है, सभी प्राणियों में बसा हुआ है, सबका साक्षी है, सबको चेतना प्रदान करनेवाला शुद्ध और निर्गुण है।

एको वशी निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥12॥

जो एक (अद्वितीय) स्वतंत्र परमात्मा, बहुत से निष्क्रिय जीवों के एक बीज को अनेकरूप कर देता है। ऐसे उस भीतर में स्थित देव को जो धीर पुरुष देखते हैं, उन्हीं को शाश्वत सुख मिलता है, दूसरों को नहीं मिलता।

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥13॥

जो नित्यों में भी नित्य और चेतनों में भी चेतन केवल एक अकेला ही होकर सब भोग देनेवाला है और जो सांख्ययोग द्वारा जानने योग्य है, ऐसे सर्व के कारणरूप देव को जानकर मनुष्य सभी बन्धनों से छुटकारा पा लेता है।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥14॥

वहाँ न तो सूर्य प्रकाशित होता है, न चाँद-तारे ही प्रकाशित होते हैं। ये बिजलियाँ भी नहीं चमकतीं, तो भला यह अग्नि वहाँ कैसे प्रकाशित हो सकती है ? उस स्वयं प्रकाशित ब्रह्म के पीछे-पीछे ही सब प्रकाशित होता है, उसी के तेज से यह सब-कुछ प्रकाशित होता है।

एको हꣳसो भुवनस्यास्य मध्ये स एवाग्निः सलिले सन्निविष्टः ।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥15॥

इस भुवन के बीच जो एक हंस है, वही जल में (पंचमाहुतिभूत देह में) सन्निहित अग्नि के समान है। उसी को जानकर मनुष्य मृत्यु को पार कर सकता है अर्थात् मृत्यु का अतिक्रमण कर उसके आगे निकल जाता है। मोक्षप्राप्ति का इससे अलग कोई अन्य मार्ग है ही नहीं।

स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः ।
प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः ॥16॥

वह विश्व का कर्ता है, विश्व का ज्ञाता है, स्वयंभू है, ज्ञाता है, काल का भी काल है, अपहतपाप्मादि गुणों से युक्त है, वह सभी विद्याओं का अधिष्ठान है, वही प्रधान (प्रकृति) और क्षेत्रज्ञ (पुरुष का अध्यक्ष) है, वही गुणनियामक, तथा संसार के मोक्ष, स्थिति और बन्धन का हेतु है।

स तन्मयो ह्यमृत ईशसंस्थो ज्ञः सर्वगो भुवनस्यास्य गोप्ता ।
य ईशेऽस्य जगतो नित्यमेव नान्यो हेतुर्विद्यत ईशनाय ॥17॥

वह तन्मय (ज्योतिर्मय अथवा जगन्मय) है। वह अमरणधर्मा, ईश्वरस्वरूप में अवस्थित, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी है, और इस भुंवन का रक्षक है। वह सदैव इस सृष्टि का शासन करता है, क्योंकि उसका शासन करने के लिए तो कोई भी समर्थ नहीं है।

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तꣳह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥18॥

सृष्टि के आरम्भ में जो ब्रह्मा को उत्पन्न करता है, और जो उसके लिए वेदों को प्रवृत्त करता है, मैं मोक्षप्राप्ति की अभिलाषा से बुद्धि को प्रकाशित करनेवाले ऐसे देव की शरण में जाता हूँ।

निष्कलं निष्क्रियꣳ शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम् ।
अमृतस्य परꣳ सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम् ॥19॥

कलाहीन, क्रियाहीन, शान्त, दोषरहित, निर्लेप, अमृतत्व का उत्कृष्ट सेतु, जिसका काष्ठ जल चुका है ऐसे अग्नि सदृश प्रकाशमान उस देव की मैं शरण में जाता हूँ।

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः ।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥20॥

जब मानव सारे आकाश को चमड़े से लपेट लेंगे, तब देव को बिना जाने इनके दुःखों का अन्त होगा। अर्थात् आकाश को चमड़े से मढ़ना जैसा असम्भव है, वैसा ही ब्रह्म को जाने बिना दुःख का अत्यन्ताभाव (मोक्ष) असंभव ही है।

तपःप्रभावाद्देवप्रसादाच्च ब्रह्म ह श्वेताश्वतरोऽथ विद्वान् ।
अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं प्रोवाच सम्यगृषिसङ्घजुष्टम् ॥21॥

श्वेताश्वतर ऋषि ने तप:प्रभाव से और भगवत्कृपा से उस प्रसिद्ध ब्रह्म को जाना अर्थात् साक्षात् किया और ऋषिसमुदाय से सेवित इस परमपवित्र ब्रह्मतत्त्व का संन्यासियों को उपदेश दिया।

वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम् ।
नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्राय नाशिष्याय वा पुनः ॥22॥

उपनिषत् में परमगुह्य इस विद्या का उपदेश किया गया था। इसे अशान्त, अपुत्र और जो अपना शिष्य न हो, उसे यह गुह्य ज्ञान नहीं देना चाहिए।

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥
प्रकाशन्ते महात्मन इति ॥23॥

इति श्वेताश्वतरोपनिषत्सु षष्ठोऽध्यायः ॥

इति कृष्णयजुर्वेदीयश्वेताश्वतरोपनिषत्संपूर्णा ॥

परमेश्वर में अत्यन्त भक्तिवाले, और ईश्वर की भाँति ही गुरु में जिसकी भक्ति है, उस महात्मा से कहे जाने पर ये तत्त्व प्रकाशित हो जाते हैं, प्रकाशित हो जाते हैं।

इस प्रकार श्वेताश्वतर उपनिषद् में छठा अध्याय पूरा हुआ।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु । सह नौ……मा विद्विषावहै । (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्ति शान्तिः ॥

❈

(15) हंसोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

इस उपनिषत् को कुछ लोग अथर्ववेद से सम्बद्ध मानते हैं, तो कुछ विद्वान् इसे शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध मानते हैं। यह उपनिषद् गौतम और सनत्सुजात के संवाद के रूप में है। इसमें हंसमन्त्र का रहस्य, ध्यान, जपादि की विधि आदि विषय हैं। इसके ऋषि हंस, देवता परमहंस, 'हम्' बीज, 'स' शक्ति और 'सोऽहम्' कीलक बताया गया है। यह बड़ा ही निगूढ (रहस्यमय) ज्ञान है। सबसे पहले यह उपनिषत् शिवजी ने पार्वतीजी को सुनाया था। शान्त, दान्त और गुरुभक्त मनुष्य ही इसे सुनने का अधिकारी माना जाता है। इसमें कहा है कि जिस प्रकार काष्ठ में अग्नि और तिलों में तेल रहता है, उसी प्रकार सभी शरीरों में जीवात्मा रहता है। उस आत्मा की प्राप्ति के लिए षट्चक्रभेदन की साधना करनी पड़ती है। अष्टदल कमल में उसकी वृत्तियों का साम्य बताया है और बाद में ब्रह्म का स्फटिक मणि जैसा स्वरूप बताया गया है, वही ब्रह्म 'हंस' है। इस पर ध्यान करने से 'नाद' उत्पन्न होता है। इसकी अनेक रूपों में अनुभूति होती है, ऐसा कहा गया है। यही आत्मसाक्षात्कार की परमावस्था है। यही समाधि है।

शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं .... पूर्णमेवावशिष्यते ॥ (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (जाबालोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

गौतम उवाच—
भगवन् सर्वधर्मज्ञ सर्वशास्त्रविशारद।
ब्रह्मविद्याप्रबोधो हि ये(के)नोपायेन जायते ॥1॥

ऋषि गौतम ने सनत्कुमार से पूछा—'हे भगवन्! हे सर्व धर्मों को जानने वाले! हे सभी शास्त्रों में पारंगत! यह ब्रह्मविद्या जिस किसी उपाय से जानी जा सकती हो, यह बताने की आप कृपा करें।'

सनत्कुमार उवाच—
विचार्य सर्वधर्मेषु मतं ज्ञात्वा पिनाकिनः।
पार्वत्या कथितं तत्त्वं शृणु गौतम तन्मम ॥2॥

तब सनत्कुमार ने उत्तर दिया कि—"हे गौतम! पिनाकपाणि महादेव ने सभी उपनिषद्धर्मों में दिए गए मत का ठीक तौर से विचार करके पार्वतीजी से जो कुछ पहले कहा था, वही तुम मुझसे सुनो।

अनाख्येयमिदं गुह्यं योगिने कोशसन्निभम्।
हंसस्याकृतिविस्तारं भुक्तिमुक्तिफलप्रदम् ॥3॥

यह गूढ रहस्यमय ज्ञान अनधिकारी को नहीं देना चाहिए। योगियों के लिए तो यह ज्ञान एक खजाने जैसा ही है। यह ज्ञान हंस की (आत्मा की) आकृति (स्वरूप) का विस्तार (वर्णन) करने वाला है, तथा भोग और मोक्षरूपी फल देनेवाला है।

अथ हंसपरमहंसनिर्णयं व्याख्यास्यामः।
ब्रह्मचारिणे शान्ताय दान्ताय गुरुभक्ताय। हंसहंसेति सदा ध्यायन् ॥4॥

जो गुरुभक्त है और सदैव जो हंस (सोऽहम् सोऽहम्) का जाप करनेवाला है, जो ब्रह्मचारी जितेन्द्रिय तथा शान्त मन:स्थिति वाला है, उसी के समक्ष हंसपरमहंस का रहस्य प्रकट करना चाहिए। (ऐसा मनुष्य ही ज्ञान का अधिकारी है, दूसरा नहीं)।

सर्वेषु देहेषु व्याप्तो वर्तते। यथा ह्यग्निः काष्ठेषु तिलेषु तैलमिव। तं विदित्वा मृत्युमत्येति ॥5॥

जैसे तिल में तेल और लकड़ी में अग्नि व्याप्त होकर रहते हैं, उसी प्रकार यह जीव—हंस भी समस्त शरीर को व्याप्त होकर रहता है। उस हंस को (सदा हंस हंस का जाप करने वाले जीव को) जानकर मनुष्य मृत्यु को पार कर जाता है।

गुदमवष्टभ्याधाराद्वायुमुत्थाप्य स्वाधिष्ठानं त्रिः प्रदक्षिणीकृत्य मणिपूरकं गत्वा अनाहतमतिक्रम्य विशुद्धौ प्राणान्निरुध्याज्ञामनुध्यायन् ब्रह्मरन्ध्रं ध्यायन् त्रिमात्रोऽहमित्येवं सर्वदा पश्यत्यनाकारश्च भवति ॥6॥

इस हंस ज्ञान की साधना सर्वप्रथम गुदा को खींचकर, आधारचक्र से वायु को ऊपर उठाकर स्वाधिष्ठान चक्र की तीन प्रदक्षिणाएँ करनी चाहिए। इसके बाद, मणिपूरचक्र में प्रवेश करके, अनाहत चक्र को लाँघकर बाद में विशुद्धचक्र में प्राणों को निरुद्ध करके आज्ञाचक्र का ध्यान करना चाहिए। और उसके बाद फिर ब्रह्मरन्ध्र का ध्यान करना चाहिए। 'मैं त्रिमात्र ब्रह्म हूँ'—ऐसा ध्यान करते हुए योगी हमेशा निराकार ब्रह्म को देखता हुआ स्वयं अनाकार जैसा हो जाता है। अर्थात् तुरीयावस्था को प्राप्त करता है।

एषोऽसौ परमहंसो भानुकोटिप्रतीकाशो येनेदं व्याप्तम् ॥7॥

ऐसा यह परमहंस करोड़ों सूर्यों के समान प्रकाशमान होता है और उससे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त (घिरा हुआ) है।

तस्याष्टधा वृत्तिर्भवति। पूर्वदले पुण्ये मतिः। आग्नेये निद्रालस्यादयो भवन्ति। याम्ये क्रौर्ये मतिः। नैर्ऋते पापे मनीषा। वारुण्यां क्रीडा। वायव्यां गमनादौ बुद्धिः। सौम्ये रतिप्रीतिः। ईशान्ये द्रव्यदानम्। मध्ये वैराग्यम्। केसरे जाग्रदवस्था। कर्णिकायां स्वप्नम्। लिङ्गे सुषुप्तिः। पद्मत्यागे तुरीयम्। यदा हंसे नादो विलीनो भवति तत्तुरीयातीतम् ॥8॥

जीव भाव को प्राप्त हुए उस हंस की आठ प्रकार की वृत्तियाँ होती हैं। हृदयस्थ अष्टदल कमल की विविध दिशाओं में विविध प्रकार की वृत्तियाँ होती हैं, जैसे पूर्वदल में पुण्यमति, आग्नेय दल में निद्रा-आलस्यादि, दक्षिण दल में क्रूरमति, नैर्ऋत्य दल में पापबुद्धि, पश्चिम दल में क्रीडावृत्ति, वायव्यदल में गमन करने आदि की मति, उत्तर दल में स्नेह-प्रीति (रमणप्रीति), ईशान दल में द्रव्यदान

की वृत्ति, मध्यदल में वैराग्यवृत्ति होती है उस अष्टदल कमल के केसरतन्तु में जाग्रदवस्था, कर्णिका में स्वप्नावस्था तथा लिंग में सुषप्तावस्था होती है। जब यह हंस (जीव) उस पद्म को छोड़ देता है, तब वह तुरीय अवस्था को प्राप्त करता है। जब नाद उस हंस में विलीन हो जाता है, तब तुरीयातीत स्थिति से सम्पन्न हो जाता है।

अथो नाद आधाराद् ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं शुद्धस्फटिकसंकाशः। स वै ब्रह्म परमात्मेत्युच्यते ॥9॥

जो नाद इस प्रकार मूलाधारचक्र से लेकर ब्रह्मरन्ध्र तक विद्यमान रहता है, वह विशुद्ध स्फटिकमणि जैसा ब्रह्म है। उसी को परमात्मा कहा जाता है।

अथ हंस ऋषिः। अव्यक्तगायत्री छन्दः। परमहंसो देवता। हमिति बीजम्। स इति शक्तिः। सोऽहमिति कीलकम् ॥10॥

इस तरह इस अजपामन्त्र का ऋषि हंस (प्रत्यगात्मा) है, अव्यक्तगायत्री इसका छन्द है, और देवता परमहंस (परमात्मा) है। 'हं' जीव और 'स' शक्ति है। 'सोऽहम्' यह कीलक है।

षट्संख्यया अहोरात्रयोरेकविंशतिसहस्त्राणि षट्शतान्यधिकानि भवन्ति। सूर्याय सोमाय निरञ्जनाय निराभासायातनुसूक्ष्म प्रचोदयादिति ॥11॥

इस प्रकार इन छः संख्यकों द्वारा एक अहोरात्र (24 घण्टों) में इक्कीस हजार छः सौ श्वास लिए जाते हैं। अथवा गणेश आदि छः देवताओं द्वारा दिन-रात्रि में इक्कीस हजार छः सौ बार 'सोऽहं' मंत्र का जाप किया जाता है। यथा—'......सूर्याय सोमाय निरंजनाय निराभासायातनुसूक्ष्मप्रचोदयात्'।

अग्निषोमाभ्यां वौषट् हृदयाद्यङ्गन्यासकरन्यासौ भवतः ॥12॥

मंत्र के साथ 'अग्निषोमाभ्यां वौषट्'—यह जोड़कर पूरे मंत्र का जाप करते हुए हृदय आदि अङ्गन्यास और करन्यास करना चाहिए।

एवं कृत्वा हृदयेऽष्टदले हंसमात्मानं ध्यायेत् ॥13॥

ऐसा करके हृदय में स्थित अष्टदल कमल में हंस का (परमात्मा का) ध्यान करना चाहिए।

अग्निषोमौ पक्षावोंकारः शिर उकारो बिन्दुस्त्रिणेत्रं मुखं रुद्रो रुद्राणी चरणौ द्विविधं कण्ठतः कुर्यादित्युन्मना अजपोपसंहार इत्यभिधीयते ॥14॥

अग्नि और सोम इस हंस के दो पंख हैं, ओंकार इसका सिर है, बिन्दुसहित 'उ'कार हंस का तीसरा नेत्र है, रुद्र उसका मुख है, रुद्राणी उसके चरण हैं। अपने कण्ठ से दो प्रकार का नाद (सगुण-निर्गुण प्रकार के) करते हुए ऐसे हंसरूप परमात्मा का ध्यान करना चाहिए। इस तरह नाद द्वारा ध्यान करने पर साधक की उन्मनी अवस्था हो जाती है। इस स्थिति को 'अजपोपसंहार' कहा जाता है।

एवं हंसवशात् तस्मान्मनो विचार्यते ॥15॥

सभी भाव हंस के वश में आ जाते हैं, इसलिए साधक अपने मन में अवस्थित उस हंस के विषय में चिन्तन करता है।

अस्यैव जपकोट्या नादमनुभवति। स च दशविधो जायते। चिणीति प्रथमः। चिञ्चिणीति द्वितीयः। घण्टानादस्तृतीयः। शङ्खनादश्चतुर्थः। पञ्चमस्तन्त्रीनादः। षष्ठस्तालनादः। सप्तमो वेणुनादः। अष्टमो मृदङ्ग-नादः। नवमो भेरीनादः। दशमो मेघनादः ॥16॥

इस 'सोऽहम्' मन्त्र के दस कोटि जाप कर लेने पर साधक नाद का अनुभव करता है। वह नाद दस प्रकार का उत्पन्न होता है—पहला चिणी, दूसरा चिञ्चिणी, तीसरा घण्टानाद, चौथा शंखनाद, पाँचवाँ वीणानाद, छठा तालनाद, सातवाँ वेणुनाद, आठवाँ मृदंगनाद, नवाँ भेरीनाद और दसवाँ मेघनाद।

नवमं परित्यज्य दशममेवाभ्यसेत् ॥17॥

उनमें से नवम को छोड़कर दशम का ही अभ्यास करना चाहिए।

प्रथमे चिञ्चिणीगात्रं द्वितीये गात्रभञ्जनम्।
तृतीये भेदनं याति चतुर्थे कम्पते शिरः ॥18॥

इन नादों के प्रभाव से शरीर में तरह-तरह की अनुभूतियाँ होने लगती हैं। प्रथम नाद से शरीर में चिन्-चिन् अर्थात् शरीर में चिनचिनाहट पैदा हो जाती है। दूसरे नाद के प्रभाव से गात्रभंजन होता है अर्थात् शरीर टूटने लगता है और अवयवों में अकड़न पैदा हो जाती है। तीसरे नाद के प्रभाव से हृदयपद्म विकास को प्राप्त होता है (कहीं 'स्वेदनं याति' या 'खेदनं याति'—ऐसे भी पाठान्तर मिलते हैं; तदनुसार तीसरे नाद से 'पसीना आ जाता है'—ऐसा अर्थ होता है) और चौथे प्रकार के नाद के प्रभाव से सिर काँपने लग जाता है।

पञ्चमे स्रवते(ति) तालु षष्ठेऽमृतनिषेवणम्।
सप्तमे गूढविज्ञानं परावाचा(चां) तथाष्टमे ॥19॥

पाँचवें नाद से तालु में स्राव उत्पन्न होता है, छठे नाद से अमृत की वर्षा होने लगती है। सातवें नाद से निगूढ विज्ञान की प्राप्ति होती है और आठवें नाद में परावाणी प्राप्त होती है।

अदृश्यं नवमे देहं दिव्यं चक्षुस्तथामलम्।
दशमं च परं ब्रह्म भवेद् ब्रह्मात्मसन्निधौ ॥20॥

नवें नाद से शरीर को अन्तर्धान करने की (शरीर को अदृश्य करने की) तथा निर्मल (विशुद्ध) दृष्टि की विद्या प्राप्त होती है। और दसवें नाद से परब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है (ब्रह्म उसकी सन्निधि में आ जाता है)।

तस्मिन्मनो विलीयते मनसि संकल्पविकल्पे दग्धे पुण्यपापे सदाशिवः (सदाशिवेशः) शक्त्यात्मा सर्वत्रावस्थितः स्वयंज्योतिः शुद्धो बुद्धो नित्यो निरञ्जनः शान्तः प्रकाशत इति वेदानुवचनं भवतीत्युप-निषत् ॥21॥

इति हंसोपनिषत् समाप्ता।

जब मन उस हंसरूप परमात्मा में विलीन हो जाता है, तब सभी संकल्प-विकल्प मन में ही विलीन हो चुके होते हैं। तब सभी पाप और पुण्य जल जाते हैं। तब वह हंस सदाशिवस्वरूप, शक्त्यात्मा (चैतन्यस्वरूप), सर्वत्र व्यापक, स्वयंप्रकाश, निर्मल, ज्ञानस्वरूप, नित्य, निष्पाप और शान्त होकर प्रकाशित होता है—ऐसा वेद कहते हैं। यहाँ उपनिषत् पूर्ण होती है।

यहाँ हंसोपनिषत् पूरी हुई।

शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं। ······पूर्णमेवावशिष्यते। (पूर्ववत्)

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

❋

(16) आरुण्युपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

यह उपनिषद् सामवेद से सम्बद्ध मानी जाती है। कुछ लोग इसे 'आरुणिकोपनिषत्' भी कहते हैं। नौ कण्डिकाओं वाली इस उपनिषत् में संन्यासदीक्षा के सूत्र समझाए गए हैं। ब्रह्माजी ने आरुणि को यह उपदेश दिया है। संन्यासप्रवेश के लिए पहले के तीनों आश्रमवाले अधिकारी माने गए हैं। यज्ञ-यज्ञोपवीतादि कर्मकांडप्रतीकों को छोड़ने का अच्छा अर्थ यहाँ समझाया गया है। संन्यासी यज्ञत्यागी नहीं, यज्ञस्वरूप होता है। इसमें अनेक मार्मिक सूत्र ध्यानार्ह हैं। इन सूत्रों को आन्तरिक जीवन में उतारने से संन्यास का सम्यक् धारण होता है। संन्यासधारण करने की विधि भी इसमें निर्दिष्ट है।

शान्तिपाठः

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मोपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोद-निराकरणं मेऽस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

हे परब्रह्म परमात्मा ! हमारे सभी अंग—वाणी, प्राण, चक्षु, श्रोत्र और सभी इन्द्रियाँ तथा बल परिपुष्ट हों। यह जो सर्वरूप उपनिषत्प्रतिपादित ब्रह्म है, उस ब्रह्म की अवगणना (तिरस्कार) हम न करें और ब्रह्म (भी) हमारा परित्याग न करें। उस (ब्रह्म) के साथ हमारा अटूट सम्बन्ध हो। उपनिषदों में प्रतिपादित जो धर्म हैं, वे सब परमात्मा में रत हममें प्रविष्ट हों, वे सभी धर्म हमारे में हों।

हे परमात्मा ! (हमारे) त्रिविध तापों की शान्ति हो।

ॐ आरुणिः प्रजापतेर्लोकं जगाम। तं गत्वोवाच। केन भगवन् कर्माण्यशेषतो विसृजानीति। तं होवाच प्रजापतिः। तव पुत्रान् भ्रातॄन् बन्ध्वादीञ्छिखां यज्ञोपवीतं यागं सूत्रं स्वाध्यायं च भूर्लोकभुवर्लोक-स्वर्लोकमहर्लोकजनोलोकतपोलोकसत्यलोकं च अतलतलातलवितल-सुतलरसातलमहातलपातालं ब्रह्माण्डं च विसृजेत्। दण्डमाच्छादनं चैव कौपीनं च परिग्रहेत्। शेषं विसृजेदिति ॥1॥

एक बार आरुणि प्रजापति के लोक में गए। वहाँ जाकर उनसे पूछा—"हे भगवन् ! किस तरह से मैं सभी कर्मों का त्याग कर सकता हूँ ?" तब उनसे प्रजापति ने कहा—"हे ऋषि ! तुम्हें अपने पुत्रों, भाइयों, बान्धवों को तथा शिखा, यज्ञोपवीत, यज्ञ, सूत्र और स्वाध्याय को एवं भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपोलोक तथा सत्यलोक को और भी अतल-तलातल-वितल-सुतल-

रसातल-महातल-पाताल को और ब्रह्मांड को छोड़ देना चाहिए, और दण्ड, शरीर ढँकने का वस्त्र और कौपीन को धारण करना चाहिए बाकी सब कुछ छोड़ ही देना चाहिए।

गृहस्थो ब्रह्मचारी वा वानप्रस्थो वा उपवीतं भूमावप्सु वा विसृजेत्। अलौकिकाग्नीनुदराग्नौ समारोपयेत्। गायत्रीं च स्ववाच्यग्नौ समारोपयेत्। कुटिचरो ब्रह्मचारी कुटुम्बं विसृजेत्। पात्रं विसृजेत्। पवित्रं विसृजेत्। दण्डाल्लोकाग्नीन् विसृजेत् इति होवाच। अत ऊर्ध्वममन्त्रवदाचरेत्। ऊर्ध्वगमनं विसृजेत्। औषधवदशनमाचरेत्। त्रिसन्ध्यादौ स्नानमाचरेत्। सन्धिं समाधावात्मन्याचरेत्। सर्वेषु वेदेष्वारण्यकमावर्तयेदुपनिषदमावर्तयेदिति ॥2॥

गृहस्थ, वानप्रस्थ अथवा ब्रह्मचारी सभी को संन्यास लेने के लिए अपने उपवीत (जनेऊ) को धरती पर या पानी में छोड़ देना चाहिए। और स्व-स्वाश्रमोचित अलौकिक अग्नियों को अपने उदराग्नि में आरोपित कर देना चाहिए। गायत्री को अपनी वाणीरूपी अग्नि में समारोपित कर देना चाहिए। कुटीर में बसनेवाले ब्रह्मचारी को अपना परिवार छोड़ देना चाहिए। पात्र को छोड़ देना चाहिए। पवित्रा (कुशा) को भी छोड़ देना चाहिए। दण्ड और लौकिक अग्नि को भी उसे छोड़ना चाहिए—ऐसा ब्रह्माजी ने आरुणि से कहा। उन्होंने आगे भी कहा—उसे मंत्रहीन की तरह आचरण करना चाहिए। स्वर्गादि ऊर्ध्वलोकों में जाने की उसे इच्छा नहीं करनी चाहिए। औषधि की भाँति अन्न ग्रहण करना चाहिए। उसे त्रिकाल स्नानसन्ध्या करनी चाहिए। सन्ध्याकाल में समाधिस्थ होकर परब्रह्म का अनुसन्धान करना चाहिए। उसे सभी वेदों में आरण्यक की आवृत्ति करनी चाहिए अर्थात् अधीत का चिन्तन-मनन करना चाहिए तथा उपनिषदों का बार-बार अध्ययन करना चाहिए।

खल्वहं ब्रह्मसूत्रं, सूचनात् सूत्रं, ब्रह्मसूत्रमहमेव विद्वांस्त्रिवृत्सूत्रं त्यजेद् विद्वान् य एवं वेद संन्यस्तं मया संन्यस्तं मया संन्यस्तं मयेति त्रिरुक्त्वाऽभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः सर्वं प्रवर्तते। सखा मा गोपायोजः सखायोऽसीन्द्रस्य वज्रोऽसि वार्त्रघ्नः शर्म मे भव यत्पापं तन्निवारयेति। अनेन मन्त्रेण कृतं वैष्णवं दण्डं कौपीनं परिग्रहेत्। औषधवदशनं प्राश्नीयाद्यथालाभमश्नीयात्। ब्रह्मचर्यमहिंसां चापरिग्रहं च सत्यं च यत्नेन हे रक्षतो हे रक्षतो हे रक्षत इति ॥3॥

'अवश्य ही ब्रह्मतत्त्वबोधक ब्रह्मसूत्र मैं ही हूँ'—ऐसा जानकर त्रिवृत्सूत्र का भी त्याग कर देना चाहिए। ऐसा जाननेवाला विद्वान् 'मया संन्यस्तम्'—मैंने छोड़ा है, मैंने छोड़ा है, मैंने छोड़ा है—ऐसा तीन बार कहे तथा उसके बाद—'अभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः सर्वं प्रवर्तते' अर्थात् 'मुझसे सभी प्राणियों के लिए अभय ही है।'—इत्यादि मंत्र को पढ़कर, बाद में—'सखायो मा गोपायो०' अर्थात् "हे दण्ड! तुम मेरे मित्र हो, मेरे तेज की रक्षा करो। तुम मेरे मित्र और तुम्हीं वृत्रासुर का विनाश करने वाले देवराज इन्द्र के वज्र हो। हे वज्र! तुम हमें सुख प्राप्त कराओ तथा हमें संन्यास धर्म से पथभ्रष्ट कराने वाला जो कोई भी पाप हो, उसका निवारण करो।"—ऐसा कहते हुए अभिमंत्रित बाँस का दण्ड तथा कौपीन धारण करना चाहिए। औषधि की तरह ही भोजन ग्रहण करे। जो कुछ भी यदृच्छया मिल जाए, उसे अल्पमात्रा में औषधि समझकर ही खाना चाहिए। हे आरुणि! संन्यास धर्म को ग्रहण करने के उपरान्त ब्रह्मचर्य, अहिंसा, अपरिग्रह, सत्य आदि का भी उसे निष्ठापूर्वक पालन करना चाहिए। हे वत्स! संन्यास के उन सभी अनुष्ठानों की प्रयत्नपूर्वक रक्षा करो, रक्षा करो, रक्षा करो।

अथातः परमहंसपरिव्राजकानामासनशयनादिकं भूमौ ब्रह्मचारिणां मृत्पात्रं वा अलाबुपात्रं दारुपात्रं वा। कामक्रोधहर्षलोभमोहदम्भदर्पेच्छासूयाममत्वाहङ्कारादीनपि परित्यजेत्। वर्षासु ध्रुवशीलोऽष्टौ मासानेकाकी यतिश्चरेद्, द्वावेवाचरेत् द्वावेवाचरेत् इति ॥4॥

अब उन परमहंस परिव्राजकों के आसन-शयन के बारे में ब्रह्माजी ने फिर से कहा—'इन ब्रह्मभाव को प्राप्त परमहंस परिव्राजकों के लिए पृथ्वी पर ही आसन तथा शयन करने का नियम है। मिट्टी के पात्र को या फिर तुम्बी या लकड़ी के कमण्डलु को वह अपने पास रखे। संन्यासियों को काम, क्रोध, हर्ष, शोक, रोष, लोभ, मोह, दम्भ, दर्प, इच्छा, असूया, ममत्व, अहंकार आदि को भी छोड़ देना चाहिए। वर्षा ऋतु में चार महीनों तक एक ही स्थान पर रहना चाहिए और बाकी के आठ महीनों में उसे अकेला ही यति होकर विचरण करना चाहिए। अथवा कम-से-कम दो मास तक एक स्थान पर अकेला रहना चाहिए।

स खलु एवं यो विद्वान् सोपनयनादूर्ध्वमेतानि प्राग्वा त्यजेत्। पितरं पुत्रमग्निमुपवीतं कर्मकाण्डं चान्यदपीह ॥5॥

संन्यास के सभी नियमों की संपूर्ण जानकारी रखनेवाले विद्वान् को संन्यासवांछु होने पर यज्ञोपवीत धारण करने के बाद या पहले भी ये सब छोड़ देने चाहिए। पिता, पुत्र, अग्नि, यज्ञोपवीत आदि कर्मकाण्ड या अन्य भी जो कुछ सत्सम्बद्ध हो, उसे छोड़ देना चाहिए।

यतयो भिक्षार्थं ग्रामं प्रविशन्ति पाणिपात्रम्, उदरपात्रं वा ॥6॥

संन्यासधर्म ग्रहण करनेवाले को अपने हाथों को ही या अपने पेट को ही पात्र के रूप में उपयोग करके भिक्षा के लिए गाँव में प्रवेश करना चाहिए।

ओं हि ओं हि ओं हीत्येतदुपनिषदं विन्यसेत्। विद्वान् य एवं वेद ॥7॥

पहले 'ओम् हि'—इस उपनिषद् मंत्र का तीन बार उच्चारण करके उसको गाँव में प्रवेश करना चाहिए।

पलाशं बैल्वमौदुम्बरं वा दण्डं मौञ्जीं मेखलां यज्ञोपवीतं च त्यक्त्वा शूरो य एवं वेद ॥8॥

पलाश, बेल, पीपल या गूलर में से किसी एक का दण्ड, मुंज और मेखला धारण करके और यज्ञोपवीत को छोड़कर जो इस उपनिषद् को भलीभाँति जान लेता है, वही शूरवीर है।

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुरायतम् ॥9॥

जो परमात्मा आकाश में प्रकाशमान सूर्यमण्डल की तरह परम व्योम में चिन्मय तेज से सर्वव्याप्त है, उस विष्णु के परमपद को विद्वान् लोग सर्वदा देखा ही करते हैं।

तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते। विष्णोर्यत् परमं पदमिति। एवं निर्वाणानुशासनं वेदानुशासनम्। इत्युपनिषत् ॥10॥

इति आरुण्युपनिषत्समाप्ता।

ऐसे भगवान् विष्णु के उस परमधाम का विद्वान् उपासक, जो साधना में लगे रहनेवाले हैं, वे निष्काम ब्राह्मण वहाँ पहुँचकर उस परमधाम को प्रदीप्त करते रहते हैं। वह विष्णु का परमधाम है। ऐसे यह निर्वाण का अनुशासन है। वेद का अनुशासन है। उपनिषदत् पूर्ण हुई।

यहाँ आरुण्युपनिषत् पूरी हुई।

शान्तिपाठः

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि........ते मयि सन्तु। (पूर्ववत्)

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

❋

(17) गर्भोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

इस कृष्णयजुर्वेदीय उपनिषद् में शरीर की पांचभौतिकता आदि का वर्णन किया गया है। और साथ ही साथ पूर्व कर्मों के अनुसार माता के गर्भ में आए हुए जीवात्मा की दशा का वर्णन बड़े मार्मिक ढंग से किया गया है। गर्भ में जीव भयंकर दुःख से पीड़ित होकर जो प्रार्थना करता है, वह प्रार्थना बड़ी संवेदनात्मक है। प्रवर्तमान काल की महिलाएँ यदि भ्रूणहत्या करवाते समय भ्रूण की पीड़ा का इलेक्ट्रोनिक फिल्म से वह दृश्य देखें तो अवश्य ही वे थर्रा उठेंगी। इसका प्रमाण है कि बहुत-सी विदेशी महिलाएँ ऐसी फिल्में देखकर बेहोश-सी हो गयी थीं।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ.........मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्ति शान्तिः॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (ब्रह्मोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

पञ्चात्मकं पञ्चसु वर्तमानं षडाश्रयं षड्गुणयोगयुक्तम्।
तं सप्तधातुं (द्वि)त्रिमलं त्रियोनिं चतुर्विधाहारमयं शरीरम्॥1॥

यह शरीर पंचभूतात्मक है, पाँच इन्द्रियों में रहा करता है, छः रसों का आश्रय है, और छः गुणों के योग से युक्त है। वह सात धातुवाला है, (दो) तीन प्रकार के मलोंवाला, तीन प्रकार की योनिवाला और चार प्रकार के आहार से युक्त है।

पञ्चात्मकमिति कस्मात्? पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशमिति। अस्मिन् पञ्चात्मके शरीरे का पृथिवी का आपः किं तेजः को वायुः किमाकाशमिति। अस्मिन् पञ्चात्मके शरीरे यत्कठिनं सा पृथिवी, यद् द्रवं तदापः, यदुष्णं तत्तेजः, यत् सञ्चरति स वायुः, यत् सुषिरं तदाकाशमित्युच्यते॥2॥

इसे पञ्चात्मक क्यों कहा गया है? क्योंकि पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—ये पाँच तत्त्व हैं। तो इस पञ्चात्मक शरीर में पृथ्वी कौन सी है? जल कौन सा है? तेज कौन सा है? वायु कौन सा है? और आकाश कौन सा है? तो इस पञ्चात्मक शरीर में जो कठिन भाग है वह पृथ्वी है, जो द्रव (प्रवाही) है वह जल है, जो उष्ण (गरम) है वह तेज है, जो परिभ्रमण करता है वह वायु है और जो शून्य (खाली) है वह आकाश है—ऐसा कहा जाता है।

तत्र पृथिवी धारणे आपः पिण्डीकरणे तेजो रूपदर्शने वायुर्गमने आकाशमवकाशप्रदाने॥3॥

इसमें से पृथ्वी का कार्य शरीर को धारण करना है, जल का कार्य उसे संयुक्त रखने का है, तेज का कार्य उसे प्रकाश देना है, वायु का कार्य उसमें गति प्रदान करना है और आकाश का कार्य उसे अवकाश देने का है। ('तेजोरूप दर्शने' के बदले कहीं-कहीं 'तेजः प्रकाशने' ऐसा पाठ भी मिलता है, पर दोनों के अर्थ में कुछ खास अन्तर नहीं है)।

पृथक् चक्षुःश्रोत्रे चक्षुषी रूपे जिह्वोपस्थश्चानन्दोऽपाने चोत्सर्गो बुद्ध्या बुध्यति मनसा सङ्कल्पयति वाचा वदति ॥4॥

पञ्चात्मक शरीर के चक्षु आदि अवयव भी रूप आदि कर्म में पृथक् (अलग) निर्दिष्ट किए जाते हैं। श्रोत्र शब्द में और चक्षु रूप में विनियुक्त है। इसी प्रकार जिह्वा रसास्वाद में नियोजित है। (यहाँ कहा गया केवल श्रोत्र, चक्षु और जिह्वा का ग्रहण त्वक् और घ्राणेन्द्रिय को भी उपलक्षित कर देता है, ऐसा समझना चाहिए)। उपस्थ आनन्द है और अपान में उत्सर्ग कर्म होता है। मनुष्य बुद्धि से जानता है, मन से संकल्प करता है और वाणी से बोलता है।

षडाश्रयमिति कस्मात्? मधुराम्ललवणतिक्तकटुकषायरसान् विन्दत इति ॥5॥

यह शरीर 'षडाश्रय' है, ऐसा क्यों कहा गया है? (उत्तर यह है कि) यह शरीर मीठा, खारा, खट्टा, तीखा, कडुआ और कसेला—ऐसे छः रसों पर आधारित है।

षड्जर्षभगान्धारमध्यमपञ्चमधैवतनिषादाश्चेतीष्टानिष्टशब्दसंज्ञाः प्रतिविधाः भवन्ति ॥6॥

षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद एवं इष्ट और अनिष्ट ऐसे बहुत प्रकार के शब्द होते हैं, शब्द के गुण हैं। (कहीं-कहीं 'प्रतिविधाः' के बदले 'प्रणिधानाद्दशविधाः'—ऐसा पाठ भी है जिसके अनुसार अर्थ होगा—सात स्वर+दो इष्ट-अनिष्ट+प्रणिधान=इस प्रकार कुल मिलाकर दस प्रकार के स्वरगुण होते हैं)।

शुक्लो रक्तः कृष्णो धूम्रः पीतः कपिलः पाण्डरः सप्त धातव इति कस्मात्? यदा देवदत्तस्य द्रव्यविषया जायन्ते परस्पररसोगुणत्वात्। षड्विधो रसः। रसाच्छोणितं शोणितान्मांसं मांसान्मेदो मेदसोऽस्थीनि अस्थिभ्यो मज्जा मज्जायाः शुक्लं शुक्लशोणितसंयोगादावर्तते गर्भो हृदि व्यवस्थां नयति हृदयेऽभ्यन्तराऽग्निः अग्निस्थाने पित्तं पित्तस्थाने वायुः वायुस्थाने हृदयं प्राजापत्य ऋतुकाले सम्प्रयोगतः ॥7॥

सफेद, लाल, काला, भूरा, पीला, कपिल और पाण्डर—ये सात धातु के गुण हैं। परन्तु सात धातुएँ कही हैं वह कैसे? (सुनो। किसी) देवदत्त को भोग भोगने की अन्यान्य रसादि के गुणों से (आकर्षित होकर) इच्छाएँ होती हैं, तब वह जो छः प्रकार का रस है, उस रस से शोणित बनता है उस शोणित (रक्त) से मांस बनता है, मांस से चर्बी उत्पन्न होती है, चरबी से हड्डियाँ पैदा होती हैं, हड्डियों से मज्जा पैदा होती है औरं मज्जा में से वीर्य पैदा होता है। (कहीं-कहीं 'मेदसः स्नायवः स्नायुभ्योऽस्थीनि'—ऐसा भी पाठ है, तदनुसार 'चरबी से स्नायु और स्नायु से हड्डियाँ बनती हैं'—ऐसा अर्थ करना चाहिए)। उस वीर्य का जब स्त्री के रज़ के साथ संयोग होता है, तब गर्भ उत्पन्न होता है। वह गर्भ जठर में रहता है ऐसी व्यवस्था है। वहाँ जठर के भीतर अग्नि (उष्णता) भी है, और

मूलाधार में पित्त का जल – प्रवाही – भी है तथा स्वाधिष्ठान प्रदेश में प्राणवायु भी है। अतः उष्णता, जल और वायु से जठराग्निस्थित गर्भ सुरक्षित रहता है। प्रजापति द्वारा व्यवस्थापित ऋतुकाल में ही स्त्री-पुरुष संयोग से गर्भ उत्पन्न होता है।

एकरात्रोषितं कलिलं भवति। सप्तरात्रोषितं बुद्बुदं भवति। अर्धमासा-भ्यन्तरेण कठिनो भवति। मासद्वयेन शिरः कुरुते (सम्पद्यते)। मास-त्रयेण पादप्रदेशो भवति। अथ चतुर्थे मासे जठरकटिप्रदेशो भवति। पञ्चमे मासे पृष्ठवंशो भवति। षष्ठे मासे नासाक्षिश्रोत्राणि भवन्ति। सप्तमे मासे जीवसंयुक्तो भवति। अष्टमे मासे सर्वसम्पूर्णो भवति ॥8॥

ऋतुकाल में स्त्रीसंभोग से उत्पन्न वह गर्भ एक रात्रि में छोटी बूँद जैसा होता है, सात रात्रि में वह बड़े बुद्बुदे-सा हो जाता है, पंद्रह दिनों में वह पिण्डाकार (कठिन) हो जाता है, दो महीनों में उसका सिर उत्पन्न होता है, तीन महीनों में पैर आदि विभाग उत्पन्न होता है और चार मास होते-होते उसके जठर और कमर का भाग उत्पन्न होता है। पाँचवें महीने में उसकी पीठ का भाग बनता है, छठे महीने में मुख, नासिका, आँख, कान आदि अवयव फूट निकलते हैं। सातवें महीने में उसमें जीव संचरित होता है और आठवें महीने में वह सर्वांग (सम्पूर्ण) बन जाता है।

पितृरेतोऽतिरिक्तात् पुरुषो भवति। मातुः रेतोऽतिरिक्तात् स्त्रियो भवन्ति। उभयोः बीजतुल्यत्वान्नपुंसको भवति। व्याकुलितमन-सोऽन्धाः खञ्जाः कुब्जा वामना भवन्ति। अन्योन्यवायुपरिपीडितानां शुक्लद्वैधे स्त्रियो योन्यां (योन्या) युग्माः प्रजायन्ते ॥9॥

यदि पिता का वीर्य प्रमाण में ज्यादा हो, तो पुरुष उत्पन्न होता है, और यदि स्त्री का वीर्य प्रमाण में ज्यादा हो, तो स्त्री उत्पन्न होती है। परन्तु दोनों का बीज अगर समान प्रमाण में हो, तो नपुंसक उत्पन्न होता है। अगर गर्भाधान-काल में माता का मन व्याकुल हो तो अन्धी, लँगड़ी, कुरूप या ठिगनी सन्तानें उत्पन्न होती हैं। और यदि वायु के आघात से माता-पिता के गर्भ के दो भाग हो गए हों तो जुडवाँ सन्तान उत्पन्न होती हैं।

पञ्चात्मकसमर्थः पञ्चात्मकतेजसेद्धरसश्च सम्यग्ज्ञानात् ध्यानादक्षर-मोङ्कारं चिन्तयति। तदेतदेकाक्षरं ज्ञात्वा अष्टौ प्रकृतयः षोडश विकाराः शरीरे ॥10॥

आठ महीने बीतने पर वह पाँच इन्द्रियों और मन-बुद्धि आदि के तेज से प्रकाशित और समर्थ होकर ओंकार का चिन्तन करने लगता है। इस प्रकार वह उस एकाक्षर ब्रह्म को जानता है। और बाद में उसके शरीर में आठ प्रकृतियाँ और सोलह विकार उत्पन्न हो जाते हैं।

तस्यैव देहिनोऽथ (देहिनामथ) नवमे मासे सर्वलक्षणसम्पूर्णो भवति। पूर्वजातिं स्मरति। कृताकृतं कर्म विभाति। शुभाशुभं कर्म विन्दति (विभाति) ॥11॥

वह देहधारी आत्मा नवम मास में सभी लक्षणों से संपूर्ण हो जाता है। और तब वह अपने पूर्वजन्म का स्मरण करता है। उसके पहले किए हुए शुभ और अशुभ कर्म उससे आ मिलते हैं और वह अपने किए गए कर्मों को याद करता है (कि—)

नानायोनिसहस्राणि दृष्ट्वा चैव ततो मया।
आहारा विविधा भुक्ताः पीताश्च विविधाः स्तनाः ॥12॥

मैंने हजारों योनियाँ देखकर तरह-तरह के आहार खाए हैं और अनेक माताओं के स्तनों का पान पूर्व में किया है।

जातस्यैव मृतस्यैव जन्म चैव पुनः पुनः।
अहो दुःखोदधिमग्नो न पश्यामि प्रतिक्रियाम् ॥13॥

जन्मे हुए व्यक्ति की मृत्यु और मरे हुए व्यक्ति का जन्म तो बार-बार होता ही रहता है। अरे, इस संसाररूप दुःख के सागर में डूबा हुआ मैं इसे पार करने का कोई उपाय नहीं जानता।

यदि योन्यां प्रमुञ्चामि साङ्ख्यं योगं समाश्रये।
अशुभक्षयकर्तारं फलमुक्तिप्रदायिनम् ॥14॥

और कदाचित् यदि मैं योनि से (जन्ममरण से) छुटकारा पा जाऊँगा तो मैं सांख्य और योग का आश्रय लूँगा, जो कि अशुभ कर्मों का क्षय करनेवाला है, तथा मुक्तिरूपी फल को देनेवाला है।

यदि योन्यां प्रमुञ्चामि तं प्रपद्ये महेश्वरम्।
अशुभक्षयकर्तारं फलमुक्तिप्रदायिनम् ॥15॥

और यदि कदाचित् मैं इस जन्ममरणरूप दुःख से मुक्त हो जाऊँगा तो मैं महेश्वर की ही शरण में जाऊँगा, जो कि अशुभ कर्मों का क्षय करनेवाले हैं और मुक्तिरूपी फल को देनेवाले हैं।

यदि योन्यां प्रमुञ्चामि तं प्रपद्ये भगवन्तं नारायणं देवम्।
अशुभक्षयकर्तारं फलमुक्तिप्रदायिनम् ॥16॥

और भी यदि कदाचित् मैं इस जन्मादि दुःखसागर से छुटकारा पाऊँ, तो मैं भगवान् नारायण देव की शरण में जाऊँगा, जो कि अशुभ का क्षय करनेवाले हैं, और मोक्षरूपी फल को देनेवाले हैं।

यन्मया परिजनस्यार्थे कृतं कर्म शुभाशुभम्।
एकाकी तेन दह्यामि गतास्ते फलभागिनः ॥17॥

मैंने जो कुछ भी अच्छा-बुरा काम अपने स्वजनों के लिए किया है, उन कर्मों के फलस्वरूप मैं अब अकेला (निःसहाय) होकर जलता रहता हूँ क्योंकि वे तो मेरे किए का फल भोगकर अब चले ही गए (मेरा साथी कोई न रहा)।

जन्तुः स्त्रीयोनिशतं योनिद्वारि सम्प्राप्तो यन्त्रेण परिपीड्यमानो महता दुःखेन जातमात्रस्तु वैष्णवेन वायुना संस्पृश्यते। तदा न स्मरति जन्ममरणादिकं शुभाशुभम् ॥18॥

प्राणी बाद में हजारों बार योनियों में भटकते हुए जब योनि के मुख में आता है, तब मानों किसी यन्त्र में पिसकर बड़े ही कष्ट से जैसे ही जन्म लेता है कि तुरन्त ही उसे वैष्णव वायु का स्पर्श होता है, और उससे उसके जन्म-मरण की पूर्व स्मृति चली जाती है। और साथ ही वह अपने पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मों को भूल जाता है।

शरीरमिति कस्मात्? ज्ञानाग्निः दर्शनाग्निः कोष्ठाग्निरिति। तत्र कोष्ठाग्निर्नामाशितपीतलेह्यचोष्यं पाचयति रूपादीनां दर्शनं करोति ॥19॥

इस देह को 'शरीर' क्यों कहा गया है ? क्योंकि इसमें ज्ञानाग्नि, दर्शनाग्नि और कोष्ठाग्नि—ये तीन अग्नियाँ आश्रित होती हैं। इनमें से कोष्ठाग्नि खाए गए, पीए गए, चाटे गए और चूसे गए अन्नादि का पाचन करता है। (दर्शनाग्नि) रूपों का दर्शन कराता है।

तत्र त्रीणि स्थानानि भवन्ति। हृदये दक्षिणाग्निः उदरे गार्हपत्यं मुखमाहवनीयम्। यजमानाय बुद्धिं पत्नीं निधाय दीक्षा सन्तोषं बुद्धीन्द्रियाणि यज्ञपात्राणि शिरः कपालं केशाः दर्भाः मुखमन्तर्वेदिः षोडश पार्श्वदन्तपटलान्यष्टोत्तरमर्मशतमशीतिसन्धिशतं नवस्नायुशतमष्टसहस्त्ररोमकोट्यः ॥20॥

शरीर में चल रहे यज्ञ की तीन अग्नियों में हृदय में दक्षिणाग्नि, उदर में गार्हपत्य तथा मुख में आहवनीय अग्नि है। इसमें आत्मा यजमान, बुद्धि यजमानपत्नी, संतोष दीक्षा, यज्ञपात्र बुद्धि और इन्द्रियाँ, कपाल मस्तक, केशरूप दर्भ, मुख अन्तर्वेदि है। इसमें सोलह दंष्ट्राएँ हैं, एक सौ आठ मर्म हैं, एक सौ अस्सी सन्धियाँ हैं, एक सौ नौ स्नायु हैं और आठ हजार करोड़ रोंगटे हैं।

हृदयपटलान्यष्टौ द्वादशपला जिह्वा पित्तं प्रस्थं कफस्याढकं शुक्लं कुडुपं मेदः प्रस्थौ। द्वावेव मूत्रपुरीषयोः अहरहः पानपरिमाणम् ॥21॥

आठ पल के भार वाला हृदय है, बारह पल परिमित जिह्वा है, एक प्रस्थ परिमित पित्त है, एक आढक कफ धातु है, एक कुडव वीर्य है, दो प्रस्थ मेद है। मलमूत्र का परिमाण खाए हुए अन्न पर आधारित है।

टिप्पणी—ये प्रस्थ, आढक, कुडुप (कुडव) आदि मान प्राचीन समय में वस्तुओं को नापने के साधन थे। लीलावती के गणित के आधार पर इसका अर्वाचीन रूप इस प्रकार है—पाँच गुञ्जा = 1 मासा, सोलह मासा = 1 कर्ष, पाँच कर्ष = 1 पल, पचास पल = 1 आढक, चार कुडव = 1 प्रस्थ, चार प्रस्थ = 1 आढक।

पैप्पलादं मोक्षशास्त्रं परिसमाप्तं पैप्पलादं मोक्षशास्त्रं परिसमाप्तमित्युपनिषत् ॥22॥

इति गर्भोपनिषत्समाप्ता।

इस प्रकार मुनि पिप्पलाद द्वारा कथित मोक्षशास्त्र यहाँ समाप्त हुआ—इसी वाक्य की पुनरुक्ति उपनिषत् की समाप्ति की सूचक है। इस तरह यह गर्भोपनिषत् यहाँ पर समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ.......मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(18) नारायणोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

यह छोटी-सी उपनिषद् कृष्णयजुर्वेद से सम्बन्ध रखती है। इसका दूसरा नाम 'नारायणाथर्वशिर उपनिषद्' भी है। चारों वेदों का सारतत्त्व इसमें मुख्य (मस्तक के) रूप में प्रतिपादित किया गया है। सबसे पहले 'नारायण' से ही इस समग्र जडचेतन जगत् का निर्माण बताया गया है। उसके बाद नारायण की ही सर्वात्मकस्वरूपता का प्रतिपादन किया गया है। 'ॐ नमो नारायणाय'—यह जो अष्टाक्षर मन्त्र है, इसकी चर्चा की गई है। इसके बाद नारायण और प्रणव की एकता बताई है। बाद में इस उपनिषद् का अध्ययन करने की फलश्रुति दर्शाई गई है। कहा गया है कि इस छोटी सी उपनिषद् के अध्ययन से चारों वेदों के पठन का पुण्यलाभ मिल जाता है।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ.........मा विद्विषामवहै। (पूर्ववत्)
शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (ब्रह्मोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

अथ पुरुषो ह वै नारायणोऽकामयत प्रजाः सृजेयेति। नारायणात् प्राणो जायते। मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी। नारायणाद्ब्रह्मा जायते। नाराथणाद्रुद्रो जायते। नारायणा-दिन्द्रो जायते। नारायणात्प्रजापतिः प्रजायते। नारायणाद्द्वादशादित्या रुद्रा वसवः सर्वाणि छन्दांसि नारायणादेव समुत्पद्यन्ते। नारायणा-त्प्रवर्तन्ते नारायणे प्रलीयन्ते। एतदृग्वेदशिरोऽधीते ॥1॥

अब पुरुषरूप नारायण ने ही संकल्प किया कि मैं प्रजा का सर्जन करूँ। नारायण से प्राण उत्पन्न होता है, नारायण से मन और सभी इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं, नारायण से ही आकाश, वायु, तेज, जल और समस्त विश्व को धारण करने वाली पृथ्वी उत्पन्न होती है। नारायण से ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं, नारायण से ही रुद्र जन्मते हैं, नारायण से इन्द्र जन्म लेते हैं, नारायण से प्रजापति जन्म लेते हैं। नारायण के द्वारा ही ये बारह आदित्य, रुद्रगण, वसुगण तथा सभी वेद उत्पन्न होते हैं। नारायण के द्वारा ही सब संचालित होते हैं और अन्त में नारायण में ही विलीन हो जाते हैं। यह ऋग्वेदीय उपनिषद् का सारकथन है।

अथ नित्यो नारायणः। ब्रह्मा नारायणः। शिवश्च नारायणः। शक्रश्च नारायणः। कालश्च नारायणः। दिशश्च नारायणः। विदिशश्च नारायणः। ऊर्ध्वं च नारायणः। अधश्च नारायणः। अन्तर्बहिश्च नारायणः। नारायण एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्। निष्कलङ्को

निरञ्जनो निर्विकल्पो निराख्यातः शुद्धो देव एको नारायणो न द्वितीयोऽस्ति कश्चित्। य एवं वेद स विष्णुरेव भवति स विष्णुरेव भवति। एतद्यजुर्वेदशिरोऽधीते ॥2॥

वह नारायण नित्य है। ब्रह्मा नारायण है, शिव भी नारायण है, इन्द्रदेव भी नारायण है और काल भी नारायण है। दिशाएँ भी नारायण हैं और उपदिशाएँ भी नारायण ही हैं। ऊपर भी नारायण है और नीचे भी नारायण है। भीतर भी नारायण है और बाहर भी नारायण है। जो कुछ हो चुका है और जो कुछ होनेवाला है, वह सब कुछ पुरुषरूप – नारायणरूप – ही है। वही कलंकरहित, पापरहित, निर्विकल्प, अनिर्वचनीय और विशुद्ध देव है। उनके अतिरिक्त कोई दूसरा है ही नहीं। जो मनुष्य ऐसा जानता है, वह स्वयं विष्णुरूप ही हो जाता है। वह विष्णु ही हो जाता है। ऐसा ही यजुर्वेदीय उपनिषद् का सारकथन है।

ॐ इत्यग्रे व्याहरेत्। नम इति पश्चात्। नारायणायेत्युपरिष्टात्। ॐ इत्येकाक्षरम्। नम इति द्वे अक्षरे। नारायणायेति पञ्चाक्षराणि। एतद्वै नारायणास्याष्टाक्षरं पदम्। यो ह वै नारायणस्याष्टाक्षरं पदमध्येति अनपब्रुवः सर्वमायुरेति। विन्दते प्राजापत्यं रायस्पोषं गौपत्यं ततोऽ-मृतत्वमश्नुते ततोऽमृतत्वमश्नत इति। एतत्सामवेदीयशिरोऽधीते ॥3॥

'ॐ' यह पहले बोलना चाहिए। बाद में 'नमः' ऐसा बोलना चाहिए और इसके बाद में 'नारायणाय' ऐसा बोलना चाहिए। 'ॐ' यह एक अक्षर है। 'नमः' ये दो अक्षर हैं। 'नारायणाय'— ये पाँच अक्षर हैं। इस प्रकार यह अष्टाक्षर नारायण का मन्त्र है। जो मनुष्य नारायण के इस अष्टाक्षर मंत्र का जाप करता है, वह अकथनीय कीर्तिसम्पन्न होकर पूर्ण आयुष्य भोगता है। उसे प्रजापतिपद स्त्री-पुत्र-धन-धान्यादि की वृद्धि और गायों का स्वामित्व मिलता है, तथा वह अमृतत्व का उपभोग करता है—अमर हो जाता है—उसे मोक्ष मिलता है—यह सामवेदीय उपनिषद् का सारतत्त्वकथन है।

प्रत्यगानन्दं ब्रह्मपुरुषं प्रणवस्वरूपम्। अकार उकारो मकार इति। ता अनेकधा समभवत्तदेतदोमिति यमुक्त्वा मुच्यते योगी जन्मसंसार-बन्धनात्। ॐ नमो नारायणायेति मन्त्रोपासको वैकुण्ठभुवनं गमिष्यति। तदिदं पुण्डरीकं विज्ञानघनं तस्मात्तडिदाभमात्रम्। ब्रह्मण्यो देवकीपुत्रो ब्रह्मण्यो मधुसूदनः। ब्रह्मण्यः पुण्डरीकाक्षो ब्रह्मण्यो विष्णुरुच्यत इति। सर्वभूतस्थमेकं वै नारायणं कारणपुरुषमकारणं परं ब्रह्मोम्। एतदथर्वशिरोऽधीते ॥4॥

'अ'कार, 'उ'कार और 'म'कार मात्रायुक्त यह प्रत्यक् (आन्तरिक) आनन्दरूप ओम्कार ब्रह्मपुरुष प्रणवरूप है। इन भिन्न-भिन्न तीन मात्राओं के सम्मिलित स्वरूप को ओम्कार कहते हैं। इस प्रणवरूप ऊँकार का जप करके योगी जन्मकरणरूप इस संसार के बन्धनों से मुक्त हो जाता है। 'ॐ नमो नारायणाय'—इस मन्त्र की साधना करने वाला साधक वैकुण्ठधाम में जाता है। यह वैकुण्ठधाम हृदयरूपी पुण्डरीक (कमल) विज्ञानमय है। इस कारण से इसका स्वरूप विद्युत् के समान अतिप्रकाशित है। ब्रह्ममय देवकीपुत्र कृष्ण सर्वदा ब्राह्मणप्रिय हैं। वे ही कमलनयन मधुसूदन विष्णु कहे जाते हैं। वे सबके कारण होते हुए भी स्वयं कारणरहित ही हैं। ऐसे सभी प्राणियों के अन्तर्यामी रूप नारायण हैं। वे ही प्रणव (ओम्कार) हैं। इस प्रकार यह अथर्ववेदीय उपनिषद् का सारकथन है।

प्रातरधीयानो रात्रिकृतं पापं नाशयति। सायमधीयानो दिवसकृतं पापं नाशयति। तत्सायंप्रातरधीयानः पापोऽपापो भवति। माध्यंदिनमा-दित्याभिमुखोऽधीयानः पञ्चमहापातकोपपातकात् प्रमुच्यते। सर्ववेद-पारायणफलं लभते। नारायणसायुज्यमवाप्नोति। श्रीमन्नारायणसा-युज्यमवाप्नोति य एवं वेद ॥5॥

इति नारायणोपनिषत् समाप्ता।

इस उपनिषत् का प्रातः में अध्ययन करनेवाला मनुष्य रात्रि में किए हुए पापों से मुक्त हो जाता है और शाम को अध्ययन करनेवाला दिवस में किए हुए पापों से मुक्त हो जाता है। इस प्रकार प्रातः-सायं अध्ययन करनेवाला यदि पापी हो तो वह पापरहित हो जाता है। अर्थात् पूर्व जन्म में किए हुए पापों से भी मुक्त हो जाता है। दुपहर के समय में सूर्य के सामने मुख रखकर इसका पाठ करनेवाला पुरुष पाँच महापातकों से और उपपातकों से भी मुक्त हो जाता है। इसके पाठ से मनुष्य सभी वेदों के पारायण का पुण्य प्राप्त करता है। वह नारायण का सायुज्य (नारायण में स्वयं जुड़ जाने का सौभाग्य) प्राप्त करता है। ऐसा जाननेवाला पुरुष भी श्रीमन्नारायण के सायुज्य को प्राप्त करता है। (वाक्य की पुनरावृत्ति उपनिषत् की समाप्ति का सूचक है)।

यहाँ नारायणोपनिषत् पूरी हुई।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ...... मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(19) परमहंसोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

इस शुक्लयजुर्वेदीय उपनिषत् में कुल चार कण्डिकाएँ ही हैं। इसमें श्रीनारदजी ब्रह्माजी से परमहंस की स्थिति के विषय में और मार्ग के विषय में पूछ रहे हैं। ब्रह्माजी ने उत्तर में परमहंस का जो वर्णन किया, वही यह उपनिषद् है। इसमें परमहंस का स्वरूप, उसकी वेशभूषा, उसके व्यवहार आदि के बारे में अच्छे ढंग से समझाया गया है। दीक्षा के बारे में भी कहा गया है। साथ-ही-साथ दंभी परमहंसों के लिए पातकों का बयान करते हुए इसके फलस्वरूप घोर नरकादि का फल भी बताया गया है।

शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं .... पूर्णमेवावशिष्यते। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (जाबालोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

अथ योगिनां परमहंसानां कोऽयं मार्गस्तेषां का स्थितिरिति नारदो भगवन्तमुपसमेत्योवाच। तं भगवानाह। योऽयं परमहंसमार्गो लोके दुर्लभतरो न नु बाहुल्यो यद्येको भवति स एव नित्यपूतस्थः स एव वेदपुरुष इति विदुषो मन्यन्ते महापुरुषो यच्चित्तं तत्सर्वदा मय्येवावतिष्ठते। तस्मादहं च तस्मिन्नेवावस्थीयते। असौ स्वपुत्रमित्र-कलत्रबन्ध्वादीञ्छिखा यज्ञोपवीतं स्वाध्यायं च सर्वकर्माणि संन्यस्यायं ब्रह्माण्डं च हित्वा कौपीनं दण्डमाच्छादनं च स्वशरीरोपभोगार्थाय लोकस्यैवोपकारार्थाय च परिग्रहेत्। तच्च न मुख्योऽस्ति। कोऽयं मुख्य इति चेदयं मुख्यः ॥1॥

एक बार नारद मुनि ने भगवान् नारायण के पास जाकर पूछा कि—"हे भगवन्! इन योगियों का (परमहंसों का) मार्ग कौन-सा है, उनकी स्थिति कैसी है?" तब भगवान् ने उनसे कहा—'यह जो परमहंसों का मार्ग है, वह लोकों में बहुत ही दुर्लभ है। संसार में ऐसे व्यक्ति बहुत ही कम होते हैं। कोई इक्का-दुक्का ही होता है। वह परमहंस हमेशा पवित्र भावना में अवस्थित होता है। विद्वान् लोग मानते हैं कि वही वेदपुरुष है। वही महापुरुष है कि जिसका चित्त हमेशा मुझमें ही रहता है। इसीलिए मैं भी उस महापुरुष में रहता हूँ। वह परमहंस अपने पुत्र, मित्र, स्त्री, बन्धु आदि स्वजनों को तथा शिखा, यज्ञोपवीत, देहाध्ययन—इन सबका त्याग करके सारे ब्रह्माण्ड के कल्याण के लिए और शरीर की रक्षा के लिए कौपीन, दण्ड और आच्छादन (उपवस्त्र) को धारण करता है। परन्तु, यह भी परमहंस की मुख्य दीक्षा नहीं है।' तब फिर नारद ने पूछा—'तो फिर मुख्य दीक्षा कौन-सी होती है?' तब नारायण ने कहा—'यह मुख्य दीक्षा है, सुनो'—

न दण्डं न शिखां न यज्ञोपवीतं न चाच्छादनं चरति परमहंसो न शीतं न चोष्णं न सुखं न दुःखं न मानावमाने च षड्भिर्वर्जं निन्दागर्वमत्सर-दम्भदर्पेच्छाद्वेषसुखदुःखकामक्रोधलोभमोहहर्षासूयाहङ्कारादींश्च हित्वा स्ववपुः कुणपमिव दृश्यते। यतस्तद्वपुरध्वस्तसंशयविपरीतमिथ्या-ज्ञानानां यो हेतुस्तेन नित्यनिवृत्तस्तन्नित्यबोधस्तत्स्वयमेवं नित्याव-स्थितिस्तं शान्तमचलमद्वयानन्दचिद्घन एवास्मि। तदेव मम परमं धाम, तदेव शिखा च तदेवोपवीतं च। परमात्मात्मनोरेकत्वज्ञानेन तयोर्भेद एव विभग्नः, सा संध्या ॥2॥

परमहंस की मुख्य दीक्षा इस प्रकार है—वह दण्ड, शिक्षा, यज्ञोपवीत, आच्छादन को धारण न करे। इसके सिवा शीत-उष्ण, मान-अपमान, सुख-दुःख—इन छः ऊर्मियों से वह रहित हो जाए। वह निन्दा, गर्व, मत्सर, दम्भ, दर्प, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, काम, क्रोध, लोभ, मोह, हर्ष, असूया और अहंकार को छोड़कर अपने शरीर को मरे हुए के समान देखता है! संशय, विपरीत ज्ञान और मिथ्याज्ञान का जो कारण है, उससे वह सदा के लिए निवृत्त हो जाए। वह सदैव बोधस्वरूप हो। वह संसार में किसी भी पदार्थ की अपेक्षा न रखते हुए मानता है कि—मैं एकमात्र अचल, अद्वय चिद्घनानन्द हूँ। यही मेरा परमधाम है। यही मेरी शिखा और यही मेरा यज्ञोपवीत है। वह आत्मा और परमात्मा में अभेददृष्टि रखता है। उसके लिए दोनों का भेद मिट जाता है। वही उसकी सन्ध्या है।

सर्वान् कामान् परित्यज्य अद्वैते परमे स्थितिः।
ज्ञानदण्डो धृतो येन एकदण्डी स उच्यते ॥
काष्ठदण्डो धृतो येन सर्वाशी ज्ञानवर्जितः।
तितिक्षाज्ञानवैराग्यशमादिगुणवर्जितः ॥
भिक्षामात्रेण यो जीवेत् स पापी यतिवृत्तिहा।
स याति नरकान् घोरान् महारौरवसंज्ञकान् ॥
इदमन्तरं ज्ञात्वां स परमहंसः—॥3॥

यह परमहंस सभी कामनाओं को छोड़कर अद्वैत परब्रह्म के स्वरूप में स्थित रहता है। उसे 'एकदण्डी' भी कहा जाता है क्योंकि उसने ज्ञानरूपी दण्ड धारण किया होता है। परन्तु जो मनुष्य काष्ठ का ही दण्ड धारण करता है, जो सभी आशाओं से भरा है, जिसमें ज्ञान है ही नहीं, जिसमें तितिक्षा-ज्ञान-वैराग्य-शम आदि कोई भी गुण नहीं है, जो भीख माँगकर अपना गुजारा करता रहता है, जो पापी सच्चे यतियों की आजीविका को इस तरह छीन लेता है और जीता है, वह महारौरव जैसे भयंकर नरकों में ही जाता है। जो इसको (पापी, संन्यासी और परमहंस की इस भिन्नता को) जानता है वह परमहंस है।

आशाम्बरो यो नमस्कारो न स्वाहाकारो न स्वधाकारो न निन्दा न स्तुति-र्यादृच्छिको भवेद्भिक्षुः। नावाहनं न विसर्जनं न मन्त्रं न ध्यानं नोपासनं च। न लक्ष्यं न चालक्ष्यं न पृथङ् नापृथगहर्न न त्वं न सर्वं च अनिकेतस्थिरमतिरेव स भिक्षुः सौवर्णादीनां नैव परिग्रहेन्न लोकनं नावलोकनं च। न च बाधकः क इति चेद्बाधकोऽस्त्येव। यस्माद्भिक्षुर्हिरण्यं रसेन दृष्टं चेत् स ब्रह्महा भवेत्। यस्माद्भिक्षुर्हिरण्यं

रसेन स्पृष्टं चेत् स पौल्कसो भवेत्। यस्माद्भिक्षुर्हिरण्यं रसेन ग्राह्यं चेत् स आत्महा भवेत्। तस्माद्भिक्षुर्हिरण्यं रसेन न दृष्टं न स्पृष्टं न ग्राह्यं च। सर्वे कामा मनोगता व्यावर्तन्ते। दुःखे नोद्विग्नः सुखे निःस्पृहा। त्यागो रागे सर्वत्र शुभाशुभयोरनभिस्नेहो न द्वेष्टि न मोदं च। सर्वेषामिन्द्रियाणां गतिरुपरमते। य आत्मन्येवावस्थीयते। तत्पूर्णानन्दैकबोधस्तद्-ब्रह्मैवाहमस्मीति कृतकृत्यो भवति कृतकृत्यो भवतीत्युपनिषत् ॥4॥

इति परमहंसोपनिषत् समाप्ता।

वह दिगम्बर परमहंस नमस्कार, स्वाहाकार, स्वधाकार, निन्दा, स्तुति आदि की परवाह नहीं करता हुआ स्वैच्छिक भिक्षाचरण करता रहता है। उसके लिए आवाहन, विसर्जन, मन्त्र, ध्यान, उपासना, लक्ष्य, अलक्ष्य कुछ भी नहीं होता। उसका पृथक्-अपृथक् और मेरे-तेरे का भाव तथा सर्वभाव भी नहीं होता। वह निवासरहित और स्थिर बुद्धिवाला होता है। वह भिक्षु सोने आदि के संग्रह में प्रवृत्त नहीं होता। उसके लिए कोई भी चीज आकर्षक या अपाकर्षक नहीं होती। उसके लिए क्या बाधक (अवरोधक) है अर्थात् उसके लिए कुछ भी बाधक नहीं है। भिक्षु परमहंस होकर यदि वह सोने से प्रेम करे तो उसे ब्रह्महत्या का पाप लगता है। भिक्षु होकर यदि वह सुवर्ण से लगाव करे तो उसे चाण्डाल की तरह माना जाता है। ऐसा भिक्षु परमहंस होकर सोने से प्रेम करने पर आत्महत्या करनेवाला होता है। इसलिए उस परमहंस भिक्षु को चाहिए कि वह न तो सुवर्ण को देखे, न उसका स्पर्श करे और न ग्रहण ही करे। ऐसा परमहंस भिक्षु तो आप्तकाम ही हो जाता है अर्थात् उसकी समस्त कामनाएँ पूर्ण या समाप्त ही हो जाती हैं। वह दुःख में उद्विग्न नहीं होता है और सुख में भी निःस्पृह ही रहता है। राग को छोड़कर वह शुभ और अशुभ के प्रति आसक्तिरहित हो जाता है। वह न द्वेष करता है, न खुशी व्यक्त करता है। उसकी सभी इन्द्रियाँ शान्त हो जाती हैं। वह अपने आत्मतत्त्व में ही स्थित रहता है। वह अपने आपको सदैव पूर्णानन्दस्वरूप और पूर्णबोधस्वरूप ही समझता है। ऐसी भावना तथा अनुभूति से वह कृतार्थ (धन्य) हो जाता है।

यहाँ परमहंसोपनिषद् पूरी हुई।

शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं। ....पूर्णमेवावशिष्यते। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

❋

(20) ब्रह्मबिन्दूपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

इस उपनिषद् का दूसरा नाम 'अमृतबिन्दूपनिषद्' है। बाईस मंत्रों वाली यह उपनिषद् कृष्णयजुर्वेद से सम्बद्ध है। इसमें ब्रह्मसाक्षात्कार का (आत्मानुसन्धान का) क्रम बताया गया है। 'मनुष्य के बन्ध और मोक्ष का कारण मन ही है'—इस सुप्रसिद्ध और शाश्वत सत्य के कथन से ही उपनिषद् का आरंभ होता है। मन को निर्विषय बनाकर मुक्ति की प्राप्ति का विधान करके उस निर्विषयता की विधि, स्वर-अस्वर द्वारा व्यक्त-अव्यक्त ब्रह्म का अनुसन्धान, तीनों अवस्थाओं में अनुस्यूत आत्मतत्त्व की स्थिति, पारमार्थिक आत्मस्वरूप, माया के द्वारा जीव का आवरण, अज्ञानान्धकार के हट जाने से जीव-ब्रह्म के ऐक्य का बोध, दूध में छिपे हुए घी की तरह चिन्तन-मननरूप मथनी से परमात्मतत्त्व की उपलब्धि और अन्त में परमतत्त्व का साक्षात्कार—ये सब बातें प्रतिपादित की गई है। इस ब्रह्मबिन्दूपनिषत् के सभी विषय प्रासादिक ढंग से बताए गए हैं।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ .... मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (ब्रह्मोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेव च।
अशुद्धं कामसंकल्पं शुद्धं कामविवर्जितम् ॥1॥

मन दो प्रकार का है—शुद्ध और अशुद्ध। कामनाओं की इच्छा करनेवाला मन अशुद्ध कहा जाता है और कामनाओं से रहित मन शुद्ध है।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम् ॥2॥

मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष का कारण केवल एक मन ही है। वह मन जब विषयों में आसक्त हो जाता है, तब बन्धन का कारण बनता है और जब विषयों के जाल (बन्धन) से छूट जाता है, तब वही मुक्ति का कारण हो जाता है।

यतो निर्विषयस्यास्य मनसो मुक्तिरिष्यते।
तस्मान्निर्विषयं नित्यं मनः कार्यं मुमुक्षुणा ॥3॥

जब मन भोगों की इच्छा का परित्याग कर देता है, तब उस मनुष्य का मोक्ष हो जाता है। इसलिए मुक्ति की इच्छा करनेवाले को चाहिए कि वह अपने मन को विषयासक्ति से रहित रखे।

निरस्तविषयासङ्गं सन्निरुद्धं मनो हृदि ।
यदा भात्युन्मनीभावं तदा तत्परमं पदम् ॥4॥

भोगों का लगाव छूट जाने पर मन जब हृदय में एकाग्र होता है, तब और जब मन का 'मनस्त्व' चला जाता है तब वह परमपदरूप ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।

तावदेव निरोद्धव्यं यावद्धृदि गतं क्षयम् ।
एतज्ज्ञानं च मोक्षं च अतोऽन्यो ग्रन्थविस्तरः ॥5॥

जब तक मन का नाश (विलय) न हो जाए, तब तक उसका हृदय में निरोध करते रहना चाहिए। यही तो पारमार्थिक ज्ञान है, यही तो मोक्ष है, शेष तो सब ग्रन्थविस्तार ही है।

नैव चिन्त्यं न चाचिन्त्यमचिन्त्यं चिन्त्यमेव तत् ।
पक्षपातविनिर्मुक्तं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥6॥

अशुद्ध मन से ब्रह्म का चिन्तन नहीं किया जा सकता। परन्तु शुद्ध मन से तो उसका चिन्तन किया जा सकता है। इस प्रकार ब्रह्म अचिन्त्य भी है और चिन्त्य भी है। सभी जगह समान रूप से अवस्थित उस ब्रह्म का चिन्तन करनेवाला मनुष्य ब्रह्म को ही प्राप्त हो जाता है। (क्योंकि ब्रह्म कहीं ज्यादा और कहीं कम नहीं अपितु सर्वसमान है)।

स्वरेण सन्धयेद्योगमस्वरं भावयेत् परम् ।
अस्वरेण हि भावेन भावो ना भाव इष्यते ॥7॥

पहले ॐकार से (स्वर से) साधना करनी चाहिए और बाद में ॐकार से भी परे परब्रह्म की अस्वर साधना करनी चाहिए अर्थात् उसका ध्यान करना चाहिए क्योंकि उस निर्गुण ब्रह्म की धारणा होते ही भाव-अभाव, सत्य-मिथ्या का कुछ भी खयाल नहीं रहता।

तदेव निष्कलं ब्रह्म निर्विकल्पं निरञ्जनम् ।
तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा ब्रह्म सम्पद्यते ध्रुवम् ॥8॥

वही विकल्पहीन, दोषहीन पूर्ण ब्रह्म है। 'वह ब्रह्म मैं ही हूँ'—ऐसा जानकर साधक अवश्य उस ब्रह्म को प्राप्त करता है।

निर्विकल्पमनन्तं च हेतुदृष्टान्तवर्जितम् ।
अप्रमेयमनाद्यं च ज्ञात्वा च परमं शिवम् ॥9॥

जो विकल्परहित है, अनन्त है, युक्ति और उदाहरण से परे (अगम्य) है, जो नापा नहीं जा सकता जो परम कल्याणकारी है, उस अनादि ब्रह्म को जानकर मनुष्य उसी को प्राप्त होता है।

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः ।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥10॥

वास्तविक दृष्टि से देखा जाए तो यहाँ कोई उत्पत्ति भी नहीं है और विनाश भी नहीं है, कोई बद्ध भी नहीं है और कोई साधक भी नहीं है, कोई मुमुक्षु भी नहीं है और कोई मुक्त भी नहीं है—यही पारमार्थिक तत्त्व है।

एक एवात्मा मन्तव्यो जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु ।
स्थानत्रयाद्व्यतीतस्य पुनर्जन्म न विद्यते ॥11॥

जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओं में अनुस्यूत एक ही आत्मा है, ऐसा समझना चाहिए। इन तीनों अवस्थाओं का अतिक्रमण कर लेने वाले साधक को पुनः जन्म नहीं लेना पड़ता।

एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥12॥

हरएक प्राणी में और हरएक वस्तु में एक ही आत्मा स्थित है। जैसे जल से भरे हुए अनेक पात्रों में एक ही चन्द्र भिन्न दिखाई देता है, वैसे ही आत्मा भी हरएक प्राणी में अलग-अलग दिखाई देता है पर स्वयं में एक ही है।

घटसम्भृतमाकाशं लीयमाने घटे यथा।
घटो लीयेत नाकाशं तद्वज्जीवो घटोपमः ॥13॥

घड़े के नाश होने पर घड़े में निहित आकाशतत्त्व नष्ट नहीं होता, सिर्फ घड़े का ही नाश होता है। जीव भी घड़े की तरह ही है जिसमें देह का नाश तो होता है, पर जीव का कभी नाश नहीं होता।

घटवद्विविधाकारं भिद्यमानं पुनः पुनः।
तद्भग्नं न च जानाति स जानाति च नित्यशः ॥14॥

घड़े की तरह एक शरीर का नाश होने पर दूसरे देह और उसका भी नाश होने पर और दूसरे देह को—इस प्रकार विविध प्रकार के देह को जीव बार-बार धारण करता रहता है। देह के नाश को जीव हमेशा जानता तो है, फिर भी नहीं जानता।

शब्दमायावृतो यावत् तावत्तिष्ठति पुष्करे।
भिन्ने तमसि चैकत्वमेकमेवानुपश्यति ॥15॥

जब तक शब्द-नामरूपात्मक माया से जीव आवृत होता है, तब तक ही वह हृदयरूपी पुष्कर-कमल में बँधा रहता है, पर जैसे ही अज्ञानान्धकार नष्ट हो जाता है, वह परब्रह्म के साथ एकता का अनुभव करने लगता है।

शब्दाक्षरं परं ब्रह्म यस्मिन् क्षीणे यदक्षरम्।
तद्विद्वानक्षरं ध्यायेद् यदीच्छेच्छान्तिमात्मनः ॥16॥

यों तो शब्दब्रह्म (प्रणव) और परब्रह्म दोनों ही 'अक्षर' हैं। इन दोनों में से किसी भी एक के क्षीण हो जाने पर भी आश्रय की स्थिति में जो बचा रहता है, वही वास्तविक परब्रह्म है। उस वास्तविक ब्रह्म को जाननेवाला यदि कोई अन्तिम इच्छा रखता हो तो उसे उस अविनाशी ब्रह्म का ही ध्यान करना चाहिए।

द्वे विद्ये वेदितव्ये तु शब्दब्रह्म परं च यत्।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥17॥

दो विद्याएँ जानने योग्य हैं। उनमें प्रथम विद्या को 'शब्दब्रह्म' कहते हैं और दूसरी 'परब्रह्म' कही जाती है। इनमें से जो मनुष्य शब्दब्रह्म में अर्थात् वेदविद्या में प्रवीण होता है, वह ब्रह्मविद्या को प्राप्त कर सकता है।

ग्रन्थमभ्यस्य मेधावी ज्ञानविज्ञानतत्त्वतः।
पलालमिव धान्यार्थी त्यजेद् ग्रन्थमशेषतः ॥18॥

बुद्धिमान मनुष्य को शास्त्रग्रन्थों में प्रतिपादित ज्ञान-विज्ञान (मूलतत्त्व) को ग्रहण करने के पश्चात् ग्रन्थ को ठीक उसी प्रकार से त्याग देना चाहिए जैसे धान्य (अन्न) को प्राप्त करने वाला उसकी भूसी का त्याग कर देता है।

गवामनेकवर्णानां क्षीरस्याप्येकवर्णता।
क्षीरवत् पश्यते ज्ञानं लिङ्गिनस्तु गवां यथा ॥19॥

जिस तरह अनेक रंगों वाली गायों का दूध एक ही रंग का (सफेद) होता है, इसी तरह भिन्न-भिन्न शास्त्रों में दिया गया ज्ञान एक ही होता है, ऐसा ज्ञानी लोग (लिंगी) समझते हैं।

घृतमिव पयसि निगूढं भूते भूते च वसति विज्ञानम्।
सततं मन्थयितव्यं मनसा मन्थानभूतेन ॥20॥

दूध में घी की भाँति एक ही विज्ञानात्मा सर्वप्राणियों में निगूढ़ रूप में रहता है। अतः मन की मथनी से सदा आत्मा का मन्थन करना चाहिए। दूध का दही बनाना पड़ता है, फिर मथना पड़ता है, तब जाकर घी निकलता है।

ज्ञाननेत्रं समादाय चरेद्वह्निमतः परम्।
निष्कलं निर्मलं शान्तं तद् ब्रह्माहमिति स्मृतम् ॥21॥

ज्ञानरूपी नेत्र (दृष्टि) को प्राप्त करके अग्नि के सदृश प्रकाशमान आत्मा की चर्या (साधना-ध्यानादि) करनी चाहिए। तब कहीं 'निष्कल, विशुद्ध, शान्त, ऐसा ब्रह्म मैं ही हूँ'—ऐसी स्मृति (ज्ञान) होती है।

सर्वभूताधिवासं च यद्भूतेषु च वसत्यधि।
सर्वानुग्राहकत्वेन तदस्म्यहं वासुदेवः तदस्म्यहं वासुदेवः ॥22॥

इत्यमृतबिन्दूपनिषत् समाप्ता।

जिसमें सभी प्राणी निवास करते हैं, और जो स्वयं सभी प्राणियों में निवास करता है वह प्राणिमात्र पर अनुग्रह करनेवाला वासुदेव मैं ही हूँ। वह वासुदेव मैं ही हूँ।

इस तरह यहाँ अमृतबिन्दु उपनिषत् पूरी हुई।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ......मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

❈

(21) अमृतनादोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

यह उपनिषद् कृष्णयजुर्वेद के साथ संलग्न है । इस उपनिषद् में प्रणव की उपासना वर्णित है । और उसके साथ ही योग के छः अंगों का भी विवेचन किया गया है । प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—इन पाँचों के साथ तर्क (समीक्षा) को भी जोड़ा है । इसमें प्राणायाम की विधि, ॐकार की मात्राओं का ध्यान, पाँचों प्राणों का स्थान, तथा रंगों का निर्देश भी किया गया है । योगसाधक को भयक्रोधादि मानसिक विकारों से रहित होकर आहार-विहारादि चेष्टा तथा सोना-जागना आदि क्रियाओं को सन्तुलित बनाए रखने की सीख दी गई है । साधना के फल के रूप में देवसदृश रूप की प्राप्ति से लेकर ब्रह्मनिर्वाण की प्राप्ति पर्यन्त का दिशासूचन किया गया है ।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु । सह नौ .... मा विद्विषावहै । (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (ब्रह्मोपनिषद् में) द्रष्टव्य है ।

शास्त्राण्यधीत्य मेधावी अभ्यस्य च पुनः पुनः ।
परमं ब्रह्म विज्ञाय उल्कावत्तान्यथोत्सृजेत् ॥1॥

मेधावी पुरुष को शास्त्र का अध्ययन करके उनका बार-बार परिशीलन करके फलरूप में ब्रह्मतत्त्व को जानकर फिर उन शास्त्रों को मशाल की तरह छोड़ देना चाहिए ।

ओंकाररथमारुह्य विष्णु कृत्वाऽथ सारथिम् ।
ब्रह्मलोकपदान्वेषी रुद्राराधनतत्परः ॥2॥

ओंकाररूपी रथ पर चढ़ कर विष्णु को सारथि बनाकर ब्रह्मलोक के स्थान की खोज करनेवाले मनुष्य को रुद्र भगवान् की आराधना में लग जाना चाहिए ।

तावद्रथेन गन्तव्यं यावद्रथपथि स्थितः ।
स्थात्वा रथपथिस्थानं रथमुत्सृज्य गच्छति ॥3॥

उस ओंकाररूपी रथ के द्वारा तब तक चलते रहना चाहिए जब तक कि रथ द्वारा चलने योग्य मार्ग पूर्ण न हो जाये । जब रथपति का वह मार्ग (लक्ष्य) पूरा हो जाता है, तब स्वयं वह रथ को छोड़कर चलने लगता है ।

मात्रालिङ्गपदं त्यक्त्वा शब्दव्यञ्जनवर्जितम् ।
अस्वरेण मकारेण पदं सूक्ष्मं हि गच्छति ॥4॥

ओंकार की मात्राओं को बताने वाले (लिंगभूत) जो पद हैं, उनको तथा स्थूल शरीरादि पदों को छोड़कर, स्वरविहीन 'म' अर्थात् बिन्दु का ध्यान करके मनुष्य सूक्ष्म ब्रह्मतत्त्व को प्राप्त करता है।

शब्दादिविषयान् पञ्च मनश्चैवातिचञ्चलम्।
चिन्तयेदात्मनो रश्मीन् प्रत्याहारः स उच्यते ॥5॥

शब्द-स्पर्शादि पाँच विषयों को और छठे अतिचञ्चल मन को आत्मतत्त्व की किरणों के रूप में चिन्तन करना ही 'प्रत्याहार' कहलाता है। (आत्मसत्ता से ही उनकी सत्ता है)।

प्रत्याहारस्तथा ध्यानं प्राणायामोऽथ धारणा।
तर्कश्चैव समाधिश्च षडङ्गो योग उच्यते ॥6॥

प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम और धारणा तथा तर्क और समाधि—इन छः को 'योग' कहा गया है। (यहाँ पर पतंजलि के अष्टांग योग के कुछ तत्त्वों को क्रमव्यत्यास ढंग से बताया है। केवल 'तर्क' को अधिक कहा है)।

यथा पर्वतधातूनां दह्यन्ते धमनान्मलाः।
तथेन्द्रियकृता दोषा दह्यन्ते प्राणधारणात् ॥7॥

जिस प्रकार पर्वत से निकलती हुई धातुओं की मैल अग्नि में तप्त करने से जल जाती है (धातु विशुद्ध होती है) ठीक उसी प्रकार इन्द्रियों के दोष (मैल) प्राणों की धारणा से अर्थात् प्राणायाम की क्रिया से जल जाते हैं।

प्राणायामैर्देहदोषान् धारणाभिश्च किल्बिषम्।
(प्रत्याहारेण संसर्गान् ध्यानेनानीश्वरान् गुणान्।)
किल्बिषं हि क्षयं नीत्वा रुचिरं चैव चिन्तयेत् ॥8॥

प्राणायामों से देह के (इन्द्रियों के भी) दोषों को, तथा धारणा के द्वारा मनोगत पाप (कुसंस्कार) को, एवं प्रत्याहार से विषयों के साथ संसर्गों को और ध्यान से दुर्गुणों को नष्ट करके बाद रमणीय इष्टदेव के रूप का चिन्तन करना चाहिए।

रुचिरं रेचकं चैव वायोराकर्षणं तथा।
प्राणायामास्त्रयः प्रोक्ता रेचपूरककुम्भकाः ॥9॥

रुचिर (कुम्भक), रेचक तथा वायु के आकर्षणरूप पूरक—ये तीन प्रकार के प्राणायाम कहे गए हैं। इनके नाम रेचक, पूरक और कुम्भक हैं।

सव्याहृतिं सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह।
त्रिः पठेदायतप्राणः प्राणायामः स उच्यते ॥10॥

प्राणशक्ति की वृद्धि करने वाला जो मनुष्य व्याहृतियों (भूः भुवः स्वः) के साथ और प्रणव (ओंकार) के उच्चारण के साथ संपूर्ण गायत्री मंत्र का उसके शीर्ष के साथ तीन बार पढ़ते हुए अपने श्वास का पूरक, कुंभक और रेचन करता है, उस सम्पूर्ण प्रक्रिया को एक 'प्राणायाम' कहा जाता है।

उत्क्षिप्य वायुमाकाशे शून्यं कृत्वा निरात्मकम्।
शून्यभावे नियुञ्जीयाद्रेचकमिति लक्षणम् ॥11॥

घ्राणेन्द्रिय द्वारा वायु को आकाश में निकालकर (फेंककर), हृदय को (मन को) वायु से खाली और विचारशून्य बनाकर शून्यभाव में मन को (हृदय को) जोड़ देना चाहिए। इस प्रक्रिया को रेचक नाम दिया जाता है।

वक्त्रेणोत्पलनालेन तोयमाकर्षयेन्नरः ।
एवं वायुर्गृहीतव्यः पूरकस्येति लक्षणम् ॥12॥

जिस प्रकार पुरुष अपने मुख में नाली लगाकर धीरे-धीरे मुख में पानी को खींचता है, उसी प्रकार नाक से वायु को भीतर लेने की क्रिया को पूरक कहा जाता है। यह पूरक का लक्षण है।

नोच्छ्वसेन्न च निःश्वसेन्नैव गात्राणि चालयेत् ।
एवं भावं नियुञ्जीयात् कुम्भकस्येति लक्षणम् ॥13॥

साँस को भीतर खींचना भी नहीं चाहिए और साँस को बाहर भी नहीं निकालना चाहिए। जब इस प्रकार की स्थिति में मनुष्य अपने को रखता है, तब वह कुंभक है (यह कुंभक का लक्षण है) ऐसा कहा जाता है।

अन्धवत्पश्य रूपाणि शब्दं बधिरवच्छृणु ।
काष्ठवत्पश्य वै देहं प्रशान्तस्येति लक्षणम् ॥14॥

सभी रूपों को अन्धे की तरह देखो और सभी शब्दों को बहेरे की भाँति सुनो तथा अपने शरीर को काष्ठ की तरह ही देखो अर्थात् सभी इन्द्रियविषयों की और अपने शरीर की भी उपेक्षा करो। यही प्रशान्तपुरुष का लक्षण है।

मनः सङ्कल्पकं ध्यात्वा संक्षिप्यात्मनि बुद्धिमान् ।
धारयित्वा तथात्मानं धारणा परिकीर्तिता ॥15॥

बुद्धिमान् मनुष्य मन को संकल्पात्मक मानकर उसको आत्मा में लय कर देता है और उस मन को उसी आत्मा में ही धारण करता है। इसे 'धारणा' कहा जाता है।

आगमस्याविरोधेन ऊहनं तर्क उच्यते ।
समं मन्येत यल्लब्ध्वा स समाधिः प्रकीर्तितः ॥16॥

शास्त्रानुसार किए जानेवाले वादविवाद को 'तर्क' कहा जाता है। और जिस अवस्था को प्राप्त करके सर्वत्र समानता का ही अनुभव किया जा सकता है, उस अवस्था को समाधि कहा जाता है।

भूमौ दर्भासने रम्ये सर्वदोषविवर्जिते ।
कृत्वा मनोमयीं रक्षां जप्त्वा वै रथमण्डले ॥17॥

सर्व प्रकार के दोषों से रहित भूमि पर, सुन्दर दर्भासन पर भूतप्रेतादि से मानसिक रक्षा करते हुए रथमण्डल का (प्रणव व्याहृतिसह और अष्टाक्षर गायत्रीमंत्र का) जप करना चाहिए।

पद्मकं स्वस्तिकं वापि भद्रासनमथापि वा ।
बद्ध्वा योगासनं सम्यगुत्तराभिमुखः स्थितः ॥18॥

पद्मासन अथवा स्वस्तिकासन अथवा भद्रासन नामक योगासन को लगाकर उत्तर की ओर मुँह करके अच्छी तरह बैठना चाहिए।

नासिकापुटमङ्गुल्या पिधायैकेन मारुतम् ।
आकृष्य धारयेदग्निं शब्दमेव विचिन्तयेत् ॥19॥

इसके बाद नासिका के दायें छिद्र को अँगूठे से दबाकर वायु को भीतर खींचकर मूलाधार के त्रिकोणाकार में अग्नि को धारण करते हुए शब्द का (ओंकार का) ही चिन्तन करते रहना चाहिए।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म ओमित्येतन्न रेचयेत् ।
दिव्यमन्त्रेण बहुधा कुर्यादामलमुक्तये ॥20॥

यह प्रणव (ॐ) ही एकाक्षर ब्रह्म है। उस ॐकाररूप एकाक्षर ब्रह्म का भंग (रेचन) नहीं करना चाहिए। उसे सतत जपते रहना चाहिए। उस दिव्य मंत्र के द्वारा सब मलों की मुक्ति के लिए सतत प्रयत्न करते ही रहना चाहिए। (जप का सातत्य रहना चाहिए, उसका रेचन – विच्छेद – नहीं होना चाहिए।)

पश्चाद् ध्यायीत पूर्वोक्तक्रमशो मन्त्रविद् बुधः ।
स्थूलादिस्थूलसूक्ष्मं च नाभेरूर्ध्वमुपक्रमः ॥21॥

इसके बाद मंत्रज्ञ बुद्धिमान मनुष्य को पहले बताए हुए क्रम के अनुसार नाभि के ऊपर के भाग में स्थित स्थूल पदार्थ से लेकर स्थूल से सूक्ष्म तक अर्थात् स्थूल से लेकर क्रमशः (अपेक्षाकृत) स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाते-जाते अन्त में सूक्ष्मातिसूक्ष्म ब्रह्मतत्त्व का ध्यान करना चाहिए।

तिर्यगूर्ध्वमधोदृष्टिं विहाय च महामतिः ।
स्थिरस्थायी विनिष्कम्पः सदा योगं समभ्यसेत् ॥22॥

उस बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी दृष्टि को तिरछी, ऊँची या नीची न रखकर स्थिर रखे, और स्वयं स्थिर और अचल रहकर करके योग का अभ्यास करे।

तालमात्राविनिष्कम्पो धारणायोजनं तथा ।
द्वादशमात्रो योगस्तु कालतो नियमः स्मृतः ॥23॥

ताल (प्राणवायु का पारम्परिक संगठन प्रकार), मात्रा (कालमाप), विनिष्कम्प (स्थैर्य), धारणा (प्राणवायु का स्थिरीकरण) और योजन (प्राणवायु का अग्नि से संयोग)––इन पाँचों बातों को योगी को समझ लेना चाहिए। यह योग बारह मात्रावाला माना जाता है। इस योग को पूर्ण करने में कालिक नियममर्यादा रखनी चाहिए।

अघोषमव्यञ्जनमस्वरं च अतालुकण्ठोष्ठमनासिकं च यत् ।
अरेफजातमुभयोष्मवर्जितं यदक्षरं न क्षरते कथंचित् ॥24॥

घोषव्यंजनों से रहित, व्यंजनों से भी रहित, स्वरविहीन, कण्ठ-तालु-मूर्धा-दन्त्य-औष्ठ्य व्यंजनों से रहित, नासिक्य व्यंजनविहीन तथा रेफ (र कार) और ऊष्माक्षरों (श, ष, स) से भी रहित (ऐसे जो अक्षर ब्रह्म – प्रणव – ॐकार) है, वह कभी विकार को प्राप्त नहीं होता।

येनासौ गच्छते मार्गं प्राणस्तेनाभिगच्छति ।
अतस्तमभ्यसेन्नित्यं यन्मार्गगमनाय वै ॥25॥

योगी पुरुष जिस मार्ग पर जाता है या जाना चाहता है, उसी मार्ग से प्राण भी योगी की इच्छानुसार जाता है। इसलिए जिस किसी वांछित मार्ग पर जाने के लिए सदैव योग का अभ्यास करना चाहिए।

हृद्द्वारं वायुद्वारं च मूर्धद्वारमथापरम् ।
मोक्षद्वारं बिलं चैव सुषिरं मण्डलं विदुः ॥26॥

हृदय का द्वार, वायु का द्वार और मस्तक का द्वार, क्रमशः मोक्षद्वार, बिलद्वार और ब्रह्मरन्ध्र कहा जाता है ।

भयं क्रोधमथालस्यमतिस्वप्नातिजागरम् ।
अत्याहारमनाहारं नित्यं योगी विवर्जयेत् ॥27॥

योगी को सदैव भय, क्रोध, आलस्य, अति सोना, अति जगाना, बहुत खाना, बिल्कुल न खाना—इनको छोड़ देना चाहिए ।

अनेन विधिना सम्यङ् नित्यमभ्यस्यते क्रमात् ।
स्वयमुत्पद्यते ज्ञानं त्रिभिर्मासैर्न संशयः ॥28॥

इस प्रकार से अच्छी तरह से क्रमशः यदि नित्य अभ्यास किया जाए, तो तीन महीनों के भीतर ही ऐसे साधक को ज्ञान उत्पन्न हो जायगा, इसमें संशय नहीं ।

चतुर्भिः पश्यते देवान् पञ्चभिर्विततः क्रमः ।
इच्छयाप्नोति कैवल्यं षष्ठे मासि न संशयः ॥29॥

नित्य-नियमित अभ्यास करनेवाला वह साधक (योगी) चार मास में ही देवों का दर्शन करने लग जाता है । और पाँच महीनों में उसका सामर्थ्य विस्तृत प्रगतिवाला हो जाता है । और छठे महीने में तो अपनी इच्छा के अनुसार उसमें कैवल्यप्राप्ति का सामर्थ्य आ जाता है, इसमें कोई संशय नहीं है ।

पार्थिवः पञ्चमात्रस्तु चतुर्मात्रस्तु वारुणः ।
आग्नेयस्तु त्रिमात्रोऽसौ वायव्यस्तु द्विमात्रकः ॥30॥

पृथ्वी तत्त्व की धारणा करते समय इस ओंकार का उच्चारण पाँच मात्रा तक करना चाहिए, जलतत्त्व की धारणा करते समय चार मात्रा तक उच्चारण करना चाहिए, तेज की धारणा करते समय तीन मात्रा तक का और वायु की धारणा करते समय दो मात्राओं तक का उच्चारण करना चाहिए । (या उन-उन मात्राओं तक ध्यान करना चाहिए) ।

एकमात्रस्तथाकाशो ह्यर्धमात्रं तु चिन्तयेत् ।
संधिं कृत्वा तु मनसा चिन्तयेदात्मनात्मनि ॥31॥

आकाश की धारणा करते समय एक मात्रा तक तथा स्वयं ओंकार (प्रणव) की धारण करते समय अर्धमात्रा के परिमाण में ध्यान या उच्चारण करना चाहिए । मन से फिर उसे जोड़कर आत्मा के द्वारा अन्तःकरण में ही उसका चिन्तन करना चाहिए ।

त्रिंशत्सार्धाङ्गुलः प्राणो यत्र प्राणैः प्रतिष्ठितः ।
एष प्राण इति ख्यातो बाह्यप्राणस्य गोचरः ॥32॥

मूलाधार से कण्ठ तक साढे तीस अंगुलि के परिमाण का यह प्राण श्वासों के रूप में जिसमें प्रतिष्ठित हुआ है, वही वास्तविक प्राण है और बाह्य प्राण का वह विषय है ।

अशीतिश्च शतं चैव सहस्त्राणि त्रयोदश ।
लक्षश्चैको विनिश्वास अहोरात्रप्रमाणतः ॥33॥

इस बाह्य प्राण में एक लाख तेरह हजार छः सौ अस्सी निःश्वासों (श्वास-प्रश्वासों) का आवागमन एक रात और दिन में होता है।

प्राण आद्यो हृदि स्थाने अपानस्तु पुनर्गुदे।
समानो नाभिदेशे तु उदानः कण्ठमाश्रितः ॥34॥

आदि प्राण हृदय में, अपान गुदा में, समान नाभिदेश में और उदान कण्ठ में रहता है।

व्यानः सर्वेषु चाङ्गेषु व्याप्य तिष्ठति सर्वदा।
अथ वर्णास्तु पञ्चानां प्राणादीनामनुक्रमात् ॥35॥

व्यान सदैव सभी अंगों में व्याप्त होकर रहता है। अब पाँचों प्राणों के वर्ण क्रमशः कहे जाते हैं।

रक्तवर्णो मणिप्रख्यः प्राणवायुः प्रकीर्तितः।
अपानस्तस्य मध्ये तु इन्द्रकोपसमप्रभः ॥36॥

प्राणवायु को लाल मणि के समान लाल वर्ण का कहा गया है और अपानवायु को गुदा के बीचोबीच इन्द्रगोप (बीरबहूटी) नामक गाढे लाल रंग वाले एक बरसाती कीड़े के रंग का माना गया है।

समानस्तु द्वयोर्मध्ये गोक्षीरधवलप्रभः।
अपाण्डुर उदानश्च व्यानो ह्यर्चिसमप्रभः ॥37॥

इन दोनों के बाद समान गाय के दूध जैसा सफेद रंगवाला है और उदान फीके पीले रंग वाला है, तथा व्यान अग्निज्वाला जैसे रंगवाला है।

यस्येदं मण्डलं भित्वा मारुतो याति मूर्धनि।
यत्र कुत्र म्रियेद्वापि न स भूयोऽभिजायते ॥
न स भूयोऽभिजायत इत्युपनिषत् ॥38॥

इत्यमृतनादोपनिषत् समाप्ता।

इस वायुमण्डल को भेदकर जिस साधक (योगी) का प्राण ब्रह्मरन्ध्र में पहुँच जाता है, वह जहाँ कहीं पर भी मरे, तो वह फिर से नहीं जन्मता, नहीं जन्मता।

यहाँ अमृतनाद उपनिषत् पूरी हुई।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ……… मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

❉

(22) अथर्वशिर उपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

यह अथर्ववेदीय उपनिषद् है। इसमें देवों की रुद्रस्वरूप के विषय में जिज्ञासा, रुद्रैकत्व का प्रतिपादन, रुद्र की सर्वात्मता, रुद्रज्ञान का फल आदि विषय हैं। देवों की रुद्रस्तुति, देवों की रुद्रप्रार्थना, आदि के साथ शंकर, प्रणव, सर्वव्यापिता, अनन्त, तार, सूक्ष्म, वैद्युत्, परब्रह्म, एक, एकोरुद्र, ईशान, भगवत् महेश्वर महादेव आदि शब्दों के अर्थ भी स्पष्ट किए गए हैं। रुद्र की व्यापकता, उपासना का फल, तृष्णावालों के लिए शान्ति के उपाय, महापाशुपत का व्रत आदि विषय भी दिए गए हैं। छोटी-मोटी 70 गद्यकण्डिकाएँ इस उपनिषत् में शामिल हैं। इसकी तीन-चार प्रकार की वाचनाएँ मिलती हैं।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः श‍ृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

हे देवो ! हम अपने कानों से केवल कल्याणकारी बातें ही सुना करें। जिन्हें हम पूजते है, ऐसे हे देवो ! हम अपनी आँखों से केवल शुभ दृश्यों को ही देखा करें। हम अपने सुदृढ़ अंगों से युक्त शरीर के द्वारा आयुष्यपर्यन्त आपकी स्तुति करते रहें। हम देवों का दिया हुआ जितना आयुष्य है, उसे भोगते रहें।

त्रिविध (आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक) तापों की शान्ति हो।

ॐ स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

महान् कीर्तिशाली इन्द्र हमारा कल्याण करें। सर्वज्ञ पूषा देवता हमारा कल्याण करें। अरिष्टनेमि, (अप्रतिहतगति) गरुडदेव और बृहस्पति हमारा कल्याण करें। हमारे त्रिविध तापों की शान्ति हो।

देवा ह वै स्वर्ग लोकमगमंस्ते देवा रुद्रमपृच्छन्—को भवानिति॥1॥

देवगण स्वर्गलोक में गए और वहाँ जाकर रुद्र से उन्होंने पूछा—आप कौन हैं ?

सोऽब्रवीदहमेकः प्रथममासं वर्तामि भविष्यामि च। नान्यः कश्चिन्मत्तो व्यतिरिक्त इति॥2॥

उसने कहा—'मैं अकेला ही था, अभी भी हूँ और भविष्य में भी होऊँगा। मुझसे अतिरिक्त कोई है ही नहीं'।

सोऽन्तरादन्तरं प्राविशत् दिशश्चान्तरं प्राविशत्॥3॥

जो भीतर से भी भीतर प्रविष्ट हुआ है, जो दिशाओं के भीतर भी प्रविष्ट है (वह मैं ही हूँ)।

सोऽहं नित्यानित्योऽहं व्यक्ताव्यक्तो ब्रह्माहमब्रह्माहं प्राञ्चः प्रत्यञ्चोऽहं दक्षिणाञ्चोदञ्चोऽहमधश्चोर्ध्वं चाहं दिशश्च प्रतिदिशश्चाहं पुमानपुमान् स्त्रियश्चाहं गायत्र्यहं सावित्र्यहं सरस्वत्यहं त्रिष्टुब्जगत्यनुष्टुप् चाहं छन्दोऽहं गार्हपत्यो दक्षिणाग्निराहवनीयोऽहं सत्योऽहं गौरहं गौर्यहमृगहं यजुरहं सामाहमथर्वाङ्गिरसोऽहं ज्येष्ठोऽहं श्रेष्ठोऽहं वरिष्ठोऽहमपापोऽहं तेजोऽहं गुह्योऽहमरण्योऽहमक्षरमहं क्षरमहं पुष्करमहं पवित्रमहमग्रं च मध्यं च बहिश्च पुरस्ताज्ज्योतिरित्यहमेव च सर्वे मामेव ॥4॥

नित्य-अनित्य, व्यक्त-अव्यक्त, ब्रह्म-अब्रह्म–सब मैं ही हूँ। मैं ही पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व, अधो आदि दिशाएँ तथा विदिशाएँ भी हूँ। पुरुष, अपुरुष और स्त्री भी मैं हूँ। मैं ही गायत्री, सावित्री और सरस्वती हूँ। त्रिष्टुप्, जगती, अनुष्टुप् आदि छन्द भी मैं ही हूँ। गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि तथा आहवनीय अग्नि भी मैं ही हूँ। सत्य, गौ, गौरी, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद मैं ही हूँ। ज्येष्ठ, श्रेष्ठ, वरिष्ठ और निष्पाप मैं हूँ। मैं जल हूँ, मैं तेज हूँ, क्षर-अक्षर भी मैं हूँ। छिपाने योग्य और छिपाया हुआ भी मैं हूँ। मैं पवित्र हूँ। अग्र, मध्य, बाहर, सामने, दसों दिशाओं में अवस्थित और अनवस्थित ज्योतिरूप शक्ति मुझे ही मानना चाहिए।

मां यो वेद सर्वान् देवान् वेद। गां गोभिर्ब्राह्मणान् ब्राह्मण्येन हवींषि हविषाऽऽयुरायुषा सत्यं सत्येन धर्मं धर्मेण तर्पयामि तर्पयामि ॥5॥

इस प्रकार जो मुझे जानता है वह समस्त देवों को जानता है। मैं गाय को गोत्व से, ब्राह्मणों को ब्राह्मणत्व से, हवि को हविष्य से, आयु को आयुष से, सत्य को सत्य से और धर्म को धर्म से सन्तुष्ट करता हूँ। (कहीं पर 'देवान् वेद' के पश्चात् 'सर्वांश्च वेदान्सांगानपि'—ऐसा पाठ भी मिलता है, वहाँ पर 'अंग सहित सभी वेदों को भी' इतना अधिक जोड़ देना चाहिए)।

स्वेन तेजसा ततो देवा रुद्रं नापश्यन्। ते देवा रुद्रं ध्यायन्ति। ततो देवा ऊर्ध्वबाहवः स्तुवन्ति–ॐ यो ह वै देवः स भगवान् यश्च ब्रह्मा भूर्भुवः स्वः तस्मै वै नमो नमः। शीर्षञ्जनर्दो विश्वरूपोऽसि ॥6॥

प्रौढ प्रकाशवाले उसके तेज की वजह से देवलोग उस रुद्र को देख न पाए। इसलिए वे उसका ध्यान करने लगे। तब वे अपने हाथ ऊँचे करके ऐसी स्तुति करने लगे—'जो देव रुद्र भगवान् हैं, वे ही ब्रह्मा है, वह विश्वरूप है।' (इस स्तुतिमंत्र के पहले 'ॐ भूर्भुवः स्वः' ऐसी व्याहृतियाँ और अन्त में 'तस्मै नमो नमः'—ऐसा पद जोड़कर मंत्र पूर्ण करना चाहिए)।

ॐ यो वै रुद्रः स भगवान् यश्च ब्रह्मा तस्मै वै नमो नमः ॥7॥
ॐ यो वै रुद्रः स भगवान् यश्च विष्णुः तस्मै वै नमो नमः ॥8॥
ॐ यो वै रुद्रः स भगवान् यश्च स्कन्दः तस्मै वै नमो नमः ॥9॥
ॐ यो वै रुद्रः स भगवान् यश्चेन्द्रः तस्मै वै नमो नमः ॥10॥
ॐ यो वै रुद्रः स भगवान् यश्चाग्निः तस्मै वै नमो नमः ॥11॥
ॐ यो वै रुद्रः भगवान् यश्च वायुः तस्मै वै नमो नमः ॥12॥
ॐ यो ह वै रुद्रः स भगवान् यश्च विनायकः तस्मै वै नमो नमः ॥13॥

ॐ यो ह वै रुद्रः स भगवान् या चोमा तस्मै वै नमो नमः ॥14॥
ॐ यो ह वै रुद्रः स भगवान् यश्च महेश्वरः तस्मै वै नमो नमः ॥15॥
ॐ यो ह वै रुद्रः स भगवान् यश्च भूः तस्मै वै नमो नमः ॥16॥
ॐ यो ह वै रुद्रः स भगवान् यश्च भुवः तस्मै वै नमो नमः ॥17॥
ॐ यो ह वै रुद्रः स भगवान् यश्च सुवः तस्मै वै नमो नमः ॥18॥
ॐ यो ह वै रुद्रः स भगवान् यश्च महः तस्मै वै नमो नमः ॥19॥
ॐ यो ह वै रुद्रः स भगवान् यश्च जनः तस्मै वै नमो नमः ॥20॥
ॐ यो ह वै रुद्रः स भगवान् यश्च तपः तस्मै वै नमो नमः ॥21॥
ॐ यो ह वै रुद्रः स भगवान् यश्च सत्यं तस्मै वै नमो नमः ॥22॥
ॐ यो ह वै रुद्रः स भगवान् या च पृथिवी तस्मै वै नमो नमः ॥23॥
ॐ यो ह वै रुद्रः स भगवान् याश्चापः तस्मै वै नमो नमः ॥24॥
ॐ यो ह वै रुद्रः स भगवान् यच्च तेजः तस्मै वै नमो नमः ॥25॥
ॐ यो ह वै रुद्रः स भगवान् यश्च वायुः तस्मै वै नमो नमः ॥26॥
ॐ यो ह वै रुद्रः स भगवान् यश्च आकाशं तस्मै वै नमो नमः ॥27॥
ॐ यो ह वै रुद्रः स भगवान् यश्च सूर्यः तस्मै वै नमो नमः ॥28॥
ॐ यो ह वै रुद्रः स भगवान् यश्च सोमः तस्मै वै नमो नमः ॥29॥
ॐ यो ह वै रुद्रः स भगवान् यानि च नक्षत्राणि तस्मै वै नमो नमः ॥30॥
ॐ यो ह वै रुद्रः स भगवान् ये चाष्टौ ग्रहाः तस्मै वै नमो नमः ॥31॥
ॐ यो ह वै रुद्रः स भगवान् यश्च प्राणः तस्मै वै नमो नमः ॥32॥
ॐ यो ह वै रुद्रः स भगवान् यश्च कालः तस्मै वै नमो नमः ॥33॥
ॐ यो ह वै रुद्रः स भगवान् यश्च यमः तस्मै वै नमो नमः ॥34॥
ॐ यो ह वै रुद्रः स भगवान् यश्च मृत्युः तस्मै वै नमो नमः ॥35॥
ॐ यो ह वै रुद्रः स भगवान् यश्चामृतं तस्मै वै नमो नमः ॥36॥
ॐ यो ह वै रुद्रः स भगवान् यच्च भूतं, भव्यं वर्तमानं तस्मै वै नमो नमः ॥37॥
ॐ यो ह वै रुद्रः स भगवान् यश्च विश्वं तस्मै वै नमो नमः ॥38॥
ॐ यो ह वै रुद्रः स भगवान् यच्च कृत्स्नं सर्वं सत्यं तस्मै वै नमो नमः ॥39॥

(अब 7 से 39 मंत्रों की स्तुति दी जा रही है—)

हे भगवान् रुद्र ! आप ब्रह्मा, विष्णु, स्कन्द, इन्द्र, अग्नि, वायु, विनायक, उमा, महेश्वर, भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्य, पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, ग्रह, प्राण, काल, यम, मृत्यु, अमृत, भूत-भव्य-वर्तमान, विश्व, कृत्स्न-सर्व-सत्य स्वरूप हैं। ऐसे आप (सर्वरूप) को हम बार-बार नमस्कार करते हैं।

[अलग-अलग वाचनाओं में इस प्रार्थना के विशेषणों का क्रम अव्यवस्थित-सा (उल्टा-सीधा) मिलता है। प्रार्थना के कुछ विशेषणों में भी भारी भेद देखा गया है। यहाँ किसी विशेषण की पुनरावृत्ति न हो और जो विशेषण सामान्यतः सभी आवृत्तियों में पाए जाते हैं उन्हीं का संग्रह करके यथासम्भव

प्रामाणिक सूची बनाने का प्रयास किया गया है तथा यथासाध्य उनके क्रम का भी रक्षण करने का प्रयास किया गया है।]

ब्रह्मैकस्त्वं द्वित्रिधोर्ध्वमधश्च त्वं शान्तिश्च त्वं पुष्टिश्च त्वं तुष्टिश्च त्वं हुतमहुतं विश्वमविश्वं दत्तमदत्तं कृतमकृतं परमपरं परायणं चेति ॥40॥

तू ही एकमात्र ब्रह्म है। दो-तीन आदि संख्या भी तू ही है। ऊपर-नीचे भी तू ही है। तू ही शान्ति, पुष्टि, तुष्टि, हुत-अहुत, विश्व-अविश्व, दान-अदान, सकाम-निष्काम कर्म और सबका परम आश्रय भी तू ही है। (कुछ वाचनाओं में 'भूस्ते आदिर्मध्यं भुवस्ते स्वस्ते शीर्षम्'—यह अधिक पाठ है। इसका अर्थ यह है—हे भगवन्! ये 'भूर्लोक' आपका आदि, 'भुवः' आपका मध्य और 'स्वः' आपका मस्तक है)।

अपाम सोमममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवान्।
किं नूनमस्मान् कृणवदरातिः किमु धूर्तिरमृत मर्त्यस्य ॥41॥

हे अमृतस्वरूप रुद्र! आपकी कृपा से हम सोमरस का पान करें, हम उससे अमर हो जाएँ, हम ज्ञानरूप ज्योति को प्राप्त करें, हम देवताओं को पहचानें। अब हमारा शत्रु हमें क्या क्षति पहुँचा सकता है? मरणशील मुझे दुष्कृति भी तो (आपका अनुग्रह होने पर) क्या कर सकती है?

(सोमसूर्यपुरस्तात् सूक्ष्मः पुरुषः।) सर्वजगद्धितं वा एतदक्षरं प्राजापत्यं सौम्यं सूक्ष्मं पुरुषमग्राह्यमग्राह्येण वायुं वायव्येन सोमं सौम्येन ग्रसति स्वेन तेजसा तस्मा उपसंहर्त्रे महाग्रासाय वै नमो नमः ॥42॥

(हे देव! आप सोम और चन्द्र से भी पहले के सूक्ष्म पुरुष हैं।) यह अक्षर (आप) सर्व जगत् का हित करनेवाला, प्रजापतियों के द्वारा स्तवनीय, सूक्ष्म सौम्य पुरुष हैं, जो अपने तेज से अग्राह्य को अग्राह्य से, भाव को भाव से, सौम्य को सौम्य से, सूक्ष्म को सूक्ष्म से, वायु को वायु से ग्रस लेते हैं। ऐसे महाग्रास करनेवाले आप रुद्र भगवान् को नमस्कार है। नमस्कार है।

हृदिस्था देवताः सर्वा हृदि प्राणाः प्रतिष्ठिताः।
हृदि त्वमसि यो नित्यं तिस्रो भावाः परस्तु सः ॥43॥

आपके हृदय में ही सभी देवता निवास करते हैं, प्राण भी आपके हृदय में प्रतिष्ठित हैं। हृदय में रहते हुए आप तीनों (अ, उ, म) मात्राओं से परे ही हैं।

तस्योत्तरतः शिरो दक्षिणतः पादौ य उत्तरतः स ओङ्कारः, स प्रणवः स सर्वव्यापी, यः सर्वव्यापी सोऽनन्तो योऽनन्तो तत्तारं यत्तारं तत् सूक्ष्मं यत् सूक्ष्मं तच्छुक्लं यच्छुक्लं तद्वैद्युतं यद्वैद्युतं तत् परं ब्रह्म यत् परं ब्रह्म स एकः य एकः स रुद्रः यो रुद्रः स ईशानो य ईशानः स भगवान् महेश्वरः (स भगवान् महादेवः) ॥44॥

हृदय में रहते हुए उसका सिर उत्तर में है, दोनों चरण दक्षिण में हैं, वह ओंकार है। उसे ही 'प्रणव' कहते हैं। वही सर्वव्यापी है, सर्वव्यापी ही अनन्त है, अनन्त ही तारक है, जो तारक है वही सूक्ष्म है, जो सूक्ष्म है वही शुक्ल है, जो शुक्ल है वही विद्युत् है, जो विद्युत है वही परब्रह्म है, जो

परब्रह्म है वही एकरूप है जो एकरूप है वही रुद्र है, जो रुद्र है वही ईशान रूप है, जो ईशानरूप है वही भगवान् महेश्वररूप है (वही भगवान् महादेव है)।

अथ कस्मादुच्यत ओङ्कारो यस्मादुच्चार्यमाण एव प्राणानूर्ध्वमाक्रमयति तस्मादुच्यत ओङ्कारः ॥45॥

ठीक, तो उसे 'ओंकार' क्यों कहा जाता है? इसीलिए कि उच्चारण किये जाने से प्राणों को ऊँचे खींचना पड़ता है। इसलिए उसे 'ओङ्कार' कहा जाता है।

अथ कस्मादुच्यते प्रणवो यस्मादुच्चार्यमाण एव ऋग्यजुःसामाथर्वाङ्गि-रसो ब्रह्म ब्राह्मणेभ्यः प्रणामयति नामयति च तस्मादुच्यते प्रणवः ॥46॥

तब उसे 'प्रणव' क्यों कहा जाता है ? इसलिए कि उसका उच्चारण किए जाने पर ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेदांगिरस और ब्राह्मणों को प्रणाम करवाया जाता है। अर्थात् इसका उपयोग उनको नमस्कार करवाने के लिए किया जाता है, इसलिए उसे प्रणव कहा जाता है।

अथ कस्मादुच्यते सर्वव्यापीति यस्मादुच्चार्यमाण एव सर्वाल्लोकान् व्याप्नोति स्नेहो यथा पललपिण्डमिव शान्तरूपमोतप्रोतमनुप्राप्तो व्यतिषिक्तश्च तस्मादुच्यते सर्वव्यापी ॥47॥

तो फिर वह 'सर्वव्यापी' क्यों कहा जाता है ? इसलिए कि उसका उच्चारण किए जाने पर वह सभी लोकों में व्याप्त हो जाता है। जैसे (काष्ठ में अग्नि या) तिल में तेल के समान वह सबमें व्याप्त हो जाता है, उसी तरह यह आत्मा सबको जोड़े हुए सबमें एक साथ रहता है। इसलिए इसे सर्वव्यापी कहा गया है।

अथ कस्मादुच्यते अनन्तो यस्मादुच्चार्यमाण एवाद्यन्तं नोपलभ्यते। तिर्यगूर्ध्वमधस्तात्तस्मादुच्यते अनन्त इति ॥48॥

इसे 'अनन्त' क्यों कहा जाता है ? इसलिए कि इसका उच्चारण करने से ही उच्चारणरूप अविद्या कार्य का अन्त-आदि होने पर भी उस उच्चरित का आदि और अन्त नहीं देखा जाता है। अतः यह 'अनन्त' ऐसा कहा गया है।

अथ कस्मादुच्यते तारं यस्मादुच्चार्यमाण एव गर्भजन्मजरामरण-संसारमहाभयात् संतारयति तस्मादुच्यते तारम् ॥49॥

इसे 'तार' क्यों कहा जाता है ? इसलिए कि इसके उच्चारण करने मात्र से ही वह गर्भवास, जन्म, जरा, मरण, संसार के महाभय से तार देता है अर्थात् छुटकारा प्राप्त करा देता है, इसलिए उसे 'तार' कहा जाता है।

अथ कस्मादुच्यते सूक्ष्मं यस्मादुच्चार्यमाण एव सूक्ष्मो भूत्वा परशरीरा-ण्येवाधितिष्ठति तस्मादुच्यते सूक्ष्मम् ॥50॥

उसे 'सूक्ष्म' क्यों कहा जाता है ? इसलिए कि उसका उच्चारण करने से साधक सूक्ष्म होकर अन्यों के शरीर में भी अधिष्ठित रह सकता है। इसीलिए वह सूक्ष्म कहा जाता है।

अथ कस्मादुच्यते शुक्लं यस्मादुच्चार्यमाण एव क्लन्दते क्लामयते तस्मादुच्यते शुक्लम् ॥51॥

उसे तब 'शुक्ल' क्यों कहा जाता है ? इसलिए कि उसका उच्चारण करने से अपने रूप से वह प्रकाशित हो जाता है तथा अन्य विषयों को भी प्रकाशित कर देता है, इसलिए उसे शुक्ल (प्रकाशरूप–स्वयंप्रकाश) कहा जाता है।

अथ कस्मादुच्यते वैद्युतं यस्मादुच्चार्यमाण एवातितमसि शरीरं विद्योतयति तस्मादुच्यते वैद्युतम् ॥52॥

उसे 'वैद्युत' क्यों कहा जाता है? इसलिए कि उसका उच्चारण करने से ही गाढ तमस् (अन्धकार) में रहा हुआ शरीर प्रकाशित हो उठता है। गाढ अज्ञानान्धकार में नहीं दीखने वाला आत्मतत्त्व 'नेति नेति' की 'अतद्व्यावृत्ति' से प्रकाशित होता है।

अथ कस्मादुच्यते परं ब्रह्म यस्मादुच्चार्यमाण एव बृहति बृंहयति तस्मा-दुच्यते परं ब्रह्म ॥53॥

तब इसे 'परब्रह्म' क्यों कहा जाता है ? इसलिए कि इसका उच्चारण करने से ही वह अपने से अतिरिक्त बाकी सबका भक्षण कर लेता है, और स्वयं सर्वोत्कृष्ट भाव से रहता है इसलिए उसे परब्रह्म कहा जाता है।

अथ कस्मादुच्यत एको यः सर्वान् लोकानुद्गृह्णात्यजस्त्रं सृजति विसृजति वासयति तस्मादुच्यत एकः ॥54॥

अब उसे 'एक' क्यों कहा जाता है ? इसलिए कि वह सभी लोकों का उपसंहार करता है। बार-बार सर्जन करता रहता है। स्थूल-सूक्ष्म रूप से ऐसा बार-बार करता रहता है और जगत् की स्थूल-सूक्ष्म भाव से स्थिति भी करता रहता है। अर्थात् स्वयं सर्वश्रेष्ठ होकर अन्य का सर्जन-विसर्जन करता ही रहता है।

कहीं-कहीं उक्त मंत्र के बदले नीचे दिया गया मंत्र मिलता है—

[अथ कस्मादुच्यत एको यः सर्वान्प्राणान्सम्भक्ष्य सम्भक्षणेनाजः संसृजति विसृजति च। तीर्थमेके व्रजन्ति तीर्थमेके दक्षिणाः प्रत्यञ्च उदञ्चः प्राञ्चोभिव्रजन्त्येके तेषां सर्वेषामिह संगतिः। साकं एको भूतश्चरति तस्मादुच्यत एकः।]

[इस परमतत्त्व ब्रह्म को 'एक' इसलिए कहा जाता है कि वह सभी प्राणियों का भक्षण करके, स्वयं अजन्मा रहते हुए उत्पत्ति और विनाश करता रहता है। समस्त तीर्थों में वह 'एक' ही विद्यमान तत्त्व होता है। बहुत से लोग पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण आदि दिशाओं में परिभ्रमण किया करते हैं। वहाँ भी उनकी सद्गति का कारण तो यह 'एक' ही तत्त्व है। समस्त प्राणियों में एकरूप से निवास करते हुए अवस्थित होने से 'एक' कहा जाता है।]

अथ कस्मादुच्यते रुद्रः ? एक एव रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः इमान् लोकानीशत ईशनीयुर्जननीयुः। प्रत्यञ्जनास्तिष्ठति सञ्चुकोचान्तकाले, संसृज्य विश्वा भुवनेषु गोप्ता। तस्मादुच्यत एको रुद्रः ॥55॥

इस रुद्र को 'एकरुद्र' क्यों कहा गया है? इसलिए कि वह एक ही रुद्र है, उसके अतिरिक्त अविद्या कार्य है ही नहीं। फिर भी मूल बीज के अंश के योग से ईश्वरत्व को धारण करके वह इन लोकों के ऊपर शासन चलाता है। ये सब लोक ईश्वर से ही उत्पन्न हों और ईश्वर के द्वारा ही अपने-अपने कार्यों को करने में समर्थ हों। यह ईश्वर प्रत्येक मनुष्य के हृदय में रहता है। प्रलयकाल में विश्व का संहार करके फिर सृष्टिकाल में उसका सर्जन करता है और रक्षण करता है।

कहीं-कहीं यह मंत्र अधिक मिलता है—

[अथ कस्मादुच्यते रुद्रः यस्मादृषिभिर्नान्यैर्भक्तैर्द्रुतमस्य रूपमुपलभ्यते। तस्मादुच्यते रुद्रः ॥]

[अर्थात् इसे रुद्र क्यों कहा जाता है ? इसलिए कि इसका रूप ऋषियों द्वारा ही देखा जा सकता है, भक्तों के द्वारा नहीं, इसलिए इसे रुद्र कहा गया है।]

अथ कस्मादुच्यत ईशानो यः सर्वान् लोकानीशत ईशनीभिः। जननीभिः परमशक्तिभिः ॥56॥

उसे 'ईशान' क्यों कहा जाता है ? इसलिए कि वह समस्त देवों तथा उनकी शक्तियों पर अपना प्रभुत्व रखता है। इसे 'ईशान' क्यों कहा जाता है ? इसलिए कि वह समस्त देवों और मनुष्यों की शक्तियों पर अपना वर्चस् रखता है।

अभि त्वा शूर नो नुमो दुग्धा इव धेनवः।
ईशानमस्य जगतः सुवर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषः ॥
तस्मादुच्यत ईशानः ॥57॥

इसलिए हे रुद्र ! शूर-वीर ऐसे आपकी हम इस प्रकार स्तुति करते हैं जिस प्रकार दूध प्राप्त करने के लिए गायों को प्रसन्न किया जाता है। हे रुद्र ! आप ही इन्द्ररूप होकर स्थावर-जंगम संसार के ईश हैं और दिव्यदृष्टि से सम्पन्न हैं, इसी कारण आपको 'ईशान' नाम से सम्बोधित किया जाता है।

अथ कस्मादुच्यते भगवान् यः सर्वान् भावान् निरीक्षित्यात्मज्ञानं निरीक्ष्यति योगं गमयति तस्मादुच्यते भगवान् ॥58॥

अब 'भगवान्' क्यों कहा जाता है ? इसलिए कि वह अपने ही अंश से उत्पन्न हुए सभी भावों को (जीवों को जीवभाव से) मुक्त करके फिर अपने साथ ऐक्य की प्राप्ति के लिए योग्य उपदेश और साधना की ओर प्रेरित करते हैं, इसलिए भगवान् कहा गया है।

अथ कस्मादुच्यते महेश्वरो यः सर्वान् लोकान् सम्भक्षः। सम्भक्षयत्यजस्रं सृजति विसृजति वासयति तस्मादुच्यते महेश्वरः ॥59॥

उसे 'महेश्वर' क्यों कहा जाता है ? इसलिए कि वह सभी लोगों का (लोकों का भी) उपसंहर्ता है। वह निरन्तर संहार करता रहता है, निरन्तर सर्जन करता रहता है फिर से बार-बार विसर्जन करता रहता है तथा सब लोगों को टिकाए भी रखता है इसीलिए उसका नाम महेश्वर कहा गया है।

[58, 59 और 60—इन तीन मंत्रों को सम्मिलित करके (एक मंत्र बना करके) कहीं-कहीं पर संयुक्त अर्थ किया गया है, पर उसमें स्पष्टता नहीं दिखती।]

अथ कस्मादुच्यते महादेवो यः सर्वान् भावान् परित्यज्यात्मज्ञानयोगैश्वर्ये महति महीयते तस्मादुच्यते महादेवः ॥60॥

उसे 'महादेव' क्यों कहा गया है ? इसलिए कि वह अपने सिवा सभी अस्तित्वों को छोड़कर आत्मज्ञानरूपी योगैश्वर्य में आनंद लेता है, इसीलिए उसे 'महादेव' कहा गया है।

तदेतद्वृदचरिम्—
एको हि देवः प्रदिशो नु सर्वाः पूर्वो हि जातः स उ गर्भे अन्तः।
स विजायमानः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ्‌जनास्तिष्ठति विश्वतोमुखः ॥61॥

एक ही ऐसा देवता है, जो समस्त दिशाओं में निवास करता है। सर्वप्रथम उसी का आविर्भाव हुआ है। मध्य में और अन्त में वही अवस्थित रहता है। वही उत्पन्न होता है और भविष्य में भी वही उत्पन्न होगा। वही सबमें व्याप्त होकर रहा है। वह सभी जगह मुँहवाला है।

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति सम्पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ॥62॥

चारों ओर आँखों वाला, चारों ओर मुखवाला, चारों ओर हाथोंवाला, चारों ओर पैरों वाला वह रुद्र ही अपने हाथों से सभी प्राणियों का संयोजन (व्यवस्था) अकेला ही करता है। सचमुच ही वह एक ही होकर चलाता है।

एतदुपासितव्यं यद्वाचो वदन्ति तदेव ग्राह्यम्।
अयं पन्था वितत उत्तरेण येन देवा येन ऋषयो येन पितरः प्राप्नुवन्ति
परमपरं नारायणं च ॥63॥

जिसके सम्बन्ध में श्रुतियाँ कहती हैं वही ब्रह्म उपासना करने योग्य है, वही ग्रहण करने योग्य है। यही एकमात्र मार्ग उत्तर का मार्ग सुप्रसिद्ध है कि जिसके द्वारा देव, ऋषि, पितर नारायणरूप परमपद को प्राप्त होते हैं।

बालाग्रमात्रं हृदयस्य मध्ये विश्वं देवं जातवेदं वरेण्यम्।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥64॥

हृदय के बीच बाल की नोंक के समान सूक्ष्म, स्वप्रकाश, विश्व, सर्वज्ञ और वरणीय देव को जो धीर पुरुष देख लेते हैं, उन्हीं को शाश्वत शान्ति मिलती है। अन्य लोगों को ऐसी शान्ति नहीं मिलती।

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको येनेदं पूर्णं पञ्चविधं च सर्वम्।
तमीशानं पुरुषं देवमीड्यं निदिध्या(या)त्तारं शान्तिमत्यन्तमेति ॥65॥

जो अकेला रहकर भी विविध शरीरों में अधिष्ठित रहता है, जिसके द्वारा यह पंचभूतात्मक जगत् व्याप्त रहता है, ऐसे ईश्वर (शासक) पूजनीय (स्तवनीय) पुरुष का (परमात्मा का) निदिध्यासन (ध्यान) करना चाहिए और वह साधक परमोच्च शान्ति (कैवल्य) को प्राप्त करता है।

प्राणेष्वन्तर्मनसो लिङ्गमाहुर्यस्मिन् क्रोधो या च तृष्णाऽक्षमा च।
तृष्णां छित्त्वा हेतुजालस्य मूलं बुद्ध्या सञ्चिन्त्य स्थापयित्वा तु रुद्र
एकत्वमाहुः ॥66॥

सभी प्राणियों के हृदय में क्रोध, तृष्णा और अक्षमा आदि मन का चिह्न है, ऐसा तत्त्वज्ञानी लोग कहते हैं। उनमें से संसार के हेतुरूप जाल का कारण जो तृष्णा है, उसे काटकर, बुद्धि से सोचकर और मन में जो स्थापित किया जाता है वही हे रुद्र ! एकत्व है।

रुद्र शाश्वतं वै पुराणमिषमूर्जं तपसा नियच्छत। व्रतमेतत् पाशुपतम्। अग्निरिति भस्म वायुरिति भस्म जलमिति भस्म स्थलमिति भस्म व्योमेति भस्म। सर्वं ह वा इदं भस्म मन इत्यानि चक्षूंषि भस्मानीत्य-ग्निरित्यादिना भस्म गृहीत्वा विसृज्याङ्गानि संस्पृशेत्तस्माद् व्रतमेतत् पाशुपतम् ॥67॥

अरे स्वयं को नहीं जानने वाले लोगो ! तुम लोग मन में ऐसा निश्चय कर लो कि–'जो कुछ शाश्वत है, (इषम् =) इच्छामय है, ऊर्जस्वी है, वह सब रुद्र ही है।' यह पाशुपत व्रत है। इस शाश्वत रुद्र—परमात्मा के सिवा अग्नि, वायु, जल, थल, यह समस्त जगत् और मन-इन्द्रियादि सब कुछ भस्म ही है, ऐसा अग्नि आदि मंत्र से सबको भस्म (तुच्छ ही) मानकर इन सबका त्याग करके अपने अंगों का स्पर्श करना चाहिए। इसलिए यह पाशुपत व्रत कहा गया है।

पशुपाशविमोक्षाय योऽथर्वशिरसं ब्राह्मणोऽधीते सोऽग्निपूतो भवति, स वायुपूतो भवति। स आदित्यपूतो भवति। स सोमपूतो भवति। स सत्यपूतो भवति। स सर्वपूतो भवति। स सर्वेषु तीर्थेषु स्नातो भवति। स सर्वेषु वेदेष्वधीतो भवति। स सर्ववेदव्रतचर्यासु चरितो भवति। स सर्वैर्देवैर्ज्ञातो भवति। स सर्वयज्ञक्रतुभिरिष्टवान् भवति। तेनेतिहास-पुराणानां रुद्राणां शतसहस्राणि जप्तानि भवन्ति। गायत्र्याः शतसहस्रं जप्तं भवति। प्रणवानामयुतं जप्तं भवति। रूपे रूपे दश पूर्वान् पुनाति। दशोत्तरानाचक्षुषः पङ्क्तिं पुनातीत्याह भगवानथर्वशिरोऽथर्वशिरः। सकृज्जप्त्वा शुचिः पूतः कर्मण्यो भवति। द्वितीयं जप्त्वा गाणपत्यम-वाप्नोति। तृतीयं जप्त्वा देवमनुप्रविशत्यों सत्यम् ॥68॥

पशु के पाशों से छूटने के लिए जो ब्राह्मण इस अथर्वशीर्ष का पाठ करता है, वह अग्नि के समान, वायु के समान, सूर्य के समान, चन्द्र के समान, पवित्र और निर्मल हो जाता है। वह सत्य की तरह शुद्ध होता है। वह सभी में पवित्र, सभी तीर्थों में स्नान किया हुआ होता है, वह सब वेदों का जानकार होता है, वह वेदों में विहित सभी व्रताचरण का आचरने वाला होता है, सभी देवों के द्वारा वह जाना गया होता है। उसने सब यज्ञ सत्कर्मादि कर लिए हैं, उसने इतिहास-पुराणों और रुद्रमंत्रों के लाख जप किए हैं, पुराणों के अयुतसंख्या में जाप किए हैं, गायत्री के लाख जप उसने किए हैं। उसने ॐकार का अयुत जप किया है, वह अपने पूर्व की दश पीढ़ियों का और आगे की दश की पीढ़ियों का उद्धार कर देता है। उसके दर्शन से लोग पवित्र होते हैं। यह सब भग्रवान् अथर्वशिर ने कहा है। इस उपनिषद् का एक बार पाठ करने से मनुष्य पवित्र, निर्मल और सर्वकर्मकृत होता है। दो बार पाठ करके मनुष्य गाणपत्य को प्राप्त हो जाता है और तीसरी बार जाप करके मनुष्य देव में अनुप्रविष्ट हो जाता है। ऐसा अवश्य होता है, यह सत्य ही है, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता।

यो रुद्रो अग्नौ यो अप्स्वन्तर्य ओषधीर्वीरुध आविवेश।
य इमा विश्वा भुवनानि चक्लृपे तस्मै रुद्राय नमो अस्तु ॥69॥

जो रुद्र अग्नि में रहते हैं, जो पानी में रहते हैं वही औषधियों और लताओं में भी प्रविष्ट रहते हैं। जिसने यह सारा विश्व और अनेक लोक निर्मित किए हुए हैं, उस रुद्र देवता को मैं बार-बार नमस्कार करता हूँ।

अस्य मूर्धानमस्य संशीर्योऽथर्वा हृदयं च मन्मस्तिष्कादूर्ध्वं प्रेरयन् पव-
मानोऽथ शीर्ष्णस्तद्वाऽथर्वशिरो देवकोशः समुज्झितः तत्प्राणोऽभिरक्षतु।
नियमन्नमथो मनःश्रियमन्नमथो मनोविद्यामन्नमथो मनोविद्यामन्नमथो
मनोमोक्षमन्नमथो मनोमोक्षमन्नमथो मन इत्यों सत्यमित्युपनिषत् ॥70॥

इत्यथर्वशिर उपनिषत् समाप्ता।

जिस अथर्वा ने इस ब्रह्माण्ड का और पिण्ड ब्रह्माण्ड का मूल तक पूर्णरूप से शासन किया है, जिस सर्वपावक परमेश्वर ने प्राणसहित अन्तःकरण (हृदय) का और प्रारब्धक्षय के बाद मेरे मस्तक से ऊपर मुझे प्रेरित करके तुर्यावस्था का कोश खोल दिया है, वह परमेश्वर मेरे समाधिस्थ शरीर का रक्षण करे। जहाँ तक मेरा शरीर पृथ्वी पर रहे, वहाँ तक देहधारण के लिए उपयोगी अन्न, सुविधा, मन का स्वास्थ्य आदि परमेश्वर देते रहें। वहाँ तक मेरी ब्रह्म विद्या बनी रहे। मुझे इन सबके साथ अन्त में मोक्ष भी मिले।

इस प्रकार यहाँ अथर्वशिर उपनिषत् पूरी हुई।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः........देवहितं यदायुः। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥
ॐ स्वस्ति न इन्द्रो.......बृहस्पतिर्दधातु। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

(23) अथर्वशिखोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

यह अथर्ववेदीय उपनिषद् है। इस उपनिषद् में ॐकार मंत्र, उसके ध्यान की रीति, उसका स्वरूप, इसका अधिकारी आदि का एक निराले ढंग से प्रतिपादन किया गया है। ॐकार के चार पाद, उसकी मात्राएँ, देव, छन्द, अग्नि आदि का भी उल्लेख किया गया है। बाद में उस ॐकार के अनेक नामों की अन्वर्थकता भी बताई गई है। इसमें ॐकार की मात्राओं की जो व्याख्या की गई है, उसमें थोड़ी-सी अस्पष्टता मालूम होती है। चतुर्थ मात्रा के बारे में इसमें कहा गया है—'स्थूलह्रस्वदीर्घप्लुतः।' परन्तु इससे पहले 'चतुर्थ्यर्धमात्रा लुप्तमकारः' ऐसा पाठ निर्णयसागरीय संस्करण में मिलता है।—इन दोनों का मेल नहीं बैठता। इसके लिए ब्रह्मयोगी के विवरण का और उनके द्वारा स्वीकृत पाठ 'सोमलोक ओंकारः' का अवलम्बन करके सभी उपनिषदों के और वेदान्त के अभिमत अर्थ को बिठाने का प्रयत्न किया गया है। इस उपनिषद् के तीन खण्ड हैं।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः.........देवहितं यदायुः। (पूर्ववत्)

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (अथर्वशिर उपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

प्रथमः खण्डः

अथ हैनं पैप्पलादोऽङ्गिराः सनत्कुमारश्चाथर्वाणमुवाच-भगवन् किमादौ प्रयुक्तं ध्यानं ध्यायितव्यं किं तद्ध्यानं को वा ध्याता कश्च ध्येयः ॥1॥

तब पिप्पलाद का पुत्र अंगिरा और सनत्कुमार ने अथर्वा के पास जाकर पूछा—हे भगवन्! मुमुक्षुओं को पहले किसका ध्यान करना चाहिए? वह ध्यान क्या है? ध्यानकर्ता कौन होता है? ध्यान का ध्येय (ध्यान-विषय) क्या है?

स एभ्योऽथर्वा प्रत्युवाच—ओमित्येतदक्षरमादौ प्रयुक्तं ध्यानं ध्यायितव्यमित्येतदक्षरं परं ब्रह्मास्य पादाश्चत्वारो वेदाश्चतुष्पादिदमक्षरं परं ब्रह्म ॥2॥

तब उस अथर्वा ने इन सनत्कुमार और पैप्पलाद से कहा—सर्वप्रथम 'ओम्' इस अक्षर का ध्यान करना चाहिए। उस अक्षर को परब्रह्म समझना चाहिए। चार वेद इसके चार पाद हैं। इसलिए इस परब्रह्म को 'चतुष्पाद' कहा जाता है।

पूर्वाऽस्य मात्रा पृथिव्यकारः स ऋग्भिर्ऋग्वेदो ब्रह्मा वसवो गायत्री गार्हपत्यः ॥3॥

इसकी पहली मात्रा (अर्थात् पाद) पृथिवीरूप अकार है, वह ऋग्वेदस्वरूप है, इसके देव ब्रह्मा है, इसके गणदेवता आठ वसु हैं, इसका छन्द गायत्री है और गार्हस्पत्य अग्नि है।

द्वितीयाऽन्तरिक्षं स उकारः। स यजुर्भिर्यजुर्वेदो विष्णू रुद्रास्त्रिष्टुब्द-क्षिणाग्निः ॥4॥

इसकी दूसरी मात्रा अन्तरिक्षरूप 'उ'कार है। इसका स्वरूप यजुर्वेद है। उसके देव विष्णु हैं, और गणदेवता एकादश रुद्र हैं। इसका छन्द त्रिष्टुप् है और अग्नि दक्षिणाग्नि है।

तृतीया द्यौः स मकारः। स सामभिः सामवेदो रुद्र आदित्या जगत्या-हवनीयः ॥5॥

इसकी तीसरी मात्रा (पाद) द्यौः (द्युलोक) है। वह 'मकार' है। वह सामवेद का स्वरूप है। इसका देव रुद्र है, इसके गणदेवता बारह आदित्य हैं। इसका छन्द जगती है और इसका अग्नि आहवनीय है।

याऽवसानेऽस्य चतुर्थ्यर्धमात्रा सा सोमलोक ओंकारः। साऽथर्वणैर्मन्त्रै-रथर्ववेदः संवर्तकोऽग्निर्मरुतो विराडेकर्षिर्भास्वती स्मृता ॥6॥

अन्त में जो चौथी अर्धमात्रा है, वह सोमलोक रूप ओंकार अर्थात् बिन्दुरूप है। वह अथर्ववेदरूप है। उसके देव संवर्तक नाम के अग्नि हैं, गणदेवता सात मरुत् गण हैं, विराट् नाम का छन्द है, एकर्षि नाम का अग्नि है।

प्रथमा रक्तपीता महद्ब्रह्मदैवत्या। द्वितीया विद्युमती कृष्णा विष्णुदैव-त्या। तृतीया शुभाशुभा शुक्ला रुद्रदैवत्या। यावसानेऽस्य चतुर्थ्य-र्धमात्रा सा विद्युमती सर्ववर्णा पुरुषदैवत्या ॥7॥

उनमें से पहली मात्रा धुंधली लालिमायुक्त पीले रंगवाली है, दूसरी मात्रा चमकते हुए काले रंगवाली है और तीसरी शुक्लवर्ण है। पहली मात्रा ब्रह्मदैवत्य - ब्रह्मारूप देवतावाली, दूसरी विष्णुदेव वाली तथा तीसरी रुद्रदेव वाली है और इसके अन्त में चौथी जो अर्धमात्रा है वह चमकीली और सर्ववर्णवाली है और उसका देव आत्मा है।

स एष ह्योंकारश्चतुरक्षरश्चतुष्पादश्चतुःशिरश्चतुश्चतुर्धा मात्रा स्थूलमेत-द्ध्रस्वदीर्घप्लुतम् ॥8॥

वह यह ओंकार इस प्रकार, अ-उ-म-अर्धमात्रा रूप चार अक्षरों वाला, विश्वविराडादि भेद से चार पाद वाला, चार मस्तकवाला तथा चार-चार मात्रावाला है। ये स्थूल, ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत हैं। ओंकार की अर्धमात्रा सूक्ष्म है।

ॐ ॐ ॐ इति त्रिरुक्त्वा चतुर्थः शान्त आत्मा प्लुतप्रणवप्रयोगेण समस्तमोमिति प्रयुक्तमात्मज्योतिः सकृदावर्तते ॥9॥

तीन बार ॐ ॐ ॐ ऐसा कहकर फिर चौथी बार प्लुतोच्चारण में आत्मा शान्त हो जाता है और यह सब कुछ ब्रह्म ही है, ऐसा ध्यान करने से आत्मज्योति एकाएक (एकबारगी) फिर से प्रकाशित हो उठती है।

सकृदुच्चारितमात्रेणोर्ध्वमुन्नामयतीत्योंकारः । प्राणान् सर्वान् प्रलीयत इति प्रलयः (प्रणवः) । प्राणान् सर्वान् परमात्मनि प्रणामयतीत्येतस्मात् प्रणवः । चतुर्धाऽवस्थित इति सर्वदेववेदयोनिः सर्ववाच्यवस्तु प्रणवात्मकम् ॥10॥

इति प्रथमः खण्डः ।

केवल एक बार उच्चारण करने से ऊपर उठाता है - उन्नयन करता है, इसीलिए इसे 'ॐकार' कहा गया है । यह सभी प्राणों को अपने में लीन कर देता है इसलिए इसका नाम 'प्रलय' पड़ा है । सभी प्राणों को परमात्मा में प्रणत (वश में) कर देता है इसलिए वह 'प्रणव' कहा जाता है । वह चार प्रकार से अवस्थित है इसलिए उसे 'सर्वदेववेदयोनि' कहा जाता है । सभी वाच्यपदार्थों में अनुस्यूत एक ही वस्तु प्रणवात्मक ही है ।

यहाँ प्रथम खण्ड समाप्त हुआ ।

❋

द्वितीयः खण्डः

देवाश्चेति संधत्तां सर्वेभ्यो दुःखभवेभ्यः सन्तारयतीति तारणात्तारः ॥1॥

सभी देव और सभी वेद भी, जो तुरीय ओंकार के रूप में माना गया है, उसको अपने सभी दुःखों और भयों से मुक्ति पाने के लिए ध्यान करने लगे थे और उनका इसने तारण (उद्धार) किया, इसलिए इसे 'तार' भी कहा जाता है ।

सर्वे देवाः संविशन्तीति विष्णुः ॥2॥

और भी इस तुरीय ओंकार में सभी देवता–प्राणादि इन्द्रियों के साथ प्रवेश कर जाते हैं इसलिए इसको 'विष्णु' नाम से भी कहा जाता है ।

सर्वाणि बृंहयतीति ब्रह्म ॥3॥

और जो अपने अतिरिक्त बाकी के अविद्या और उसके कार्य आदि को खाकर (अपने में समाकर) अपने आश्रय में रखकर वृद्धि करता है (बृंहयति), इसलिए उसे 'ब्रह्म' कहते हैं ।

सर्वेभ्योऽन्तःस्थानेभ्यो ध्येयेभ्यः प्रदीपवत् प्रकाशयतीति प्रकाशः ॥4॥

जो सभी ध्येयों (विषयों) को और सभी मन आदिक आन्तरिक विषयों को भी प्रदीप की तरह प्रकाशित करता रहता है, इसीलिए वह 'प्रकाश' भी कहा जाता है ।

प्रकाशेभ्यः सदोमित्यन्तःशरीरे विद्युद्वद्द्योतयति मुहुर्मुहुरिति विद्युद्वत् प्रतीयां दिशं भित्त्वा सर्वाँल्लोकान् व्याप्नोति व्यापयतीति व्यापनाद् व्यापी महादेव ॥5॥

इति द्वितीयः खण्डः ।

और जो अपने अन्तःशरीर में कामादि प्रकाश्य विषयों को स्वयं अलग होकर प्रकाशित करता रहता है । जैसे विद्युत् दिशाओं को भेदकर मेघों को प्रकाशित करती है, व्याप्त हो जाती है, उसी तरह

यह तुरीय ओंकार भी स्वप्रतीतिभूत - स्वरूपिणी माया नाम की दिशा को भेदकर सब विषयों को व्याप्त कर लेती है। (सच्चिदानन्द रूप से घेर लेती है। इस प्रकार के व्यापन (व्यापकता) से वह 'व्यापी' कहा जाता है और 'महादेव' भी कहा जाता है।

यहाँ द्वितीय खण्ड पूरा हुआ।

❋

तृतीयः खण्डः

पूर्वोऽस्य मात्रा जागर्ति जागरितं द्वितीया स्वप्नं तृतीया सुषुप्तिश्चतुर्थी तुरीयम् ॥1॥

इस ओंकार की 'अ'कार नाम की पूर्व मात्रा जाग्रत् अवस्था है, दूसरी अवस्था स्वप्न है, तीसरी अवस्था सुषुप्ति है और चौथी अवस्था तुरीय है।

मात्रा मात्राः प्रतिमात्रागताः सम्यक् समस्तानपि पादान् जयतीति स्वयंप्रकाशः स्वयं ब्रह्म भवतीत्येष सिद्धिकर एतस्माद्ध्यानादौ प्रयुज्यते। सर्वकरणोपसंहारत्वाद्धार्यधारणाद् ब्रह्म तुरीयम् ॥2॥

इस प्रकार अकारादि मात्राओं में पूर्व-पूर्व मात्रा का उत्तर-उत्तर मात्रा में विलय हो जाने पर सभी पादों पर वह विजय प्राप्त करता है। इस प्रकार वह विद्वान स्वयंप्रकाश हो जाता है। इस प्रकार वह तत्त्वज्ञान की सिद्धि को प्राप्त करता है। इससे वह निर्विकल्प समाधि आदि में प्रयुक्त होता है। उस समय सभी करणों का उपसंहार हो जाने से तत्त्वमात्ररूप धार्य की धारणा से वह तुरीय ब्रह्म अवशिष्ट रहता है।

सर्वकरणानि सम्प्रतिष्ठाप्य ध्यानं विष्णुः प्राणं मनसि सह करणैः मनसि सम्प्रतिष्ठाप्य ध्याता रुद्रः प्राणं मनसि सह करणैर्नादान्ते परमात्मनि सम्प्रतिष्ठाप्य ध्यायीतेशानं प्रध्यायितव्यम् ॥3॥

उस तुर्य ब्रह्म में सभी करणों को अच्छी तरह से प्रस्थापित करके (विलय करके) ध्यान किया जाता है, इसका प्रधान पुरुष विष्णु होता है। और इन्द्रियों के साथ प्राण को मन में प्रतिष्ठापित करके ध्यान किए जाने पर केवल मन ब्रह्माकार रूप में परिणत होने पर वह ध्याता रुद्र होता है और मुमुक्षुओं के द्वारा इन्द्रियसहित प्राण मन में एवं मन ब्रह्मप्रवण नाद के अन्तरूप परमात्मा में प्रतिस्थापित किये जाने पर ईश्वर का ध्यान करना चाहिए।

सर्वमिदं ब्रह्मविष्णुरुद्रेन्द्रास्ते सम्प्रसूयन्ते सर्वाणि चेन्द्रियाणि सह भूतैर्न कारणं कारणानां ध्याता कारणं तु ध्येयः सर्वैश्वर्यसम्पन्नः सर्वेश्वरः शंभुराकाशमध्ये ध्रुवं स्तब्ध्वाऽधिकं क्षणमेकं क्रतुशतस्यापि चतुःसप्तत्या यत्फलं तदवाप्नोति कृत्स्नमोंकारगतिश्च सर्वध्यानयोगज्ञानानां यत् फलमोंकारो वेद पर ईशो वा शिव एको ध्येयः शिवंकरः सर्वमन्यत् परित्यज्य ॥4॥

जिससे यह सारा जगत् और ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र जन्म लेते हैं, वह सबका कारणरूप ईश्वर नाम का ब्रह्म ही है। उसके अतिरिक्त ये सभी इन्द्रियाँ और पंचमहाभूत कोई कारण नहीं है। इसलिए

ध्याता (परमेश्वर) ही सर्वध्येयरूप होकर सबका कारण बनता है। वह सर्वैश्वर्य से युक्त है, वह सर्वेश्वर है, वही शंभु है। ऐसे शाश्वत आत्मा को जो कोई भी पुरुष अपने हृदयाकाश में एक क्षण या क्षणार्ध भी स्थिर होकर ध्यान करे, तो उसको उसी स्वरूप की प्राप्तिरूप फल ही तो है, पर अन्तराल फल में एक सौ चौहत्तर यज्ञानुष्ठान के फलों की भी प्राप्ति होती है। ओंकार की पूर्ण गति को भी वह जान लेता है। इस प्रकार जो ओंकार को जानता है वह मुनि सभी ध्यान, योग और ज्ञान का जो फल होता है, उसे प्राप्त करता है। इसलिए और सभी वस्तुओं को छोड़कर एकमात्र शिव (ईश) का ही ध्यान करना चाहिए। वही कल्याणकारी है।

समाप्ताऽथर्वशिखा। तामधीत्य द्विजो गर्भवासाद्विमुक्तो मुच्यते। एताम-
धीत्य द्विजो गर्भवासाद् विमुक्तो विमुच्यत इत्योंऽसत्यमित्युपनिषत् ॥5॥

इति तृतीयः खण्डः।

इत्यथर्वशिखोपनिषत्समाप्ता।

यहाँ अथर्वशिखा समाप्त होती है। इसका अध्ययन करके द्विज गर्भवास से छुटकारा पाकर यहाँ भी जीवन्मुक्त हो जाता है। इसका अध्ययन करके द्विज गर्भवास से छुटकारा पाकर यहाँ जीवन्मुक्त हो जाता है। उपनिषत् की समाप्ति के सूचक के रूप में यह वाक्य दुहराया गया है। यहाँ उपनिषत् पूर्ण हुई।

तृतीय खण्ड भी समाप्त हुआ।

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः......देवहितं यदायुः। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

❋

(24) मैत्रायण्युपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

सामवेद से सम्बद्ध इस उपनिषत् के स्वरूप (आकार) में अनेक प्रकार की विसंगतियाँ देखने में आती हैं; यथा—सन् 1948 के निर्णयसागरीय संस्करण में तथा 1970 वाले मोतीलाल बनारसीदास द्वारा प्रकाशित संस्करण में इस उपनिषत् के **सात** प्रपाठक दिए हैं। सन् 1938 की सर्वहितैशी कम्पनी, रामघाट, काशी के संस्करण में इस उपनिषत् के **चार** प्रपाठक दिए हैं। अड्यार लाईब्रेरी, मद्रास के संग्रह में भी इस उपनिषत् के **चार** ही प्रपाठक दिए गए हैं। ब्रह्मयोगी के विवरण टीका वाले उपनिषत्संग्रह में भी इस उपनिषत् के **चार** प्रपाठक ही दिए हैं। श्रीरामशर्मा आचार्य के उपनिषदों के संग्रह में इस उपनिषद् के **पाँच** प्रपाठक दिए गए हैं। यहाँ चार प्रपाठक देने वालों का बहुमत देखकर चार प्रपाठक वाली उपनिषत् ही ली गई है। इसमें बृहद्रथ राजा को शाकायन्य मुनि उपदेश देते हुए कहते हैं कि पहले इस विषय में भगवान् मैत्रेय को हुए ज्ञान में जो था वही सुनाता हूँ। फिर उन्होंने प्राणों के भेद बताए, आत्मा और भूतात्मा का भेद बताया, जीवनरथ का सुन्दर रूपक भी कहा। जीवनरथ में ज्ञानेन्द्रियों की लगाम कर्मेन्द्रियों के घोड़ों को लगाई है। अन्तःप्रवृत्ति चाबुक है और आत्मा संचालक है। इन्धन समाप्त होने पर जैसे अग्नि शान्त हो जाती है, वैसे ही मनोवृत्तियों के शान्त होने पर चित्त शान्त हो जाता है। इसमें ॐकार और उद्गीथ की एकता समझाई गई है। गायत्री का पदच्छेद और उसकी उपासना का महत्त्व बताया गया है।

शान्तिपाठः

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि............ते मयि सन्तु । (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (आरुण्युपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

प्रथमः प्रपाठकः

बृहद्रथो ह वै नाम राजा राज्ये ज्येष्ठं पुत्रं निधापयित्वेदमशाश्वतं मन्यमानः शारीरं वैराग्यमुपेतोऽरण्यं निर्जगाम। स तत्र परमं तप आस्थायादित्य-मीक्षमाण ऊर्ध्वबाहुस्तिष्ठत्यन्ते सहस्रस्य मुनिरन्तिकमाजगामाग्निरिवा-धूमकस्तेजसा निर्दहन्निवात्मविद् भगवान् शाकायन्यः। उत्तिष्ठोत्तिष्ठ वरं वृणीष्वेति राजानमब्रवीत्। स तस्मै नमस्कृत्योवाच भगवन् नाहमात्मवित् त्वं तत्त्वविच्छृणुमो वयं स त्वं नो ब्रूहीति। एतद् व्रतं पुरस्तादशक्यं मा पृच्छ प्रश्नमैक्ष्वाकान्यान् कामान् वृणीष्वेति। शाकायन्यस्य चरण-मभिमृश्यमानो राजेमां गाथां जगाद ॥1॥

बृहद्रथ नाम के किसी एक राजा को 'यह शरीर अनित्य है'—ऐसा विचार आने से वैराग्य उत्पन्न

हुआ। इसलिए वह अपने बड़े पुत्र को राज्यभार सौंपकर वन में चला गया। वहाँ लम्बे समय तक उसने तपश्चर्या की। वह हाथ ऊँचा करके सूर्य के सामने देखता रहता था। अन्त में एक हजार वर्ष के बाद, उस तपश्चर्या के फलस्वरूप शाकायन्य नाम के आत्मवेत्ता महामुनि उसके पास आए। वह मुनि निर्धूम अग्नि की तरह तेजस जाज्वल्यमान जैसे लगते थे। उन्होंने राजा से कहा—'हे राजन्! उठो, खड़े हो और वरदान माँगो।' तब राजा ने उनसे कहा—'हे भगवन्! मैं आत्मवेत्ता नहीं हूँ। हमने सुना है कि आप आत्मवेत्ता हैं। इसलिए आप मुझे आत्मज्ञान का वरदान दीजिए।' ऐसा सुनकर मुनि ने उससे कहा—'हे इक्ष्वाकुवंशी राजन्! तुम दूसरा कोई वरदान माँग लो। तुम पहले से ही अशक्य प्रश्न मत पूछो।' यह सुनकर बृहद्रथ राजा शाकायन्य का चरणस्पर्श करके यह गाथा कहने लगा।

भगवन्नस्थिचर्मस्नायुमज्जामांसशुक्रशोणितश्लेष्माश्रुदूषिते विण्मूत्रवातपित्तकफसंघाते दुर्गन्धे निःसारेऽस्मिन् शरीरे किं कामोपभोगैरिति ॥2॥

(राजा बोला—) हे भगवन्! यह शरीर अस्थियों, चर्म, स्नायुओं, मज्जा, मांस, वीर्य, लहू, श्लेष्मा आदि से दूषित है और विष्टा, मूत्र, पित्त, कफ आदि से युक्त है और सारहीन है, तो विषयोपभोगों की क्या आवश्यकता है?

कामक्रोधलोभमोहभयविषादेर्ष्येष्टवियोगानिष्टसंयोगक्षुत्पिपासाजरामृत्युरोगशोकाद्यैरभिहतेऽस्मिन् शरीरे किं कामोपभोगैः ॥3॥

यह शरीर काम, क्रोध, लोभ, भय, खेद, ईर्ष्या, इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग, भूख, प्यास, वृद्धावस्था, मृत्यु, शोक आदि से पीड़ित है। ऐसे शरीर में विषयभोगों की क्या आवश्यकता है?

सर्वं चेदं क्षयिष्णु पश्यामो यथेमे दंशमशकादयस्तृणवन्नश्यतयोद्भूतप्रध्वंसिनः ॥4॥

यह सारा जगत विनाशशील है, मैं सबको मरते हुए देखता हूँ। जैसे दंश, मच्छर आदि जन्तु तो तिनके की तरह जन्मते ही नष्ट होते (मरते) रहते हैं।

अथ किमेतैर्वा परेऽन्ये महाधनुर्धराश्चक्रवर्तिनः केचित् सुद्युम्नभूरिद्युम्नेन्द्रद्युम्नकुवलयाश्वयौवनाश्वबद्धियाश्वाश्वपतिः शशबिन्दुर्हरिश्चन्द्राऽम्बरीष मनूत्थशर्यातिर्ययातिरनरण्योक्षसेनोत्थमरुत्तभरतप्रभृतयो राजानो मिषतो बन्धुवर्गस्य महतीं श्रियं त्यक्त्वाऽस्माल्लोकादमुं लोके प्रयान्ति ॥5॥

उन जन्तुओं को क्या कहें? परन्तु बड़े-बड़े धनुर्धारी और चक्रवर्ती सुद्युम्न, भूरिद्युम्न, इन्द्रद्युम्न, कुवलयाश्व, यौवनाश्व और उसके जैसे धियाश्व, अश्वपति, शशबिन्दु, हरिश्चन्द्र, अम्बरीष, मनु का पुत्र शर्याति, ययाति, अनरण्य, उग्रसेन, उसका पुत्र मरुत्त और भरत आदि चक्रवर्ती राजा भी अपने बन्धुवर्ग सहित देखते-देखते ही इस लोक की विपुल समृद्धि छोड़कर प्रयाण कर गये हैं।

अथ किमेतैर्वा परेऽन्ये गन्धर्वासुरयक्षराक्षसभूतगणपिशाचोरगग्रहादीनां निरोधनं पश्यामः ॥6॥

और तो क्या मनुष्योपरान्त अन्य गन्धर्व, असुर, यक्ष, राक्षस, भूतगण, पिशाच, साँप और ग्रह आदि भी मरते हुए देखे गए हैं।

अथ किमेतैर्वाऽन्यानां शोषणं महार्णवानां शिखरिणां प्रपतनं ध्रुवस्य प्रचलनं स्थानं वा तरूणां निमज्जनं पृथिव्याः स्थानादपसरणं सुराणां सोऽहमित्येतद्विधेऽस्मिन् संसारे किं कामोपभोगैर्यैरेवाश्रितस्यासकृदिहा-वर्तनं दृश्यत इत्युद्धर्तुमर्हसीत्यन्धोदपानस्थो भेक इवाहमस्मिन् संसारे भगवंस्त्वं नो गतिस्त्वं नो गतिः ॥7॥

इति प्रथमः प्रपाठकः ।

अथवा और क्या कहूँ ? बड़े-बड़े समुद्र भी सूख जाते हैं, पर्वत भी टूट-फूट जाते हैं, ध्रुव भी अपने स्थान से चलित हो जाता है, वृक्ष गिर पड़ते हैं, धरती भी अपने स्थान से खिसक जाती है, देव भी नीचे गिर जाते हैं, तो 'यह मैं हूँ'—ऐसे अहंकार से भरे इस संसार में विषयोपभोग से भला क्या लाभ है ? विषयों में लीन रहनेवालों को तो बार-बार जन्म-मरण के फेरे में घूमना ही पड़ता है, ऐसा देखा जाता है । इसलिए हे भगवन् ! अँधेरे कुएँ में पड़े हुए मेढक जैसे मेरा आप उद्धार कीजिए । आप ही मेरी शरण हैं । आप ही मेरे आधार है ।

यहाँ प्रथम प्रपाठक पूरा हुआ ।

❄

द्वितीयः प्रपाठकः

अथ भगवान् शाकायन्यः सुप्रीतोऽब्रवीद्राजानं महाराज बृहद्रथेक्ष्वाकु-वंशध्वजशीर्षात्मजः कृतकृत्यस्त्वं मरुन्नाम्नो विश्रुतोऽसीत्ययं वाव खल्वात्मा ते कतमो भगवान् वर्ण्य इति तं होवाच ॥1॥

यह सुनकर महर्षि शाकायन्य प्रसन्न होकर राजा से कहने लगे—'हे महाराजा बृहद्रथ ! इक्ष्वाकुवंश के ध्वजशीर्ष के तुम पुत्र हो । तुम 'मरुत्' नाम से सुविख्यात हो और कृतकृत्य (धन्य) हो । यह आत्मा कैसा है, वह मैं तुम्हें समझाता हूँ ।' यह सुनकर राजा ने कहा—'भगवन् आप उसका वर्णन कीजिए ।' तब वे मुनि राजा से कहने लगे—

य एषो बाह्यावष्टम्भनेनोर्ध्वमुत्क्रान्तो व्यथमानोऽव्यथमानस्तमः प्रणु-दत्येष आत्मेत्याह भगवानथ य एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत एष आत्मेति होवाचैतमृतम-भयमेतद् ब्रह्मेति ॥2॥

'बाह्येन्द्रियों का निरोध करने से यह प्राणरूप आत्मा योग द्वारा ऊपर चढ़ता है । वह दुःख भोगता हुआ दीखने पर भी दुःखरहित ही होता है और वह अन्धकार का नाश कर देता है ।' ऋषि ने आगे कहा—'यह आत्मा इस शरीर में से बाहर निकलकर परम ज्योतिरूप ब्रह्म को प्राप्त करके अपने स्वरूप में स्थिर रहता है, वही आत्मा अमृतरूप, अभयरूप और ब्रह्मरूप है ।'

अथ खल्वियं ब्रह्मविद्या सर्वोपनिषद्विद्या वा राजन्नस्माकं भगवता मैत्रेयेण व्याख्याताऽहं ते कथयिष्यामीत्यथापहतपाप्मानस्तिग्मतेजस ऊर्ध्वरेतसो वालखिल्या इति श्रूयन्तेऽथैते प्रजापतिमब्रुवन् भगवन् शकटमिवाचेतनमिदं शरीरं कस्यैष खल्वीदृशो महिमाऽतीन्द्रियभूतस्य

येनैतद्विधमिदं चेतनवत् प्रतिष्ठापितं प्रचोदयिताऽस्य को भगवन्नेतद-स्माकं ब्रूहीति तान् होवाच ॥3॥

हे राजन् ! सभी उपनिषदों ने जिसका उपदेश किया है ऐसी यह ब्रह्मविद्या भगवान् मैत्रेय ने हमको बताई है, वही मैं तुम्हें बताता हूँ। जिनके पाप नष्ट हो गए हैं ऐसे प्रचंड तेजस्वी ब्रह्मचारी वालखिल्य नाम के मुनि तो सुप्रसिद्ध हैं। उन मुनियों ने एक बार ब्रह्माजी से पूछा था—'हे भगवन् ! यह शरीर तो बैलगाड़ी की तरह अचेतन ही है। तो फिर यह सब किसकी महिमा है ? कौन-सा ऐसा अतीन्द्रिय पदार्थ है कि जिसकी वजह से यह जड़ शरीर चेतन की तरह प्रतिष्ठित दिखाई देता है ? उसे प्रेरणा देनेवाला कौन है ? यह हमें बताइए।' तब ब्रह्मा ने उत्तर दिया था (कि—)

यो ह खलु वाचोपरिस्थः श्रूयते स एव वा एष शुद्धः पूतः शून्यः शान्तः प्राणोऽनीशात्माऽनन्तोऽक्षय्यः स्थिरः शाश्वतोऽजः स्वतन्त्रः स्वे महिम्नि तिष्ठत्यनेनेदं शरीरं चेतनवत्प्रतिष्ठापितं प्रचोदयिता चैषोऽस्येति ते होचु-र्भगवन् कथमनेनेदृशेनानिच्छेनैतद्विधमिदं चेतनवत् प्रतिष्ठापितं प्रचो-दयिता चैषोऽस्येति कथमिति तान् होवाच ॥4॥

'जो वाणी से परे विद्यमान है, ऐसा सुना जाता है कि वह शुद्ध, पवित्र, शून्य, शान्त, जीवनदाता, अनीश्वर का आत्मा, अनन्त, अविनाशी, स्थिर, सनातन, जन्मरहित, स्वतंत्र—ऐसा आत्मा अपनी महिमा में अवस्थित है। उसी के कारण यह शरीर चेतन की तरह प्रतिष्ठापित हुआ है। वही इसको प्रेरणा देनेवाला है। ऐसी इसकी महिमा है।' यह सुनकर वालखिल्य ने पूछा—'वह आत्मा इच्छारहित होने पर भी क्यों और कैसे इस शरीर को चेतन जैसा बनाया और उसे टिकाया भी ? वह उसका प्रेरक कैसे हुआ ? और उसकी महिमा कैसी है ?' तब ब्रह्मा ने कहा कि—

स वा एष सूक्ष्मोऽग्राह्योऽदृश्यः पुरुषसंज्ञको बुद्धिपूर्वमिहैवावर्ततेंऽशेन सुषुप्तस्यैव बुद्धिपूर्वं निबोधयत्यथ यो ह खलु वावैतस्यांशोऽयं यश्चे-तनमात्रः प्रतिपूरुषं क्षेत्रज्ञः सङ्कल्पाध्यवसायाभिमानलिङ्गः प्रजापतिर्वि-श्वाक्षस्तेन चेतनेनेदं शरीरं चेतनवत् प्रतिष्ठापितं प्रचोदयिता चैषोऽस्येति ते होचुर्भवन्नीदृशस्य कथमंशेन वर्तमिति तान् होवाच ॥5॥

'यह आत्मा सूक्ष्म, अग्राह्य और अदृश्य है। इसका नाम 'पुरुष' है। वह अपने एक अंश से यहाँ बुद्धिपूर्वक क्रिया करता है, सुषुप्त मनुष्य को बुद्धि से जगाता है। वह उसका जो अंश है, वही यहाँ जीवरूप बना है। सभी प्राणियों का जीवात्मा वही है। प्रत्येक शरीर में वही क्षेत्रज्ञ रूप से रहा है। और वही संकल्प, प्रयत्न, अभिमान से युक्त प्रजापतिरूप और सबको देखनेवाला है। उस चेतन से ही यह शरीर चेतनमय बना है। वही इस शरीर को क्रिया करने के लिए प्रेरित करता है।' तब वालखिल्य ने पूछा—'भगवन् ! वह आत्मा अखण्ड होने पर भी किस तरह अपने अंश से यहाँ अवस्थित है ?' तब उन्हें ब्रह्माजी ने उत्तर दिया कि—

प्रजापतिर्वा एषोऽग्रेऽतिष्ठत्। स नारमतैकः। स आत्मानमभिध्यायद्बह्वीः प्रजा असृजत्ता अस्यैवात्मप्रबुद्धा अप्राणा स्थाणुरिव तिष्ठमाना अपश्यत् स नारमत। सोऽमन्यतैतासां प्रतिबोधनायाभ्यन्तरं प्राविशानीत्यथ स वायुमिवात्मानं कृत्वाऽभ्यन्तरं प्राविशत् स एको नाविशत्। स पञ्चधा-ऽऽत्मानं प्रविभज्योच्यते यः प्राणोऽपानः समान उदानो व्यान इति ॥6॥

सबसे पहले केवल प्रजापति ही एकमात्र थे। उन्हें अकेले को कुछ चैन न पड़ा अर्थात् अपने को अकेले सन्तुष्ट नहीं कर सके। इसलिए उन्होंने आत्मा का ध्यान करके तरह-तरह की प्रजाएँ उत्पन्न कीं। परन्तु, अपने द्वारा उत्पन्न की गई इन प्रजाओं को प्राणविहीन और खम्भों की भाँति जड़ देखा। वह उन्हें पसन्द न आया। उन्होंने सोचा कि इन सभी प्रजाओं को सचेतन करने के लिए मैं उनमें प्रविष्ट होऊँ। ऐसा सोचकर अपने को वायु जैसा बनाकर उन्होंने उनमें प्रवेश किया। पर उन्होंने एक रूप में नहीं परन्तु पाँच रूपों में अपना विभाजन करके प्रवेश किया। इसलिए एक ही प्राण के प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान—ऐसे पाँच भेद हुए।

अथ योऽयमूर्ध्वमुत्क्रामतीत्येष वाव स प्राणोऽथ योऽयमवाञ्चं सङ्क्रामत्येष वाव सोऽपानोऽथ योऽयं स्थविष्ठमन्नधातुमपाने स्थापयत्यणिष्ठं चाङ्गेऽङ्गे समं नयत्येष वाव स समानोऽथ योऽयं पीताशितमुद्गिरति निगिरतीति चैष वाव स उदानोऽथ येनैताः सिरा अनुव्याप्ता एष वाव स व्यानः ॥7॥

जो ऊपर गति करता है वह 'प्राण' है, जो नीचे गति करता है वह 'अपान' है, जो अतिशय स्थूल अन्नधातु (मल) को गुदा स्थान में पहुँचाता है और अतिसूक्ष्म धातु को प्रत्येक अंग में समान रूप से ले जाता है, वह 'समान' कहलाता है; जो यह वायु खाए-पीए हुए पदार्थों को उगलता है या निगलता है वह 'उदान' कहलाता है, और जिसके द्वारा ये शिराएँ घिरी हुई रहती हैं, ऐसा जो वायु है वह 'व्यान' कहलाता है।

अथोपांशुरन्तर्याम्यभिभवत्यन्तर्याममुपांशुमेतयोरन्तराले चौष्णं मासवद्यदौष्ण्यं स पुरुषोऽथ यः पुरुषः सोऽग्निर्वैश्वानरोऽप्यन्यत्राप्युक्तमयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषो येनेदमन्नं पच्यते यदिदमद्यते तस्यैष घोषो भवति यदेतत् कर्णावपिधाय शृणोति स यदोत्क्रमिष्यन् भवति नैनं घोषं शृणोति ॥8॥

जो नजदीक में अन्तर्यामी है वह और जो एक प्रहर में पराभव कर सकता है वह—इन दोनों के बीच जो ग्रीष्म ऋतु जैसी उष्णता है, वह पुरुष ही वैश्वानर अग्नि है। अन्य जगहों पर भी ऐसा ही कहा गया है कि यह भीतर रहा हुआ अग्नि वैश्वानर 'अग्निपुरुष' है, जिसकी वजह से अन्न पचता है। जब कुछ खाया जाता है, तब उसी की (वैश्वानर अग्नि की) यह आवाज होती है। कान बन्द करने पर जो आवाज सुनाई देती है, वह उसी की आवाज है। जब शरीर से प्राण निकल जानेवाले होते हैं, तब यह आवाज नहीं सुनाई देती।

स वा एष पञ्चधाऽऽत्मानं प्रविभज्य निहितो गुहायां मनोमयः प्राणशरीरो बहुरूपः सत्यसङ्कल्प आत्मेति स वा एषोऽस्य हृदन्तरे तिष्ठन्नकृतार्थोऽमन्यतार्थानसानि तत्स्वानीमानि भित्त्वोदितः पञ्चमी रश्मिभिर्विषयानत्तीति बुद्धीन्द्रियाणि यानीमान्येतान्यस्य रश्मयः। कर्मेन्द्रियाण्यस्य हया रथः शरीरं मनो नियन्ता प्रकृतिमयोऽस्य प्रतोदनेन खल्वीरितं परिभ्रमतीदं शरीरं चक्रमिव मृते च नेदं शरीरं चेतनवत् प्रतिष्ठापितं प्रचोदयिता चैषोऽस्येति ॥9॥

वह प्रजापतिरूप आत्मा स्वयं को पाँच रूपों में निर्मित करके हृदयरूपी गुफा में स्थिर हुआ है। और वह आत्मा ही मनरूप में, प्राणरूप में, अनेक रूपों में सत्यसंकल्पवाला है। इस प्रकार हृदय में रहता हुआ वह अपने को अकृतार्थ मानने लगा। अपने को कृतार्थ बनाने के लिए वह अपने पाँच द्वारों (इन्द्रियों) को भेदकर प्रकट हुआ। वे पाँच द्वार ही पाँच इन्द्रियाँ बनी हैं। ये ही पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ लगाम है, पाँच कर्मेन्द्रियाँ घोड़े हैं, शरीर रथ है, मन सारथि है और स्वभाव (प्रकृति-सहज रुझान) चाबुक है। इसी चाबुक से प्रेरित शरीर पहियों की तरह गतिशील बनता है और मरण के बाद वह सचेतन दिखाई नहीं पड़ता, क्योंकि आत्मा ही शरीर का प्रेरक है।

स वा एष आत्मेत्यदो वशं नीत इव सितासितैः कर्मफलैरभिभूयमान इव प्रतिशरीरेषु चरतव्यक्तत्वात् सूक्ष्मत्वाददृश्यत्वादग्राह्यत्वान्निर्ममत्वाच्चा-नवस्थोऽकर्ता कर्तेवावस्थितः ॥10॥

यह आत्मा मानो शरीर के वश में आ गया हो, और मानो शुभाशुभ कर्मों के फल से बँध गया हो, इस प्रकार भाँति-भाँति के शरीरों में संचरण करता रहता है (हालाँकि वह वास्तविक नहीं है)। परन्तु वास्तविक दृष्टि से देखने पर तो वह अव्यक्त, अदृश्य, सूक्ष्म, अग्राह्य और ममतारहित है। उसमें कर्तृत्व न होने पर भी और उसकी कोई अवस्था (जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति) न होने पर भी वह मानो कर्तारूप हो, ऐसा प्रतीत होता है।

स वा एष शुद्धः स्थिरोऽचलश्चालेपोऽव्यग्रो निःस्पृहः प्रेक्षकवदवस्थितः स्वस्य चरितभुग्गुणमयेन पटेनात्मानमन्तर्धायावस्थित इत्यव-स्थित इति ॥11॥

इति द्वितीयः प्रपाठकः।

वह आत्मा शुद्ध, स्थिर, अचल, निरासक्त, दुःखरहित, इच्छारहित द्रष्टा रूप होने पर भी अपने कर्मों को मानो भोगता हो, ऐसा दिखाई देता है। वही (सत्त्वादि) तीन गुणों रूपी वस्त्र से अपने को आच्छादित रखता हो, ऐसा मालूम होता है।

यहाँ पर दूसरा प्रपाठक पूरा होता है।

❈

तृतीयः प्रपाठकः

ते होचुर्भगवन् यद्येवमस्यात्मनो महिमानं सूचयसीत्यन्यो वा परः कोऽयमात्मा सितासितैः कर्मफलैरभिभूयमानः सदसद्योनिमापद्यत इत्यवाचीं वोर्ध्वां वा गतिं द्वन्द्वैरभिभूयमानः परिभ्रमतीति कतम एष इति तान् होवाच ॥1॥

यह सुनकर वालखिल्य ने प्रश्न किया—'हे भगवन्! यदि आप उस आत्मा की ऐसी महिमा कहते हैं, तो फिर शुभाशुभ कर्मों के नीचे दबा हुआ और तदनुसार अच्छी या बुरी योनियों में भटकता हुआ आत्मा क्या कोई दूसरा आत्मा है? सुख-दुःख से पराभव प्राप्त करके उच्च या नीच गति में भटकनेवाला यह कौन-सा आत्मा है?' यह सुनकर ब्रह्मा ने कहा—

अस्ति खल्वन्योऽपरो भूतात्मा योऽयं सितासितैः कर्मफलैरभिभूयमानः सदसद्योनिमापद्यत इत्यवाचीं वोर्ध्वां गतिं द्वन्द्वैरभिभूयमानः परिभ्रमती-त्यस्योपव्याख्यानं पञ्च तन्मात्राणि भूतशब्देनोच्यन्ते पञ्च महाभूतानि भूतशब्देनोच्यन्तेऽथ तेषां यः समुदायः शरीरमित्युक्तमथ यो ह खलु वाव शरीरमित्युक्तं स भूतात्मेत्युक्तमथास्ति तस्यात्मा बिन्दुरिव पुष्कर इति स वा एषोऽभिभूतः प्राकृतैर्गुणैरित्यतोऽभिभूतत्वात् सम्मूढत्वं प्रयात्यसम्मूढत्वादात्मस्थं प्रभुं भगवन्तं कारयितारं नापश्यद्गुणौघै-स्तृप्यमानः कलुषीकृतश्चास्थिरश्चञ्चलो लोलुप्यमानः सस्पृहो व्यग्रश्चा-भिमानत्वं प्रयात इत्यहं सो ममेदमित्येवं मन्यमानो निबन्ध्नात्यात्म-नाऽऽत्मानं जालेनेव खचरः कृतस्यानुफलैरभिभूयमानः परिभ्रम-तीति ॥2॥

जो शुभाशुभ कर्मों के नीचे दबा हुआ है वह तो दूसरा 'भूतात्मा' कहा जाता है। वह अच्छी-बुरी योनि को प्राप्त करता है, ऊँची-नीची गति में जाता है, राग-द्वेष आदि द्वन्द्वों से परेशान होता है। उसे 'भूतात्मा' कहा जाने का कारण यह है कि जो पाँच तन्मात्राएँ हैं और पाँच महाभूत हैं, उन्हें 'भूत' शब्द से पहचाना जाता है। और उन्हीं भूतों का समुदाय ही तो शरीर है। इसलिए उस शरीर को ही 'भूतात्मा' कहा जाता है। उसमें स्थित आत्मा तो कमलपत्र के ऊपर के जल के बिन्दु के समान ही है। फिर भी अपनी प्रकृति के गुणों से पराजित हो जाने से वह मूढ़ बन गया है। इससे वह अपने भीतर स्थित प्रेरक परमात्मा को देख नहीं पाता और गुणों के समूह से ही सन्तुष्ट होता हुआ, पापों से युक्त होता हुआ, अस्थिर, चंचल, लोलुप और अभिमानी बनता हुआ वह, 'यह मैं हूँ', 'यह मेरा है'—ऐसा मानता हुआ अपने आप वह स्वयं बन्धन में पड़ जाता है। जिस प्रकार जाल में पक्षी फँस जाता है, वैसे ही अपने आप ही कर्मफलों में फँसकर इधर-उधर भटकता रहता है।

अथान्यत्राप्युक्तं यः कर्ता सोऽयं वै भूतात्मा करणैः कारयिताऽन्तः-पुरुषोऽथ यथाऽग्निनायःपिण्डो वाऽभिभूतः कर्तृभिर्हन्यमानो नानात्व-मुपेत्यैवं वाव खल्वसौ भूतात्माऽन्तःपुरुषेणाभिभूतो गुणैर्हन्यमानो नानात्वमुपेत्यथ यत्त्रिगुणं चतुरशीतिलक्षयोनिपरिणतं भूतत्रिगुणमेतद्वै नानात्वस्य रूपं तानि ह वा इमानि गुणानि पुरुषेणेरितानि चक्रमिव चक्रिणेत्यथ यथाऽयःपिण्डे हन्यमाने नाग्निरभिभूयत्येवं नाभिभूयत्यसौ पुरुषोऽभिभूयत्ययं भूतात्मोपसंश्लिष्टत्वादिति ॥3॥

अन्यत्र भी कहा गया है कि कर्तृत्व तो इस भूतात्मा का ही है। भीतर स्थित शुद्ध आत्मा तो केवल प्रेरक ही है। वह इन्द्रियों के द्वारा सब कुछ करवाता है। जैसे अग्नि में तपाया गया लोहे का गोला लोहार द्वारा पीटे जाने पर अनेक आकारवाला बन जाता है, वैसे ही यह भूतात्मा भी अन्तःस्थ शुद्ध आत्मा की अग्नि से तपकर एवं गुणों के द्वारा पीटा जाता हुआ अनेक प्रकार का हो जाता है। अर्थात् तीन गुणों से युक्त ऐसी चौरासी लाख त्रिगुणात्मक योनियों में परिवर्तित हुआ करता है। यही तो अनेकता का स्वरूप है। जैसे चाक को चलानेवाला कुम्हार चाक से अलग ही होता है, वैसे ही तीन गुणों का प्रेरक आत्मा तीन गुणों से अलग ही है। जैसे लोहे के गोले के पीटे जाने से उसमें स्थित अग्नि नहीं पीटी जाती, वैसे ही शुद्ध आत्मा को किसी भी प्रकार का विकार नहीं होता। उसको तो केवल भूतात्मा के साथ सम्पर्क का दोष ही लगता है।

अथान्यत्राप्युक्तं शरीरमिदं मैथुनादेवोद्भूतं संविदपेतं निरय एवं मूत्र-
द्वारेण निष्क्रान्तमस्थिभिश्चितं मांसेनानुलिप्तं चर्मणाऽवबद्धं विण्मूत्र-
पित्तकफमज्जामेदोवसाभिरन्यैश्च मलैर्बहुभिः परिपूर्णं कोश इवावस-
न्नेति ॥4॥

और अन्यत्र कहा भी गया है कि स्त्री-पुरुष के संयोग से ही यह शरीर उत्पन्न होता है। वह चेतनविहीन होता है और मानो नरक ही होता है। मूत्र के द्वार में से वह निकला है और हड्डियों से व्यवस्थापित (आकारित) हुआ है, मांस से वह अवलिप्त हुआ और चमड़ी से मढ़ा गया है। मल, मूत्र, पित्त, कफ आदि से वह भरा-पूरा है। अन्य कई मलिनताओं से वह भरा हुआ है। ऐसा मालूम होता है कि मानो वह दूषित वस्तुओं का खजाना ही हो।

अथान्यत्राप्युक्तं सम्मोहो भयं विषादो निद्रा तन्द्री व्रणो जरा शोकः क्षुत्
पिपासा कार्पण्यं क्रोधो नास्तिक्यमज्ञानं मात्सर्यं वैकारुण्यं मूढत्वं
निर्व्रीडत्वं निकृतत्वमुद्धतत्वमसमत्वमिति तामसान्वितस्तृष्णा स्नेहो रागो
लोभो हिंसा रतिर्दृष्टिव्यावृतत्वमीर्ष्याकाममस्थिरत्वं चञ्चलत्वं जिहीर्षा-
र्थोपार्जनं मित्रानुग्रहणं परिग्रहावलम्बोऽनिष्टेष्विन्द्रियार्थेषु द्विष्टिरिष्टेष्व-
भिष्वङ्ग इति राजसान्वितैः परिपूर्ण एतैरभिभूत इत्ययं भूतात्मा
तस्मान्नानारूपाण्याप्नोतीत्याप्नोतीति ॥5॥

इति तृतीयः प्रपाठकः ॥

और भी अन्य स्थान पर कहा गया है कि मोह, भय, विषाद, निद्रा, तन्द्रा, बूढ़ापन, शोक, भूख, प्यास, दैन्य, क्रोध, नास्तिकता, अज्ञान, ईर्ष्या, विकार, मूढता, निर्लज्जता, उद्धतता, विषमता इत्यादि तमोगुण के विकारों से यह शरीर परिपूर्ण है। इसके उपरान्त तृष्णा, स्नेह, राग, लोभ, हिंसा, कामुकता, व्यापार, ईर्ष्या, स्वेच्छाचारिता, चंचलता, किसी भी वस्तु को हड़प लेने की इच्छा, धनोपार्जन की इच्छा, मित्रों का अनुग्रह, परिग्रह का आश्रय, इन्द्रियों का अप्रिय विषयों से द्वेष, और प्रिय विषयों में आसक्ति आदि रजोगुण से युक्त विकार भी इस भूतात्मा में विद्यमान रहते हैं। इन सभी विकारों के द्वारा यह भूतात्मा पराभव प्राप्त करता रहता है। और बारी-बारी से तरह-तरह के रूपों को धारण करता रहता है, धारण करता रहता है (अन्तिम शब्दसमूह की पुनरावृत्ति प्रपाठक की समाप्तिसूचक है)।

यहाँ तीसरा प्रपाठक पूरा होता है।

❋

चतुर्थः प्रपाठकः

ते ह खल्वथोर्ध्वरेतसो अतिविस्मिता अतिसमेत्योचुर्भगवन्नमस्ते त्वं नः
शाधि त्वमस्माकं गतिरन्या न विद्यत इत्यस्य कोऽतिथिर्भूतात्मनो येनेदं
हित्वात्मन्येव सायुज्यमुपैति। तान् होवाच ॥1॥

यह सुनकर वे ऊर्ध्वरेतस् (ब्रह्मचारी) वालखिल्य बहुत ही विस्मित हो गए और एकदम नजदीक जाकर बोले—'हे भगवन्! आपको हमारा नमस्कार है। आप ही हमारी शरण हैं, दूसरा हमारा कोई आश्रय नहीं है, तो आप हमें समझाइए कि उस भूतात्मा का अतिथि कौन-सा है, जिसकी वजह से वह इस सबको छोड़कर उस आत्मा में ही सायुज्य प्राप्त करता है'? तब ब्रह्मा उत्तर दिया कि—

अथान्यत्राप्युक्तं महानदीषूर्मय इव निवर्तकमस्य यत्पुराकृतं समुद्रवेलेव दुर्निवार्यमस्य मृत्योरागमनं सदसत्फलमयैर्हि पाशैः पशुरिव बद्धं बन्धनस्थस्येवास्वातन्त्र्यं यमविषयस्थस्येव बहुभयावस्थं मदिरोन्मत्त इवामोदमदिरोन्मत्तं पाप्मना गृहीत इव भ्राम्यमाणं महोरगदष्ट इव विपद्दष्टं महान्धकार इव रागान्धमिन्द्रजालमिव मायामयं स्वप्न इव मिथ्यादर्शनं कदलीगर्भ इवासारं नट इव क्षणवेशं चित्रभित्तिरिव मिथ्यामनोरम-मित्यथोक्तम् ।

शब्दस्पर्शादयो येऽर्था अनर्था इव ते स्थिताः ।
येष्वासक्तस्तु भूतात्मा न स्मरेच्च परं पदम् ॥2॥

और भी एक जगह पर कहा गया है कि बड़ी नदियों में जिस तरह तरंगें उछलती हैं इसी तरह इस भूतात्मा में पूर्वकृत कर्म होते हैं, और उनके फल तो उसे भोगने ही पड़ते हैं। जिस प्रकार उन ऊर्मियों के अन्त के लिए समुद्र का किनारा जरूरी होता है, उसी प्रकार भूतात्मा के लिए मृत्यु भी जरूरी ही होती है। उन शुभाशुभ कर्मों के फलस्वरूप बन्धनों में वह एक पशु की तरह ही जकड़ा हुआ है और एकदम परतन्त्र ही हो गया है; जैसे यम के राज्य में रहता हो, वैसे ही वह भूतात्मा सर्वदा भयभीत ही रहता है। विषयसुख रूपी मदिरा पींकर वह पागल बन जाता है और पाप के प्रेत का उसमें आवेश आ गया हो, ऐसे इधर-उधर भटकता ही रहता है। जैसे जहरीले साँप ने काटा हो इस तरह विपत्ति से दुःख भोगता है। विषयों की लालसा रूपी गाढ़ अन्धकार से वह अन्धा बन जाता है। ऐन्द्रजालिक के जादू की तरह वह माया से भरा हुआ है। स्वप्न की तरह मिथ्या दिखावेवाला है। केले के पेड़ के गर्भ की तरह वह सारहीन ही है। नट की तरह वह क्षण-क्षण में नए-नए वेश धारण करता है। चित्रवाली दीवार की तरह वह झूठे ही दिखावे से सुन्दर भासित होता है। और ऐसा भी कहा गया है कि शब्द, स्पर्श आदि विषय असार हैं और उनमें आसक्त हुए भूतात्मा को अपना वास्तविक स्वरूप स्मरण नहीं होता।

अयं वाव खल्वस्य प्रतिविधिर्भूतात्मनो यद्वेव विद्याधिगमस्य धर्मस्या-नुचरणं स्वाश्रमेष्वेवानुक्रमणं स्वधर्म एव सर्वं धत्ते स्तम्भशाखे-वेतराण्यनेनोर्ध्वभाग्भवत्यन्यथाऽधः पतत्येष स्वधर्मोऽभिभूतो यो वेदेषु न स्वधर्मातिक्रमेणाश्रमी भवत्याश्रमेष्वेवावस्थितस्तपस्वी चेत्युत्यत एतदप्युक्तं नातपस्कस्यात्मध्यानेऽधिगमः कर्मशुद्धिर्वेत्येवं ह्याह ।

तपसा प्राप्यते सत्त्वं सत्त्वात्संप्राप्यते मनः ।
मनसा प्राप्यते त्वात्मा ह्यात्मापत्त्या निवर्तते ॥3॥

उसकी मुक्ति का उपाय इस प्रकार है—ज्ञान की प्राप्ति करानेवाले धर्म का आचरण करना चाहिए और अपने आश्रमधर्मों का भी पालन करना चाहिए। क्योंकि स्वधर्माचरण ही सब कुछ कर सकता है। अन्य धर्म तो खम्भे की शाखाओं जैसे झूठे ही हैं। स्वधर्माचरण के द्वारा ही भूतात्मा मुक्ति को प्राप्त होता है। इससे अलग मार्ग पर जाने से तो वह नीचे ही गिरता है। वेदविहित स्वधर्म का त्याग करनेवाला मनुष्य 'आश्रमी' नहीं कहलाता। जो अपने आश्रमधर्मों का पालन करता है, वह तपस्वी है। और यह भी कहा गया है कि जो तपस्वी नहीं है, वह आत्मा में ध्यान नहीं लगा सकता। और उसकी

कर्मशुद्धि भी नहीं होती। तप के द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है, ज्ञान होने पर मन वश में आता है, और आत्मा की प्राप्ति होती है। आत्मा की प्राप्ति होने पर संसार से मुक्ति होती है।

अत्रैते श्लोका भवन्ति—
यथा निरिन्धनो वह्निः स्वयोनावुपशाम्यति।
तथा वृत्तिक्षयाच्चित्तं स्वयोनावुपशाम्यति ॥4-1॥

यहाँ ये श्लोक हैं—जैसे काष्ठ खत्म होने पर अग्नि आप-ही-आप अपने उत्पत्ति स्थान में बुझ जाती है, ठीक उसी प्रकार जब वृत्तियों का क्षय हो जाता है, तब चित्त आप-ही-आप अपने कारण (उत्पत्तिस्थान) में शान्त हो जाता है।

स्वयोनावुपशान्तस्य मनसः सत्यकामिनः।
इन्द्रियार्थाविमूढस्यानृताः कर्मवशानुगाः ॥4-2॥

अपने उत्पत्तिस्थान में (कारण में) शान्त बना हुआ और ज्ञानप्राप्त किया हुआ चित्त जब सत्य की ओर मोड़ लेता है, तब उसे वे कर्म के वश में रहनेवाले इन्द्रियविषय मिथ्या (तुच्छ झूठे) ही मालूम पड़ते हैं।

चित्तमेव हि संसारस्तत्प्रयत्नेन शोधयेत्।
यच्चित्तस्तन्मयो भवति गुह्यमेतत्सनातनम् ॥4-3॥

चित्त ही तो संसार है। इसलिए प्रयत्नपूर्वक चित्तशुद्धि करनी चाहिए। जैसा मनुष्य का चित्त होता है, वैसा ही वह मनुष्य होता है। जैसा चित्त वैसी गति होती है। यह तो एक सनातन रहस्य है।

चित्तस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाशुभम्।
प्रसन्नात्माऽऽत्मनि स्थित्वा सुखमव्ययमश्नुते ॥4-4॥

चित्त के शान्त होने से शुभ-अशुभ कर्मों का नाश हो जाता है। और शान्त बना हुआ मनुष्य जब अपने आत्मा में लीन हो जाता है, तब उसे अक्षय आनन्द प्राप्त होता है।

समासक्तं यदा चित्तं जन्तोर्विषयगोचरे।
यद्येवं ब्रह्मणि स्यात्तत् को न मुच्येत बन्धनात् ॥4-5॥

प्राणि का चित्त जितना अधिक विषयों में आसक्त रहता है, उतना ही यदि ब्रह्म में आसक्त हो जाता, तो भला कौन प्राणी बन्धन से मुक्त नहीं होता? अर्थात् सभी मुक्त हो जाते।

मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेव च।
अशुद्धं कामसङ्कल्पं शुद्धं कामविवर्जितम् ॥4-6॥

मन दो प्रकार का होता है—एक शुद्ध और दूसरा अशुद्ध। उनमें अशुद्ध मन कामनाओं और संकल्पों से भरा हुआ होता है, जबकि शुद्ध मन कामनाओं से रहित होता है।

लयविक्षेपरहितं मनः कृत्वा सुनिश्चलम्।
यदा यात्यमनीभावं तदा तत्परमं पदम् ॥4-7॥

मन को लय और विक्षेप से रहित और ठीक तरह से स्थिर करके जब मनुष्य अमनीभाव को अर्थात् निर्विचारता को प्राप्त करता है, तब वह परमपद होता है।

तावदेव निरोद्धव्यं हृदि यावत् क्षयं गतम् ।
एतज्ज्ञानं च मोक्षं च शेषास्तु ग्रन्थविस्तराः ॥4-8॥

जब तक मन का पूर्णतः नाश न हो जाए, तब तक हृदय में मन का निरोध करते ही रहना चाहिए। बस इतना ही ज्ञान है, वही मोक्ष है। शेष तो सब ग्रन्थों के विस्तारमात्र ही है।

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं लभेत् ।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते ॥4-9॥

समाधि के द्वारा जिसका मल दूर हो गया है और आत्मा में प्रवेश कराए गए चित्त को जो सुख मिलता है उसे वाणी से वर्णन करना तो असम्भव ही है। वह तो केवल अन्तःकरण के द्वारा ही अनुभव किया जानेवाला है।

अपामपोऽग्निरग्नौ वा व्योम्नि व्योम न लक्षयेत् ।
एवमन्तर्गतं चित्तं पुरुषः प्रतिमुच्यते ॥4-10॥

जैसे पानी में पानी, अग्नि में अग्नि और आकाश में आकाश मिल जाने से उसे फिर अलग नहीं देखा जा सकता ठीक उसी तरह चित्त का लय हो जाने से मनुष्य मुक्त हो जाता है।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम् ॥4-11॥

मनुष्य के बन्धन और मोक्ष का कारण मन ही होता है। विषयों में आसक्त मन बन्धन का कारण होता है और विषयासक्तिरहित मन मुक्ति के लिए होता है।

अथ यथेयं कौत्सायनिस्तुतिः—
त्वं ब्रह्मा त्वं च वै विष्णुस्त्वं रुद्रस्त्वं प्रजापतिः ।
त्वमग्निर्वरुणो वायुस्त्वमिन्द्रस्त्वं निशाकरः ॥4-12॥

अब यहाँ मुनि कौत्सायनि द्वारा की हुई स्तुति कही जा रही है—तुम ब्रह्मा हो, तुम्हीं विष्णु हो, तुम्हीं रुद्र और तुम्हीं प्रजापति हो। तुम अग्नि हो, वरुण, वायु, इन्द्र और चन्द्र तुम्हीं हो।

त्वं मनुस्त्वं यमश्च त्वं पृथिवी त्वमथाच्युतः ।
स्वार्थे स्वाभाविकेऽर्थे च बहुधा तिष्ठसे दिवि ॥4-13॥

तुम मनु हो, तुम यम हो, तुम पृथ्वी हो, तुम अच्युत हो। तुम्हीं अपने विषयरूप स्वाभाविक अर्थ में हो तथा तुम्हीं अपने अर्थ में रहते हुए भी स्वर्ग में अनेक रूपों को धारण किए हुए हो।

विश्वेश्वर नमस्तुभ्यं विश्वात्मा विश्वकर्मकृत् ।
विश्वभुग्विश्वमायस्त्वं विश्वक्रीडारतः प्रभुः ॥4-14॥

हे सर्वेश्वर ! आपको नमस्कार। तुम सर्व के आत्मा हो, तुम सब कर्म करनेवाले हो। सबके भोक्ता तुम्हीं हो। विविध माया को धारण करनेवाले तुम ही हो। तुम विश्व की लीला में रत हो, तुम सब कुछ करने में समर्थ हो।

नमः शान्तात्मने तुभ्यं नमो गुह्यतमाय च ।
अचिन्त्यायाप्रमेयाय अनादिनिधनाय चेति ॥4-15॥

हे शान्तस्वरूप आपको नमस्कार है। अतिशय रहस्यमय, अचिन्तनीय, अप्रमेय अर्थात् प्रमाणों से अगम्य और आदि-अन्त रहित ऐसे आपको नमस्कार है।

तमो वा इदमेकमास। तत्पश्चात्तत्परेणेरितं विषयत्वं प्रयात्येतद्वै रजसो रूपं तद्रजः खल्वीरितं विषयत्वं प्रयात्येतद्वै तमसो रूपं तत्तमः खल्वीरितं तमसः सम्प्रास्त्रवत्येतद्वै सत्त्वस्य रूपं तत्सत्त्वमेवेरितं तत्सत्त्वात् सम्प्रास्त्रवत् सोंऽशोऽयं यश्चेतनमात्रः प्रतिपुरुषं क्षेत्रज्ञः सङ्कल्पाध्यवसायाभिमानलिङ्गः प्रजापतिस्तस्य प्रोक्ता अग्र्यास्तनवो ब्रह्मा रुद्रो विष्णुरित्यथ यो ह खलु वावास्य राजसोंशोऽसौ स योऽयं ब्रह्माऽथ यो ह खलु वावास्य तामसोंऽशोऽसौ स योऽयं रुद्रोऽथ यो ह खलु वावास्य सात्त्विकोंऽशोऽसौ स एव विष्णुः स वा एष एकस्त्रिधाभूतोऽष्टैकादशधा द्वादशधाऽपरिमितधा चोद्भूत उद्भूतत्वाद्भूतेषु चरति। प्रतिष्ठा सर्वभूतानामधिपतिर्बभूवेत्यसावात्माऽन्तर्बहिश्चान्तर्बहिश्च ॥5॥

इति चतुर्थः प्रपाठकः।
इति मैत्रायण्युपनिषत्समाप्ता।

सृष्टि से पहले यह सब केवल अन्धकार (केवल अज्ञानरूप) ही था। बाद में परमात्मा से प्रेरित होकर इन्द्रियों के विषयरूप बना है। परमात्मा से प्रेरित रजोगुण विषमता को प्राप्त हुआ और कुछ विषय रजोगुण के स्वरूपवाले हुए। परमात्मा से प्रेरित तमोगुण विषमता को प्राप्त हुआ और कुछ विषय तमोगुण के स्वरूपवाले हुए। तथा परमात्मा से सत्त्वगुण प्रेरित हुआ और वह भी विषमता को प्राप्त हुआ और इस तरह सत्त्वगुण के वैषम्य से स्रवण से जो उत्पन्न हुआ है वह 'क्षेत्रज्ञ' के रूप में (जीव के रूप में) सभी प्राणियों में अवस्थित है। उस परमात्मा का ही वह अंश है। वह संकल्परूप, निश्चयरूप और अभिमानरूप चिह्न वाला है। वह प्रजाओं का पति है, उस परमात्मा के सबसे बड़े और श्रेष्ठ शरीर ब्रह्मा, रुद्र और विष्णु कहे गए हैं। उस परमात्मा के रजोगुण का अंश ब्रह्मा कहा गया है, उसी के तमोगुण का अंश रुद्र कहा गया है और जो सत्त्वगुण का अंश है वह विष्णु है। वह एक ही परमात्मा तीन रूपों में, आठ रूपों में, ग्यारह रूपों में, बारह रूपों में, अनेक रूपों में उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार अनन्त रूपों में होकर प्रत्येक भूत में वह रहते हैं। सब प्राणियों के वे अधिपति हैं। और वही बाहर-भीतर सर्वत्र है, वही बाहर भीतर सर्वत्र है। वाक्य की पुनरावृत्ति उपनिषत् की समाप्ति को सूचित करती है।

इस प्रकार यहाँ चौथा प्रपाठक पूरा होता है।
यह उपनिषत् भी समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ आप्याययन्तु ममाङ्गानि......ते मयि सन्तु। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(25) कौषीतकिब्राह्मणोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

ऋग्वेद के कौषीतकिब्राह्मण की अंशरूप इस उपनिषत् के चार अध्याय हैं। पहले अध्याय में गर्ग के प्रपौत्र चित्र और गौतम उद्दालक का संवाद है। इसमें अग्निहोत्र और उसकी फलश्रुति बताई है। मरण के बाद अग्निहोत्री का जीवात्मा कहाँ-कहाँ होकर ब्रह्मलोक तक पहुँचता है और वहाँ उसका कैसे-कैसे स्वागत होता है, और भी वहाँ क्या-क्या बनता है, उसका विवरण दिया गया है। इसके पहले अध्याय का नाम 'पर्यंकविद्या' भी है। दूसरे अध्याय में प्राणोपासना, आध्यात्मिक अग्निहोत्र, विविध उपासनाएँ, दैवपरिसर में प्राणोपासना, मोक्ष को दिलानेवाली श्रेष्ठ प्राणोपासना तथा प्राणोपासक का सम्प्रदानकर्म बताया गया है। तीसरे अध्याय में इन्द्र-प्रतर्दन संवाद द्वारा प्रज्ञारूप प्राण की महिमा बताई है और चौथे अध्याय में अजातशत्रु और गार्ग्य के संवाद द्वारा पहले सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, मेघ, आकाश, वायु, अग्नि, जल, दर्पण, प्रतिध्वनि वगैरह में विद्यमान चैतन्यतत्त्व की उपासना के बारे में कहा गया है। अन्त में आत्मतत्त्व के स्वरूप, उपासना ओर फल कहे गए हैं।

शान्तिपाठः

ॐ वाङ्मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि।
वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीरनेनाधीतेनाहोरात्रान्सन्दधाम्यृतं
वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु तद्वक्तारमवतु अवतु मामवतु
वक्तारमवतु वक्तारम्।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

हे परमात्मन्! मेरी वाणी मन में स्थिर हो तथा मनश्वाणी में स्थिर हो। हे प्रकाशरूप परमात्मन्! मेरे लिए तुम प्रकट हो। (हे वाणी और हे मन!) तुम मेरे लिए वेदविषयक ज्ञान को लाने वाले हो। मेरा श्रुत ज्ञान मेरे से कभी विस्मृत न हो। इस स्वाध्याय से मैं दिन-रात को एक कर दूँ। मैं परमसत्य ही बोलूँगा, सत्य ही बोला करूँगा। वह ब्रह्म मेरी रक्षा करे। वह (ब्रह्म) आचार्य की रक्षा करे। रक्षा करे मेरी और रक्षा करे आचार्य की। ॐ त्रिविध तापों की शान्ति हो।

प्रथमोऽध्यायः

चित्रो ह वै गार्ग्यायणिर्यक्ष्यमाण आरुणिं वव्रे। स ह पुत्रं श्वेतकेतुं प्रजिघाय याजयेति। तं हासीनं पप्रच्छ गौतमस्य पुत्रास्ते संवृतं लोके यस्मिन्माधास्यस्यन्यमुताहो बोद्धवा तस्य मा लोके धास्यसीति। स होवाच नाहमेतद्वेद हन्ताचार्यं पृच्छानीति। स ह पितरमासाद्य पप्रच्छेति। गा प्राक्षीत् कथं प्रतिब्रवाणीति। स होवाचाहमप्येतन्न वेद सदस्येव वयं स्वाध्यायमधीत्य हरामहे यन्नः परे ददत्येह्युभौ गमिष्याव इति ॥1॥

यज्ञ करने की इच्छा वाले गर्ग के पौत्र चित्र ने उद्दालक आरुणि को निमन्त्रण भेजा। परन्तु महात्मा उद्दालक ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को 'तुम यज्ञ कराओ'—ऐसा कहकर अपने बदले भेजा। यज्ञ में आसन पर बैठे श्वेतकेतु से चित्र ने पूछा—'हे गौतम के पुत्र ! यज्ञ तो संवृत अर्थात् स्वर्ग देने वाले भी होते हैं, क्या तुम ऐसे ऐहिक फल देने वाले यज्ञ ही करवाओगे अथवा किसी विशिष्ट फलवाले यज्ञ करवाओगे ?' (अर्थात् तुम मुझे सामान्य फलवाला यज्ञ करवाओगे या किसी विशेष फलवाला यज्ञ करवाओगे ?) यह सुनकर श्वेतकेतु ने कहा—'हे भगवन् ! मैं यह सब नहीं जानता। मैं आचार्य को (मेरे पिता को) जाकर पूछ लूँ।' वह पिता के पास गया और कहने लगा कि—'चित्र ने इस तरह से प्रश्न किया है। तो मैं उन्हें क्या उत्तर दूँ ?' तब उद्दालक ने कहा—'मैं भी इस प्रश्न का उत्तर नहीं जानता। चलो हम महाभाग चित्र की यज्ञशाला में चलकर इस प्रश्न का अध्ययन करके ही इस विद्या को प्राप्त करेंगे। जब दूसरे लोग हमें विद्या और धन देते हैं, तो चित्र भी हमें देंगे ही। इसलिए चलो हम दोनों महर्षि चित्र के पास चलें।'

स ह समित्पाणिश्चित्रं गार्ग्यायणिं प्रतिचक्राम उपायानीति। तं होवाच ब्रह्मार्घोऽसि गौतम यो मानमुपागा एहि त्वा ज्ञपयिष्यामीति। स होवाच ये वै के चास्माल्लोकात् प्रयान्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति। तेषां प्राणैः पूर्वपक्ष आप्यायते। अथापरपक्षे न प्रजनयति। एतद्वै स्वर्गस्य लोकस्य द्वारं यश्चन्द्रमास्तं यत् प्रत्याह तमति सृजतेऽथ य एनं प्रत्याहत-मिह वृष्टिर्भूत्वा वर्षति। स इह कीटो वा पतङ्गो वा शकुनिर्वा शार्दूलो वा सिंहो वा मत्स्यो वा परश्वा वा पुरुषो वाऽन्यो वैतेषु स्थानेषु प्रत्याजायते यथाकर्म यथाविद्यम्। तमागतं पृच्छति कोऽसीति तं प्रतिब्रूयात् ॥2॥

इसके बाद वे आरुणि मुनि हाथ में समिधा लिए हुए और जिज्ञासुभाव से चित्र के यहाँ गए और बोले—'मैं विद्या की प्राप्ति के लिए आपके पास आया हूँ।' तब चित्र ने कहा—'हे गौतम ! आप ब्राह्मणों में अति आदरणीय हैं और ब्रह्मविद्या के अधिकारी भी हैं क्योंकि मेरे जैसे छोटे व्यक्ति के पास आने में आपको संकोच नहीं हुआ। अत: आइए मैं आपको बोध करवाऊँगा। हे ब्रह्मन् ! जो कोई अग्निहोत्रादि सत्कार्य करनेवाले होते हैं, वे सभी इस लोक से प्रयाण करने के पश्चात् चन्द्रलोक को ही जाते हैं। कहीं पर (चन्द्रलोक में) फल-प्राप्ति के दो विकल्प हैं। एक विकल्प के द्वारा वह फल जीव को आगे ले जाता है और दूसरे विकल्प द्वारा वह यज्ञफल उन जीवों को अन्य जन्म लेने के लिए वापिस भेजता है। **अथवा** पहले पक्ष में—प्रारंभ के समय में वहाँ गए हुए लोग पुण्य शेष रहने तक भोग भोगते रहते हैं और दूसरे पक्ष में—पुण्यक्षीण हो जाने पर वह चन्द्रलोक उन जीवों को तृप्ति नहीं दे पाता। यह जो चन्द्रमा (चन्द्रलोक) है, वह वास्तव में स्वर्ग का द्वार है। दैवीसम्पद्युक्त जो अधिकारी इस स्वर्गद्वार रूप चन्द्रलोक को अस्वीकार करके—स्वर्गसुख की भी विनाशशीलता को समझकर—छोड़ देता है, वह तो उससे ऊपर उठ जाता है, परन्तु जो पुरुष स्वर्गीय सुखों के प्रति आसक्ति रखकर उसको स्वीकार कर लेता है, उस कामनामय पुरुष का स्वर्ग में पुण्य क्षीण हो जाने पर वह वृष्टिरूप होकर बरसता है और फिर अपने कर्मानुसार कीट, पतंग, व्याघ्र, सिंह, मछली, साँप, बिच्छू या मनुष्य या अन्य कोई दूसरा जीव होकर अनुकूल शरीरों में इधर-उधर जन्म लेता है। कर्म और विद्या के प्रमाण में ऐसा होता है। वह मनुष्य जब गुरु के पास आए तो गुरु को उससे पूछना चाहिए कि 'तुम कौन हो ?' तो उस मनुष्य को ऐसा उत्तर देना चाहिए—

विचक्षणत्वादृतवो रेत आभृतं पञ्चदशात् प्रसूतात् पित्र्यावतस्तन्मा पुंसि

कर्तर्येरयध्वं पुंसा कर्त्रा मातरि मा निषिक्तः स जायमान उपजायमानो द्वादश त्रयोदश उपमासो द्वादशत्रयोदशेन पित्रा सन्तद्विदेऽहं तन्म ऋतवो मर्त्यव आरभध्वम्। तेन सत्येन तपसर्तुरस्यार्तवोऽस्मि। कोऽसि त्वमसीति तमतिसृजते। तमेतं देवयजनं पन्थानमासाद्याग्निलोकमा-गच्छति। स वायुलोकं स वरुणलोकं स आदित्यलोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोकम्। तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मलोकस्य आरो ह्रदो मुहूर्तोऽन्वेष्टिहा विरजा नदील्यो वृक्षः। सालज्जं संस्थानमपराजित-मायतनमिन्द्रप्रजापती द्वारगोपौ। विभुप्रमितं विचक्षणसन्ध्यमितौजाः पर्यङ्कः प्रिया च मानसी प्रतिरूपा च चाक्षुषी पुष्पाण्यादायावगतौ वै च जगान्यम्बाश्चाम्बाऽवयवाश्चाप्सरसोः। अम्बया नद्यस्तमित्थंविदा गच्छति। तं ब्रह्माहाभिधावत मम यशसा विरजां वा अयं नदीं प्रापन्न वा अयं जिगीष्यतीति ॥3॥

'हे देवो ! पंद्रह कलाओं से युक्त, शुक्ल-कृष्णपक्ष के कारणभूत, श्रद्धा के माध्यम से प्रादुर्भूत, विविध प्रकार के भोगों को देने में समर्थ, पितृलोक स्वरूप—ऐसे जो चन्द्रमा हैं, उनके सामीप्य से मैं उत्पन्न हुआ और पुरुषरूप अग्नि में स्थापित हुआ। श्रद्धा-सोम-वृष्टि-जल के परिणामभूत वीर्य के रूप में मैं केन्द्रित हुआ और बाद में कर्मफल भोक्ता जीवरूप मुझको तुमने वीर्याधान करनेवाले पुरुष में प्रेरित किया। बाद में गर्भाधान करनेवाले पुरुष पिता के द्वारा माता के गर्भ में तुमने धारण करवाया। गर्भ में बारह-तेरह अर्धमास तक रहकर जन्म लिया। अब मुझे अमृतत्व की प्राप्ति के साथ आप ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिए अनेक ऋतुओं तक रहनेवाले अक्षय दीर्घ आयु का दान करें। क्योंकि यह सब कुछ जानकर ही मैं देवों से प्रार्थना कर रहा हूँ कि मैं वही मरणधर्मा मनुष्य हूँ, वही ऋतु हूँ, वही वीर्य हूँ, उसी से प्रादुर्भूत यह शरीर मैं हूँ। और यदि ऐसा नहीं है तो फिर आप ही कृपा करके बताइए कि मैं कौन हूँ ?'

शिष्य के इस तरह से कहने पर, संसार के भय से डरे हुए उस शिष्य को गुरु ब्रह्मविद्या का उपदेश देते हैं कि—'ऐसा अधिकारी देवयान मार्ग को प्राप्त करके सर्वप्रथम अग्निलोक में पहुँच जाता है। उसके बाद वायुलोक में, उसके बाद वरुणलोक में, उसके बाद आदित्यलोक में, तदनन्तर इन्द्रलोक में, बाद में प्रजापतिलोक में तथा उसके बाद ब्रह्मलोक में आ जाता है। बीच में मार्ग पर सबसे पहले 'अरा' नामक एक बड़ा प्रसिद्ध जलाशय है (कामादि षड्‌रिपुओं से निर्मित होने से उसका नाम 'अर' है)। उस जलाशय के आगे मुहूर्ताभिमानी देवता का स्थान है। इसका नाम 'इष्टिहा' है (कामादि रिपुओं का प्रवर्तक और इसलिए इष्टि = चाही हुई वस्तु को, हा = नष्ट करनेवाला—ऐसा उसका नाम है)। इसके आगे 'विरजा' नाम की नदी है। इस नदी के आगे 'इल्य' नाम का वृक्ष है। इसके आगे 'सालज्य' नाम का एक नगर है। उसमें 'अपराजित' नाम का महल है। इन्द्र और प्रजापति इसके द्वारपाल हैं। वहाँ विभुप्रमित मंडप और विचक्षणा नाम की उसके बीच एक वेदी है। वहाँ 'अमितौजा' नामक एक पर्यंक (पलंग) है। वहाँ मानसी नाम की प्रिय स्त्री तथा चाक्षुषी नाम का प्रतिबिम्ब है। वहाँ की अम्बा और अम्बावयवी नाम से ख्यात अप्सराएँ (स्त्रियाँ) पुष्पों को लाकर इसका वहाँ स्वागत करती हैं। इसके सिवा वहाँ 'अम्बया' नाम की नदियाँ भी बह रही हैं। ऐसे उस श्रेष्ठ ब्रह्म को जो मनुष्य जानता है—अर्थात् इस रूपकात्मक रहस्य को जो मनुष्य समझ लेता है, वह उसी को प्राप्त हो जाता

है। ऐसे उपासक को आते हुए जानकर ब्रह्मा, विष्णु और महेश उसके आदरसत्कार के लिए तय्यारी करवाते हैं। वे मानते हैं कि उनकी सहायता के बिना यह साधक उनके धाम को जीत न पाएगा।

टिप्पणी—ऊपर के इस रूपकात्मक वर्णन में अलग-अलग व्याख्याकारों ने तरह-तरह के अर्थ किए हैं। यहाँ उन सबका व्यौरा देना संभव नहीं है फिर भी संक्षेप में हम कह सकते हैं कि साधक ब्रह्मा-विष्णु-महेश रूप उस परमतत्त्व के अनुग्रह से कामादि निर्मित 'अर' सरोवर को पार करके, इष्टिहा नाम के विघ्नकारी देव के पास जाकर उसे अपने प्रभाव से भगाकर, मन से विरजा = पापरहित या विजरा = वृद्धत्वरहित—अर्थात् निष्पाप और उत्साह को अपने मन से लाँघकर = जीतकर—धीरे धीरे ब्रह्मलोक की प्राप्ति करता जाता है। इस वर्णन में अस्पष्टता ज्यादा है। किसी भी टीकाकार का विवरण पूर्णतः परितोषजनक नहीं मालूम पड़ता। कण्डिकाओं की योजनाओं में भी फर्क दिखाई देता है। हमें ब्रह्मयोगी का विवरण अधिक पसन्द आया है। इसका विशेष वर्णन अभी नीचे दिया जा रहा है। अन्य विवरणों के उपयुक्त अंशों को भी हमने स्वीकार किया है।

तं पञ्चशतान्यप्सरसां प्रतियन्ति शतं चूर्णहस्ताः शतं वासोहस्ताः शतं फलहस्ताः शतमञ्जनहस्ताः शतं माल्यहस्तास्तं ब्रह्मालङ्कारेणालङ्कुर्वन्ति। स ब्रह्मालङ्कारेणालङ्कृतो ब्रह्मविद्वान् ब्रह्माभिप्रैति। स आगच्छत्यारं ह्रदं तं मनसाऽत्येति। तमित्वा सम्प्रतिविदो मज्जन्ति। स आगच्छति मुहूर्तान्विहेष्टिहास्तेऽस्मादपद्रवन्ति। स आगच्छति विरजां नदीं तां मनसैवात्येति। तत्सुकृतदुष्कृते धूनुते। तस्य प्रिया ज्ञातयः सुकृतमुपयन्त्यप्रिया दुष्कृतं तद्यथा रथेन धावयन् रथचक्रे पर्यवेक्षत एवमहोरात्रे पर्यवेक्षत एवं सुकृतदुष्कृते एवं सर्वाणि च द्वन्द्वानि। स एष विसुकृतो विदुष्कृतो ब्रह्मविद्वान् ब्रह्मैवाभिप्रैति ॥4॥

ब्रह्मा के आदेश से उस मनुष्य के सत्कारार्थ पाँच सौ अप्सराएँ जाती हैं। सौ अप्सराएँ हाथ में केसर आदि चूर्ण लिए, सौ अप्सराएँ हाथों में वस्त्र लिए, सौ अप्सराएँ हाथों में फल लिए, सौ अप्सराएँ हाथों में अंजनादि लिए, सौ अप्सराएँ हाथों में मालाएँ लिए, उसके सम्मानार्थ जाती हैं और उसे ब्रह्मोचित आभरणों से विभूषित करती हैं। वह ब्रह्मज्ञ ब्रह्मोचित अलंकारों को धारण करके ब्रह्मा के स्वरूप को धारण कर लेता है। और उसके बाद वह 'अर' नाम के सरोवर के पास जाकर उसे संकल्पमात्र से ही पार कर कर लेता है। अज्ञानी लोग तो उस सरोवर के पास जाकर उसमें डूब ही जाते हैं। इसके बाद वह साधक मूहूर्ताभिमानी विघ्नकारी येष्टिहा के पास जाता है, लेकिन ये देवता उससे डरकर भाग जाते हैं। इसके बाद वह विरजा नदी को भी अपने संकल्पभाव से पार कर लेता है। यहाँ आकर वह ब्रह्मज्ञानी अपने पुण्य और पाप—दोनों का त्याग कर देता है। उसके प्रिय स्वज्ञातिजन उसके पुण्य के भागीदार होते हैं और जो अप्रिय अर्थात् उसका बुरा चाहने वाले होते हैं, वे उसके पाप के भागीदार होते हैं। इस सम्बन्ध में यह दृष्टान्त दिया जाता है कि रथ के द्वारा यात्रा करनेवाला पुरुष, दोनों पहियों को दौड़ाता हुआ भी स्वयं नहीं दौड़ता, वह तो देखता ही रहता है, वैसे ही वह ब्रह्मज्ञ पुरुष रात-दिन सुकृत-दुष्कृत और अन्य द्वन्द्वों को केवल देखता ही रहता है, पर स्वयं उससे सम्बन्धरहित ही होता है। अतः ऐसे ब्रह्मज्ञान के कारण ही ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म हो जाता है।

स आगच्छतील्यं वृक्षं तं ब्रह्मगन्धः प्रविशति। स आगच्छति सालज्यं संस्थानं तं ब्रह्मरसं प्रविशति। स आगच्छत्यपराजितमायतनं तं ब्रह्मतेजः

प्रविशति। स आगच्छति इन्द्रप्रजापती द्वारगोपौ तावस्मादभिद्रवतः। स आगच्छति विभुप्रमितं तं ब्रह्मतेजः प्रविशति। स आगच्छति विचक्षणा-मासन्दीं। बृहद्रथन्तरे सामनी पूर्वौ पादौ श्यैतनौधसे चापरौ पादौ वैरूप-वैराजे अनूच्येते। शाक्वररैवते तिरश्ची सा प्रज्ञा प्रजया हि विपश्यति। स आगच्छत्यमितौजसं पर्यङ्कं स प्राणस्तस्य भूतं च भविष्यच्च पूर्वौ पादौ श्रीश्चेरा चापरौ बृहद्रथन्तरे अनूच्ये भद्रयज्ञायज्ञीये शीर्षण्ये ऋचश्च सामानि च प्राचीनातानानि यजूंषि तिरश्चीनानि सोमांशव उपस्तरण-मुद्गीथ उपश्रीः श्रीरुपबृंहणं तस्मिन् ब्रह्मास्ते। तमित्थंवित्पादेनैवाग्र आरोहति। तं ब्रह्मा पृच्छति कोऽसीति तं प्रतिब्रूयात् ॥5॥

इसके बाद वह 'इल्य' वृक्ष के पास जाता है। वहाँ उसको ब्रह्मगन्ध आती है। इसके बाद वह 'सालज्य' नगर के पास पहुँचता है, वहाँ उसे ब्रह्मरस की अनुभूति होती है। इसके बाद वह 'अपराजित' महल (मन्दिर) में जाता है, वहाँ उसमें ब्रह्मतेज आता है। इसके बाद वह इन्द्र और प्रजापति नाम के द्वारपालों के पास जाता है तो वे दोनों उसे आते हुए देखकर भाग जाते हैं। तदनन्तर वह 'विभुप्रमित' नाम के मण्डप पर पहुँचता है, वहाँ उसे ब्रह्मतेज का अनुभव होता है। बाद में वह 'विचक्षणा' वेदी के पास आता है। उस पर रखे गए सिंहासन के 'बृहत्' और 'रथन्तर' नाम के साम पूर्व की ओर के पाद (पाये) हैं तथा 'श्येत' और 'नेधस्' नाम के साम उसके पीछे के दो पाद (पाये) हैं। 'वैरूप' और 'वैराज' नाम के साम उसके उत्तर-दक्षिण के पार्श्व हैं, 'शाक्वर' और 'रैवत' नाम के साम उसके पूर्व-पश्चिमी पार्श्व हैं। वह समष्टिबुद्धिस्वरूप ही है। उसी बुद्धि के माध्यम से वह ब्रह्मवेत्ता विशेष दृष्टि प्राप्त करता है। बाद में वह 'अमितौजस्' नाम के पर्यंक (पलंग) के समीप आता है। वह पलंग प्राणरूप है। भूत और भविष्य उसके पूर्व की ओर के पाये हैं, श्रीदेवी और भूदेवी—ये दोनों उसके पीछे के पाये हैं। बृहत् और रथन्तर साम उसके सुश्राव्य गीत होते हैं। पर्यंक का शीर्षण्य (सिरहाना) 'भद्रयज्ञायज्ञीय' विशिष्ट गीतिवाले साम होते हैं। **अथवा**—बड़े यज्ञों की समग्रता को 'भद्रयज्ञ' कहा जा सकता है और उसके प्रत्येक घटक को 'यज्ञीय' कहा जा सकता है। (यहाँ जो यज्ञायज्ञीय में 'ज्ञा' दीर्घ है, वह छान्दस समझना चाहिए)। पूर्व-पश्चिम दीर्घाकारी जड़ी हुई पलंग की पट्टियाँ ऋक् और साम की प्रतीक हैं। उत्तर-दक्षिण की तिरछी जड़ी हुई पलंग की पट्टियाँ यजुर्वेद का प्रतीक है। चन्द्र की किरणें पलंग की चादर हैं, उद्गीथ इसकी दूसरी श्वेत चादर है, लक्ष्मीदेवी पलंग का तकिया है। उसपर ब्रह्मा बैठे हैं। इसको ठीक उसी तरह से जाननेवाला ब्रह्मज्ञानी उस पलंग पर पहले पैर रखकर आरोहण करता है। उससे ब्रह्मा पूछते हैं कि—'तुम कौन हो ?'

तं प्रतिब्रूयात् ऋतुरस्म्यार्तवोऽस्म्याकाशयोनेः संभूतो हाव। एतत् संवत्सरस्य तेजोऽभूतस्य भूतस्य त्वमात्माऽसि यस्त्वमसि सोऽहमस्मीति। तमाह कोऽहमस्मीति सत्यमिति ब्रूयात्। किं तत् सत्यमिति। यदन्यद्देवे-भ्यश्च प्राणेभ्यश्च तत् सद्ध यद्देवाश्च प्राणाश्च तद्यत्तदेतया वाचाऽभि-व्याह्रियते तत्सत्यमिति। एतावदिदं सर्वमिदं सर्वमसीत्येवैनं तदाह। केन पौसानि नामान्याप्नोतीति। प्राणेनेति ब्रूयात्। केन त्विमानि। वाचेति। केन नपुंसकनामानीति। मनसेति। केन गन्धानिति। घ्राणेनेति ब्रूयात्। केन रूपाणीति। चक्षुषेति। केन शब्दानिति। श्रोत्रेणेति। केनान्नर-

सानिति । जिह्वयेति । केन कर्माणीति । हस्ताभ्यामिति । केन सुखदुःखे इति । शरीरेणेति । केनानन्दं रतिं प्रजातमिति । उपस्थेनेति । केनेत्या इति । पादाभ्यामिति । केन धियो विज्ञातव्यं कामानिति । प्रज्ञयेति प्रब्रूयात् । तमाहापैव खलु मे ह्यसावयं ते लोक इति । सा या ब्रह्मणि चिति या व्यष्टिस्तां चितिं जयति तां व्यष्टिं व्यश्नुते य एवं वेद य एवं वेद ॥6॥

इति प्रथमोध्यायः ।

ब्रह्माजी के प्रश्न का उत्तर उसे इस प्रकार देना चाहिए—'मैं स्वयं ही ऋतु स्वरूप हूँ। मैं अव्याकृत आकाश हूँ, परमतत्त्व से प्रादुर्भूत हुआ हूँ। मैं सत्य हूँ।' ऐसा कहना चाहिए। **ब्रह्माजी**—'सत्य क्या है ?' **साधक**—'जो देवों से और प्राणों से परे हो, वह सत्य है। इस वाणी के द्वारा जिस सत् का **देव** और **प्राण** इस प्रकार का व्यवहार किया जाता है। यह सब आप ही हैं।' (साधक के ऐसा कहने पर) **ब्रह्माजी** ने फिर पूछा—'पुल्लिंग नाम कहाँ से प्राप्त होते है ?' **साधक**—'प्राण से।' **ब्रह्मा**—'स्त्रीलिंग नाम कहाँ से प्राप्त होते हैं' ? **साधक**—'वाणी से।' **ब्रह्मा**—'नपुंसकलिंगी नाम कहाँ से प्राप्त होते हैं' ? **साधक**—'मन से।' **ब्रह्मा**—'गन्ध किससे प्राप्त करते हो' ? **साधक**—'नाक से'। **ब्रह्मा**—'रूपों को किससे ग्रहण करते हो' ? **साधक**—'आँखों से।' **ब्रह्मा**—'शब्दों को किससे सुनते हो' ? **साधक**—'कान से।' **ब्रह्मा**—'अन्न का आस्वादन किससे करते हो' ? **साधक**—'जिह्वा से।' **ब्रह्मा**—'काम किससे करते हो' ? **साधक**—'हाथों से'। **ब्रह्मा**—'सुख-दुःख का अनुभव किससे करते हो' ?। **साधक**—'शरीर से।' **ब्रह्मा**—'रति का आनन्द और प्रजोत्पत्ति का सुख किससे प्राप्त करते हो' ? **साधक**—'उपस्थ से।' **ब्रह्मा**—'गमनक्रिया किससे करते हो' ? **साधक**—'पैरों से।' **ब्रह्मा**—'बुद्धिवृत्तियों (जाननेयोग्य विषयों को) और मनोरथों को किससे ग्रहण करते हो ?' **साधक**—'प्रज्ञा से।'—ब्रह्माजी के प्रश्नों का साधक इस प्रकार उत्तर दे। ऐसे उत्तर देने के बाद ब्रह्माजी अब कहते हैं—'जल आदि प्रसिद्ध महाभूत मेरे स्थान हैं। अतः यह मेरा लोक भी जलादि तत्त्व प्रधान ही है। तुम उपासक भी मुझसे अभिन्न ही हो, इसलिए यह तुम्हारा ही लोक है।' अतः ब्रह्म की जो चिति शक्ति है और जो सर्वव्यापकता है, इन दोनों शक्तियों को साधक प्राप्त कर लेता है। जो इस तरह का ज्ञान रखता है अर्थात् जो ऐसा अनुभव करता है, वह ब्रह्मा की तरह शक्तिसम्पन्न हो जाता है। अध्याय की परिसमाप्ति की सूचना के लिए शब्दसमूह दुहराया गया है।

यहाँ प्रथम अध्याय पूर्ण होता है।

❋

द्वितीयोऽध्यायः

प्राणो ब्रह्मेति ह स्माह कौषीतकिः। तस्य ह वा एतस्य प्राणस्य ब्रह्मणो मनो भूतं वाक्यं परिवेष्ट चक्षुः श्रोत्रं संश्रावयितृ। तस्मै वा एतस्मै प्राणाय ब्रह्मण एताः सर्वा देवता अयाचमानाय बलिं हरन्ति। तथो एवास्मै सर्वाणि भूतान्ययाच्यमानेन बलिं हरन्ति। य एवं वेद तस्योपनिषन्न याचेदिति तद्यथा ग्रामं भिक्षित्वा लब्ध्वोपविशेन्नाहमतो दत्तमश्नीया-मिति। य एवैनं पुरस्तात् प्रत्याचक्षीरंस्त एवैनमुपमन्त्रयन्ते। ददाम त

इति। एष धर्मो याचितो भवत्यन्तरंस्त्वेवैनमुपमन्त्रयन्ते ददाम त इति। प्राणो ब्रह्मेति ह स्माह पैङ्ग्यः। तस्य ह वा एतस्य प्राणस्य ब्रह्मणो वाक्परस्ताच्चक्षुरारुन्धे चक्षुः परस्ताच्छ्रोत्रमारुन्धे श्रोत्रं परस्तान्मन आरुन्धे मनः परस्तात्प्राण आरुन्धे। तस्मै वा एतस्मै प्राणाय ब्रह्मण एता सर्वा देवता अयाचमानाय बलिं हरन्ति। तथो एवास्मै सर्वाणि भूतान्ययाचमानाय बलिं हरन्ति। य एवं वेद तस्योपनिषन्न याचेदिति तद्यथा ग्रामं भिक्षित्वा लब्ध्वोपविशेन्नाहमतो दत्तमश्नीयामिति। य एवैनं पुरस्तात् प्रत्याचक्षीरंस्त एवमुपमन्त्रयन्ते। ददाम त इति। एष धर्मो याचितो भवत्यन्यतरस्त्वेवैनमुपमन्त्रयन्ते ददाम त इति ॥1॥

कौषीतकि कहते हैं कि प्राण ही ब्रह्म है। इस प्राणमय ब्रह्म के भूत, वर्तमान और भविष्य को सोचनेवाला मन है, वाणी उसे व्याप्त कर अवस्थित है। वाणी को व्याप्त किए हुए चक्षु रहते हैं, चक्षुओं को व्याप्त करके श्रवण रहता है (अथवा इस प्राण का मन विचार, वाणी सेविका, चक्षु रक्षक और कान संदेशवाहक हैं)। ये उपर्युक्त सभी देव प्राण को बिना माँगे ही उपहार देते रहते हैं। जो साधक प्राणब्रह्म का यह रहस्य जानता है उसको भी प्राण की ही तरह बिना माँगे ये सब इन्द्रियादि देव उपहार देते रहते हैं। उस साधक की यही तो उपनिषद् = उपासना है कि वह कभी याचना न करे। जिस तरह कोई भिक्षुक गाँव में भीख माँगने जाता है, पर वहाँ से कुछ भी न मिलने पर नीचे बैठ जाता है और कहता है कि 'अब तो वे ग्रामलोक स्वयं देने आएंगे तो भी नहीं खाऊँगा।' जब ऐसा होता है तो पहले दरकार नहीं करनेवाले ग्रामलोक स्वयं आकर उसे भिक्षा देते हैं, ठीक उसी प्रकार प्राण ब्रह्मोपासक साधक को भी बिना माँगे ही ये इन्द्रियाँ उपहार में देती रहेंगी। याचना का धर्म ही ऐसा (दैन्यपूर्ण) होता है। ऐसी याचना से दूर रहनेवाले साधक को लोग ऐसे ही (स्वयं ही) निमंत्रण देते रहते हैं कि आओ, 'हम तुम्हें भिक्षा देंगे'।

पैंग्य ऋषि ने भी प्राण को ब्रह्म कहा है। उस प्रसिद्ध प्राणब्रह्म के लिए वाणी से परे नेत्रेन्द्रिय है, चक्षु से परे श्रोत्रेन्द्रिय है, श्रोत्रेन्द्रिय से परे मन है, मन से परे प्राण है। इस प्राणब्रह्म के लिए बिना माँगे ही सभी देवता उपहार देते रहते हैं। इसी प्रकार इस प्राणब्रह्म के उपासक को भी सब प्राणी बिना माँगे ही उपहार देते रहते हैं। ऐसा जाननेवाले साधक की यही उपासना है कि वह किसी से कुछ माँगे ही नहीं। जैसे गाँव में भीख माँगते हुए भिक्षुक को कुछ भी न मिलने पर वह निराश होकर बैठ जाता है और प्रतिज्ञा करता है कि अब तो गाँववाले स्वयं आकर भिक्षा देंगे तो भी नहीं खाऊँगा। तब पहले जिन्होंने उसकी दरकार नहीं की थी. वे स्वयं उसे निमंत्रण देते हुए कहने लगते हैं कि आओ आओ ! हम तुम्हें भिक्षा देते हैं। याचना का धर्म ही तो दैन्य होता है। ऐसा दैन्य न रखनेवाले को लोग स्वयं आमंत्रण देते हैं कि आओ ! हम तुम्हें भिक्षा देते हैं।

अथात एकधनावरोधनम्। यदेकधनमभिध्यायात् पौर्णमास्यां वाऽमा-वास्यां वा शुक्लपक्षे वा पुण्यनक्षत्रेऽग्निमुपसमाधाय परिसमूह्य परिस्तीर्य पर्युक्ष्य पूर्वदक्षिणं जान्वावाच्य स्रुवेण वा चमसेन वा कंसेन वैता आज्याहुतीर्जुहोति–वाङ्नामदेवताऽवरोधिनी सा–
मे तस्मादिदमवरुन्धा तस्यै स्वाहा, प्राणो नाम देवताऽवरोधिनी सा
मे तस्मादिदमवरुन्धा तस्यै स्वाहा, चक्षुर्नाम देवताऽवरोधिनी सा

मे तस्मादिदमवरुन्धा तस्यै स्वाहा, श्रोत्रं नाम देवताऽवरोधिनी सा मे तस्मादिदमवरुन्धा तस्यै स्वाहा, मनो नाम देवताऽवरोधिनी सा मे तस्मादिदमवरुन्धा तस्यै स्वाहा, प्रज्ञा नाम देवताऽवरोधिनी सा मे तस्मादिदमवरुन्धा तस्यै स्वाहेति। अथ धूमगन्धं प्रजिघायाज्यलेपे-नाङ्गान्यनुविमृज्य वाचंयमोऽभिप्रव्रज्यार्थं ब्रवीत दूतं वा प्रहिणुयाल्ल-भेते हैव ॥2॥

अब 'एकधनावरोधन' का कर्म (काम्योपासना) कहा जाता है। कांक्षितार्थ की सिद्धि के लिए 'एकधनावरोधन' का विचार करना चाहिए। किसी पूर्णिमा या अमावास्या को शुक्ल पक्ष में या अच्छे नक्षत्र में अग्नि की स्थापना, वेदी का परिसमूहन-संस्कार, कुशों का बिछाना, अभिमंत्रित जल से अग्निवेदी का मार्जन-अभिषेकादि करके पात्र में रखे हुए घी का अग्नि में शोधन करके दाहिने घुटने को पृथ्वी पर स्थिर करके स्रुवा से, चमस से या काँसे की करछुल से 'वाङ्नामदेवतावरोधिनी....' आदि ऊपर मूलपाठ में दिए गए छः मंत्रों से आहुतियाँ देनी चाहिए। इन छः मंत्रों का अर्थ इस प्रकार है—

''वाणी नाम की अवरोधिनी देवता सर्वकामनापूर्ण करने वाली है, वह मुझ प्राणब्रह्मोपासक को इष्ट अर्थ की प्राप्ति कराएँ। इसके लिए यह घृत की आहुति समर्पित है।'' जिस प्रकार 'वाणी' देवता के विषय में उपर्युक्त मंत्र कहकर आहुति दी गई है, वैसे ही अन्य शब्दों से प्राण को, चक्षु को, श्रोत्र को, मन को और प्रज्ञा को—कुल छः आहुतियाँ देनी चाहिए। सभी मंत्रों के शब्द एक से ही हैं। आहुतियाँ देने के बाद, धूम की गन्ध को सूँघकर और हवन से बचे हुए घी को अपने शरीर पर लेपन करके मौन भाव से धन के स्वामी के पास गमन करना चाहिए और इच्छित धन के लिए कहना चाहिए। अथवा जहाँ से वह इच्छित धन मिले उसे लाने के लिए किसी दूत को प्रेरित करना चाहिए। यहाँ वह इप्सित अर्थ मिल सकता है, अर्थात् 'एकधनावरोध' कर्म के अनुष्ठान से इप्सित फल अवश्य मिलता ही है।

अथातो दैवः स्मरो यस्य बुभूषेद्यस्यै वा एषां वै तेषामेवैकस्मिन्प-र्वण्यग्निमुपसमाधायैतयैवावृतैता आज्याहुतीर्जुहोति वाचं ते मयि जुहोम्यसौ स्वाहा। प्राणं ते मयि जुहोम्यसौ स्वाहा। चक्षुस्ते मयि जुहोम्यसौ स्वाहा। श्रोत्रं ते मयि जुहोम्यसौ स्वाहा। मनस्ते मयि जुहोम्यसौ स्वाहा। प्रज्ञानं ते मयि जुहोम्यसौ स्वाहेति। अथ धूमगन्धं प्रजिघायाज्यलेपेनाङ्गान्यनुविमृज्य वाचंयतोऽभिप्रवृज्य संस्पर्शं जिगमिषेदपि वाताद्वाऽसंभाषमाणस्तिष्ठेत्। प्रियो हैव भवति स्मरन्तीहैव स्यात् ॥3॥

अब जो प्राणोद्दिष्ट कर्म का उद्दिष्ट जो कोई किसी का प्रिय बनना चाहे, तो उसे वाक् आदि का प्रिय बनना चाहिए। किसी एक शुभ दिन पर नियमानुसार शुभ मुहूर्त पर अग्निस्थापन करके पूर्व की (पहले कही गई) सभी विधियाँ पूरी करके सभी आहुतियाँ देनी चाहिए। उन आहुतियों के मन्त्र—'वाचं ते मयि जुहोति' आदि हैं। ये मन्त्र छः हैं। उनका भावार्थ इस प्रकार है—'मैं तुम्हारी वागिन्द्रिय का अपने में हवन करता हूँ'—इसी प्रकार प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन और प्रज्ञा का हवन करना चाहिए। इस प्रकार छः मन्त्रों से छः आहुतियाँ देकर नाक से होम के धूम को सूंघकर बचे हुए घी का शरीर पर लेपन करके मौन रहकर अमुक व्यक्ति के पास साधक जाए अथवा ऐसे स्थान पर खड़ा होकर कहे, जहाँ पर

वायु के सहयोग से उसके शब्द इच्छित व्यक्ति के कानों में सुनाई पड़ें, तो अवश्य ही उस व्यक्ति का प्रिय हो जाता है। यही नहीं, बल्कि उस जगह से हट जाने पर वहाँ के निवासी उसका सदा के लिए स्मरण करते ही रहते हैं।

अथातः सायमन्नं प्रातर्दनमान्तरग्निहोत्रमिति चाचक्षते। यावद्वै पुरुषो भासते न तावत्प्राणितुं शक्नोति प्राणं तदा वाचि जुहोति। यावद्वै पुरुषः प्रणिति न तावद्वक्तुं शक्नोति वाचं तदा प्राणे जुहोति। एतेऽनन्ते-ऽमृताहुती जाग्रच्च स्वरूपं च सन्ततमव्यवच्छिन्नं जुहोति। अथ या अन्या आहुतयोऽन्तवन्यस्ताः कर्ममय्यो भवन्ति। एतदु वै पूर्वे विद्वांसोऽग्निहोत्रं जुहवांचक्रुः। अथ कथं ब्रह्मेति। शुष्कभृङ्गारमृगित्युपासीत। सर्वाणि हास्मै भूतानि श्रैष्ठ्यायाभ्यर्च्यन्ते। तद्यजुरित्युपासीत। सर्वाणि हास्मै भूतानि श्रैष्ठ्याय युज्यन्ते। तत्सामेत्युपासीत सर्वाणि हास्मै भूतानि श्रैष्ठ्याय संनमन्ते। तच्छ्रीत्युपासीत। तद्यश इत्युपासीत। तत्तेज इत्युपा-सीत। तद्यथैतच्छास्त्राणां श्रीमत्तममं यशस्वितमं तेजस्वितमं भवति। तथैवैवं विद्वान् सर्वेषां भूतानां श्रीमत्तमो यशस्वितमस्तेजस्वितमो भवति। तदेतदैष्टकं कर्म यमात्मानध्वर्युः संस्करोति तस्मिन् यद्धर्ममयं प्रभवति तद्धर्ममयं त्वम्मयं होतर्मयं साममयमुद्गाता स एष सर्वस्यै त्रयी-विद्याया आत्मैष उत एव स्यान्नैतदात्मा भवति य एवं वेद ॥4॥

अब प्रतर्दन के द्वारा किया गया अनुष्ठान 'प्रातर्दन' कहलाता है, और जो सांयमन या सांयमन्न नाम से प्रसिद्ध है, वह उपासनान्तर बताया जाता है। मनुष्य जहाँ तक बोलता रहता है, वहाँ तक वह पूर्ण रूप से साँस को ग्रहण नहीं कर सकता। उस समय वह प्राण का वाणी रूप अग्नि में हवन कर देता है। और जहाँ तक मनुष्य साँस लेता रहता है, वहाँ तक मनुष्य बोल नहीं सकता। उस समय वह वाणी का प्राण में होम कर देता है। ये वाणी और प्राणरूप दो आहुतियाँ अन्तहीन हैं, वे अमृतस्वरूप हैं। जाग्रत एवं स्वप्नकाल में भी प्राणी सदैव अविच्छिन्न रूप से इन आहुतियों को होमता ही रहता है। इसके अतिरिक्त वाणी और प्राणरूप आहुतियों से भिन्न जो अन्य द्रव्यमयी आहुतियाँ हैं, वे तो कर्म द्वारा गतिमान रहा करती हैं। प्रसिद्ध है कि इस रहस्य को जानने वाले प्राचीन काल के विद्वान् केवल कर्ममय अग्निहोत्र का अनुष्ठान किया करते थे। तब प्राण ही ब्रह्म है—ऐसा कैसे कहा जा सकता है ? (इतने मात्र से जाग्रत्स्वप्नरूप अग्निहोत्र दृष्टि से ब्रह्मोपासन किस तरह से हो सकता है ? यह बताते हैं—) शुष्क - जाग्रदादि से अतिरिक्त भृंगार - स्फटिक के टुकड़े के समान विशुद्ध प्राण की वेदत्रयी के रूप में उपासना करनी चाहिए। अर्थात् प्राण में क्रमशः ऋग्वेदादि तीन वेदों की इष्टि करनी चाहिए। ऐसे विद्वान् के लिए सभी प्राणी श्रेष्ठ बनने के लिए प्रार्थना करते हैं। उस प्राण की यजुर्वेद के रूप में उपासना करनी चाहिए। इससे सब प्राणी उस ज्ञानी की श्रेष्ठता के लिए सहयोग करते हैं। उस प्राण की सामवेद के रूप में उपासना करनी चाहिए। इससे सब प्राणी उस ज्ञानी की श्रेष्ठता में झुक जाते हैं। उसकी श्रीभाव से उपासना करनी चाहिए। उसकी यशभाव से उपासना करनी चाहिए। उसकी तेजभाव से उपासना करनी चाहिए। जिस तरह अध्यात्मशास्त्र सभी शास्त्रों में सबसे ज्यादा श्रीमय और यशोमय होता है, इसी तरह वह ज्ञानी, जो प्राण को सही स्वरूप में जानता है वह सभी प्राणियों में सर्वाधिक श्रीसम्पन्न, परम यशस्वी और परम तेजोमय होता है। इस प्राण को तथा इष्टिनिर्मित यज्ञवेदी

पर रखे गए अग्नि में अभिन्नता का अनुभव करने वाला अध्वर्यु अपना संस्कार सम्पन्न करता है। और उसी प्राण में वह यजु:साध्य कार्यों का विस्तरण करता है। इस वेदत्रयी विद्या की आत्मा (प्राण) वह अध्वर्यु है। प्राण ही इस विद्या की आत्मा है। जो मनुष्य प्राण को इस प्रकार जानता है, वह स्वयं भी प्राण के तुल्य हो जाता है।

अथातः सर्वजितः कौषीतकिस्त्रीण्युपासनानि भवन्ति। यज्ञोपवीतं कृत्वाऽप आचम्य त्रिरुदपात्रं प्रसिच्योद्यन्तमादित्यमुपतिष्ठेत् वर्गोऽसि पाप्मानं मे वृङ्धीति, एतयैवावृता मध्ये सन्तमुद्वर्गोऽसि पाप्मानं मे उद्वृङ्धीति, एतयैवावृताऽस्तं यन्तं संवर्गोऽसि पाप्मानं मे संवृङ्धीति, यदहोरात्राभ्यां पापं करोति सं तद्वृङ्क्ते। अथ मासि मास्यमावास्यायां पश्चाच्चन्द्रमसं दृश्यमानमुपतिष्ठेतैतयैवावृता हरिततृणाभ्यां वा वृत्तः स्यात् यत्ते स्वसीमं हृदयमसि चन्द्रमसि शृतं तेनामृतत्वमस्येशानं माऽहं पौत्रमघं रुहमिति। न हास्मात् पूर्वाः प्रजाः प्रयन्तीति। न जातपुत्रस्याथ जातपुत्रस्य ह यं समेत्तातु सन्ते पयांसि सस्वयन्तु राजा यामात्या अंशुमाप्यायन्तीत्येतास्तिस्त्र ऋचो जपित्वा नास्माकं प्राणेन प्रजया पशुभिराप्याययिष्ठा योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः तस्य प्राणेन प्रजया पशुभिराप्याययस्वेति दैवीमावृतमावर्त आदित्यस्यावृतमन्वावर्तयति दक्षिणं बाहुमन्वावर्तते ॥5॥

इसके बाद कौषीतकि ऋषि, जो कि 'सर्वजित्' थे, उनकी कही हुई तीन प्रकार की उपासनाएँ कही जाती हैं। यज्ञोपवीत को सव्य करके आचमन करके, जलपात्र को तीन बार शुद्ध जल से भरकर उगते हुए सूर्य के सामने अर्घ्य प्रदान करना चाहिए। अर्घ्य प्रदान करने का मंत्र है—'ॐ वर्गोऽसि पाप्मानं मे वृङ्धि।' अर्थात् 'तुम संसार को तृणवत् छोड़ देने वाले हो, मेरे पापों का नाश करो।' इसी प्रकार मध्याह्न काल में भी अर्घ्य देना चाहिए। उस समय का मन्त्र है—'ॐ उद्वर्गोऽसि पाप्मानं मे वृङ्धि' अर्थात् 'उद्वर्ग ऐसे तुम मेरे पापों को दूर करो।' इसी प्रकार अस्त होते हुए सूर्य को अर्घ्य देते हुए यह मंत्र कहे—'ॐ संवर्गोऽसि पाप्मानं में वृङ्धि' अर्थात् 'संवर्ग ऐसे तुम मेरे पापों को दूर करो।' इस उपासना का परिणाम यह है कि मनुष्य दिन और रात में होने वाले पापों से सर्वथा मुक्त हो जाता है। हर महीने की अमावास्या को, जब चन्द्र पीछे दिखाई दे, तब उसके सामने खड़ा होकर उपर्युक्त विधि से ही उपस्थान (पूजन) करना चाहिए। इस समय अर्घ्यपात्र में दो हरी दूर्वा के अंकुर भी रखने चाहिए। अर्घ्य देते समय यह मंत्र बोलना चाहिए—'यत्ते स्वसीमं ...... पौत्रमघं रुहम्' (पूरा मंत्र मूलपाठ में दिया गया है)। इस मंत्र के साथ पूर्वोक्त उपासना करने स्व वाले मनुष्य से पहले उसकी सन्तानों की मृत्यु नहीं होती। पुत्र उत्पन्न न हुआ हो, या हुआ हो पर मेरा रक्षण करो, रक्षण करो—इस प्रकार 'सन्ते पयांसि......' आदि (मूलपाठ में उद्धृत) मंत्र से चन्द्रमा की प्रार्थना करनी चाहिए। अपुत्र या सपुत्र ऐसे मेरे पापों के खाने वाले देवरूप आचार्य, जिसको मनु कहते हैं, वह इस मंत्र के द्वारा स्तुति किए गए मेरे प्राण, प्रजा, पशु आदि का रक्षण करे—यह भाव है। और हमसे जो द्वेष करता है या हम जिससे द्वेष करते हैं, उस मेरे शत्रु को हे सवितादेव! प्राण से, प्रजा से, पशुओं से तुम तृप्ति का अनुभव करो। इसके लिए 'दैवीमावृत.....' आदि (मूल पाठ में उद्धृत) मंत्र का जाप (उच्चारण) करना चाहिए।

अथ पौर्णमास्यां पुरस्ताच्चन्द्रमसं दृश्यमानमुपतिष्ठेतैतयैवावृता–''सोमो राजाऽसि विचक्षणः पञ्चमुखोऽसि प्रजापतिर्ब्राह्मणस्त एकं मुखं तेन मुखेन राज्ञोत्थितेन मुखेन मामन्ववादं कुरु। राजा त एकं मुखं तेन मुखेन विशोत्थितेनैव मुखेन मामन्ववादं कुरु। श्येनस्त एकं मुखं तेन मुखेन पक्षिणोत्थितेन मुखेन मामन्ववादं कुरु। अग्निस्त एकं मुखं तेन मुखेनेमं लोकमुत्थितेन मुखेन मामन्ववादं कुरु। सर्वाणि भूतानीत्येव पञ्चममुखं तेन मुखेन सर्वाणि भूतान्युत्थितेन मुखेन मामन्ववादं कुरु। माऽस्माकं प्राणेन प्रजया पशुभिरवक्षेष्ठा योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तस्य प्राणेन प्रजया पशुभिरपक्षीयस्वेति स्थितिर्दैवीमावृतमावर्त आदित्यस्यावर्तमन्वावर्तन्त'' इति दक्षिणं बाहुमन्वावर्तते।

अथ संवेश्य नु जायायै हृदयमभिमृशेत्—

'यत्ते सुसीमे हृदये हिमवन्तः प्रजापतौ।
मन्येऽहं मां तद्विद्वांसं माऽहं पौत्रमघं रुदम्'॥

इति। न हास्मात् पूर्वाः प्रजाः प्रैति (प्रयन्ति) ॥6॥

पूर्णिमा के दिन जब चन्द्र सामने दिखाई दे, तब उसके सम्मुख खड़े होकर पूर्व मंत्र में बताई गई विधि के द्वारा पाँच प्राणों की वृत्तिवाले पाँच स्तावक (स्तुतिपरक) मंत्रों से जप करना चाहिए। (यह विशिष्ट फल देने वाली एक अन्य उपासना है)। वह मंत्र इस प्रकार है—''सोमो राजासि······आदित्य-स्यावर्तमन्ववर्तन्त' (पूरा मंत्र मूलपाठ में दिया गया है)। मंत्र का भावार्थ इस प्रकार है—'हे सोमदेव! तुम विचक्षण हो, पाँच मुख वाले हो, प्रजापति हो। ब्राह्मण तुम्हारा एक मुख है, राज्ञा (सूर्य) के साथ उत्पन्न हुए उस मुख से तुम मुझे निर्विवाद रूप से शक्तिसम्पन्न बनाओ। क्षत्रिय तुम्हारा एक मुख है, वैश्यों के साथ उत्पन्न हुए इस मुख से मुझे निर्विवाद रूप से शक्तिसम्पन्न बनाओ। श्येन (बाज) तुम्हारा एक मुख है, पक्षियों के साथ उत्पन्न हुए इस मुख से तुम मुझे निर्विवाद रूप से शक्तिसम्पन्न बनाओ। अग्नि भी तुम्हारा एक मुख है, तुम उस मुख के साथ उत्पन्न हुए इस लोक को और मुझे शक्तिसम्पन्न बनाओ। और ये सभी भूत भी तुम्हारा पाँचवाँ मुख है उस मुख से जो सभी भूतों के साथ उत्पन्न हुआ है, उसे और मुझे शक्तिसम्पन्न बनाओ।' तुम हमारे प्राणों, हमारी सन्तानों एवं पशुओं से हमें कमजोर मत करो। परन्तु जो लोग हमसे द्वेष करते हैं, या हम जिनसे द्वेष करते हैं, ऐसे लोगों के प्राणों, सन्तानों तथा पशुओं को नष्ट कर दो। मैं तो मन्त्राधिपति देवता और तुम्हारी संवरण क्रिया का अनुसरण करने वाला हूँ''। इस प्रकार से उपर्युक्त मंत्र का पाठ करते हुए दाहिनी भुजा को बार-बार घुमाना चाहिए। और बाद में भुजा को नीचे कर देना चाहिए।

इस प्रकार से सोम की प्रार्थना करने के बाद (गर्भाधान के लिए) पत्नी के पास बैठने से पहले इसके हृदय का स्पर्श करना चाहिए। स्पर्श करते हुए यह मन्त्र बोलना चाहिए—'यत्ते सुसीमे······पौत्रमघं रुदम्' (यह पूरा मंत्र मूलपाठ में दिया गया है)। इस मन्त्र का भावार्थ इस प्रकार है—''हे सुंदर मांग भरने वाली सुन्दरी! तुम सोमरूप वाली हो। तुम्हारा हृदय प्रजा का चालक (पालक) है। उसके भीतर जो सोममण्डल जैसा अमृतराशि – दूध स्थित है, उसे मैं जानता हूँ। मैं स्वयं को उसका पूर्ण ज्ञाता समझता हूँ। इससे मुझे कभी पुत्रशोक झेलना नहीं पड़ेगा''। इस तरह की प्रार्थना करने से साधक के पहले उसकी सन्तान की मृत्यु नहीं होती।

[इस कण्डिका में कहीं-कहीं 'राज्ञोऽत्सि', 'विशोऽत्सि', 'पक्षिणोऽत्सि', 'लोकमत्सि' और 'भूतान्यत्सि' ऐसे पाठ मिलते हैं और 'अन्ववाहं' की जगह पर 'अन्नाहं' ऐसा पाठ भी मिलता है। ऐसा पाठ लेने पर ब्राह्मण क्षत्रिय का, क्षत्रिय वैश्य का, बाजपक्षी अन्य पक्षियों का भक्षणकर्त्ता है—ऐसा अर्थ निकलता है। और 'अन्नादं' पाठ से 'अन्न पचाने की शक्ति वाला'—ऐसा अर्थ निकलता है। दोनों में प्रथम अर्थ हमें अधिक अनुकूल लगता है।]

अथ प्रोष्यायनः पुत्रस्य मूर्धानमभिमृशति। अङ्गादङ्गात् सम्भवसि। हृदयादधि जायसे। आत्मा वै पुत्र माविध स जीव शरदः शतंमसाविति नामास्य गृह्णाति। मा छेत्ता मा व्यथिष्ठाः शतं शरद आयुषं जीव पुत्र। ते नाम्ना मूर्धानमभिजिघ्राम्यसाविति त्रिर्मूर्धानमभिजिघ्रेत्। गवा त्वा हिंकारेणाभिहिंकरोमीति त्रिर्मूर्धानमभिहिंकुर्यात् ॥7॥

विदेश से वापस आये हुए अपने पुत्र के मस्तक पर हाथ फेरकर यह मंत्र बोलना चाहिए—'अङ्गादङ्गात्संभवसि····· शरदः शतम् असौ।' (पूरा मंत्र मूलपाठ में दिया गया है)। मन्त्र का भावार्थ इस प्रकार है—'हे अमुक नाम के पुत्र! तुम मेरे अंग-प्रत्यंग से उत्पन्न हुए हो। मेरे हृदय से तुम्हारा प्रादुर्भाव हुआ है। तुम मेरे आत्मस्वरूप हो। तुम्हीं ने हमारे वंश की रक्षा की है। तुम (यहाँ नाम बोलना चाहिए) शतायु हो।' फिर इस मंत्र को पढ़ते हुए तीन बार पुत्र के मस्तक को सूंघते हुए यह मंत्र बोलना चाहिए—'मा छेत्ता·····मूर्धानमभिजिघ्रामि।' (पूरा मंत्र मूलपाठ में दिया गया है) इस मंत्र का भावार्थ इस प्रकार है—'हे पुत्र! सन्तान परम्परा का उच्छेद न करना। तुम्हें किसी प्रकार का कष्ट न हो। तुम सैंकड़ों वर्षों तक जीवित रहो। मैं तुम्हारा पिता तुम्हारे अमुक नाम से (अमुक की जगह पुत्र का नाम लेना चाहिए) तीन बार तुम्हारे मस्तक को सूँघता हूँ।' इसके बाद निम्नलिखित मंत्र को पढ़कर पुत्र के मस्तक पर सभी ओर से हिंकार का उच्चारण करना चाहिए। मन्त्र यह है—'गवा त्वा·····हिंकरोमि।' (पूरा मंत्र मूलपाठ में दिया गया है)। मंत्र का भावार्थ इस प्रकार है—'हे वत्स! गायें जिस प्रकार अपने बछड़े को बुलाने के लिए रँभाती हैं, उसी प्रकार मैं प्रेम से तुम्हें हिंकार के द्वारा बुलाता हूँ'।

[कहीं-कहीं मस्तक का अभिस्पर्शन करने के बाद नामोच्चारण करते समय 'अश्मा भव·····' इत्यादि मंत्र और 'येन प्रजापति·····' इत्यादि मन्त्र—इस प्रकार दो अधिक मंत्रों का पाठ करने का विधान भी किया गया है। परन्तु, अधिकांश वाचनाओं में ऊपर मूल में दिया गया पाठ है। ब्रह्मयोगीजी के विवरण में भी ऊपर मूल में दिये एक ही मंत्र का विधान किया गया है।]

अथातो दैवः परिमरः। एतद्वै ब्रह्म दीप्यते यदग्निर्ज्वलत्यथैतन्म्रियते यन्न ज्वलति तस्यादित्यमेव तेजो गच्छति वायुं प्राणः। एतद्वै ब्रह्म दीप्यते यथा मर्त्यो दृश्यतेऽथैतन्म्रियते यन्न दृश्यते तस्य चन्द्रमसमेव तेजो गच्छति वायुं प्राणः। एतद्वै ब्रह्म दीप्यते यद्विद्युद्विद्योततेऽथैतन्म्रियते यन्न विद्योतते तस्य वायुमेव तेजो गच्छति वायुं प्राणः। ता वा एताः सर्वा देवता वायुमेव प्रविश्य वायौ तृप्ता न मूर्च्छन्ते। तस्माद्वैव पुनरुदीरत इत्यधिदैवतम्। अथाध्यात्मम्। एतद्वै ब्रह्म दीप्यते यद्वाचा वदत्यथै-तन्म्रियते यन्न वदति तस्य चक्षुरेव तेजो गच्छति प्राणं प्राणः। एतद्वै ब्रह्म दीप्यते यच्चक्षुषा पश्यत्यथैतन्म्रियते यन्न पश्यति तस्य श्रोत्रमेव तेजो गच्छति प्राणं प्राणः। एतद्वै ब्रह्म दीप्यते यन्मनसा ध्यायत्यथैतन्म्रियते

यन्न ध्यायति तस्य प्राणमेव तेजो गच्छति प्राणं प्राणः । ता वा एताः सर्वा देवताः प्राणमेव प्रविश्य प्राणे क्लृप्ता न मूर्च्छन्ते तस्माद्धैव पुनरुदीरते । तद्यदिह वा एवं विद्वांस उभौ पर्वतावभिप्रवर्तयातां तस्त्व(तौ त्व)र्षमाणौ दक्षिणश्चोत्तरश्च न हैवैनं त्रीणि वीयाताम् । अथ य एनं द्विषन्ति यांश्च स्वयं द्वेष्टि त एनं सर्वे परितो म्रियन्ते ॥8॥

अब इसके बाद देवसम्बद्ध 'परिमर' का वर्णन किया जाता है । [कहीं-कहीं 'परिसर' पाठ भी दिया गया है । यहाँ परिमर का अर्थ सर्वसमावेशक ब्रह्मरूप प्राण है] । यहाँ जो प्रत्यक्ष रूप में अग्नि जलता है, वह वास्तव में ब्रह्म ही प्रकाशित हो रहा है, और जब अग्नि नहीं जलता, तब उसका तेज सूर्य में मिल जाता है और प्राण मुख्य प्राण में मिल जाता है । इसी प्रकार मनुष्य के भीतर का प्राण चलता हुआ दिखाई दे रहा है वह भी वास्तव में ब्रह्म ही प्रकाशित हो रहा है, पर वह जब नहीं चलता तब उसका तेज चन्द्रमा में ही मिल जाता है और प्राण मुख्य प्राण में चला जाता है । इसी तरह बिजली चमकती है, वह वास्तव में ब्रह्म ही प्रकाशित होता है । जब वह नहीं चमकती, तब उसका तेज वायु में चला जाता है और प्राण मुख्य प्राण में चला जाता है । इसी प्रकार ये सभी देवता भी वायु में ही प्रविष्ट हो जाया करते हैं, और वायु से ही तृप्त होकर वहाँ रहा करते हैं और नष्ट नहीं होते और पुनः उसी में से उत्पन्न हुआ करते हैं । यह अधिदैवत पक्ष की बात हुई । अब अध्यात्मपक्ष लेकर बात कही जा रही है कि मनुष्य जो वाणी से बोलता है, वह वास्तव में ब्रह्म ही प्रकाशित होता है । वाणी जब नहीं बोली जाती तब उसका तेज चक्षु में चला जाता है और इसी तरह प्राण का प्राण में मिलन होता है । मनुष्य जो आँख से देखता है वहाँ भी वास्तव में ब्रह्म ही प्रकाशित होता है । जब आँख देखती नहीं तब उसका तेज श्रोत्र में चला जाता है और इस तरह प्राण से प्राण मिल जाता है । मनुष्य मन से ध्यान करता है, वहाँ भी वास्तव में ब्रह्म ही प्रकाशित होता है । जब ध्यान नहीं किया जाता, तब उसका तेज प्राण में ही चला जाता है और इस तरह प्राण से प्राण मिल जाता है । ये भीतर के भी सभी देव प्राण में ही प्रविष्ट होकर प्राणों में ही अवस्थित रहकर नष्ट नहीं होते और फिर प्राण से ही पुनः उत्पन्न हुआ करते हैं । इस दैवपरिमर (प्राण ब्रह्म) के पूर्ण ज्ञानी विद्वान्, धरती के उत्तरी-दक्षिणी ध्रुवों में फैले दो पर्वतों को अपनी इच्छा के अनुसार प्रेरित करें, तो वे पर्वत भी इसकी आज्ञा की उपेक्षा नहीं कर सकते । तदुपरान्त, जो मनुष्य ऐसे ज्ञानी से द्वेष करते हैं, और ये ज्ञानी जिनसे द्वेष करते हैं वे सभी सब ओर से विनष्ट होते हैं ।

[इस परिमराख्य उपासना के अधिदैव और अध्यात्म उपासना सम्बन्धी कण्डिकाएँ कहीं-कहीं दो भागों में बाँटी गईं हैं । दोनों कण्डिकाओं में कई वाचनाओं में यत्र-तत्र छोटे-मोटे अनेक पाठान्तर मिलते हैं, पर जहाँ तक भावार्थ का सम्बन्ध है, इसमें कुछ खास अन्तर नहीं पड़ता । यहाँ ब्रह्मयोगी वाली वाचना ली गई है] ।

अथातो निःश्रेयसादानम् । सर्वा ह वै देवता अहंश्रेयसे विवदमाना अस्माच्छरीरादुच्चक्रमुः । तद्दारुभूतं शिष्ये । अथ हैनद्वाक्प्रविवेश । तद्वाचा वदच्छिष्य एव । अथ हैनच्चक्षुः प्रविवेश । तद्वाचा वदच्चक्षुषा पश्यच्छिष्य एव । अथ हैनच्छ्रोत्रं प्रविवेश । तद्वाचा वदच्चक्षुषा पश्यच्छ्रोत्रेण शृण्वच्छिष्य एव । अथ हैनन्मनः प्रविवेश । तद्वाचा वदच्चक्षुषा पश्यच्छ्रोत्रेण शृण्वन्मनसा ध्यायच्छिष्य एव । अथ हैनत्

प्राणः प्रविवेश तत्तत एव समुत्तस्थौ । तद्देवाः प्राणे निःश्रेयसं विदित्वा प्राणमेव प्रज्ञाऽऽत्मानमभिसंस्तूय सहैतैः सर्वैरस्माल्लोकादुच्चक्रमुः । ते वायुप्रतिष्ठाकाशात्मानः स्वर्जयः । तथो एवैवं विद्वान् सर्वेषां भूतानां प्राणमेव प्रज्ञाऽऽत्मानमभिसंस्तूय सहैतैः सर्वैरस्माच्छरीरादुत्क्रामति स वायुप्रतिष्ठाकाशात्मा स्वरेति सद्भवति यत्रैतद्देवास्तत् प्राप्य तदमृतो भवति यदमृतो देवाः ॥9॥

अब मोक्षसाधक उपासना का वर्णन किया जा रहा है। एक बार वाणी आदि सभी देव अपने अहंकार के वशीभूत हो आपस में विवाद करते हुए प्राण के साथ इस शरीर के बाहर चले गए। जिससे शरीर काष्ठवत् (जडवत्) होकर पड़ा रहा। तब कहीं वाणी ने इस शरीर में प्रवेश किया। वह शरीर वाणी से बोलते हुए भी जडवत् पड़ा ही रहा। बाद में उसमें चक्षु ने प्रवेश किया तब वह बोलते हुए और देखते हुए भी सोता ही रहा। तब कहीं उसमें श्रोत्र ने प्रवेश किया। तो भी वह बोलता था, देखता था, सुनता भी था पर सोया ही रहा, उठ न पाया। तब उसमें मन ने प्रवेश किया। तब भी वह बोलते हुए, देखते हुए, सुनते हुए तथा सोच-विचार करते हुए भी वह जडवत् सोता ही रहा। तब उसमें प्राण ने प्रवेश किया जिससे वह एकदम खड़ा हो गया। तब देवों ने प्राण में ही मोक्षसाधकत्व निश्चित करके प्राण को ही विशिष्ट ज्ञानस्वरूप और व्याप्त जानकर प्राणापानादि सभी प्राणों के साथ इस शरीर लोक से ऊर्ध्व की ओर (शरीर से बाहर) गमन किया। इसके बाद ये सब प्राण, आधिदैविक प्राण में स्थिर होकर आकाश के रूप में परिणत होकर स्वर्गलोक में गए। वे अपने अधिष्ठाता देव अग्नि आदि के स्वरूप वाले हो गए। (जैसे देवों का हुआ वैसे ही) इसका जानने वाला भी प्राणरूप हो जाता है। यह विद्वान सम्पूर्ण प्राणियों से प्राण को ही प्रज्ञात्मारूप से पाकर इन सभी प्राणों के साथ शरीर से उत्क्रमण कर, वायु में स्थित होकर स्वर्ग में जाते हैं, अर्थात् ब्रह्मलोक में जाते हैं और वहाँ ब्रह्मरूप ही हो जाते हैं। जिस बोध से ये देव अमृतत्व को प्राप्त हुए, उसी बोध से ज्ञानी भी अमृतत्व पाता है।

अथातः पितापुत्रो यं सम्प्रदानमिति चाचक्षते। पिता पुत्रं प्रेष्याह्वयति। नवैस्तृणैरागारं संस्तीर्याग्निमुपसमाधायोदकुम्भं सपात्रमुपनिधायाहतेन वाससा सम्प्रच्छन्नं ह्यत एत्य पुत्र उपरिष्टादभिनिष्पद्येत इन्द्रियैरस्येन्द्रियाणि संस्पृश्यापि वाऽस्याभिमुखत एवासीत। अथास्मै सम्प्रयच्छति–वाचं मे त्वयि दधानीति पिता। वाचं ते मयिं दध इति पुत्रः। चक्षुर्मे त्वयि दधानीति पिता। चक्षुस्ते मयि दध इति पुत्रः। श्रोत्रं मे त्वयि दधानीति पिता। श्रोत्रं ते मयि दध इति पुत्रः। मनो मे त्वयि दधानीति पिता। मनस्ते मयि दध इति पुत्रः। अन्नरसान् मे त्वयि दधानीति पिता। अन्नरसांस्ते मयि दध इति पुत्रः। कर्माणि मे त्वयि दधानीति पिता। कर्माणि ते मयि दध इति पुत्रः। सुखदुःखे मे त्वयि दधानीति पिता। सुखदुःखे ते मयि दध इति पुत्रः। आनन्दं रतिं प्रजातिं मे त्वयि दधानीति पिता। आनन्दं रतिं प्रजातिं ते मयि दध इति पुत्रः। इत्यां मे त्वयि दधानीति पिता। इत्यास्ते मयि दध इति पुत्रः। धियो विज्ञातव्यं कामान् मे त्वयि दधानीति पिता। धियो विज्ञातव्यं कामांस्ते मयि दध इति पुत्रः। अथ दक्षिणाप्राक्प्राङ् परिक्रामति तं पिताऽनु-

मन्त्रयति—यशो ब्रह्मवर्चसमन्नाद्यं कीर्तिस्त्वा जुषतामिति। अथेतरः सव्यमंसमन्ववेक्षते पाणिनाऽन्तर्धाय वसनात्तु वा प्रच्छाद्य सर्वान् लोकान् कामानवाप्नुहीति स्वयं ह्येकतः स्यात्। पुत्रस्यैश्वर्ये पिता वसेत परि वा व्रजेयुः। यद्यु वै प्रयुज्यादेवैनं समापयति तथा समापयितव्यो भवति ॥10॥

इति द्वितीयोऽध्यायः।

अब पिता-पुत्र के सम्प्रदान कर्म का वर्णन किया जा रहा है। पिता जब ऐसा निर्णय करे कि मुझे अब अपना शरीर छोड़ना है, तब वह अपने पुत्र को अपने पास बुलाकर कुशादि तृणों से यज्ञशाला आच्छादित करके विधिपूर्वक अग्निस्थापन करे। अग्नि की पूर्व या उत्तर दिशा में जल से भरा कुंभ स्थापित करे। कुंभ पर धान्य से भरा पात्र भी रखे। स्वयं नए वस्त्रों से आच्छादित होकर श्वेत वस्त्र और माला आदि धारण करके घर में प्रवेश करते हुए अपने पुत्र को अपने पास बुलाए। पुत्र के पास आ जाने पर उसे अपने अंक में बिठाकर अपनी इन्द्रियों से पुत्र की इन्द्रियों का स्पर्श करे अथवा वह पुत्र के समक्ष बैठ जाए और उसे अपनी वाणी आदि सभी इन्द्रियों का दान करे। यथा—पिता—'पुत्र ! मैं तुझमें अपनी वाक् शक्ति का स्थापन करता हूँ।' पुत्र—'मैं आपकी वाक्शक्ति ग्रहण करता हूँ।' पिता—'मैं तुझमें अपनी प्राणशक्ति स्थापित करता हूँ।' पुत्र—'मैं आपकी प्राणशक्ति ग्रहण करता हूँ।' पिता—'मैं अपनी नेत्रेन्द्रिय को तुझमें स्थापित करता हूँ।' पुत्र—'मैं नेत्रेन्द्रिय को ग्रहण करता हूँ।' पिता—'मैं अपनी श्रोत्रेन्द्रिय को तुझमें स्थापित करता हूँ।' पुत्र—'मैं श्रोत्रेन्द्रिय का ग्रहण करता हूँ।' पिता—'मैं अपने मन को तुझमें स्थापित करता हूँ।' पुत्र—'मैं आपके मन को धारण करता हूँ।' पिता—'मैं अन्नरसों को तुझमें स्थापित करता हूँ।' पुत्र—'मैं आपके अन्नरस को धारण करता हूँ।' पिता—'मैं अपने सभी कर्मों को तुझमें स्थिर करता हूँ।' पुत्र—'मैं आपके कर्मों को धारण करता हूँ।' पिता—'मैं अपने सुख-दुःखों को तुझमें स्थापित करता हूँ।' पुत्र—'मैं आपके सुख-दुःखों को ग्रहण करता हूँ।' पिता—'मैं तुझमें मैथुन जनित आनन्द, रति और सन्तानोत्पादक शक्ति स्थापित करता हूँ।' पुत्र—'मैं रतिजनित आनन्द और सन्तानशक्ति ग्रहण करता हूँ।' पिता—'मैं तुझमें अपनी गतिशक्ति स्थापित करता हूँ।' पुत्र—'मैं गतिशक्ति को ग्रहण करता हूँ'। पिता—'मैं अपनी बुद्धि को, ज्ञेय वस्तु को और कामनाओं को तुझमें स्थापित करता हूँ'। पुत्र—'मैं आपकी बुद्धिवृत्तियों को, विज्ञान और ज्ञेय वस्तुओं को ग्रहण करता हूँ।' बाद में पुत्र पिता की प्रदक्षिणा करके पूर्व की ओर पिता के पास से गुजरता है। उस समय पिता पुत्र से कहते हैं कि—'यश-ब्रह्मतेज-अन्न ग्रहण करने और पचाने की शक्ति और श्रेष्ठ सद्‌गुण एवं कीर्ति तुम्हारा सेवन करें।' पिता के ऐसा कहने पर पुत्र अपने बायें कन्धे की ओर दृष्टि करके हाथ से या कपड़े से ओट कर ले। तत्पश्चात् उस आड़ में पिता पुत्र से यह कहे—'आप अपनी इच्छानुसार कामनायुक्त स्वर्ग को या समस्त लोकों की प्राप्ति करें। इसके अनन्तर यदि पिता नीरोगी हो तो ग्रहस्थाश्रमी बनकर ऐश्वर्य भोगे, अन्यथा सब कुछ छोड़कर संन्यासी हो जाएँ अथवा परलोक में चले जाएँ, तो भी जिन-जिन वाणी आदि इन्द्रियों को उसने पुत्र में प्रतिष्ठित किया था, उन सभी की शक्तिधाराओं का वह अधिकारी बन जाता है। वे सभी शक्तिधाराएँ उसे प्राप्त हो जाती हैं।

यहाँ दूसरा अध्याय पूर्ण होता है।

❋

प्राणः प्रविवेश तत्तत एव समुत्तस्थौ। तद्देवाः प्राणे निःश्रेयसं विदित्वा प्राणमेव प्रज्ञाऽऽत्मानमभिसंस्तूय सहैतैः सर्वैरस्माल्लोकादुच्चक्रमुः। ते वायुप्रतिष्ठाकाशात्मानः स्वर्जयः। तथो एवैवं विद्वान् सर्वेषां भूतानां प्राणमेव प्रज्ञाऽऽत्मानमभिसंस्तूय सहैतैः सर्वैरस्माच्छरीरादुत्क्रामति स वायुप्रतिष्ठाकाशात्मा स्वरेति सद्भवति यत्रैतद्देवास्तत् प्राप्य तदमृतो भवति यदमृतो देवाः ॥१॥

अब मोक्षसाधक उपासना का वर्णन किया जा रहा है। एक बार वाणी आदि सभी देव अपने अहंकार के वशीभूत हो आपस में विवाद करते हुए प्राण के साथ इस शरीर के बाहर चले गए। जिससे शरीर काष्ठवत् (जडवत्) होकर पड़ा रहा। तब कहीं वाणी ने इस शरीर में प्रवेश किया। वह शरीर वाणी से बोलते हुए भी जडवत् पड़ा ही रहा। बाद में उसमें चक्षु ने प्रवेश किया तब वह बोलते हुए और देखते हुए भी सोता ही रहा। तब कहीं उसमें श्रोत्र ने प्रवेश किया। तो भी वह बोलता था, देखता था, सुनता भी था पर सोया ही रहा, उठ न पाया। तब उसमें मन ने प्रवेश किया। तब भी वह बोलते हुए, देखते हुए, सुनते हुए तथा सोच-विचार करते हुए भी वह जडवत् सोता ही रहा। तब उसमें प्राण ने प्रवेश किया जिससे वह एकदम खड़ा हो गया। तब देवों ने प्राण में ही मोक्षसाधकत्व निश्चित करके प्राण को ही विशिष्ट ज्ञानस्वरूप और व्याप्त जानकर प्राणापानादि सभी प्राणों के साथ इस शरीर लोक से ऊर्ध्व की ओर (शरीर से बाहर) गमन किया। इसके बाद ये सब प्राण, आधिदैविक प्राण में स्थिर होकर आकाश के रूप में परिणत होकर स्वर्गलोक में गए। वे अपने अधिष्ठाता देव अग्नि आदि के स्वरूप वाले हो गए। (जैसे देवों का हुआ वैसे ही) इसका जानने वाला भी प्राणरूप हो जाता है। यह विद्वान सम्पूर्ण प्राणियों से प्राण को ही प्रज्ञात्मारूप से पाकर इन सभी प्राणों के साथ शरीर से उत्क्रमण कर, वायु में स्थित होकर स्वर्ग में जाते हैं, अर्थात् ब्रह्मलोक में जाते हैं और वहाँ ब्रह्मरूप ही हो जाते हैं। जिस बोध से ये देव अमृतत्व को प्राप्त हुए, उसी बोध से ज्ञानी भी अमृतत्व पाता है।

अथातः पितापुत्रो यं सम्प्रदानमिति चाचक्षते। पिता पुत्रं प्रेष्याह्वयति। नवैस्तृणैरागारं संस्तीर्याग्निमुपसमाधायोदकुम्भं सपात्रमुपनिधायाहतेन वाससा सम्प्रच्छन्नं ह्यत एत्य पुत्र उपरिष्टादभिनिष्पद्येत इन्द्रियै-रस्येन्द्रियाणि संस्पृश्यापि वाऽस्याभिमुखत एवासीत। अथास्मै सम्प्रय-च्छति–वाचं मे त्वयि दधानीति पिता। वाचं ते मयि दध इति पुत्रः। चक्षुर्मे त्वयि दधानीति पिता। चक्षुस्ते मयि दध इति पुत्रः। श्रोत्रं मे त्वयि दधानीति पिता। श्रोत्रं ते मयि दध इति पुत्रः। मनो मे त्वयि दधानीति पिता। मनस्ते मयि दध इति पुत्रः। अन्नरसान् मे त्वयि दधानीति पिता। अन्नरसांस्ते मयि दध इति पुत्रः। कर्माणि मे त्वयि दधानीति पिता। कर्माणि ते मयि दध इति पुत्रः। सुखदुःखे मे त्वयि दधानीति पिता। सुखदुःखे ते मयि दध इति पुत्रः। आनन्दं रतिं प्रजातिं मे त्वयि दधानीति पिता। आनन्दं रतिं प्रजातिं ते मयि दध इति पुत्रः। इत्यां मे त्वयि दधानीति पिता। इत्यास्ते मयि दध इति पुत्रः। धियो विज्ञातव्यं कामान् मे त्वयि दधानीति पिता। धियो विज्ञातव्यं कामांस्ते मयि दध इति पुत्रः। अथ दक्षिणाप्राक्प्राङ् परिक्रामति तं पिताऽनु-

मन्त्रयति—यशो ब्रह्मवर्चसमन्नाद्यं कीर्तिस्त्वा जुषतामिति। अथेतरः सव्यमंसमन्ववेक्षते पाणिनाऽन्तर्धाय वसनात्तु वा प्रच्छाद्य सर्वान् लोकान् कामानवाप्नुहीति स्वयं ह्येकतः स्यात्। पुत्रस्यैश्वर्ये पिता वसेत परि वा व्रजेयुः। यद्यु वै प्रयुज्यादेवैनं समापयति तथा समापयितव्यो भवति ॥10॥

इति द्वितीयोऽध्यायः।

अब पिता-पुत्र के सम्प्रदान कर्म का वर्णन किया जा रहा है। पिता जब ऐसा निर्णय करे कि मुझे अब अपना शरीर छोड़ना है, तब वह अपने पुत्र को अपने पास बुलाकर कुशादि तृणों से यज्ञशाला आच्छादित करके विधिपूर्वक अग्निस्थापन करे। अग्नि की पूर्व या उत्तर दिशा में जल से भरा कुंभ स्थापित करे। कुंभ पर धान्य से भरा पात्र भी रखे। स्वयं नए वस्त्रों से आच्छादित होकर श्वेत वस्त्र और माला आदि धारण करके घर में प्रवेश करते हुए अपने पुत्र को अपने पास बुलाए। पुत्र के पास आ जाने पर उसे अपने अंक में बिठाकर अपनी इन्द्रियों से पुत्र की इन्द्रियों का स्पर्श करे अथवा वह पुत्र के समक्ष बैठ जाए और उसे अपनी वाणी आदि सभी इन्द्रियों का दान करे। यथा—पिता—'पुत्र! मैं तुझमें अपनी वाक् शक्ति का स्थापन करता हूँ।' पुत्र—'मैं आपकी वाक्शक्ति ग्रहण करता हूँ।' पिता—'मैं तुझमें अपनी प्राणशक्ति स्थापित करता हूँ।' पुत्र—'मैं आपकी प्राणशक्ति ग्रहण करता हूँ।' पिता—'मैं अपनी नेत्रेन्द्रिय को तुझमें स्थापित करता हूँ।' पुत्र—'मैं नेत्रेन्द्रिय को ग्रहण करता हूँ।' पिता—'मैं अपनी श्रोत्रेन्द्रिय को तुझमें स्थापित करता हूँ।' पुत्र—'मैं श्रोत्रेन्द्रिय का ग्रहण करता हूँ।' पिता—'मैं अपने मन को तुझमें स्थापित करता हूँ।' पुत्र—'मैं आपके मन को धारण करता हूँ।' पिता—'मैं अन्नरसों को तुझमें स्थापित करता हूँ।' पुत्र—'मैं आपके अन्नरस को धारण करता हूँ।' पिता—'मैं अपने सभी कर्मों को तुझमें स्थिर करता हूँ।' पुत्र—'मैं आपके कर्मों को धारण करता हूँ।' पिता—'मैं अपने सुख-दुःखों को तुझमें स्थापित करता हूँ।' पुत्र—'मैं आपके सुख-दुःखों को ग्रहण करता हूँ।' पिता—'मैं तुझमें मैथुन जनित आनन्द, रति और सन्तानोत्पादक शक्ति स्थापित करता हूँ।' पुत्र—'मैं रतिजनित आनन्द और सन्तानशक्ति ग्रहण करता हूँ।' पिता—'मैं तुझमें अपनी गतिशक्ति स्थापित करता हूँ।' पुत्र—'मैं गतिशक्ति को ग्रहण करता हूँ'। पिता—'मैं अपनी बुद्धि को, ज्ञेय वस्तु को और कामनाओं को तुझमें स्थापित करता हूँ'। पुत्र—'मैं आपकी बुद्धिवृत्तियों को, विज्ञान और ज्ञेय वस्तुओं को ग्रहण करता हूँ।' बाद में पुत्र पिता की प्रदक्षिणा करके पूर्व की ओर पिता के पास से गुजरता है। उस समय पिता पुत्र रो कहते हैं कि—'यश-ब्रह्मतेज-अन्न ग्रहण करने और पचाने की शक्ति और श्रेष्ठ सद्‌गुण एवं कीर्ति तुम्हारा सेवन करें।' पिता के ऐसा कहने पर पुत्र अपने बायें कन्धे की ओर दृष्टि करके हाथ से या कपड़े से ओट कर ले। तत्पश्चात् उस आड़ में पिता पुत्र से यह कहे—'आप अपनी इच्छानुसार कामनायुक्त स्वर्ग को या समस्त लोकों की प्राप्ति करें। इसके अनन्तर यदि पिता नीरोगी हो तो ग्रहस्थाश्रमी बनकर ऐश्वर्य भोगे, अन्यथा सब कुछ छोड़कर संन्यासी हो जाएँ अथवा परलोक में चले जाएँ, तो भी जिन-जिन वाणी आदि इन्द्रियों को उसने पुत्र में प्रतिष्ठित किया था, उन सभी की शक्तिधाराओं का वह अधिकारी बन जाता है। वे सभी शक्तिधाराएँ उसे प्राप्त हो जाती हैं।

यहाँ दूसरा अध्याय पूर्ण होता है।

❋

तृतीयोऽध्यायः

प्रतर्दनो ह वै दैवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम। युद्धेन पौरुषेण च तं हेन्द्र उवाच। प्रतर्दन वरं ते ददानीति। स होवाच प्रतर्दनस्त्वमेव मे वृणीष्व यं त्वं मनुष्याय हिततमं मन्यस इति। तं हेन्द्र उवाच। न वै वरोऽवरस्मै वृणीते त्वमेव वृणीष्वेत्येवमवरो वै तर्हि किल म इति होवाच प्रतर्दनः। अथो खल्विन्द्रः सत्यादेव नेयाय। सत्यं हीन्द्रः। स होवाच मामेव विजानीह्येतदेवाहं मनुष्याय हिततमं मन्ये। यन्मां विजानीयात्। त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रमहनमरुङ्मुखान् यतीन् सालावृकेभ्यः प्रायच्छं बह्वीः सन्धा अतिक्रम्य दिवि प्रह्लादीयानतृणमहमन्तरिक्षे पौलोमान् पृथिव्यां कालखाञ्जान्। तस्य मे तत्र न लोम च मा मीयते। स यो मां विजानीयान्नास्य केन च कर्मणा लोको मीयते न मातृवधेन न पितृवधेन न स्तेयेन न भ्रूणहत्यया नास्य पापं च न चक्रुषो मुखान्नीलं वेत्तीति। स होवाच प्राणोऽस्मि प्रज्ञाऽऽत्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्स्वायुः प्राणः प्राणो वा आयुः प्राण एवामृतम्। यावद्ध्यस्मिञ्छरीरे प्राणो वसति तावदायुः। प्राणेन ह्येवामुष्मिंल्लोकेऽमृतत्वमाप्नोति ॥1॥

एक बार दिवोदास का पुत्र इन्द्र के प्रिय निवासस्थान स्वर्ग में जा पहुँचा। उसकी युद्धकला और पराक्रम से सन्तुष्ट होकर इन्द्र ने उससे कहा—'हे प्रतर्दन! मैं तुझे वरदान देना चाहता हूँ, माँगो।' तब प्रतर्दन ने कहा—'जो मनुष्यों के लिए अति कल्याणकारी हो ऐसा कोई वरदान आप ही दे दीजिए।' तब इन्द्र ने कहा कि—'कोई भी दूसरों के लिए वरदान नहीं माँगता। तुम अपने आप के लिए ही कोई वरदान माँग लो।' तब प्रतर्दन ने कहा—'तब तो मेरे लिए किसी भी वरदान का अभाव ही रहा।' इस पर इन्द्र अपने सत्य से विचलित नहीं हुए और कहने लगे—'तुम मुझे ही (मेरे ही) यथार्थ स्वरूप को जानो। इसे ही मैं मानवजाति के लिए परम कल्याणकारी वरदान मानता हूँ। त्वष्टा प्रजापति के तीन सींग वाले पुत्र विश्वरथ को मैंने ही अपने वज्र से मार डाला था। अपने आश्रमों में श्रेष्ठ आचरण से भ्रष्ट हुए कई मिथ्याचारी अहंकारी संन्यासियों को मैंने खण्ड-खण्ड करके भेड़ियों के सामने खाने के लिए फेंक दिया है। कई बार प्रह्लादवंशी दैत्यों को मैंने मौत के घाट उतार दिया है। पुलोमासुर के सहयोगियों तथा पृथ्वीवासी कालखाञ्जों को भी मार दिया है। परन्तु, इतना करने पर भी इसमें मुझे कोई फल का लोभ, कोई आसक्ति, कोई अभिमान नहीं है। इसीलिए मुझ इन्द्र का एक रोम भी खण्डित नहीं हुआ। जो मेरे इस स्वरूप को इस तरह जान लेता है उसकी किसी भी कर्म से कोई हानि नहीं होती। मेरे सत्यस्वरूप का विवेक रखने वाले मनुष्य को बड़े-से-बड़े पाप का भी कुछ असर नहीं होता। मातृवध, पितृवध, चोरी, भ्रूणहत्या का भी उसे पाप नहीं लगता। और ऐसा करने पर उसका मुख भी नीला-काला नहीं पड़ता। इन्द्रदेव ने कहा कि—'मैं स्वयं ही प्रज्ञारूप प्राण हूँ। उस प्राण से और श्रेष्ठ ज्ञान से युक्त आत्मा रूप मैं प्रख्यात इन्द्र हूँ। तुम मेरी आयु रूप और अमृत रूप से उपासना करो।' आयु ही प्राण है, प्राण ही आयु है, प्राण ही अमृतत्व है। इस शरीर में जब तक प्राण का निवास है, तभी तक आयु है। प्राण के द्वारा ही प्राणी अन्य लोक में अमृतत्व के विशेष सुख की अनुभूति कर सकता है।

प्रज्ञया सत्यसंकल्पम्। सोऽयं ममायुरमृतमित्युपास्ते सर्वमायुरस्मिंल्लोक एति। आप्नोत्यमृतत्वमक्षितिं स्वर्गे लोके। तद्धैक आहुरेकभूयं वै प्राणा गच्छन्तीति। न हि कश्चन शक्नुयात् सकृद्वाचा नाम प्रज्ञापयितुं चक्षुषा रूपं श्रोत्रेण शब्दं मनसा ध्यातुमित्येकभूयं वै प्राणा। एकैकमेतानि सर्वाण्येव प्रज्ञापयन्ति। वाचं वदन्तीं सर्वे प्राणा अनुवदन्ति। चक्षुः पश्यत् सर्वे प्राणा अनुपश्यन्ति। श्रोत्रं शृण्वत् सर्वे प्राणा अनुशृण्वन्ति। मनो ध्यायत् सर्वे प्राणा अनुध्यायन्ति। प्राणं प्राणन्तं सर्वे प्राणा अनुप्राणन्तीति। एवमुहैवैतदिति हेन्द्र उवाच अस्ति त्वेव प्राणानां निःश्रेयसमिति। जीवति वागपेतो मूकान् हि पश्यामो, जीवति चक्षुरपेतोऽन्धान् हि पश्यामो, जीवति श्रोत्रापेतो बधिरान् हि पश्यामो, जीवति मनोपेतो बालान् हि पश्यामो, जीवति बाहुच्छिन्नो जीवत्यूरुच्छिन्न इत्येवं हि पश्याम इति। अथ खलु प्राण एव प्रज्ञाऽऽत्मेदं शरीरं प्रतिगृह्योत्थापयति ॥2॥

"प्रज्ञा से ही सत्य संकल्प होता है। जो पुरुष आयु और अमृत के रूप में मेरी उपासना करता है, वह इस लोक में सम्पूर्ण आयुष्य को प्राप्त करता है। और स्वर्गलोक में भी अक्षय अमृतत्व की प्राप्ति करता है। यहाँ कुछ लोग कहते हैं कि अवश्य ही सभी प्राण (सभी इन्द्रियों के साथ प्राण) एकी भाव को प्राप्त करते हैं। कोई भी व्यक्ति एक साथ ही वाणी के द्वारा बोलने की, नेत्र के द्वारा देखने की, कान द्वारा सुनने की और मन द्वारा चिन्तन-ध्यान करने की क्रिया एक साथ नहीं कर सकता। क्योंकि सभी प्राण एक साथ (इन्द्रियों के साथ) मिलकर ही कोई एक क्रिया कर सकते हैं। वाणी बोलती है, तो सभी प्राण उसका अनुसरण करते हैं (मानों अनुवाद करते हैं)। आँख देखती है, तो सभी प्राण उसके पीछे-पीछे देखने लगते हैं। कान जब सुनते हैं, तो प्राण भी उसके पीछे सुनने लग जाते हैं, मन जब ध्यान करता है तो सभी प्राण भी उसका अनुसरण कर ध्यान करने लगते हैं, यह ऐसी ही है'—ऐसा इन्द्र ने कहा। यही प्राणों का कल्याणकारी वरदान (ज्ञान) है। वाणी रहित पुरुष जी सकता है क्योंकि हम गूँगे लोगों को देखते हैं, श्रोत्ररहित भी जीता है क्योंकि हम बहरे लोगों को देखते हैं। बिना मन से भी मनुष्य जी सकता है क्योंकि हम बच्चों को देखते हैं। कटे हुए हाथों वाला, कटी हुई जाँघ वाला आदमी भी जी सकता है, ऐसे लोगों को भी हम देखते हैं। परन्तु एक प्राण ही प्रज्ञारूप ऐसी शक्ति है, जो इस शरीर को पकड़ कर भाँति-भाँति का क्रियाएँ कराता रहता है।

तस्मादेतदेवोक्थमुपासीत। यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वा प्रज्ञा स प्राणः। सह ह्येतावस्मिन् शरीरे वसतः सहोत्क्रामतः। तस्यैषैव दृष्टिरेतद्विज्ञानम्। यत्रैतत् पुरुषः सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यत्यथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति। तदैनं वाक्सर्वैर्नामभिः सहाप्येति। चक्षुः सर्वै रूपैः सहाप्येति श्रोत्रं सर्वैः शब्दैः सहाप्येति। मनः सर्वैर्ध्यानैः सहाप्येति। स यदा प्रतिबुध्यते। यथाऽग्नेर्ज्वलतः सर्वा दिशो विस्फुलिङ्गाः विप्रतिष्ठेरन्नेवमेवैतस्मादात्मनः प्राणा यथाऽऽयतनं विप्रतिष्ठन्ते। प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः। तस्यैवैष सिद्धिरेतद्विज्ञानम्। यत्रैतत् पुरुष आर्तो मरिष्यन्नाबल्यं न्येत्य सम्मोहं नेति तदाहुः उदक्रमीच्चितम्। न शृणोति न पश्यति न

वाचा वदति न ध्यायत्यथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति तदैनं वाक् सर्वैर्नामभिः सहाप्येति। चक्षुः सर्वै रूपैः सहाप्येति श्रोत्रं सर्वैः शब्दैः सहाप्येति मनः सर्वैर्ध्यानैः सहाप्येति। स यदा प्रतिबुध्यते यथाऽग्नेर्ज्वलतो विस्फुलिङ्गाः विप्रतिष्ठेरन्नेवमेवैतस्मादात्मनः प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः ॥3॥

इसलिए इस प्राण की ही 'उक्थ' रूप से उपासना करनी चाहिए। निश्चय ही जो प्राण है, वही प्रज्ञा है और जो प्रज्ञा है, वही प्राण है। क्योंकि प्रज्ञा और प्राण दोनों एक ही साथ इस शरीर में निवास करते हैं और जीवात्मा के साथ (एक ही साथ) इस शरीर से बाहर निकले जाते हैं। इस प्राणमय परब्रह्म का यही सच्चा दर्शन (यही वास्तविक ज्ञान) है, और यही विज्ञान है। क्योंकि सुषुप्तावस्था में निद्राधीन मनुष्य किसी भी तरह का सपना नहीं देखता। उस समय उसकी वाणी सभी नामों के साथ, आँखें सभी रूपों के साथ, कान सभी शब्दों के साथ और मन सभी चिन्तनों एवं ध्यानों के साथ मुख्य प्राण में सन्निहित हो जाते हैं। वही मनुष्य जब जाग्रत अवस्था में आ जाता है, तब जलती हुई अग्नि से जैसे चिनगारियाँ निकलकर चारों दिशाओं में फैल जाती.हैं, वैसे ही इस प्राणस्वरूप आत्मा में से वे वाणी आदि सभी बाहर निकलकर अपने-अपने योग्य स्थान पर पहुँच जाते हैं। बाद में उन प्राणों से अग्नि आदि उनके अधिष्ठाता देव भी उत्पन्न होते हैं। बाद में उनके लोक-नाम आदि भी उत्पन्न होते हैं। जिस अवस्था में रोग पीड़ित मनुष्य मरणासन्न बनता है, तब वह शक्ति से हीन और सम्मोहित हो जाता है। उसके द्वारा किसी को न पहचानने पर लोग कहते हैं कि—'इसका चित्त उठ गया (निकल गया) है।' यही कारण है कि उस समय वह न तो सुन सकता है, न देख सकता है, न वाणी से बोल सकता है, न ही ध्यान-चिन्तन कर सकता है। उस समय वह केवल प्राणों में ही लीन रहता है। ऐसी अवस्था में वाणी समस्त नामों के साथ, आँख समस्त रूपों के साथ, कान सभी शब्दों के साथ और मन सभी ध्यान के विषयों के साथ उस प्राणतत्त्व में विलीन हो जाता है। और वही मनुष्य जब फिर से जाग उठता है, तब जिस तरह जलती हुई अग्नि से चिंगारियाँ फूट निकलती हैं, उसी प्रकार प्राणस्वरूप आत्मा से वाणी आदि समस्त प्राण उत्पन्न होकर यथास्थान अपना स्वरूप ग्रहण कर लेते हैं। इसके बाद प्राणों से उनके अधिष्ठाता अग्नि और अन्य देवता उत्पन्न होकर समस्त लोक आदि को उत्पन्न कर देते हैं।

स यदाऽस्माच्छरीरादुत्क्रामति सहैवेतैः सर्वैरुत्क्रामति। वागस्मात्सर्वाणि नामान्यभिविसृजते। वाचा सर्वाणि नामान्याप्नोति। प्राणोऽस्मात्सर्वान् गन्धानभिविसृजते। प्राणेन सर्वान् गन्धानाप्नोति। चक्षुरस्मात्सर्वाणि रूपाण्यभिविसृजते। चक्षुषा सर्वाणि रूपाण्याप्नोति। श्रोत्रमस्मात्सर्वान् शब्दानभिविसृजते। श्रोत्रेण सर्वान् शब्दानाप्नोति। मनोऽस्मात्सर्वाणि ध्यातान्यभिविसृजते। मनसा सर्वाणि ध्यातान्याप्नोति। सैषा प्राणे सर्वाप्तिः। यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वा प्रज्ञा स प्राणः सह ह्येतावस्मिन् शरीरे वसतः सहोत्क्रामतः। अथ खलु यथास्यै प्रज्ञायै सर्वाणि भूतान्येकं भवन्ति तद्व्याख्यास्यामः ॥4॥

जब वह प्राण इस शरीर से बाहर निकलता है अर्थात् उठता है, तब सभी इन्द्रियों के साथ ही उठता है। तब वाणी उस पुरुष के सभी नामों का त्याग कर देती है, क्योंकि वागिन्द्रिय से ही पुरुष

सभी नाम प्राप्त करता है। प्राण उस पुरुष के सभी गन्धों का त्याग कर देता है क्योंकि पुरुष घ्राणेन्द्रिय से ही सभी गन्धों को प्राप्त करता है। चक्षु उसके सभी रूपों का त्याग कर देते हैं क्योंकि मनुष्य चक्षुरिन्द्रिय से ही सभी रूप ग्रहण करता है। श्रोत्र उसके सभी शब्दों का त्याग कर देते हैं क्योंकि मनुष्य श्रोत्रेन्द्रिय से ही सभी शब्द प्राप्त करता है। मन उसके सभी ध्यानों का परित्याग कर देता है क्योंकि मनुष्य मन से ही सभी ध्यान प्राप्त करता है। उसी प्राणरूप आत्मा में सभी इन्द्रियाँ समर्पित होकर अपने-अपने विषयों का पूर्णत: परित्याग कर देती हैं। प्राण ही प्रज्ञा है और प्रज्ञा ही प्राण है। अथवा जो प्रज्ञा है वही प्राण है। क्योंकि वे दोनों इस शरीर में एक साथ ही निवास करते हैं और एक ही साथ इस शरीर से उत्क्रमण भी कर देते हैं। अब किस तरह से समस्त भूत प्राणी इस प्रज्ञा में एकरूप हो जाते हैं—इसकी अब हम व्याख्या करने जा रहे हैं।

वागेवास्या एकमङ्गमुदूढं तस्यै नाम परस्तात्प्रतिविहिता भूतमात्रा। प्राणमेवास्या एकमङ्गमुदूढं तस्य गन्धः परस्तात्प्रतिविहिता भूतमात्रा। चक्षुरेवास्या एकमङ्गमुदूढं तस्य रूपं परस्तात्प्रतिविहिता भूतमात्रा। श्रोत्रमेवास्या एकमङ्गमूदूढं तस्य शब्दः परस्तात्प्रतिविहिता भूतमात्रा। जिह्वैवास्या एकमङ्गमुदूढं तस्यान्नरसः परस्तात्प्रतिविहिता भूतमात्रा। हस्तावेवास्या एकमङ्गमुदूढं तयोः कर्म परस्तात्प्रतिविहिता भूतमात्रा। शरीरमेवास्या एकमङ्गमुदूढं तस्य सुखदुःखे परस्तात्प्रतिविहिता भूतमात्रा। उपस्थ एवास्या एकमङ्गमुदूढं तस्यानन्दो रतिः प्रजातिः परस्तात्प्रति-विहिता भूतमात्रा। पादावेवास्या एकमङ्गमुदूढं तयोरित्या परस्तात्प्रति-विहिता भूतमात्रा। प्रज्ञैवास्या एकमङ्गमुदूढं तस्यै धियो विज्ञातव्यं कामाः परस्तात्प्रतिविहिता भूतमात्रा ॥5॥

वाणी ही इस प्रज्ञा का उन्नत (उठा हुआ) एक अंग है, और उसके बाहर की ओर शब्दतन्मात्रा नियत की गई है। प्राण ही इस प्रज्ञा का एक उन्नत अंग है और उसके बाहर की ओर गन्ध नाम की तन्मात्रा नियत है। चक्षु ही इस प्रज्ञा का उन्नत एक अंग है और उसके बाहर की ओर रूप नाम की तन्मात्रा है। श्रोत्र ही इस प्रज्ञा का उन्नत एक अंग है और उसके बाहर की ओर शब्द नाम की तन्मात्रा नियत है। जिह्वा ही इस प्रज्ञा का उन्नत एक अंग है और उसके बाहर की ओर अन्नरस नाम की तन्मात्रा नियत है। दो हाथ ही इसका आगे बढ़ा हुआ अंग है और बाहर के कर्म ही उन दोनों की भूतमात्रा नियत है। शरीर ही इस प्रज्ञा का आगे उठा हुआ अंग है और बाहर के सुख-दुःख ही उसकी नियत तन्मात्रा है। उपस्थ ही इस प्रज्ञा का आगे प्रस्फुटित एक अंग है और बाहर के विषयरूप में आनन्द, रति और वंशवृद्धि उसकी नियत तन्मात्रा है। दो पैर ही इस प्रज्ञा का एक ऊँचा उठा हुआ अंग है और बाहर में गति ही इनकी नियत तन्मात्रा है। प्रज्ञा ही इसका ऊपर धारण किया हुआ अंग है और निर्णय शक्तियाँ जानने योग्य वस्तु तथा कामनाएँ इसकी बाहरी नियत तन्मात्रा है।

[मंत्र में दिए गए 'उदूढम्' शब्द की जगह पर कहीं-कहीं 'अदूदहत्' ऐसा पाठ मिलता है। इसके पक्ष में 'उन्नत' (ऊँचा उठा हुआ) इस अर्थ के बदले 'पूरक' या 'क्षतिपूरक' अर्थ लेना चाहिए। वहाँ पर जहाँ षष्ठी विभक्ति का प्रयोग किया गया है इसके बदले वहाँ—पक्षान्तर में सप्तमी विभक्ति का ही अर्थ लेना चाहिए।]

प्रज्ञया वाचं समारुह्य वाचा सर्वाणि नामान्याप्नोति। प्रज्ञया प्राणं समारुह्य प्राणेन सर्वान् गन्धानाप्नोति। प्रज्ञया चक्षुः समारुह्य चक्षुषा सर्वाणि रूपाण्याप्नोति। प्रज्ञया श्रोत्रं समारुह्य श्रोत्रेण सर्वान् शब्दा-नाप्नोति। प्रज्ञया जिह्वां समारुह्य जिह्वया सर्वानन्नरसानाप्नोति। प्रज्ञया हस्तौ समारुह्य हस्ताभ्यां सर्वाणि कर्माण्याप्नोति। प्रज्ञया शरीरं समारुह्य शरीरेण सुखदुःखे आप्नोति। प्रज्ञयोपस्थं समारुह्योपस्थेनानन्दं रतिं प्रजातिमाप्नोति। प्रज्ञया पादौ समारुह्य पादाभ्यां सर्वा इत्या आप्नोति। प्रज्ञयैव धियं समारुह्य प्रज्ञयैव धियो विज्ञातव्यं कामानाप्नोति ॥6॥

मनुष्य प्रज्ञा के द्वारा वाणी को वश में कर वाणी द्वारा सब नामों को प्राप्त करता है। प्रज्ञा से ही वह प्राण पर प्रभुत्व प्राप्त करके प्राण से सभी गन्धों को प्राप्त करता है। प्रज्ञा के द्वारा ही वह आँख को वश में लाकर आँख से सभी रूपों को प्राप्त करता है। प्रज्ञा से ही वह श्रोत्रेन्द्रिय को अपने वश में कर श्रोत्र से सभी शब्दों को प्राप्त करता है। प्रज्ञा के द्वारा ही वह जिह्वा को अपने वश में कर जीभ से सभी अन्नरसों को प्राप्त करता है। प्रज्ञा से ही वह दोनों हाथों पर अपना नियन्त्रण कर दोनों हाथों के द्वारा सभी कर्मों को प्राप्त करता है। प्रज्ञा से ही वह अपने शरीर को वश में करके सभी सुख- दुःख प्राप्त करता है। प्रज्ञा से ही उपस्थेन्द्रिय को वश में करके वह आनन्द, रति और प्रजनन शक्ति को प्राप्त करता है। प्रज्ञा से ही वह अपने दोनों पैरों को वश में करके सभी गतियाँ प्राप्त करता है। प्रज्ञा से ही अपनी बुद्धि को संयत करके उस प्रज्ञा के द्वारा अनुभूतिजन्य वस्तुओं तथा कामनाओं को प्राप्त करता है।

न हि प्रज्ञाऽपेता वाङ्नाम किञ्चन प्रज्ञापयेत्। अन्यत्र मे मनोऽभूदि-त्याह। नाहमेतन्नाम प्राज्ञासिषमिति। न हि प्रज्ञाऽपेतः प्राणो गन्धं कञ्चन प्रज्ञापयेदन्यत्र मे मनोऽभूदित्याह। नाहं कञ्चन गन्धं प्रज्ञासिषमिति। न हि प्रज्ञाऽपेतं चक्षू रूपं किञ्चन प्रज्ञापयेदन्यत्र मे मनोऽभूदित्याह नाहमे-तद् रूपं प्रज्ञासिषमिति। न हि प्रज्ञाऽपेतं श्रोत्रं शब्दं कञ्चन प्रज्ञापयेदन्यत्र मे मनोऽभूदित्याह। नाहमेतं शब्दं प्रज्ञासिषमिति। न हि प्रज्ञाऽपेता जिह्वाऽन्नरसं कञ्चन प्रज्ञापयेदन्यत्र मे मनोऽभूदित्याह। नाहमेतमन्नरसं प्रज्ञासिषमिति। न हि प्रज्ञाऽपेतौ हस्तौ कर्म किञ्चन प्रज्ञापयेदन्यत्र मे मनोऽभूदित्याह। नाहमेतत्कर्म प्रज्ञासिषमिति। न हि प्रज्ञाऽपेतं शरीरं सुखं दुःखं किञ्चन प्रज्ञापयेदन्यत्र मे मनोऽभूदित्याह। नाहमेतत्सुखं दुःखं प्रज्ञासिषमिति। न हि प्रज्ञाऽपेत उपस्थ आनन्दं रतिं प्रजातिं कञ्चन प्रज्ञापयेदन्यत्र मे मनोऽभूदित्याह। नाहमेतमानन्दं न रतिं न प्रजातिं प्रज्ञासिषमिति। न हि प्रज्ञाऽपेतौ पादावित्यां काञ्चन प्रज्ञापयेदन्यत्र मे मनोऽभूदित्याह। नाहमेतामित्यां प्रज्ञासिषमिति। न हि प्रज्ञाऽपेता धीः काञ्चन सिद्ध्येन्न प्रज्ञातव्यं प्रज्ञायेत ॥7॥

प्रज्ञा के बिना वाणी किसी भी नाम का बोध नहीं करा पाती, क्योंकि तब व्यक्ति कहेगा कि मेरा मन कहीं दूसरी जगह था अत: मैं इस नाम को नहीं जान सका। प्रज्ञा से विहीन घ्राण भी किसी गन्ध को नहीं पहचान पाता क्योंकि तब वह कहेगा कि मेरा मन दूसरी जगह था इसलिए मैं किसी गन्ध को

नहीं पहचान सका। प्रज्ञा रहित चक्षु भी किसी रूप को नहीं जान सकता क्योंकि उस अवस्था में मनुष्य कहेगा कि मेरा मन अन्य विषय में था, इसलिए मैं किसी प्रकार के रूप को नहीं जान सका। प्रज्ञाहीन कान भी किसी शब्द को नहीं सुन पाता क्योंकि ऐसी अवस्था में वह कहेगा कि उस समय मेरा मन अन्यत्र था इसलिए मैं किसी शब्द को सुन न सका। प्रज्ञा से रहित जिह्वा भी किसी अन्नरस को जान नहीं सकती, क्योंकि उस समय मनुष्य कहेगा कि मेरा मन तब दूसरी जगह था, इसलिए मैं किसी भी प्रकार के अन्न-रस को जान न सका। प्रज्ञा से रहित दोनों हांथ भी किसी कर्म को करना नहीं जानते क्योंकि ऐसी अवस्था में मनुष्य कहेगा कि मेरा मन उस समय अलग स्थान पर था, इसलिए मैं किसी भी कर्म को नहीं जान सका। प्रज्ञा से रहित यह शरीर भी किसी प्रकार के सुख और दु:ख को नहीं जानता क्योंकि ऐसी अवस्था में वह कहेगा कि मेरा मन अन्यत्र था इसलिए मैं किसी प्रकार के सुख या दु:ख को नहीं जान सका। प्रज्ञा से शून्य उपस्थेन्द्रिय को भी किसी प्रकार के आनन्द, रति या प्रजनन का अनुभव ही नहीं होता क्योंकि ऐसी अवस्था में वह मनुष्य कहेगा कि तब मेरा मन कहीं और जगह पर था इसलिए मैं किसी भी प्रकार के आनन्द, रति या प्रजनन को नहीं जान सका हूँ। प्रज्ञा से रहित दोनों पाँव भी किसी प्रकार की गति करना नहीं जानते क्योंकि ऐसी अवस्था में मनुष्य यह कहता है कि मेरा मन उस समय कहीं और जगह पर था इसलिए मैं गति को नहीं पहचान सका हूँ। प्रज्ञारहित बुद्धि भी (बुद्धि की कोई भी वृत्ति) सिद्ध नहीं हो सकती। और बुद्धि वृत्ति के द्वारा किसी जानी गई वस्तु का भी एहसास नहीं हो सकता।

न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्। न गन्धं विजिज्ञासीत घ्रातारं विद्यात्। न रूपं विजिज्ञासीत रूपविदं विद्यात्। न शब्दं विजिज्ञासीत श्रोतारं विद्यात्। नान्नरसं विजिज्ञासीतान्नरसस्य विज्ञातारं विद्यात्। न कर्म विजिज्ञासीत कर्तारं विद्यात्। न सुखदु:खे विजिज्ञासीत सुखदु:ख-योर्विज्ञातारं विद्यात्। नानन्दं न रतिं न प्रजातिं विजिज्ञासीतानन्दस्य रतेः प्रजातेर्विज्ञातारं विद्यात्। नेत्यां विजिज्ञासीतैतारं विद्यात्। न मनो विजिज्ञासीत मन्तारं विद्यात्। ता वा एता दशैव भूतमात्रा अधिप्रज्ञं दश प्रज्ञामात्रा अधिभूतम्। यद्धि भूतमात्रा न स्युर्न प्रज्ञामात्राः स्युर्यद्वा प्रज्ञामात्रा न स्युर्न भूतमात्राः स्युः ॥8॥

वाणी को जानने की इच्छा नहीं करनी चाहिए वरन् वक्ता को जानना चाहिए। गन्ध की जिज्ञासा नहीं करनी चाहिए वरन् सूँघने वाले को जानना चाहिए। रूप की जिज्ञासा नहीं करनी चाहिए वरन् रूप के जानने वाले को जानना चाहिए ! शब्द की जिज्ञासा नहीं करनी चाहिए वरन् श्रोता को ही जानना चाहिए। अन्नरस को जानने की इच्छा नहीं करनी चाहिए, बल्कि अन्न रस को जानने वाले को ही जान लेना चाहिए। कर्म की जिज्ञासा नहीं करनी चाहिए किन्तु कर्ता को ही जानना चाहिए। सुख-दु:ख की जिज्ञासा नहीं करनी चाहिए, वरन् सुख-दु:ख को जानने वाले को ही जान लेना चाहिए। आनन्द, रति और प्रजनन की जिज्ञासा नहीं करनी चाहिए किन्तु आनन्द, रति और प्रजनन को पहचानने वाले को ही जान लेना चाहिए। गति को जानने की इच्छा नहीं करनी चाहिए, किन्तु गति करने वाले को समझ लेना चाहिए। मन को समझने की इच्छा नहीं करनी चाहिए बल्कि मनन करने वाले को जान लेना चाहिए। इस प्रकार दश ही भूत मात्राएँ हैं अर्थात् प्रज्ञा में विद्यमान दस ही नामादि विषय हैं। और यह प्रज्ञा भी दस मात्राओं के रूप में है। यदि ये सुविख्यात दस भूत मात्राएँ न हों, तो प्रज्ञा की मात्राएँ भी

अस्तित्व में नहीं रह सकतीं और यदि प्रज्ञा की मात्राएँ न हों, तो ये भूत मात्राएँ भी अपना अस्तित्व नहीं रख सकतीं।

न ह्यन्यरतो रूपं किञ्चन सिध्येत्। नो एतन्नाना। तद्यथा रथस्यारेषु नेमिरर्पिता नाभावारा अर्पिता एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः। प्रज्ञामात्राः प्राणे अर्पिताः। स वा एष प्राण एव प्रज्ञाऽऽत्माऽऽनन्दो-ऽजरोऽमृतो न साधुना कर्मणा भूयान् नो एवासाधुना कर्मणा कनीयान्। एष ह्येवैनं साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते। एष उ एवैनमसाधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्यो नुनुत्सते। एष लोकपाल एष लोकाधिपतिरेष सर्वेश्वरः स म आत्मेति विद्यात्। स म आत्मेति विद्यात् ॥9॥

इति तृतीयोऽध्यायः।

प्रज्ञामात्रा और भूतमात्रा—इन दोनों में से किसी एक ही के द्वारा किसी भी रूप-विषय-इन्द्रिय की सिद्धि नहीं होती। ये दोनों भिन्न हैं ही नहीं। जिस प्रकार रथ के अरों में नेमि आश्रित होती है और वे अरे फिर नाभि में आश्रित होते हैं, ठीक उसी प्रकार ये भूतमात्राएँ प्रज्ञामात्राओं में अर्पित (आश्रित) होती हैं। और वे प्रज्ञामात्राएँ प्राण में अर्पित (आश्रित) होती हैं। वह प्राण ही प्रज्ञात्मा है, वही अजर (अक्षय) और अमृतस्वरूप है। यह अच्छे कर्मों से बड़ा भी नहीं बनता और बुरे कर्मों से छोटा भी नहीं बन जाता। वही प्राणात्मा इस देहाभिमानी पुरुष द्वारा अच्छा कार्य करवाता है और वह उसी देहाभिमानी पुरुष के द्वारा ऐसे अच्छे काम करवाता है कि जिसको वह ऊर्ध्व लोक की ओर ले जाना चाहता है। वही मनुष्य से बुरे कार्य भी करवाता है कि जिसे वह इस लोक से नीचे ले जाना चाहता है। यही लोकपाल है, यही लोकों का अधिपति है, यही सर्वेश्वर है और वही मेरा आत्मा है—इस प्रकार जानना चाहिए! वही मेरा आत्मा है ऐसा जानना चाहिए। वाक्य की पुनरावृत्ति अध्याय की समाप्ति की सूचक है।

यहाँ तीसरा अध्याय पूरा होता है।

❋

चतुर्थोऽध्यायः

अथ गार्ग्यो ह वै बालाकिरनूचानः संस्पष्ट आस। सोऽयमुशीनरेषु सत्त्व-मत्स्येषु कुरुपाञ्चालेषु काशीविदेहेष्विति स हाजातशत्रुं काश्यमेत्योवाच ब्रह्म ते ब्रवाणीति। तं होवाचाजातशत्रुः सहस्रं दद्मस्त इत्येतस्यां वाचि जनको जनक इति वा उ जना धावन्तीति ॥1॥

गर्गगोत्रीय बलाका पुत्र बालाकि एक वेदपारंगत वक्ता थे और उशीनर, सत्त्व, मत्स्य, कुरु, पांचाल, काशी, विदेह आदि देशों में प्रसिद्ध थे। वे काशीराज अजातशत्रु के पास जाकर कहने लगे—'मैं तुम्हें ब्रह्म का उपदेश दूँगा।' तब अजातशत्रु ने उससे कहा—'तुम्हारे इस वचन पर मैं तुम्हें हजार मुहरें देता हूँ। क्योंकि आजकल तो लोक ब्रह्मविद्या में जनक को ही मुख्य जानकर 'जनक जनक' ऐसा कहकर उसकी ओर दौड़कर जाया करते हैं'।

स होवाच बालाकिर्य एवैष आदित्ये पुरुषस्तमेवाहमुपास इति। तं होवाचाजातशत्रुर्मामैवं तस्मिन् समवादयिष्ठा बृहन् पाण्डरवासाधिष्ठाः सर्वेषां भूतानां मूर्धेति वा अहमेतद्वा उपास इति। स यो हैतमेवमुपास्ते-ऽधिष्ठाः सर्वेषां भूतानां मूर्धा भवति ॥2॥

तब बालाकि ने कहा—'आदित्य के भीतर जो यह पुरुष है उसी की मैं ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ।' तब उससे अजातशत्रु ने कहा कि—'नहीं नहीं, ऐसा इसके विषय में मत कहो। वह पाण्डर (शुक्ल) कपड़े पहने हुए महान तो है। सभी प्राणियों के वह शीर्षस्थानीय है, मैं इसी तरह उसकी उपासना करता हूँ (अर्थात् वह ब्रह्म नहीं है); हाँ, जो उसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह सब कुछ पार कर जाता है और सब प्राणियों का मस्तक माना जाता है'।

स होवाच बालाकिर्य एवैष चन्द्रमसि पुरुषस्तमेवाहमुपास इति। तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैवं तस्मिन् समवादयिष्ठाः सोमो राजाऽन्नस्यात्मेति वा अहमेतमुपास इति। स यो हैतमेवमुपास्तेऽन्नस्यात्मा भवति ॥3॥

तब बालाकि ने कहा—'चन्द्रमा में स्थित जो पुरुष है, उसी की मैं ब्रह्मरूप में उपासना करता हूँ।' इस पर अजातशत्रु ने कहा—'नहीं नहीं इसके सम्बन्ध में ऐसा मत कहो। क्योंकि वह सोम राजा तो अन्न का आत्मा है। मैं तो उसी रूप से उसकी उपासना करता हूँ (ब्रह्म रूप से नहीं) वह मनुष्य जो इसकी उस तरह उपासना करता है, वह अन्न का आत्मा (अन्न की शक्ति से पूर्ण) बन जाता है।'

स होवाच बालाकिर्य एवैष विद्युति पुरुषस्तमेवाहमुपास इति। तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैवं तस्मिन् समवादयिष्ठाः। तेजस्यात्मेति वा अहमेतमुपास इति। स यो हैतमेवमुपास्ते तेजस्यात्मा भवति ॥4॥

उस बालाकि ने तब कहा—'जो यह विद्युत् में पुरुष रहता है उसी की मैं ब्रह्म रूप से उपासना करता हूँ।' तब अजातशत्रु ने कहा—'नहीं, नहीं इस विषय में ऐसा मत कहो, क्योंकि वह तो तेज का स्वरूप है (यहाँ 'तेज़स आत्मा'–ऐसा पाठ भी मिलता है)। मैं उसकी ऐसे ही उपासना करता हूँ। कोई भी मनुष्य यदि इस रूप में इसकी उपासना करता है, तो वह तेज का आत्मा (तेज में पूर्ण) हो जाता है'।

स होवाच बालाकिर्य एवैष स्तनयित्नौ पुरुषस्तमेवाहमुपास इति। तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैवं तस्मिन् समवादयिष्ठाः। शब्दस्यात्मेति वा अहमेतमुपास इति। स यो हैतमेवमुपास्ते शब्दस्यात्मा भवति ॥5॥

तब बालाकि ने कहा—'यह जो मेघगर्जना में पुरुष है उसी को मैं ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता हूँ।' इस पर अजातशत्रु ने कहा—'नहीं, नहीं, इसके विषय में ऐसा मत कहो। वह तो शब्द की शक्ति – आत्मा है, ऐसा मानकर मैं उसकी उपासना करता हूँ। जो उसकी इस प्रकार से उपासना करता है, वह शब्द के आत्मारूप (शब्दशक्ति से पूर्ण) हो जाता है।

स होवाच बालाकिर्य एवैष आकाशे पुरुषस्तमेवाहमुपास इति। तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैवं तस्मिन् समवादयिष्ठाः। पूर्णमप्रवर्ति ब्रह्मेति वा अहमेतमुपास इति। स यो हैतमेवमुपास्ते पूर्यते प्रजया पशुभिर्नो एव स्वयं नास्य प्रजा पुरा कालात्प्रवर्तते ॥6॥

तब वह बालाकि बोले—'जो यह आकाश में पुरुष है, उसी की मैं ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ।' इस पर अजातशत्रु ने कहा—'इस विषय में ऐसा न कहो क्योंकि मैं उसको निष्क्रिय (क्रियारहित) विशालता के रूप में उपासता हूँ। जो उसकी इस तरह से उपासना करता है वह सन्तति से और पशुओं से सम्पन्न हो जाता है। वह स्वयं और उसकी सन्तति भी समय से पहले (पूर्णायु के पहले) यहाँ से नहीं जाती अर्थात् मृत्यु को नहीं प्राप्त होती'।

स होवाच बालाकिर्य एवैष वायौ पुरुषस्तमेवाहमुपास इति। तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैवं तस्मिन् समवादयिष्ठाः इन्द्रो वैकुण्ठोऽपराजिता सेनेति वा अहमेतमुपास इति। स यो हैतमेवमुपास्ते जिष्णुर्ह वा पराजयिष्णुरन्यस्त्यजायी भवति ॥7॥

उन बालाकि ने कहा—'जो यह वायु में पुरुष है उसको ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता हूँ। इस पर अजातशत्रु ने कहा—'इसके विषय में मुझे आप ऐसा मत कहिए। क्योंकि मैं तो उसकी इन्द्र, वैकुण्ठ या अपराजिता सेना मानकर उपासना करता हूँ और जो कोई भी इस तरह से उसकी उपासना करेगा वह सर्वदा विजेता, किसी से न हारने वाला और सभी शत्रुओं पर विजयी होता है'।

स होवाच बालाकिर्य एवैषोऽग्नौ पुरुषस्तमेवाहमुपास इति। तं होवाचा-जातशत्रुर्मा मैवं तस्मिन् समवादयिष्ठाः विषासहिरिति वा अहमेतमुपास इति। स यो हैतमेवमुपास्ते विषासहिर्हैवान्वेष भवति ॥8॥

फिर वह बालाकि बोले—'अग्नि में जो यह पुरुष है उसको मैं ब्रह्म मानकर उपासना करता हूँ'। इस पर अजातशत्रु ने कहा—'नहीं, नहीं इस विषय में तुम मुझे ऐसा न कहो, क्योंकि मैं उसे विषासहि (शत्रुओं को क्षमा करने वाला) समझकर उसकी उपासना करता हूँ। जो कोई भी उसकी इस तरह से उपासना करता है वह शत्रुओं के प्रति क्षमाशील हो जाता है'।

स होवाच बालाकिर्य एवैषोऽप्सु पुरुषस्तमेवाहमुपास इति। तं होवाचा-जातशत्रुर्मा मैवं तस्मिन् समवादयिष्ठाः नाम्न आत्मेति वा अहमेतमुपास इति। स यो हैतमेवमुपास्ते नाम्न आत्मा भवति। इत्यधिदैवत-मथाध्यात्मम् ॥9॥

आगे बालाकि ने पुनः कहा—'जो जल में यह पुरुष है, मैं उसी की उपासना (ब्रह्मोपासना) करता हूँ'। इस पर अजातशत्रु ने कहा—'इसके बारे में मुझे तुम ऐसा मत कहो क्योंकि मैं तो उसे नामधारी जीवात्मा समझकर ही उसकी उपासना करता हूँ। जो इसकी इस प्रकार से उपासना करता है वह नामधारी सभी प्राणियों का आत्मा हो जाता है'।

स होवाच बालाकिर्य एवैष आदर्शे पुरुषस्तमेवाहमुपास इति। तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैवं तस्मिन् समवादयिष्ठाः प्रतिरूप इति वा अहमेत-मुपास इति। स यो हैतमेवमुपास्ते प्रतिरूपो हैवास्य प्रजायामाजायते नाप्रतिरूपः ॥10॥

तब बालाकि फिर बोले—'दर्पण में जो यह पुरुष विद्यमान है उसी की ब्रह्मरूप में मैं उपासना करता हूँ'। इस पर अजातशत्रु ने कहा—'नहीं, नहीं, इसके सम्बन्ध में तुम ऐसा मत कहो क्योंकि मैं तो उसकी एकरूप की प्रतिकृति के रूप में उपासना करता हूँ और जो कोई भी उसकी इस तरह से

उपासना करता है उसकी संतति उसके प्रतिरूप (उसी के जैसी) होती है, उससे अलग रूपवाली नहीं होती'।

स होवाच बालाकिर्य एवैष प्रतिश्रुत्कायां पुरुषस्तमेवाहमुपास इति । तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैवं तस्मिन् समवादयिष्ठाः । द्वितीयोऽनपग इति वा अहमेतमुपास इति । स यो हैतमेवमुपास्ते विन्दते द्वितीयाद् द्वितीयवान् भवति ॥11॥

बालाकि ने पुन: कहा—'प्रतिध्वनि में जो यह पुरुष है, मैं उसकी उपासना करता हूँ।' इस पर अजातशत्रु ने कहा—'नहीं, नहीं उस विषय में तुम मुझे ऐसा मत कहो क्योंकि मैं उसे 'द्वितीय' या 'अनपग' समझकर उपासना करता हूँ। (अनपग=ध्वनि में पुनरावर्तन का अभाव अथवा प्रतिध्वनि में गति का अभाव) और जो इसकी इस तरह से उपासना करता है वह अपने से अलग अन्यान्य सहवासियों को प्राप्त करता है, वह सहायकों वाला होता है'।

स होवाच बालाकिर्य एवैष शब्दः पुरुषमन्वेति तमेवाहमुपास इति । तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैवं तस्मिन् समवादयिष्ठाः । आयुरिति वा अहमेतमुपास इति । स यो हैतमेवमुपास्ते नो एव स्वयं नास्य प्रजा पुरा कालात् सम्मोहमेति ॥12॥

बालाकि ने कहा कि—'पुरुष के चलने के पीछे जो यह शब्द सुनाई देता है, उसकी मैं ब्रह्म समझकर उपासना करता हूँ।' तब उस अजातशत्रु ने कहा—'नहीं नहीं इसके बारे में मुझे यह मत कहो। मैं तो उसे 'आयु' के रूप में मानकर उसकी उपासना करता हूँ। (यहाँ 'आयु' के बदले कहीं कहीं 'असु' पाठ मिलता है—उस पक्ष में 'प्राण' अर्थ है) और जो इसे इस रूप में उपासता है, वह स्वयं और उसकी संतति भी पूर्ण आयु के भोगे बिना मृत्यु को प्राप्त नहीं होते हैं।'

स होवाच बालाकिर्य एवैष छायापुरुषस्तमेवाहमुपास इति । तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैवं तस्मिन् समवादयिष्ठाः । मृत्युरिति वा अहमेतमुपास इति । स यो हैतमेवमुपास्ते नो वा स्वयं नास्य प्रजा पुरा कालात् प्रमीयते ॥13॥

वह बालाकि फिर बोले—'यह जो छाया में पुरुष है मैं उसी ब्रह्म की उपासना करता हूँ।' तब अजातशत्रु ने कहा—'इसके विषय में तुम मुझे ऐसा मत कहो, क्योंकि मैं तो उसको मृत्यु रूप मानकर उपासना करता हूँ। जो कोई उसकी इस प्रकार से उपासना करता है तो वह स्वयं तथा उसकी संतति भी समय से पहले (पूर्ण आयु को भोगने से पहले) मृत्यु को प्राप्त नहीं होती अर्थात् मनुष्य के लिए निश्चित की गई सौ वर्ष की आयु वह और उसकी सन्तति अवश्य भोगते हैं।

स होवाच बालाकिर्य एवैष शारीरः पुरुषस्तमेवाहमुपास इति । तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैवं तस्मिन् समवादयिष्ठाः । प्रजापतिरिति वा अहमेतमुपास इति । स यो हैतमेवमुपास्ते प्रजायते प्रजया पशुभिः ॥14॥

फिर उन बालाकि ने कहा—'जो यह शरीर स्थित पुरुष है उसकी मैं ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ'। तब अजातशत्रु ने उनसे कहा—'इसके विषय में तुम मुझे ऐसी बात मत कहो क्योंकि उसकी तो

मैं प्रजापति के रूप में उपासना करता हूँ। जो इसकी इस प्रकार से उपासना करता है वह प्रजा और पशुओं से सम्पन्न होता है'।

स होवाच बालाकिर्य एवैष प्राज्ञ आत्मा येनैष पुरुषः सुप्तः स्वप्न्यया चरति तमेवाहमुपास इति। तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैवं तस्मिन् समवादयिष्ठाः। यमो राजेति वा अहमेतमुपास इति। स यो हैतमेवमुपास्ते सर्वं हास्मा इदं श्रैष्ठ्याय यम्यते ॥15॥

वह बालाकि फिर बोले—'जो यह प्राज्ञ आत्मा है, जो कि सोता हुआ भी स्वप्न में विचरण करता है (विविध रूपों को देखता है), उसकी मैं ब्रह्म मानकर उपासना करता हूँ'। तब अजातशत्रु ने कहा—'इसके विषय में तुम मुझे ऐसा मत कहो, क्योंकि मैं तो उसकी यमराज मानकर उपासना करता हूँ और जो कोई उसकी इस तरह से उपासना करता है, तो उसका यह सब कुछ भी श्रेष्ठता के लिए ही चलता है (अथवा) उसका सब कुछ श्रेष्ठता के लिए ही नियन्त्रित होता रहता है।

स होवाच बालाकिर्य एवैष दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्तमेवाहमुपास इति। तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैवं तस्मिन् समवादयिष्ठाः। नाम्न आत्माऽग्नेरात्मा ज्योतिष आत्मेति वा अहमेतमुपास इति। स यो हैतमेवमुपास्त एतेषां सर्वेषामात्मा भवति ॥16॥

बालाकि ने कहा—'यह जो दाहिनी आँख में जो पुरुष अवस्थित है, उसी ब्रह्म को मैं उपासना करता हूँ।' तब अजातशत्रु ने उससे कहा—'इसके विषय में तुम मुझे ऐसा मत कहो, क्योंकि उसकी तो मैं नाम, अग्नि और ज्योति की आत्मा के रूप में उपासना करता हूँ। जो इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह इन सभी प्राणियों का आत्मस्वरूप हो जाता है'।

स होवाच बालाकिर्य एवैष सव्येऽक्षन्पुरुषस्तमेवाहमुपास इति। तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैवं तस्मिन् समवादयिष्ठाः। सत्यस्यात्मा विद्युत आत्मा तेजस आत्मेति वा अहमेतमुपास इति। स यो हैतमेवमुपास्त एतेषां सर्वेषामात्मा भवति ॥17॥

बालाकि ने कहा—'जो बाएँ नेत्र में पुरुष है, मैं उस ब्रह्म की उपासना करता हूँ'। तब अजातशत्रु ने उनसे कहा—'नहीं, इस विषय में मुझे ऐसा मत कहो। क्योंकि मैं तो उसकी सत्य के आत्मा के रूप में, विद्युत् की आत्मा के रूप में और तेज की आत्मा के रूप में उपासना करता हूँ। जो कोई भी उसकी इस तरह से उपासना करेगा, वह इन सब पदार्थों (प्राणियों) का आत्मा हो जायेगा।

तत उ ह बालाकिस्तूष्णीमास। तं होवाचाजातशत्रुः। एतावन्नु बालाका इति। एतावद्धीति होवाच बालाकिः। तं होवाचाजातशत्रुर्मृषा वै किल मा समवादयिष्ठा ब्रह्म ते ब्रवाणीति। स होवाच यो वै बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य वैतत्कर्म स वै वेदितव्य इति। तत उ ह बालाकिः समित्पाणिः प्रतिचक्रम उपायानीति। तं होवाचाजातशत्रुः प्रतिलोमरूपमेव तस्याद्यत् क्षत्रियो ब्राह्मणमुपनयेत्। एहि व्येव त्वा ज्ञपयिष्यामीति। तं ह पाणावभिपद्य प्रवव्राज। तौ ह सुप्तं पुरुषमाजग्मतुः। तं हाजातशत्रुरामन्त्रयांचक्रे। बृहन् पाण्डरवासः सोमराजन्निति। स उ ह तूष्णीमेव

शिश्ये। तत उ हैनं यष्ट्या विचिक्षेप। स तत एव समुत्तस्थौ। तं होवाचाजातशत्रुः क्वैष एतद्बालाके पुरुषोऽशयिष्ट क्वैतदभूत् कुतः एतगादिति। तत उ ह बालाकिर्न विजज्ञौ ॥18॥

तब बालाकि मौन हो गए। अजातशत्रु ने उनसे कहा—'बालाके ! बस, आपका ब्रह्मज्ञान इतना ही है ?' बालाकि ने कहा—'हाँ, बस इतना ही है।' तब अजातशत्रु ने कहा कि—'तब तो तुम मेरे आगे झूठ (मिथ्या) ही बोले कि मैं तुम्हें ब्रह्मज्ञान दूँगा'। अजातशत्रु ने आगे कहा कि—'हे बालाकि ! जो (तुम्हारे कहे हुए) इन सभी पुरुषों का कर्त्ता है वही जानने योग्य है'। तब बालाकि हाथ में समिधा लिए प्रदक्षिणा करके विनती करने लगे कि मुझे उपनयन दीजिए अर्थात् आप ब्रह्मज्ञान दीजिए।' इस पर अजातशत्रु कहने लगे कि—'क्षत्रिय ब्राह्मण को उपनयन दे, यह तो उल्टा क्रम हो जाएगा। फिर भी आओ, मैं तुम्हें अवश्य ही ज्ञान दूँगा।' बाद में अजातशत्रु बालाकि का हाथ पकड़कर चले। वे दोनों किसी सोए हुए पुरुष के पास आए। उसको अजातशत्रु ने बुलाया—'हे महान् पुरुष ! हे पाण्डर वस्त्र पहने हुए ! हे सोम राजन् !' परन्तु वह मौन ही रहा। बाद में उसको लाठी से फटकारा। तब वह खड़ा हो गया। तब अजातशत्रु ने बालाकि से कहा—'हे बालाकि ! यह पुरुष तब कहाँ सोया था ? यह कहाँ था ? वह यहाँ फिर कहाँ से आया ?' किन्तु वह बालाकि यह नहीं जानता था।

तं होवाचाजातशत्रुः यत्रैतद् बालाके पुरुषोऽशयिष्ट यत्रैतदभूद्यत एतदागादिति। हिता नाम हृदयस्य नाड्यो हृदयात् पुरीततमभिप्रतन्वन्ति तद्यथा सहस्त्रधा केशो विपाटितस्तावदण्व्यः पिङ्गलस्याणिम्ना तिष्ठन्ति शुक्लस्य कृष्णस्य पीतस्य लोहितस्येति तासु तदा भवति। यदा सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यति। अस्मिन् प्राण एकैकधा भवति। तदैनं वाक् सर्वैर्नामभिः सहाप्येति। चक्षुः सर्वै रूपैः सहाप्येति श्रोत्रं सर्वैः शब्दैः सहाप्येति मनः सर्वैर्ध्यानैः सहाप्येति। स यदा प्रतिबुध्यते यथाऽग्ने-र्ज्वलतः सर्वा दिशो विस्फुलिङ्गा विप्रतिष्ठेरन्नेवमैवास्मादात्मनः प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः। तद्यथा क्षुरः क्षुरधानेऽवहितः स्यात्। विश्वंभरो वा विश्वंभरकुलाय एवमेवैष प्रज्ञ आत्मेदं शरीरमात्मानमनुप्रविष्ट आ लोमभ्य आ नखेभ्यः ॥19॥

अजातशत्रु ने उनसे (बालाकि से) कहा—'हे बालाकि ! यह पुरुष इस तरह से जहाँ सोया था, जिस स्थान में था, जहाँ से वह आया, यह बात इस प्रकार है—'हिता' नाम की बहुत-सी प्रसिद्ध नाड़ियाँ हृदयकमल से सम्बन्ध रखने वाली हैं। वे नाडियाँ हृदय से निकलकर सारे शरीर में फैली हुईं हैं। वे नाड़ियाँ एक बाल के हजारों भाग के परिमाण वाली अतिसूक्ष्म हैं। ये नाड़ियाँ अतिसूक्ष्म पिंगलवर्ण वाली हैं। शुक्ल, कृष्ण, पीत, रक्त आदि अनेक रंगों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंशों से वे युक्त हैं। जिस समय वह सोया हुआ पुरुष किसी स्वप्न को नहीं देखता, उस समय वह इस मुख्य प्राणतत्त्व में ही एकीभाव प्राप्त करके रहता है। तब वाणी अपने सभी नामों के साथ प्राणतत्त्व में विलीन हो जाती है, चक्षु सभी रूपों के साथ प्राणतत्त्व में विलीन होता है, श्रोत्रेन्द्रिय सभी शब्दों के साथ प्राणतत्त्व में विलीन होती है, मन सभी ध्यानों के साथ प्राणतत्त्व में विलीन होता है। वह जब जागता है, तब जैसे जलती हुई आग से चारों ओर चिनगारियाँ फैल जाती हैं, उसी प्रकार इस आत्मा से वाणी आदि सभी प्राणतत्त्व इस प्राणतत्त्व से निकलकर अपने-अपने योग्य स्थान पर चले जाते हैं। बाद में उन प्राणतत्त्वों

से उनके अधिष्ठाता देव उत्पन्न होते हैं और उन देवों से लोकों की (विषयों की) उत्पत्ति होती है। जैसे क्षुरधान (छूरे के म्यान) में छूरा रहता है, और जैसे यह विश्वंभर - प्राणोपाधिक विज्ञानात्मा उसके निवासरूप इस शरीर में रहता है, उसी तरह यह प्रज्ञात्मा भी तीनों प्रकार के शरीरों में नखशिख प्रविष्ट हो जाता है।

तमेतमात्मानमेतमात्मनोऽन्ववपश्यन्ति (अन्ववस्यन्ति)। यथा वा श्रेष्ठिनं स्वाः। तद्यथा श्रेष्ठैः स्वैर्भुङ्क्ते यथा वा श्रेष्ठिनं स्वाः भुञ्जन्त्येवमेवैष प्रज्ञात्मेतैरात्मभिर्भुङ्क्ते। एवं वै तमात्मानमेत आत्मानो भुञ्जन्ति। स यावद्ध वा इन्द्र एतमात्मानं न विजते तावदेनमसुरा अभिबभूवुः। स यदा विजज्ञेऽथ हत्वाऽसुरान्विजित्य सर्वेषां देवानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमधिपत्यं परीयाय तथो एवैवं विद्वान् सर्वान् पाप्मनोऽपहत्य सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्येति। य एवं वेद एवं वेद ॥20॥

इति चतुर्थोऽध्यायः।

इति कौषीतकिब्राह्मणोपनिषत्समाप्ता।

उस साक्षीभूत आत्मा की ये सब (वाणी आदि) अन्य आत्मा अनुगत (सेवक) की तरह होते हैं, जैसे किसी धनिक के सेवक हों। जैसे धनिक सेठ अनुचरादि स्वजनों के साथ खाते-पीते हैं और जैसे वे अनुचर भी समान भाव से सेठ को खिलाते-पिलाते हैं, उसी तरह यह प्रज्ञात्मा, वाणी आदि आत्माओं के साथ उपभोग करता है और अवश्य ही इस प्रज्ञात्मा का भी वाणी आदि आत्माएँ उपभोग करती हैं। इन्द्र राजा भी जब तक इस आत्मा को नहीं जान पाए थे तब तक उन्हें समस्त दैत्यसमूह पराजित करता रहता था। पर जब उन्होंने यह रहस्य जान लिया, तब उन्होंने सभी दैत्यों को मारकर पराजित कर दिया और समग्र देवों में श्रेष्ठता का पद, स्वर्ग का राज्य और त्रिलोकी का आधिपत्य प्राप्त कर लिया। इस प्रकार आत्मा को जानने वाला ज्ञानी समग्र पापों का नाश कर, सभी भूत-प्राणियों में श्रेष्ठ होकर स्वराज्य और प्रभुता को प्राप्त करके सब का स्वामी बन जाता है। जो भी उपासक इस तरह से उसे जानता है, उसे उपर्युक्त समस्त फलों की प्राप्ति होती है। (वाक्य की पुनरावृत्ति अध्याय और उपनिषत् की समाप्ति का सूचक है)।

यहाँ चौथा अध्याय समाप्त हुआ और उपनिषत् भी समाप्त हुई।

शान्तिपाठः

ॐ वाङ्मे मनसि .... वक्तारमवतु वक्तारम्। (पूर्ववत्)

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

❋

(26) बृहज्जाबालोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

यह आठ ब्राह्मणों (अध्यायों) वाली अथर्ववेदीय उपनिषद् है। इस उपनिषद् में कपिल, कृष्ण, रक्त, श्वेत और चित्रवर्णा गायों के गोबर से क्रमशः विभूति, भसित, भस्म, क्षार और रक्षा—ऐसे पाँच नामों वाली भस्मों का वर्णन है। विभूति नाम की भस्म ऐश्वर्यदात्री है। भसित भस्म प्रकाशदात्री है। भस्म नाम की तीसरी भस्म पापों को भस्म करती है। क्षार भस्म आपत्तियों का क्षय करती है। और रक्षा नाम की भस्म भूत-प्रेतादि से रक्षा करती है। भस्म अग्नि का सत्त्व है। भस्म से भाल, दोनों हाथ और छाती पर त्रिपुण्ड्र करना चाहिए। भस्मधारण से सदाशिव की प्राप्ति होती है। त्रिपुण्ड्र की तीन रेखाएँ ब्रह्मा, विष्णु और सदाशिव के रूप हैं।

प्रलयकाल में सदाशिव विश्व का संहार करके जब अपनी आँखें बन्द कर लेते हैं, तब उन आँखों से जो आँसू गिरते हैं, उन्हीं से रुद्राक्ष (रुद्र का अक्ष = रुद्राक्ष) की उत्पत्ति होती है। सिर पर चालीस, शिखा में एक या तीन, दोनों कानों में बारह, गले में बारह, दोनों हाथों पर सोलह-सोलह, कलई पर बारह-बारह और अँगूठों पर छः-छः रुद्राक्ष धारण करने का उपदेश यह उपनिषद् करती है। इस उपनिषद् का अध्ययन करने वाला परमगति को प्राप्त होता है, ऐसी फलश्रुति भी कही गई है।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः..........देवहितं यदायुः। (पूर्ववत्)

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (अथर्वशिर उपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

प्रथमं ब्राह्मणम्

आपो वा इदमासन् सलिलमेव। स प्रजापतिरेकः पुष्करपर्णे समभवत्। तस्यान्तर्मनसि कामः समवर्तत इदं सृजेयमिति। तस्माद्यत्पुरुषो मनसा-ऽभिगच्छति। तद् वाचा वदति। तत्कर्मणा करोति ॥1॥

पहले पानी ही पानी था। बाद एक कमलपत्र पर एक प्रजापति उत्पन्न हुए। उनके भीतर मन में इच्छा हुई कि मैं सर्जन करूँ। इसीलिए (परंपरानुसार) मनुष्य पहले मन में सोचता है, बाद में वाणी से बोलता है और तब बाद में कार्य करता है।

तदेषाभ्यनूक्ता—कामस्तदग्रे समवर्तताभि। मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्। सतो बन्धुमसति निरविन्दन्। हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषेति। उपैनं तदुपनमति। यत्कामो भवति। य एवं वेद ॥2॥

तो यह बात बाद में कही गई है कि—ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के पहले काम (अभिलाष) उत्पन्न हुआ था। जो मन का रेतस् (सत्त्व) पहले था वही काम (अभिलाष) है। इस दृश्य जगत् के बन्धु जैसा काम अदृश्य (अचाक्षुष) ब्रह्म में पूर्णता को प्राप्त हुआ। कवि लोग मनीषा से हृदय में अवलोकन करके उस कामी को ब्रह्म के समीप ले जाते हैं (जो स्त्री आदि में कामना रखता है, उसे कवि = ऋषि लोग बुद्धि द्वारा उस परमतत्त्व के पास ले जाते हैं, यह भाव है)। जिसको इस प्रकार का ज्ञान है, वह प्रजापति-पद को प्राप्त करता है।

स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा। स एवं भुसुण्डः कालाग्निरुद्रगमदागत्य भो, विभूतेर्माहात्म्यं ब्रूहीति ॥3॥

उस प्रजापति ने तप (परिश्रम) किया। तप करके जो कौए के आकारवाले विख्यात परमयोगी थे, उनमें वे प्रविष्ट हुए। प्रजापति से आविष्ट हुए भुसण्ड उस कालाग्नि रुद्र के पास गए। वहाँ जाकर उन्होंने कहा—जी ! 'विभूति का माहात्म्य कहिए।'

तथेति प्रत्यवोचद्भुसुण्ड वाच्यमानं किमिति ॥4॥
विभूतिरुद्राक्षयोर्माहात्म्यं बभाणेति ॥5॥
आदावेव पैप्पलादेन सहोक्तमिति ॥6॥
तत्फलश्रुतिरिति ॥7॥
तस्योर्ध्वं किं वदामेति ॥8॥
बृहज्जालाभिधां मुक्तिश्रुतिं ममोपदेशं कुरुष्वेति ॥9॥

तब कालाग्निरुद्र भगवान् ने उत्तर दिया—'ठीक है भुसुण्ड ! तो मुझे क्या कहना है ?' तब भुसुण्ड ने कहा—'विभूति और रुद्राक्ष का माहात्म्य बताइए।' तब कालाग्निरुद्र बोले—'वह तो पैप्पलाद के साथ तुमको पहले ही बताया जा चुका है।' तब भुसुण्ड ने कहा—'अब उसकी फलश्रुति कहिए।' तब कालाग्निरुद्र बोले—'इसके आगे फिर क्या कहा जाए ?' तब भुसुण्ड बोले—'बृहज्जाल नाम की मुक्तिश्रुति का मुझे उपदेश दीजिए।'

ॐ तथेति। सद्योजातात्पृथिवी। तस्याः स्यान्निवृत्तिः। तस्याः कपिलवर्णा नन्दा। तद् गोमयेन विभूतिर्जाता ॥10॥
वामदेवादुदकम्। तस्मात्प्रतिष्ठा। तस्याः कृष्णवर्णा भद्रा। तद्गोमयेन भसितं जातम् ॥11॥
अघोराद्वह्निः तस्माद्विद्या। तस्या रक्तवर्णा सुरभिः। तद्गोमयेन भस्म जातम् ॥12॥
तत्पुरुषाद्वायुः। तस्माच्छान्तिः। तस्याः श्वेतवर्णा सुशीला। तस्या गोमयेन क्षारं जातम् ॥13॥
ईशानादाकाशम्। तस्माच्छान्त्यतीता। तस्याश्चित्रवर्णा सुमना। तद्गोमयेन रक्षा जाता ॥14॥
विभूतिर्भसितं भस्म क्षारं रक्षेति भस्मनो भवन्ति पञ्च नामानि। पञ्चभिर्नामभिर्भृशमैश्वर्यकारणाद्भूतिः। भस्म सर्वाघभक्षणात्। भासनाद्भसितम्। क्षारणादापदां क्षारम्। भूतप्रेतपिशाचब्रह्मराक्षसापस्मारभवभीतिभ्योऽभिरक्षणाद्रक्षेति ॥15॥

इति प्रथमं ब्राह्मणम्।

तब कालाग्निरुद्र भगवान् ने कहा—'अच्छा, तो उस सद्योजात प्रजापति से पहले **पृथ्वी** उत्पन्न हुई। उसके सकाश (निकटता) से निवृत्तिनामक कला उत्पन्न हुई। उससे कपिल वर्णवाली नन्दा नाम की गाय उत्पन्न हुई। उसके गोबर से 'विभूति' नाम की भस्म उत्पन्न हुई। वामदेव से **जल** की उत्पत्ति हुई। उससे प्रतिष्ठा नामक कला जन्मी। उससे काले वर्णवाली भद्रा नाम की गाय उत्पन्न हुई और उसके गोबर से 'भसित' नाम की भस्म उत्पन्न हुई। अघोर से **अग्नि** उत्पन्न हुआ, अग्नि से विद्याकला जन्मी। उससे लाल रंग वाली सुरभि गाय उत्पन्न हुई। उसके गोबर से 'भस्म' नाम की भस्म उत्पन्न हुई। तत्पुरुष से **वायु** उत्पन्न हुआ, उससे शान्तिकला जन्मी। उससे श्वेतवर्ण सुशीला गाय उत्पन्न हुई। उसके गोबर से 'क्षार' नाम की भस्म उत्पन्न हुई। ईशान से **आकाश** की उत्पत्ति हुई। उससे शान्त्यतीता कला उत्पन्न हुई। इससे विचित्रवर्ण वाली सुमना नाम की गाय उत्पन्न हुई। उसके गोबर से 'रक्षा' नाम की भस्म उत्पन्न हुई। इस प्रकार विभूति, भसित, भस्म, क्षार, रक्षा—ये पाँच तरह की भस्म होती हैं। इन पाँचों नामों में ऐश्वर्य को भृशम् अर्थात् तुरन्त देने वाली होने से पहली का नाम **'विभूति'** है। सब पापों का भक्षण करने वाली होने से दूसरी का नाम **'भस्म'** रखा गया है। भासक (प्रकाशक) होने से तीसरी का नाम **'भसित'** है। आपत्तियों का क्षरण (नाश) करने वाली होने से चौथी का नाम **'क्षार'** है और भूत-प्रेत-पिशाच-ब्रह्मराक्षस-भवभय-आदि भय से रक्षण करने वाली होने से पाँचवीं नाम **'रक्षा'** रखा है। इस प्रकार पाँच भस्मों के नामों की अन्वर्थकता है।

यहाँ प्रथम ब्राह्मण समाप्त होता है।

❋

द्वितीयं ब्राह्मणम्

अथ भुसुण्डः कालाग्निरुद्रमग्निषोमात्मकं भस्मस्नानविधिं पप्रच्छ ॥1॥

अब भुसुण्ड ने कालाग्निरुद्र से अग्निषोमीय भस्मस्नान की विधि के विषय में पूछा।

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकं भस्म सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥2॥

जिस प्रकार एक ही अग्नि अपने आश्रयभूत पदार्थ के अनुसार तरह-तरह के रूप धारण करता है, ठीक उसी प्रकार भस्म भी व्यष्टि-समष्टिरूप उपाधि से स्वयं एक और सर्वभूतान्तरात्मा - व्यापक - होते हुए ही भाँति-भाँति के आकार धारण करता है।

अग्निषोमात्मकं विश्वमित्यग्निरित्याचक्षते। रौद्री घोरा या तैजसी तनूः।
सोमः शक्त्यमृतमयः शक्तिकरी तनूः ॥3॥

यह विश्व अग्न्यात्मक और सोमात्मक है। इसलिए उसे विश्वासपूर्वक अग्नि कहते हैं। (क्योंकि अग्निषोम कारण है और विश्व उसका कार्य है) उसका एक घोर और तैजस शरीर है और दूसरा शक्तिदायक शरीर है। सोम ही वह शक्ति है। (शरीर के वाम भाग में स्थित इडा शक्ति अमृतमय है)।

अमृतं यत्प्रतिष्ठा सा तेजोविद्याकला स्वयम्।
स्थूलसूक्ष्मेषु भूतेषु स एव रसतेजसी ॥4॥

जिस चन्द्रनाडी में अमृत और प्रतिष्ठा होने से वह नाडी अमृतरूप प्रतिष्ठा है और इससे वह तेजोविद्याकलात्मिका बनती है। वे रस और तेज स्थूल और सूक्ष्म शरीरों में दो प्रकार के बनते हैं।

द्विविधा तेजसो वृत्तिः सूर्यात्मा चानलात्मिका ।
तथैव रसशक्तिश्च सोमात्मा चानलात्मिका ॥5॥

सूर्य और अग्नि के भेद से जिस तरह तेज की वृत्ति दो प्रकार की होती है, उसी प्रकार रसशक्ति भी सोमात्मिका और अनलात्मिका के भेद से दो प्रकार की होती है ।

वैद्युदादिमयं तेजो मधुरादिमयो रसः ।
तेजोरसविभेदैस्तु वृत्तमेतच्चराचरम् ॥6॥

इसमें तेज तो विद्युत् आदि रूप है (अर्थात् दीपक, नक्षत्र आदि में तेज रहता है) और जो रस है वह मधुर–अम्ल-खट्टा-मीठा आदि होता है । इस प्रकार यह सम्पूर्ण चराचर (स्थावर-जंगम) जगत् तेज और रसों की विविधता से छाया हुआ है ।

अग्नेरमृतनिष्पत्तिरमृतेनाग्निरेधते ।
अत एव हविः क्लृप्तमग्नीषोमात्मकं जगत् ॥7॥

अग्नि से अमृत की निष्पत्ति होती है (नवनीत का घृत - अमृत बनाने के लिए उसे अग्नि पर चढ़ाया जाता है) और अमृत से अग्नि बढ़ता है (अमृतमन्थन में मन्थन क्रिया है और अरणि से अग्नि निकालने में भी मन्थनक्रिया की जाती है—यह दोनों का साम्य है) । मंथन से आविर्भूत उष्ण अग्नि से ही उत्पन्न अमृतविशेष सोम होता है इसलिए अग्निषोमीय हवि निष्पन्न होता है । इसीलिए इस जगत् को 'अग्निषोमीय' जानना चाहिए ।

ऊर्ध्वशक्तिमयः सोम अधःशक्तिमयोऽनलः ।
ताभ्यां सम्पुटितं तस्माच्छश्वद्विश्वमिदं जगत् ॥8॥

सोम ऊर्ध्वशक्तियुक्त है और अग्नि अधःशक्तिमय (नीचे की शक्ति से युक्त) है । ऊपर-नीचे की दोनों शक्तियों से संपुट किया हुआ यह जगत् होता है (शिव के तीसरे नेत्र से चन्द्र ऊपर = ऊर्ध्व है, और उसकी अपेक्षा वह नेत्रानल नीचे है) अथवा तो ऐसा भी अर्थ लिया जा सकता है कि अपने भक्तों को ऊर्ध्वपद की प्राप्ति कराने की शक्ति वाले होने से सोम शिव है और विषयों से कभी सन्तुष्ट नहीं होने वाला जीव अधःशक्तिमय है । इसलिए उन दोनों से - शिव और शक्ति से - अलग यह विश्व संपुटित (कवलित) किया गया है ।

अग्नेरूर्ध्वं भवत्येषा यावत्सौम्यं परामृतम् ।
यावदग्न्यात्मकं सौम्यममृतं विसृजत्यधः ॥9॥

यह शिवशक्ति जबतक अग्नि से ऊपर होती है, वहाँ सोमसम्बन्धी परामृत होता है । वह अग्निसंयुक्त होकर नीचे चरण तक अमृत छोड़ता है तब तक शिवशक्तिसंयोग होता है, यह अर्थ है । (तात्पर्य यह है कि मूलाधारस्थ अग्नि के ऊपर, आज्ञाचक्र और सहस्रार के बीच परामृत सोममंडल है, वह केवलकुंभक से उत्थित अग्नि से युक्त होकर नीचे चरणों तक यह सौम्य - सोमसम्बन्धी अमृत छोड़ता है - तब तक शिवशक्ति का संयोग होता है ।

अत एव हि कालाग्निरधस्ताच्छक्तिरूर्ध्वगा ।
यावदादहनश्चोर्ध्वमधस्तात्पावनं भवेत् ॥10॥

इसीलिए (अग्नीषोमयोग ही शिवशक्तियोग और जीवेशैक्य होने से) नीचे की कालाग्नि नाम की जीवशक्ति ऊर्ध्वगामिनी शक्ति बन सकती है । जहाँ तक शिव-शक्ति की अर्थात् जीव-शिव की एकता

रहती है, वहाँ तक पहले अनुभूत की हुई सभी बातें जल-सी जाती हैं। उस समय पहले अनुभवों का ऊर्ध्व में फिर बाद में बाध होने से वह ऐक्य पावन (ब्रह्मभावापन्न) ही होता है।

आधारशक्त्यावधृतः कालाग्निरयमूर्ध्वगः।
तथैव निम्नगः सोमः शिवशक्तिपदास्पदः ॥11॥

मूलाधारशक्ति के द्वारा धारण किया गया (युक्त) यह कालाग्नि जीव अपनी उपाधिरूप शक्ति के अंश को छोड़कर जैसे ऊर्ध्व गतिवाला होता है, वैसे ही शिवशक्ति के स्थान में रहा हुआ सोम मानो नीचे आ रहा हो, ऐसा लगता है। वास्तव में तो निम्न-उन्नत भाव जैसा कुछ है ही नहीं।

शिवश्चोर्ध्वमयः शक्तिरूर्ध्वशक्तिमयः शिवः।
तदित्थं शिवशक्तिभ्यां नाव्याप्तमिह किञ्चन ॥12॥

जो शिव है वह ऊर्ध्वस्थानीय शक्ति ही है और जो शक्ति है वह ऊर्ध्वमय शिव ही है। अर्थात् शिव और शक्ति में किसी प्रकार का वास्तविक भेद नहीं है। इस तरह इस जगत् में कुछ भी ऐसा नहीं है, जो कि शिव और शक्ति द्वारा व्याप्त न हो।

असकृच्चाग्निना दग्धं जगत्तद्भस्मसात्कृतम्।
अग्नेर्वीर्यमिदं प्राहुस्तद्वीर्यं भस्म यत्ततः ॥13॥

बार-बार शास्त्रीय ज्ञानाग्नि से जलाए गए इस जगत् को जो भस्मसात् किया गया है, इसलिए इस जगत् को अग्नि का वीर्य कहा गया है। और तब तो यह भस्म जगत् का भी वीर्य हो गया क्योंकि जगत् का यदि अस्तित्व ही न होता, तब तो उसे जलाने से होने वाली भस्म का अस्तित्व भी नहीं होता।

यश्चेत्थं भस्मसद्भावं ज्ञात्वाऽभिस्नाति भस्मना।
अग्निरित्यादिभिर्मन्त्रैर्दग्धपाशः स उच्यते ॥14॥

जो कोई भी भस्म के इस रहस्य (भस्म की यथाविधि उत्पत्ति) को जान कर 'अग्निरिति भस्म' आदि मन्त्रों के साथ भस्म से स्नान करता है, वह 'दग्धपाश' हो जाता है, उसके पाश (बन्धन) जल गए हैं, ऐसा हो जाता है।

अग्नेर्वीर्यं च तद्भस्म सोमेणाप्लावितं पुनः।
अयोगयुक्त्या प्रकृतेरधिकाराय कल्पते ॥15॥

जो अग्नि का वीर्यरूप भस्म है, वह फिर सोम से – शिवशक्ति रूप अमृत जल से – मिश्रीकृत हो गया, ऐसा मालूम होता है। सोम के सिवा कोई प्रकृति या विकृति नहीं होती—इस प्रकार के प्रकृति के अयोग के तर्क से मनुष्य मुख्य भस्म को जानने का अधिकारी बनता है।

योगयुक्त्या तु तद्भस्म प्लाव्यमानं समन्ततः।
शाक्तेनामृतवर्षेण ह्यधिकारान्निवर्तते ॥16॥

परन्तु जो मनुष्य शिवशक्ति के अमृत-वर्षण में प्रकृति-विकृति का योग मानता है अर्थात् अभेद के बदले भेद मानकर दोनों का संयोग मानता है, और शिवशक्ति की वृष्टि से भस्म को चारों ओर से आप्लावित होता हुआ मानता है, वह मनुष्य मुख्य भस्म को जानने के अधिकार से वंचित ही रह जाता है।

अतो मृत्युञ्जयायेत्थममृतप्लावनं सताम् ।
शिवशक्त्यमृतस्पर्शे लब्ध एव कुतो मृतिः ॥17॥

योग युक्ति से संसारित्व होता है इसलिए इस मृत्युंजय परमात्मा के लिए जो इस प्रकार का अमृत निमज्जन (शिव के सिवा शक्ति है ही नहीं—ऐसा ज्ञानसमर्पण) करते हैं, ऐसे सत्पुरुषों को शिव-शक्ति का अमृतस्पर्श हो ही गया है तो फिर उनकी मृत्यु कैसे हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती ।

यो वेद गहनं गुह्यं पावनं च ततोदितम् ।
अग्नीषोमपुटं कृत्वा न स भूयोऽभिजायते ॥18॥

जो मनुष्य इस दुर्गम और गोपनीय एवं पावन सदोदित अग्नीषोमीय पुट करके अर्थात् प्रत्यक्तत्त्व और परमतत्त्व का ऐक्य करके इसको जान लेता है, वह फिर से नहीं जन्मता अर्थात् मुक्त हो जाता है ।

शिवाग्निना तनुं दग्ध्वा शक्तिसोमामृतेन यः ।
प्लावयेद् योगमार्गेण सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥19॥

इति द्वितीयं ब्राह्मणम् ।

परमात्मारूप अग्नि में जो अपने शरीर को (अज्ञान को) जलाकर के जो मनुष्य (योगी) शक्तिरूपी सोमामृत से योगमार्ग द्वारा निमज्जित कर देता है वह अमृतत्व को (कैवल्य को) प्राप्त करने वाला हो जाता है । वाक्य का दुहराना ब्राह्मण की समाप्ति सूचित करता है ।

यहाँ पर दूसरा ब्राह्मण पूरा हुआ ।

❈

तृतीयं ब्राह्मणम्

अथ भुसुण्डः कालाग्निरुद्रं विभूतियोगमनुब्रूहीति होवाच ॥1॥

अब भुसुण्ड ने फिर से कालाग्निरुद्र से कहा कि अब विभूतियोग के विषय में कहिए ।

विकटाङ्गामुन्मत्तां महाखलामशिवादिचिह्नान्वितां पुनर्धेनुं कृशाङ्गां वत्सहीनामशान्तामदुग्धदोहिनीं निरिन्द्रियां जग्धतृणां केशचेलास्थि-भक्षिणीं सन्धिनीं नवप्रसूतां रोगार्तां गां विहाय प्रशस्तगोमयमाहरेद् गोमयं खसंस्थं ग्राह्यं शुभे स्थाने वा पतितमपरित्यज्यात ऊर्ध्वं मर्दयेद् गव्येन । गोमयग्रहणं कपिला धवला वा । अलाभे तदन्या गौः स्याद्दोषवर्जिता । कपिलागोभस्मोक्तम् । लब्धगोभस्मना चेदन्यगोक्षारं यत्र क्वापि स्थितं यत्तत्र हि धार्यं संस्काररहितं धार्यम् ॥2॥

जो गाय कुरूप हो, पागल हो, दुष्ट (शरारती) हो, अमंगल चिह्नवाली हो, दुबली-पतली हो, जिसका बछड़ा न हो, चञ्चल हो, जिसका दूध न निकलता हो, इन्द्रियों की जिसमें क्षतिं हो, खा-पी चुकी हो (वृद्ध हो गई हो), बाल-चीथडे-हड्डियाँ आदि खाती हो, कामार्ता हो, नवप्रसूता हो, रोग से पीड़ित हो—ऐसी गाय को छोड़कर, प्रशस्त (विशुद्ध) गाय का गोमय लेना चाहिए । वह गोमय भी कहीं अन्तराल में और किसी अच्छे स्थान में पड़ा हो, ऐसा होना चाहिए, अर्थात् पवित्र गोबर का ही

ग्रहण करना चाहिए। उसके बाद, उस गव्य का मर्दन करना चाहिए। यदि हो सके तो कपिला या श्वेत गाय का गोमय ग्रहण करना चाहिए। और यदि वह न मिले तो इसके स्थान पर अन्य (पूर्वोक्त दोषों से रहित) गाय का गोमय ग्रहण करना चाहिए। कपिलादि गोमय की भस्म का विधान तो प्रशस्ति के लिए किया गया है। प्राप्य गोभस्म से काम चल सकता है, परन्तु जहाँ-जहाँ पड़े हुए असंस्कृत गोमय (गोबर) की भस्म ग्रहण नहीं करनी चाहिए।

तत्रैते श्लोका भवन्ति—
विद्याशक्तिः समस्तानां शक्तिरित्यभिधीयते।
गुणत्रयाश्रया विद्या सा विद्या च तदाश्रया ॥3॥

उन शक्तियों में विद्याशक्ति ही सबकी सही रूप में शक्ति कही जाती है। वह तीन गुणों का आश्रय-स्थान है और विद्या वही है जो तीनों गुणों से युक्त हो। ऐसे परस्पराश्रय भाव दोनों में है।

गुणत्रयमिदं धेनुर्विद्याऽभूद् गोमयं शुभम्।
मूत्रं चोपनिषत्प्रोक्तं कुर्याद्भस्म ततः परम् ॥4॥

ये गुणत्रय ही धेनु है और शुभ गोमय विद्यारूप है। गोमूत्र को उपनिषत् कहा गया है (इस प्रकार धेनु, गोमय और गोमूत्र में गुणत्रय, विद्या और उपनिषद् की दृष्टि करनी चाहिए। और बाद में उसकी भस्म करनी चाहिए।

वत्सस्तु स्मृतयश्चास्यास्तत्सम्भूतं तु गोमयम्।
आगाव इति मन्त्रेण धेनुं तत्राभिमन्त्रयेत् ॥5॥

तीन गुणों से विशिष्ट इस गाय का बछड़ा इसका स्मृतिसमूह है। इससे जो गोमय उत्पन्न होता है, उस गोमय से भस्म बनानी चाहिए। बाद में 'आगावो अगमन्नुत भद्रमकन्'—इस मन्त्र से गाय को अभिमन्त्रित करके—

गावो भगो गाव इति प्राशयेत् तत्तृणं जलम्।
उपोष्य च चतुर्दश्यां शुक्ले कृष्णेऽथवा व्रती ॥6॥

बाद में 'गावो भगो गाव इन्द्रो मे अगच्छत्'—इस मन्त्र से गाय को चारा-पानी देकर श्रौतभस्मव्रती को शुक्ल या कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी को उपवास करना चाहिए। बाद में—

परेद्युः प्रातरुत्थाय शुचिर्भूत्वा समाहितः।
कृतस्नानो धौतवस्त्रः पयोर्ध्वं च सृजेच्च गाम् ॥7॥

दूसरे दिन सुबह में उठकर शौचादि क्रियाएँ करके शान्त चित्त से स्नान करके, धुले हुए कपड़े पहनकर गाय को दुहने के बाद उसे भस्मोत्पादन का निमित्त (कारण) बनाना चाहिए।

उत्थाप्य गां प्रयत्नेन गायत्र्या मूत्रमाहरेत्।
सौवर्णे राजते ताम्रे धारयेन्मृण्मये घटे ॥8॥
पौष्करेऽथ पलाशे वा पात्रे गोशृंग एव वा।
आददीत हि गोमूत्रं गन्धद्वारेति गोमयम् ॥9॥

बाद में गाय को प्रयत्नपूर्वक उठाकर गायत्रीमन्त्र बोलते हुए मूत्र का ग्रहण करना चाहिए। वह

मूत्र सोने के, चाँदी के, ताँबे के, अथवा मिट्टी के घड़े में या कमलपत्र में या पलाशपत्र में अथवा गाय के सींग से बनाए गए पात्र में रखना चाहिए और 'गन्धद्वाराम्' इस मन्त्र को बोलते हुए गोमय का ग्रहण करना चाहिए।

आभूमिपातं गृह्णीयात् पात्रे पूर्वोदिते गृही।
गोमयं शोधयेद्विद्वान् श्रीर्मे भवतु मन्त्रतः ॥10॥

बाद में, वह गृहस्थ भूमि पर पड़े हुए उस गोबर को पहले बताए गए पात्र में लेकर तत्पश्चात् 'श्रीर्मे भवतु....' इत्यादि मन्त्र से गोमय का शोधन करे।

अलक्ष्मीर्म इति मन्त्रेण गोमयं धान्यवर्जितम्।
सं त्वा सिञ्चामि मन्त्रेण गोमूत्रं गोमये क्षिपेत् ॥11॥

बाद में, 'श्रीर्मे भवतु अलक्ष्मीर्मे नश्यतु' इस मन्त्र से धान्यरहित उस गोमय का संशोधन करके, 'सं त्वा सिञ्चामि...' यह मन्त्र पढ़ते हुए गोमय में गोमूत्र डालना चाहिए।

पञ्चानां त्विति मन्त्रेण पिण्डानां च चतुर्दश।
कुर्यात्संशोध्य किरणैः सौरिकैराहरेत्ततः ॥12॥

इसके बाद, 'पञ्चानां त्वा वातानां यन्त्राय धर्त्राय गृह्णामि'—इस मन्त्र से उस गोमय के चौदह पिण्ड बनाकर उन्हें सूर्य की किरणों से शुष्क कर फिर इकट्ठा करके एक जगह पर लाना चाहिए।

निदध्यादथ पूर्वोक्तपात्रे गोमयपिण्डकान्।
स्वगृह्योक्तविधानेन प्रतिष्ठाप्याग्निमीजयेत् ॥13॥

फिर एकत्र किए गए उन गोमय के पिण्डों को पहले बताए गए पात्र में रखना चाहिए। इसके बाद अपने-अपने गृह्यसूत्रों में बताए गए विधि-विधान के अनुसार अग्नि का प्रतिष्ठापन करना चाहिए।

पिण्डांश्च निक्षिपेत्तत्र आद्यन्तं प्रणवेन तु।
षडक्षरस्य सूक्त(त्र)स्य व्याकृतस्य तथाक्षरैः ॥14॥
स्वाहान्ते जुहुयात्तत्र वर्णदेवाय पिण्डकान्।
आधारावाज्यभागौ च प्रक्षिपेद् व्याहृतीः सुधीः ॥15॥

तत्पश्चात्, आदि और अन्त में प्रणव (ॐकार) का उच्चारण करते हुए, षडक्षर मन्त्र के अक्षरों का पृथक्करणपूर्वक स्पष्ट उच्चारण करते हुए और मन्त्र के अन्त में 'स्वाहा' बोलते हुए उस-उस वर्ण के देव को पिण्डों की आहुतियाँ देनी चाहिए। और अच्छी बुद्धि वाले अनुष्ठानकर्त्ता को इसके बाद मूक रहकर व्याहृतियों के साथ, 'अग्नये स्वाहा' 'सोमाय स्वाहा' इस प्रकार की आहुतियाँ देनी चाहिए। (इस षडक्षर सूक्त (सूत्र) के हर एक वर्ण के अधिष्ठाता देव पञ्चब्रह्म और परब्रह्म मिलकर छः होते हैं)।

ततो निधनपतये त्रयोविंशज्जुहोति च।
होतव्याः पञ्च ब्रह्माणि नमो हिरण्यबाहवे ॥16॥

इसके बाद, 'निधनपतये नमः'—आदि तेईस मन्त्रों से तेईस आहुतियाँ देनी चाहिए और इसके बाद, 'नमो हिरण्यबाहवे' इस पंच ब्रह्ममन्त्र से पाँच आहुतियाँ देनी चाहिए।

इति सर्वाहुतीर्हुत्वा चतुर्थ्यन्तैश्च मन्त्रकैः।
ऋतं सत्यं कद्रुद्राय यस्य वैकंकतीति च ॥17॥

इस प्रकार चतुर्थी विभक्ति के अन्तवाले मन्त्रों के द्वारा सभी आहुतियाँ देनी चाहिए। इसके बाद, 'ऋतं सत्यं परं ब्रह्म' इस मन्त्र से और 'कद्रुद्राय प्रचेतसे मीढुष्टमाय तव्यसे'—इन दो मन्त्रों से तथा 'कैकंकती' आदि मन्त्रों से भी आहुतियाँ देनी चाहिए।

एतैश्च जुहुयाद् विद्वाननाज्ञातत्रयं तथा।
व्याहृतीरथ हुत्वा च ततः स्विष्टकृतं हुनेत् ॥18॥

इसके बाद उस विद्वान् को तीन बार व्याहृति सहित 'अनाज्ञात' मन्त्रों की आहुतियाँ देनी चाहिए। और फिर स्विष्टकृत् तथा पूर्णाहुति का विधिपूर्वक होम करना चाहिए।

इध्मशेषं नु निर्वर्त्य पूर्णपात्रोदकं तथा।
पूर्णमसीति यजुषा जलेनान्येन बृंहयेत् ॥19॥

तदनन्तर शेष बची हुई समिधा को पूरा करके, 'पूर्णमसि' इस यजुर्वेद के मंत्र से पात्र को जल से भरकर अन्य जल से मार्जन करना चाहिए। अन्य जल से उसे मिश्रित करके उच्चारणपूर्वक मार्जन करे।

ब्राह्मणेष्वमृतमिति तज्जलं शिरसि क्षिपेत्।
प्राच्यामिति दिशं लङ्गैर्दिक्षु तोयं विनिक्षिपेत् ॥20॥

इसके पश्चात् 'ब्राह्मणेष्वमृतम्०' इत्यादि मन्त्र बोलते हुए उस जल को मस्तक पर डालना चाहिए। और 'प्राच्यां दिशि देवाः०' इत्यादि मन्त्र से उसे चारों दिशाओं में छिड़क देना चाहिए।

ब्रह्मणे दक्षिणां दत्त्वा शान्त्यै पुलकमाहरेत्।
आहरिष्यामि देवानां सर्वेषां कर्मगुप्तये ॥21॥

तदनन्तर ब्राह्मण को दक्षिणा देकर, इस कर्म की रक्षा के लिए सब देवों के लिए शान्ति प्राप्त करने के लिए पुलक (एक प्रकार का पेय) तथा घास आदि लाना चाहिए।

जातवेदसमेतं त्वां पुलकैश्छादयाम्यहम्।
मन्त्रेणानेन तं वह्निं पुलकैश्छादयेत्ततः ॥22॥

बाद में 'जातवेदसं त्वां पुलकैश्छादयामि'—इस मन्त्र के द्वारा उस अग्नि को पुलकों से (घास आदि पदार्थों से) आच्छादित कर देना चाहिए।

त्रिदिनं ज्वलनस्थित्यै छादनं पुलकैः स्मृतम्।
ब्राह्मणान्भोजयेद्भक्त्या स्वयं भुञ्जीत वाग्यतः ॥23॥

अग्नि को घास से आच्छादित करने को इसलिए कहा गया है कि उसके भीतर की आग तीन दिनों तक जलती ही रहनी चाहिए। बाद में ब्राह्मणों को श्रद्धापूर्वक भोजन करवाना चाहिए और उसके बाद ही स्वयं भोजन करना चाहिए।

भस्माधिक्यमभीप्सुस्तु अधिकं गोमयं हरेत्।
दिनत्रयेण यदि वा एकस्मिन्दिवसेऽथवा ॥24॥
तृतीये वा चतुर्थे वा प्रातः स्नात्वा सिताम्बरः।
शुक्लयज्ञोपवीती च शुक्लमाल्यानुलेपनः ॥25॥

शुक्लदन्तो भस्मदिग्धो मन्त्रेणानेन मन्त्रवित् ।
ॐ तद् ब्रह्मेति चोच्चार्य, पौलकं भस्म सन्त्यजेत् ॥26॥

ज्यादा भस्म की इच्छा करने वाले को ज्यादा गोमय लाना चाहिए। वह तीन दिनों में या एक दिन में लाया जाना चाहिए। अनुष्ठान पूरा होने के बाद, तीसरे या चौथे दिन नित्यानुष्ठान सम्पन्न होने के बाद, प्रातःकाल में स्नान करके, सफेद वस्त्र धारण कर, सफेद यज्ञोपवीत पहनकर, सफेद माला धारण कर, सफेद चन्दन का शरीर पर लेप करके, भस्म लगाकर, मन्त्र को जानने वाले को 'ॐ ब्रह्म' इस मन्त्र को बोलकर भस्म इकट्ठा कर लेनी चाहिए। परन्तु उसमें जो आच्छादन किए हुए घास की भस्म हो, उसे छोड़ देना चाहिए।

तत्र चावाहनमुखानुपचारांश्च षोडश ।
कर्तव्या व्याहृतास्त्वेवं ततोऽग्निमुपसंहरेत् ॥27॥

वहाँ फिर शिवावाहन करके उनकी षोडशोपचार पूजा करने का विधान है। पूजा होने के बाद अग्नि का शमन करना चाहिए। यह श्रौतभस्म की आविर्भाव विधि है।

अग्निर्भस्मेति मन्त्रेण गृह्णीयाद्भस्म चोत्तरम् ।
अग्निरित्यादिमन्त्रेण प्रयुज्य च ततः परम् ॥28॥

'अग्नेर्भस्मास्यग्नेः पुरीषमसि'—इस मन्त्र के द्वारा उन चौदह भस्मपिण्डों को ग्रहण करके इसके बाद, 'अग्निरिति भस्म०' इत्यादि मन्त्र द्वारा अच्छी तरह समेट कर—

संयोज्य गन्धसलिलैः कपिलामूत्रकेण वा ।
चन्द्रकुङ्कुमकाश्मीरमुशीरं चन्दनं तथा ॥29॥
अगुरुत्रितयं चैव चूर्णयित्वा तु सूक्ष्मतः ।
क्षिपेद्भस्मनि तच्चूर्णमोमिति ब्रह्ममन्त्रतः ॥30॥
प्रणवेनाहरेद्विद्वान् ब्रह्मतो वटकानथ ।
अणोरणीयानिति हि मन्त्रेण विचक्षणः ॥31॥

उसमें सुगन्धित जल या कपिला गाय का मूत्र डालकर और चन्द्रकुंकुम, केसर, कुसुम चन्दन, तीन प्रकार का अगुरु—इत्यादि पदार्थों का बारीक चूर्ण बनाकर, वह चूर्ण उस भस्म में मिलाना चाहिए। और बाद में 'ओमिति ब्रह्म' और 'अणोरणीयान्' इन दो मन्त्रों के द्वारा गोले बनाकर यथासंभव पात्रों में रखकर उस विद्वान् को सर्वदा उसकी पूजा करनी चाहिए।

इत्थं भस्म सुसम्पाद्य शुष्कमादाय मन्त्रवित् ।
प्रणवेन विमृज्याथ सप्तप्रणवमन्त्रितम् ॥32॥
ईशानेति शिरोदेशं मुखं तत्पुरुषेण तु ।
ऊरुदेशमघोरेण गुह्यं वामेन मन्त्रयेत् ॥33॥
सद्योजातेन वै पादान् सर्वाङ्गं प्रणवेन तु ।
तत उद्धूल्य सर्वाङ्गमापादतलमस्तकम् ॥34॥
आचम्य वसनं धौतं ततश्चैतत्प्रधारयेत् ।
पुनराचम्य कर्म स्वं कर्तुमर्हसि सत्तमः ॥35॥

इस तरह भस्म को प्राप्त करके उसे सुखाकर, वह मन्त्रज्ञ पुरुष उसे बाएँ हाथ में रखकर दाहिने हाथ से पेषण करके (मलते हुए) प्रणवमन्त्र बोलते जाना चाहिए। इस प्रकार सात बार मन्त्र सहित उसे मलना चाहिए। इस तरह सात बार अभिमन्त्रित उस भस्म को 'ईशानः सर्वविद्यानाम्' इत्यादि पाँच ब्रह्ममन्त्रों के द्वारा मस्तक, मुख, ऊरु, गुह्यांग और पैरों पर तथा शेष अंगों पर लगाकर, आचमन करके सर्वदा नित्यकर्म करना चाहिए। वे पाँच मन्त्र—ईशान, तत्पुरुष, अघोर, वाम और सद्योजात हैं। 'ईशानः सर्वविद्यानां' इस मन्त्र से मस्तक पर, 'तत्पुरुष' मन्त्र से मुख पर, 'अघोर' मन्त्र से ऊरुदेश पर, 'वाम' मन्त्र से गुह्यांग पर अभिमन्त्रित करना चाहिए। 'सद्योजात' मन्त्र से चरणों पर और ओंकार से सर्वांग में (चरणों से लेकर मस्तकपर्यन्त) लगाना चाहिए। बाद में आचमन करके श्वेत वस्त्र पहनकर पुनः आचमन करके बाद में नित्य अनुष्ठेय कर्म करना चाहिए।

अथ चतुर्विधं भस्मकल्पम्। प्रथममनुकल्पम्। द्वितीयमुपकल्पम्। उपोपकल्पं तृतीयम्। अकल्पं चतुर्थम् ॥36॥

अग्निहोत्रसमुद्भूतं विरजानलजमनुकल्पम्। वने शुष्कं शकृत् संगृह्य कल्पोक्तविधिना कल्पितमुपकल्पं स्यात्। अरण्ये शुष्कगोमयं चूर्णीकृत्यानुसंगृह्य गोमूत्रैः पिण्डीकृत्य कल्पोक्तविधिना कल्पितमुपोपकल्पम्। शिवालयस्थमकल्पं शतकल्पं च ॥37॥

इत्थं चतुर्विधं भस्म सर्वपापं निकृन्तयेन्मोक्षं ददातीति भगवान् कालाग्निरुद्रः ॥38॥

इति तृतीयं ब्राह्मणम्।

यह भस्म चार प्रकार से कल्पित किया जाता है (भस्म के चार कल्पन हैं); वे इस प्रकार हैं—पहला प्रकार अनुकल्प कहलाता है, दूसरा उपकल्प कहा जाता है, तीसरा उपोपकल्पन है और चौथा अकल्प है। इनमें जो विरजा होम की अग्नि के अग्निहोत्र से उत्पन्न किया जाता है वह 'अनुकल्प' है। और वन में गोबर का संग्रह करके उससे कल्पग्रन्थों में बताई गई विधि के अनुसार जो भस्म तैयार की जाती है उसे 'उपकल्प' कहते हैं। वन में सूखकर पड़े हुए गोबर को इकट्ठा कर उसका चूर्ण बनाकर गोमूत्र से उसके पिण्ड बनाकर बाद में कल्पग्रन्थों में बताई गई विधि के अनुसार जो भस्म तैयार की जाती है, उसे 'उपोपकल्पन' कहा जाता है। शिवालय में रखी गई भस्म को 'अकल्प' या शतकल्प कहते हैं। इस प्रकार चार प्रकार की भस्म होती हैं, जो सर्वपापों को दूर करती है और मोक्ष प्रदान करती है, ऐसा भगवान् कालाग्निरुद्र ने कहा है।

यहाँ तीसरा ब्राह्मण समाप्त हुआ।

❋

चतुर्थ ब्राह्मणम्

अथ भुसुण्डः कालाग्निरुद्रं भस्मस्नानविधिं ब्रूहीति होवाच ॥1॥

अब भुसुण्ड ने कालाग्निरुद्र से कहा—अब भस्मस्नान की विधि बताइए।

अथ प्रणवेन विमृज्याथ सप्तप्रणवेनाभिमन्त्रितमागमेन तु तेनैव दिग्बन्धनं कारयेत्। पुनरपि तेनास्त्रमन्त्रेणाङ्गानि मूर्धादीन्युद्धूलयेन्मलस्नानमिदम् ॥2॥

प्रातः स्नान के बाद प्रणवमन्त्र से मले हुए सात प्रणवमन्त्रों के द्वारा अभिमन्त्रित भस्म को आगम में बताए गए पंचाक्षर मन्त्र से भी अभिमन्त्रित कर लेना चाहिए। और उसी भस्म से दिग्बन्धन करना चाहिए। और फिर से उसी पंचाक्षरास्त्र मन्त्र के द्वारा सिर से लेकर सभी अंगों पर लगाना चाहिए। इस प्रकार किए गए भस्मस्नान को 'मलस्नान' कहा जाता है।

ईशाद्यैः पञ्चभिर्मन्त्रैः तनुं क्रमादुद्धूलयेत्। ईशानेति शिरोदेशं मुखं तत्पुरुषेण तु। ऊरुदेशमघोरेण गुह्यं वामेन। सद्योजातेन वै पादौ सर्वाङ्गं प्रणवेन। आपादमस्तकं सर्वाङ्गं तत उद्धूल्याचम्य वसनं धौतं श्वेतं प्रधारयेद् विधिस्नानमिदम् ॥3॥

पहले कहे गए अनुसार 'ईशानः सर्वभूतानाम्' इत्यादि पाँच मन्त्रों के द्वारा क्रमशः भस्म लगानी चाहिए। 'ईशानः सर्वभूतानाम्' इस मन्त्र के द्वारा मस्तक पर, तत्पुरुष मन्त्र के द्वारा मुख पर, अघोरमन्त्र के द्वारा ऊरुदेश पर, वाममन्त्र के द्वारा गुह्यांग पर, सद्योजातमन्त्र के द्वारा दोनों पैरों पर और ॐकार के द्वारा मस्तक से लेकर चरणों तक सारे शरीर में भस्म लगानी चाहिए। बाद में आचमन करना चाहिए और श्वेत वस्त्र धारण करना चाहिए। इस प्रकार किए गए भस्म-स्नान को विधिस्नान कहा जाता है (यह पहले कहा जा चुका है)।

तत्र श्लोका भवन्ति–
भस्ममुष्टिं समादाय संहितामन्त्रमन्त्रिताम्।
मस्तकात्पादपर्यन्तं मलस्नानं पुरोदितम् ॥4॥

वहाँ ये श्लोक हैं—संहिता के मन्त्रों द्वारा अभिमन्त्रित भस्म को मुट्ठी में भरकर लाने के पश्चात् उससे सिर से लेकर पैरों तक जो स्नान किया जाता है, उसे 'मलस्नान' कहते हैं।

तन्मन्त्रेणैव कर्त्तव्यं विधिस्नानं समाचरेत्।
ईशाने पञ्चधा भस्म विकिरेन्मूर्ध्नि यत्नतः ॥5॥

संहिता के उन्हीं मन्त्रों के द्वारा विधिस्नान भी करना चाहिए। वे मन्त्र, 'ईशानः सर्वभूतानाम्' आदि पाँच पहले बताए जा चुके हैं। ईशानादि मन्त्रों से मस्तकादि अंगों में लगाने की विधिस्नान की रीति पहले बताई गई है।

मुखे चतुर्थवक्त्रेण अघोरेणाष्टधा हृदि।
वामेन गुह्यदेशे तु त्रिदशस्थानभेदतः ॥6॥

चतुर्थवक्त्र अर्थात् तत्पुरुष मन्त्र के द्वारा मुख पर सात बार भस्म छिड़कनी चाहिए। हृदय में अघोर मन्त्रों के द्वारा आठ बार छिड़कनी चाहिए। गुह्यांग एवं नाभिदेश पर वामदेव मन्त्र के द्वारा नौ बार छिड़कनी (लगानी) चाहिए। तथा उस-उस अंग में—हाथ आदि में प्रतिष्ठित प्रतिनिधि देवताओं के स्थान-भेद के अनुसार भस्म लगानी चाहिए।

अष्टावङ्गेन साध्येन पादावुद्धूल्य यत्नतः।
ससर्वाङ्गोद्धूलनं कार्यं राजन्यस्य यथाविधि।
मुखं विना च तत्सर्वमुद्धूल्य क्रमयोगतः ॥7॥

छाती आदि आठ अंग हैं, उन अंगों से हृदय आदि साध्य से अर्थात् अपने इच्छित साध्य के नाम

के अक्षरों से दोनों पैरों में भस्म अच्छी तरह से लगाकर, बाद में अन्य सभी अंगों पर विधिपूर्वक भस्म लगानी चाहिए। यह विधि ब्राह्मण के लिए है। क्षत्रिय के लिए यह विधि है कि तत्पुरुष स्थानीय मुख को छोड़ देना चाहिए। बाकी की विधि तो पूर्ववत् ही (ब्राह्मण की विधि की तरह क्रमशः) है।

सन्ध्याद्वये निशीथे च तथा पूर्वावसानयोः।
सुप्त्वा भुक्त्वा पयः पीत्वा कृत्वा चावश्यकादिकम् ॥8॥
स्त्रियं नपुंसकं गृध्रं बिडालं बकमूषिकम्।
स्पृष्ट्वा तथाविधानन्यान्भस्मस्नानं समाचरेत् ॥9॥

अब यह भस्मस्नान कब करना चाहिए ? इस पर कहते हैं—दोनों सन्ध्याओं के समय—प्रातः और मध्याह्न, सन्ध्या के पहले और बाद में, सोकर उठने के बाद, शौचादि क्रिया के बाद, दूध पीने के बाद, नित्यकर्मानुष्ठान करने के बाद, किसी स्त्री, नपुंसक, गीध, बिडाल, बगुले और चूहे को स्पर्श करने के बाद और अन्य ऐसे प्राणियों के स्पर्श करने के बाद भस्मस्नान कर लेना चाहिए।

देवाग्निगुरुवृद्धानां समीपेऽन्त्यजदर्शने।
अशुद्धभूतले मार्गे कुर्यान्नोद्धूलनं व्रती ॥10॥

व्रतधारी मनुष्य को चाहिए कि वह देव, अग्नि, गुरुओं और वृद्धों के सामने, अथवा कोई अन्त्यज देखता हो तब एवं अपवित्र स्थान में और रास्ते के बीच कभी भस्मस्नान न करे।

शङ्खतोयेन मूलेन भस्मना मिश्रणं भवेत्।
योजितं चन्दनेनैव वारिणा भस्म संयुतम् ॥11॥
चन्दनेन समालिम्पेज्ज्ञानदं चूर्णमेव तत्।
मध्याह्नात्प्राग्जलैर्युक्तं तोयं तदनु वर्जयेत् ॥12॥

यदि कोई ज्ञानार्थी हो तो केवल भस्म धारण के बदले उस भस्म को मूल मन्त्र से अभिमन्त्रित कर शंख के पानी से मिश्रित करके ही धारण करना चाहिए। उस शंख के पानी में चन्दन मिला करके ऐसी भस्म लगानी चाहिए। वह चन्दनमिश्रित पानीयुक्त चूर्ण ज्ञानदायक है और मध्याह्न होने से पहले ही वह लगा लेना चाहिए। लगाने के बाद जो पानी बाकी बचा हो, उसे छोड़ देना चाहिए।

अथ भुसुण्डो भगवन्तं कालाग्निरुद्रं त्रिपुण्ड्रविधिं पप्रच्छ ॥13॥

अब भुसुण्ड ने भगवान् कालाग्नि से त्रिपुण्ड्रविधि के बारे में पूछा—

तत्रैते श्लोका भवन्ति–
त्रिपुण्ड्रं कारयेत्पश्चाद् ब्रह्मविष्णुशिवात्मकम्।
मध्याङ्गुलिभिरादाय तिसृभिर्मूलमन्त्रतः ॥14॥

इस विषय में ये श्लोक हैं—इसके बाद मूल मन्त्र बोलते हुए हाथ के मध्य की तीन अँगुलियों से भस्म लेकर ब्रह्मा, विष्णु और महेश-स्वरूप त्रिपुण्ड्र करना चाहिए।

अनामामध्यमाङ्गुष्ठैरथवा स्यात्त्रिपुण्ड्रकम्।
उद्धूलयेन्मुखं विप्रः क्षत्रियस्तच्छिरोदितम् ॥15॥

अथवा अनामिका, मध्यमा और अंगुष्ठ—इन तीनों के द्वारा भी त्रिपुण्ड्र हो सकता है। ब्राह्मण प्रथम भस्म को मुख पर और क्षत्रिय उसे प्रथम मस्तक पर लगाए, ऐसा कहा गया है।

द्वात्रिंशत्स्थानके चार्धं षोडशस्थानकेऽपि वा ।
अष्टस्थाने तथा चैव पञ्चस्थानेऽपि योजयेत् ॥16॥

वह त्रिपुण्ड्र बत्तीस स्थानों पर करना चाहिए अथवा उससे आधे अर्थात् सोलह स्थानों पर करना चाहिए। अथवा इससे भी कम आठ स्थानों पर लगाना चाहिए अथवा पाँच स्थानों पर भी वह लगाया जा सकता है।

उत्तमाङ्गे ललाटे च कर्णयोर्नेत्रयोस्तथा ।
नासावक्त्रे गले चैवमंसद्वयमतः परम् ॥17॥
कूर्परे मणिबन्धे च हृदये पार्श्वयोर्द्वयोः ।
नाभौ गुह्यद्वये चैवमूर्वोः स्फिग्बिम्बजानुनी ॥18॥
जङ्घाद्वये च पादौ च द्वात्रिंशत्स्थानमुत्तमम् ।

मस्तक, ललाट, दो कान, दो नेत्र, दो नासिकाएँ, मुख, गला, दो कन्धे, दो कुहुनियाँ, दो मणिबन्ध, हृदय, दो पार्श्व, नाभि, गुदा, उपस्थ, दो ऊरु, दो नितम्ब, दो जानु, दो जांघें और दो पैर—ये बत्तीस अच्छे स्थान हैं।

अष्टमूर्त्यष्टविद्येशान् दिक्पालान्वसुभिः सह ॥19॥
धरो ध्रुवश्च सोमश्च कृपश्चैवानिलोऽनलः ।
प्रत्यूषश्च प्रकाशश्च वसवोऽष्टावितीरिताः ॥20॥

शिखण्डी-श्रीकण्ठ आदि आठ मूर्तियाँ, सत्या-ईशा आदि आठ विद्याएँ, शिव-उत्तमादि शैवागमों में प्रसिद्ध उनके ईश, धरादि आठ वसु, और इन्द्रादि दिक्पाल हैं—ये उनकी अधिष्ठाता देवताएँ हैं। इनमें आठ वसु ये हैं—धर, ध्रुव, सोम, कृप, अनिल, अनल, प्रत्यूष और प्रकाश।

एतेषां नाममात्रेण त्रिपुण्ड्रं धारयेद्बुधः ।
विदध्यात्षोडशस्थाने त्रिपुण्ड्रं तु समाहितः ॥21॥

इन बत्तीस स्थानों में तत्तत् स्थानीय देवताओं का नाम ले-लेकर उन-उन स्थलों पर ज्ञानी मनुष्य को त्रिपुण्ड्र करना चाहिए। और अब सोलह स्थानों को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि स्वस्थ मनवाला पुरुष जब सोलह स्थानों में त्रिपुण्ड्र करता है वह 'समाहित' कहा जाता है।

शीर्षके च ललाटे च कण्ठे चांसद्वये तथा ।
कूर्परे मणिबन्धे च हृदये नाभिपार्श्वयोः ॥22॥
पृष्ठे चैकं प्रतिष्ठानं जपेत्तत्राधिदेवताः ।
शिवशक्तिं च सादाख्यमीशं विद्याऽऽख्यमेव च ॥23॥
वामादिनवशक्तीश्च एते षोडश देवताः ।
नासत्यो दस्रकश्चैव अश्विनौ द्वौ समीरितौ ॥24॥

अब उन सोलह स्थानों को स्पष्ट किया जा रहा है—मस्तक, ललाट, कण्ठ, दो कन्धे, दो कुहनियाँ, मणिबन्ध, हृदय, नाभि, दो पार्श्व, पृष्ठभाग और पैर—इन सोलह स्थानों में तत्तत्स्थानीय अधिदेवताओं का स्मरण करते हुए त्रिपुण्ड्र करना चाहिए। वे देव हैं—शिव-शक्ति, सादाख्य ईश और विद्या नामक देवता, वाम आदि नव शक्तियाँ, नासत्य, दस्रव और दो अश्विन्—ऐसे कहे गए हैं।

अथवा मूर्ध्न्यलीके च कर्णयोः श्वसने तथा ।
बाहुद्वये च हृदये नाभ्यामूर्वोर्युगे तथा ॥25॥
जानुद्वये च पदयोः पृष्ठभागे च षोडश ।
शिवश्चेन्द्रश्च रुद्रार्कौ विघ्नेशो विष्णुरेव च ॥26॥
श्रीश्चैव हृदयेशश्च तथा नाभौ प्रजापतिः ।
नागश्च नागकन्याश्च उभे च ऋषिकन्यके ॥27॥
पादयोश्च समुद्राश्च तीर्थाः पृष्ठेऽपि च स्थिताः ॥
एवं वा षोडश स्थानम्—

अब उन सोलह स्थानों में एक दूसरा पक्ष भी है । वह पक्ष इस प्रकार है—मस्तक, ललाट, दो कान, नाक, दो हाथ, हृदय, नाभि, दो जाँघें, दो जानुदेश, दो पैर और पृष्ठभाग—ये सोलह स्थान भी माने जाते हैं । और उन स्थानों के देवताओं में शिव, इन्द्र, रुद्र, अर्क, विघ्नेश और विष्णु क्रमशः पूर्वोक्त मस्तक आदि अंशों के देव माने गए हैं । और छठे हृदय की देवता श्री हैं । नाभि के देव प्रजापति हैं । नाग और नाग-कन्याएँ तथा दोनों ऋषि-कन्याएँ पैरों के देव हैं और समुद्र एवं तीर्थ पृष्ठ भाग के देव हैं । इस प्रकार पक्षान्तर के बताए गए सोलह स्थानों में भी तत्तत्स्थानीय बताए गए देवताओं का स्मरण करते हुए त्रिपुण्ड्र करते जाना चाहिए । इस प्रकार यहाँ दोनों अभिप्रायों के अनुसार सोलह स्थानों की और उनके देवताओं की बात पूरी होती है ।

—अष्टस्थानमथोच्यते ॥28॥
गुरुस्थानं ललाटं च कर्णद्वयमनन्तरम् ।
अंसयुग्मं च हृदयं नाभिरित्यष्टमं भवेत् ॥29॥

(पहले बत्तीस, बाद में सोलह स्थानों और उन स्थानों के देवों का वर्णन करके अब) पूर्वोक्त प्रकार से आठ स्थानों और उनके देवों की बात कही जाती है । वे अष्ट स्थान ये हैं—गुरुस्थान अर्थात् मस्तक, ललाट, दो कान, दो कन्धे, हृदय और आठवाँ स्थान नाभि है ।

ब्रह्मा च ऋषयः सप्त देवताश्च प्रकीर्तिताः ।
अथवा मस्तकं बाहू हृदयं नाभिरेव च ॥30॥
पञ्च स्थानान्यमून्याहुर्भस्मतत्त्वविदो जनाः ।
यथासम्भवतः कुर्याद्देशकालाद्यपेक्षया ॥31॥

इन पूर्वश्लोक में कहे गए आठों स्थानों में बताए गए देव हैं—सप्त ऋषि और ब्रह्माजी । अब आठ के बदले जो पहले पाँच स्थानों का निर्देश किया गया है वे पाँच स्थान मस्तक, दो हाथ, हृदय और नाभि माने गए हैं । भस्म के तत्त्ववेत्ता कहते हैं कि देश और काल के अनुसार बत्तीस, सोलह, आठ या पाँच स्थानों पर उस-उस स्थान के देवता का स्मरण करते हुए त्रिपुण्ड्र करना चाहिए ।

उद्धूलनेऽप्यशक्तश्चेत् त्रिपुण्ड्रादीनि कारयेत् ।
ललाटे हृदये नाभौ गले च मणिबन्धयोः ।
बाहुमध्ये बाहुमूले पृष्ठके चैव शीर्षके ॥32॥

यदि मनुष्य अपने शरीर पर भस्म का लेपन करने में अशक्त हो, तो उसे ललाट, हृदय, नाभि, ग्रीवा, मणिबन्ध, बाहुओं के बीच, बाहुओं के मूल में, पीछे के भाग में और मस्तक पर त्रिपुण्ड्र करवाना चाहिए ।

ललाटे ब्रह्मणे नमः। हृदये हव्यवाहनाय नमः। नाभौ स्कन्दाय नमः। गले विष्णवे नमः। मध्ये प्रभञ्जनाय नमः। मणिबन्धे वसुभ्यो नमः। पृष्ठे हरये नमः। ककुदि शम्भवे नमः। शिरसि परमात्मने नमः। इत्यादिस्थानेषु त्रिपुण्ड्रं धारयेत् ॥33॥

यहाँ 'ब्रह्मणे नमः' यह कहकर ललाट पर, 'हव्यवाहाय नमः' यह कहकर हृदय पर, 'स्कन्दाय नमः' यह कहकर नाभि पर, 'विष्णवे नमः' यह कहकर गले पर, 'प्रभञ्जनाय नमः' यह कहकर मध्यछाती पर, 'वसुभ्यो नमः' यह कहकर मणिबन्धों पर, 'हरये नमः' यह कहकर पीठ पर, 'शम्भवे नमः' यह कहकर कन्धों पर, 'परमात्मने नमः' यह कहकर मस्तक पर—इस प्रकार विभिन्न स्थानों पर त्रिपुण्ड्र करना चाहिए।

त्रिणेत्रं त्रिगुणाकारं त्रयाणां जनकं प्रभुम्।
स्मरन्नमः शिवायेति ललाटे तत्त्रिपुण्ड्रकम् ॥34॥

अब दूसरे प्रकार से त्रिपुण्ड्र-विधि कही जा रही है—ललाट में त्रिपुण्ड्र करते समय—'त्रिणेत्रं त्रिगुणाकारं' इत्यादि (मूल में दिया गया) मन्त्र बोलना चाहिए और बाद में 'नमः शिवाय' बोलकर त्रिपुण्ड्र लगाना चाहिए। 'तीन नेत्रों वाले, तीन गुणों से अनेक आकार धारण करने वाले, तीनों लोकों के सर्जक प्रभु का मैं स्मरण करता हूँ'—यह मूल में दिए गए पाठ का अर्थ है।

कूर्पराधः पितृभ्यां तु ईशानाभ्यां तदोपरि।
ईशाभ्यां नम इत्युक्त्वा पार्श्वयोश्च त्रिपुण्ड्रकम् ॥35॥

दोनों कुहनियों के नीचे के भाग में 'पितृभ्यां नमः' यह बोलते हुए त्रिपुण्ड्र करना चाहिए। दोनों कुहनियों के ऊपर के भाग में 'ईशानाभ्यां नमः' ऐसा बोलते हुए त्रिपुण्ड्र करना चाहिए। और दोनों पार्श्वभाग में 'ईशाभ्यां नमः' ऐसा बोलते हुए त्रिपुण्ड्र लगाना चाहिए।

स्वच्छाभ्यां नम इत्युक्त्वा धारयेत्तत्प्रकोष्ठयोः।
भीमायेति तथा पृष्ठे शिवायेति च पार्श्वयोः ॥36॥

दोनों प्रकोठों (मणिबन्धों) के ऊपर 'स्वच्छाभ्यां नमः'—यह बोलकर त्रिपुण्ड्र लगाना चाहिए और 'भीमाय नमः' यह बोलते हुए पीठ कर त्रिपुण्ड्र लगाना चाहिए तथा 'शिवाय नमः' यह बोलकर दो पार्श्व भागों में त्रिपुण्ड्र लगाना चाहिए।

नीलकण्ठाय शिरसि क्षिपेत्सर्वात्मने नमः।
पापं नाशयते कृत्स्नमपि जन्मान्तरार्जितम् ॥37॥

'नीलकण्ठाय नमः' ऐसा बोलते हुए मस्तक पर त्रिपुण्ड्र धारण करना चाहिए। इस प्रकार बताए गए उन-उन स्थानों में त्रिपुण्ड्रों को लगाने से पूर्वजन्मों में किए हुए पाप पूर्णतः नष्ट हो जाते हैं।

कण्ठोपरि कृतं पापं नष्टं स्यात्तत्र धारणात्।
कर्णे तु धारणात्कर्णरोगादिकृतपातकम् ॥38॥

कण्ठ पर त्रिपुण्ड्र धारण करने से कण्ठ से किए गए पाप नष्ट होते हैं और कर्ण में त्रिपुण्ड्र धारण करने से कान के रोग आदि पातक नष्ट हो जाते हैं।

बाह्वोर्बाहुकृतं पापं वक्षःसु मनसा कृतम् ।
नाभ्यां शिश्नकृतं पापं पृष्ठे गुदकृतं तथा ॥39॥
पार्श्वयोर्धारणात्पापं परस्त्र्यालिङ्गनादिकम् ।
तद्भस्मधारणं कुर्यात् सर्वत्रैव त्रिपुण्ड्रकम् ॥40॥

हाथों से किया गया पाप, छाती से किया गया पाप, मन से किया गया पाप, इसी प्रकार नाभि से, शिश्न से, पार्श्वभागों से या पर-स्त्री के आलिंगन आदि से पाप हुए हों, तो उस-उस स्थान पर त्रिपुण्ड्र करना चाहिए अर्थात् वहाँ पर भस्म धारण करना चाहिए ।

ब्रह्मविष्णुमहेशानां त्र्यक्षीणां च धारणात् ।
गुणलोकत्रयाणां च धारणं तेन वै श्रुतम् ॥41॥

इति चतुर्थं ब्राह्मणम् ।

जिस मनुष्य ने ऐसे त्रिपुण्ड्र लगाए हैं, उसने ब्रह्मा, विष्णु और महेश का, तीन आँखों का, तीन गुणों का, तीन लोकों का ध्यान कर लिया है, ऐसा शास्त्र कहते हैं ।

यहाँ पर चौथा ब्राह्मण पूरा हुआ ।

❈

पञ्चमं ब्राह्मणम्

मानस्तोकेति मन्त्रेण मन्त्रितं भस्म धारयेत् ।
ऊर्ध्वपुण्ड्रं भवेत्साम मध्यपुण्ड्रं त्रियायुषम् ॥1॥
त्रियायुषाणि कुरुते ललाटे च भुजद्वये ।
नाभौ शिरसि हृत्पार्श्वे ब्राह्मणाः क्षत्रियास्तथा ॥2॥

'मा न स्तोके तनये'—इस मन्त्र से अभिमन्त्रित भस्म से त्रिपुण्ड्र लगाना चाहिए । त्रिपुण्ड्र में जो ऊर्ध्वपुण्ड्र (ऊपर की रेखा) किया जाता है वह साम से सम्बद्ध होता है और जो मध्यपुण्ड्र है वह तिर्यक् पुण्ड्र याजुष (यजुर्वेद से सम्बद्ध) होता है । वह 'त्रियाजुष' (अर्थात् संहिता, पद और क्रम—इन तीनों से विशिष्ट) को यजुर्वेद से सम्बद्ध जानना चाहिए । (यहाँ त्रिपुण्ड्र की ऊर्ध्व रेखा—पहली ऊपर की रेखा और मध्य (बीच) की रेखा में क्रमशः साम और यजुष की दृष्टि करने को कहा गया है । शेष तीसरी रेखा (तृतीय पुण्ड्र) में ऋग्वेद की दृष्टि करनी चाहिए यह अध्याहार्य है, ऐसा समझना चाहिए) । इस प्रकार का त्रिपुण्ड्र ब्राह्मण और क्षत्रिय ललाट पर, दोनों हाथों पर, नाभि पर, मस्तक पर, हृदय पर और दोनों पार्श्वों पर करते हैं ।

त्रैवर्णिकानां सर्वेषामग्निहोत्रसमुद्भवम् ।
इदं मुख्यं गृहस्थानां विरजानलजं भवेत् ॥3॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों को (गृहस्थों को) श्रौत्र अग्निहोत्र से उत्पन्न विरजाहोम की अग्नि से उत्पन्न भस्म त्रिपुण्ड्र के लिए मुख्य माना गया है ।

विरजानलजं चैव धार्यं प्रोक्तं महर्षिभिः ।
औपासनसमुत्पन्नं गृहस्थानां विशेषतः ॥4॥

त्रिवर्णीय गृहस्थों को विरजानल से उत्पन्न भस्म धारण करना चाहिए ऐसा महर्षियों ने कहा है। उसमें भी यदि औपासन अग्नि से अर्थात् स्वयं की की गई उपासना वाले अग्नि से भस्म उत्पन्न हुई हो तो वह और अधिक अच्छी बात है।

समिदग्निसमुत्पन्नं धार्यं वै ब्रह्मचारिणा।
शूद्राणां श्रोत्रियागारपचनाग्निसमुद्भवम् ॥5॥

ब्रह्मचारियों को समिध् की अग्नि से उत्पन्न भस्म धारण करनी चाहिए और शूद्रों को श्रोत्रिय ब्राह्मण की रसोईघर की अग्नि से उत्पन्न भस्म धारण करनी चाहिए।

अन्येषामपि सर्वेषां धार्यं चैवानलोद्भवम्।
यतीनां ज्ञानदं प्रोक्तं वनस्थानां विरक्तिदम्।
अतिवर्णाश्रमाणां तु श्मशानाग्निसमुद्भवम् ॥6॥

विधिपूर्वक सिद्ध की गई भस्म यदि उपलब्ध न हो, तो सभी लोगों को अग्नि से उत्पन्न भस्म लगानी चाहिए। इसके लिए सूखे गोबर को अग्नि में जलाकर बनाई भस्म का उपयोग करना चाहिए। वह भस्म यतियों को ज्ञान देने वाली और वन में रहने वालों को वैराग्य उत्पन्न करने वाली होती है। जो अतिवर्णाश्रमी (अवधूत) हैं, उनके लिए तो श्मशान की अग्नि की भस्म ही अच्छी है, इनके लिए उसी का विधान किया गया है।

सर्वेषां देवालयस्थं भस्म शिवाग्निजं शिवयोगिनाम्।
शिवालयस्थं वल्लिङ्गलिप्तं वा मन्त्रसंस्कारदग्धं वा ॥7॥

सभी शिवयोगियों के लिए तो शिवालय में स्थित, शिवाग्नि से उत्पन्न, शिवलिंग में जिसका लेप किया गया हो ऐसी अथवा मन्त्र संस्कारों के द्वारा बनाई गई भस्म ही विहित है।

अत्रैते श्लोका भवन्ति–
तेनाधीतं श्रुतं तेन तेन सर्वमनुष्ठितम्।
येन विप्रेण शिरसि त्रिपुण्ड्रं भस्मना कृतम् ॥8॥

इस सम्बन्ध में यहाँ श्लोक है—जिस विप्र के द्वारा भस्म से मस्तक पर त्रिपुण्ड्र किया जाता है उसने सब वेदों का अध्ययन कर लिया है, सभी शास्त्र उसने सुन लिए हैं और उसने सभी कर्मों का अनुष्ठान कर लिया है, ऐसा समझना चाहिए।

त्यक्तवर्णाश्रमाचारो लुप्तसर्वक्रियोऽपि सः।
सकृत्तिर्यक् त्रिपुण्ड्राङ्कधारणात्सोऽपि पूज्यते ॥9॥

जिस मनुष्य ने सभी वर्णाश्रम धर्मों को छोड़ दिया हो और जिसकी सभी धार्मिक क्रियाएँ नष्ट हो गई हों, ऐसा मनुष्य भी यदि एक बार त्रिपुण्ड्र का तिर्यक् (बंकिम) चिह्न धारण कर ले, तो वह भी पूजनीय होता है।

ये भस्मधारणं त्यक्त्वा कर्म कुर्वन्ति मानवाः।
तेषां नास्ति विनिर्मोक्षः संसाराज्जन्मकोटिभिः ॥10॥

जो मनुष्य भस्मधारण को त्याग कर अन्य क्रियाएँ—धार्मिक विधियाँ आदि करते हैं उनका करोड़ों जन्मों के बाद भी मोक्ष नहीं होता।

महापातकयुक्तानां पूर्वजन्मार्जितागसाम्।
त्रिपुण्ड्रोद्धूलने द्वेषो जायते सुदृढं बुधाः ॥11॥

हे सुज्ञजनो ! जिन्होंने बड़े-बड़े पाप किये हों, जिन्होंने अपने पूर्व जन्मों के पाप इकट्ठे किए हों, ऐसे लोगों को त्रिपुण्ड्र लगाने में बड़ा द्वेष होता है।

येषां कोपो भवेद् ब्रह्मन् ! ललाटे भस्मदर्शनात्।
तेषामुत्पत्तिसाङ्कर्यमनुमेयं विपश्चिता ॥12॥

हे ब्राह्मणो ! किसी के भाल में त्रिपुण्ड्र को देखकर जिन मनुष्यों को क्रोध आ जाता है, उनके जन्म के सम्बन्ध में विद्वान् पुरुष के द्वारा वर्णसंकरता का अनुमान ही किया जाना चाहिए। (वह वर्णसंकर है, ऐसा विद्वान् लोग तर्क करते हैं)।

येषां नास्ति मुने श्रद्धा श्रौते भस्मनि सर्वदा।
गर्भाधानादिसंस्कारस्तेषां नास्तीति निश्चयः ॥13॥

हे मुनि ! जिन लोगों की श्रौत भस्म में श्रद्धा नहीं होती उनका गर्भाधानादि कोई संस्कार ही नहीं किया गया है, ऐसा निश्चयपूर्वक मान लेना चाहिए।

ये भस्मधारिणं दृष्ट्वा नराः कुर्वन्ति ताडनम्।
तेषां चाण्डालतो जन्म ब्रह्मन्नूह्यं विपश्चिता ॥14॥

हे ब्रह्मन् ! जो लोग भस्म धारण किए हुए मनुष्य को देखकर उसे मारने दौड़ते हैं, उनका अगला जन्म चण्डाल का ही होगा, ऐसा विद्वान् को अनुमान कर लेना चाहिए।

येषां क्रोधो भवेद्भस्मधारणे तत्प्रमाणके।
ते महापातकैर्युक्ता इति शास्त्रस्य निश्चयः ॥15॥

त्रिपुण्ड्र के प्रमाण की भस्म धारण करने में जिन्हें क्रोध आता है, वे लोग बड़े-बड़े पापों से युक्त होते हैं, ऐसा शास्त्रों ने निश्चय किया है।

त्रिपुण्ड्रं ये विनिन्दन्ति निन्दन्ति शिवमेव ते।
धारयन्ति च ये भक्त्या धारयन्ति शिवं च ते ॥16॥

जो लोग त्रिपुण्ड्र की निन्दा करते हैं, वे स्वयं शिव की ही निन्दा करते हैं और जो भस्म को धारण करते हैं, वे शिव को ही धारण करते हैं, ऐसा समझ लेना चाहिए।

धिग्भस्मरहितं भालं धिग्ग्राममशिवालयम्।
धिगनीशार्चनं जन्म धिग्विद्यामशिवात्मकाम् ॥17॥

भस्मरहित मस्तक प्रदेश को धिक्कार हो, शिवालयरहित गाँव को धिक्कार हो, शिवपूजा के अभाव वाले जन्म को धिक्कार हो और जिस विद्या में शिवतत्त्व न हो, ऐसी विद्या को भी धिक्कार हो।

रुद्राग्नेर्यत्परं वीर्यं तद्भस्म परिकीर्तितम्।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु वीर्यवान्भस्मसंयुतः ॥18॥

रुद्र रूप अग्नि का वीर्यरूप ही यह भस्म कही गई है। इसलिए भस्मधारक मनुष्य तीनों काल में वीर्यवान् होता है।

भस्मनिष्ठस्य दह्यन्ते दोषा भस्माग्निसङ्गमात् ।
भस्मस्नानविशुद्धात्मा भस्मनिष्ठ इति स्मृतः ॥19॥

जो भस्मनिष्ठ होता है उसके सभी दोष भस्म की अग्नि के संयोग से नष्ट हो जाते हैं, और भस्मनिष्ठ उसे कहा जाता है कि जो भस्म के स्नान से विशुद्ध आत्मावाला हुआ हो ।

भस्मसन्दिग्धसर्वाङ्गो भस्मदीप्तत्रिपुण्ड्रकः ।
भस्मशायी च पुरुषो भस्मनिष्ठ इति स्मृतः ॥20॥

इति पञ्चमं ब्राह्मणम् ।

अथवा भस्मनिष्ठ पुरुष का दूसरा लक्षण यह भी है कि जो भस्म से सर्वांगों को जलाने वाला हुआ हो अर्थात् ज्ञानाग्नि से जिसने अपने सभी अंग जला दिये हों, अथवा जिसने अपने सभी अंग भस्म से लिप्त किये हों, अथवा जो भस्म से देदीप्यमान त्रिपुण्ड्र किया हुआ हो, अथवा जो भस्म में ही सोता हो, ऐसा पुरुष भी भस्मनिष्ठ कहा जाता है ।

यहाँ पाँचवाँ ब्राह्मण पूरा होता है ।

❋

षष्ठं ब्राह्मणम्

अथ भुसुण्डः कालाग्निरुद्रं नामपञ्चकस्य माहात्म्यं ब्रूहीति होवाच ॥1॥

अब भुसुण्डु ने कालाग्निरुद्र से 'विभूति आदि नामपंचक का माहात्म्य कहिए'—ऐसा कहा ।

अथ वसिष्ठवंशजस्य शतभार्यासमेतस्य धनञ्जयस्य ब्राह्मणस्य ज्येष्ठभार्यायाः पुत्रः करुण इति नाम । तस्य शुचिस्मिता भार्या । असौ करुणो भ्रातृवैरमसहमानो भवानीतटस्थं नृसिंहमगमत् । तत्र देवसमीपेऽन्येनोपायनार्थं समर्पितं जम्बीरफलमजिघ्रत् । तदा तत्रस्था अशपन् पाप मक्षिको भव वर्षाणां शतमिति । सोऽपि शापमादाय मक्षिकः सन् स्वचेष्टितं तस्यै निवेद्य मां रक्षेति स्वभार्यामवदत् । तदा मक्षिकोऽभवत् । तमेवं ज्ञात्वा ज्ञातयस्तैलमध्ये ह्यमारयन् । सा मृतं पतिमादायारुन्धतीमगमत् । भो शुचिस्मिते शोकेनालमरुन्धत्याह्वामुं जीवयाम्यद्य विभूतिमादायेति । एषाऽग्निहोत्रजं भस्म—

एक वसिष्ठकुल में जन्मे हुए, सौ पत्नी वाले धनंजय नाम के ब्राह्मण की बड़ी पत्नी का करुण नाम का एक पुत्र था । उसकी शुचिस्मिता नाम की पत्नी थी । यह करुण अपने सौतेले भाइयों के वैर को सहन न कर सका इसलिए भवानी (नदी) के तट पर अवस्थित नृसिंह देव के पास गया । वहाँ किसी ने उस देव को जो जम्बीर फल भेंट में दिया था, उस फल को उसके सूँघ लिया । उसकी यह क्रिया वहाँ उपस्थित सभी लोगों ने देख ली । और वे बोल उठे—'हे पापी ! सौ साल तक मक्षिक बन जाओ' । वह (करुण) उनके दिए उस शाप को लेकर, मक्षिक होता हुआ, अपना किया-कराया अपनी उस पत्नी को बताकर, 'अब तुम मुझे बचाओ'—ऐसा कहने लगा । यह कहने के पश्चात् वह मक्षिक बन गया । उसके सगे-सम्बन्धियों ने उसे ऐसा जानकर तेल में डुबोकर उसे मार डाला । अब वह (शुचिस्मिता) अपने मरे हुए पति को लेकर अरुन्धती (बड़ी सास) के पास गई । तब अरुन्धती ने

कहा—'हे शुचिस्मिता ! शोक मत करो। मैं इसे अरुन्धती विभूति के द्वारा जीवन दूँगी। इस विभूति को लेकर जिलाऊँगी।' यह अरुन्धती नाम की विभूति अग्निहोत्र से उत्पन्न हुई भस्म है। वह—

मृत्युञ्जयेन मन्त्रेण मृतजन्तौ तदाऽक्षिपत्।
मन्दवायुस्तदा जज्ञे व्यजनेन शुचिस्मिते ॥2॥
उदतिष्ठत्तदा जन्तुर्भस्मनोऽस्य प्रभावतः।

हे शुचिस्मिता ! जब मन्द-मन्द वायु ने अपने व्यजन से मृत्युञ्जय मन्त्र के द्वारा एक बार मरे हुए किसी एक जन्तु पर यह भस्म डाली थी, तब इस भस्म के प्रभाव से वंह मरा हुआ जन्तु उठकर खड़ा हो गया था।

ततो वर्षशते पूर्णे ज्ञातिरेको ह्यमारयत् ॥3॥
भस्मैव जीवयामास काश्या पञ्च तथाऽभवन्।
देवानपि तथाभूतान् मामप्येतादृशं पुरा ॥4॥
तस्मात्तु भस्मना जन्तुं जीवयामि तदा(वा)नघे।

इसके पश्चात् सौ साल बीत गए। तब एक और आदमी मर गया था। उसको भी उसके ज्ञाति-बन्धुओं ने इस भस्म के द्वारा ही जिलाया था। इसके बाद प्राचीन समय में इस भस्म से ही देवों को भी जिलाया था। वे देव भी अपने अपराध से विकृत भाव को प्राप्त हुए थे। इसलिए हे निष्पाप शुचिस्मिता ! मैं इसी भस्म (विभूति) से इस जन्तु को (तुम्हारे पति को) जिलाऊँगी।

इत्येवमुक्त्वा भगवान् दधीचिः समजायत।
स्वरूपं च ततो गत्वा स्वमाश्रमपदं ययौ ॥5॥

ऐसा कहकर जब उस मृत जन्तु पर विभूति छिड़की गई तब उसमें से भगवान् दधीचि नाम के ऋषि का जन्म हुआ। और वे अपना मूल (मनुष्य) रूप प्राप्त करके वह धनंजय-पुत्र अब दधीचि अपने आश्रम पर लौट गए।

इदानीमस्य भस्मनः सर्वाघभक्षणसामर्थ्यं विधत्त इत्याह। श्रीगौतम-विवाहकाले तामहल्यां दृष्ट्वा सर्वे देवाः कामातुरा अभवन्। तदा नष्टज्ञाना दुर्वाससं पप्रच्छुः। तद्दोषं शमयिष्यामीत्युवाच। ततः शतरुद्रेण मन्त्रेण मन्त्रितं भस्म वै मयाऽपि दत्तं तेनैव ब्रह्महत्यादि शान्तम् ॥6॥

अब यह भस्म सभी पापों का भक्षण करने में समर्थ है—"यह कहते हैं कि ऋषि श्रीगौतम के विवाह के समय उनकी पत्नी अहल्या को देखकर सभी देव कामातुर हो गए। तब उनका ज्ञान नष्ट हो गया। वे मुनि दुर्वासा के पास जाकर इस कामुकता के दोष के बारे में पूछने लगे। तब दुर्वासा ने कहा—'मैं तुम्हारे इस दोष को मिटा दूँगा'। तब उन्हें शतरुद्र मन्त्र से अभिमन्त्रित भस्म मैंने दी है और उससे ब्रह्महत्यादि दोष भी शान्त हो गए हैं।"—

इत्येवमुक्त्वा दुर्वासा दत्तवान्भस्म चोत्तमम्।
जाता मद्वचनात्सर्वे यूयं तेऽधिकतेजसः ॥7॥

ऐसे वाक्य कहकर दुर्वासा ने उन देवताओं को वह उत्तम भस्म दी थी। फिर कहा—'देखो, अब मेरे कहने से तुम लोग पहले से भी ज्यादा तेजवाले (शुद्ध) हो गए हो'।

शतरुद्रेण मन्त्रेण भस्मोद्धूलितविग्रहाः ।
निर्धूतरजसः सर्वे तत्क्षणाच्च वयं मुने ।
आश्चर्यमेतज्जानीमो भस्मसामर्थ्यमीदृशम् ॥8॥

(तब देवों ने कहा—) हे मुने ! शतरुद्र मन्त्र से अभिमन्त्रित भस्म से लिप्त शरीर वाले होकर हम तो उसी क्षण से पापरहित (दोषरहित) हो गए। इस भस्म की सामर्थ्य देखकर तो हमें बड़ा ही आश्चर्य होता है।

अस्य भस्मनः शक्तिमन्यां शृणु । एतदेव हरिशङ्करयोर्ज्ञानप्रदं ब्रह्महत्या-
दिपापनाशकं महाविभूतिदमिति ॥9॥

इस भस्म की एक और शक्ति को भी सुनो। यह भस्म ही शिव और विष्णु दोनों का ज्ञान करवाती है। ब्रह्महत्या आदि पापों की नाशक है और बड़ी उन्नति या ऐश्वर्य को दिलाने वाली है।

शिववक्षसि स्थितं नखेनादाय प्रणवेनाभिमन्त्र्य गायत्र्या पञ्चाक्षरेणाभि-
मन्त्र्य हरिमस्तकगात्रेषु समर्पयेत् । तदा हृदि ध्यायस्वेति हरिमुक्त्वाऽथ
हरिः स्वहृदि ध्यात्वा दृष्टो दृष्ट इति शिवमाह ॥10॥

शिव की छाती पर स्थित भस्म को नाखून से उठाकर, उसे प्रणवमन्त्र द्वारा अभिमन्त्रित करके, गायत्रीमन्त्र द्वारा अभिमन्त्रित करके और पंचाक्षर मन्त्र से भी अभिमन्त्रित करके हरि के मस्तक और अन्य गात्रों में लगाए। तब हरि से कहे कि 'अपने हृदय में ध्यान करो।' तब हृदय में ध्यान करके हरि ने कह दिया—देख लिया है ! मैंने देख लिया है।

ततो भस्म भक्षयेति हरिमाह हरस्ततः ।
भक्षयिष्ये शिवं भस्मा स्नात्वाऽहं भस्मना पुरा ॥11॥

बाद में हर ने हरि से कहा—'अब तुम इस भस्म का भक्षण करो।' तब हरि ने कहा—'पहले मैं भस्म से स्नान करूँगा और तब इस मंगलकारी भस्म को मैं खाऊँगा।'

पृष्ट्वेश्वरं भक्तिगम्यं भस्माभक्षयदच्युतः ।
तत्राश्चर्यमतीवासीत्प्रतिबिम्बसमद्युतिः ॥12॥
वासुदेवः शुद्धमुक्ताफलवर्णोऽभवत्क्षणात् ।
तदाप्रभृति शुक्लाभो वासुदेवः प्रसन्नवान् ॥13॥

भक्ति से प्राप्य भगवान् शिव को पूछकर अच्युत विष्णु ने ज्यों ही भस्म का भक्षण किया, त्यों ही एक बड़ा आश्चर्य उत्पन्न हुआ। भगवान् विष्णु की द्युति उस (शिव) के प्रतिबिम्ब जैसी हो गई। और एक ही क्षण में वह वासुदेव शुद्धमुक्ताफल की कान्तिवाले हो गए। तब से लेकर वासुदेव शुभ्रवर्ण वाले और प्रसन्न ही रहे।

न शक्यं भस्मनो ज्ञानप्रभावं ते कुतो विभो ।
नमस्तेऽस्तु नमस्तेऽस्तु त्वामहं शरणं गतः ॥14॥
त्वत्पादयुगले शम्भो भक्तिरस्तु सदा मम ।
भस्मधारणसम्पन्नो मम भक्तो भविष्यति ॥15॥

तब भगवान् विष्णु बोले—'हे प्रभो ! आपकी भस्म के ज्ञान का प्रभाव मैं नहीं जानता, तो आपके ज्ञान के प्रभाव को भला मैं कैसे जान सकता हूँ ? मैं आपको बार-बार नमस्कार करता हूँ। मैं आपकी शरण में आया हूँ। आपके चरणयुगल में हे शम्भो ! मेरी हमेशा के लिए भक्ति रहे।' विष्णु के इन वचनों को सुनकर शिवजी बोले—'जो मेरी भस्म को धारण करेगा, वह मेरा भक्त होगा।'

अत एवैषा भूतिर्भूतिकरीत्युक्ता। अस्य पुरस्ताद्वसव आसन्। रुद्रा दक्षिणत आदित्याः पश्चाद् विश्वदेवा उत्तरतो ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा नाभ्यां सूर्यचन्द्रमसौ पार्श्वयोः ॥16॥

इसीलिए यह भूति भूतिकरी (ऐश्वर्यकारिणी) कही गई है। इसके (भस्मधारी के) आगे वसु थे, दक्षिण में रुद्र थे, पीछे आदित्य थे, उत्तर में वैश्वदेव थे, नाभि में ब्रह्म-विष्णु-महेश्वर थे और दोनों पार्श्वभाग में सूर्य और चन्द्र हैं।

तदेतदृचाऽभ्युक्तम्—
ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥17॥

वह तो इस ऋचा द्वारा भी बताया गया है कि ऋक् आदि सभी वेद भस्म के द्वारा उस सिद्ध परम व्योम में हैं कि जहाँ सभी देव (विराट् आदि सभी देव) रहते हैं। यदि मनुष्य उसको नहीं जानता, तो वह ऋचा से क्या करेगा ? जो उसको जानते हैं, वे ही लोग इसकी महिमा में समासित हो जाते हैं अर्थात् स्वयं ब्रह्मरूप ही बन जाते हैं।

यदेतद् बृहज्जाबालं सार्वकामिकं मोक्षद्वारमृङ्मयं यजुर्मयं साममयं ब्रह्ममयममृतमयं भवति। यदेतद् बृहज्जाबालं बालो वा युवा वा वेद स महान् भवति। स गुरुः सर्वेषां मन्त्राणामुपदेष्टा भवति। मृत्युतारकं गुरुणा लब्धं कण्ठे बाहौ शिखायां वा बध्नीत। सप्तद्वीपवती भूमिर्दक्षिणार्धं नावकल्पते। तस्माच्छ्रद्धया यां काञ्चिद् गां दद्यात् सा दक्षिणा भवति ॥18॥

इति षष्ठं ब्राह्मणम्।

तो यह बृहज्जाबाल सभी कामनाओं को पूर्ण करने वाला, मोक्ष के द्वार स्वरूप, ऋग्वेदमय, यजुर्मय, साममय, ब्रह्ममय और अमृतमय होता है। यह जो बृहज्जाबाल है, उसे यदि कोई बालक या कोई युवा जानता है, वह महान् बन जाता है। वह सभी मन्त्रों का उपदेशक (गुरु) बन जाता है। गुरु के द्वारा प्राप्त इस मृत्युतारक मन्त्र (रहस्य) को कण्ठ में, हाथ में, अथवा शिखा में बाँधकर रखना चाहिए। ऐसे उपदेष्टा को यदि सात द्वीपों वाली भूमि भी दक्षिणा में दी जाए, तो वह पर्याप्त नहीं है। इसलिए श्रद्धापूर्वक जो किसी गाय को दक्षिणा में दिया जाए, वही दक्षिणा होगी।

यहाँ षष्ठ ब्राह्मण पूरा हुआ।

❄

सप्तमं ब्राह्मणम्

अथ जनको वैदेहो याज्ञवल्क्यमुपसमेत्योवाच। भगवन् ! त्रिपुण्ड्रविधिं नो ब्रूहीति ॥1॥

एक बार वैदेह (विदेहराज जनक) याज्ञवल्क्य के पास जाकर बोले—'हे भगवन् ! मुझे त्रिपुण्ड्र धारण करने की विधि बताइए'।

स होवाच सद्योजातादिपञ्चमन्त्रैः परिगृह्याग्निरिति भस्मेत्यभिमन्त्र्य मानस्तोक इति समुद्धृत्य त्रियायुषमिति जलेन संमृज्य त्र्यम्बकं यजामह इति मन्त्रेण शिरोललाटवक्षःस्कन्धेषु त्रिपुण्ड्रं कृत्वा पूतो भवति। मोक्षी भवति। शतरुद्रेण यत्फलमाप्नोति तत्फलमश्नुते स एष भस्मज्योतिरिति याज्ञवल्क्यः ॥2॥

तब याज्ञवल्क्य ने कहा—'सद्योजात' आदि पाँच मन्त्रों से भस्म को ग्रहण करके, 'अग्निरिति भस्म' इस मन्त्र से उस भस्म को अभिमन्त्रित करके, 'मानस्तोके' इत्यादि मन्त्र से हाथ में उठाकर 'त्र्यायुषम्' इत्यादि मन्त्र से जल के साथ मल कर 'त्र्यम्बकं यजामहे' इस मन्त्र से मस्तक, ललाट, छाती और कन्धों पर त्रिपुण्ड्र करना चाहिए। यह त्रिपुण्ड्र करके मनुष्य पवित्र और मोक्ष प्राप्त करने वाला होता है। मनुष्य शतरुद्र से जो फल पाता है, वही फल यह भी प्राप्त कराता है। इसे 'भस्मज्योति' कहा जाता है, ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा।

जनको ह वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यं भस्मधारणात् किं फलमश्नुत इति ॥3॥

स होवाच तद्भस्मधारणादेव मुक्तिर्भवति। तद्भस्मधारणादेव शिवसायुज्यमवाप्नोति। न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तते स एव भस्मज्योतिरिति वै याज्ञवल्क्यः ॥4॥

विदेहराज जनक ने याज्ञवल्क्य से पूछा—भस्म धारण करने से कौन-सा फल प्राप्त किया जाता है ? तब याज्ञवल्क्य ने कहा कि भस्म के धारण से मुक्ति मिल जाती है। उस भस्म के धारण से शिवजी का सायुज्य मिलता है। वह मनुष्य फिर से यहाँ नहीं आता। वह फिर से जन्म नहीं लेता। यही भस्म ज्योति है, ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा।

जनको ह वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यं भस्मधारणात् किं फलमश्नुते न वेति ॥5॥

तत्र परमहंसाः नाम संवर्तकारुणिश्वेतकेतुदुर्वासऋभुनिदाघजडभरतदत्तात्रेयरैवतकभुसुण्डप्रभृतयो विभूतिधारणादेव मुक्ताः स्युः स एष भस्मज्योतिरिति वै याज्ञवल्क्यः ॥6॥

फिर भी विदेहराज जनक ने पक्का करने के लिए याज्ञवल्क्य से पूछा—'क्या भस्म-धारण से फल प्राप्त होता है या नहीं ?' तब याज्ञवल्क्य ने कहा—'जो संवर्तक, आरुणि, श्वेतकेतु, दुर्वासा, ऋभु, निदाघ, जडभरत, दत्तात्रेय, दैवतक, भुसुण्ड आदि परमहंस थे, वे इस विभूति के धारण से ही तो मुक्त हुए हैं। यह तो भस्म ज्योति है'।

जनको ह वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यं भस्मस्नानेन किं जायत इति ॥7॥

यस्य कस्यचिच्छरीरे यावन्तो रोमकूपास्तावन्ति लिङ्गानि भूत्वा तिष्ठन्ति। ब्राह्मणो वा क्षत्रियो वा वैश्यो वा शूद्रो वा तद्भस्मधारणादेतच्छब्दस्य रूपं यस्यां तस्यां ह्येवावतिष्ठते ॥8॥

विदेहराज जनक ने याज्ञवल्क्य से पूछा—'भस्मस्नान से क्या होता है ?' सब याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि जिस किसी के शरीर में जितने रोमकूप (रोमच्छिद्र) होते हैं उतने ही शिवलिंग होकर उनमें बैठते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र भी उस भस्म के धारण से जिस ज्योति में इस शब्द का अर्थ है उस ज्योति में ही रहता है। अर्थात् भस्म शब्द का अर्थ जिस ज्योति को बताता है, उसी ज्योति में भस्मस्नान करने वाला मनुष्य भी अवस्थित हो जाता है।

जनको ह वैदेहः पैप्पलादेन सह प्रजापतिलोकं जगाम। तं गत्वोवाच भो प्रजापते त्रिपुण्ड्रस्य माहात्म्यं ब्रूहीति ॥9॥
तं प्रजापतिरब्रवीद्यथैवेश्वरस्य माहात्म्यं तथैव त्रिपुण्ड्रस्येति ॥10॥
अथ पैप्पलादो वैकुण्ठं जगाम तं गत्वोवाच भो विष्णो त्रिपुण्ड्रस्य माहात्म्यं ब्रूहीति ॥11॥
यथैवेश्वरस्य माहात्म्यं तथैव त्रिपुण्ड्रस्येति विष्णुराह ॥12॥

विदेहराज जनक तब पैप्पलाद मुनि के साथ प्रजापतिलोक में गए। वहाँ जाकर उन्होंने पूछा—'हे प्रजापति ! त्रिपुण्ड्र का माहात्म्य कहिए।' तब प्रजापति ने उनसे कहा—'जो ईश्वर का माहात्म्य है, वही माहात्म्य त्रिपुण्ड्र का भी है'। तब पैप्पलाद वैकुण्ठ में गए। वहाँ जाकर उन्होंने पूछा—'हे विष्णो ! त्रिपुण्ड्र का माहात्म्य बताइए।' तब विष्णु ने कहा—'जो माहात्म्य ईश्वर का स्वयं का है, वही माहात्म्य त्रिपुण्ड्र का भी है'।

अथ पैप्पलादः कालाग्निरुद्रं परिसमेत्योवाचाधीहि भगवन् त्रिपुण्ड्रस्य विधिम् ॥13॥
त्रिपुण्ड्रस्य विधिर्मया वक्तुं न शक्यमिति सत्यमिति होवाच। अथ भस्मच्छन्नः संसारात् मुच्यते। भस्मशय्याशयानस्तच्छब्दगोचरः शिवसायुज्यमवाप्नोति। न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तते। रुद्राध्यायी सन्नमृतत्वं च गच्छति। स एव भस्मज्योतिः। विभूतिधारणाद् ब्रह्मैकत्वं च गच्छति। विभूतिधारणादेव सर्वेषु तीर्थेषु स्नातो भवति। विभूतिधारणाद् वाराणस्यां स्नानेन यत्फलमवाप्नोति तत्फलमश्नुते। स एष भस्मज्योतिः। यस्य कस्यचिच्छरीरे त्रिपुण्ड्रस्य लक्ष्म वर्तते प्रथमा प्रजापतिर्द्वितीया विष्णुस्तृतीया सदाशिव इति स एष भस्मज्योतिः स एव भस्मज्योतिरिति ॥14॥

अब पैप्पलाद कालाग्निरुद्र के पास जाकर पूछा—'हे भगवन्, मुझे त्रिपुण्ड्र की विधि बताइए।' तब कालाग्निरुद्र ने कहा—त्रिपुण्ड्र की विधि कहने की मेरी कोई सामर्थ्य नहीं है, यह मैं सच कहता हूँ। भस्म से स्नान किया हुआ व्यक्ति संसार से मुक्त हो जाता है, भस्म की शय्या पर सोने वाला मनुष्य उस शब्द के विषयरूप शिवजी का सायुज्य प्राप्त करता है। वह फिर से इस पृथ्वी पर नहीं आता। उसका यहाँ फिर से आना नहीं होता। रुद्र का अध्ययन करने वाला वह अमृतत्व को प्राप्त करता है। वही भस्मज्योति होता है। विभूति के धारण करने से वह ब्रह्म के साथ ऐक्य प्राप्त करता है। विभूति के धारण से वह सभी तीर्थों में स्नान किया हुआ माना जाता है। विभूति के धारण करने से वाराणसी में स्नान करने से जो फल मिलता है, वह उसे मिल जाता है। वह यह भस्मज्योति है। जिस किसी

भी मनुष्य के शरीर में त्रिपुण्ड्र का चिह्न लगा हुआ होता है, उसकी पहली रेखा प्रजापति, दूसरी विष्णु और तीसरी सदाशिव है। यही वह भस्मज्योति है।

अथ कालाग्निरुद्रं भगवन्तं सनत्कुमारः पप्रच्छाधीहि भगवन्रुद्राक्ष-धारणविधिम् ॥15॥

स होवाच रुद्रस्य नयनादुत्पन्ना रुद्राक्षा इति लोके ख्यायन्ते। सदाशिवः संहारं कृत्वा संहाराक्षं मुकुलीकरोति तन्नयनाज्जाता रुद्राक्षा इति होवाच। तस्माद्रुद्राक्षत्वमिति मुनिना पृष्टः स होवाच ॥16॥

अब भगवान् कालाग्निरुद्र से सनत्कुमार ने पूछा—'भगवन्! रुद्राक्ष के धारण की विधि कहिए।' इस प्रकार मुनि द्वारा पूछने कालाग्निरुद्र ने कहा—'रुद्र के नयन से उत्पन्न होने से ये लोगों में रुद्राक्ष नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। शिवजी प्रलयकाल में जब संहार करके अपने उस संहाराक्ष (तृतीय नेत्र) को आधा बन्द-सा कर लेते हैं, तब उनकी आँख से ये रुद्राक्ष उत्पन्न हुए हैं'।

तद्रुद्राक्षे वाग्विषये कृते दशगोप्रदानेन यत्फलमवाप्नोति तत्फलमश्नुते। स एष भस्मज्योती रुद्राक्ष इति। तद्रुद्राक्षं करेण स्पृष्ट्वा धारणमात्रेण द्विसहस्रगोप्रदानफलं भवति। तद्रुद्राक्षे कर्णयोर्धार्यमाणे एकादशसहस्र-गोप्रदानफलं भवति। एकादशरुद्रत्वं च गच्छति। तद्रुद्राक्षे शिरसि धार्यमाणे कोटिगोप्रदानफलं भवति। एतेषां स्थानानां कर्णयोः फलं वक्तुं न शक्यमिति होवाच। मूर्ध्नि चत्वारिंशच्छिखायामेकं त्रयं वा श्रोत्रयोर्द्वादश द्वादश कण्ठे द्वात्रिंशद् बाह्वोः षोडश षोडश द्वादश द्वादश मणिबन्धयोः षट्षडङ्गुष्ठयोस्ततः सन्ध्यां सकुशोऽहरहरुपासीत। अग्नि-र्ज्योतिरित्यादिभिरग्नौ जुहुयात् ॥17॥

इति सप्तमं ब्राह्मणम्।

वह रुद्राक्ष यदि 'एष भस्मज्योती रुद्राक्षः'—इस तरह वाणी का विषय बनाया जाए अर्थात् ऐसे शब्द बोले जाएँ, तो दश गाय के दान का जो फल मिलता है, उसे मनुष्य प्राप्त करता है। और यदि हाथ से स्पर्श करके इसका धारण किया जाए तो दो हजार गायों के दान का फल होता है, उस रुद्राक्ष के दोनों कानों पर धारण किए जाने पर ग्यारह हजार गायों के दान का फल होता है, और एकादशरुद्रत्व को वह मनुष्य प्राप्त करता है। वह रुद्राक्ष यदि मस्तक पर धारण किया जाए तो करोड़ों गायों के दान का फल होता है। इन सभी स्थानों में तथा दोनों कानों पर धारण किए गए रुद्राक्ष का फल तो कहा ही नहीं जा सकता, ऐसा कहा। मस्तक पर चालीस, शिखा में एक अथवा तीन, दो कानों में बारह-बारह, गले में बत्तीस, दोनों हाथों में सोलह-सोलह, दोनों मणिबन्धों पर बारह-बारह, दोनों अंगूठों पर छः-छः रुद्राक्ष धारण करने चाहिए। और प्रतिदिन कुशासन पर बैठकर सन्ध्योपासन करना चाहिए। और 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा', 'सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा' इस प्रकार अग्नि में आहुतियाँ देनी चाहिए।

यहाँ पर सातवाँ ब्राह्मण पूरा हुआ।

❋

अष्टमं ब्राह्मणम्

अथ बृहज्जाबालस्य फलं नो ब्रूहि भगवन्निति ॥1॥
स होवाच य एतद्बृहज्जाबालं नित्यमधीते स अग्निपूतो भवति। स वायुपूतो भवति। स आदित्यपूतो भवति। स सोमपूतो भवति। स ब्रह्मपूतो भवति। स विष्णुपूतो भवति। स रुद्रपूतो भवति। स सर्वपूतो भवति। स सर्वपूतो भवति ॥2॥

अब कालाग्निरुद्र से सनत्कुमार ने कहा—'हे भगवन्! अब आप इस बृहज्जाबाल उपनिषद् का हमें फल कहिए'। तब कालाग्निरुद्र बोले—'जो मनुष्य इस बृहज्जाबाल का नित्य पाठ करता है वह अग्नि द्वारा या अग्नि जैसा पवित्र होता है, वायु द्वारा या वायु जैसा पवित्र होता है, वह सूर्य के द्वारा या सूर्य जैसा पवित्र होता है, वह ब्रह्मा जैसा पवित्र होता है, वह विष्णु जैसा पवित्र होता है, वह रुद्र जैसा पवित्र होता है, वह सर्वतः पवित्र हो जाता है, वह चारों ओर पवित्र हो जाता है।

य एतद् बृहज्जाबालं नित्यमधीते सोऽग्निं स्तम्भयति स वायुं स्तम्भयति स आदित्यं स्तम्भयति स सोमं स्तम्भयति स उदकं स्तम्भयति स सर्वान्देवान्स्तम्भयति स सर्वान्ग्रहान्स्तम्भयति। स विषं स्तम्भयति स विषं स्तम्भयति ॥3॥

जो मनुष्य इस बृहज्जाबाल को हमेशा पढ़ता है (रोज पाठ करता है) वह अग्नि को रोक सकता है, वह वायु को रोक सकता है, वह सूर्य को थमा सकता है, वह सोम को थमा सकता है, वह जलप्रवाह को भी रोक सकता है, वह सभी देवों को रोक सकता है, वह सभी ग्रहों को रोक सकता है। वह विष को भी रोक सकता है, विष को भी रोक सकता है।

स एतद् बृहज्जाबालं नित्यमधीते स मृत्युं तरति स पाप्मानं तरति स ब्रह्महत्यां तरति स भ्रूणहत्यां तरति स वीरहत्यां तरति स सर्वहत्यां तरति स संसारं तरति स सर्वं तरति स सर्वं तरति ॥4॥

जो मनुष्य इस बृहज्जाबाल उपनिषद् को रोज पढ़ता है (इसका रोज पाठ करता है) वह मृत्यु को पार कर जाता है, वह पापों से परे हो जाता है, वह ब्रह्महत्या को पार कर जाता है, वह भ्रूणहत्या को भी पार कर जाता है, वह वीरहत्या से भी परे हो जाता है, वह सभी हत्याओं से परे हो जाता है, वह संसार को पार कर जाता है, सबसे परे हो जाता है, सबसे ऊपर उठ जाता है।

य एतद् बृहज्जाबालं नित्यमधीते स भूर्लोकं जयति स भुवर्लोकं जयति स सुवर्लोकं जयति स महर्लोकं जयति स जनोलोकं जयति स तपोलोकं जयति स सत्यलोकं जयति स सर्वान् लोकान् जयति सर्वान् लोकान् जयति ॥5॥

जो इस बृहज्जाबाल का नित्य अध्ययन करता है, वह भूर्लोक को जीतता है, भुवर्लोक को जीतता है, स्वर्लोक को जीतता है, महर्लोक को जीतता है, जनलोक को जीतता है, तपोलोक को जीतता है, सत्यलोक को जीतता है, वह सभी लोकों को जीतता है, वह सभी लोकों को जीत लेता है।

स एतद् बृहज्जाबालं नित्यमधीते स ऋचोऽधीते स यजूँष्यधीते स सामान्यधीते सोऽथर्वणमधीते सोऽङ्गिरसमधीते स शाखा अधीते स कल्पानधीते स नाराशंसीरधीते स पुराणान्यधीते स ब्रह्मप्रणवमधीते स ब्रह्मप्रणवमधीते ॥6॥

जो मनुष्य इस बृहज्जाबाल का नित्य पाठ करता हैं वह ऋग्वेद पढ़ता है, वह यजुर्वेद पढ़ता है, वह सामवेद पढ़ता है, वह अथर्ववेद पढ़ता है, वह अंगिरस पढ़ता है, वह शाखाएँ पढ़ता है, वह कल्पों को पढ़ता है, वह नाराशंसी पढ़ता है, वह पुराणों को पढ़ता है, वह ब्रह्मप्रणव भी पढ़ता है, वह ब्रह्मप्रणव भी पढ़ता है।

अनुपनीतशतमेकमेकेनोपनीतेन तत्सममुपनीतशतमेकमेकेन गृहस्थेन तत्समं गृहस्थशतमेकमेकेन वानप्रस्थेन तत्समं वानप्रस्थशतमेकमेकेन यतिना तत्समं यतीनां तु शतं पूर्णमेकमेकेन रुद्रजापकेन तत्समं रुद्रजापकशतमेकमेकेनाऽथर्वशिरःशिखाऽध्यापकेन तत्सममथर्वशिरः-शिखाध्यापकशतमेकेन बृहज्जाबालोपनिषदध्यापकेन तत्समम् ॥7॥

सौ अनुपवीतों के बराबर एक उपवीत वाला होता है, सौ उपवीत वालों के समान एक गृहस्थ होता है, सौ गृहस्थों के समान एक वानप्रस्थाश्रमी होता है, सौ वानप्रस्थियों के तुल्य एक यति होता है, सौ यतियों के समान एक रुद्रजापक होता है, सौ रुद्रजापकों के समान एक अथर्वशिरा का अध्यापक जो बृहज्जाबालोपनिषद् का अध्यापक है, वह होता है। इस प्रकार बृहज्जाबालोपनिषद् के अध्यापक की सर्वोत्तमता है।

तद्वा एतत्परं धाम बृहज्जाबालोपनिषज्जपशीलस्य यत्र न सूर्यस्तपति यत्र न वायुर्वाति यत्र न चन्द्रमा भाति यत्र न नक्षत्राणि भान्ति यत्र नाग्निर्दहति यत्र न मृत्युः प्रविशति यत्र न दुःखानि प्रविशन्ति सदानन्दं परमानन्दं शान्तं शाश्वतं सदाशिवं ब्रह्मादिवन्दितं योगिध्येयं परं पदं यत्र गत्वा न निवर्तन्ते योगिनः ॥8॥

अतः बृहज्जाबालोपनिषद् का जप करने वाले का यह परमधाम ऐसा है अर्थात् यह ऐसे लोक में रहता है कि जहाँ सूर्य नहीं तपता, जहाँ वायु वहन नहीं करता, जहाँ चन्द्र प्रकाशित नहीं होता है, जहाँ नक्षत्र भी नहीं चमकते, जहाँ अग्नि नहीं जलती, जहाँ मृत्यु का प्रवेश नहीं हो सकता, जहाँ दुःखों का प्रवेश भी नहीं हो सकता, जो सदानन्दमय, परमानन्दस्वरूप, शान्त, शाश्वत, सदाशिवस्वरूप, ब्रह्मादि देवों के द्वारा वन्द्यमान, योगियों के लिए ध्यान का विषय है। जहाँ जाकर फिर से योगियों को यहाँ वापस नहीं आना पड़ता।

तदेतदृचाऽभ्युक्तम्—
तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम् ॥9॥
तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते।
विष्णोर्यत्परं धाम। ॐ सत्यमित्युपनिषत् ॥10॥

इत्यष्टमं ब्राह्मणम्।
इति बृहज्जाबालोपनिषत्समाप्ता।

इस धाम का वर्णन ऋचा में भी किया गया है—यह विष्णु का परमपद (स्वरूप ही) है। उसे विद्वान् सदैव देखते हैं—अनुभव करते हैं। द्योतनात्मक ब्रह्म में जैसे चक्षु फैला हो ! ये ब्रह्म को देखने वाले सूरि लोक विप्र - ज्ञानी हैं, क्रोधरहित हैं, हमेशा जागरूक हैं, वे विष्णु के दर्शनकाल में ही केवल विष्णुमयता से ही अवशिष्ट रहते हैं। ऐसा प्रतिपादित विष्णुपद ॐकाररूप, तुरीय, सत्य रूप है।

यहाँ अष्टम ब्राह्मण और उपनिषद् दोनों पूर्ण होते हैं।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः............देवहितं यदायुः। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

❋

(27) नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

इस अथर्ववेदीय उपनिषद् में पाँच प्रखण्ड [उपनिषद्] हैं। इसमें देवगण और प्रजापति के संवाद के रूप में सगुण-निर्गुण ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है। विश्व के मूल कारण को इसमें नृसिंह कहा गया है और कहा गया है कि नृसिंह में से ही यह सृष्टि उत्पन्न होती है, और उसी में लय होती है। यह नृसिंह सभी प्राणियों में श्रेष्ठ होने से और सभी में बलवान होने से उसे नृसिंह नाम दिया गया है। उस तत्त्व को वीर और उग्र भी कहा गया है क्योंकि वह शूर है, वही महाविष्णु है क्योंकि इन सभी लोगों को, देवों को और प्राणियों को वे अपने में समा लेते हैं। वह नृसिंह (तत्त्व) स्वयंप्रकाशित है। किसी भी इन्द्रिय के बिना वह देव सुन सकता है, वह सर्वव्यापी है। वह सर्वसमावेशक और सर्वसंग्राहक है। उसका रूप देखकर सभी प्राणी, लोग, देव, मनुष्य—सभी भयभीत हो उठते हैं। ऐसा होने पर भी वह वास्तव में तो कल्याणकारी ही है। जो मनुष्य ऐसे नृसिंह तत्त्व की—नृसिंह भगवान् की उपासना करता है, और नृसिंह गायत्री का जप करता है, उसके ब्रह्महत्यादि समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं, और वह सातों लोकों की विजय प्राप्त कर लेता है।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः..........देवहितं यदायुः। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (अथर्वशिर उपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

प्रथमोपनिषत्

आपो वा इदमासन्सलिलमेव। स प्रजापतिरेकः पुष्करपर्णे समभवत्। तस्यान्तर्मनसि कामः समवर्तत। इदं सृजेयमिति। तस्माद्यत्पुरुषो मनसाभिगच्छति तद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति। तदेषाभ्यनूक्ता—कामस्तदग्रे समवर्तताधिमनसो रेतः प्रथमं यदासीत्। सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीच्या कवयो मनीषेति उपैनं तदुपनमति यत्कामो भवति य एवं वेद ॥1॥

कहते हैं कि पहले जल ही था, सर्वत्र जल ही जल था। तब कमलपत्र के ऊपर प्रजापति उत्पन्न हुए। उनके भीतर मन में काम (इच्छा) प्रकट हुआ कि मैं यह सृष्टि बनाऊँ। यह तो जानी हुई बात है कि मनुष्य पहले मन में सोचता है; वही फिर वाणी से बोलता है, और वही कर्म करता है। ऐसा ऋषियों ने भी कहा है कि पहले मन में काम ही उत्पन्न हुआ, काम ही मन का वीर्य (सत्त्व) है। वह काम दृश्यमान सत् (जगत्) के बन्धु के समान है पर ऋषि (कवि) लोगों ने अपनी बुद्धि से उसे अपने

हृदय में स्थित अचाक्षुष ब्रह्म में ही देखा है। ऐसा कवियों का सा-जो जानता है, उसकी जैसी कामना होती है, वहाँ यह ज्ञान उसे पहुँचा देता है अर्थात् उसकी सारी कामनाएँ पूर्ण होती हैं।

स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा स एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभमपश्यत्। तेन वै सर्वमिदमसृजत यदिदं किञ्च। तस्मात्सर्वमानुष्टुभमित्याचक्षते यदिदं किञ्च। अनुष्टुभो वा इमानि भूतानि जायन्ते। अनुष्टुभा जातानि जीवन्ति। अनुष्टुभं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तस्यैषा भवति अनुष्टुप्प्रथमा भवति अनुष्टुबुत्तमा भवति वाग्वा अनुष्टुब्वाचैव प्रयन्ति वाचोद्यन्ति परमा वा एषा छन्दसां यदनुष्टुबिति ॥2॥

उस प्रजापति ने तप (परिश्रम) किया। तप करके उन्होंने अनुष्टुभ् में रचे गए नारसिंह मन्त्र को प्राप्त किया। उसके द्वारा उन्होंने यह जो कुछ है, इसका सर्जन किया। इसलिए यह जो कुछ है, उसे 'आनुष्टुभ्' कहा जाता है। अनुष्टुभ् से ही ये सब भूत (प्राणी) उत्पन्न होते हैं, अनुष्टुभ् से जन्मे हुए ही ये सब जीते हैं, और अन्त में अनुष्टुभ् में ही प्रयाणकाल में जाकर मिल जाते हैं। इस मन्त्रराज की यह अभिधा (अनुष्टुभ्) है। अथवा इस अनुष्टुप् की प्रकाशिका वक्ष्यमाण ऋचा है। इस अनुष्टुप् के साम-प्रकारों में अनुष्टुप् प्रथमा—आद्यस्वरयुक्त साम होता है तथा अनुष्टुप् उत्तमा—अन्त्यस्वरयुक्त सामवाला भी होता है। अथवा स्वरवती वाणी भी अनुष्टुभ् होता है। और इस लौकिकादि शब्दस्वरूप वाणी के द्वारा ही सभी भूत प्रयाण करते हैं, वाणी से ही उत्पन्न होते हैं। ऐसा होने से वाणीरूप यह अनुष्टुप् गायत्र्यादि अन्य सभी छन्दों से परम है।

ससागरां सपर्वतां सप्तद्वीपां वसुन्धरां तत्साम्नः प्रथमं पादं जानीयात्। यक्षगन्धर्वाप्सरोगणसेवितमन्तरिक्षं तत्साम्नो द्वितीयं पादं जानीयात्। वसुरुद्रादित्यैः सर्वदेवैः सेवितं दिवं तत्साम्नस्तृतीयं पादं जानीयात्। ब्रह्मस्वरूपं निरञ्जनं परमं व्योमकं तत्साम्नश्चतुर्थं पादं जानीयात्। यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति ॥3॥

सागरों और पर्वतों सहित सात द्वीपवाली पृथ्वी इस सामरूपी नारसिंह मन्त्रराज के प्रथम पाद से उत्पन्न हुई है, ऐसा जानना चाहिए। यक्षों, गन्धर्वों, अप्सराओं के समूह आदि द्वारा सेवित जो अन्तरिक्ष है, वह इस सामरूप नारसिंह मन्त्रराज के दूसरे पाद से उत्पन्न हुए हैं, ऐसा जानना चाहिए। वसुओं, रुद्रों, आदित्यों और सभी देवों के द्वारा सेवित जो स्वर्गलोक है, वह इस सामरूप मन्त्रराज के तीसरे पाद से उत्पन्न हुआ है, ऐसा समझना चाहिए और ब्रह्मस्वरूप, निरंजन, परम व्यापक जो है, वह इस मन्त्रराज साम का चौथा पाद है, ऐसा जानना चाहिए। जो ऐसा जानता है वह अमृतत्व को प्राप्त होता है।

ऋग्यजुःसामाथर्वाणश्चत्वारो वेदाः। साङ्गाः सशाखाश्चत्वारो पादा भवन्ति ॥4॥

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद—ये चारों वेद, सभी शिक्षाकल्पादि छः अंगों के साथ और सभी शाखाओं के साथ इस मन्त्रराज के चार पाद होते हैं।

किं ध्यानं किं दैवतं कान्यङ्गानि कानि दैवतानि किं छन्दः कः ऋषिरिति ॥5॥

ध्यान क्या व कैसे होता है ? अर्थात् इस मन्त्रराज का ध्यान किस तरह किया जा सकता है ? इस मन्त्रराज के अधिष्ठाता देव कौन हैं ? इसके अंग कौन-कौन से हैं ? इसका देवगण कौन-सा है ? इस मन्त्रराज का छन्द कौन-सा है ? और इस मन्त्र के ऋषि कौन है ?

स होवाच प्रजापतिः। स यो ह वै सावित्रस्याष्टाक्षरं पदं श्रियाऽभिषिक्तं तत्साम्नोऽङ्गं वेद श्रिया हैवाभिषिच्यते। सर्वे वेदाः प्रणवादिकास्तं प्रणवं तत्साम्नोऽङ्गं वेद स त्रींल्लोकाञ्जयति। चतुर्विंशत्यक्षरा महालक्ष्मीर्यजुस्तत्साम्नोऽङ्गं वेद स आयुर्यशःकीर्तिज्ञानैश्वर्यवान् भवति। तस्मादिदं साङ्गं साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति ॥6॥

तब प्रजापति ने कहा—'श्री' से अभिषिक्त अर्थात् बीजरूप **'श्रीं'** से अभिषिक्त जो अष्टाक्षरी गायत्रीमन्त्र है, वह साम का प्रथम अंग है। ऐसा जो जानता है, वह श्री से (लक्ष्मी से) सम्पन्न होता है। सभी मन्त्रों के आदि में प्रणव का उच्चारण किया जाता है वह आदि प्रणव (ओंकार) साम का अंग है, ऐसा जो समझता है, वह मनुष्य लक्ष्मी के द्वारा अभिषिक्त किया जाता है और तीनों लोकों के ऊपर जय प्राप्त करता है। जो ज्ञानी जन चौबीस अक्षरवाले महालक्ष्मी के मन्त्र को यजुर्वेद का स्वरूप समझता है, वह यश, आयु, कीर्ति, ज्ञान, ऐश्वर्य से युक्त होता है। इसलिए इस सामरूप मन्त्रराज को अंगों के साथ जान लेना चाहिए। जो इस तरह जान लेता है, वह अमृतत्व को प्राप्त करता है।

सावित्रीं प्रणवं यजुर्लक्ष्मीं स्त्रीशूद्राय नेच्छन्ति। द्वात्रिंशदक्षरं साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति। सावित्रीं लक्ष्मीं यजुः प्रणवं यदि जानीयात्स्त्रीशूद्रः स मृतोऽधो गच्छति तस्मात्सर्वदा नाचष्टे यद्याचष्टे स आचार्यस्तेनैव स मृतोऽधो गच्छति ॥7॥

ज्ञानी लोग इस सावित्रीमन्त्र को, प्रणव को, यजुर्मन्त्रों को और लक्ष्मीमन्त्र को स्त्री तथा शूद्र को देना नहीं चाहते। बत्तीस अक्षरवाले साम को जानना चाहिए। जो यह जानता है, वह अमृतत्व को प्राप्त करता है। गायत्री (सावित्री) मन्त्र, लक्ष्मीमन्त्र, यजुस्, और प्रणवमन्त्र को यदि स्त्री या शूद्र जान ले, तब तो उसका मरण और अधःपतन ही होगा। इसलिए आचार्य को उनके आगे इन मन्त्रों का उच्चारण नहीं करना चाहिए। अगर आचार्य उनके आगे बोलेगा तो उसका मरण और अधःपतन होगा।

स होवाच प्रजापतिः। अग्निर्वै देवा इदं सर्वं विश्वा भूतानि प्राणा वा इन्द्रियाणि पशवोऽन्नममृतं सम्राट् स्वराड् विराट् तत्साम्नः प्रथमं पादं जानीयात्। ऋग्यजुःसामाथर्वरूपः सूर्योऽन्तरादित्ये हिरणमयः पुरुषस्तत् साम्नो द्वितीयं पादं जानीयात्। य ओषधीनां प्रभुर्भवति ताराधिपतिः सोमस्तत्साम्नस्तृतीयं पादं जानीयात्। स ब्रह्मा स शिवः स हरिः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट् तत्साम्नश्चतुर्थं पादं जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति ॥8॥

वह प्रजापति बोले—अग्नि, सभी देव, यह जो कुछ है वह सब, सभी प्राणी, सभी प्राण, सभी इन्द्रियाँ, पशु, अन्न, अमृत, सम्राट्, स्वराट् है—उसे इस साम का प्रथम पाद जानना चाहिए। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, सूर्य, सूर्य के भीतर स्थित हिरणमय पुरुष—यह सब उस साम का द्वितीय पाद जानना चाहिए। जो औषधियों का स्वामी है ऐसा ताराओं का अधिपति सोम है उसे साम का तीसरा पाद जानना चाहिए और जो ब्रह्मा है, जो शिव है, जो हरि है, इन्द्र है वह अक्षर परम स्वराट् है, उसे साम का चौथा पाद जानना चाहिए। जो मनुष्य इस प्रकार से जानता है वह अमृतत्व को प्राप्त करता है।

उग्रं प्रथमस्याद्यं ज्वलं द्वितीयस्याद्यं नृसिं तृतीयस्याद्यं मृत्युं चतुर्थस्याद्यं साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति। तस्मादिदं साम यत्र कुत्रचिन्नाचष्टे। यदि दातुमपेक्षते पुत्राय शुश्रूषवे दास्यत्यन्यस्मै शिष्याय वा चेति ॥9॥

इस मन्त्रराज के प्रथम चरण के आरम्भ का अंश (स्वर) 'उग्रम्' कहलाता है। दूसरे चरण का आद्य अंश (स्वर) 'ज्वलम्' कहलाता है। तृतीय चरण का आद्य अंश (स्वर) 'नृसिम्' कहलाता है, और चौथे चरण का आद्य अंश (स्वर) 'मृत्युम्' कहलाता है। ये चारों चरण (क्रमशः उग्रम्, ज्वलम्, नृसिम्, और मृत्युम्) साम के ही रूप हैं। इसलिए इसे जहाँ-तहाँ उच्चारित नहीं करना चाहिए। जो इस प्रकार जानता है, वह अमृतत्व को प्राप्त करता है। इस साम को यदि किसी को देना हो, तो सेवा करने वाले पुत्र को या शिष्य को ही देना चाहिए (अनधिकारियों को नहीं)।

क्षीरोदार्णवशायिनं नृकेसरिं योगिध्येयं परमं पदं साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति ॥10॥

क्षीरसागर में शयन करने वाले नरकेसरी का ही रूप है, योगियों के लिए वे ही ध्यान के विषय हैं। वह परम पद है, वही परम साम है, ऐसा जानना चाहिए। ऐसा जो जानता है, वह अमृतत्व को प्राप्त होता है।

वीरं प्रथमस्याद्यार्धान्त्यं तं स द्वितीयस्याद्यार्धान्त्यं हंभी तृतीयस्याद्यार्धान्त्य मृत्युं चतुर्थस्याद्यार्धान्त्यं साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति। तस्मादिदं साम येन केनचिदाचार्यमुखेन यो जानीते स तेनैव शरीरेण संसारान्मुच्यते मोचयति मुमुक्षुर्भवति। जपात्तेनैव शरीरेण देवतादर्शनं करोति। तस्मादिदमेव मुख्यद्वारं कलौ नान्येषां भवति तस्मादिदं साङ्गं साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति ॥11॥

इस मंत्रराज के प्रथम चरण के पूर्वार्ध के अन्त्य भाग को 'वीरम्' कहते हैं। इसके द्वितीय चरण के पूर्वार्ध के अन्त्य भाग को 'हंभी' कहते हैं। इसके तीसरे चरण के पूर्वार्ध के अन्त्य भाग को 'मृत्युम्' कहते हैं और चौथे चरण के पूर्वार्ध के अन्त्य भाग को 'साम' कहते हैं। इस साम रूप मन्त्र को इस तरह जानना चाहिए। इस तरह जो जानता है, वह अमृतत्व को प्राप्त करता है। इसलिए इस सामरूप मन्त्रराज को किसी एक आचार्य के मुख से सुनकर जो जानता है, वह उसी शरीर से संसार से मुक्त हो जाता है। और दूसरों को भी मुक्त कर देता है। वह मुमुक्षु हो जाता है। इसके जप से उसी शरीर से वह देवताओं के दर्शन कर सकता है। इसलिए कलियुग में यही मुक्ति का बड़ा द्वार है। अन्य लोगों के लिए और कोई द्वार नहीं है। इसलिए सभी अंगपूर्वक यही सामरूप मन्त्रराज जानना चाहिए। जो यह जानता है, वह अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है।

ऋतं सत्यं परं ब्रह्म पुरुषं नरकेसरीविग्रहं कृष्णपिङ्गलम्। ऊर्ध्वरेतं विरूपाक्षं शङ्करं नीललोहितम्। उमापतिः पशुपतिः पिनाकी ह्यमितद्युतिः। ईशानः सर्वविद्यानामीश्वरः सर्वभूतानां ब्रह्माधिपतिर्ब्रह्मणोऽधिपतिर्यो वै यजुर्वेदवाच्यस्तं हि साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति ॥12॥

साक्षात् ऋतस्वरूप, सत्यरूप परब्रह्म पुरुष नरसिंह ही हैं। उनका वर्ण कृष्ण और पिंगल (भूरा) है, वे ऊर्ध्वरेता हैं, विकराल आँखों वाले हैं फिर भी कल्याणकारी हैं। उमापति, पशुपति, पिनाकी, भी वही हैं। उनका तेज नापा नहीं जा सकता। सब विद्याओं के वे स्वामी हैं। सभी प्राणियों के वे अधिपति हैं। वे ब्रह्माजी के भी अधिपति हैं, ब्रह्म के भी अधिपति हैं वे नृसिंह यजुर्वेद के वाच्यार्थ हैं, उन्हीं को साम जानना चाहिए। जो ऐसा जानता है वह अमृतत्व को प्राप्त हो जाता है।

महा प्रथमान्तार्धस्याद्यं र्वतो द्वितीयान्तार्धस्याद्यं षणं तृतीयान्तार्धस्याद्यं नमा चतुर्थान्तार्धस्याद्यं साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति। तस्मादिदं साम सच्चिदानन्दमयं परं ब्रह्म तमेवं विद्वानमृत इह भवति। तस्मादिदं साङ्गं साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति ॥13॥

इस अनुष्टुभ् मन्त्रराज के प्रथम चरण के उत्तरार्ध का आदि भाग 'महा' कहलाता है। इसके द्वितीय चरण के उत्तरार्ध के आदि भाग को 'र्वतो' कहते हैं। और इसके तृतीय चरण के उत्तरार्ध का आदि भाग 'षणम्' कहा जाता है और चतुर्थ चरण के उत्तरार्ध के प्रथम भाग को 'नमा' कहते हैं। इस प्रकार साम को जानना चाहिए। जो इस प्रकार साम को जानता है, वह अमृतत्व को प्राप्त करता है। इसीलिए यह साम सच्चिदानन्दमय परब्रह्म ही है। इसे इस प्रकार जानने वाला यहाँ अमृतत्व को प्राप्त होता है। उसे ऐसा ही जानना चाहिए। जो इसे ऐसा जानता है, वह अमृतत्व को प्राप्त होता है।

विश्वसृज एतेन वै विश्वमिदमसृजन्त। यद् विश्वमसृजन्त तस्माद् विश्वसृजो विश्वमेनाननु प्रजायते। ब्रह्मणः सलोकतां सार्ष्टितां सायुज्यं यान्ति। तस्मादिदं साङ्गं साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति ॥14॥

इसी मन्त्रराज से विश्व का सर्जन करने वाले प्रजापतियों ने सृष्टि का निर्माण किया है। इसीलिए तो उन्हें 'विश्वसृष्टा' कहा जाता है। यह सारा विश्व उनके पीछे ही उत्पन्न हुआ है। इसे जानने वाले ब्रह्मा के लोक में ब्रह्मा के साथ सायुज्य प्राप्त करते हैं। ऐसे ही उसे जानना चाहिए। यह जानने वाला अमृतत्व को प्राप्त करता है।

विष्णुं प्रथमान्त्यं मुखं द्वितीयान्त्यं भद्रं तृतीयान्त्यं म्यहं चतुर्थान्त्यं साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति। योऽसौ वेद यदिदं किञ्चात्मनि ब्रह्मण्येवानुष्टुभं जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति। स्त्रीपुंसयोर्वा। य इहैव स्थातुमपेक्षते तस्मै सर्वैश्वर्यं ददाति। यत्र कुत्रापि म्रियते देहान्ते देवाः परमं ब्रह्म तारकं व्याचष्टे येनासावमृतीभूत्वा सोऽमृतत्वं च गच्छति ॥15॥

इस मन्त्रराज के प्रथम चरण के अन्तिम पद को 'विष्णुम्' कहते हैं, द्वितीय चरण के अन्तिम पद को 'मुखम्' कहा जाता है, तृतीय चरण के अन्तिम पद को 'भद्रम्' कहा जाता है और चतुर्थ चरण के अन्तिम पद को 'म्यहम्' कहते हैं। इस प्रकार इस साम को जानना चाहिए। ऐसा जो जानता है, वह अमृतत्व को प्राप्त होता है। जो यह प्रजापति है वही यह जानता है। जो यहाँ सब कुछ है, सब की आत्मा रूप ब्रह्म में यह अनुष्टुभ् रहा है – अनुस्यूत है, ऐसा जानना चाहिए। और ऐसा जो जानता है वह अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है। चाहे वह स्त्री हो या पुरुष हो। इन मन्त्रज्ञों में जो यहाँ रहने की

इच्छा करते हों, उन्हें भगवान् नृसिंह सब ऐश्वर्य देते हैं। और वह जहाँ कहीं भी मरता है, भगवान् नृसिंह उसे वहाँ पर ही परब्रह्मरूप तारक मन्त्र का बोध कराते हैं, जिससे वह अमृतरूप होकर अमृतत्व को प्राप्त करता है।

तस्मादिदं साममध्यगं जपति तस्मादिदं सामाङ्गं प्रजापतिस्तस्मादिदं सामाङ्गं प्रजापतिर्य एवं वेदेति महोपनिषत्। य एतां महोपनिषदं वेद स कृतपुरश्चरणो महाविष्णुर्भवति महाविष्णुर्भवति ॥16॥

इति प्रथमोपनिषत्।

इसलिए सामों में अवस्थित इस तारकमन्त्र का जप मनुष्य करता है। साम का अंगरूप यह मन्त्रराज स्वयं प्रजापति का ही स्वरूप है। इसलिए यह साम का अंग प्रजापति का ही रूप है, ऐसा जानने वाला मनुष्य महोपनिषत् को जान लेता है। परमतत्त्व को यथार्थ बताने वाली इस महोपनिषत् को जानने वाला साधक पुरश्चरण किया हुआ ही माना जाता है। वह महाविष्णुरूप ही हो जाता है। वाक्य की पुनरुक्ति प्रथमोपनिषत् की समाप्ति को सूचित करती है।

यहाँ प्रथम उपनिषत् पूर्ण होती है।

द्वितीयोपनिषत्

देवा ह वै मृत्योः पाप्मभ्यः संसाराच्च बिभीयुस्ते प्रजापतिमुपाधावंस्तेभ्य एवं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं प्रायच्छत्तेन वै ते मृत्युमजयन्। पाप्मानं चातरन्संसारं चातरंस्तस्माद्यो मृत्योः पाप्मभ्यः संसाराच्च बिभीयात्स एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं प्रतिगृह्णीयात्स मृत्युं जयति पाप्मानं जयति संसारं तरति ॥1॥

पहले के काल में देवलोग मृत्यु से, पापों से और संसार से भयभीत हुए और दौड़कर प्रजापति के पास पहुँच गए। प्रजापति ने उन्हें यह नारसिंह मन्त्रराज, जो अनुष्टुभ् में निबद्ध था, दिया। उसी से वे मृत्यु को जीत गए और पाप को एवं संसार को पार कर गए। इसलिए जो कोई मनुष्य मृत्यु से, पाप से और संसार से डर जाए उसे इस अनुष्टुभ् में बँधा हुआ नारसिंह मन्त्रराज ग्रहण करना चाहिए। जिससे वह मृत्यु को जीत सकता है, पाप को जीत सकता है और संसार को पार कर सकता है।

तस्य ह वै प्रणवस्य या पूर्वा मात्रा पृथिव्यकारः स ऋग्भिर्ऋग्वेदो ब्रह्मा वसवो गायत्री गार्हपत्यः स साम्नः प्रथमः पादो भवति। द्वितीयाऽन्तरिक्षं स उकारः स यजुर्भिर्यजुर्वेदो विष्णुः रुद्रास्त्रिष्टुब्दक्षिणाग्निः स साम्नो द्वितीयः पादो भवति। तृतीया द्यौः स मकारः स सामभिः सामवेदो रुद्रा आदित्या जगत्याहवनीयः स साम्नस्तृतीयः पादो भवति। याऽवसाने-ऽस्य चतुर्थ्यर्धमात्रा सा सोमलोक ओङ्कारः सोऽथर्वणैर्मन्त्रैरथर्ववेदः संवर्तकोऽग्निर्मरुतो विराडेकर्षिर्भास्वती स्मृता सा साम्नश्चतुर्थो पादो भवति ॥2॥

इस मन्त्रराज का अंगभूत जो प्रणव (ओंकार) है उसकी पहली मात्रा 'अ'कार है। इसका लोक पृथ्वी है, वह (अकार) ऋचाओं में रक्षित ऋग्वेद वाला है – इसका वेद ऋग्वेद है, इसका देव ब्रह्मा है, इसका देवगण आठ वसु और गायत्री है, इसका अग्नि गार्हपत्य है, यह साममन्त्र का प्रथम चरण बनता है। प्रणव की दूसरी मात्रा 'उ'कार है। इसका लोक अन्तरिक्ष है, यजुषों से रक्षित यजुर्वेद उसका वेद है, उसका देव विष्णु है, उसका देवगण ग्यारह रुद्र हैं, उसका छन्द त्रिष्टुभ् है, उसका अग्नि दक्षिणाग्नि है। इस तरह वह साम का द्वितीय चरण बनता है। प्रणव की तीसरी मात्रा 'म'कार है। इसका लोक द्यौः है, इसका वेद साममन्त्रों से पोषित सामवेद है, उसका देव रुद्र है, उसका देवगण बारह आदित्य हैं, उसका छन्द जगती है, उसका अग्नि आहवनीय है, इस तरह यह साममन्त्र का तीसरा चरण बनता है। और इसके अन्त में जो चौथी आधी मात्रा है, वह सोमलोक वाला ओंकार है। वह अथर्वणमन्त्रों से पोषित अथर्ववेद वाला है (अर्थात् उसका लोक सोमलोक, उसका वेद अथर्ववेद है), उसका अग्नि संवर्तक है, उनचास मरुत् उसके देव हैं, विराट् उसका छन्द है। इसके एक ही ऋषि हैं (ब्रह्मा)। वह स्वप्रकाशित मात्रा ही इस मन्त्रराज का चौथा पाद होता है।

अष्टाक्षरः प्रथमः पादो भवत्यष्टाक्षरास्त्रयः पादा भवन्त्येवं द्वात्रिंशद-क्षराणि सम्पद्यन्ते। द्वात्रिंशदक्षरा वा अनुष्टुब्भवत्यनुष्टुभा सर्वमिदं सृष्ट-मनुष्टुभा सर्वमुपसंहृतम् ॥3॥

अनुष्टुभ् छन्द के प्रथम चरण में आठ अक्षर होते हैं, ऐसे ही आठ-आठ अक्षरों वाले अन्य तीन पाद भी होते हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर बत्तीस अक्षर होते हैं। अनुष्टुभ् छन्द बत्तीस अक्षरों वाला होता है। इस अनुष्टुभ् के द्वारा ही यह सब निर्मित होता है और अनुष्टुभ् द्वारा ही सभी का उपसंहार भी होता है।

तस्य हैतस्य पञ्चाङ्गानि भवन्ति चत्वारः पादाश्चत्वार्यङ्गानि भवन्ति। सप्रणवं सर्वं पञ्चमं भवति। हृदयाय नमः शिरसे स्वाहा शिखायै वषट् कवचाय हुं अस्त्राय फडिति प्रथमं प्रथमेन संयुज्यते द्वितीयं द्वितीयेन तृतीयं तृतीयेन चतुर्थं चतुर्थेन पञ्चमं पञ्चमेन व्यतिषजति व्यतिषिक्ता वा इमे लोकास्तस्माद् व्यतिषिक्तान्यङ्गानि भवन्ति ॥4॥

इस मन्त्र के पाँच अंग होते हैं। चार बताए गए पाद ही इसके चार अंग हैं और पाँचवाँ अंग प्रणव होता है, प्रणव से ही मन्त्र पूरा होता है, अतः वह पाँचवाँ अंग होता है। मन्त्र के इन पाँच अंगों से शरीर के पाँच अंगों का संयोजन करना चाहिए। शरीर के पाँच अंग ये हैं—हृदय, सिर, शिखा, बाहुमूल और ललाट। अतः क्रमशः "हृदयाय नमः, शिरसे स्वाहा, शिखायै वषट्, कवचाय हुम् और अस्त्राय फट्"—इनके साथ अनुष्टुप् के अंगों का संयोग करना चाहिए। प्रथम से प्रथम, द्वितीय से द्वितीय, तृतीय से तृतीय, चौथे से चौथे और पाँचवें से पाँचवें का संयोग बिठाना चाहिए। सभी लोक जिस प्रकार परस्परावलम्बी हैं, इसी प्रकार ये भी परस्पर सम्बद्ध हैं।

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्मात्प्रत्यक्षरमुभयत ओङ्कारो भवति। अक्षराणां न्यासमुपदिशन्ति ब्रह्मवादिनः ॥5॥

यह जो कुछ भी है, वह ओंकार रूप यह अक्षर ही है। इसलिए अनुष्टुप् के हर एक अक्षर से

पहले और बाद में ओंकार का उच्चारण करके सम्पुट बनाना चाहिए। ब्रह्म को जानने वाले इन अक्षरों का शरीर के अंगों में न्यास करने का उपदेश देते हैं।

तस्य ह वा उग्रं प्रथमं स्थानं जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति। घोरं द्वितीयं स्थानं महाविष्णुं तृतीयं स्थानं ज्वलन्तं चतुर्थं स्थानं सर्वतोमुखं पञ्चमं स्थानं नृसिंहं षष्ठं स्थानं भीषणं सप्तमं स्थानं भद्रमष्टमं स्थानं मृत्युमृत्युं नवमं स्थानं नमामि दशमं स्थानमहमेकादशं स्थानं जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति ॥6॥

इस मन्त्र का जो प्रथम 'उग्र' पद है, वह पहला स्थान है, ऐसा जानना चाहिए! ऐसा जो जानता है वह अमृतत्व को प्राप्त होता है। 'घोरम्' द्वितीय स्थान है, 'महाविष्णुम्' तृतीय स्थान है, 'ज्वलन्तम्' चौथा स्थान है, 'सर्वतोमुखम्' पाँचवाँ स्थान है, 'नृसिहम्' छठा स्थान है, 'भीषणम्' सातवाँ स्थान है, 'भद्रम्' आठवाँ स्थान है, 'मृत्युमृत्युम्' नवाँ स्थान है, 'नमामि' दसवाँ स्थान है, 'अहम्' ग्यारहवाँ स्थान है—ऐसा जानना चाहिए। ऐसा जो जानता है, वह अमृतत्व को प्राप्त करता है। (पूरा मन्त्र इस तरह बनेगा—'ॐ उग्रं घोरं महाविष्णुं ज्वलन्तं सर्वतोमुखम्। नृसिंहं भीषणं भद्रं मृत्युमृत्युं नमाम्यहम्')।

एकादशपदा वा अनुष्टुब्भवत्यनुष्टुभा सर्वमिदं सृष्टमनुष्टुभा सर्वमिदमुपसंहृतं तस्मात्सर्वमानुष्टुभं जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति ॥7॥

अथवा यह एकादश पदों वाली अनुष्टुप् होती है। ऐसी इस अनुष्टुप् से ही यह सबकुछ उत्पन्न हुआ है और सब कुछ उपसंहृत भी होता है। इसलिए यह सब कुछ अनुष्टुभ्मय ही (आनुष्टुभ् ही) है, ऐसा जानना चाहिए। और जो ऐसा जानता है, वह अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है।

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्नथ कस्मादुच्यत उग्रमिति। स होवाच प्रजापतिर्यस्मात्स्वमहिम्ना सर्वाँल्लोकान्सर्वान्देवान्सर्वानात्मनः सर्वाणि भूतान्युद्गृह्णात्यजस्रं सृजति विसृजति वासयत्युद्ग्राह्यत उद्गृह्यते। स्तुहि श्रुतं गर्तसदं युवानं मृगं न भीममुपहत्नुमुग्रम्। मृडा जरित्रे रुद्र स्तवानो अन्यं ते अस्मन्निवपन्तु सेनाः ॥ तस्मादुच्यत उग्र इति ॥8॥

देवों ने प्रजापति (ब्रह्मा) से पूछा—'उन्हें 'उग्र' क्यों कहा जाता है?' तब वह (प्रजापति बोले)—इसीलिए कि वह (नृसिंह भगवान्) अपनी महिमा से सभी लोकों को, सभी देवों को, सभी आत्माओं को और सभी भूतों को (प्राणियों को) उठाकर अर्थात् ग्रहण कर निरन्तर उनका सर्जन किया करते हैं, विसर्जन भी किया करते हैं, पूरी सृष्टि को अपने में निविष्ट करा लेते हैं – लीन कर देते हैं, वही संसार का अनुग्रह करते और करवाते हैं। इसीलिए उन्हें उग्र कहा गया है। ऋग्वेद में कहा गया है कि श्रुतियाँ जिनकी प्रार्थना करती हैं उन्हीं परमात्मा की स्तुति करो। वह परमात्मा सिंह का रूप धारण किए हुए होने पर भी भयंकर नहीं हैं। वह साधकों के सम्मुख जाकर अनुग्रह करने वाले हैं और वह 'उग्र' है (क्योंकि दुष्टों का वे संहार करते हैं)। हे नृसिंह! हम आपकी स्तुति करते हैं, आप हमारा कल्याण करें। आपकी सेना हम पर आक्रमण न करके अन्यत्र ही चली जाए। इसीलिए उसे 'उग्र' कहा जाता है। अथवा सर्वत्र जरणशील कालात्मा ऐसे आपको मैं नमस्कार करता हूँ।

अथ कस्मादुच्यते वीरमिति। यस्मात्स्वमहिम्ना सर्वाँल्लोकान्सर्वान्देवान्सर्वानात्मनः सर्वाणि भूतानि विरमति विरामयत्यजस्रं सृजति

विसृजयति वासयति। यतो वीरः कर्मण्यो सुदक्षो युक्तग्रावा जायते देवकामस्तस्मादुच्यते वीरमिति ॥9॥

देवों ने फिर पूछा—'हे भगवन् ! उन्हें 'वीरम्' क्यों कहा गया है ?' प्रजापति ने इसका उत्तर दिया कि—वह नृसिंह भगवान् सभी लोकों को, सभी देवों को, सभी आत्माओं को, सब प्राणियों को अपनी महिमा से क्रीडा करवाते भी हैं और उनसे क्रीडा करते भी हैं। वे ऐसा निरन्तर किया ही करते हैं। वे उन्हें बनाते हैं, उनका उपसंहार (नाश) भी करते हैं और उन्हें निवासस्थान भी देते हैं। ऋग्वेद में भी कहा गया है कि, चूँकि वे कर्मठ हैं, वह दक्ष हैं, वह देवों को उत्पन्न करने की कामना करने वाले हैं, सोमयाग में पाषाणयुक्त होकर वे अध्वर्यु आदि के रूप में सोम निकालने में सुदक्ष हैं, इसलिए वे 'वीर' कहलाते हैं।

अथ कस्मादुच्यते महाविष्णुमिति। यस्मात्स्वमहिम्ना सर्वांल्लोकान्सर्वान्देवान्सर्वानात्मनः सर्वाणि भूतानि व्याप्नोति व्यापयति स्नेहो यथा पललपिण्डं शान्तमूलमोतं प्रोतमनुव्याप्तं व्यतिषिक्तो व्याप्यते व्यापयति। यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा। प्रजापतिः प्रजया संविदानः त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशीं तस्मादुच्यते महाविष्णुमिति ॥10॥

देवों ने आगे पूछा—तब 'महाविष्णुम्' ऐसा विशेषण उन्हें क्यों दिया गया है ? ब्रह्माजी ने उत्तर दिया—इसलिए कि वे अपनी महिमा से सभी लोकों को, सभी देवों को, सभी आत्माओं को, सभी प्राणियों को व्याप्त करके स्थित हैं, और अपने ज्ञान से उपासकों में व्यापकता लाते हैं। जिस प्रकार मांसपिण्ड में चिकनाहट व्याप्त होकर रहती है, वैसे ही वे सावयव शरीर में सर्वत्र व्याप्त रहते हैं। यह जगत् उन्हीं से ओत-प्रोत होने से प्रलयकाल में उन्हीं में लीन भी हो जाता है। ऋचा कहती है कि इससे भिन्न चारों भुवनों को व्याप्त करके रहने वाला कोई भी उत्पन्न नहीं हुआ। वे ही प्रजाओं के स्वामी हैं, वे ही प्रजाओं के द्वारा पूजित होते हैं। वह नृसिंह तीनों प्रकार की ज्योतियों में सोलह कलाओं से युक्त होकर छाए रहते है (व्याप्त रहते हैं), इसीलिए उन्हें 'महाविष्णुम्' ऐसा विशेषण दिया गया है।

अथ कस्मादुच्यते ज्वलन्तमिति। यस्मात्स्वमहिम्ना सर्वांल्लोकान्सर्वान्देवान् सर्वानात्मनः सर्वाणि भूतानि स्वतेजसा ज्वलति ज्वलयति ज्वाल्यते ज्वालयते। सविता प्रसविता दीप्तो दीपयन्दीप्यमानः ज्वलञ्ज्वलिता तपन्वितपन्सम्पतन्रोचनो रोचमानः शोभनः शोभमानः कल्याणस्तस्मादुच्यते ज्वलन्तमिति ॥11॥

तब देवों ने आगे पूछा—'तो उन्हें 'ज्वलन्तम्' यह विशेषण क्यों दिया गया है ?' तब प्रजापति ब्रह्मा ने कहा कि—वे अपनी महिमा से सभी लोकों को, सभी देवों को, सभी आत्माओं को सभी प्राणियों को अपने तेज के द्वारा स्वयं जलते हैं, जलाते हैं, ज्वलित किए जाते हैं, ज्वलित कराए जाते हैं, अर्थात् वह स्वयंप्रकाश हैं, अन्यप्रकाशक हैं, उनसे प्रकाशित हुआ जाता है, इनके द्वारा अन्य प्रकाशित किए और कराए जाते हैं। ऋचा कहती है कि वे ही सविता के रूप में प्रकाश फैलानेवाले और उत्पन्न करनेवाले हैं। वे स्वयं तपते हैं और दूसरों को तपाते हैं, स्वयं तेजोयुक्त होकर अन्यों को तेजोयुक्त बनाते हैं। स्वयं परमकल्याणकारक हैं, स्वयं शोभमान हैं, और अन्यों से कल्याण करवाते हैं और अन्यों को शोभित करते हैं, इसीलिए ये 'ज्वलन्तम्' हैं।

अथ कस्मादुच्यते सर्वतोमुखमिति। यस्मात्स्वमहिम्ना सर्वांल्लोकान्स-र्वान्देवान्सर्वानात्मनः सर्वाणि भूतानि स्वयमनिन्द्रियोऽपि सर्वतः पश्यति सर्वतः शृणोति सर्वतो गच्छति सर्वत्र आदत्ते सर्वगः सर्वगतस्तिष्ठति। एकः पुरस्ताद्य इदं बभूव यतो बभूव भुवनस्य गोपाः। यमप्येति भुवनं सांपराये नमामि तमहं सर्वतोमुखमिति॥ तस्मादुच्यते सर्वतोमुख-मिति ॥12॥

देवों ने फिर आगे पूछा—'उन्हें 'सर्वतोमुखम्' विशेषण क्यों दिया गया है ?' तब प्रजापति ने कहा—वे अपनी महिमा से सभी लोकों को, सभी देवों को, सभी आत्माओं को और सभी प्राणियों को, स्वयं इन्द्रियरहित होते हुए भी चारों ओर देखते हैं, चारों ओर से सुन सकते हैं, चारों ओर जा सकते हैं, चारों ओर से सब कुछ ले सकते हैं, वे सभी जगह रहने वाले हैं और समानरूप से रहने वाले हैं। ऋचा कहती है कि वे ही एकमात्र इस जगत् के पहले विद्यमान थे। भुवनों के रक्षक उस एक तत्त्व से ही यह जगत् उत्पन्न हुआ है। और प्रलयकाल में इन्हीं में यह सब कुछ विलीन हो जाता है। उस 'सर्वतोमुख' को मैं प्रणाम करता हूँ। इसीलिए इसे 'सर्वतोमुखम्' कहा गया है।

अथ कस्मादुच्यते नृसिंहमिति। यस्मात्सर्वेषां भूतानां ना वीर्यतमः श्रेष्ठतमश्च सिंहो वीर्यतमः श्रेष्ठतमश्च। तस्मान्नृसिंह आसीत्परमेश्वरो जगद्धितं वा एतद्रूपं यदक्षरं भवति। प्रतद्विष्णुः स्तवते वीर्याय मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः। यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा। तस्मादुच्यते नृसिंहमिति ॥13॥

देवों ने आगे पूछा—'तो उन्हें 'नृसिंहम्' विशेषण क्यों दिया गया ?' प्रजापति ब्रह्मा ने उत्तर दिया कि—सभी जीवों में मनुष्य ही (नर ही) वीर्यतम – सबसे ज्यादा बलशाली और उत्तम भी है और सभी प्राणियों में सिंह ही सबसे ज्यादा शक्तिशाली और श्रेष्ठ माना जाता है। इसलिए भगवान् ने नरसिंह का रूप धारण किया था। अथवा यह रूप जगत् के हित के लिए ही है। यह स्वरूप अक्षर (अविनाशी) है। ऋचा कहती है—'ये भगवान् विष्णु सिंह का स्वरूप धारण करके भक्तों के द्वारा स्तवनीय बनते हैं। भक्तजन शक्ति प्राप्त करने के लिए इस स्वरूप की स्तुति करते हैं। भक्तों के लिए सिंह का रूप धारण करते हुए भी वे भयंकर नहीं होते। ये भगवान् पृथ्वी पर यथेच्छ भ्रमण करते हैं, पर्वतों के ऊपर भी रहते हैं। उनके तीन विशाल कदमों में तीनों लोक समा जाते हैं, इसलिए 'नृसिंहम्' कहा गया है।

अथ कस्मादुच्यते भीषणमिति। यस्माद् भीषणं यस्य रूपं दृष्ट्वा सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि भीत्या पलायन्ते स्वयं यतः कुतश्च न बिभेति। भीषाऽस्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः। भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः। तस्मादुच्यते भीषणमिति ॥14॥

देवों ने फिर पूछा—'तब उन्हें 'भीषणम्' विशेषण क्यों दिया गया है ?' ब्रह्माजी ने उत्तर दिया कि—इनके भयंकर रूप को देखकर सभी लोक, सभी देव और सभी प्राणी भय से भागने लगते हैं, पर वह स्वयं किसी से और कहीं से भयभीत नहीं होते। श्रुति कहती है कि इसके भय से ही वायु प्रवहनशील होता है, इन्हीं के भय से सूर्य उदित होता है। अग्नि और इन्द्र भी इन्हीं के भय से अपने-अपने काम जल्दी से (दौड़कर) करते हैं और पाँचवाँ मृत्यु भी इन्हीं के डर से दौड़ता रहता है। इसलिए 'भीषणम्' कहा गया है।

अथ कस्मादुच्यते भद्रमिति। यस्मात्स्वयं भद्रो भूत्वा सर्वदा भद्रं ददाति। रोचनो रोचमानः शोभनो शोभमानः कल्याणः। भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः। तस्मादुच्यते भद्रमिति ॥15॥

देवों ने पूछा—'तब उन्हें 'भद्रम्' क्यों कहा गया है ?' प्रजापति बोले कि—वह स्वयं भद्र (मंगल) रूप होकर दूसरों का मंगल करनेवाले हैं। वे स्वयं कान्तिमान हैं और दूसरों को कान्तिमान बनाने वाले भी हैं। स्वयं शोभन है और अन्यों को शोभायमान करनेवाले भी हैं। श्रुतिवचन है कि—'हम अपने कानों से सभी शुभ शब्दों को सुनें। हे देवो ! यज्ञ करनेवाले हम अपनी आँखों से शुभ वस्तुओं को देखें और अपने स्वस्थ शरीरों के द्वारा दैव द्वारा दी हुई आयु भोगें।' इसीलिए उन्हें 'भद्रम्' कहा गया है।

अथ कस्मादुच्यते मृत्युमृत्युमिति। यस्मात्स्वमहिम्ना स्वभक्तानां स्मृत एव मृत्युमपमृत्युं च मारयति। य आत्मदा बलदा यस्य विश्वं उपासते प्रशिषं यस्य देवाः। यस्य छायामृतं यो मृत्युमुत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम। तस्मादुच्यते मृत्युमृत्युमिति ॥16॥

देवों ने आगे पूछा—'उन्हें 'मृत्युमृत्युम्' ऐसा क्यों कहा गया है ?' ब्रह्माजी ने उत्तर दिया कि—अपनी महिमा से, वे अपने भक्तों के स्मरण करते ही उनकी मृत्यु वा अपमृत्यु को मार डालते हैं। श्रुति कहती है कि जो भक्तों को अपना दान (अपना स्वरूपदान) देते हैं और अपने से विमुखों को अपने सम्मुख लाने का बल देते है (अथवा जो भक्तों को आध्यात्मिक और भौतिक – दोनों शक्तियाँ देते हैं) जिनके आशीष के लिए सभी देव जिनकी उपासना करते हैं, उस मृत्यु के मृत्युरूप नृसिंह की छाया ही अमृत है, अर्थात् नृसिंह के साथ अमृत है (मोक्ष का अविनाभाव सम्बन्ध है)। ऐसे परमात्मा के प्रति हम आहुतियों से होम करते हैं। इस आधार पर उसे 'मृत्युमृत्युम्' कहा गया है।

अथ कस्मादुच्यते नमामीति। यस्माद्यं सर्वे देवा नमन्ति मुमुक्षवो ब्रह्म-वादिनश्च। प्र नूनं ब्रह्मणस्पतिर्मन्त्रं वदत्युक्थ्यम्। यस्मिन्निन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा देवा ओकांसि चक्रिरे। तस्मादुच्यते नमामीति ॥17॥

देवों ने पूछा—'तो 'नमामि' ऐसा क्यों कहा गया है ?' ब्रह्माजी ने उत्तर दिया—इसलिए कि इन्हें सभी देवलोग, ब्रह्मवादी और मुमुक्षु नमस्कार करते हैं। वेद का वचन है कि—वेदों के पालयिता ब्रह्माजी अवश्य ही उनकी स्तुति का उक्थ्यमन्त्र बोलते हैं कि जिसमें इन्द्र, वरुण, मित्र, अर्यमा और अन्य सभी देव अपना निवास करते हैं। (भावार्थ यह है कि ब्रह्माजी ऐसा स्तुतिमन्त्र बोलते हैं कि जिसमें इन्द्रादि देवों की स्तुतियों का स्वयं ही समावेश हो जाता है)। इसीलिए 'नमामि' ऐसा उनके लिए कहा गया है।

अथ कस्मादुच्यतेऽहममिति। अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाभिः। यो मा ददाति स इ देवभावाः। अहमन्नमन्नम-दन्तमद्मि। अहं विश्वं भुवनमभ्यभवां सुवर्णज्योतीः। य एवं वेदेति महोपनिषत् ॥18॥

इति द्वितीयोपनिषत्।

देवलोग पूछते हैं—'उन्हें 'अहम्' क्यों कहा गया है ?' ब्रह्माजी कहते हैं कि—वेद कहता है कि मैं इस सृष्टिरूपी शाश्वत यज्ञ से पहले उत्पन्न हुआ था। मैं अमृत का उत्पत्तिस्थान हूँ। मैं ही तो अन्न हूँ। मैं सभी ज्योतियों और शक्तियों को देने वाला हूँ। जो सत्पात्रों को दान करते हैं उससे सबका कल्याण होता है। पर जो स्वयं अकेले ही अन्न खाते हैं, उन्हें मैं खा जाता हूँ।' इस ज्ञान को जानने वाले ही सच्चे साधक हैं। यह महोपनिषत् है।

यहाँ दूसरी उपनिषत् पूरी हुई।

❋

तृतीयोपनिषत्

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्नानुष्टुभस्य मन्त्रराजस्य नारसिंहस्य शक्तिं बीजं नो ब्रूहि भगव इति ॥1॥

देवलोग प्रजापति ब्रह्माजी के पास गए और पूछने लगे कि—'हे भगवन्! इस अनुष्टुभ् छन्दवाले नृसिंह भगवान् के मन्त्रराज की शक्ति और उसके बीज के बारे में हमें बताइए'।

स होवाच प्रजापतिर्माया वा एषा नारसिंही सर्वमिदं सृजति सर्वमिदं रक्षति सर्वमिदं संहरति। तस्मान्मायामेतां शक्तिं विद्याद्य एतां मायां शक्तिं वेद स पाप्मानं तरति स मृत्युं तरति स संसारं तरति सोऽमृतत्वं च गच्छति महतीं श्रियमश्नुते ॥2॥

तब प्रजापति ने उन देवों से कहा कि यह जो नरसिह की माया है, वह सभी कुछ उत्पन्न करती है, सभी का रक्षण करती है और सभी का संहार करती है। इसलिए इस माया को उनकी शक्ति समझना चाहिए। इस माया को जो जानता है, वह पाप से मुक्त हो जाता है, मृत्यु को पार कर लेता है, वह इस संसार को तैर जाता है और अमृतत्व को प्राप्त करता है एवं सभी प्रकार की समृद्धि का उपभोग करता है।

मीमांसन्ते ब्रह्मवादिनो ह्रस्वा दीर्घा प्लुता चेति। यदि ह्रस्वा भवति सर्वं पाप्मानं दहत्यमृतत्वं च गच्छति यदि दीर्घा भवति महतीं श्रियमाप्नोत्यमृतत्वं च गच्छति यदि प्लुता भवति ज्ञानवान्भवत्यमृतत्वं च गच्छति ॥3॥

ब्रह्मवादी लोग विचार-विमर्श करते हैं कि यह नारसिंही माया ह्रस्व है या दीर्घ है या प्लुत है ? यदि ह्रस्व है तो वह पाप को जला देती है और इससे साधक को अमृतत्व की उपलब्धि होती है। यदि दीर्घ है तो साधक महान् ऐश्वर्य को भोगता है और अमृतत्व को प्राप्त करता है। अगर प्लुत है तो साधक ज्ञानवान् हो जाता है और अमृतत्व को प्राप्त करता है।

तदेतदृषिणोक्तं निदर्शनम्—स ई पाहि य ऋजीषी तरुत्रः श्रियं लक्ष्मीमौपलामम्बिकां गां षष्ठीं च यामिन्द्रसेनेत्युदाहुः। तां विद्यां ब्रह्मयोनिं सरूपामिहायुषे शरणं प्रपद्ये ॥4॥

इस विषय में ऋषि कहते हैं—'तुम नृसिंह स्वयं मायारहित होकर भी भक्तजनों का रक्षण करते हो। मैं तुम्हारी उस ईश्वरात्मक मायारूप शक्ति श्रीस्वरूपा, लक्ष्मीस्वरूपा, (श्रीमन्त्रानुगत धनधान्यरूपिणी तथा

लक्ष्मीमन्त्रानुगत हस्ति-अश्व-रथादि रूपिणी) एवं हिमालयपुत्री अम्बिका (भवानी), वाणीरूपिणी, उस ब्रह्मयोनिरूप विद्या और छठी जो इन्द्रसेना कही जाती है उसकी शरण में आया हूँ।

सर्वेषां वा एतद्भूतानामाकाशः परायणं सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव जायन्त आकाशादेव जातानि जीवन्त्याकाशं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तस्मादाकाशं बीजं विद्यात् ॥5॥

इन सभी भूतों का आकाश ही आश्रयीभूत है, ये सभी भूत आकाश से ही उत्पन्न होते हैं। आकाश से उत्पन्न होकर ही जीते हैं और अन्त में आकाश में ही विलीन हो जाते हैं। इसलिए आकाश ही को बीज समझना चाहिए।

तदेतदृषिणोक्तं निदर्शनम्—हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणासत्। नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं महत्। य एवं वेदेति महोपनिषत् ॥6॥

इति तृतीयोपनिषत्।

इसके बारे में ऋषि का यह कथन है कि यह जो प्रत्यगात्माभिन्न परमात्मारूप हंस है, वह शुचिसद् – हृदयादि पवित्र प्रदेशों में रहने वाला है, वसुरूप है, अन्तरिक्ष में रहने वाला है। वही होता और वही अतिथि है, वही पृथ्वीलोक में और वही उससे श्रेष्ठ स्वर्गलोक में भी है। सर्वश्रेष्ठ सत्यलोक में भी उन्हीं का निवास है। आकाश में भी वही रहते हैं। सबसे उत्तम परमतत्त्व के रूप में पृथ्वी, जल, पर्वत और सभी सत्कार्यों में वे ही आविर्भूत होते हैं। इस प्रकार ज़ान लेने से उपर्युक्त फल प्राप्त होता है। यही महोपनिषद् है।

यहाँ तृतीय उपनिषत् पूरी होती है।

चतुर्थोपनिषत्

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्नानुष्टुभस्य मन्त्रराजस्य नारसिंहस्याङ्गमन्त्रान्नो ब्रूहि भगव इति ॥1॥

देवलोग प्रजापति के पास गए और पूछने लगे कि हे भगवन्! इस आनुष्टुभ नारसिंह मन्त्रराज के अंगभूत मन्त्रों को बताइए।

स होवाच प्रजापतिः प्रणवं सावित्रीं यजुर्लक्ष्मीं नृसिंहगायत्रीमित्यङ्गानि जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति ॥2॥

तब प्रजापति ने कहा—प्रणव को, सावित्री को (ॐकार को और गायत्रीमन्त्र को), यजुर्लक्ष्मी को और नृसिंहगायत्री को इसके अंग जानना चाहिए। जो यह जानता है वह अमृतत्व को प्राप्त होता है।

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद् भविष्यदिति सर्वमोंकार एव यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात् ॥3॥

'ओम्' यह एक अक्षर (अविनाशी) ही सब कुछ है, उसी की महिमा से यह भूत, वर्तमान और भविष्य है। जो तीनों कालों से अतीत है वह भी तो ओंकार ही है। यह सब कुछ ब्रह्म है। यह आत्मा भी ब्रह्म ही है। ऐसा यह आत्मा चार पाद वाला है।

जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः ॥4॥

जागरित स्थान में रहने वाला, बाहर के दृश्य जगत् को विषय करने वाला, सात लोकरूपी सात अंगों वाला, उन्नीस मुखवाला (5 ज्ञानेन्द्रिय, 5 कर्मेन्द्रिय, 5 प्राण और 4 अन्तःकरण मिलाकर उन्नीस मुख) और भौतिक जगत् के भोगों को भोगने वाला जो है और यह विश्व जिसका शरीर है, ऐसा वैश्वानर नामधारी इसका प्रथम पाद है।

स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयः पादः ॥5॥

और जिसका निवासस्थान स्वप्न में है, जो सूक्ष्म जगत् को व्याप्त कर रहा है, जिसका ज्ञान आन्तरिक है अर्थात् जिसका ज्ञान सूक्ष्म जगत् को व्याप्त करता है, जिसके पूर्वोक्त प्रकार से ही सात अंग हैं (सात अंग—द्युलोक, वायु, आकाश, सूर्य, पृथ्वी, जल और आहवनीय अग्नि–भी लिए जा सकते हैं।) और जिसके पूर्वोक्त प्रकार से ही उन्नीस अंग हैं, जो सूक्ष्म जगत् के भोगों को भोगता और पालता है, वह तैजस (हिरण्यगर्भ) इस आत्मा का दूसरा पाद है।

यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति तत्सुप्तम्। सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः। एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् ॥6॥

जहाँ पर सोया हुआ पुरुष किसी प्रकार का स्वप्न नहीं देखता, वह सुषुप्तावस्था है। इस सुषुप्त स्थान में एकीभूत (प्रलयकाल में समष्टि चैतन्य भी सभी के साथ एकीभूत हो जाता है—यह यहाँ उपलक्षित है), सर्वांगपूर्ण विज्ञानस्वरूप, केवल आनन्दमय आनन्द को ही भोगनेवाला जो चिन्मय मुखवाला है, वह इस आत्मा का तीसरा पाद है। (आत्मा - ब्रह्म ही है और उसे यहाँ नृसिंह कहा गया है इसलिए नृसिंह भगवान का यह तृतीय पाद है, ऐसा कह सकते हैं)। यह ब्रह्मात्मा या ये परमात्मा नृसिंह सब कुछ जानने वाले हैं, सर्वान्तर्यामी हैं, जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय के कारण भी वही हैं।

नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञं नाप्रज्ञं न प्रज्ञानघन-मदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमैकात्म्यप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥7॥

जो स्थूलज्ञानरहित, जो सूक्ष्मज्ञानरहित, स्थूल-सूक्ष्म-उभयज्ञानरहित, ज्ञातृत्व और अज्ञातृत्व से विहीन, जो प्रज्ञान का घनीभूत रूप भी नहीं है, जो अदृश्य है, जो किसी की पकड़ के बाहर है, जो व्यवहार में नहीं लाया जा सकता, जो निराकार, अचिन्त्य, अनिर्वाच्य, जो आत्मसत्ता के रूप में ही अनुभूत हो सकता है, जो प्रपंचरहित है, शान्त है, मंगलकारी है, एक (अद्वितीय) है, वह इस आत्मरूप ब्रह्म का (नृसिंहरूप ब्रह्म का) चौथा पाद है, ऐसा ज्ञानी लोग मानते हैं। वही आत्मा है और वही जानने लायक है।

अथ सावित्री। गायत्र्या यजुषा प्रोक्ता तया सर्वमिदं व्याप्तं घृणिरिति द्वे अक्षरे सूर्य इति त्रीणि आदित्य इति त्रीणि एतद्वै सावित्र्यस्याष्टाक्षरं पदं श्रियाभिषिक्तं य एवं वेद श्रिया हैवाभिषिच्यते ॥8॥

अब सावित्रीमन्त्र के विषय में कहा जाता है—यह यजुर्वेद का मन्त्र है और गायत्री छन्द में निबद्ध है। इस मन्त्र में 'घृणि' ये दो अक्षर हैं, 'सूर्य' (सूरिय) ये तीन अक्षर हैं और 'आदित्य' ये तीन अक्षर हैं। इस मन्त्र से सबकुछ व्याप्त है। आठ अक्षरों वाला यह सावित्री मन्त्र श्री से विभूषित है (विभूतिमण्डित है)। यह जो जानता है वह विभूति से शोभित हो जाता है।

तदेतदृचाभ्युक्तम्—
ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधिविश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥ इति ॥9॥

यह बात ऋचा में भी कही गई है—सभी ऋचाएँ स्वयंप्रकाश शाश्वत ब्रह्मरूपी परमाकाश में ही प्रतिष्ठित हैं। सभी देवताएँ भी वहाँ निवास करती हैं। जो मनुष्य यह नहीं जानता उसे ऋचाओं के केवल पाठ से भला क्या लाभ हो सकता है ? (कुछ नहीं)। जो यह रहस्य जान लेते हैं वे आनन्दपूर्वक वहाँ (परमधाम में) प्रविष्ट हो जाते हैं।

न ह वा एतस्यर्चा न यजुषा न साम्नाऽर्थोऽस्ति यः सावित्रं वेदेति ॥10॥

जिसने इस सावित्रीमन्त्र को जान लिया है, उसे फिर ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती (अर्थात् इस सावित्रीमन्त्र में ही सब कुछ समाविष्ट है)।

ॐ भूर्लक्ष्मीर्भुवर्लक्ष्मीः स्वर्लक्ष्मीः कालकर्णी तन्नो महालक्ष्मीः प्रचोदयात् इत्येषा वै महालक्ष्मीर्यजुर्गायत्री चतुर्विंशत्यक्षरा भवति ॥11॥

जो भूलोक की लक्ष्मी, भुवः लोक की लक्ष्मी, स्वः लोक की लक्ष्मी, सर्वैश्वर्यमयी लक्ष्मी है, उसका नाम कालकर्णी है। ऐसी महालक्ष्मी हमको उत्तम कार्यों की ओर प्रेरित करे। यह यजुर्वेद में कही गई गायत्री महालक्ष्मी की गायत्री है, और इसमें चौबीस अक्षर होते हैं।

गायत्री वा इदं सर्वं यदिदं किंच तस्माद्य एतां महालक्ष्मीं 'याजुषीं' वेद महतीं श्रियमश्नुते ॥12॥

यह जो सब-कुछ है, वह गायत्री ही है। इसलिए जो मनुष्य इस महालक्ष्मी की यजुर्वेद कथित गायत्री को जानता है वह महान् ऐश्वर्य को भोगता है।

ॐ नृसिंहाय विद्महे। वज्रनखाय धीमहि। तन्नः सिंहः प्रचोदयात्। इत्येषा वै नृसिंहगायत्री देवानां वेदानां निदानं भवति य एवं वेद निदानवान्भवति ॥13॥

हम भगवान् नृसिंह को जानते हैं। वज्र जैसे नखवाले उस देव का हम ध्यान करते हैं। वह नृसिंह हमें प्रेरित करें। यह नृसिंह गायत्री है। यह देवों और वेदों का कारण (मूलस्रोत) है। जो यह जानता है वह उस मूलस्रोत को अर्थात् परमात्मा को ही प्राप्त कर लेता है।

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्नथ कैर्मन्त्रैः स्तुतो देवः प्रीतो भवति स्वात्मानं दर्शयति तन्नो ब्रूहि भगवन्निति ॥14॥

देवलोग प्रजापति ब्रह्माजी से पूछने लगे—'हे भगवन् ! किन-किन मन्त्रों के द्वारा स्तुति करने से ये देव (नृसिंह) प्रसन्न होते हैं और अपने स्वरूप को हमारे सामने प्रकट करते हैं, वह हमें बताइए'।

स होवाच प्रजापतिः ।
ॐ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्च ब्रह्मा भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः (1)
ॐ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्च विष्णुः '' '' '' (2)
ॐ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्च महेश्वरः '' '' '' (3)
ॐ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्च पुरुषः '' '' '' (4)
ॐ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्चेश्वरः '' '' '' (5)
ॐ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान्या सरस्वती '' '' '' (6)
ॐ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान्या श्रीः '' '' '' (7)
ॐ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान्या गौरी '' '' '' (8)
ॐ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान्या प्रकृतिः '' '' '' (9)
ॐ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान्या विद्या '' '' '' (10)
ॐ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्चोंकारः '' '' '' (11)
ॐ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान्याश्चतस्त्रोऽर्धमात्राः '' '' (12)
ॐ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान्ये वेदाः साङ्गा सशाखाः सेतिहासाः (13)
ॐ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान्ये च पंचाग्नयः '' '' '' (14)
ॐ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान्याः सप्त महाव्याहृतयः'' '' (15)
ॐ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान्ये चाष्टौ लोकपालाः '' '' (16)
ॐ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान्ये चाष्टौ वसवः'' '' '' (17)
ॐ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान्ये चैकादश रुद्राः '' '' (18)
ॐ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान्ये च द्वादशादित्याः '' '' (19)
ॐ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान्ये चाष्टौ ग्रहाः '' '' '' (20)
ॐ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान्यानि च पंच महाभूतानि '' (21)
ॐ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्च कालः '' '' '' (22)
ॐ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्च मनुः '' '' '' (23)
ॐ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्च मृत्युः '' '' '' (24)
ॐ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्च यमः '' '' '' (25)
ॐ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्चान्तकः '' '' '' (26)
ॐ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्च प्राणः '' '' '' (27)
ॐ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्च सूर्यः '' '' '' (28)
ॐ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्च सोमः '' '' '' (29)
ॐ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्च विराट् पुरुषः '' '' (30)
ॐ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्च जीवः '' '' '' (31)
ॐ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्च सर्वम् '' '' '' (32)
इति द्वात्रिंशत् इति तान्प्रजापतिरब्रवीदेतैर्मन्त्रैर्नित्यं देवं स्तुवध्वम् ॥15॥

यह सुनकर प्रजापति ने कहा—इस मन्त्रराज के हर एक मन्त्र में बत्तीस अक्षर हैं और हर एक मन्त्र में एक स्तुति है। इन्ही मन्त्रों से स्तुति करनी चाहिए।

[यहाँ ऊपर बत्तीस मन्त्र प्रजापति ने बताए हैं। नृसिंह भगवान् को अनुष्टुभ् का स्वरूप माना गया है। ये बत्तीस मन्त्र इसलिए हैं कि अनुष्टुभ् छंद के बत्तीस अक्षर होते हैं। और एक-एक अक्षर के लिए एक मन्त्र दिया गया है अर्थात् अनुष्टुभ् नृसिंहमय होने से उसका एक-एक अक्षर नृसिंह स्वरूप ही है। और ऐसा करके उनकी बत्तीसों शक्तिधाराओं के साथ तादात्म्य प्राप्त करना इसका हेतु है।]

ततो देवः प्रीतो भवति स्वात्मानं दर्शयति। तस्माद्य एतैर्मन्त्रैर्नित्यं देवं स्तौति स देवं पश्यति। सोऽमृतत्वं च गच्छति य एवं वेदेति महोपनिषत् ॥16॥

इति चतुर्थोपनिषत्।

ऐसा करने से देव (नृसिंह भगवान्) प्रसन्न होते हैं और अपना स्वरूप प्रकट करते हैं। इसलिए जो मनुष्य इन (बत्तीस) मन्त्रों द्वारा हमेशा उन देव की स्तुति करता है वह उनका साक्षात्कार करता है और अमृतत्व को प्राप्त करता है, ऐसा जो जानता है वह भी अमृतत्व को प्राप्त होता है। ऐसी यह महोपनिषत् है।

यहाँ पर चतुर्थ उपनिषत् पूरी हुई।

❈

पञ्चमोपनिषत्

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्नानुष्टुभस्य मन्त्रराजस्य नारसिंहस्य महाचक्रं नाम चक्रं नो ब्रूहि भगव इति सार्वकामिकं मोक्षद्वारं यद्योगिन उपदिशन्ति ॥1॥

एक समय देवताओं ने प्रजापति से प्रश्न किया—हे भगवन्! अनुष्टुप् में निबद्ध नारसिंह मन्त्रराज जो 'महाचक्र' नाम से कहा जाता है, उसके बारे में हमें कहिए। वह महाचक्र सभी कामनाओं को पूरा करने वाला है और योगी लोग उसे मोक्ष का द्वार बताते हैं।

स होवाच प्रजापतिः षडक्षरं वा एतत्सुदर्शनं महाचक्रं तस्मात्षडरं भवति। षट् पत्रं चक्रं भवति। षड्वा ऋतवः। ऋतुभिः सम्मितं भवति। मध्ये नाभिर्भवति। नाभ्यां वा एते अराः प्रतिष्ठिता मायया एतत्सर्वं वेष्टितं भवति। नात्मानं माया स्पृशति तस्मान्मायया बहिर्वेष्टितं भवति ॥2॥

तब ब्रह्माजी बोले—यह सुदर्शन नाम का महाचक्र छः अक्षरों वाला होने से छः अरों वाला है। छः पत्रों वाला चक्र होता है। अथवा जो छः ऋतुएँ हैं, वे अरों के समान हैं। इसके मध्य में नाभि है और उस नाभि में ये अरे प्रतिष्ठित हुए हैं। मायारूपी नेमि से यह सब घिरा हुआ रहता है। माया आत्मा का स्पर्श नहीं करती। माया की चेष्टा बाहर की ही होती है।

अथाष्टाक्षरमष्टपत्रं चक्रं भवत्यष्टाक्षरा हि गायत्री। गायत्र्या सम्मितं भवति। बहिर्माययया वेष्टितं भवति। क्षेत्रं क्षेत्रं वै मायैषा सम्पद्यते ॥3॥

इसके बाद आठ अक्षर वाला अष्टदलीय चक्र भी हो सकता है क्योंकि गायत्री के प्रत्येक चरण में आठ अक्षर होते हैं, अत: क्योंकि आठ अरों की समानता गायत्री के आठ अक्षरों से होती है। इसको भी माया ने बाहर से घेर रखा है। माया तो प्रत्येक क्षेत्र में व्याप्त ही होती है।

अथ द्वादशारं द्वादशपत्रं चक्रं भवति। द्वादशाक्षरा वै जगती। जगत्या सम्मितं भवति बहिर्माययया वेष्टितं भवति ॥4॥

फिर बारह अरों वाला द्वादशदलीय चक्र बनता है। जगती छन्द बारह अक्षरों वाला है अत: जगती के साथ इसका इस तरह साम्य माना जाता है। यह चक्र भी बाहर से ही माया से आवेष्टित होता है।

अथ षोडशारं षोडशपत्रं चक्रं भवति। षोडशकलो वै पुरुषः। पुरुष एवेदं सर्वं पुरुषेण सम्मितं भवति। मायया बहिर्वेष्टितं भवति ॥5॥

फिर सोलह अरों वाला षोडशदलीय चक्र भी बनता है। वह पुरुष सोलह कलाओं वाला है। यह सब कुछ वह पुरुष ही है। पुरुष के सोलह कला वाला होने से इस षोडशदलीय चक्र के साथ उसका तादात्म्य बैठता है। यह चक्र भी बाहर से माया द्वारा वेष्टित होता है।

अथ द्वात्रिंशदरं द्वात्रिंशत्पत्रं चक्रं भवति। द्वात्रिंशदक्षरा वा अनुष्टुब्भ-वत्यनुष्टुभा सर्वमिदं भवति। मायया बहिर्वेष्टितं भवति ॥6॥

और भी बत्तीस अरों वाला बत्तीस दलों वाला भी चक्र होता है। क्योंकि अनुष्टुप् बत्तीस अक्षरों वाला छन्द है। अनुष्टुभ् से ही सब कुछ उत्पन्न होता है। यह भी माया के द्वारा बाहर से ही आवेष्टित है।

अरैर्वा एतत्सुबद्धं भवति। वेदा वा एते अराः। पत्रैर्वा एतत्सर्वतः परिक्रामति। छन्दांसि वा पत्राणि ॥7॥

यह चक्र अरों से अच्छी तरह बँधा हुआ रहता है। वेद ही इस चक्र के अरे हैं, छन्दरूपी पत्तों के द्वारा यह चारों ओर घूमता रहता है। छन्द ही इसके पत्ते हैं।

एतत्सुदर्शनं महाचक्रं तस्य मध्ये नाभ्यां तारकं यदक्षरं नारसिंहमेकाक्षरं तद् भवति। षट्सु पत्रेषु षडक्षरं सुदर्शनं भवत्यष्टसु पत्रेष्वष्टाक्षरं नारायणं भवति। द्वादशसु पत्रेषु द्वादशाक्षरं वासुदेवं भवति। षोडशसु पत्रेषु मातृकाद्याः सबिन्दुकाः षोडश स्वरा भवन्ति। द्वात्रिंशत्सु पत्रेषु द्वात्रिंश-दक्षरं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं भवति। तद्वा एतत्सुदर्शनं नाम चक्रं महाचक्रं सर्वकामिकं मोक्षद्वारमृङ्मयं यजुर्मयं साममयं ब्रह्ममयममृतमयं भवति। तस्य पुरस्ताद्वसव आसते। रुद्रा दक्षिणत आदित्याः पश्चाद् विश्वेदेवा उत्तरतो महाविष्णुमहेश्वरा नाभ्यां सूर्याचन्द्रमसौ पार्श्वयोः ॥8॥

यह (बत्तीस दलों वाला) सुदर्शन महाचक्र है। इसके मध्य में नाभि में जो नारसिंह तारक है, वह एकाक्षर कहा जाता है। अर्थात् वहाँ एकाक्षरी तारक मन्त्र 'ॐ' का न्यास (स्थापन) करना चाहिए। षड्दलीय में छ: अक्षर वाले सुदर्शन मन्त्र का न्यास (स्थापन) करना चाहिए। ('सहस्रार हुँ फट्'— यह षडक्षर मन्त्र है)। अष्टदलीय में अष्टाक्षरी नारायण मन्त्र का और बारह दल वाले में द्वादशाक्षरी

वासुदेव मन्त्र का न्यास (स्थापन) करना चाहिए। (अष्टाक्षरी मन्त्र है 'ॐ नमो नारायणाय' और द्वादशाक्षरी मन्त्र है, 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय')। सोलह दलों में प्रारंभ के बिन्दु सहित सोलह अक्षरों की स्थापना करनी चाहिए, और बत्तीस दलों में बत्तीस अक्षरवाले मन्त्रराज नारसिंह, जो कि अनुष्टुभ् में निबद्ध है, उसकी स्थापना करनी चाहिए। यह सुदर्शचक्र नाम का महाचक्र सर्वकामनाओं को पूर्ण करने वाला, मोक्ष का द्वाररूप, ऋग्वेदमय, यजुर्वेदमय, सामवेदमय, ब्रह्ममय और अमृतमय है। इसके आगे आठ वसु बैठते हैं, दक्षिण की ओर ग्यारह रुद्र बैठते हैं, पीछे बारह आदित्य बैठते हैं, उत्तर की ओर विश्वदेवा, नाभि में ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर तथा पार्श्वभागों में सूर्य, चन्द्र अवस्थित हैं।

तदेतदृचाभ्युक्तम्—
ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधिविश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासत। इति ॥9॥

एक ऋचा यह भी कहती है कि परमाकाशस्वरूप भगवान् नृसिंह, जो कि अक्षर (अच्युत) हैं, उन्हीं में सभी वेद उपस्थित हैं, सभी देव भी तो उन्हीं में स्थित हैं। जो उन भगवान् को और उनके चक्र को नहीं जानता, वह वेदों को पढ़-पढ़कर भला क्या करेगा ? जो इसे (नृसिंह को) और उनके चक्र को जानते हैं, वे परमगति को प्राप्त करते हैं।

तदेतत्सुदर्शनं महाचक्रं बालो वा युवा वा वेद स महान्भवति। स गुरुः सर्वेषां मन्त्राणामुपदेष्टा भवत्यनुष्टुभा होमं कुर्यादनुष्टुभार्चनं कुर्यात्तदेतद्रक्षोघ्नं मृत्युतारकं गुरुणा लब्धं कण्ठे बाहौ शिखायां वा बध्नीत। सप्तद्वीपवती भूमिर्दक्षिणार्थं नावकल्पते तस्माच्छ्रद्धया या कांचिद् गां दद्यात्सा दक्षिणा भवति ॥10॥

इस सुदर्शन नाम के महाचक्र को जो कोई बालक या युवा जानता है, तो वह महान् हो जाता है। वह सभी मन्त्रों का गुरु और उपदेशक होता है। इस अनुष्टुभ् मन्त्र से होम करना चाहिए, इस अनुष्टुभ् मन्त्र की पूजा करनी चाहिए। यह राक्षसों को मारने वाला है और मृत्यु से पार ले जाने वाला है। गुरु के द्वारा ही प्राप्त इस सुदर्शन महाचक्र को कण्ठ में, हाथ में, या शिखा में बाँधना चाहिए। इस मन्त्र के मूल्य (दक्षिणा) में सप्त द्वीपवाली यह भूमि भी पर्याप्त नहीं हो सकती (कम होती है)। इसलिए इस मन्त्र के बदले में श्रद्धा से थोड़ी-सी भी दान में दी गई भूमि दक्षिणा होगी।

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्नानुष्टुभस्य मन्त्रराजस्य नारसिंहस्य फलं नो ब्रूहि भगव इति ॥11॥

देवताओं ने प्रजापति से पूछा—हे भगवन्। इस नारसिंह मन्त्रराज, जो अनुष्टुभ् में निबद्ध है इसका फल हमें बताइए।

स होवाच प्रजापतिर्य एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं नित्यमधीते सोऽग्निपूतो भवति स वायुपूतो भवति स आदित्यपूतो भवति स सोमपूतो भवति स सत्यपूतो भवति स ब्रह्मपूतो भवति स विष्णुपूतो भवति स रुद्रपूतो भवति स देवपूतो भवति। स सर्वपूतो भवति स सर्वपूतो भवति ॥12॥

प्रजापति ने कहा—जो मनुष्य इस नारसिंह आनुष्टुभ् मन्त्रराज को सर्वदा पढ़ता है वह अग्नि जैसा

पवित्र, वायु जैसा पवित्र, आदित्य जैसा पवित्र हो जाता है। वह सोम जैसा पवित्र, वह सत्य जैसा पवित्र हो जाता है, वह ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र जैसा पवित्र होता है, वह देवों की तरह पवित्र हो जाता हैं वह इन सबकी तरह पवित्र हो जाता है। [यहाँ 'जैसा' शब्द के स्थान पर 'के द्वारा' शब्द रखकर भी अनुवाद पढ़ा जा सकता है।]

य एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं नित्यमधीते स मृत्युं तरति स पाप्मानं तरति स ब्रह्महत्यां तरति स भ्रूणहत्यां तरति स वीरहत्यां तरति स सर्वहत्यां तरति स संसारं तरति स सर्वं तरति स सर्वं तरति ॥13॥

जो इस नारसिंह आनुष्टुभ् मन्त्रराज का हमेशा पाठ करता है वह मृत्यु को पार कर जाता है, वह पापों को पार कर लेता है, वह ब्रह्महत्या को पार कर लेता है, वह भ्रूणहत्या को पार कर लेता है, वह वीरहत्या को पार कर लेता है। वह सर्वहत्या से भी बच जाता है। वह संसार को पार कर लेता है। वह सबको तैर जाता है, वह सबको तैर जाता है।

य एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं नित्यमधीते सोऽग्निं स्तम्भयति स वायुं स्तम्भयति स आदित्यं स्तम्भयति स सोमं स्तम्भयति स उदकं स्तम्भयति स सर्वान्देवान्स्तम्भयति स सर्वान्ग्रहांस्तम्भयति स विषं स्तम्भयति स विषं स्तम्भयति ॥14॥

जो मनुष्य इस नारसिंह आनुष्टुभ् मन्त्रराज का नित्य पाठ करता है, वह अग्नि को स्थिर कर सकता है, वह वायु को रोक सकता है, वह सूर्य को स्थगित कर सकता है, वह सोम को अवरुद्ध कर सकता है, वह पानी के प्रवाह को रोक सकता है, वह सभी देवों को रोक सकता है, वह सभी ग्रहों को रोक सकता है, वह जहर को भी रोक सकता है, जहर को भी रोक सकता है।

य एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं नित्यमधीते स देवानाकर्षयति स यक्षानाकर्षयति स नागानाकर्षयति स ग्रहानाकर्षयति स मनुष्यानाकर्षयति स सर्वानाकर्षयति स सर्वानाकर्षयति ॥15॥

जो मनुष्य इस नारसिंह आनुष्टुभ् मन्त्रराज का सदैव पाठ करता है, वह देवों को आकर्षित करता है, वह यक्षों को आकर्षित करता है, वह नागों को आकर्षित करता है, वह ग्रहों को आकर्षित करता है, वह मनुष्यों को आकर्षित करता है, वह सबको आकर्षित करता है वह सबको ही आकर्षित कर लेता है।

य एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं नित्यमधीते स भूर्लोकं जयति स भुवर्लोकं जयति स स्वर्लोकं जयति स महर्लोकं जयति स जनोलोकं जयति स तपोलोकं जयति स सत्यलोकं जयति स सर्वांल्लोकाञ्जयति स सर्वांल्लोकाञ्जयति ॥16॥

जो कोई भी इस नारसिंह आनुष्टुभ् मन्त्रराज का नित्य ही पाठ करता है वह भूर्लोक को जीतता है, वह भुवर्लोक को जीतता है, वह स्वर्लोक को जीतता है, वह महर्लोक को जीतता है, वह जनलोक को जीतता है, वह तपोलोक को भी जीतता है, वह सत्यलोक को भी जीतता है, वह सभी लोकों को जीत लेता है, वह सभी लोकों को जीत लेता है।

स एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं नित्यमधीते सोऽग्निष्टोमेन यजते स उक्थ्येन यजते स षोडशिना यजते स वाजपेयेन यजते सोऽतिरात्रेण

यजते सोऽप्तोर्यामेण यजते सोऽश्वमेधेन यजते स सर्वैः क्रतुभिर्यजते स सर्वैः क्रतुभिर्यजते ॥17॥

जो कोई भी इस नारसिंह आनुष्टुभ् मन्त्रराज का प्रतिदिन पाठ करता है वह अग्निष्टोम से होम करता है, वह उक्थ्ययाग, षोडशीयाग, वाजपेयीयाग, अत्रिरात्रयाग, अप्तोर्योमयाग, अश्वमेधयाग करता है, वह सभी याग करता है, सभी याग वह करता है। अर्थात् सभी यज्ञों का फल उसे इस मन्त्रराज के पाठ से मिल ही जाता है।

य एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं नित्यमधीते स ऋचोऽधीते स यजूंष्यधीते स सामान्यधीते सोऽथर्वणमधीते सोऽङ्गिरसमधीते स शाखा अधीते स पुराणान्यधीते स कल्पानधीते स गाथामधीते स नाराशंसीरधीते स प्रणवमधीते स यः प्रणवमधीते स सर्वमधीते स सर्वमधीते ॥18॥

जो इस नारसिंह आनुष्टुभ् मन्त्रराज का प्रतिदिन पाठ करता है वह ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, आंगिरस, वेदों की सभी शाखाओं के स्वाध्याय का फल प्राप्त करता है वह पुराणों के, कल्पों के, गाथाओं के, नारायणी और प्रणव के स्वाध्याय फल प्राप्त करता है। अर्थात् इस मन्त्रराज के नियमित पाठ से वह सभी का अध्ययन कर लेता है।

अनुपनीतशतमेकमेकेनोपनीतेन तत्सममुपवीतशतमेकमेकेन गृहस्थेन तत्समं गृहस्थशतमेकमेकेन वानप्रस्थेन तत्समं वानप्रस्थशतमेकमेकेन यतिना तत्समं यतीनां तु शतं पूर्णमेकमेकेन रुद्रजापकेन तत्समं रुद्रजापकशतमेकमेकेनाथर्वशिरःशिखाध्यापकेन तत्सममथर्वशिरःशाखाध्यापकशतमेकमेकेन तापनीयोपनिषदध्यापकेन तत्समं तापनीयोपनिषदध्यापकशतमेकमेकेन मन्त्रराजाध्यापकेन तत्समम् ॥19॥

सौ उपवीत विहीन के बराबर एक उपवीती होता है, सौ उपवीतियों के तुल्य एक गृहस्थ होता है, सौ गृहस्थों के समान एक वानप्रस्थी होता है, सौ वानप्रस्थियों के समान एक यति होता है, सौ यतियों के समान एक रुद्रजापक होता है, सौ रुद्रजापकों के समान एक अथर्वशिरःशाखा का अध्यापक होता है, सौ अथर्वशिरःशाखाध्यापकों के तुल्य एक तापनीयोपनिषद् का अध्यापक होता है और सौ तापनीयोपनिषद् के अध्यापकों के समान एक इस मन्त्रराज का अध्यापक होता है। अर्थात् मन्त्रराजाध्यापक की महिमा सबसे बढ़ी-चढ़ी है।

तद्वा एतत्परमं धाम मन्त्रराजाध्यापकस्य यत्र न सूर्यस्तपति यत्र न वायुर्वाति यत्र न चन्द्रमा भाति यत्र न नक्षत्राणि भान्ति यत्र नाग्निर्दहति यत्र न मृत्युः प्रविशति यत्र न दुःखं सदानन्दं परमानन्दं शान्तं शाश्वतं सदाशिवं ब्रह्मादिवन्दितं योगिध्येयं परमं पदं यत्र गत्वा न निवर्तन्ते योगिनः ॥20॥

उस मन्त्रराज का अध्यापक (साधक) उस धाम को प्राप्त होता है जहाँ सूर्य नहीं तपता, वायु निर्वहण नहीं करता, चन्द्रमा नहीं प्रकाशित होता, नक्षत्र नहीं चमकते, अग्नि नहीं जलती, मृत्यु वहाँ आ नहीं सकती, वहाँ दुःख नहीं होता। सदानन्द, परमानन्द, शान्त, शाश्वत, सदाशिव ब्रह्मादि के द्वारा वन्दित, योगियों के ध्येय वह परमपद है, जहाँ जाकर योगि लोग फिर से यहाँ मर्त्यलोक में नहीं आते।

तदेतदृचाभ्युक्तम्—

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः । दिवीव चक्षुराततम् । तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते । विष्णोर्यत्परमं पदम् । तदेतन्निष्कामस्य भवति । तदेतन्निष्कामस्य भवति य एवं वेदेति महोपनिषत् ॥21॥

इति पञ्चमोपनिषत् ।

इति नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषत्समाप्ता ।

ऋचा कहती है—ज्ञानीलोग विष्णु के उस परमपद को सदैव देखते हैं, मानो आकाश में फैलाये गए नेत्र जैसा है । जागरूक विद्वान् स्तोतागण उस परमपद को प्रकाशित करते हैं । जो ऐसा जानता है, ऐसे निष्कामी को यह दिव्य पद प्राप्त होता है । यह महोपनिषत् है ।

यहाँ पाँचवीं उपनिषत् पूरी हुई है और नृसिंहपूर्वतापनी भी पूर्ण हुई ।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः.........देवहितं यदायुः । (पूर्ववत्)

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(28) नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

परम्परा से अथर्ववेद से सम्बद्ध मानी गई इस उपनिषद् के नव खण्ड हैं। इसमें शुरू में माण्डूक्योपनिषद् की तरह की ॐकार और उसकी चार मात्राएँ तथा आत्मा के वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ और साक्षी—इन चार पादों का वर्णन आता है। बाद में आत्मा के साक्षी स्वरूप का प्रतिपादन है। आत्मा चक्षु आदि इन्द्रियों तथा मन, बुद्धि, अहंकारादि और प्राणों का केवल द्रष्टा ही है, साक्षी ही है, वह अविकारी है, चैतन्यस्वरूप, आनन्दमय, स्वयंप्रकाश, एकरस, अजर-अमर और अभय है। काष्ठ को जलाने के बाद जैसे अग्नि शान्त हो जाती है, ठीक उसी प्रकार वाणी और मन के विषय दूर हो जाने पर चित्स्वरूप में वही शेष रहता है। नृसिंह के मन्त्र द्वारा जो मनुष्य जाग्रदादि अवस्थात्रयरहित आत्मा को जान लेता है, वह सदा उज्ज्वल, अज्ञानरहित, बन्धनरहित, द्वैतरहित, आनन्दरूप और मोहशून्य हो जाता है। यह सारा जगत् आत्ममय ही है क्योंकि इसमें ईश्वर व्याप्त होकर रहता है। इस व्यापक नृसिंहरूप ईश्वर को जानने वाला आत्माराम निष्कामकर्मी ब्रह्मरूप हो जाता है। आत्मा ब्रह्मरूप, सच्चिदानन्द, पूर्ण, अद्वैत, शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धहीन, प्राण-मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार से परे, असंग, निर्गुण एवं स्वयंप्रकाश है।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः..........देवहितं यदायुः। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (अथर्वशिर उपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

प्रथमः खण्डः

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन् अणोरणीयांसमिममात्मानमोंकारं नो व्याचक्ष्वेति ॥1॥

देवलोग प्रजापति से एक बार कहने लगे—अणु से भी अणु इस आत्मा के स्वरूप ओंकार के विषय में हमें आप बताइए।

तथेत्योमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद् भविष्यदिति सर्वमोंकार एव। यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म ॥2॥

प्रजापति ने 'अच्छा' ऐसा कहकर बताया कि यह सब जो कुछ है वह 'ओम्' यह एक अक्षर रूप ही है। इसका विवरण यह है कि जो भूतकाल में था, वर्त्तमान में होता है और भविष्य में होगा, वह सब ओंकार ही है। इतना ही नहीं, इन तीन कालों से जो परे है, वह भी ओंकार ही है। यह सब कुछ ब्रह्म ही है। यह आत्मा ब्रह्म ही है।

तमेतमात्मानमोमिति ब्रह्मणैकीकृत्य ब्रह्म चात्मनमोमित्येकीकृत्य तदेकमजरममृतमभयमोमित्यनुभूय तस्मिन्निदं सर्वं त्रिशरीरमारोप्य तन्मयं हि तदेवेति संहरेदोमिति ॥3॥

इस आत्मा को 'ओम्' अक्षर के द्वारा ब्रह्म के साथ तादात्म्य करके तथा ब्रह्म को आत्मा के साथ एकीभाव करके उस एक को ही अजर, अमर, अमृत, अभय को, ओम् के द्वारा अनुभूति में लाकर उसी ब्रह्मात्मैक्य में तीनों शरीरों को—त्रिगुणात्मक, अवस्थात्रयात्मक, आधिभौतिकादि तापत्रयात्मक, स्थूलादि तीनों शरीरों को अथवा विश्वादि तीनों जीवों को—अर्थात् त्रित्ववाली सभी वस्तुओं का आरोपण करके वह तद्रूप ही है और ये तीनों शरीर, अवस्था, गुण आदि मिथ्या है, ऐसा अनुसन्धान करना चाहिए। (यहाँ अध्यारोप और अपवाद की बात कही गई है)।

तं वा एतं त्रिशरीरमात्मानं त्रिशरीरं परं ब्रह्मानुसन्दध्यात्। स्थूलत्वात्स्थूल-भुक्त्वाच्च सूक्ष्मत्वात्सूक्ष्मभुक्त्वाच्चैक्यादानन्दभोगाच्च ॥4॥
सोऽयमात्मा चतुष्पात् ॥5॥

उसी तीन शरीरवाले माने गए आत्मा को तीन शरीरवाले ब्रह्म के रूप में ही, जहाँ तक उन दोनों के ऐक्य की अनुभूति हो जाए, तब तक ध्यान करना चाहिए। ब्रह्म का इन तीन शरीरों के अधिकरण रूप में चिन्तन करना चाहिए। स्वयं स्थूल होकर स्थूल पदार्थों का भोग करने से तथा वही स्वयं सूक्ष्म होकर सूक्ष्म वस्तुओं का भोग करने से दोनों की एकता समान ही दीखती है अर्थात् जाग्रदभिमानी स्थूल आत्मा स्थूल भोगों को भोगता है और स्वप्नाभिमानी सूक्ष्म आत्मा सूक्ष्म भोग भोगता है, उन दोनों की एकता दीखती ही है। जैसे ये अवस्थाएँ व्यष्टिचैतन्य की हैं वैसे ही समष्टिचैतन्य की भी हैं। जैसे विश्व-विराट् का अर्थात् तैजस-सूत्रात्मा का ऐक्य ही है, उसी प्रकार प्राज्ञ-ईश्वर का भी ऐक्य है। आनन्द भोग भी दोनों के समान हैं। यह आत्मा चार पाद वाला है।

जागरितस्थानः स्थूलप्रज्ञः सप्ताङ्गः एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुक् चतुरात्मा विश्वो वैश्वानरः प्रथमः पादः ॥6॥

जाग्रत् अवस्था में रहने वाला, स्थूल (बाह्य) ज्ञान को जानने वाला, सात लोकरूप अंगों वाला (अथवा स्वर्ग, सूर्य, आकाश, पृथ्वी, जल, वायु और आहवनीय अग्निरूप सात अंगों वाला), उन्नीस मुखवाला (5 ज्ञानेन्द्रिय + 5 कर्मेन्द्रिय + 5 प्राण + 4 अन्तःकरण = 19); यह उस चार पाद वाले आत्मा का प्रथम पाद है, वह समष्टि में वैश्वानर और व्यष्टि में विश्व कहा जाता है।

स्वप्नस्थानः सूक्ष्मप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः सूक्ष्मभुक् चतुरात्मा तैजसो हिरण्यगर्भः द्वितीयः पादः ॥7॥

स्वप्नावस्था में रहने वाला, सूक्ष्म (अन्तः) ज्ञान को जानने वाला, सात लोकरूप अंगों वाला (पूर्वोक्त प्रकार से सात अंग हैं), पूर्वोक्त प्रकार से ही उन्नीस मुखवाला यह पाद, उस चारपाद वाले आत्मा का दूसरा पाद है। वह व्यष्टि में तैजस और समष्टि में हिरण्यगर्भ कहा जाता है।

यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम्। सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतो-मुखश्चतुरात्मा प्राज्ञ ईश्वरस्तृतीयः पादः ॥8॥

जहाँ पर सोया हुआ मनुष्य किसी भी वस्तु की कामना नहीं करता, जहाँ पर वह किसी स्वप्न को भी नहीं देखता वह सुषुप्तावस्था है। उस सुषुप्तस्थान में एकीभूत होकर रहने वाला, पूर्ण विज्ञानरूप, आनन्दमय और आनन्द को भोगने वाला और जो चिन्मय प्रकाशयुक्त मुखवाला है वह चारपादों वाले आत्मा का चौथा पाद है, जिसे व्यष्टि की दृष्टि से 'प्राज्ञ' और समष्टि की दृष्टि से 'ईश्वर' कहते हैं।

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् ॥9॥

यह सर्वेश्वर है, यही सर्वज्ञ है, यह अन्तर्यामी है, यही सभी का जन्मस्थान है। भूतों का जन्म और नाश भी इसी से होता है।

त्रयमप्येतत्सुषुप्तं स्वप्नं मायामात्रं चिदेकरसो ह्ययमात्मा ॥10॥

ये तीनों अवस्थाएँ तो सुषुप्त की—आवरणात्मक मायाशक्ति या सुषुप्त जैसी मिथ्या-माया की विक्षेपशक्ति रूप ही है (मिथ्या ही है)। यह आत्मा तो चिन्मात्र एक स्वरूपवाला ही है।

अथ तुरीयश्चतुरात्मा तुरीयावसितत्वादेकैकस्योतानुज्ञात्रनुज्ञाविकल्पै-स्त्रयमप्यत्रापि सुषुप्तं स्वप्नं मायामात्रं चिदैकरसो ह्ययमात्मा ॥11॥

अब उन तीनों अवस्थाओं के बाद, अविद्वानों का अगम्य यह तुरीय स्थान चतुष्पाद आत्मा का चौथा पाद है। क्योंकि अवस्थाओं की और अवस्थाओं के अभिमानी आत्माओं की एक-एक करके गणना करने से अन्तिम छोर या पर्यवसान इस तुरीय में ही होता है—अर्थात् तुर्य के आगे कोई अवस्था ही नहीं होती। तुर्य जगदादि अपवादों का अधिकरण है, अतः उन अपवादों में तुर्य का समावेश नहीं होता। इसलिए व्यष्टि-समष्टि के विभाग पहली तीन अवस्थाओं के ही हैं, तुरीय के नहीं। तुरीय का कोई अधिकरण नहीं, वह तीनों अवस्थाओं का अधिकरण है। यह बात ओता, अनुज्ञाता और अनुज्ञा से जानी जाती है। तुरीय के साथ विश्व (या विराट्) को अनुस्यूत होना 'ओत' है। तुरीय के साथ तैजस (या सूत्रात्मा) को भीतर जानना यह 'ज्ञातृ' – अनुज्ञाता है। और तुरीय – प्राज्ञ बीज का ऐक्यात्मरूप से चिदेकदृष्टि होना 'अनुज्ञा' है। उन ओता, अनुज्ञाता और अनुज्ञान के विकल्पों से यह आत्मा का चौथा पाद निराला ही है। इससे तुरीय के अतिरिक्त वे तीनों अवस्थाएँ स्वप्न की तरह मिथ्या और मायामय हैं और वे चिन्मय रूप ही होती हैं। वह अविकल्प की चौथी अवस्था तुर्य की है, यह अविकल्पा-विकल्प है।

अथायमादेशो न स्थूलप्रज्ञं न सूक्ष्मप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं सप्रज्ञं नाप्रज्ञं न प्रज्ञानघनमदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्ययमव्यपदेश्यमै-कात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शिवं शान्तमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेय ईश्वरग्रासस्तुरीयस्तुरीयः ॥12॥

इति प्रथमः खण्डः

अब यह उपदेश है कि जो स्थूल (बाहर के) ज्ञानवाला भी नहीं और सूक्ष्म (भीतर के) ज्ञानवाला भी नहीं, जो दोनों के ज्ञान वाला नहीं है, वह जानने वाला भी नहीं है, सघन जानने वाला भी नहीं,

जो देखा नहीं जाता, जिसके साथ कोई व्यवहार नहीं किया जा सकता, जो अग्राह्य है, जिसका कोई लक्षण नहीं है, जो अचिन्त्य है, अव्यय है, अनिर्वाच्य है, एकात्मानुभूतिरूप तत्त्वसार है, संसारोपशामक है, मंगलकारी, शान्त, अद्वैत को ही चौथा माना जाता है। वही आत्मा है, वही जानने लायक है, यही ईश्वररूपी ग्रासरूप चतुर्थ आत्मा जानना चाहिए। ज्ञानी लोगों के लिए निर्गुण ब्रह्म एकमात्र तत्त्व होने से ईश्वर और जगत् का भी (तुर्य में) ग्रास हो जाता है।

यहाँ प्रथम खण्ड पूरा हुआ।

❋

द्वितीयः खण्डः

तं वा एतमात्मानं जाग्रत्यस्वप्नमसुषुप्तं स्वप्नेऽजाग्रतमसुषुप्तं सुषुप्तेऽजाग्रतमस्वप्नं तुरीयेऽजाग्रतमस्वप्नमसुषुप्तमव्यभिचारिणं नित्यानन्दं सदेकरसं ह्येव ॥1॥

ऐसे उस तुर्य को जाग्रत् अवस्था में स्वप्न और सुषुप्ति से रहित, स्वप्न में जाग्रत् तथा सुषुप्ति से रहित, एवं सुषुप्ति में जाग्रत् तथा स्वप्न से रहित तथा तुरीय अवस्था में तो जाग्रत् से रहित, स्वप्न से रहित तथा सुषुप्ति से भी रहित—इन तीनों अवस्थाओं से रहित और तीनों अवस्थाओं में अव्यभिचरित रूप से रहे हुए नित्यानन्दरूप पूर्णत: सत् स्वरूप ही इस आत्मा को जाना जाता है।

चक्षुषो द्रष्टा श्रोत्रस्य द्रष्टा वाचो द्रष्टा मनसो द्रष्टा बुद्धेर्द्रष्टा प्राणस्य द्रष्टा तमसो द्रष्टा सर्वस्य द्रष्टा ततः सर्वस्मादन्यो विलक्षणः ॥2॥

वह तुर्य चक्षु का द्रष्टा है, श्रोत्र का द्रष्टा है, वाणी का द्रष्टा है, मन का द्रष्टा है, बुद्धि का भी द्रष्टा है, प्राण का भी द्रष्टा है, हमारे तमस् (अज्ञान) का भी द्रष्टा है इसलिए वह सबसे विलक्षण (भिन्न) ही है, क्योंकि जो जिसका द्रष्टा होता है, वह उससे हमेशा अलग ही हुआ करता है।

चक्षुषः साक्षी श्रोत्रस्य साक्षी वाचः साक्षी मनसः साक्षी बुद्धेः साक्षी प्राणस्य साक्षी तमसः साक्षी सर्वस्य साक्षी ततोऽविक्रियो महाचैतन्योऽस्मात्सर्वस्मात् प्रियतम आनन्दघनं ह्येवमस्मात् सर्वस्मात्पुरतः सुविभातमेकरसमेवाजरममृतमभयं ब्रह्मैव ॥3॥
अप्यजयैनं चतुष्पादं मात्राभिरोंकारेण चैकी कुर्यात् ॥4॥

यह तुर्य चक्षु का साक्षी, श्रोत्र का साक्षी, वाणी का साक्षी, मन का साक्षी, बुद्धि का साक्षी, प्राण का साक्षी, हमारे तमस् (अज्ञान) का भी साक्षी है। इसलिए यह विकाररहित—विकार के लिए अयोग है। (साक्षी का अर्थ दो विवाद करते हुए मनुष्यों के बीच निष्पक्षपाती और अपने किसी भी सम्बन्ध से रहित मनुष्य को कहा जाता है। इसलिए वह देखने वाला होने पर भी सर्वविलक्षणता से अविक्रिय है)। उदय और अस्त से रहित महाचैतन्यरूप है। इसी से वह सबसे ज्यादा प्रिय है, इसीलिए पूर्णत: आनन्दरूप है। इसलिए सामने ही दीखने वाला प्रकाशित, एकरस, अजर, अमर, अभय ब्रह्म ही यह तुर्य है। इस मुक्तात्मा चतुष्पाद अध्यात्म और अधिदैव को अजया = अपनी अविद्या के द्वारा भी - शास्त्रोक्त बुद्धि से - चार मात्रादि के साथ एकीकृत किया जा सकता है। (यह बाद में कहा जाएगा)।

जागरितस्थानश्चतुरात्मा विश्वो वैश्वानरश्चतूरूपोऽकार एव चतूरूपो

ह्ययमकारः। स्थूलसूक्ष्मबीजसाक्षिभिरकाररूपैराप्तेरादिमत्त्वाद्वा स्थूलत्वात्सूक्ष्मत्वाद् बीजत्वात् साक्षित्वाच्च। आप्नोति ह वा इदं सर्वमादिश्च भवति य एवं वेद ॥5॥

चार प्रकार की अवस्था वाला यह आत्मा जाग्रत् अवस्था में व्यष्टि में विश्व और समष्टि में वैश्वानर कहलाता है। चार रूपवाला यह आत्मा ही चार रूपवाला 'अंकार है (उदात्त, अनुदात्त, स्वरित और ज्ञान—ये चार अकार के रूप हैं; अकार के चार रूप—ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत और नाम भी हैं)। स्थूल, सूक्ष्म, बीज और साक्षी—इन रूपों के साथ अकार के रूपों का तादात्म्य होता है क्योंकि ये अवस्थाएँ स्थूल, सूक्ष्म, बीज और साक्षिभाव वाली हैं। जो इस प्रकार अकार के चार रूपों के साथ आत्मा के चार रूपों के तादात्म्य को जानता है, वह सब कुछ प्राप्त कर सकता है और जगत् का प्रथम पुरुष हो जाता है। कुछ लोग आत्मा के चार रूपों में तीनों अवस्थाएँ एक अवस्था में लेने की बजाय एक जाग्रत् अवस्था के ही चार भेद करते हैं; यथा—1. जाग्रत्-जाग्रत, 2. जाग्रत्स्वप्न, 3. जाग्रत्सुषुप्ति और 4. जाग्रत्साक्षी। इसी प्रकार तीनों अवस्थाओं के चार-चार विभाग कर देते हैं।

स्वप्नस्थानश्चतुरात्मा तैजसो हिरण्यगर्भश्चतूरूप उकार एव चतूरूपो ह्ययमुकारः स्थूलसूक्ष्मबीजसाक्षिभिरुकाररूपैरुत्कर्षादुभयत्वाद्वा स्थूलत्वात्सूक्ष्मत्वाद्बीजत्वात्साक्षित्वाच्च। उत्कर्षति ह वै ज्ञानसन्ततिं समानश्च भवति य एवं वेद ॥6॥

जाग्रत्स्थानीय की तरह ही चार रूपों वाला यह स्वप्नस्थानीय आत्मा व्यष्टि रूप में तैजस और समष्टिरूप में हिरण्यगर्भ कहलाता है। उसी प्रकार ओंकार की दूसरी मात्रा 'उ'कार भी चार रूप वाला ही है। ये चार रूप स्थूल, सूक्ष्म, बीज और साक्षी हैं। वह या तो उत्कर्ष (आधिक्य) या तो उभय (द्वितीय) होने से 'उ'कार कहा जाता है। वह स्थूलत्व, सूक्ष्मत्व, बीजत्व और साक्षित्व चार प्रकार का है (अर्थात् स्वप्नजाग्रत्, स्वप्नस्वप्न, स्वप्नसुषुप्ति और स्वप्नसाक्षी)। अतएव जो इस प्रकार उकार का तादात्म्य जानता है, वह ज्ञानपरंपरा को प्राप्त करके ईश्वरतुल्य होता है।

सुषुप्तस्थानश्चतुरात्मा प्राज्ञ ईश्वरश्चतूरूपो मकार एव चतूरूपो ह्ययं मकारः स्थूलसूक्ष्मबीजसाक्षिभिर्मकाररूपैर्मितेरपीतेर्वा स्थूलत्वात्सूक्ष्मत्वाद् बीजत्वात्साक्षित्वाच्च। मिनोति ह वा इदं सर्वमपीतश्च भवति य एवं वेद ॥7॥

पूर्व दोनों अवस्थाओं की तरह ही चाररूप वाला स्वप्नस्थानीय यह आत्मा व्यष्टि की दृष्टि से प्राज्ञ और समष्टि की दृष्टि से ईश्वर कहलाता है। उस आत्मा की तरह तीसरी मात्रा 'म'कार भी स्थूल, सूक्ष्म, बीज और साक्षीरूप से चार प्रकार का है। यह ईश्वर - प्राज्ञ सबका मापन करने से अथवा जाग्रत् और स्वप्न को अपने में लय करने से यह 'म'कार कहा गया है। वह भी स्थूलत्व, सूक्ष्मत्व, बीजत्व और साक्षित्व से आत्मा से तादात्म्य करता है। (सुषुप्तजागरण, सुषुप्तस्वप्न, सुषुप्तसुषुप्त और सुषुप्तसाक्षी—ये चार प्रकार हैं)। जो इस तादात्म्य को जानता है, वह सबको नाप सकता है और सर्व को अपने में समा सकता है।

मात्राऽमात्राः प्रतिमात्राः कुर्यात्। अथ तुरीय ईश्वरग्रासः। स स्वराट् स्वयमीश्वरः स्वप्रकाशश्चतुरात्मोतानुज्ञात्रनुज्ञा विकल्पैः। ओतो ह्यय-

मात्मा ह्यथैवेदं सर्वमन्तकाले कालाग्निः सूर्योस्त्रैः । अनुज्ञातो ह्ययमात्मा ह्यस्य सर्वस्य स्वात्मानं ददातीदं सर्वं स्वात्मानमेव करोति यथा तमः सविता । अनुज्ञैकरसो ह्ययमात्मा । चिद्रूप एव यथा दाह्यं दग्ध्वाऽग्निः ॥8॥

'अ', 'उ' और 'म' की मात्राओं को और अर्धमात्रा को—प्रत्येक को इस प्रकार प्लुतादि विशिष्ट (पूर्वोक्त रीति से) करना चाहिए अर्थात् चार-चार प्रकारों में बाँटना चाहिए। इस प्रकार करते-करते मात्राएँ अमात्राएँ हो जाएँगी, तुर्य तुर्य में मिल जाएँगी। उन तीनों अवस्थाओं से भिन्न जो ईश्वर को भी ग्रस लेता है, वह अवस्थात्रयातीत विलक्षण तुरीय है। वही साधनान्तरानपेक्षी स्वराट् है, वही नियन्ता है, वह स्वप्रकाशित है। वह भी चारों अवस्थाओं में अनुस्यूत है, और ओता, अनुज्ञाता, अनुज्ञा और अविकल्प—इन चारों से युक्त होता है। यह आत्मा 'ओता' - व्यापक है, क्योंकि वह सबके अधिकरण रूप में है। जैसे अन्तकाल में कालाग्नि सूर्य की प्रखर किरणों से सबको अपने में समा लेता है, उसी तरह इस आत्मा में सब कुछ समा जाता है (यह आत्मा तुर्यजाग्रदाधार है)। यह आत्मा अनुज्ञाता इसलिए है कि यह तुर्य के साथ तैजस - सूत्रात्मा के ऐक्य को जानता है (अनुजानाति)। वह अपने आपको सबमें देता है और सबको अपने में ले लेता है। जैसे सूर्य अन्धकार को अपने में समा लेता है और अन्धकार को स्वयं का दान करता है (यह तुर्यस्वप्नाधार आत्मा है)। यह आत्मा अनुज्ञा इसलिए है कि यह ऐक्य की अनुज्ञा देता है। बाद में अखण्डैकरस चिद्रूप सर्वावस्था का (विकल्पों का) अपह्नव करके अवस्थित रहता है। जैसे काष्ठ आदि दाह्य पदार्थों को जला देने के बाद स्वयं निर्विकल्प हो जाता है, वैसे ही यह आत्मा स्वात्मबोध से अपने से भिन्न सब जड़ को हटने की अनुज्ञा देकर सुषुप्तावस्था में एकरस होकर रहता है (यह तुर्यसुषुप्ताधार आत्मा है)।

अविकल्पो ह्ययमात्माऽवाङ्मनोऽगोचरत्वाच्चिद्रूपश्चतूरूप ॐकार एव ह्ययं चतूरूपो ह्ययमोंकार ओतानुज्ञात्रानुज्ञाऽविकल्पैरोकाररूपैः । आत्मैव नामरूपात्मकं हीदं सर्वं तुरीयत्वाच्चिद्रूपत्वाच्च ओतत्वाद् अनुज्ञातृत्वाद् अनुज्ञात्वाद् अविकल्परूपत्वाच्च । अविकल्परूपं हीदं सर्वं नात्र काचन भिदाऽस्ति नैव तत्र काचन भिदाऽस्ति ॥9॥

पूर्वमन्त्रोक्त सुषुप्त - तुर्य से भी परे यह विकल्परहित तुर्यतुर्य आत्मा है, जो वाणी और मन से भी अगोचर होने से केवल चिद्रूप ही है। वह अविकल्पाविकल्प है। यह चार रूप वाला—**अ**कार, **उ**कार, **म**कार, और **अर्ध**मात्रा से अभिन्न क्रमशः—ओता, अनुज्ञाता, अनुज्ञा और अविकल्प से युक्त है। इस प्रकार चार रूप वाला यह ॐकार है। यह जो कुछ नामरूप वाला दिखाई देता है वह सब यही आत्मा है, क्योंकि यही तुरीय है, चिद्रूप है, व्यापक (ओत) है, यही अनुज्ञाता (जानने वाला) है, यही ज्ञान है और यही इन सब विकल्पों से परे भी है। यहाँ किसी प्रकार का भी भेद नहीं है, कोई भी भेद नहीं है।

अथ अस्यायमादेशोऽमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः, प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैतः । एवमोंकार आत्मैव । संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद ॥10॥

इस तुर्य प्रदेश में प्रवेश करने के बाद, वह तुर्यतुर्य—अविकल्पाविकल्प उपदेश करने योग्य न होने पर भी वेद उसका उपदेश करते हैं, कि वह अमात्र है, तीनों अवस्थाओं से परे वह चतुर्थ है, वह अव्यवहार्य है, जगत् का उपशम (आधार) है, मंगलमय है, अद्वैत है। इस प्रकार यह ओंकार आत्मा ही है। जो इस प्रकार का ज्ञान रखता है, वह इस आत्मा में प्रवेश कर पाता है।

एष वीरो नारसिंहेन अनुष्टुभा मन्त्रराजेन तुरीयं विद्यादेष ह्यात्मानं प्रकाशयति सर्वसंहारसमर्थः परिभवासहः प्रभुर्व्याप्तः सदोज्ज्वलोऽविद्यातत्कार्यहीनः स्वात्मबन्धहरः सर्वदा द्वैतरहित आनन्दरूपः सर्वाधिष्ठानसन्मात्रो निरस्ताविद्यातमोमोहोऽहमेवेति। तस्मादेवमेवेनमात्मानं परं ब्रह्मानुसन्दध्यादेष वीरो नृसिंह इति ॥11॥

इति द्वितीयः खण्डः

उपासकों में कोई ही वीर ऐसा होता है कि जो इस अनुष्टुप् छन्द में निबद्ध नारसिंह मन्त्रराज के द्वारा उस तुरीय पद को प्राप्त कर लेता है। यह मन्त्र आत्मा के सही स्वरूप को प्रकाशित करने वाला है, यह मन्त्र सर्व पापों और अज्ञान का संहार करने में समर्थ है। यह अपने पराभव को सहन नहीं कर सकता। यह समर्थ है, सर्वत्र फैला हुआ है, सदा जगमगाता है, अविद्या और उसके कार्य का नाश करने वाला है, अपने बन्धनों को दूर करने वाला है, हमेशा अद्वैतरूप (द्वैतरहित) ही है, आनन्दरूप है, सबका एकमात्र सद् अधिष्ठानरूप है, अविद्या - अज्ञानरूपी अन्धकार और मोह से निरस्त, ऐसा तुरीय मैं ही हूँ। इसलिए इस आत्मा को परब्रह्म के साथ जोड़ना चाहिए। इसीलिए वह वीर उपासक नृसिंह (ब्रह्म) ही है।

यहाँ पर द्वितीय खण्ड पूरा हुआ।

तृतीयः खण्डः

तस्य ह वै प्रणवस्य या पूर्वा मात्रा सा प्रथमः पादो भवति। द्वितीया द्वितीयस्य तृतीया तृतीयस्य चतुर्थ्योतानुज्ञात्रनुज्ञाऽविकल्परूपा तया तुरीयं चतुरात्मानमन्विष्य चतुर्थपादेन च तया तुरीयेणानुचिन्तयन् ग्रसेत् ॥1॥

उस पूर्ववर्णित प्रणव की अकारसंज्ञक जो पूर्वमात्रा है, वह इस प्रणव और मन्त्रराज का प्रथम चरण है। इसी प्रकार उसकी उकार संज्ञक जो द्वितीय मात्रा है, वह प्रणव और इस मन्त्रराज का दूसरा पाद (चरण) है। और मकारसंज्ञक जो तीसरी मात्रा है, वह प्रणव और मन्त्रराज का तीसरा चरण है। और जो चतुर्थ अर्धमात्रा है वह ओता, अनुज्ञाता, अनुज्ञा और अविकल्प रूप है। इस चतुर्थ मात्रा से तुरीय को (चौथे आत्मा को) खोजकर उस चौथी मात्रा के साथ चतुर्थ पाद को जोड़कर—उनसे अभेद का चिन्तन करके उन भेदों को ग्रसित कर देना चाहिए अर्थात् मिटा देना चाहिए।

तस्य ह वा एतस्य प्रणवस्य या पूर्वा मात्रा पृथिव्यकारः स ऋग्भिर्ऋग्वेदो ब्रह्मा वसवो गायत्री गार्हपत्यः सः प्रथमः पादो भवति। भवति च सर्वेषु पादेषु चतुरात्मा स्थूलसूक्ष्मबीजसाक्षिभिः ॥2॥

इस प्रणव की जो पूर्व मात्रा (प्रथम मात्रा) है, वह पृथ्वी है। अक्षर अकार है। ऋचाओं से पुष्ट ऋग्वेद इसका वेद है। ब्रह्मा इसके देवता हैं। आठ वसु इसके देवगण हैं। गायत्री इसका छन्द है। गार्हपत्य इसका अग्नि है। सभी पादों की तरह ही यह पाद भी स्थूलत्व, सूक्ष्मत्व, बीजत्व और साक्षित्व भेद से चार प्रकार का अर्थात् चार स्वरूपवाला होता है।

द्वितीयाऽन्तरिक्षं स उकारः स यजुर्भिर्यजुर्वेदो विष्णूरुद्रास्त्रिष्टुब्द-क्षिणाग्निः सा द्वितीयः। पादो भवति। भवति च सर्वेषु पादेषु चतुरात्मा स्थूलसूक्ष्मबीजसाक्षिभिः ॥3॥

इस प्रणव और मन्त्रराज की दूसरी मात्रा अन्तरिक्ष है। उसका अक्षर 'उ'कार है। यजुष् मन्त्रों से पुष्ट यजुर्वेद इसका वेद है। विष्णु इसके देवता हैं। ग्यारह रुद्र इसके देवगण हैं। अनुष्टुभ् छन्द है। और दक्षिणाग्नि अग्नि है। यह पाद भी स्थूल, सूक्ष्म, बीज और साक्षीरूप से चार रूप वाला है।

तृतीया द्यौः स मकारः स सामभिः सामवेदो रुद्र आदित्या जगत्याहव-नीयः सा तृतीयः पादो भवति। भवति च सर्वेषु पादेषु चतुरात्मा स्थूल-सूक्ष्मबी:जसाक्षिभिः ॥4॥

इस प्रणव और मन्त्रराज की तीसरी मात्रा द्युलोक है। इसका अक्षर 'म'कार है, सामों से पुष्ट सामवेद इसका वेद है, रुद्र इसके देवता हैं, बारह आदित्य इसके देवगण हैं, जगती इसका छन्द है और आहवनीय इसका अग्नि है। यह इस प्रणव और मन्त्रराज का तीसरा पाद है। यह भी अन्य पादों की तरह ही स्थूल, सूक्ष्म, बीज और साक्षी रूप से चार रूपवाला होता है।

याऽवसानेऽस्य चतुर्थ्यर्धमात्रा सा सोमलोक ॐकारः साऽऽथर्वणैर्मन्त्रै-रथर्ववेदः। संवर्तकोऽग्निर्मरुतोऽग्निर्षिराडेकर्षिर्भास्वती स्मृता सा चतुर्थः पादो भवति। भवति स सर्वेषु पादेषु चतुरात्मा स्थूलसूक्ष्मबीज-साक्षिभिः ॥5॥

उन तीनों मात्राओं के पूर्ण होने पर यह जो चौथी अर्धमात्रा है, वह उमा (विद्या) सहित ईश्वर का लोक है। वह ओंकार है। अथर्वमन्त्रों से पुष्ट अथर्ववेद इसका वेद है। संवर्तक अग्नि इसकी देवता है। (उनचास) वायु इसके देवगण हैं। दशाक्षरी विराट् इसका छन्द है। एकर्षि इसका अग्नि है। विद्वान् लोग इस मात्रा को भास्वती नाम देते हैं। यही इस प्रणव और मन्त्रराज का चतुर्थ पाद है। यह भी अन्य सभी पादों की तरह स्थूल, सूक्ष्म, बीज और साक्षी के रूप से चार रूपवाला होता है।

मात्राऽमात्राः प्रतिमात्राः कृत्वोतानुज्ञात्रनुज्ञाऽविकल्परूपं चिन्तयन् ग्रसेत् ॥6॥

मात्राओं और अमात्रा (अर्धमात्रा) को प्रतिमात्र करके—अर्थात् इस चौथी अर्धमात्रा में भी तीन मात्राओं के अनुसार ही चारों मात्राओं में अमात्रा करके, ओत, अनुज्ञाता, अनुज्ञ और अविकल्प रूप का चिन्तन करना चाहिए और उत्तरोत्तर को ग्रसित करते हुए अन्त में एकमात्र निर्विशेष ब्रह्म जो तुर्यतुर्य है, उसी में इस सबका उपसंहरण कर देना चाहिए। यही मात्राओं का अमात्रीकरण है।

ज्ञोऽमृतो हृत्संवित्कः शुद्धः संविष्टो निर्विघ्न इममसुनियमेऽनुभूयेहेदं सर्वं दृष्ट्वा स प्रपञ्चहीनः ॥7॥

अथ सकलः साधारोऽमृतमयश्चतुरात्मा ॥8॥

इस प्रकार उपसंहरण करने वाला मनुष्य ज्ञानी होता है, अमृत होता है, वह अपने आत्मारूप अग्नि में ध्यातृ-ध्येयादि संवित् का होम किया होता है, वह निश्चल आसनवाला होता है, निर्विघ्न हो जाता है। प्राणादि का नियमन करके इस सच्चिदानन्द का अनुभव करके भले ही वह सबको देख रहा

हो, फ़िर भी वह तो प्रपंच (संसार) से हीन ही रहता है। अथवा वह नृसिंहमन्त्रराज प्रणव के पाद, मात्रा, मात्राओं के अवान्तर भेद आदि को देखता हुआ भी तुर्यतुर्य से अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, ऐसा जानकर प्रपंचरहित ही रहता है। अब यह संपूर्ण और आधारसहित प्रणव और मन्त्रराज अमृतमय ही है। अर्थात् ऊपर जो इसके भेद या प्रकार आदि बताए गए हैं, वे सब मिलकर यह एक अमृतमय है। न कोई वास्तव में अवस्थाभेद है, न कोई वास्तव में विश्वविराडादि भेद है।

अथ महापीठे सपरिवारं तमेतं चतुःसप्तात्मानं चतुरात्मानं मूलाग्नावग्निरूपं प्रणवं सन्दध्यात्। सप्तात्मानं चतुरात्मानमकारं ब्रह्माणं नाभौ, सप्तात्मानं चतुरात्मानमुकारं विष्णुं हृदये सप्तात्मानं चतुरात्मानं मकारं रुद्रं भ्रूमध्ये सप्तात्मानं चतुरात्मानं चतुःसप्तात्मानं चतुरात्मानमोंकारं सर्वेश्वरं द्वादशान्ते सप्तात्मानं चतुरात्मानं चतुःसप्तात्मानं चतुरात्मानमानन्दामृतरूपं षोडशान्ते ॥9॥

अब गुरु-प्रसाद के बाद सुषुम्नान्तर्गत महापीठ में भक्तों रूप परिवार के साथ अथवा उस पीठ पर अंग आदि बत्तीस व्यूहान्तर्गत परिवार के साथ उस सकल, साधार, अमृतमय, सर्वमय—इन चार लक्षणों से युक्त इस पूर्वोक्त प्रकार से कुल अट्ठाईस रूपवाले और स्थूल, सूक्ष्म, बीज और अविकल्प रूप—चार प्रकार के आत्मा को मूलाधारस्थित त्रिकोण में प्रतिष्ठित अग्नि में प्रणवात्मक नृसिंहरूप का अनुसन्धान करना चाहिए। [आत्मा के अट्ठाईस रूप ये हैं—प्रत्येक पाद (चारों पादों) में अक्षर, लोक, वेद, देव, देवगण, छन्द और अग्नि—ये सात-सात अलग अलग हैं अत: $4 \times 7 = 28$ होते हैं।] इस प्रकार प्रणव के आद्यक्षर अकार रूप सप्तात्मा और चतुरात्मा रूप जगत्स्रष्टा ब्रह्मा का नाभि में अनुसन्धान करना चाहिए; और सप्तात्मा और चतुरात्मा रूप प्रणव के द्वितीय अक्षर उकार के स्वरूप विष्णु का हृदय में अनुसन्धान करना चाहिए; और उसी सप्तात्मा और चतुरात्मा के स्वरूप रुद्र का भ्रूमध्य भाग में अनुसन्धान करना चाहिए। सोमलोक से एकर्षिपर्यन्त जो चतुर्थपाद का ध्यान कहा गया है, ऐसे सप्तात्मा, चतुरात्मा और चतु:सप्तात्मा रूप सर्वेश्वर ओंकार का 'द्वादशान्त' में अनुसन्धान करना चाहिए। 'द्वादशान्त' का अर्थ चिबुक से लेकर बाल के अग्रभाग तक—मस्तक के अन्त तक होता है। अकार, उकार, मकार, बिन्दु, नाद, कला, कलातीतात्मक, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुर्य, तुर्यतुर्य—ये बारह द्वादशान्त कहे गये हैं। सहस्रदल में इन सबके सहित तथा अक्षर, लोक, वेद, देव, देवगण, छन्द और अग्नि—इन सात रूपोंवाले तथा ओता, अनुज्ञाता, अनुज्ञ और अविकल्प रूप चार स्वरूपवाले पूर्वोक्त रूप से अट्ठाईस भेदवाले इस आत्मा का भूमण्डल से ऊर्ध्व आए हुए षोडशांगुल परिमित देश में अनुसन्धान करना चाहिए।

अथानन्दामृतेनैतांश्चतुर्धा सम्पूज्य ब्रह्माणमेव विष्णुमेव रुद्रमेव विभक्तांस्त्रीनेवाविभक्तान् लिङ्गरूपानेव सम्पूज्योपहारैश्चतुर्धा लिङ्गान् संहृत्य तेजसा शरीरत्रयं संव्याप्य तदधिष्ठानमात्मानं संज्वाल्य तत्तेज आत्मचैतन्यरूपं बलमवष्टभ्यं गुणैरैक्यं सम्पाद्य महास्थूलं महासूक्ष्मे महासूक्ष्मं महाकारणे च संहृत्य मात्राभिरोतानुज्ञात्रनुज्ञाऽविकल्परूपं चिन्तयन् ग्रसेत् ॥10॥

इति तृतीयः खण्डः।

अब इन अकार, उकार, मकार और तुर्य को ज्ञानरूप अमृत से चार प्रकार से पूजित करके अर्थात् ओता, अनुज्ञाता, अनुज्ञ और अविकल्प—इन चार प्रकारों से भावनामयी पूजा करके, ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र—इन तीनों को, जो कि विभक्त जैसे दिखाई दे रहे हैं पर वास्तव में एक ही हैं—उन तीनों को आधिदैविक रूप से भिन्न किन्तु आध्यात्मिक रूप से अभिन्न—इस लिंग से (इस चिह्न से), समीप में स्थित स्थूल, सूक्ष्म, बीज और साक्षीभाव रूप उपहारों से भावनामय पूजा करके उन चारों चिह्नों को बाद में समेटकर अपनी आत्मा के साथ उसका अनुसन्धान करना चाहिए। इस प्रकार स्थिरता प्राप्त करने के बाद उन भेदरूप लिंगों को आत्मा में उपसंहृत करके भौतिक प्रपंच भेद की तरह आध्यात्मिक प्रपंच (भेद) का आत्मा में ही मूलाधार से निकले हुए तेज से उपसंहार कर देना चाहिए। इस उपसंहरण मे्ं तीनों शरीर समाविष्ट हैं। इसके अतिरिक्त इन शरीरों में कल्पित अधिष्ठेयों को भी जला देने के लिए आत्मा को प्रज्वलित कर देना चाहिए। और फिर वह तेज आत्मचैतन्य रूप बल को लिए हुए गुणों के साथ ऐक्य सम्पादन करके महास्थूल को महासूक्ष्म में और महासूक्ष्म को महाकारण में उपसंहृत करके ओता, अनुज्ञाता, अनुज्ञ और अविकल्प रूप मात्राओं को सोचता हुआ उनका भक्षण कर जाता है अर्थात् उन्हें मिटा देता है।

यहाँ तृतीय खण्ड पूरा हुआ।

❋

चतुर्थः खण्डः

तं वा एतमात्मानं परमं ब्रह्मोंकारं तुरीयोंकाराग्रविद्योतमनुष्टुभा नत्वा प्रसाद्योमिति संहृत्याहमित्यनुसन्दध्यात् ॥1॥

उस प्रणवार्थोक्त परमात्मा को, परम-निरतिशय ब्रह्म को, उस तुरीय ओंकार को (अर्धमात्ररूप तुरीय ओंकार को) और उनसे भी परे (अग्रे) रहने वाले तुर्यतुर्य रूप (मात्रा कलनादिरहित रूप से विशेष प्रकाशित) को अनुष्टुभ् में निबद्ध मन्त्रराज से नमन करके, स्तुतिद्वारा उसे (नरसिंह को) प्रसन्न करके बाद में जो-जो दीखता है वह ओंकार के परे (अग्रे) विद्योतित तुर्यतुर्य है, ऐसा निश्चय करके वह मैं हूँ, ऐसा अनुसन्धान करना चाहिए।

अथैतमेवात्मानं परमं ब्रह्मोंकारं तुरीयोंकाराग्रविद्योतमेकादशात्मानं नारसिंहं नत्वोमिति संहरन्ननुसन्दध्यात् ॥2॥

इस अनुसन्धान के बाद इसी आत्मा को, परम को, उसी पूर्वोक्त ब्रह्मरूप ओंकार को भी अतिक्रान्त किए हुए विद्योतित तुर्यतुर्य को 'उग्र' शब्द से लेकर 'अहम्' पर्यन्त के मन्त्र से एकादश आत्मरूप नारसिंह को नमन करके पूर्व की ही तरह (दो पदों से) नमन करके 'ओम्' शब्द से उत्पन्न अनुसंधान (ज्ञान) का भी उपसंहरण कर देना चाहिए। ओम् की शब्दवृत्ति का प्रत्यय भी छोड़ना चाहिए।

अथैतमेवात्मानं परमं ब्रह्मोंकारं तुरीयोंकाराग्रविद्योतं प्रणवेन संचिन्त्यानुष्टुभा नत्वा सच्चिदानन्दपूर्णात्मसु नवात्मकं सच्चिदानन्दपूर्णात्मकं परमात्मानं परं ब्रह्म सम्भाव्याहमित्यात्मानमादाय मनसा ब्रह्मणैकीकुर्याद्यदनुष्टुभैव वा ॥3॥

फिर भी इसी आत्मा को, परम को, पूर्वोक्त ब्रह्मरूप ओंकार को भी लाँघकर अवस्थित उस विद्योतित तुर्यतुर्य को प्रणव से चिन्तन करके पूर्वोक्त रीति से ही अनुष्टुभ् मन्त्र से नमन करना चाहिए।

वह नमन इस प्रकार है—उस अनुष्टुभ् में दिए गए नव विशेषणों से युक्त जो सच्चिदानन्दपूर्णात्म रूप है, उनमें सच्चिदानन्दपूर्णात्मरूप परमात्मा परब्रह्म की संभावना करके कि वह परमात्मा मैं हूँ, इस प्रकार मन से आत्मा का एकीकरण करना चाहिए [अनुष्टुभ् में तो कुल ग्यारह पद दिए हैं, उनमें से 'उग्र' पद से लेकर 'मृत्यु' पद तक नव पद होते हैं, वहाँ तक बोलकर फिर 'नमाम्यहम्' इन दो पदों से नमन करना चाहिए। इस एकीकरण को उस अनुष्टुभ् के द्वारा ही करना चाहिए।]

एष उ एव नृ, एष हि सर्वत्र सर्वदा सर्वात्मा नृ, सिंहोऽसौ परमेश्वरः असौ हि सर्वत्र सर्वदा सर्वात्मा सन् सर्वमत्ति, नृसिंह एवैकल एष तुरीय एष एवोग्र एष एव वीर एष एव महानेष एव विष्णुरेष एव ज्वलन्नेष एव सर्वतोमुख एष एव नृसिंह एष एव भीषण एष एव भद्र एष एव मृत्युमृत्युरेष एव नमाम्येष एवाहं एवं योगारूढो ब्रह्मण्येवानुष्टुभं सन्दध्यादोंकार इति ॥4॥

यह मन्त्रराज ब्रह्मात्मैक्य का हेतु इसलिए है कि वही वह नवपदलक्ष्य नर है, यही सर्वदा सर्वत्र सर्वात्मा है, वही परमात्मा सर्वदा सर्वत्र सर्वात्मा सिंह है और ऐसा होकर सबका भक्षण करता है। वह अकेला (अद्वितीय) एक ही है, यही तुरीय है, यही उग्र है, यही वीर है, यही महान् है, यही विष्णु है, यही देदीप्यमान तेज है, वही सर्वतोमुख है, वही नृसिंह है, वही भीषण है, वही भद्र है, वही मृत्यु-मृत्यु है, 'नमामि' भी तो वही है, (प्रत्यगात्मा के साथ अभिन्न होने से) वही मैं हूँ। इस प्रकार प्रत्यगात्मा और परात्मा के ऐक्य योग में आरूढ मनुष्य को इस अनुष्टुभ् छन्द वाले मन्त्रराज का ब्रह्म के साथ अनुसन्धान करना चाहिए।

तदेतौ श्लोकौ भवतः—
संस्तभ्य सिंहं स्वसुतान्गुणार्थान् संयोज्य शृङ्गैर्ऋषभस्य हत्वा।
वश्यां स्फुरन्तीमसतीं निपीड्य सम्भक्ष्य सिंहेन स एष वीरः ॥5॥
शृङ्गप्रोतान् पदा स्पृष्ट्वा हत्वा तामग्रसत् स्वयम्।
नत्वा च बहुधा दृष्ट्वा नृसिंहः स्वयमुद्बभौ ॥6॥

इति चतुर्थः खण्डः।

इसके विषय में ये दो श्लोक हैं—मैं तो सिंह को ब्रह्ममात्र रूप में जानकर अपने अन्तःकरण वृत्त्यादिरूप स्रुवों से जो कि सत्त्वादि या शब्दादि गुणों के अर्थ रूप हैं, उनको श्रेष्ठ प्रणव और मन्त्रराज रूप ऋषभ के सींगों से जोड़कर और उनमें से ब्रह्मातिरिक्तबुद्धि को मार कर बाद में अपनी अविद्या रूप कुटिल दूतिका को, जो कि प्रतिक्षण व्यभिचारिणी और सर्वानर्थकारिणी बुद्धिवृत्तिरूप युवती है, उस स्फुरन्ती (अपनी ही श्लाघा करने वाली) को एकदम हटाकर और अन्ततः उस हटाने की क्रिया को भी खाकर (खत्म करके) वह सिंह जैसा ज्ञानी केवल एक (आत्मरूप) ही रहता है। प्रणव के अकारादि सींगों में पिराये गए पूर्वोक्त गुणों और उनके अर्थों (विषयों) को तुर्य पाद से स्पर्श करके—अर्थात् तुर्य के अतिरिक्त कुछ नहीं है ऐसा निश्चय करके (बाद में उस तुर्यपाद) बुद्धि को भी दूर करके (हत्वा), उसे खा जाना चाहिए। यह नरसिंह ज्ञानी नमन आदि करके साधनचतुष्टयादि से साक्षात्कार करता है।

यहाँ चौथा खण्ड पूरा हुआ।

❋

पञ्चमः खण्डः

अथैष उ एव अकार आप्ततमार्थ आत्मन्येव नृसिंहे देवे ब्रह्मणि वर्तत एष ह्येवाप्ततम एष हि साक्ष्येष ईश्वरोऽतः सर्वगतो न हीदं सर्वमेष एव व्याप्ततम इदं सर्वं यदयमात्मा मायामात्रमेष एवोग्र एष एव व्याप्ततम एष एव वीर एष एव व्याप्ततम एष एव महानेष एव व्याप्ततम एष एव विष्णुरेष एव व्याप्ततम एष एव ज्वलन्नेष एव व्याप्ततम एष एव सर्वतोमुख एष एव व्याप्ततम एष एव नृसिंह एष एव व्याप्ततम एष एव भीषण एष एव व्याप्ततम एष एव भद्र एष एव व्याप्ततम एष एव मृत्युमृत्युरेष एव व्याप्ततम एष एव नमाम्येष एव व्याप्ततम एष एवाहमेष एव व्याप्ततम आत्मैव नृसिंहो देवो ब्रह्म भवति य एवं वेद सोऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवलीयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति ॥1॥

अब ओंकार के अकार और अनुष्टुभ् का तादात्म्य बताया जाता है कि जो प्रणवार्थ मन्त्रराज है, वही यह ओंकार की 'अ'कार मात्रा है। वह अतिव्याप्त (सर्वव्याप्त) है। अथवा जैसे मन्त्रराज नृसिंहस्वरूप में है, वैसे ही यह अकार भी है। यह अकार आत्मस्वरूप नृसिंहदेवरूपी ब्रह्म में स्थित है। क्योंकि वह नृसिंह देव सर्वव्यापक (ब्रह्म) है, वही साक्षी है, वही ईश्वर है और कुछ नहीं है। जो कुछ यहाँ प्रतीत हो रहा है, वह सब आत्मारूप नृसिंह ही है। इसके सिवा जो कुछ अन्य दीखता है, वह तो मायामात्र ही है। यही सर्वव्यापक उग्र है, यही सर्वव्यापक वीर है, यही सर्वव्यापक महान् है, यही सर्वव्यापक विष्णु है, यही व्यापकतम ज्वलन्त (प्रखर तेज) है, यही व्यापकतम सर्वतोमुख है, यही व्यापकतम नृसिंह है, यही व्यापकतम भीषण है, यही व्यापकतम भद्र है, यही व्यापकतम मृत्युमृत्यु है, यही व्यापकतम 'नमामि' भी है, यही व्यापकतम 'अहम्' है, यही आत्मा यदि यह जानने वाला हो तो नृसिंहरूप बन जाता है, ब्रह्मरूप हो जाता है, निष्काम हो जाता है, आप्तकाम हो जाता है। वह पूर्णकाम है अत: उसके प्राण यहाँ से कहीं जाते नहीं, यहीं विलीन हो जाते हैं। ब्रह्म होकर ब्रह्म में मिल जाते हैं।

अथैष एवोकार उत्कृष्टतमार्थ आत्मन्येव नृसिंहे देवे ब्रह्मणि वर्तते तस्मादेष सत्यस्वरूपो न ह्यन्यदस्त्यमेयमनात्मप्रकाशमेव हि स्वप्रकाशो-ऽसङ्गोऽन्यत्र वीक्षत आत्माऽतो नान्यथा प्राप्तिरात्ममात्रं ह्येतदुत्कृष्टमेष एवोग्र एष ह्येवोत्कृष्ट एष एव वीर एष ह्येवोत्कृष्ट एष एव महानेष ह्येवोत्कृष्ट एष एव विष्णुरेष ह्येवोत्कृष्ट एष एव ज्वलन्नेषु ह्येवोत्कृष्ट एष एव सर्वतोमुख ह्येष एवोत्कृष्ट एष एव नृसिंह एष ह्येवोत्कृष्ट एष एव भीषण एष ह्येवोत्कृष्ट एष एव भद्र एष ह्येवोत्कृष्ट एष एव मृत्युमृत्युरेष ह्येवोत्कृष्ट एष एव नमाम्येष ह्येवोत्कृष्ट एष एवाहमेष ह्येवोत्कृष्टस्त-स्मादात्मानमेवैनं जानीयादात्मैव नृसिंहो देवो ब्रह्म भवति य एवं वेद सोऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवलीयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति ॥2॥

अब ओंकार की 'उ'कार मात्रा का अनुष्टुभ् से तादात्म्य बताते हुए कहते हैं कि यह उकार का अर्थ उत्कृष्टतम होता है। वह सर्वोत्कृष्टता तो आत्मरूप नृसिंहदेवस्वरूप ब्रह्म में ही होती है। इसीलिए वही सत्यस्वरूप है, नृसिंह के सिवा कोई अप्रमेय नहीं है (सभी प्रमेय असत्य ही होते हैं) बाकी तो सब जड़ (अनात्मप्रकाश) ही है, यही केवल स्वप्रकाश, असंग है और आत्मातिग्क्ति है और कुछ देखता नहीं है। इसलिए प्रकाशातिरिक्त किसी की प्राप्ति नहीं है (ऐसी किसी प्राप्ति का प्रश्न नहीं है)। उत्कृष्ट तो केवल यही प्रकाशरूप आत्मा (नृसिंह – ब्रह्म) ही है। और उकार ही वह उत्कृष्टतम है। वही मन्त्रराजरूप नृसिंहरूप ब्रह्मरूप उकार ही उग्र है और वही उत्कृष्टतम है। यही उत्कृष्टतम वीर है, यही उत्कष्टतम महान् है। यही विष्णु और उत्कृष्टतम है, यही ज्वलन्त और उत्कृष्टतम है, वही सर्वतोमुख उत्कृष्टतम है, वही नृसिंह उत्कृष्टतम है, वही भीषण और उत्कृष्टतम है, यही भद्र और उत्कृष्टतम है, यही मृत्युमृत्यु और उत्कृष्टतम है, यही 'नमामि' और सर्वोत्कृष्ट है, यही 'अहम्' और उत्कृष्टतम है इसलिए इस आत्मा को भी 'आत्मा ही नृसिंह देव है'—इस तरह जानना चाहिए। जो इस तरह जानता है वह नृसिंहदेवरूप ही बनता है, वह अकाम होता है, निष्काम होता है, आप्तकाम होता है, ऐसा वह आप्तकाम कि उसके प्राण यहाँ से कहीं नहीं जाते अपितु यहीं विलीन हो जाते हैं। वह ब्रह्मरूप होकर ब्रह्म में मिल जाता है।

अथैष एव मकारो महाविभूत्यर्थ आत्मन्येव नृसिंहे देवे ब्रह्मणि वर्तते। तस्मादयमनल्पोऽभिन्नरूपः स्वप्रकाशो ब्रह्मैवाप्ततम उत्कृष्टतम एतदेव ब्रह्मापि सर्वज्ञं महामायं महाविभूत्येतदेवोग्रमेतद्धि महाविभूत्येतदेव वीरमेतद्धि महाविभूत्येतदेव महदेतद्धि महाविभूत्येतदेव विष्ण्वेतद्धि महाविभूत्येतदेव ज्वलदेतद्धि महाविभूत्येतदेव सर्वतोमुखमेतद्धि महा-विभूत्येतदेव नृसिंहमेतद्धि महाविभूत्येतदेव भीषणमेतद्धि महाविभू-त्येतदेव भद्रमेतद्धि महाविभूत्येतदेव मृत्युमृत्य्वेतद्धि महाविभूत्येतदेव नमाम्येतद्धि महाविभूत्येतदेवाहमेतद्धि महाविभूति तस्मादकारोकारा-भ्यामिममात्मानमाप्ततममुत्कृष्टतमं चिन्मात्रं सर्वद्रष्टारं सर्वसाक्षिणं सर्व-ग्रासं सर्वप्रेमास्पदं सच्चिदानन्दमात्रमेकरसं परमेव ब्रह्म मकारेण जानी-यादात्मैव नृसिंहो देवः परमेव ब्रह्म भवति य एवं वेद। सोऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवली-यन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येतीहैव प्रजापतिरुवाच प्रजापतिरुवाच ॥3॥

इति पञ्चमः खण्डः।

अब (उकार के बाद) 'म'कार भी महाविभूतिरूप अर्थवाला है। ऐसी महाविभूति आत्मरूप नृसिंह देवरूप ब्रह्म में होता है। इसीलिए यह मकार भी उनसे अभिन्न रूप होने से वह अनन्त स्वयंप्रकाश ब्रह्म ही है, वह व्यापकतम है, उत्कृष्टतम भी है और वही ब्रह्म है, सर्वज्ञ है, महामायावाला विभूतिमय है। यही महाविभूतिरूप उग्र है, यही महाविभूतिमान वीर है, यही महाविभूतिमान महान् है, यही महाविभूतियुक्त विष्णु है, यही महाविभूतिरूप जलती ज्योति है, यही महाविभूतिरूप सर्वतोमुख है, नृसिंह भी इस महाविभूति के स्वरूप हैं, यह भीषण भी महाविभूतिरूप है, यह भद्र भी महाविभूतिमय है, यह मृत्युमृत्यु भी महाविभूतिमय है यह 'नमामि' भी महाविभूतिमय है, यह 'अहम्' भी महाविभूतिमय है।

इसलिए अकार और उकार के साथ इस आप्ततम और उत्कृष्ट इस आत्मा को, इस चिन्मय को, इस सर्वद्रष्टा, सर्वसाक्षी को, सबको अपने में समा लेने वाले को, इस सर्वप्रेमास्पद को, इस सच्चिदानन्द एकरस परब्रह्म को मकार के रूप में जान लेना चाहिए। जो इस प्रकार मकार को परब्रह्मरूप नृसिंहरूप में जानता है, वह स्वयं नृसिंहदेवरूप परब्रह्मरूप हो जाता है। वह अकाम हो जाता है, वह निष्काम हो जाता है, वह आप्तकाम हो जाता है और वह आत्मा की ही कामना करने वाला हो जाता है। उसके प्राण फिर उसके शरीर से निकलकर कहीं नहीं जाते। वे यहीं विलीन हो जाते हैं। वह स्वयं ब्रह्मरूप होकर ब्रह्म में मिल जाता है। ऐसा प्रजापति ने कहा। प्रजापति ने ऐसा ही कहा।

यहाँ पाँचवाँ खण्ड पूरा हुआ।

❋

षष्ठः खण्डः

ते देवा इममात्मानं ज्ञातुमैच्छन्। तान्हासुरः पाप्मा परिजग्राह। त ऐक्षन्त हन्तैनमासुरं पाप्मानं ग्रसाम इति। एतमोंकाराग्रविद्योतं तुरीयतुरीय-मात्मानमुग्रमनुग्रं वीरमवीरं महान्तममहान्तं विष्णुमविष्णुं ज्वलन्तम-ज्वलन्तं सर्वतोमुखमसर्वतोमुखं नृसिंहमनृसिहं भीषणमभीषणं भद्रमभद्रं मृत्युमृत्युमममृत्युमृत्युं नमाम्यनमाम्यहमनहं नृसिंहानुष्टुभैव बुबुधिरे। तेभ्यो हासावासुरः पाप्मा सच्चिदानन्दज्योतिरभवत् ॥1॥

प्रजापति द्वारा उपदिष्ट वे देव उस चिद्रूप आत्मा को जानने की इच्छा करने लगे। पर उन देवों को अज्ञान और उसके कार्यरूप आसुरी पाप ने पकड़ा। उस आसुरी पाप से स्पृष्ट होते हुए भी उन देवों ने सोचा कि इस आसुरी पाप को हम आत्मज्ञान के बल से ग्रस लेंगे (हम खा जाएँगे – नष्ट कर देंगे)। इसलिए वे देव इसी प्रस्तुत ओंकाराग्र, विद्योत, तुरीयतुरीय पूर्वव्याख्यात अनुष्टुभ् में दिए गए उग्र आदि ग्यारह विशेषणों से युक्त आत्मा को केवल ब्रह्म रूप से ही देखते हुए उग्र को अनुग्र, वीर को अवीर, महान् को अमहान्, विष्णु को अविष्णु, ज्वलन्त को अज्वलन्त, सर्वतोमुख को असर्वतोमुख, नृसिंह को अनृसिंह, भीषण को अभीषण, भद्र को अभद्र, मृत्युमृत्यु को अमृत्युमृत्यु, नमामि को अनमामि, अहम् को अनहम्—अर्थात् सविशेष को निर्विशेष मानकर इस आनुष्टुभ् मन्त्र से ही जान लिया। इस तरह उन देवों से यह आसुरी पाप भी सच्चिदानन्द ज्योतिरूप बन गया।

तस्मादपक्वकषाय इममोंकाराग्रविद्योतं तुरीयतुरीयमात्मानं नृसिंहा-नुष्टुभैव जानीयात्। तस्यासुरः पाप्मा सच्चिदानन्दघनज्योतिर्भवति ॥2॥

इसलिए अपक्व कषायवाले मनुष्य को (अनर्थदृष्टि वाले मनुष्य को) चाहिए कि वह इस सामने ही उपस्थित ओंकाराग्रविद्योत – तुरीयतुरीय रूप आत्मा को नृसिंहानुष्टुभ् मन्त्रराज से ही जान ले। उसका यह आसुरी पाप इससे सच्चिदानन्दघन ज्योति बन जाएगा।

ते देवा ज्योतिरुत्तितीर्षवो द्वितीयाद् भयमेव पश्यन्त इममोंकाराग्रविद्योतं तुरीयतुरीयमात्मानमनुष्टुभाऽन्विष्य प्रणवेनैव तस्मिन्नवस्थिताः। तेभ्य-स्तज्ज्योतिरस्य सर्वस्य पुरतः सुविभातमविभातमद्वैतमचिन्त्यमलिङ्गं स्वप्रकाशमानन्दघनं शून्यमभवत्। एवंवित्स्वप्रकाशं परं ब्रह्मैव भवति ॥3॥

वे देवलोग ध्याता-ध्यान आदि ज्ञानरूप ज्योति को पार करने की (मिटाने की) इच्छावाले होकर और द्वितीय वस्तु से भय को देखने वाले होकर इसी ओंकाराग्रविद्योत – तुरीयतुरीय को उस अनुष्टुभ मन्त्रराज के द्वारा खोजकर षोडशमात्रात्मक चतुर्थ प्रणव से ही उसगें अवस्थित हुए हैं। तब उनके आगे इस जगत् का प्रकाश अच्छी तरह से हो गया कि वास्तव में तो यह अविभाव – आत्मातिरिक्त कुछ नहीं है – इस तरह अद्वैत, अचिन्त्य, अलिङ्ग, स्वप्रकाश, आनन्दघन शून्य ही था। ऐसा जानने वाला मनुष्य स्वप्रकाश्य परब्रह्म ही हो जाता है।

ते देवाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च ससाधनेभ्यो व्युत्थाय निरागारा निष्परिग्रहा अशिखा अयज्ञोपवीता अन्धा बधिरा मुग्धाः क्लीबा मूका उन्मत्ता इव परिवर्तमानाः शान्ता दान्ता उपरता-स्तितिक्षवः समाहिता आत्मरतय आत्मक्रीडा आत्ममिथुना आत्मानन्दाः प्रणवमेव परं ब्रह्मात्मप्रकाशं शून्यं जानन्तस्तत्रैव परिसमाप्ताः। तस्मात्तद्देवानां व्रतमाचरन्नोंकारे परे ब्रह्मणि पर्यवसितो भवेत्स आत्मन्ये-वात्मानं परं ब्रह्म पश्यति ॥4॥

वे देवलोग प्रजापति से आत्मा के ज्ञान को जानकर तीन प्रकार की एषणाओं—पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा से और उनके साधनों से भी ऊपर उठकर अर्थात् उनको छोड़कर, अनिकेतन, शिखारहित, उपवीतरहित, अन्धे, बधिर, नपुंसक, मूक, पागलों-से घुमक्कड़, शान्त, दमनशील, उपरत, तितिक्षावाले, स्थिरमन वाले, आत्मा में ही रमण करने वाले, आत्मा में ही विनोद करने वाले, आत्मा के साथ ही ऐक्य साधने वाले, आत्मा में ही आनन्द लेने वाले, प्रणव को ही ब्रह्मात्मप्रकाश के रूप में जानने वाले वे वहीं ब्रह्म में ही परिसमाप्त हुए—अर्थात् उन्होंने तुरन्त संन्यास ग्रहण कर लिया। इसलिए उन देवों के व्रत का आचरण करने वाला मनुष्य परब्रह्म में पर्यवसित (विलीन) होता है, और वह अपनी आत्मा में सर्व आत्माओं को देखता है।

तदेष श्लोकः—
शृङ्गेष्वशृङ्गं संयोज्य सिंहं शृङ्गेषु योजयेत्।
शृङ्गाभ्यां शृङ्गमाबध्य त्रया देवा उपासते। इति ॥5॥

इति षष्ठः खण्डः।

इसके विषय में यह श्लोक है—शृंगों में (विकल्पों में) अशृंग का (अविकल्प का) संयोजन करके—अर्थात् विकल्पों में अनुस्यूत उस अविकल्प को जानकर सिंहरूप आनुष्टुभ् नृसिंह को—चतुष्पद अकार, उकार, मकार और अर्धमात्रारूप को उसके साथ जोड़ना चाहिए। अर्थात् मन से चिन्तन करना चाहिए। आप्ततम और उत्कृष्टतम रूपवाले **अ**कार और **उ**कार रूप दो सींगों के साथ महाविभूति रूप **म**कार को बाँधकर (बुद्धि से एक करके) ये तीनों देव कृतकृत्य होते हैं। अर्थात् शृंग, अशृंग और नृसिंह के तादात्म्य की उपासना करते हैं [तीनों देव यानी अकार, उकार, और मकार के अधिष्ठाता क्रमशः विश्व-तैजस-प्राज्ञ (अध्यात्म), ब्रह्मा-विष्णु-महेश्वर (अधिदैवत) और विराट्-हिरण्यगर्भ-ईश्वर (अभिभूत) हैं।]

यहाँ छठा खण्ड पूरा हुआ।

❋

सप्तमः खण्डः

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन् भूय एव नो भगवान् विज्ञापयत्विति ॥1॥

देवों ने प्रजापति से कहा—हे भगवन्! आप हमें और भी सुनाइए।

तथेत्यजत्वादमरत्वादजरत्वादमृतत्वादभयत्वादशोकत्वादमोहत्वादन-शनायत्वादपिपासत्वादद्वैतत्वाच्चाकारेणेममात्मानमन्विष्योत्कृष्टत्वा-दुदुत्पादकत्वादुदुप्रवेष्टृत्वाददुदुत्थापयितृत्वाददुदुद्द्रष्टृत्वादुदुत्कर्तृत्वा-दुदुत्पथवारकत्वादुदुद्ग्रासकत्वाददुदुद्भ्रान्तत्वादुदुत्तीर्णविकृतित्वा-च्चोकारेणात्मानं परमं ब्रह्म नृसिंहमन्विष्याकारेणेममात्मानमुकारपूर्वार्ध-माकृष्य सिंहीकृत्योत्तरार्धेन तं सिंहमाकृष्य महत्त्वान्महस्त्वान्मानत्वा-न्मुक्तत्वान्महादेवत्वान्महेश्वरत्वान्महासत्त्वान्महाचित्त्वान्महानन्दत्वान्महा-प्रभुत्वाच्च मकारार्धेनानेनात्मनैकी कुर्यात् ॥2॥

देवों का वचन सुनकर प्रजापति ने कहा—ठीक है, सुनिए। यह मन्त्रराज और यह प्रणव अज है - जन्मरहित है, अजर है, अमर है, अमृत है, अभय है, अशोक है, मोहरहित है, अशनायरहित है, पिपासारहित है, अद्वैत है। इसलिए इस विकल्पनिषेधक **'अ'**कार के साथ – प्रणव के प्रथमामात्रारूप 'अ' के द्वारा निर्विकल्पक आनन्दात्मा को खोजकर, फिर वह प्रणव तो उत्कृष्ट है, उत्पादक है, स्थूल शरीर में उत्प्रवेष्टा – उत्कर्ष से प्रवेश करने वाला आत्मरूप है, वह उत्थापक भी है, वह उद्द्रष्टा है, उत्कर्ता है, वह उत्पथवारक भी है, वह उद्ग्रासक है, वह उद्भ्रान्त है, वह उत्तीर्ण विकृति है (जीवरूप में उद्भ्रान्त और स्वरूप से विकाररहित)—ये सब **'उ'**कार से आरम्भ होने वाली विशेषताएँ हैं। ये सब उकारात्मक हैं—प्रणव के उकार रूप ही हैं। इसलिए इस उकार के द्वारा भी उस स्वप्रकाश आत्मा को परमब्रह्म नृसिंह को खोजकर उकार के पूर्वार्ध में कहे गए अकार के साथ खींचकर तथा अनुष्टुप् के पाद-द्वय के पूर्वार्ध को भी खींचकर उसे सिंह के समान बलवान बनाकर अनुष्टुभ् के पूर्वार्ध से तादात्म्य करके फिर नृसिंहानुष्टुभ् के उत्तरपादद्वयरूप उत्तरार्ध से उस सिंहानुष्टुभ के प्रथमार्ध रूप अकारात्मक सिंह को खींचकर एकत्व प्राप्त करना चाहिए। इस प्रकार अकार और उकार आत्मरूप हो गए। अब **'म'**कार भी तो आत्मरूप ही है क्योंकि उसमें महत्त्व है, महस्त्व (तेजस्विता) है, मानत्व है, महादेवत्व है, महेश्वरत्व है, महासत्त्व है, महाचित्त्व है, महानन्दत्व है, महाप्रभुत्व है। इसलिए इस मकारार्ध से सभी प्रत्ययों में अनुस्यूत होते हुए – सर्वप्रत्यक् से अभिन्न होते हुए भी – वास्तव में तुरीयतुरीय रूपवाले आत्मा के साथ एकीकृत करना चाहिए।

अशरीरो निरिन्द्रियोऽप्राणोऽतमाः सच्चिदानन्दमात्रः स स्वराड् भवति य एवं वेद ॥3॥

जो मुनि ऐसा जानता है वह शरीररहित, इन्द्रियरहित, प्राणरहित, तमोरहित सच्चिदानन्दमात्र और स्वराट् होता है।

कस्त्वमिति। अहमिति होवाच। एवमेवेदं सर्वं तस्मादहमिति सर्वाभि-धानं तस्यादिरयमकारः स एव भवति सर्वं ह्ययमात्माऽयं हि सर्वान्तरो न हीदं सर्वमहमिति होवाचैव निरात्मकमात्मैवेदं सर्वं तस्मात् सर्वात्मकेना-कारेण सर्वात्मकमात्मानमन्विच्छेत् ॥4॥

अपने अवतार्य कार्य को सिद्ध करके भद्रासन में बैठे हुए नृसिंह से ब्रह्मादि देवों ने पूछा—'तुम कौन हो ?' तब उन्होंने उत्तर दिया—'अहम्' मैं हूँ। यह 'अहम्' नृसिंह मन्त्रराज का अन्तिम पद है। इसका अर्थ—'यह जो सब कुछ है वह अहम् 'मैं' ही हूँ' ऐसा होता है। इस प्रकार अहम् शब्द सर्व का अभिधान कर देता है। इस 'अहम्' का आदि अक्षर अकार ही प्रणव का आदि अक्षर अकार है। इसीलिए सब कुछ यह आत्मा ही है। यह सब कुछ जो है वह निरात्मक नहीं है, ऐसा कहा है। यह सब आत्मा ही है इसलिए इस सर्वात्मक अकार के द्वारा सर्वात्मक आत्मा को. खोजना चाहिए।

ब्रह्मैवेदं सर्वं सच्चिदानन्दरूपं सच्चिदानन्दरूपमिदं सर्वं सद्धीदं सर्वं सत् सदिति चिद्धीदं सर्वं प्रकाशते चेति ॥5॥

यह सब ब्रह्म ही है, वह सच्चिदानन्दरूप है, और यह जो कुछ है वह भी सच्चिदानन्दरूप ही है। यह सब सत् ही है, चित् ही है, यह सब कुछ जो प्रकाशित हो रहा है।

किं सदिति। इदमिदं नेत्यनुभूतिरिति ॥6॥
कैषेति। इयमियं नेत्यवचनेनैवानुभवन्नुवाच। एवमेव चिदानन्दावप्यवचनेनैवानुभवन्नुवाच। सर्वमन्यदिति स परमानन्दस्य ब्रह्मणो नाम ब्रह्मेति तस्यान्त्योऽयं मकारः। स एव भवति तस्मान्मकारेण पूर्णं ब्रह्मान्विच्छेत् ॥7॥

कुछ लोग पूछते हैं—'सत् क्या है ?' उत्तर है—यह जो जगत् है, वह जगत् नहीं है—ऐसी अनुभूति ही 'सत्' है। अर्थात् केवल स्वरूपानुभूति ही सत् है। दूसरा प्रश्न है—'तो ऐसी अनुभूति क्या है ?' उत्तर में—'हम यहाँ जो विविधता भरी अनुभूतियाँ करते हैं, ऐसी वह अनुभूति नहीं है'—यह बताने के लिए कुछ बोले बिना ही अनुभव करते हुए प्रजापति ने उत्तर दे दिया। अर्थात् स्वयं ब्रह्मानुभव करते हुए, आनन्दाश्रु बहाते हुए प्रजापति ने निरुत्तर होकर ही उत्तर दे दिया। जिस प्रकार इस सत्ता के विषय में मौन उत्तर दिया उसी प्रकार 'चित्' और 'आनन्द' का उत्तर भी और अन्य सब का उत्तर भी 'अवचन से ही अनुभव करते हुए' दिया गया। प्रजापति ने कहा कि उस परमानन्द ब्रह्म का 'ब्रह्म' नाम है, और उस 'ब्रह्म' शब्द का अन्तिम अक्षर '**म**'कार है, वह ब्रह्मरूप ही है, इसलिए मकार द्वारा परब्रह्म की खोज करनी चाहिए।

किमिदम्। एवमित्यकार इत्येवाहाविचिकित्सन्नकारेणेममात्मानमन्विष्य मकारेणानुसन्दध्यादुकारेणाविचिकित्सन्नशरीरोऽनिन्द्रियोऽप्राणोऽतमाः सच्चिदानन्दमात्रः स स्वराड् भवति य एवं वेद ॥8॥

देवों ने पूछा—'यह ब्रह्म क्या है ?' तब प्रजापति बोले—विद्यादशा में अवचन से ही उत्तर देने पर भी अविद्यादशा में, त्वं पदार्थ की शुद्धि करने वाले **अ**कार के द्वारा इस आनन्दात्मा को खोजकर तत्पदार्थ की शुद्धि करने वाले **म**कार के साथ अनुसन्धान करना चाहिए। और **अ**कार-**म**कार के अनुसन्धान के हेतुभूत **उ**कार के द्वारा यह अनुसन्धान बिना सन्देह के करना चाहिए। इस प्रकार अकार और मकार की सन्धि उकाररूप ऐक्य है। ऐसा जानने वाला ज्ञानी अशरीर, अनिन्द्रिय, अप्राण, तमोरहित, सच्चिदानन्दमात्र और स्वराट् होता है।

ब्रह्म वा इदं सर्वमत्तृत्वादुग्रत्वाद्वीरत्वान्महत्त्वाद्विष्णुत्वाज्ज्वलत्वात्सर्वतोमुखत्वान्नृसिंहत्वाद्भीषणत्वाद्भद्रत्वान्मृत्युमृत्युत्वान्नमामित्वादहंत्वादिति

सततं ह्येतद् ब्रह्मोग्रत्वाद्वीरत्वान्महत्त्वाद्विष्णुत्वाज्ज्वलत्वात् सर्वतो-मुखत्वान्नृसिंहत्वाद्भीषणत्वाद्भद्रत्वान्मृत्युमृत्युत्वान्नमामित्वादहंत्वा-दिति ॥9॥

'म'कार से ब्रह्मावलोकन की उपपत्ति यह है कि इस ब्रह्म में ही अत्तृत्व, उग्रत्व, वीरत्व, महत्त्व, विष्णुत्व, ज्वलत्व, सर्वमुखत्व, नृसिंहत्व, भीषणत्व, भद्रत्व, मृत्युमृत्युत्व, नमामित्व और अहंत्व है। इन सभी कारणों से यह परमानन्दरूप ब्रह्म अवश्य मकारगम्य है। क्योंकि उग्रत्व, महत्त्व आदि हेतु उसमें हैं ही। मन्त्र में उन्हीं पूर्वोक्त हेतुओं की पुनरावृत्ति की गई है।

तस्मादकारेण परमं ब्रह्मान्विष्य मकारेण मनआद्यवितारं मनआदि-साक्षिणमन्विच्छेत् ॥10॥

इसलिए त्वंपदार्थाभिधायी **अ**कार से परब्रह्म को खोजकर (शोधित करके) तत्पदार्थवाची **म**कार के साथ मन आदि करणों के समूह का रक्षण करने वाले उस साक्षीमात्र असंग ब्रह्म को खोजना चाहिए।

स यदैतत्सर्वमुपेक्षते तदैतत् सर्वमस्मिन् प्रविशति स यदा प्रतिबुध्यते तदेतत् सर्वमस्मादेवोत्तिष्ठति ॥11॥
तदेतत् सर्वं निरूह्य प्रत्यूह्य सम्पीड्य संज्वाल्य संभक्ष्य स्वात्मानमेवैषां ददाति ॥12॥

यह त्वंपदार्थ या तत्पदार्थ जब इस दृश्यमान जगत् की उपेक्षा कर देता है, तब यह सब उसमें समा जाता है (जैसे रज्जु में सर्प समा जाता है) और जब यह जागता है, तब उसी में से सब उत्पन्न हो जाता है। इस जगत् को आत्मसात् करके, वापिस खींचकर, अच्छी तरह से परिच्छेद करके (विश्लेषण करके) बाद में ज्ञानरूपी अग्नि से उसे जलाकर, फिर ग्रसित करके यह ज्ञान उन आत्मज्ञानियों को स्वस्वरूप देता है – बताता है।

अत्युग्रोऽतिवीरोऽतिमहानतिविष्णुरतिज्वलन्नतिसर्वतोमुखोऽतिनृसिंहोऽति-भीषणोऽतिभद्रोऽतिमृत्युमृत्युरतिनमाम्यहं भूत्वा स्वे महिम्नि सदा समासते ॥13॥

वास्तव में जो उग्रातीत, वीरातीत, महदतीत, विष्ण्वतीत, ज्वलदतीत, सर्वतोमुखातीत, नृसिंहातीत, भीषणातीत, भद्रातीत, मृत्युमृत्यु से भी अतीत, नमनक्रिया से भी अतीत – मैं-भाव से अतीत होकर – अतिक्रान्त होकर वह अपनी ही महिमा में सर्वदा सर्वसंग्राहक और सर्वसमावेशक होकर रहता है।

तस्मादेनमकारेण परेण ब्रह्मणैकीकुर्यादुकारेणाविचिकित्सन्नशरीरो निरिन्द्रियोऽप्राणोऽतमाः सच्चिदानन्दमात्रः स स्वराड् भवति य एवः वेद ॥14॥

और चूँकि यह आत्मा उग्रादिरूप है, इसलिए इस आनन्दरूप आत्मा को अकारार्ध से ब्रह्म के साथ एकीभूत करना चाहिए। और उकार से (संधि से) अविद्यापेक्षा से (अविचिकित्सन्) अशरीर, निरिन्द्रिय, अप्राण, तमोरहित, सच्चिदानन्दमात्र स्वराट् हो जाता है। (उकार रूप सन्धि अकार और मकार को जोड़ने वाली कड़ी है, यह सब अविद्या श्रेणी की ही भाषा है। विद्यादशा में तो कोई भेद ही नहीं होता।

तदेष श्लोकः—
शृङ्गं शृङ्गार्धमाकृष्य शृङ्गेणानेन योजयेत्।
शृङ्गमेनं परे शृङ्गे तमनेनापि योजयेत् ॥15॥

इति सप्तमः खण्डः ।

यहाँ पर यह श्लोक है—शृंग को – **अ**कार को, और शृंगार्ध को – **म**कार को खींचकर, अकार और मकार के घटक रूप **उ**कार रूप शृंग के साथ उसका तादात्म्य कर देना चाहिए। और फिर उकार नाम के शृंग को, मकार नाम के शृंग को और अकार नाम के शृंग को भी परब्रह्म के साथ तादात्म्य कर देना चाहिए।

यहाँ सातवाँ खण्ड पूरा हुआ।

अष्टमः खण्डः

अथ तुरीयेणोतश्च प्रोतश्च ह्ययमात्मा नृसिंहोऽस्मिन्सर्वमयं सर्वात्माऽयं हि सर्वं नैवातो अद्वयो ह्ययमात्मैकल एव विकल्पो न हि खलु सदयं ह्योत एव सद्घनोऽयं चिद्घन आनन्दघन एवैकरसोऽव्यवहार्यः केन च न द्वितीय ओतश्च प्रोतश्चैष ओंकारः ॥1॥

अब तुर्यमात्रा से भी तुर्य की प्राप्ति हो सकती है। यह नृसिंहरूप आत्मा तुर्य मात्रा में भी ओतप्रोत है। इसी में सब है, यही सर्वात्मा है, यही सर्वात्मरूप है, इससे अन्य और कोई है ही नहीं, इसलिए यह अद्वैत है। यह आत्मा केवल एक ही है इसमें किसी प्रकार का विकल्प (भेद) नहीं है। यह सद्रूप है, सर्वत्र ओत (बुना गया) व्याप्त है। यह चिद्घन है, आनन्दपूर्ण है, सर्वत्र एकसमान रूप से व्याप्त है, व्यवहार का यह किसी से भी विषय नहीं बनता। यह **तुरीय** ओंकार भी ऐसा है।

एवं नैवमिति पृष्ट ओमित्येवाह वाग्वा ओंकारो वागेवेदं सर्वं न ह्यशब्दमिवेहास्ति चिन्मयो ह्ययमोंकारश्चिन्मयमिदं सर्वं तस्मात्परमेश्वर एवैकमेव तद्भवत्येतदमृतमभयमेतद् ब्रह्माभयं ब्रह्माभयं हि वै ब्रह्म भवति य एवं वेदेति रहस्यम् ॥2॥

देवों ने कहा कि यह नहीं हो सकता—यह अर्धमात्राप्रणव कैसे निर्विशेष तुरीय ओंकार हो सकता है ? इस पर प्रजापति ने कहा—ओम् ऐसा ही है। वाणी और मन से कहा गया तुरीय ओंकारस्वरूप निर्विशेष सच्चिदानन्द ब्रह्म ही है। वर्णध्वनिरूपी वाणी ही तुर्य प्रणव है। वाणी ही तो सब कुछ है। इस संसारमण्डल में कोई भी रूप या कोई भी कर्म शब्दहीन तो है नहीं। (सबका अपना नाम होता ही है) तो वह वाणी ही तुर्य को बताती है, कि वह चिन्मय है। (जगद्रूप नहीं है)। यह ओंकार चिद्रूप ही है, तो यह सब कुछ भी चिन्मय ही है, इसलिए सब परमेश्वर ही है। यह एक ही अमृतमय, अभय, ब्रह्म है। जो ऐसा जानता है, वह ब्रह्म रूप हो जाता है। यही इसका रहस्य है।

अनुज्ञाता ह्ययमात्मैव ह्यस्य सर्वस्य स्वात्मानमनुजानाति न हीदं सर्वं स्वत आत्मविन्न ह्ययमोतो नानुज्ञाताऽसङ्गत्वादविकारित्वादसत्त्वादन्य-

स्यानुज्ञाता ह्ययमोंकार ओमिति ह्यनुजानाति वाग्वा ओंकारो वागेवेदं सर्वमनुजानाति चिन्मयो ह्ययमोंकारश्चिद्धीदं सर्वं निरात्मकमात्मसात्करोति तस्मात् परमेश्वर एवैकमेव तद्भवेत्यमृतमभयमेतद् ब्रह्माभयं हि वै ब्रह्म भवति य इदं वेदेति रहस्यम् ॥3॥

(पहले तुरीयमात्रा का ओतत्व बताकर अब तुरीय मात्रा का अनुज्ञातृत्व बताते हुए कहते हैं कि) अनुज्ञाता भी यही आत्मा है। क्योंकि वही सब उपलभ्यमान सबके आत्मा को अनुज्ञा देता है। यहाँ सब कोई कहीं अपने आप ही स्वयं को नहीं जानता। (क्योंकि आत्मातिरिक्त कोई सत्ता ही न होने से ज्ञेय-ज्ञातृत्व भेद हो नहीं सकता)। वास्तव में तो यह तुर्य न ओता है, न अनुज्ञाता है क्योंकि वह तो असंग है और अविकारी है, इसके अतिरिक्त अन्य सब असत् है। ऐसा होने पर भी वह अनुज्ञाता बनता तो है, क्योंकि जैसे ही उसके ओतत्व का रहस्य पहले दिखाया जा चुका है, वैसे ही वास्तव में अनुज्ञाता न होने पर भी 'ओम्' (हाँ) इस प्रकार वह अनुज्ञा देता हुआ दिखाई ही देता है। इसका कारण यह है कि वास्तव में यह 'चित्' ही सब निरात्मक को आत्मसात् कर लेता है। सत्ताशून्य को अपनी सत्ता देकर आत्माधीन कर देता है। इसलिए परमेश्वर एक ही वह सब हो जाता है। जो यह जानता है, वह अमृत, अभय ब्रह्म का रूप हो जाता है, यही रहस्य है।

अनुज्ञैकरसो ह्ययमात्मा प्रज्ञानघन एवायं यस्मात् सर्वस्मात् पुरतः सुविभातोऽतश्चिद्घन एव न ह्ययमोतो नानुज्ञातैतदात्म्यं हीदं सर्वं सदैवानुज्ञैकरसो ह्ययमोंकार ओमिति ह्येवानुजानाति वाग्वा ओंकारो वागेव ह्यनुजानाति चिन्मयो ह्ययमोंकारश्चिदेव ह्यनुज्ञाता तस्मात्परमेश्वर एवैकमेव तद्भवत्येतदमृतमभयमेतद् ब्रह्माभयं वै ब्रह्माभयं हि वै ब्रह्म भवति य एवं वेदेति रहस्यम् ॥4॥

(अब ओंकार का अनुज्ञारूप बताते हुए कहते हैं कि—) यह आत्मा अनुज्ञैकरस है, यह प्रज्ञानघन है, क्योंकि वह सबके आगे तीनों काल में स्वयं प्रकाशित होता है। इसी कारण से वह चैतन्यमात्र चिद्घन है। पारमार्थिक रूप से तो वह न ओता है, न अनुमन्ता है, इसलिए अनुज्ञा भी आप-ही-आप निवृत्त हो जाती है। इसके सिवा कुछ है ही नहीं, वह स्वयं ही एकरस ओंकार है—इस जगत् का वही आत्मा है (पारमार्थिक रूप है) और वह सब जानता है। तुर्य को कहने वाली वाणी भी ओंकाररूप है। क्योंकि वर्णध्वनिरूप वाणी ही तुर्यरूप है, वाणी ही सब कुछ है, वाणी से ही मनुष्य अनुमति देता है। पारमार्थिक रूप से तो यह ओंकार चिन्मय ही है और चित् ही अनुज्ञाता है। इसलिए यह परमेश्वर है। इस तरह यह एक ही वह – अनुज्ञादि होता है। वह तो एक ही अमृत, अभय, ब्रह्म ही है। जो इस प्रकार जानता है, वह अभय ब्रह्मरूप होता है, क्योंकि ब्रह्म अभय ही है। यही रहस्य है।

अविकल्पो ह्ययमात्माऽद्वितीयत्वादविकल्पो ह्ययमोंकारोऽद्वितीयत्वादेव चिन्मयो ह्ययमोंकारस्तस्मात् परमेश्वर एवैकमेव तद्भवत्यविकल्पोऽपि नात्र काचिद् भिदाऽस्ति। नैव तत्र काचन भिदाऽस्त्यत्र हि भिदामिव मन्यमानः शतधा सहस्रधा भिन्नो मृत्योः स मृत्युमाप्नोति तदेतदद्वयं स्वप्रकाशं महानन्दमात्मैवेतदमृतमभयमेतद् ब्रह्माभयं वै ब्रह्माभयं हि वै ब्रह्म भवति य एवं वेदेति रहस्यम् ॥5॥

इत्यष्टमः खण्डः

(अब तुरीयमात्रा का अविकल्पत्व बताते हुए कहते हैं कि—) यह आत्मा अविकल्प है, क्योंकि वह अद्वितीय है। ठीक इसी प्रकार यह ओंकार भी तो अविकल्प है, क्योंकि वह भी अद्वितीय है। वह ओंकार चिन्मय है, इसलिए परमेश्वर ही है, वह एक ही है, अविकल्प (विकल्परहित) ही है। यहाँ कोई भेद नहीं है। कोई भेद नहीं होने पर भी भेद मानने वाला मनुष्य सैंकड़ों-सहस्रों भागों में बँट जाता है और एक मृत्यु के बाद दूसरी-तीसरी ऐसी बहुत-सी मृत्यु को प्राप्त होता है। ऐसा वह आत्मा (ब्रह्म) तुरीय (अद्वैत) है, स्वप्रकाशित है, महानन्दरूप है, वह आत्मा ही ऐसा अमृत-अभय-ब्रह्मरूप है। जो इसे जानता है वह भी अभय-अमृत-ब्रह्मरूप बन जाता है, यही रहस्य है।

यहाँ आठवाँ खण्ड पूरा हुआ।

❋

नवमः खण्डः

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्निममेव नो भगवन्नोंकारमात्मानमुपदिशेति ॥1॥

देवलोगों ने प्रजापति से कहा—'हे भगवन्! इसी ओंकार रूप आत्मा के बारे में हमें उपदेश दीजिए।'

तथेत्युपद्रष्टाऽनुमन्तैष आत्मा नृसिंहश्चिद्रूप एव। अविकारो ह्युपलब्धः सर्वस्य सर्वत्र न ह्यस्ति द्वैतसिद्धिरात्मैव सिद्धोऽद्वितीयः ॥2॥

प्रजापति ने 'ठीक है' ऐसा कहकर कहा—यह आत्मा उपद्रष्टा है, अनुमन्ता है। नृसिंहरूप है अर्थात् भ्रमरूपी असुर को मारने वाले सिंह है, वह चिद्रूप ही है। यह आत्मा अविकारी है, सर्वव्यापक है, सबमें है, इससे अतिरिक्त द्वैत की कोई सिद्धि नहीं है, आत्मा ही एक अद्वैतरूप से सिद्ध है।

मायया ह्यन्यदिव। स वा एत आत्मा पर एषैव सर्वम्। तथा हि प्राज्ञे सैषाऽविद्या जगत्सर्वम्। आत्मा परमात्मैव। स्वप्रकाशोऽप्यविषय-ज्ञानत्वाज्जानन्नेव ह्यन्यत्रान्यन्न विजानात्यनुभूतेः ॥3॥

स्वरूपशून्य माया से ही यह अन्य – ब्रह्म से अन्य जैसा दीखता है। यह आत्मा ही सबसे परे है और यह जो सब कुछ दिखाई देता है, वह एक ही है। अद्वैत ही है। जैसे सुषुप्तावस्था को प्राप्त हुए प्राज्ञ को अद्वैत ही उपलब्ध होता है। यह नानात्वयुक्त जगत् तो माया ही है। यह जो आत्मा है, वही परमात्मा है, वह स्वयंप्रकाश है। यह विषय के अभाव का ज्ञान रखते हुए भी (सुषुप्ति में), अन्यत्र अन्य कुछ है, यह नहीं जानता, अर्थात् सुषुप्तावस्था में प्राज्ञ स्वप्रकाश होते हुए भी और अपनी अज्ञानवृत्ति को जानते हुए भी विक्षेपवृत्ति को नहीं जानता। विषयाभाव में भी आत्मा की अनुभूति—'मैं कुछ नहीं जानता'—यह तो रहती ही है।

माया च तमोरूपानुभूतिः। तदेतज्जडं मोहात्मकमनन्तमिदं रूपमस्यास्य व्यञ्जिका नित्यनिवृत्ताऽपि मूढैरात्मैव दृष्टाऽस्य सत्त्वमसत्त्वं च दर्शयति। सिद्धत्वासिद्धत्वाभ्यां स्वतन्त्रास्वतन्त्रत्वेन ॥4॥

यह माया तमोगुणरूप अज्ञता की अनुभूतिरूप है। यह जो जड, मोहात्मक, अनन्त (विक्षेपात्मक भी) दीखता है वह भी इस माया का ही रूप है। इस रूप को अभिव्यक्त करने वाली भी माया ही है। यद्यपि वह हमेशा के लिए निवृत्त ही है – स्वरूपशून्य ही है, तथापि मूढ मनुष्यों के द्वारा अपने आत्मा

की तरह ही सत्य देखी जाती है। और इससे हीं किसी कार्य की सच्चाई या झूठापन नापा जाता है और कार्य करने की स्वतंत्रता या पराधीनता भी इसी अज्ञान की परिधि में रहकर देखी जाती है।

सैषा वटबीजसामान्यवदनेकवटशक्तिरेकैव। तद्यथा वटबीजसामान्य-मेकमनेकान् स्वव्यतिरिक्तान् वटान् सबीजानुत्पाद्य तत्र तत्र पूर्णं सन्तिष्ठत्येवमेवैषा माया स्वव्यतिरिक्तानि पूर्णानि क्षेत्राणि दर्शयित्वा जीवेशावाभासेन करोति। माया चाविद्या च स्वयं भवति ॥5॥

यह माया जैसे वट के एक सामान्य बीज में अनेक वटवृक्ष उत्पन्न करने की शक्ति होती है, ऐसी ही शक्तिवाली है। जैसे वट का एक सामान्य बीज अपने से भिन्न अनेक वट-वृक्षों को उत्पन्न करके उस-उस वृक्ष में पूर्णरूप से निहित रहता है, ठीक वैसे ही यह माया अपने से अलग हों, ऐसे कई पूर्ण क्षेत्रों को आभास से दिखाकर जीव और ईश्वर बनाती है और इस तरह वह स्वयं माया और अविद्या बनती है।

सैषा चित्रा सुदृढा बह्वङ्कुरा स्वयं गुणाभिन्नाऽङ्कुरेष्वपि गुणभिन्ना सर्वत्र ब्रह्मविष्णुशिवरूपिणी चैतन्यदीप्ता तस्मादात्मन एव त्रैविध्यं सर्वत्र योनित्वमपि ॥6॥

यह माया अनेकरूपिणी है, बड़ी बलवती है, विविध कार्यरूपी अंकुरवाली है। कारणरूप में स्वयं गुणों से अभिन्न होते हुए भी (एक होते हुए भी) कार्यरूप में गुणों से भिन्न होती है और सर्वत्र ब्रह्मा-विष्णु-महेश के रूप में होती है। स्वयं जड़ – अंधकारमय – होते हुए भी चैतन्य के आभास से दीप्त (प्रकाशित) होती है। इसलिए देश-कालादि सबके मूल में त्रैविध्य (त्रिगुणात्मक) हो जाती है। त्रिगुणात्मकता सबकी योनि (मूल) होती है।

अभिमन्ता जीवो नियन्तेश्वरः। सर्वाहंमानी हिरण्यगर्भस्त्रिरूप ईश्वर-वद्व्यक्तचैतन्यः सर्वगो ईश्वरः क्रियाज्ञानात्मा। सर्वं सर्वमयं सर्वे जीवाः सर्वमयाः सर्वावस्थासु तथाऽप्यल्पाः ॥7॥

अभिमन्ता (कार्यकारणाभिमानी) जीव होता है और नियन्ता ईश्वर होता है। इनमें सर्वाभिमानी (समष्टि अभिमानी) जीव हिरण्यगर्भ कहा जाता है। वह ब्रह्मा आदि रूप से तीन रूपवाला होता है। ईश्वर की तरह उसका चैतन्य अभिव्यक्त होता है। इसलिए यह हिरण्यगर्भ जीव भी है और ईश्वर भी है। हिरण्यगर्भ भी सर्वव्यापी होने से ईश्वर कहा जाता है। वह क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति वाला है। इस तरह सर्व सर्वमय ही है। प्राणों का धारण करने से सभी जीव सर्वजीवमय हैं। सर्व सर्वमय होते हुए भी जीव अल्प है, हिरण्यगर्भ और ईश्वर अनल्प है। और हिरण्यगर्भ सर्वाभिमानी है पर ईश्वर अभिमानशून्य है। इस तरह तीनों में भेद है।

स वा एष भूतानीन्द्रियाणि विराजं देवताः कोशांश्च सृष्ट्वा प्रविश्यमूढो मूढ इव व्यवहरन्नास्ते। माययैव तस्मादद्वय एवायमात्मा सन्मात्रो नित्यः शुद्धो बुद्धः सत्यो मुक्तो निरञ्जनो विभुरद्वयानन्दः परः प्रत्यगेकरसः प्रमाणैरवगतः ॥8॥

जीवेश हिरण्यगर्भादि शब्दों द्वारा कथित यह परमात्मा ही इन भूतों को, इन्द्रियों को, विराट् को,

देवों को और कोशों को रचकर, उनमें प्रवेश करके स्वयं अमूढ होते हुए भी मूढ की तरह व्यवहार करता हुआ रहता है। यह सब माया से ही होता है। इसलिए वास्तव में तो यह आत्मा अद्वैत है, वह केवल सद्रूप है। नित्य, शुद्ध, बुद्ध, सत्य, मुक्त, निरञ्जन है। विभु, अद्वय सबसे परे है। प्रत्यक् का रस और उसका रस एक ही है। शास्त्रप्रमाण से अपवाद और अध्यारोप के द्वारा जाना जा सकता है।

सत्तामात्रं हीदं सर्वम्। सदेव पुरस्तात्सिद्धं हि ब्रह्म। न ह्यत्र किंचनानुभूयते। नाऽविद्याऽनुभवात्मनि स्वप्रकाशे सर्वसाक्षिण्यविक्रियेऽद्वये। पश्यतेहापि सन्मात्रमन्यदसत्। सत्यं हीत्थं पुरस्तादयोनि स्वात्मस्थानन्द चिद्घनं सिद्धं ह्यसिद्धम् ॥9॥

यह दृश्यमान जगत् वास्तव में सत्तामात्र है। और यह सत् तो जगत् की उत्पत्ति से पहले से ही ब्रह्मरूप में सिद्ध ही है। अपनी अनुभूतिरूप प्रमाण से सिद्ध इस आत्मा में सत् में और दूसरा सहसा नहीं अनुभव किया जा सकता। इस अनुभवात्मक स्वयंप्रकाशित सर्वसाक्षीरूप अद्वय और अक्रिय आत्मा में अविद्या नहीं है। हे लोगो ! इस संसारदशा में भी केवल सत् को ही देखो। सत्य से अन्य जो दिखाई देता है वह असत् है। क्योंकि सृष्टि के पहले यह जन्मरहित सत् ही था। वह स्वात्मस्थ ही था आनन्दरूप और चिद्घन था। यह तो स्वतःसिद्ध है, अन्य प्रमाणों से वह असिद्ध है।

तद् विष्णुरीशानो ब्रह्मान्यदपि सर्वं सर्वगतं सर्वमत एव। शुद्धोऽबाध्यस्वरूपो बुद्धः सुखस्वरूप आत्मा। न ह्येतन्निरात्मकमपि नात्मा पुरतो हि सिद्धः। न हीदं सर्व कदाचित्। आत्मा हि स्वमहिमस्थो निरपेक्ष एक एव साक्षी स्वप्रकाशः ॥10॥

वही आत्मा विष्णु है, वही ईशान (शिव) है, वही ब्रह्मा है, और भी सर्वगत सब कुछ जो है, वह वही है। वह शुद्ध ही है, उसके स्वरूप को कोई बाध नहीं कर सकता, वह सुखस्वरूप है। यह निरात्मक जगत् आत्मा नहीं है क्योंकि यह तो जगत् की उत्पत्ति से पहले ही सिद्ध था। यह जगत् तो कभी नहीं था पर स्वमहिमा में अवस्थित यह आत्मा तो निरपेक्षरूप से और साक्षीरूप से स्वयं प्रकाशित सर्वदा विद्यमान ही है।

किं ? तन्नित्यम्। आत्माऽत्र ह्येव न विचिकित्स्यम्। एतद्धीदं सर्वं साधयति। द्रष्टा द्रष्टुः साक्ष्यविक्रयः। सिद्धो निरवद्यो बाह्याभ्यन्तरवीक्षणात् सुविस्फुटस्तमसः परस्तात् ॥11॥
ब्रूतैष दृष्टोऽदृष्टो वेति दृष्टोऽव्यवहार्योऽप्यल्पः ॥12॥

देवों ने पूछा—'वह नित्य क्या है ?' तब प्रजापति ने कहा—'यहाँ आत्मा ही नित्य है, इसमें सोचने की कोई बात नहीं है। वही सब वस्तु सिद्ध करता है। वह द्रष्टा है। व्यावहारिक द्रष्टा का भी वह साक्षी है। वह निष्क्रिय है, वह सर्वदा सिद्ध है, अविद्यारहित है, वह भीतर-बाहर एकसाथ ही देखता है इसलिए स्वयं सुविस्फुट है, और अविद्या से तो दूर ही है। एकदम स्पष्ट है और अन्धकार से परे है।' ऐसा कहकर प्रजापति ने देवों से पूछा—'क्यों ? मेरे द्वारा कहा हुआ यह आत्मा तुमने देखा या नहीं ?' तब देवों ने कहा—'हाँ, वह अव्यवहार्य है। पर हमने अपनी बुद्धि से उसे बहुत ही अल्प जाना'।

नाल्पः साक्ष्यविशेषोऽनन्योऽसुखदुःखोऽद्वयः परमात्मा सर्वज्ञोऽनन्तो-

ऽभिन्नोऽद्वयः । सर्वदा संवित्तिर्मायया नासंवित्तिः । स्वप्रकाशेन यूयमेव दृष्टाः ॥13॥

किम् ? अद्वयेन द्वितीयमेव न यूयमेव ॥14॥

तब प्रजापति ने कहा—'नहीं, यह अल्प नहीं है । क्योंकि यह तो साक्षी है, निर्विशेष है, अनन्य है, सुख-दुःख से परे है, अद्वैत है, परमात्मा है, सर्वज्ञ, अभिन्न, अनन्त, अद्वैत है । सर्वदा संवित्तिरूप है । संविन्मात्र होने से कहीं असंवित्ति है ही नहीं । और उस स्वप्रकाश संवित्ति से तुम्हीं स्वयं को देखने वाले होते हो ।' देवों ने तब पूछा—'यह कैसे ?' उत्तर में प्रजापति बोले—'अद्वैत होने से द्वितीय है ही नहीं और वह तुम्हीं हो' ।

ब्रूह्येव भगवन्निति देवा ऊचुः । यूयमेव । दृश्यते चेन्नात्मज्ञाः । असङ्गो ह्ययमात्माऽतो यूयमेव स्वप्रकाशाः । इदं हि तत्संविन्मयत्वाद्यूय-मेव ॥15॥

देवों ने कहा—'हे भगवन् ! यह कैसे ? यह हमें बताइए ।' तब प्रजापति बोले—तुम्हीं तो वह आत्मा हो । यदि आत्मा से कुछ भी भिन्न देखते हो तो तुम आत्मज्ञ नहीं हो । यह आत्मा तो असंग है । इसलिए तुम्हीं वह स्वप्रकाश आत्मा हो । यह सब संवित् स्वरूप ही है, इसलिए तुम्हीं यह हो ।

नेति होचुः । हन्तासङ्गा वयमिति होचुः । कथं पश्यन्तीति होवाच । न वयं विद्म इति होचुः । ततो यूयमेव स्वप्रकाशा इति होवाच । न च संविन्मया एतौ हि । पुरस्तात् सुविभातमव्यवहार्यमद्वयम् । ज्ञातो वैष विज्ञातः । विदिताविदितात् पर इति होचुः ॥16॥

देवों ने कहा—'हम स्वप्रकाश नहीं हैं, और हम तो असंग हैं ।' तब प्रजापति ने कहा—'क्यों ? तब तुम अपने आपको किस तरह देख सकते हो ?' तब देवों ने कहा—'यह तो हम नहीं जानते ।' तब प्रजापति ने कहा—'क्योंकि तुम्हीं अपने आपको प्रकाशित करने वाले हो ।' तब देवों ने कहा—'हम तो संविद्रूप नहीं हैं क्योंकि ये दो हैं, ऐसा द्वैत ज्ञान हममें है ।' तब प्रजापति बोले—'इस भेदमय जगत् के पहले ही यह आत्मा ब्रह्म स्पष्टरूप से प्रकाशित था, अव्यवहार्य था और अद्वैत था ।' ऐसा कहकर प्रजापति ने देवों से पूछा—'क्या तुमने इस आत्मा को पहचान लिया ?' तब देव लोग बोले—'हाँ । (अथवा इसका अर्थ निषेधात्मक 'नहीं जाना'—ऐसा भी हो सकता है, क्योंकि 'वि' उपसर्ग निषेधात्मक भी है) । यह आत्मा तो विदित और अविदित से परे मालूम होता है ।'

स होवाच तद्वा एतद् ब्रह्माद्वयं बृहत्त्वान्नित्यं शुद्धं बुद्धं मुक्तं सत्यं सूक्ष्मं परिपूर्णमद्वयं सदानन्दचिन्मात्रमात्मैवाव्यवहार्यं केन च । तदेतदात्मा-नमोमित्यपश्यन्तः पश्यत । तदेतत् सत्यमात्मा ब्रह्मैव । ब्रह्मात्मैवात्र ह्येव न विचिकित्स्यमित्यों सत्यम् । तदेतत्पण्डिता एव पश्यन्ति ॥17॥

प्रजापति ने कहा—यह ब्रह्म विशालत्व के कारण अद्वय है । नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्य, सूक्ष्म, परिपूर्ण, अद्वय, सदानन्दचिन्मात्र आत्मा ही है । वह किसी से व्यवहार्य नहीं है । वह यह आत्मा को 'ओम्' के रूप में नहीं देखने वाले तुम लोग उसे ओंकार के रूप में देखो । वह यह सत्य आत्मा ब्रह्मरूप ही है । ब्रह्म ही यह आत्मा है, इसमें सोचने की कोई बात नहीं है । इस प्रकार 'ओम्' ही सत्य है । उसे पण्डित लोग ही पहचान पाते हैं ।

एतद्धयशब्दमस्पर्शमरूपमरसमगन्धमवक्तव्यमनादातव्यमगन्तव्यमविस-र्जयितव्यमनानन्दयितव्यममन्तव्यमबोद्धव्यमनहंकर्तयितव्यमचेतयित-व्यमप्राणयितव्यमनपानयितव्यमव्यानयितव्यमनुदानयितव्यमसमानयि-तव्यमनिन्द्रियमविषयमकरणमलक्षणमसङ्गमगुणमविक्रियमव्यपदेश्य-मसत्त्वमरजस्कमतमस्कममायमभयमप्यौपनिषदमेव सुविभातं सकृद्वि-भातं पुरतोऽस्मात् सर्वस्मात् सुविभातमद्वयं पश्यत हंसः सोहमिति॥18॥

यह तुर्यतुर्य ब्रह्म शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध से रहित है। वह कहा नहीं जा सकता, पकड़ा भी नहीं जा सकता और छोड़ा भी नहीं जा सकता। उसे खुश नहीं किया जा सकता। वह न मन्तव्य है न बोद्धव्य है, वह अहंकाररहित है। उसमें किसी के द्वारा चेतना भरी नहीं गई है। प्राण, अपान, उदान, व्यान, समान आदि से उसे युक्त नहीं किया जा सकता। वह अनिन्द्रिय है, करणरहित है, उसका कोई लक्षण बन नहीं सकता। वह असंग, अगुण, विकाररहित, अनिर्वाच्य, सत्त्व-रज-तम से हीन होकर भी अभय है और केवल उपनिषदों से ही गम्य है। सुस्पष्ट भान करने वाला, नित्यप्रकाशित, इस सर्व जगत् के पहले भी विद्यमान इस ओंकाररूप ब्रह्म को देखो। **'हं'** - त्वंपदार्थ और **स** तत्पदार्थ—दोनों को ('हंसः सोहम्'—मैं वह हूँ और वह मैं हूँ) इस प्रकार पहचानो।

स होवाच किमेष दृष्टो त्वेति। दृष्टो विदिताविदितात्पर इति होचुः। क्वैषा कथमिति होचुः। किं तेन। न किंचनेति होचुः। यूयमेवाश्चर्यरूपा इति होवाच। न चेत्याहुः। ओमित्यनुजानीध्वं ब्रूतैनमिति। ज्ञातोऽज्ञातश्चेति होचुर्न चैवमिति होचुरिति। ब्रूतैवेनमात्मसिद्धमिति होवाच। पश्याम एव भगवो न च वयं पश्यामो नैव वयं वक्तुं शक्नुमो नमस्तेऽस्तु भगवन् प्रसीदेति होचुः। न भेतव्यं पृच्छतेति होवाच। कैषाऽनुज्ञेति। एष एवात्मेति होवाच। तं होचुर्नमस्तुभ्यं वयं त इति। इति ह प्रजापति-र्देवाननुशशासानुशशासेति॥19॥

प्रजापति ने कहा—'क्या तुमने उसे देख लिया ?' देव बोले—'हाँ, वह विदित और अविदित से परे है, ऐसा देखा।' तब प्रजापति ने कहा—'वह स्वात्मसंवित् कहाँ है ?' तब देवों ने कहा—'किस प्रकार से पूछ रहे हैं आप ?' तब प्रजापति ने कहा—'अपनी महिमा में स्थित उस संविद्रूप आत्मा के साक्षात्कार से क्या लाभ होगा ?' देवों ने कहा—'कुछ लाभ नहीं होगा'। तब प्रजापति बोले—'हे देवो ! तुम्हीं तो वह आश्चर्यस्वरूप हो'। तब देवलोग बोले—'हाँ, जब कोई द्वैत है ही नहीं तब ठीक है।' तब प्रजापति बोले—'उसी ब्रह्म को ओंकार के रूप में तुम जानो। पूर्वकथित अशब्दादि निषेधरूप को छोड़कर इस हकारात्मकरूप से उसे जानो। पर पहले तुम अपनी समझ क्या है, वह कहो।' तब देवलोग बोले—'हे भगवन् !' हम उसे देखते हैं और अपने सिवा कुछ नहीं देखते। हम उसके विषय में बोल नहीं सकते। हे भगवन् ! आपको नमस्कार है। आप हम पर प्रसन्न होइए।' तब प्रजापति ने कहा कि 'डरो मत ! फिर भी पूछो।' तब देवों ने पूछा—'यह संवित् क्या है ?' तब प्रजापति ने कहा—'वही तो आत्मा है—आत्मातिरिक्त कोई संवित् नहीं है।' तब देवों ने प्रजापति से कहा—'आपको नमस्कार हो, हम आपके ही (शिष्य) हैं। इस प्रकार प्रजापति ने देवों को उपदेश दिया।

तदेष श्लोकः—
ओतमोतेन जानीयादनुज्ञातारमान्तरम्।
अनुज्ञामद्वयं लब्ध्वा उपद्रष्टारमाव्रजेदिति ॥20॥

इति नवमः खण्डः।

इति नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषत्समाप्ता।

इस उपनिषद् के अर्थ के विषय में यह श्लोक है कि—'सर्वत्र ओतप्रोत इस तुर्य-तुर्य को, ओतेन - तुरीय रूप ओंकार के द्वारा जान लेना चाहिए। यह ओतप्रोत तुर्यतुर्य भीतर का अनुज्ञाता – साक्षी भी है, उसको भी जान लेना चाहिए। इसके बाद प्रत्यगात्मा के साथ परमात्मा के अद्वैत ज्ञान को प्राप्त करके उपद्रष्टारूप तुर्यतुर्य को प्राप्त कर लेना चाहिए।

यहाँ नवम खण्ड पूरा हुआ।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः............देवहितं यदायुः। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

❋

(29) कालाग्निरुद्रोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

परम्परा से कृष्णयजुर्वेद के साथ सम्बद्ध मानी गई इस छोटी सी उपनिषद् में सनत्कुमार के पूछने पर भगवान् कालाग्निरुद्र ने त्रिपुण्ड्र करने की विधि बतलाई है। अग्निहोत्र में से भस्म लेकर निश्चित मन्त्रों का उच्चारण करते हुए ललाट पर, सिर पर, छाती पर और दोनों कन्धों पर त्रिपुण्ड्र खींचना चाहिए। त्रिपुण्ड्र की ये तीन रेखाएँ सत्त्व-रज-तम की, ब्रह्मा-विष्णु-महेश की, विश्व-तैजस-प्राज्ञ की, ॐकार की अ-उ-म इन तीन मात्राओं की, ऋक्-यजु:-साम की, पृथ्वी-अन्तरिक्ष-स्वर्ग की, ज्ञान-क्रिया-इच्छाशक्ति की, गार्हपत्य-आहवनीय-दक्षिणाग्नि की, वैश्वानर-हिरण्यगर्भ-ईश्वर की प्रतीक है। इस प्रकार त्रिपुण्ड्र की विधि और महिमा इस उपनिषद् में बताई गई है।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ .... मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (ब्रह्मोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

अथ कालाग्निरुद्रोपनिषदः संवर्तकोऽग्निर्ऋषिरनुष्टुप् छन्दः श्रीकालाग्निरुद्रो देवता श्रीकालाग्निरुद्रप्रीत्यर्थे विनियोगः ॥1॥

इस कालाग्निरुद्र नामक उपनिषद् के संवर्तक अग्नि ऋषि हैं, अनुष्टुभ् इसका छन्द है, श्रीकालाग्निरुद्र इसके देवता हैं, और श्रीकालाग्निरुद्र देव को प्रसन्न करने के लिए इसका विनियोग किया गया है।

अथ कालाग्निरुद्रं भगवन्तं सनत्कुमारः पप्रच्छ। अधीहि भगवंस्त्रिपुण्ड्रविधिं सतत्त्वं किं द्रव्यं कियत्स्थानं कति प्रमाणं का रेखाः के मन्त्राः का शक्तिः किं दैवतं कः कर्त्ता किं फलमिति ॥2॥

एक बार भगवान् कालाग्निरुद्र से सनत्कुमार ने पूछा—'हे भगवन्! मुझे रहस्य के साथ त्रिपुण्ड्र की विधि का उपदेश दीजिए। यह त्रिपुण्ड्र क्या है? इसका स्थान कहाँ है? इसका प्रमाण (नाप) कितना है? इसकी रेखाएँ कितनी हैं? मन्त्र कौन-कौन से हैं? इसकी शक्ति क्या है? इसका देवता कौन है? इसका कर्त्ता कौन है? और इसका फल क्या है?

तं होवाच भगवान्कालाग्निरुद्रः। यद् द्रव्यं तदाग्नेयं भस्म सद्योजातादिपञ्चब्रह्ममन्त्रैः परिगृह्याग्निरिति भस्म वायुरिति भस्म जलमिति भस्म स्थलमिति भस्म व्योमेति भस्मेत्यनेनाभिमन्त्र्य मानस्तोक इति समुद्धृत्य मा नो महान्तमिति जलेन संसृज्य त्रियायुषमिति शिरोललाटवक्षःस्कन्धेषु त्रियायुषैस्त्र्यम्बकैस्त्रिशक्तिभिस्तिर्यक् तिस्रो रेखाः प्रकुर्वीत।

व्रतमेतच्छाम्भवं सर्वेषु वेदेषु वेदवादिभिरुक्तं भवति । तस्मात्तत्समाचरे-न्मुमुक्षुर्न पुनर्भवाय ॥3॥

तब भगवान् कालाग्निरुद्र ने सनत्कुमार से कहा कि इस त्रिपुण्ड्र का द्रव्य तो सिर्फ अग्निहोत्र की भस्म ही है । 'सद्योजात०' आदि पाँच ब्रह्ममन्त्रों को पढ़ते हुए पहले इस भस्म को धारण (ग्रहण) करना चाहिए । बाद में अग्नि-वायु-जल-स्थल-व्योम पंचभूतादि मन्त्रों से ('अग्निरिति भस्म०' आदि मन्त्रों से) इसे अभिमन्त्रित करना चाहिए । फिर 'मानस्तोक०' इत्यादि मन्त्रों से उस भस्म को करतल से अंगुली द्वारा उठाकर 'मा नो महान्०' आदि मन्त्र से उसे पानी में भिगोकर, 'त्रियायुषं०' इत्यादि मन्त्र पढ़ते हुए सिर, ललाट, छाती और कन्धों पर तीन-तीन रेखाएँ करनी चाहिए । इस समय 'त्रियायुषं०' मन्त्र के साथ 'त्र्यम्बकं यजामहे०' यह मन्त्र भी पढ़ना चाहिए । इसी को 'शाम्भव व्रत' कहते हैं । यह व्रत वेदज्ञों ने सभी वेदों में बताया है । इसलिए मुमुक्षुओं को पुनर्जन्म की निवृत्ति के लिए इसका आचरण करना चाहिए ।

अथ सनत्कुमारः पप्रच्छ प्रमाणमस्य त्रिपुण्ड्रधारणस्य ॥4॥

बाद में सनत्कुमार ने इस त्रिपुण्ड्रधारण के प्रमाण (आकृति आदि) के बारे में पूछा ।

त्रिधा रेखा आललाटादाचक्षुषोरामूर्ध्नोराभ्रुवोर्मध्यतश्च ॥5॥

भगवान् कालाग्निरुद्र ने उत्तर दिया कि दोनों भौहों के मध्य से आरंभ करके आँखों से लेकर पूरे ललाट तक तीन रेखाएँ खींचने का इसका नाप (प्रमाण) है ।

याऽस्य प्रथमा रेखा सा गार्हपत्यश्चाकारो रजो भूर्लोकः स्वात्मा क्रियाशक्तिर्ऋग्वेदः प्रातः सवनं महेश्वरो देवतेति ॥6॥

इस त्रिपुण्ड्र की प्रथम रेखा गार्हपत्याग्निरूप, ॐकार के अकाररूप, रजोगुणरूप, भूर्लोकरूप, स्वात्मरूप, क्रियाशक्तिरूप, ऋग्वेदस्वरूप, प्रात:सवनरूप तथा महेश्वरदेवतारूप है ।

यास्य द्वितीया रेखा सा दक्षिणाग्निरुकारः सत्त्वमन्तरिक्षमन्तरात्मा चेच्छाशक्तिर्यजुर्वेदो माध्यन्दिनं सवनं सदाशिवो देवतेति ॥7॥

इस त्रिपुण्ड्र की जो दूसरी रेखा है, वह दक्षिणाग्नि, ॐकार के उकार, सत्त्वगुण, अन्तरिक्ष लोक, अन्तरात्मा, इच्छाशक्ति, यजुर्वेद, मध्याह्न सवन और सदाशिव देवता का ही स्वरूप है ।

याऽस्य तृतीया रेखा साऽहवनीयो मकारस्तमो द्यौर्लोकः परमात्मा ज्ञानशक्तिः सामवेदस्तृतीयसवनं महादेवो देवतेति ॥8॥

इस त्रिपुण्ड्र की जो तीसरी रेखा है, वह आहवनीय अग्निरूप, ॐकार के मकाररूप, तमोगुण द्युलोक स्वरूप, परमात्मस्वरूप, ज्ञानशक्तिरूप, सामवेदरूप, तृतीयसवनरूप और महादेव देवता का ही स्वरूप है । इस प्रकार ये तीनों रेखाएँ अपने-अपने विशिष्ट अग्नि, लोक, गुण, वेद, आत्मा, ॐकार की मात्रा, सवन और देव का सूचन करने वाली होती हैं ।

एवं त्रिपुण्ड्रविधिं भस्मना करोति यो विद्वान् ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो यतिर्वा स महापातकोपपातकेभ्यः पूतो भवति स सर्वेषु तीर्थेषु स्नातो भवति स सर्वान्वेदानधीतो भवति स सर्वान्देवाञ्ज्ञातो भवति । स सततं सकलरुद्रमन्त्रजापी भवति स सकलभोगान् भुङ्क्ते । देहं त्यक्त्वा

शिवसायुज्यमेति। न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तत इत्याह भगवान् कालाग्निरुद्रः ॥9॥

इस प्रकार की त्रिपुण्ड्र विधि का आचरण यदि कोई भी विद्वान् करे, चाहे वह ब्रह्मचारी हो, या गृहस्थी हो, या वानप्रस्थी हो, या संन्यासी हो, तो वह सभी बड़े और छोटे पापों से मुक्त हो जाता है। उसने सभी तीर्थों में स्नान कर लिया है, ऐसा मानना चाहिए। उसने सभी वेद पढ़ लिए हैं, ऐसा समझना चाहिए। उसने सभी देवों को पहचान लिया है, ऐसा मानना चाहिए। वह निरन्तर सकल रुद्रमन्त्रों को जपता ही है, ऐसा मानना चाहिए। वही समग्र भोगों को सही रूप में भोगता है। वह इस लोक को छोड़कर शिव के साथ एकाकार हो जाता है। वह फिर से यहाँ (मर्त्यलोक में) नहीं लौटता अर्थात् वह वापिस आता ही नहीं है, ऐसा भगवान् कालाग्निरुद्र ने कहा।

यस्त्वेतद् वाऽधीते सोऽप्येवमेव भवतीत्यों सत्यमित्युपनिषत् ॥10॥

इति कालाग्निरुद्रोपनिषत्समाप्ता।

जो मनुष्य इस उपनिषत् का अध्ययन करता है, वह भी उसी प्रकार का अर्थात् शिवलोक को प्राप्त करने वाला होता है। जितना ओंकार सत्य है, उतनी ही यह उपनिषत् भी सत्य है। यहाँ उपनिषत् पूर्ण होती है।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ..........मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

❋

(30) मैत्रेय्युपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

सामवेद से सम्बद्ध इस उपनिषद में तीन अध्याय हैं। जब बृहद्रथ राजा को अपने शरीर की विनश्वरता का बोध हुआ तो उन्होंने अपने बड़े पुत्र को राज्यभार सौंप दिया और आत्मज्ञान पाने के लिए घोर जंगल में तप करने के लिए चले गए। उनके तीव्र तप से प्रभावित होकर मुनि शाकायन्य वहाँ आए और उन्होंने राजा से वर माँगने को कहा। राजा ने आत्मतत्त्व का वर माँगा। तब दोनों का संवाद चला। इसमें शरीर की नश्वरता, बीभत्सता बताई है और अन्त में आत्मतत्त्व का स्वरूप, उसकी प्राप्ति का उपाय, यह प्रथम अध्याय में बताया गया है। द्वितीय अध्याय में मैत्रेय और महादेव का संवाद है। इसमें शिव के ध्यान, ज्ञान, स्नान आदि का अच्छी तरह स्पष्टीकरण करके बाद में संन्यास द्वारा मुक्तिप्राप्ति का बड़े विस्तार से वर्णन किया गया है। और अन्तिम तीसरे अध्याय में विशुद्ध आत्मानुभूति का विस्तार से वर्णन करने के बाद उपनिषद् का महिमागान किया गया है।

शान्तिपाठः

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि..........ते मयि सन्तु। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (आरुण्युपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

प्रथमोऽध्यायः

ॐ बृहद्रथो वै नाम राजा राज्ये ज्येष्ठं पुत्रं निधापयित्वेदमशाश्वतं मन्यमानः शरीरं वैराग्यमुपेतोऽरण्यं जगाम। स तत्र परमं तप आस्थायादित्यमीक्षमाण ऊर्ध्वबाहुस्तिष्ठत्यन्ते सहस्रस्य मुनेरन्तिकमाजगामाग्निरिवाधूमकस्तेजसा निर्दहन्निवात्मविद्भगवाञ्छाकायन्य उत्तिष्ठोत्तिष्ठ वरं वृणीष्वेति राजानमब्रवीत्। स तस्मै नमस्कृत्योवाच भगवन्नाहमात्मवित् त्वं तत्त्वविच्छृणुमो वयं स त्वं नो ब्रूहीति। एतद् वृत्तं पुरस्तादशक्यं मा पृच्छ प्रश्नम्। ऐक्ष्वाकान्यान्कामान्वृणीष्वेति। शाकायन्यस्य चरणावभिमृश्यमानो राजेमां गाथां जगाद ॥1॥

ॐ बृहद्रथ नाम के एक राजा को, यह शरीर विनाशशील है—ऐसा ज्ञान होने पर वैराग्य आ गया। और इसलिए वह अपने बड़े पुत्र को राज्य का भार सौंपकर वन में चला गया। वहाँ उसने बड़ी कठोर तपश्चर्या की। वह सूर्य के सामने ही देखता रहता था। हाथ ऊँचा करके खड़ा रहा करता था। एक हजार वर्ष के बाद इस तपश्चर्या के फलस्वरूप एक बार एक निर्धूम अग्नि जैसे तेजस्वी आत्मज्ञ शाकायन्य महामुनि उसके पास आकर खड़े हो गए और बोले—'उठो, उठो, वरदान माँग लो।' तब राजा ने उन्हें नमस्कार करके कहा—'हे भगवन्! मैं आत्मज्ञानी नहीं हूँ, और हमने सुना है कि आप

तो आत्मज्ञानी हैं। इसलिए आप मुझे इस तत्त्व का उपदेश दीजिए।' तब मुनि शाकायन्य ने—'वह तो बड़ा ही कठिन है।' ऐसा कहकर दूसरा कोई वर माँग लेने को कहा। यह सुनकर बृहद्रथ राजा ने मुनि के दोनों चरणों को पकड़ कर यह बात कही।

अथ किमेतैर्मान्यानां शोषणं महार्णवानां शिखरिणां प्रपतनं ध्रुवस्य प्रचलनं स्थानं वा तरूणां निमज्जनं पृथिव्याः स्थानादपसरणं सुराणाम्। सोऽहमित्येतद्विधेऽस्मिन्संसारे किं कामोपभोगैर्यैरिवाश्रितस्यासकृदुपावर्तनं दृश्यत इत्युद्धर्तुमर्हसीत्यन्धोदपानस्थो भेक इवाहमस्मिन्संसारे इति भगवंस्त्वं नो गतिरिति ॥2॥

(राजा ने कहा कि—) 'बड़े-बड़े सागर सूख जाते हैं, पर्वत भी टूट-फूट जाते हैं, ध्रुवतारा भी अपने स्थान से विचलित होता है, पेड़ गिर पड़ते हैं, यह धरती भी डूब जाती है, देव भी निश्चल नहीं रह पाते, तो फिर उस विनाशशील संसार में विषयभोगों से क्या लाभ हो सकता है ? विषयों में डूबे रहने वालों को तो कई बार इस जन्ममरण के चक्र में घूमता पड़ता है, ऐसा देखा जाता है। इसलिए हे मुनि ! अँधेरे कुएँ में पड़े हुए मेंढक जैसे मेरा उद्धार करने के लिए आप योग्य हैं। हे भगवन् ! इस संसार में आप ही मेरा आश्रय हैं।'

भगवञ्शरीरमिदं मैथुनादेवोद्भूतं संविदपेतं निरय एव मूत्रद्वारेण निष्क्रान्तमस्थिमिश्रितं मांसेनानुलिप्तं चर्मणावबद्धं विण्मूत्रवातपित्तकफमज्जामेदोवसाभिरन्यैश्च मलैर्बहुभिः परिपूर्णम्। एतादृशे शरीरे वर्तमानस्य भगवंस्त्वं नो गतिरिति ॥3॥

'हे भगवन् ! मैथुन से ही उत्पन्न हुआ यह शरीर यदि ज्ञान से रहित हो, तब तो वह नरक ही है, क्योंकि वह मूत्र के द्वार से निकला है, हड्डियों से उसे आकार दिया गया है, मांस से उसे लेपा गया है, चमड़ी से उसे मढ़ा गया है और विष्टा, मूत्र, वात, पित्त, कफ, मज्जा, मेद, चर्बी और अन्य अनेक प्रकार की मलिनताओं से भरा-पूरा है। ऐसे शरीर में रहे हुए मेरा आप ही एकमात्र आश्रय हैं।'

अथ भगवाञ्शाकायन्यः सुप्रीतोऽब्रवीद्राजानम्। महाराज बृहद्रथेक्ष्वाकुवंशध्वजशीर्षात्मज्ञः कृतकृत्यस्त्वं मरुन्नाम्नो विश्रुतोऽसीत्ययं खल्वात्मा ते। कलमो भगवान्वर्ण्य इति तं होवाच ॥4॥

यह सुनकर भगवान् शाकायन्य ने बहुत प्रसन्न होकर कहा—'हे महाराज बृहद्रथ ! तुम सचमुच बड़े ही भाग्यशाली – कृतकृत्य हो। 'मरुत्' नाम से तुम विख्यात हो, यही तुम्हारा आत्मा है।' तब राजा ने कहा—'वह कौन-सा आत्मा है ? हे भगवन् ! आप उसका वर्णन कीजिए'। तब मुनि ने उससे कहा कि—

शब्दस्पर्शमया येऽर्था अनर्था इव ते स्थिताः।
तेषां सक्तस्तु भूतात्मा न स्मरेच्च परं पदम् ॥5॥

जो शब्द, स्पर्श आदि विषय हैं, वे बड़े ही अनर्थ करने वाले हैं। उनमें आसक्त रहने वाला जीवात्मा परमपद को कभी याद नहीं कर सकता।

तपसा प्राप्यते सत्त्वं सत्त्वात्सम्प्राप्यते मनः।
मनसा प्राप्यते ह्यात्मा ह्यात्मापत्त्या निवर्तते ॥6॥

तप-साधना से ज्ञान प्राप्त होता है, ज्ञान से मन वश में आता है, मन के वश में आने से आत्मा की प्राप्ति होती है और आत्मा की प्राप्ति से मोक्ष मिलता है।

यथा निरिन्धनो वह्निः स्वयोनावुपशाम्यति।
तथा वृत्तिक्षयाच्चित्तं स्वयोनावुपशाम्यति ॥7॥

काष्ठ जब खत्म हो जाते हैं, तब आग स्वतः अपने में ही (अपने उत्पत्ति स्थान में ही) लीन हो जाती है, ठीक उसी प्रकार जब चित्तवृत्तियाँ क्षीण हो जाती हैं, तब मन अपने कारणरूप आत्मा में लीन हो जाता है।

स्वयोनावुपशान्तस्य मनसः सत्यगामिनः।
इन्द्रियार्थविमूढस्यानृताः कर्मवशानुगाः ॥8॥

जब इन्द्रियों के विषयों में लीन विमूढ मन स्वयं ही अपने कारण में शान्त हो जाता है, और सत्य ही ओर झुक जाता है, तब कर्मों के वश में रहे हुए विषय ऐसे मन को झूठे ही लगते हैं।

चित्तमेव हि संसारस्तत्प्रयत्नेन शोधयेत्।
यच्चित्तस्तन्मयो भवति गुह्यमेतत्सनातनम् ॥9॥

हमारा मन ही संसार है, इसलिए प्रयत्नपूर्वक उसको शुद्ध करना चाहिए। 'जैसा जिसका चित्त होता है, वैसा ही वह मनुष्य होता है।' यह तो सनातन रहस्य है।

चित्तस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाशुभम्।
प्रसन्नात्माऽत्मनि स्थित्वा सुखमक्षयमश्नुते ॥10॥

चित्त की प्रसन्नता से ही (शान्ति से ही) शुभ या अशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं। और वह प्रसन्न-शान्त मनुष्य जब अपनी आत्मा में लीन हो जाता है, तब वह अक्षय सुख भोगता है।

समासक्तं यदा चित्तं जन्तोर्विषयगोचरम्।
यद्येवं ब्रह्मणि स्यात्तत्को न मुच्येत बन्धनात् ॥11॥

बाहर के विषयों में मनुष्य का मन जितना आसक्त होता है, उतना ही यदि ब्रह्म में लगा रहे, तब भला कौन मुक्त नहीं होगा ? अर्थात् सभी मुक्त हो ही जाएँगे।

हृत्पुण्डरीकमध्ये तु भावयेत्परमेश्वरम्।
साक्षिणं बुद्धिवृत्तस्य परमप्रेमगोचरम् ॥12॥

हृदयरूपी कमल के बीच में बुद्धि के समस्त कार्यों के साक्षी ऐसे तथा परम प्रेम के स्थानरूप परमेश्वर का ध्यान करना चाहिए।

अगोचरं मनोवाचामवधूतादिसम्प्लवम्।
सत्तामात्रप्रकाशैकप्रकाशं भावनातिगम् ॥13॥

वह परमेश्वर वाणी और मन की पहुँच के बाहर है। उसमें न आदि है न अन्त है। केवल 'सत्' रूप प्रकाश से (अस्तित्व के प्रकाश से ही) वह प्रकाशित है और कल्पना से परे है।

अहेयमनुपादेयमसामान्यविशेषणम्।
ध्रुवं स्तिमितगम्भीरं न तेजो न तमस्ततम्।
निर्विकल्पं निराभासं निर्वाणमयसंविदम् ॥14॥

उसको ग्रहण किया जाए या छोड़ दिया जाए, ऐसी कोई भावना उसके सम्बन्ध में नहीं की जा सकती। उसे सामान्य भी नहीं कहा जा सकता और विशेष भी नहीं कहा जा सकता। वह निश्चल है,

शान्त है, गंभीर है। वह तेज भी नहीं है और फैला हुआ अन्धकार भी नहीं है। वह संकल्परहित, आभासरहित और मुक्तरूप चैतन्य है।

नित्यः शुद्धो बुद्धमुक्तस्वभावः सत्यः सूक्ष्मः संविभुश्चाद्वितीयः ।
आनन्दाब्धिर्यः परः सोऽहमस्मि प्रत्यग्धातुर्नात्र संशीतिरस्ति ॥15॥

वह नित्य, शुद्ध, ज्ञानमय, मुक्तस्वभाववाला, सत्य, सूक्ष्म, सर्वव्यापक एवं एक (अद्वितीय) है। वह आनन्द का सागर है, वह सबसे परे है, और वह मैं ही हूँ। प्रत्येक स्वरूप धारण करने वाला वह मैं ही हूँ, इसमें कोई शंका नहीं है।

आनन्दमन्तर्निजमाश्रयं तमाशापिशाचीमवमानयन्तम् ।
आलोकयन्तं जगदिन्द्रजालमापत्कथं मां प्रविशेदसङ्गम् ॥16॥

अन्तःकरण में प्राप्त होने वाले आनंद के आश्रय में रहने वाली आशा नाम की पिशाचिनी को दूर धकेलने वाले एवं सारे जगत् को इन्द्रजाल के समान देखने वाले मुझ असंग में भला आपद् (दुःख) कैसे प्रविष्ट हो सकेगा ?

वर्णाश्रमाचारयुता विमूढाः कर्मानुसारेण फलं लभन्ते ।
वर्णादिधर्मं हि परित्यजन्तः स्वानन्दतृप्ताः पुरुषा भवन्ति ॥17॥

वर्ण और आश्रम धर्म का पालन करने वाले मूढ लोग ही अपने-अपने कर्मों के फल भोगते हैं और वर्णाश्रम धर्मों को छोड़नेवाले ही अपने आत्मा में ही संतुष्ट रहने वाले हो जाते हैं।

वर्णाश्रमं सावयवं स्वरूपमाद्यन्तयुक्तं ह्यतिकृच्छ्रमात्रम् ।
पुत्रादिदेहेष्वभिमानशून्यं भूत्वा वसेत्सौख्यतमे ह्यनन्त । इति ॥18॥

इति प्रथमोऽध्यायः ।

वर्णाश्रम के धर्म और यह सावयव शरीर—ये सब आदि और अन्तवाले हैं, और इसलिए बड़े ही कष्टदायक हैं। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह पुत्रादि के शरीरों में ममत्व से शून्य होकर परमानन्दरूप अनन्त में स्थिर बना रहे।

यहाँ प्रथम अध्याय पूरा हुआ।

❋

द्वितीयोऽध्यायः

अथ भगवान्मैत्रेयः कैलासं जगाम । तं गत्वोवाच भो भगवन्परमतत्त्व-रहस्यमनुब्रूहीति । स होवाच महादेवः—
दहो देवालयः प्रोक्तः स जीवः केवलः शिवः ।
त्यजेदज्ञाननिर्माल्यं सोऽहंभावेन पूजयेत् ॥1॥

एक बार भगवान् मैत्रेय कैलास पर्वत पर गए। वहाँ जाकर उन्होंने महादेव से कहा कि—'हे भगवन्! आप मुझे परमतत्त्व का रहस्य कहिए।' तब महादेव बोले 'शरीर देवालय है और उसमें जो जीव दीखता है, वह शिव ही है। इसलिए अज्ञानरूप निर्माल्य को (बासी पुष्प जैसा मानकर) छोड़ देना चाहिए और 'वह (शिव) मैं ही हूँ' इस प्रकार मानकर उसकी पूजा करनी चाहिए।

अभेददर्शनं ज्ञानं ध्यानं निर्विषयं मनः ।
स्नानं मनोमलत्यागः शौचमिन्द्रियनिग्रहः ॥2॥

अभेद का दर्शन ही सच्चा ज्ञान है, विषयरहित मनोदशा ही सच्चा ध्यान है । मन की मलिनता का त्याग ही सच्चा स्नान है और इन्द्रियों को वश में लाना ही वास्तविक पवित्रता है ।

ब्रह्मामृतं पिबेद्‌भैक्षमाचरेद्देहरक्षणे ।
वसेदेकान्तिको भूत्वा चैकान्ते द्वैतवर्जिते ।
इत्येवमाचरेद्धीमान्स एवं मुक्तिमाप्नुयात् ॥3॥

सदैव ब्रह्मरूपी अमृत का पान करते रहना चाहिए । केवल देह को स्थिर रखने के लिए ही भिक्षा माँगनी चाहिए । जहाँ कोई दूसरा न हो ऐसे एकान्त स्थल में अकेला ही रहना चाहिए । बुद्धिमान मनुष्य को इस प्रकार का आचरण करना चाहिए । ऐसा आचरण करने वाला वह मोक्ष प्राप्त करता है ।

जातं मृतमिमं देहं मातापितृमलात्मकम् ।
सुखदुःखालयामेध्यं स्पृष्ट्वा स्नानं विधीयते ॥4॥

माता-पिता के मल (शुक्र-शोणित) से उत्पन्न, जन्मते और मरते हुए, और सुखों एवं दु:खों के निवासरूप अपवित्र ऐसे शरीर का स्पर्श करने के बाद स्नान कर लेने को कहा गया है ।

धातुबद्धं महारोगं पापमन्दिरमध्रुवम् ।
विकाराकारविस्तीर्णं स्पृष्ट्वा स्नानं विधीयते ॥5॥

सप्त धातुओं से गढ़े गए, भयंकर रोगों से युक्त, पाप के घर के समान, अस्थिरता और विकारों से भरे हुए इस शरीर का स्पर्श करके स्नान करने का कहा गया है ।

नवद्वारमलस्रावं सदा काले स्वभावजम् ।
दुर्गन्धं दुर्मलोपेतं स्पृष्ट्वा स्नानं विधीयते ॥6॥

आँख-कान-नाक आदि नव द्वारों से सदा-सर्वदा जिस देहरूपी महालय से स्वभाव से ही मल निकलता ही रहता है, ऐसे दुर्गन्धमय दूषित मैल से युक्त इस शरीर का स्पर्श कर स्नान कर लेना चाहिए ।

मातृसूतकसम्बन्धं सूतके सह जायते ।
मृतसूतकजं देहं स्पृष्ट्वा स्नानं विधीयते ॥7॥

माता के सूतक के साथ सम्बद्ध होकर ही मनुष्य जन्म लेता है और मरण के सूतक के साथ तो वह होता ही है इसलिए ऐसे उभयतः सूतक वाले शरीर का स्पर्श करके नहा लेना चाहिए ।

अहं ममेति विण्मूत्रलेपगन्धादिमोचनम् ।
शुद्धशौचमिति प्रोक्तं मृज्जलाभ्यां तु लौकिकम् ॥8॥

मल-मूत्र आदि दुर्गन्ध की शुद्धि तो पानी और मिट्टी से होती है, ठीक है, परन्तु वह तो लौकिक शुद्धि ही कही गई है । वास्तविक शुद्धि तो 'मैं और मेरा'—इस भाव के त्याग द्वारा ही हो सकती है ।

चित्तशुद्धिकरं शौचं वासनात्रयनाशनम् ।
ज्ञानवैराग्यमृत्तोयैः क्षालनाच्छौचमुच्यते ॥9॥

और ऐसी शुद्धि (पवित्रता) मन की शुद्धि करती है । ऐसी पवित्रता मन में स्थित तीनों प्रकार की

वासनाओं (लोकैषणा, वित्तैषणा, पुत्रैषणा) को दूर करती है। ज्ञान और वैराग्यरूपी मिट्टी और पानी से मन को धोने से वही शौच कहलाता है (वास्तविक शौच यही है)।

अद्वैतभावनाभैक्षमभक्ष्यं द्वैतभावनम्।
गुरुशास्त्रोक्तभावेन भिक्षोर्भैक्षं विधीयते ॥10॥

अद्वैत की भावना करना ही सही रूप में भिक्षावृत्ति है और द्वैत की भावना ही अभक्ष्य (अखाद्य) है। गुरु और शास्त्रों में कहे गए भावों के अनुसार ही भिक्षुक को भिक्षा माँगनी चाहिए।

विद्वान्स्वदेशमुत्सृज्य संन्यासानन्तरं स्वतः।
कारागारविनिर्मुक्तचौरवद्दूरतो वसेत् ॥11॥

संन्यास के बाद उस आत्मज्ञ पुरुष को स्वयं ही कारागार से छोड़े गए चोर की तरह अपने देश को त्यागकर दूर-दूर निवास करना चाहिए (एकान्त में रहना चाहिए)।

अहंकारसुतं वित्तभ्रातरं मोहमन्दिरम्।
आशापत्नीं त्यजेद्यावत्तावन्मुक्तो न संशयः ॥12॥

अहंकाररूपी पुत्र को, धनरूपी भाई को, मोहरूपी घर को और आशारूपी पत्नी को मनुष्य जैसे ही छोड़ता है, वैसे ही मुक्त हो जाता है, इसमें शंका नहीं है।

मृता मोहमयी माता जातो बोधमयः सुतः।
सूतकद्वयसम्प्राप्तौ कथं सन्ध्यामुपास्महे ॥13॥

मोहरूपी माता मर गई है और बोधरूपी बेटे ने जन्म लिया है। इस तरह दोनों ओर से सूतक लग जाने से भला हम किस तरह सन्ध्योपासन कर सकते हैं?

हृदाकाशे चिदादित्यः सदा भासति भासति।
नास्तमेति न चोदेति कथं सन्ध्यामुपास्महे ॥14॥

इस हृदयरूपी आकाश में चिद्रूपी सूर्य सदासर्वदा भासित ही रहता है। वह कभी अस्त नहीं होता और उदय भी नहीं होता, तो सन्ध्योपासन कैसे कर सकते हैं?

एकमेवाद्वितीयं यद् गुरोर्वाक्येन निश्चितम्।
एतदेकान्तमित्युक्तं न मठो न वनान्तरम् ॥15॥

गुरु के उपदेशवाक्य से जो 'एक ही अद्वितीय है—' ऐसा निश्चय किया गया है, वही तो सही रूप में एकान्त है। किसी एक या दूसरे वन में एकान्त नहीं है।

असंशयवतां मुक्तिः संशयाविष्टचेतसाम्।
न मुक्तिर्जन्मजन्मान्ते ततो विश्वासमाप्नुयात् ॥16॥

संशयरहित मनुष्यों की ही मुक्ति होती है। संशय से घिरे हुए मनवालों की जन्म-जन्मान्तर में भी मुक्ति नहीं होती। इसलिए श्रद्धा रखनी चाहिए।

कर्मत्यागान्न संन्यासो न प्रेयोच्चारणेन तु।
सन्धौ जीवात्मनोरैक्यं संन्यासः परिकीर्तितः ॥17॥

कर्मों को छोड़ देना ही संन्यास नहीं है। और 'मैं संन्यासी हूँ'—ऐसे अपने को प्रिय लगने वाले उच्चारण करने से भी कोई संन्यासी नहीं बन जाता। अपितु समाधि में जीव और परमात्मा का ऐक्य ही वास्तविक संन्यास कहा जाता है।

वमनाहारवद्यस्य भाति सर्वेषणादिषु ।
तस्याधिकारः संन्यासे त्यक्तदेहाभिमानिनः ॥18॥

जिस मनुष्य को अपनी सभी एषणाएँ वमन किये हुए (उगले हुए) आहार जैसी लगती है, और जिसने अपने देह के अभिमान को छोड़ दिया है, उसी को संन्यास लेने का अधिकार है।

यदा मनसि वैराग्यं जातं सर्वेषु वस्तुषु ।
तदैव संन्यसेद्विद्वानन्यथा पतितो भवेत् ॥19॥

जब मन में संसार की सभी वस्तुओं को प्रति वैराग्य उत्पन्न हो गया हो, तभी उस विद्वान् को संन्यास ग्रहण करना चाहिए। ऐसा न होने पर तो वह पतित हो जाएगा।

द्रव्यार्थमन्नवस्त्रार्थं यः प्रतिष्ठार्थमेव च ।
संन्यसेदुभयभ्रष्टः स मुक्तिं नाप्तुमर्हति ॥20॥

यदि कोई द्रव्य के लिए, या अन्न-वस्त्र के लिए अथवा प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए संन्यास ग्रहण करेगा तो वह दोनों ओर से भ्रष्ट हुआ मुक्ति को पाने के लिए योग्य नहीं है।

उत्तमा तत्त्वचिन्तैव मध्यमं शास्त्रचिन्तनम् ।
अधमा मन्त्रचिन्ता च तीर्थभ्रान्त्यधमाधमा ॥21॥

तत्त्वचिन्तन सबसे उत्तम है, शास्त्रों का चिन्तन मध्यम है, मन्त्र का चिन्तन अधम है और तीर्थों में भ्रमण करना तो अधम से भी अधम है।

अनुभूतिं विना मूढो वृथा ब्रह्मणि मोदते ।
प्रतिबिम्बितशाखाग्रफलास्वादनमोदवत् ॥22॥

प्रतिबिम्ब में दिखाई देने वाले पेड़ के फल के आस्वाद की तरह मनुष्य वास्तविक अनुभव के बिना झूठे ही ब्रह्म के बारे में आनन्द लेता है।

न त्यजेच्चेद्यतिर्भुक्तो यो माधुकरमातरम् ।
वैराग्यजनकं श्रद्धाकलत्रं ज्ञाननन्दनम् ॥23॥

जो ज्ञानी माधुकरीरूपी मात्रा को, वैराग्यरूपी पिता को, श्रद्धारूपी पत्नी को और ज्ञानरूपी बेटे को नहीं छोड़ता, वह विनिर्मुक्त (मुक्त) ही हो जाता है।

धनवृद्धा वयोवृद्धा विद्यावृद्धास्तथैव च ।
ते सर्वे ज्ञानवृद्धस्य किंकराः शिष्यकिंकराः ॥24॥

जो लोग धन से बड़े हैं, विद्या से बड़े हैं, उम्र से बड़े हैं, ये सभी ज्ञान से युक्त पुरुष के नौकर के जैसे और शिष्य जैसे छोटे ही हैं, ऐसा समझना चाहिए।

यन्मायया मोहितचेतसो मामात्मानमापूर्णमलब्धवन्तः ।
परं विदग्धोदरपूरणाय भ्रमन्ति काका इव सूरयोऽपि ॥25॥

जो लोग माया से मोहित चित्तवाले होते हैं, जो 'मैं आत्मा हूँ' इस प्रकार अपने आत्मा को पूर्ण रूप से नहीं जानते, वे लोग विद्वान् होते हुए भी कौओं की ही तरह केवल पेट भरने के लिए ही इधर-उधर दौड़कर दुर्भाग्यपूर्ण जीवन जीते हैं।

पाषाणलोहमणिमृण्मयविग्रहेषु पूजा पुनर्जननभोगकरी मुमुक्षोः ।
तस्माद्यतिः स्वहृदयार्चनमेव कुर्याद्बाह्यार्चनं परिहरेदपुनर्भवाय ॥26॥

पत्थर, मणि, लोहे, मिट्टी आदि से बनी हुई मूर्त्तियों की पूजा तो मुमुक्षु के लिए फिर से जन्म-मरण का भोग कराने वाली है। इसलिए यति (सन्यासी) को तो अपने हृदय में ही अर्चन-पूजन करना चाहिए और मोक्ष के लिए बाह्य पूजन को उसे छोड़ ही देना चाहिए।

अन्तःपूर्णो बहिःपूर्णः पूर्णकुम्भ इवार्णवे।
अन्तःशून्यो बहिःशून्यः शून्यकुम्भ इवाम्बरे ॥27॥

समुद्र में डूबा हुआ घड़ा भीतर और बाहर भरा-भरा ही रहता है और खाली जगह (शून्य) में रहा हुआ बाहर और भीतर से खाली ही रहता है।

मा भव ग्राह्यभावात्मा ग्राहकात्मा च मा भव।
भावनामखिलां त्यक्त्वा यच्छिष्टं तन्मयो भव ॥28॥

तुम ग्राह्य (ग्रहण होने वाले) मत बनो। तुम ग्राहक (ग्रहण करने वाले विषयरूप) भी मत बनो। ग्राह्यग्राहक भावना को छोड़कर जो शेष रहता है, उसके परायण हो जाओ।

द्रष्टृदर्शनदृश्यानि त्यक्त्वा वासनया सह।
दर्शनप्रथमाभासमात्मानं केवलं भव ॥29॥

दृश्य, दर्शन और द्रष्टा—तीनों को वासना के साथ छोड़कर, जो दर्शनों का मूल आभास है, केवल उसी आत्मस्वरूप में अवस्थित रहो।

संशान्तसर्वसंकल्पा या शिलावदवस्थितिः।
जाग्रन्निद्राविनिर्मुक्ता सा स्वरूपस्थितिः परा ॥30॥

इति द्वितीयोऽध्यायः।

जिस स्थिति में सब संकल्प शान्त हो गए हैं, जो जाग्रत् और निद्रा से विमुक्त है, ऐसी शिलाखण्ड (दृढ़-निश्चेष्ट) जैसी अवस्था ही पारमार्थिक दृष्टि से परम अवस्था है।

यहाँ दूसरा अध्याय पूरा हुआ।

❈

तृतीयोऽध्यायः

अहमस्मि परश्चास्मि ब्रह्मास्मि प्रभवोऽस्म्यहम्।
सर्वलोकगुरुश्चास्मि सर्वलोकेऽस्मि सोऽस्म्यहम् ॥1॥

मैं हूँ, दूसरा भी मैं हूँ, मैं ब्रह्म हूँ, उत्पत्ति मैं हूँ, सभी लोगों का गुरु मैं हूँ और सभी लोक में भी मैं हूँ, वह मैं हूँ।

अहमेवाऽस्मि सिद्धोऽस्मि शुद्धोऽस्मि परमोऽस्म्यहम्।
अहमस्मि सदा सोऽस्मि नित्योऽस्मि विमलोऽस्म्यहम् ॥2॥

मैं ही तो हूँ, मैं सिद्ध हूँ, मैं ही शुद्ध हूँ, परम भी तो मैं ही हूँ। मैं शाश्वत हूँ, मैं ही सतत रहने वाला हूँ, मैं निर्मल हूँ।

विज्ञानोऽस्मि विशेषोऽस्मि सोमोऽस्मि सकलोऽस्म्यहम्।
शुभोऽस्मि शोकहीनोऽस्मि चैतन्योऽस्मि समोऽस्म्यहम् ॥3॥

मैं ही विज्ञान हूँ, मैं ही विशेष हूँ, मैं सोम हूँ, सब कुछ मैं ही हूँ, मैं शोकरहित हूँ, मैं मंगलकारी हूँ, चैतन्यरूप भी मैं ही हूँ, और सर्वत्र समरूप मैं हूँ।

मानावमानहीनोऽस्मि निर्गुणोऽस्मि शिवोऽस्म्यहम् ।
द्वैताद्वैतविहीनोऽस्मि द्वन्द्वहीनोऽस्मि सोऽस्म्यहम् ॥4॥

मैं मान और अपमान से रहित हूँ, मैं निर्गुण हूँ, मैं शिव हूँ, मैं द्वैत और अद्वैत से परे हूँ, मैं सुख-दु:खादि द्वन्द्वों से परे हूँ; वही मैं हूँ।

भावाभावविहीनोऽस्मि भासाहीनोऽस्मि भास्म्यहम् ।
शून्याशून्यप्रभावोऽस्मि शोभनाशोभनोऽस्म्यहम् ॥5॥

मैं उत्पत्ति और विनाश से रहित हूँ, मैं प्रकाशहीन भी हूँ और प्रकाशस्वरूप भी हूँ, मैं शून्य और अशून्य दोनों हूँ, और शोभन और अशोभन (सुन्दर और विरूप) मैं ही हूँ।

तुल्यातुल्यविहीनोऽस्मि नित्यः शुद्धः सदाशिवः ।
सर्वासर्वविहीनोऽस्मि सात्त्विकोऽस्मि सदास्म्यहम् ॥6॥

मुझमें न समता है, न विषमता है, मैं तो नित्य, शुद्ध और सदाशिवरूप हूँ। सर्व या असर्व की कल्पना मुझमें नहीं है, मैं सदैव सात्त्विक हूँ।

एकसंख्याविहीनोऽस्मि द्विसंख्यावानहं न च ।
सदसद्भेदहीनोऽस्मि संकल्परहितोऽस्म्यहम् ॥7॥

मैं न तो एक संख्यावाला हूँ, न ही दो संख्यावाला हूँ। मुझमें सद्-असद् जैसा कोई भेद ही नहीं है, मैं सभी संकल्पों से रहित हूँ।

नानात्मभेदहीनोऽस्मि ह्यखण्डानन्दविग्रहः ।
नाहमस्मि न चान्योऽस्मि देहादिरहितोऽस्म्यहम् ॥8॥

मैं विविधतारहित और अखण्ड आत्मस्वरूप हूँ। मैं 'मैं' भी नहीं हूँ और कोई अन्य भी मैं नहीं हूँ। मैं देह आदि से रहित हूँ।

आश्रयाश्रयहीनोऽस्मि आधाररहितोऽस्म्यहम् ।
बन्धमोक्षादिहीनोऽस्मि शुद्धब्रह्मास्मि सोऽस्म्यहम् ॥9॥

मेरा कोई आश्रय और अवलम्बन नहीं है। मेरा कोई बन्ध और मोक्ष भी नहीं। जो शुद्ध ब्रह्म है, वही मैं हूँ।

चित्तादिसर्वहीनोऽस्मि परमोऽस्मि परात्परः ।
सदा विचाररूपोऽस्मि निर्विचारोऽस्मि सोऽस्म्यहम् ॥10॥

मैं चित्त आदि सबसे रहित हूँ, मैं परम से भी परम हूँ। मैं सदैव विचारयुक्त होने पर भी वास्तव में निर्विचार ही हूँ। वही मैं हूँ।

अकारोकाररूपोऽस्मि मकारोऽस्मि सनातनः ।
ध्यातृध्यानविहीनोऽस्मि ध्येयहीनोऽस्मि सोऽस्म्यहम् ॥11॥

मैं ॐकार का अकार, उकार और मकाररूप सनातन ब्रह्म हूँ। ध्याता और ध्यान से भी रहित हूँ। मेरा कोई ध्येय नहीं है, केवल वही मैं हूँ।

सर्वपूर्णस्वरूपोऽस्मि सच्चिदानन्दलक्षणः ।
सर्वतीर्थस्वरूपोऽस्मि परमात्माऽस्म्यहं शिवः ।।12।।

मैं सब कुछ हूँ, पूर्ण स्वरूप हूँ, सच्चिदानन्द मेरा लक्षण है, सभी तीर्थों का स्वरूप मैं ही हूँ, मैं परमात्मा हूँ, मैं शिव हूँ।

लक्ष्यालक्ष्यविहीनोऽस्मि लयहीनरसोऽस्म्यहम् ।
मातृमानविहीनोऽस्मि मेयहीनः शिवोऽस्म्यहम् ।।13।।

मैं लक्ष्य और अलक्ष्य से रहित हूँ। मैं कभी लय न होने वाले रस का स्वरूप हूँ। मेरा कोई नापने वाला नहीं, मुझे नापने का कोई प्रमाण नहीं है। मैं किसी का प्रमेय नहीं हूँ। मैं तो केवल सदाशिव ही हूँ।

न जगत्सर्वद्रष्टाऽस्मि नेत्रादिरहितोऽस्म्यहम् ।
प्रवृद्धोऽस्मि प्रबुद्धोऽस्मि प्रसन्नोऽस्मि परोऽस्म्यहम् ।।14।।

मैं जगत् का सर्वद्रष्टा भी नहीं हूँ, मैं आँख आदि इन्द्रियों से रहित हूँ। विस्तृत हुआ भी मैं हूँ, ज्ञानवान भी मैं हूँ, मैं ही प्रसन्न हूँ, मैं सबसे परे हूँ।

सर्वेन्द्रियविहीनोऽस्मि सर्वकर्मकृदप्यहम् ।
सर्ववेदान्ततृप्तोऽस्मि सर्वदा सुलभोऽस्म्यहम् ।।15।।

मैं सभी इन्द्रियों से रहित होते हुए भी सभी कर्मों को करता हूँ। सभी वेदान्तों के – उपनिषदों के द्वारा मैं ही तृप्त किया गया हूँ और मैं ही हमेशा सब लोगों को सुलभ होता हूँ।

मुदितामुदिताख्योऽस्मि सर्वमौनफलोऽस्म्यहम् ।
नित्यचिन्मात्ररूपोऽस्मि सदा सच्चिन्मयोऽस्म्यहम् ।।16।।

आनन्दरूप भी मैं और शोकरूप भी मैं ही हूँ। मैं सब मौन का फल हूँ। मैं सर्वदा चिन्मयस्वरूप ही हूँ। सदा सत् और केवल चित्स्वरूप मैं ही हूँ।

यत्किञ्चिदपि हीनोऽस्मि स्वल्पमप्यति नास्म्यहम् ।
हृदयग्रन्थिहीनोऽस्मि हृदयाम्भोजमध्यगः ।।17।।

जो कुछ हीन है, वह मैं हूँ, फिर भी मैं हीन नहीं हूँ, मैं न अल्प हूँ, न अधिक हूँ। मुझमें हृदय की ग्रन्थि नहीं है। हृदयरूपी कमल के बीच में मैं रहता हूँ।

षड्विकारविहीनोऽस्मि षट्कोशरहितोऽस्म्यहम् ।
अरिषड्वर्गमुक्तोऽस्मि अन्तरादन्तरोस्म्यहम् ।।18।।

मैं जन्मादि छः विकारों से रहित हूँ, मैं अन्नमयादि छः कोशों से रहित हूँ। मैं कामादि छः शत्रुओं से रहित हूँ। मैं गहरे से गहरे स्थान में रहता हूँ।

देशकालविमुक्तोऽस्मि दिगम्बरसुखोऽस्म्यहम् ।
नास्ति नास्ति विमुक्तोऽस्मि नकारसहितोऽस्म्यहम् ।।19।।

मैं देश और काल से विमुक्त हूँ, मैं दिशा, आकाश और आनन्दरूप हूँ। 'वह नहीं यह नहीं'— वह भी तो मैं ही हूँ, मैं मुक्त हूँ, नकार के साथ सब कुछ मैं ही हूँ।

अखण्डाकाशरूपोऽस्मि अखण्डाकारमस्म्यहम् ।
प्रपञ्चयुक्तचित्तोऽस्मि प्रपञ्चरहितोऽस्म्यहम् ॥20॥

मैं अखण्ड आकाश हूँ और अखण्ड आकार हूँ। मैं इस प्रपञ्च से (जगत् से) मुक्त चित्तवाला हूँ प्रपञ्च से (जगत् से) रहित भी मैं हूँ।

सर्वप्रकाशरूपोऽस्मि चिन्मात्रज्योतिरस्म्यहम् ।
कालत्रयविमुक्तोऽस्मि कामादिरहितोऽस्म्यहम् ॥21॥

मैं सबका प्रकाशरूप हूँ, मैं चिन्मात्र और ज्योति:स्वरूप मात्र हूँ। मैं तीनों कालों से अतिक्रान्त हूँ। मैं कामनाओं से रहित ही हूँ।

कायिकादिविमुक्तोऽस्मि निर्गुणः केवलोऽस्म्यहम् ।
मुक्तिहीनोऽस्मि मुक्तोऽस्मि मोक्षहीनोऽस्म्यहं सदा ॥22॥

मैं शरीरादि से परे हूँ, मैं निर्गुण हूँ, मैं एक (अद्वितीय) हूँ, मैं मोक्षरहित हूँ, परन्तु मुक्त हूँ। मैं सदा मोक्ष से रहित ही हूँ।

सत्यासत्यविहीनोऽस्मि सन्मात्रान्नास्म्यहं सदा ।
गन्तव्यदेशहीनोऽस्मि गमनादिविवर्जितः ॥23॥

मैं सत्यरहित और असत्यरहित हूँ। मैं किसी भी काल में सत् स्वरूप से अलग नहीं हूँ। मेरा कोई गन्तव्य देश नहीं है। मैं गमन आदि क्रिया से भी रहित हूँ।

सर्वदा समरूपोऽस्मि शान्तोऽस्मि पुरुषोत्तमः ।
एवं स्वानुभवो यस्य सोऽहमस्मि न संशयः ।
यः श्रृणोति सकृद् वापि ब्रह्मैव भवति स्वयम् ॥24॥ इत्युपनिषत् ।

इति तृतीयोऽध्यायः ।

इति मैत्रेय्युपनिषत्समाप्ता ।

मैं सदैव शान्त, समरूप पुरुषोत्तम हूँ'—ऐसा जिसका अनुभव हुआ है, वह नि:संदेह **'मैं'** हूँ। यदि एक बार भी जो मनुष्य इसे सुनेगा, तो वह स्वयं ब्रह्म होता है, ऐसा यह उपनिषत् कहती है।

यहाँ तीसरा अध्याय पूरा हुआ।
यहाँ उपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि......ते मयि सन्तु । (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

❋

(31) सुबालोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

शुक्लयुजर्वेद से सम्बद्ध इस उपनिषद् में सोलह खण्ड हैं। यह प्रश्नोत्तर शैली में लिखी गई है। इसमें अध्यात्मदर्शन की बहुत-सी रहस्यमय बातें बताई गई हैं। पहले दो खण्डों में रैक्व ऋषि के प्रश्न के उत्तर रूप में घोरांगिरस ने सृष्टि की प्रक्रिया बताई है। तीसरे खण्ड में आत्मतत्त्व का स्वरूप और उसे जानने का उपाय बताया है। चौथे में हृदयस्थ नाडीस्वरूप तथा स्थूलकोश में जाग्रदनुभव, सूक्ष्मकोश में स्वप्नानुभव और हृदयाकाश में सुषुप्त्यनुभव की बात है। पाँचवें खण्ड में तुरीय (ईश्वर) का स्वरूप कहा गया है। छठे में नारायण की सर्वरूपता कही है। सातवें में नारायण का सर्वान्तर्यामित्व और विद्यावंश है। आठवें में शरीरस्थ आत्मा की शुद्धता बताई गई है। नवें में निर्बीज ब्रह्म का सर्वव्यपाश्रयत्व, इसके ज्ञान का फल और ब्रह्मात्मलाभ के उपाय दिये हैं। दसवें खण्ड में सर्वलोकों के प्रतिष्ठारूप ब्रह्म और उसके ज्ञान का फल बताया है। ग्यारहवें खण्ड में हृदयनाडी का उत्क्रान्तिप्रकार बताया गया है और बारहवें में आहारशुद्धि बताई गई है। तेरहवें खण्ड में ब्रह्मज्ञान के साधनरूप सपरिकर समाधि का वर्णन है और सन्मात्र की अवगति के उपाय के रूप में सात भूमिकाएँ बताई हैं। चौदहवें खण्ड में एक-दूसरे का भक्ष्य बताते हुए सर्वभक्षण के अधिष्ठान के रूप में ब्रह्म को बताया गया है। पंद्रहवें खण्ड में उत्क्रान्त हुए व्यक्ति के तत्त्वदहन का क्रम दिया गया है और सोलहवें खण्ड में ब्रह्मविद्यासंप्रदान की विधि दी है।

शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं.....पूर्णमेवावशिष्यते। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (जाबालोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

प्रथमः खण्डः

तदाहुः किं तदासीत् तस्मै होवाच न सन्नासन्न सदसदिति ॥1॥

ऋषियों ने घोरांगिरस से पूछा—'तब क्या था ?' तब घोरांगिरस ने कहा—'तब सत् भी नहीं था, असत् भी नहीं था और सदसत् भी नहीं था।

तस्मात्तमः संजायते तमसो भूतादिर्भूतादेराकाशमाकाशाद्वायुर्वायो-रग्निरग्नेरापोऽद्भ्यः पृथिवी ॥2॥

ऐसे सदसद्विलक्षण अनिर्वचनीय तत्त्व से पहले पहल तमस् (अन्धकार) उत्पन्न हुआ। और उस तम से भूतादि (अक्षर-अव्यक्त) अहंकार आदि उत्पन्न हुए। उस भूतादि से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी उत्पन्न हुई।

तदण्डं समभवत् तत्संवत्सरमात्रमुषित्वा द्विधाऽकरोदधस्ताद्भूमिमुपरिष्टादाकाशं मध्ये पुरुषो दिव्यः, सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् सहस्रबाहुरिति ॥3॥

वही सब मिल कर ब्रह्माण्डाकार हो गया। एक वर्ष तक उसे वैसा ही रखकर उसके दो भाग किए। नीचे का भाग पृथ्वी और ऊपर का भाग आकाश हुआ। बीच में हजार मस्तक वाला, हजार आँखों वाला, हजार पैरों वाला, हजार हाथों वाला दिव्य पुरुष (विराट्) प्रकट हुआ।

सोऽग्रे भूतानां मृत्युमसृजत् त्र्यक्षं त्रिशिरस्कं त्रिपादं खण्डपरशुम् ॥4॥

उस विराट् पुरुष ने पहले प्राणियों की मृत्यु का सृजन किया। वह मृत्यु तीन आँखों वाला, तीन मस्तक वाला, तीन पैरों वाला और छोटी कुल्हाडी को धारण करने वाला था।

**तस्य ब्रह्मा बिभेति स ब्रह्माणमेव विवेश। स मानसान्सप्त पुत्रानसृजत्।
ते ह विराजः सप्त मानसानसृजन्। ते ह प्रजापतयः ॥5॥**

अपने द्वारा निर्मित उस रूप को देखकर ब्रह्माजी भी भयभीत हो गये। और वह (रुद्र - मृत्यु) ब्रह्मा में ही समाविष्ट हो गया। इसके बाद ब्रह्माजी ने सात मानस पुत्रों को उत्पन्न किया। और इन सात पुत्रों ने पुनः सात विराट् पुत्रों को उत्पन्न किया। वे ही सात पुत्र सात प्रजापति हुए।

**ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥
चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।
श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च हृदयात्सर्वमिदं जायते ॥6॥**

इति प्रथमः खण्डः।

इस विराट् पुरुष के मुख से ब्राह्मण, हाथों से क्षत्रिय, जाँघों से वैश्य और पैरों से शूद्र जन्मे। मन से चन्द्र, आँखों से सूर्य, कान से प्राण और वायु तथा हृदय से यह सब (सम्पूर्ण जगत्) उत्पन्न हुआ।

यहाँ प्रथम खण्ड पूरा हुआ।

❈

द्वितीयः खण्डः

अपानान्निषादा यक्षराक्षसगन्धर्वाश्चास्थिभ्यः पर्वता लोमभ्य ओषधिवनस्पतयो ललाटात्क्रोधजो रुद्रो जायते ॥1॥

इस विराट् के अपान से निषाद, यक्ष, राक्षस और गंधर्व उत्पन्न हुए। हड्डियों से पर्वत, रोमों से औषधि और वनस्पतियाँ तथा क्रोधयुक्त ललाट से रुद्र जन्मे।

तस्यैतस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषामयनं न्यायो मीमांसा धर्मशास्त्राणि व्याख्यानान्युपव्याख्यानानि च सर्वाणि भूतानि ॥2॥

उस महाभूत रूप विराट् के निश्वास के फलस्वरूप ही यह ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिःशास्त्र, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, व्याख्यान और उपाख्यान और सभी प्राणी भी हैं।

हिरण्यज्योतिर्यस्मिन्नयमात्माधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा। आत्मानं द्विधाऽकरोदर्धेन स्त्री अर्धेन पुरुषो देवो भूत्वा देवानसृजदृषिर्भूत्वा ऋषीन् यक्षराक्षसगन्धर्वान्सर्वान्ग्राम्यानारण्यांश्च पशूनसृजदितरा गौरित-रोऽनड्वानितरा वडवेतरोऽश्व इतरा गर्दभीतरो गर्दभ इतरा विश्वम्भरीतरो विश्वम्भरः ॥3॥

वह सुवर्ण जैसे तेजस्वी हैं। उन्हीं में यह आत्मा और सर्वभुवन अवस्थित हैं। उन्होंने अपने स्वरूप के दो विभाग किए। आधे भाग से स्त्री और आधे से पुरुष हुए। उन्हीं ने देव होकर देव उत्पन्न किए और ऋषि होकर ऋषियों को उत्पन्न किया। उसी प्रकार से यक्षों, राक्षसों, गन्धर्वों, ग्राम में रहने वालों को और वनवासियों को तथा पशुओं को उत्पन्न किया। उन पशुओं में कोई गाय हुई, कोई बैल हुआ, कोई घोड़ी बनी, कोई घोड़ा बना, कोई गधी बनी, कोई गधा बना। कोई सबकी पालिका-पोषिका बनी, कोई पालक-पोषक बना।

सोऽन्ते वैश्वानरो भूत्वा संदग्ध्वा सर्वाणि भूतानि पृथिव्यप्सु प्रलीयत आपस्तेजसि प्रलीयन्ते तेजो वायौ विलीयते वायुराकाशे विलीयत आकाशमिन्द्रियेष्विन्द्रियाणि तन्मात्रेषु तन्मात्राणि भूतादौ विलीयन्ते भूतादिर्महति विलीयते महानव्यक्ते विलीयतेऽव्यक्तमक्षरे विलीयत अक्षरं तमसि विलीयते तमः परे देव एकीभवति परस्तान्न सन्नासन्नासद-सदित्येतन्निर्वाणानुशासनमिति वेदानुशासनमिति वेदानुशासनम् ॥4॥

इति द्वितीयः खण्डः

अन्त में वही पुरुष वैश्वानर (अग्नि) होकर सब भूतों को जला देता है। उस समय पृथ्वी जल में विलीन हो जाती है, जल अग्नि में, अग्नि वायु में, वायु आकाश में, आकाश इन्द्रियों में, इन्द्रियाँ तन्मात्राओं में, तन्मात्राएँ अहंकार में विलीन हो जाती हैं। अहंकार महत्तत्त्व में विलीन हो जाता है, महत्तत्त्व का विलय अव्यक्त में हो जाता है, और अव्यक्त का विलय अक्षर में होता है। अक्षर तमस् (अज्ञान में) में लीन हो जाता है और वह तमस् (अज्ञान) परमदेव परमात्मा में एकीभूत हो जाता है। उसके बाद तो न सत् रहता है, न असत् रहता है न वा सदसत् रहता है। यही निर्वाण का उपेदश है, यही वेद की शिक्षा है, यही वेदों का अनुशासन है।

यहाँ दूसरा खण्ड पूरा हुआ।

तृतीयः खण्डः

असद् वा इदमग्र आसीदजातमभूतमप्रतिष्ठितमशब्दमस्पर्शमरूपमरस-मगन्धमव्ययममहान्तमबृहन्तमजमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥1॥

अथवा सृष्टि के पहले यह जगत् असत् ही था। इसीलिए आत्मा उससे उत्पन्न नहीं हुआ है, उसकी कहीं प्रतिष्ठा भी नहीं की गई। वह शब्दरहित, स्पर्शहीन, रूपहीन, रसहीन, गन्धहीन है। उसका कभी विकार नहीं होता, वह अव्यय है। वह महान् भी नहीं, वह विशाल (विस्तारयुक्त) भी नहीं, वह अजन्मा है। ऐसे आत्मा को जानकर धीर पुरुष शोक नहीं करता।

अप्राणममुखमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमचक्षुष्कमनामगोत्रमशिरस्कमपाणिपा-दमस्निग्धमलोहितमप्रमेयमह्रस्वमदीर्घमस्थूलमन्वण्वनल्पमपारमनिर्देश्य-मनपावृतमप्रतर्क्यमप्रकाश्यमसंवृतमनन्तरमबाह्यं न तदश्नाति किञ्चन न तदश्नाति कश्चन ॥2॥

वह आत्मा प्राणरहित, मुखरहित, श्रोत्ररहित, वाणीरहित, मनरहित, तेजरहित, चक्षुरहित नाम और गोत्र से रहित, मस्तकरहित, हाथ-पैर रहित, स्नेहरहित, अलोहित (अथवा रज आदि गुणों से हीन), अमाप, अह्रस्व, अदीर्घ, स्थूलतारहित, अणुत्वरहित, अनल्प है। अपार है, जिसे बताया न जा सके ऐसा, और अनावृत है। उसके लिए कोई तर्क नहीं किया जा सकता, अथवा नियम भी नहीं बनाया जा सकता। उसको किसी से प्रकाशित नहीं किया जा सकता। वह असंवृत (असंकीर्ण) है। उसके लिए बाहर-भीतर कुछ नहीं है। वह कुछ खाता नहीं है और उसको भी कोई खाने वाला नहीं है।

एतद् वै सत्येन दानेन तपसाऽनाशकेन ब्रह्मचर्येण निर्वेदनेनानाशकेन षडङ्गेनैव साधयेदेतत्त्रयं वीक्षेत दमं दानं दयामिति। न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समलीयन्ते ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति य एवं वेद ॥3॥

इति तृतीयः खण्डः।

इस आत्मा को सत्य, दान, तप, अनशन, ब्रह्मचर्य, अखण्ड वैराग्य—इन छः साधनों के द्वारा ही जानना चाहिए। और दम-इन्द्रियसंयम, दान, दया—इन तीनों के सामने दृष्टि रखनी चाहिए। ऐसा जो जानता है उसके प्राण उत्क्रमण (अर्थात् अन्यत्र गति) नहीं करते, बल्कि इसी आत्मतत्त्व में ही लीन हो जाते हैं। वह ब्रह्मस्वरूप होकर ब्रह्म को ही प्राप्त कर लेता है।

यहाँ तीसरा खण्ड पूरा हुआ।

चतुर्थः खण्डः

हृदयस्य मध्ये लोहितं मांसपिण्डं यस्मिंस्तद्दहरं पुण्डरीकं कुमुद-मिवानेकधा विकसितं हृदयस्य दश छिद्राणि भवन्ति तेषु प्राणाः प्रतिष्ठिताः ॥1॥

हृदय के बीच एक रक्तवर्ण का मांसपिण्ड है। उसमें वह आत्मतत्त्व श्वेत कमल (कुमुद) की तरह अनेक तरह से विकसित होकर रहता है। इस हृदय में दश छिद्र हैं, उनमें प्राण अवस्थित रहते हैं।

स यदा प्राणेन सह संयुज्यते तदा पश्यति नद्यो नगराणि बहूनि विविधानि च। यदा व्यानेन सह संयुज्यते तदा पश्यति देवांश्च, ऋषींश्च,

यदाऽपानेन सह संयुज्यते तदा पश्यति यक्षराक्षसगन्धर्वान्यदोदानेन सह संयुज्यते तदा पश्यति यदा देवलोकान्देवान्स्कन्दं जयन्तं चेति यदा समानेन सह संयुज्यते तदा पश्यति देवलोकान्धनानि च यदा वैरम्भेण सह संयुज्यते तदा पश्यति दृष्टं च श्रुतं च भुक्तं चाभुक्तं च सच्चासच्च सर्वं पश्यति ।।2।।

यह आत्मा (जीव) अपनी जाग्रत् अवस्था में जब प्राण के साथ संयुक्त होता है, तब तरह-तरह की नदियों को और बहुत से नगरों को देखता है। जब वह व्यान के साथ जुड़ जाता है तब देवों और ऋषियों को देखता है। जब वह अपान के साथ संयोजित होता है, तब यक्षों, राक्षसों और गन्धर्वों को देखता है। जब वह उदान के साथ संयुक्त होता है, तब देवों को, देवों के लोकों को, कार्तिक स्वामी को और जयन्त को देखने लगता है। जब वह समान के साथ संयुक्त होता है, तो देवलोकों को और धन को देखता है। वह जब वैरम्भ को साथ संयुक्त होता है, तब भूतकाल में देखी गई वस्तुओं को, सुने हुए पदार्थों को तथा खाए और बिना खाए पदार्थों को तथा सत् तथा असत्—सबको देख लेता है।

अथेमा दश दश नाड्यो भवन्ति तासामेकैकस्या द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः शाखाः नाडीसहस्राणि भवन्ति। यस्मिन्नयमात्मा स्वपिति। शब्दानां च करोत्यथ यद् द्वितीये स कोशे स्वपिति तदेमं च लोकं परं च लोकं पश्यति। सर्वाञ्छब्दान् विजानाति स संप्रसाद इत्याचक्षते प्राणः शरीरं परिरक्षति। हरितस्य नीलस्य पीतस्य लोहितस्य श्वेतस्य नाड्यो रुधिरस्य पूर्णाः ।।3।।

अब इस हृदय में दश-दश अर्थात् सौ नाडियाँ हैं और एक-एक की बहत्तर-बहत्तर हजार शाखाएँ हैं। इस तरह नाडियों की संख्या हजारों की हो जाती है। इस (नाडीसहस्रस्थान) में यह आत्मा सोता है और शब्दों की क्रियाएँ करता है। जब वह दूसरे कोश में सोता है, तब इस लोक और परलोक को देखता है, समस्त शब्दों को जानता है, इसको 'संप्रसाद' कहा जाता है। प्राण शरीर की रक्षा करता है। जो ये नाडियाँ हैं, वे हरित, नीले, पीले, लाल और सफेद रक्त से भरी हुई हैं।

अथात्रैतद्दहरं पुण्डरीकं कुमुदमिवानेकधा विकसितं यथा केशः सहस्रधा भिन्नस्तथा हिता नाम नाड्यो भवन्ति हृद्याकाशे परे कोशे दिव्योऽय-मात्मा स्वपिति यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति न तत्र देवा न देवलोका यज्ञा न यज्ञा वा न माता न पिता न बन्धुर्न बान्धवो न स्तेनो न ब्रह्महा तेजस्कायममृतं सलिलं एवेदं सलिलं वनं भूयस्तेनैव मार्गेण जाग्राय धावति सम्राडिति होवाच ।।4।।

इति चतुर्थः खण्डः।

शरीरस्थ सूक्ष्म हृदयकमल कुमुद सदृश धवलवर्ण का है। वह विविधरूपों में विकसित है। हजारों प्रकार से चीरे गए एक छाल जैसी सूक्ष्म 'हिता' नाम की नाडियाँ है। हृदयरूपी आकाश के श्रेष्ठ कोश में सोया हुआ यह आत्मा किसी प्रकार की कामना नहीं करता। स्वप्न भी नहीं देखता। वहाँ न देव हैं, न देवलोक हैं, न यज्ञ हैं, न यज्ञ की क्रियाएँ हैं, न माता है, न पिता है, न बन्धु हैं, न बान्धव

हैं, न चोर हैं न ब्रह्महत्यारा है। वह तेजोरूप है, अमृत है, जल में ही अवस्थित है, वह लगभग वन ही है। फिर उसी मार्ग से जीवात्मा जाग्रदावस्था की ओर दौड़ता है। ऐसा सम्राट् ने कहा था।

यहाँ चौथा खण्ड पूरा हुआ।

❋

पञ्चमः खण्डः

स्थानानि स्थानिभ्यो यच्छति नाडी तेषां निबन्धनं चक्षुरध्यात्मं द्रष्टव्यमधिभूतमादित्यस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यश्चक्षुषि यो द्रष्टव्ये य आदित्ये यो नाड्यां यः प्राणे यो विज्ञाने य आनन्दे यो हृद्याकाशे य एतस्मिन्सर्वस्मिन्नन्तरे संचरति सोऽयमात्मा तमात्मान-मुपासीताजरममृतमभयमशोकमनन्तम् ॥1॥

आत्मा उन-उन स्थानों में रहने वालों को स्थान प्रदान करता है। नाडी उनका मूल स्थान है। चक्षु अध्यात्म है, देखने का पदार्थ अधिभूत है और सूर्य अधिदैवत है। उनका मूल स्थान नाडी है। जो चक्षुरिन्द्रिय में, दृश्य पदार्थ में, सूर्य में, नाडी में, प्राण में, विज्ञान में, आनन्द में, हृदयाकाश में और इस सारे शरीर में जो संचरण करता है वह आत्मा है। उसकी उपासना करनी चाहिए। वह आत्मा जरारहित, मरणरहित, भयरहित, शोकरहित और अनन्त है।

श्रोत्रमध्यात्मं श्रोतव्यमधिभूतं दिशस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यः श्रोत्रे यः श्रोतव्ये यः दिक्षु यो नाड्यां यः प्राणे यो विज्ञाने य आनन्दे यो हृद्याकाशे य एवमस्मिन्सर्वस्मिन्नन्तरे सञ्चरति सोऽयमात्मा तमात्मान-मुपासीताजरममृतमभयमशोकमनन्तम् ॥2॥

ऐसे ही श्रोत्रेन्द्रिय अध्यात्म, श्रोतव्य शब्द अधिभूत और दिशाएँ अधिदैवत हैं। इन तीनों का मूल कारण नाडी है। श्रोत्र, श्रोतव्य, दिशाओं में जो है और नाडी, प्राण, विज्ञान, आनन्द, हृदयाकाश और संपूर्ण शरीर में जो संचरित होता है, वह आत्मा है। इसी की उपासना करनी चाहिए। वह जरा-मृत्यु-भय-शोक रहित है और अनन्त है।

नासाध्यात्मं घ्रातव्यमधिभूतं पृथिवी तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यो नासायां यो घ्रातव्ये यः पृथिव्यां यो नाड्यां.....नन्तम् ॥3॥

ऊपर के मन्त्र के समान ही नासिका अध्यात्म, घ्रातव्य पदार्थ अधिभूत और पृथिवी वहाँ अधिदैवत है। उन तीनों का मूल नाडी है, नासिका, घ्रातव्य और पृथ्वी में जो है, और नाडी.....अनन्त है।

जिह्वाध्यात्मं यो रसयितव्यमधिभूतं वरुणस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यो जिह्वायां यो रसयितव्ये यो वरुणे यो नाड्यां...... नन्तम् ॥4॥

उसी प्रकार जिह्वा अध्यात्म है, जो आस्वादनीय है वह अधिभूत है, वरुण अधिदैवत हैं। उन सबका मूल नाडी है, जो जीभ में, जो आस्वाद्य पदार्थ में और जो पृथ्वी में है, और नाडी.....अनन्त है।

त्वगध्यात्मं स्पर्शयितव्यमधिभूतं वायुस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यस्त्वचि यः स्पर्शयितव्ये यो वायौ यो नाड्यां.....नन्तम् ॥5॥

पूर्वानुसार ही त्वगिन्द्रिय अध्यात्म है स्पर्शयोग्य पदार्थ अधिभूत है और वायु वहाँ अधिदैवत है। उन सबका मूल नाडी है। जो त्वगिन्द्रिय में, जो स्पर्शयोग्य पदार्थ में और जो वायु में है, और नाडी····अनन्त है।

मनोऽध्यात्मं मन्तव्यमधिभूतं चन्द्रस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यो मनसि यो मन्तव्ये यश्चन्द्रे यो नाड्यां·····नन्तम् ॥6॥

उसी प्रकार मन अध्यात्म है, मन्तव्य अधिभूत है और चन्द्र वहाँ अधिदैवत है, जो मन में है, जो मन्तव्य में और जो चन्द्र में हैं और नाडी······अनन्त हैं।

बुद्धिरध्यात्मं बोद्धव्यमधिभूतं ब्रह्मा तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यो बुद्धौ यो बोद्धव्ये यो ब्रह्मणि यो नाड्यां·····नन्तम् ॥7॥

इसी तरह बुद्धि अध्यात्म है, बोद्धव्य अधिभूत है, ब्रह्मा वहाँ अधिदैवत है। उन सबका मूल नाडी है। जो बुद्धि में है, बोद्धव्य में है, ब्रह्मा में है, और नाडी·····अनन्त है।

अहङ्कारोऽध्यात्ममहङ्कर्तव्यमधिभूतं रुद्रस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं योऽहङ्कारे योऽहङ्कर्तव्ये यो रुद्रे यो नाड्यां····नन्तम् ॥8॥

इसी प्रकार अहंकार अध्यात्म है, अहंकर्तव्य अधिभूत है और रुद्र वहाँ अधिदैवत है। नाडी उन सबका मूल है। जो अहंकार में है, जो अहंकर्तव्य में हैं, जो रुद्र में है और नाडी·····अनन्त है।

चित्तमध्यात्मं चेतयितव्यमधिभूतं क्षेत्रज्ञस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यश्चित्ते यश्चेतयितव्ये यः क्षेत्रज्ञे यो नाड्यां····· नन्तम् ॥9॥

ठीक इसी प्रकार चित्त अध्यात्म है, चिन्तनविषय अधिभूत है, क्षेत्रज्ञ वहाँ अधिदैवत है। नाडी उनका मूल है। जो चित्त में है, चेतयितव्य (चिन्तनविषय) में है, क्षेत्रज्ञ में है और नाडी····अनन्त है।

वागध्यात्मं वक्तव्यमधिभूतमग्निस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यो वाचि यो वक्तव्ये योऽग्नौ यो नाड्यां·····नन्तम् ॥10॥

इसी तरह वाणी अध्यात्म है, वक्तव्य अधिभूत है और अग्नि वहाँ अधिदैवत है। नाडी उन सबका मूल है। जो वाणी में है, जो वक्तव्य में है, जो अग्नि में है और नाडी····अनन्त है।

हस्तावध्यात्ममादातव्यमधिभूतमिन्द्रस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यो हस्ते य आदातव्ये य इन्द्रे यो नाड्यां·····नन्तम् ॥11॥

इसी प्रकार हाथ (दो) अध्यात्म है, ग्रहणयोग्य वस्तु अधिभूत है, इन्द्र वहाँ अधिदैवत है। नाडी उनका मूल है। जो हाथ में है, जो ग्रहणयोग्यवस्तु में है, जो इन्द्र में है, और नाडी·····अनन्त है।

पादावध्यात्मं गन्तव्यमधिभूतं विष्णुस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यः पादे यो गन्तव्ये यो विष्णौ यो नाडयां·····नन्तम् ॥12॥

इसी प्रकार दो पैर अध्यात्म है, गन्तव्य अधिभूत है और विष्णु वहाँ अधिदैवत है। नाडी उन सबका मूल है। जो पैर में है, जो गन्तव्य में है, जो विष्णु में है, और नाडी·····अनन्त है।

पायुरध्यात्मं विसर्जयितव्यमधिभूतं मृत्युस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यः पायौ यो विसर्जयितव्ये यो मृत्यौ यो नाड्यां·····नन्तम् ॥13॥

इसी तरह पायु (गुदा) अध्यात्म है, विसर्जयितव्य पदार्थ अधिभूत है और मृत्यु यहाँ अधिदैवत है। नाडी उनका मूल है। जो पायु (गुदा) में है, जो विसर्जनयोग्य पदार्थ में है, जो मृत्यु में और नाडी····अनन्त है।

उपस्थोऽध्यात्ममानन्दयितव्यमधिभूतं प्रजापतिरत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं य उपस्थे य आनन्दयितव्ये यः प्रजापतौ यो नाड्यां यः प्राणे यो विज्ञाने य आनन्दे यो हृद्याकाशे य एवमस्मिन्सर्वस्मिन्नन्तरे संचरति सोऽयमात्मा तमात्मानमुपासीताजरममृतमभयमशोकमनन्तम् ॥14॥

इसी तरह उपस्थेन्द्रिय अध्यात्म है, आनन्द का विषय अधिभूत है और प्रजापति यहाँ अधिदैवत है। जो उपस्थ में है, जो आनन्द के विषय में है, जो प्रजापति में है और जो नाडी में, प्राण में, विज्ञान में, आनन्द में, हृदयाकाश में और इस सारे शरीर में संचरण करता है, वह आत्मा है। उसकी उपासना करनी चाहिए। वह आत्मा जरारहित, मरणरहित, भयरहित, शोकरहित और अनन्त है।

एष सर्वज्ञ एष सर्वेश्वर एष सर्वाधिपतिरेष सर्वान्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य सर्वसौख्यैरुपास्यमानो न च सर्वसौख्यानुपास्यति वेदशास्त्रैरुपास्यमानो न च वेदशास्त्राण्युपास्यति यस्यान्नमिदं सर्वं न च योऽन्नं भवत्यतः परं सर्वनयनः प्रशास्तान्नमयो भूतात्मा प्राणमय इन्द्रियात्मा मनोमयः संकल्पात्मा, विज्ञानमयः कालात्मानन्दमयो लयात्मैकत्वं नास्ति द्वैतं कुतो मर्त्यं नास्त्यमृतं कुतो नान्तःप्रज्ञो न बहिःप्रज्ञो नोभयतःप्रज्ञो न प्रज्ञानघनो न प्रज्ञो नाऽप्रज्ञोऽपि नो विदितं वेद्यं नास्तीत्येतन्निर्वाणानुशासनमिति वेदानुशासनमिति वेदानुशासनम् ॥15॥

इति पञ्चमः खण्डः।

यह तुर्यातिरिक्त ईश्वर सर्वज्ञ है, यह सर्वेश्वर है, सर्व के अधिपति हैं, वह सर्व के अन्तर्यामी हैं। यही समस्त जगत् का उत्पत्तिस्थान है। सभी सुखों से वही उपास्य है, वह सभी सुखों की उपासना नहीं करता। वेद और शास्त्र इसकी उपासना करते हैं। वह (ईश्वर) वेद-शास्त्रों की उपासना नहीं करता। यह सब उसका अन्न (भक्ष्य-भोग्य) है, वह किसी का अन्न (भक्ष्य-भोग्य) नहीं है। तदुपरान्त, वह सभी का नेत्र है, सबका शासक है, वह अन्नमय है, सर्वप्राणियों का वह आत्मा है, वही प्राणमय है, वह इन्द्रियों का आत्मा है। वह मनोमय है, संकल्पमय वही है, वह विज्ञानमय है, वह कालस्वरूप है, आनन्दमय है, लयस्वरूप है। उसमें जब एकत्व ही नहीं है, तो द्वित्व कहाँ से हो सकता है ? जब वह मरणधर्मा ही नहीं है, तो अमृत का प्रश्न ही कहाँ रहता है ? वह अन्तःप्रज्ञावाला भी नहीं है, बाहर की प्रज्ञावाला भी नहीं—दोनों तरह की प्रज्ञावाला भी नहीं है। वह प्रज्ञा से व्याप्त नहीं है, वह न प्रज्ञ है, न अप्रज्ञ ही है। उसने कुछ जाना नहीं है, उसके लिए जानने योग्य भी कुछ नहीं है। बस, यही मोक्ष के लिए उपदेश है, यही वेद की शिक्षा है, यही वेद का अनुशासन है।

यहाँ पाँचवाँ खण्ड पूरा हुआ।

❋

षष्ठः खण्डः

नैवेह किञ्चनाग्र आसीदमूलमनाधारा इमाः प्रजाः प्रजायन्ते ॥1॥

इस सृष्टि के पहले कुछ नहीं था, सब अमूल (निराधार) था, उसी (निराधार) से ये सब प्रजाएँ उत्पन्न हुईं।

दिव्यो देव एको नारायणश्चक्षुश्च द्रष्टव्यं च नारायणः श्रोत्रं च श्रोतव्यं च नारायणो घ्राणं च घ्रातव्यं च नारायणो जिह्वा च रसयितव्यं च नारायणस्त्वक् च स्पर्शयितव्यं च नारायणो मनश्च मन्तव्यं च नारायणो बुद्धिश्च बोद्धव्यं च नारायणोऽहंकारश्चाहंकर्तव्यं च नारायणश्चित्तं च चेतयितव्यं च नारायणो वाक् च वक्तव्यं च नारायणो हस्तौ चादातव्यं च नारायणः पादौ च गन्तव्यं च नारायणः पायुश्च विसर्जयितव्यं च नारायण उपस्थश्चानन्दयितव्यं च नारायणो धाता विधाता कर्ता विकर्ता दिव्यो देव एको नारायणः ॥2॥

उस अमूल (निराधार) एक देव नारायण से ही सृष्टि उत्पन्न हुई। चक्षु भी नारायण और दृश्यपदार्थ भी नारायण है। श्रोत्रेन्द्रिय और श्रवणयोग्य—दोनों नारायण है। घ्राणेन्द्रिय और सूँघने योग्य पदार्थ—दोनों नारायण है। जिह्वा और स्वादयोग्य पदार्थ भी नारायण है। त्वगिन्द्रिय और स्पर्शयोग्य वस्तु भी नारायण है। मन और मननयोग्य सब नारायण है। बुद्धि और बोद्धव्य वस्तु भी नारायण है। अहंकार और अहंकर्तव्यता भी नारायण है। चित्त और चिन्तनीय भी नारायण है। वाणी और वक्तव्य भी नारायण है। दोनों हाथ और ग्रहण करने योग्य वस्तु भी नारायण है। पैर और गन्तव्य भी नारायण है। गुदा और विसर्जनीय पदार्थ भी नारायण है। उपस्थेन्द्रिय और आनन्द देने योग्य पदार्थ भी नारायण ही है। इस तरह धाता, विधाता, कर्त्ता, विशिष्ट कर्त्ता दिव्य देव एक नारायण ही है।

आदित्या रुद्रा मरुतो वसवोऽश्विनावृचो यजूंषि सामानि मन्त्रोऽग्नि-राज्याहुतिर्नारायण उद्भवः सम्भवो दिव्यो देव एको नारायणः ॥3॥
माता पिता भ्राता निवासः शरणं सुहृद् गतिर्नारायणः ॥4॥

आदित्य, रुद्र, वायु, वसु, अश्विनीकुमार, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, मन्त्र, अग्नि और घी की आहुति भी नारायण ही है। यही नारायण एक है। वह दिव्य एक और सबका उत्पत्ति-स्थान है। माता, पिता, भाई, आश्रय, शरण, मित्र और गति नारायण ही है।

विराजा सुदर्शनाजितासोम्यामोघाकुमारामृतासत्यामध्यमानासीराशि-शुरासुरासूर्याभास्वतीविज्ञेयानि नाडीनामानि दिव्यानि ॥5॥

नारायण ही की ये विराजा, सुदर्शना, जिता, सौम्या, अमोघा, कुमारा, अमृता, सत्या, मध्यमा, नासीरा, शिशुरा, असुरा, सूर्या और भास्वती—ऐसी नाडियों के दिव्य नाम कहे गए हैं।

गर्जति गायति वाति वर्षति वरुणोऽर्यमा चन्द्रमा कालः कविर्धाता ब्रह्मा प्रजापतिर्मघवा दिवसाश्चार्धदिवसाश्च कलाः कल्पाश्चोर्ध्वं च दिशश्च सर्वं नारायणः ॥6॥

वह नारायण ही तो गर्जना करते हैं, वही गाते हैं, वही बहते हैं, वही बरसते हैं। वरुण, अर्यमा,

चन्द्रमा, काल, कवि, धाता, ब्रह्मा, प्रजापति, इन्द्र, दिन, आधा दिन, कलाएँ, कल्प, ऊर्ध्व प्रदेश और दिशाएँ—ये सब नारायण ही हैं।

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥
तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुरायतम्।
तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते। विष्णोर्यत्परमं पदम्।
तदेतन्निर्वाणानुशासनमिति वेदानुशासनमिति वेदानुशासनम् ॥7॥

इति षष्ठः खण्डः।

जो कुछ हो चुका है, जो होने वाला है, वह सब पुरुष ही है। वह अमर है और जीव-जगत् के स्वामी हैं। जो अन्न से बुद्धि प्राप्त करते हैं, उनके भी वह स्वामी है। यह विष्णु का परमस्थान है, उसे विद्वान् लोग सदैव देखते हैं। वह अन्तरिक्ष में फैले हुए चक्षु के समान है। क्रोधरहित और सतत जाग्रत् विप्र लोग इसका साक्षात्कार करते हैं। यही विष्णु का परमपद है। यही निर्वाण का आदेश है, यही वेदों का उपदेश है, यही वेदों की शिक्षा है, यही वेदों का अनुशासन है।

यहाँ छठा खण्ड पूरा हुआ।

सप्तमः खण्डः

अन्तःशरीरे निहितो गुहायामज एको नित्यो यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरे सञ्चरन् यं पृथिवी न वेद। यस्यापः शरीरं योऽपोऽन्तरे सञ्चरन् यमापो न विदुः। यस्य तेजः शरीरं यस्तेजोऽन्तरे सञ्चरन् यं तेजो न वेद। यस्य वायुः शरीरं यो वायुमन्तरे सञ्चरन् यं वायुर्न वेद। यस्याकाशः शरीरं य आकाशमन्तरे सञ्चरन् यमाकाशो न वेद। यस्य मनः शरीरं यो मनोऽन्तरे सञ्चरन् यं मनो न वेद। यस्य बुद्धिः शरीरं यो बुद्धिमन्तरे सञ्चरन् यं बुद्धिर्न वेद। यस्याहङ्कारः शरीरं योऽहङ्कारमन्तरे सञ्चरन् यमहङ्कारो न वेद। यस्य चित्तं शरीरं यश्चित्तमन्तरे सञ्चरन् यं चित्तं न वेद। यस्याव्यक्तं शरीरं योऽव्यक्तमन्तरे सञ्चरन् यमव्यक्तं न वेद। यस्याक्षरं शरीरं योऽक्षरमन्तरे सञ्चरन् यमक्षरो न वेद। यस्य मृत्युः शरीरं यो मृत्युमन्तरे सञ्चरन् यं मृत्युर्न वेद। स एष सर्वभूतान्तरात्मा-ऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः ॥1॥

शरीर के भीतर हृदयगुहा में अवस्थित यह एक अजन्मा आत्मा है। पृथ्वी उसका शरीर है, वह पृथ्वी में संचरित होता है, पर पृथ्वी उसे नहीं जानती। जल उसका शरीर है, वह जल में संचरण करता है, पर जल उसे नहीं जानता। तेज उसका शरीर है, वह तेज में संचरित होता है, पर तेज उसे नहीं जानता। वायु उसका शरीर है, वह वायु में संचरित होता है, पर वायु उसे नहीं जानता। आकाश उसका शरीर है, वह आकाश में संचरित होता है, पर आकाश उसे नहीं जानता। मन उसका शरीर

है, वह मन में संचरण करता है, पर मन उसे नहीं जानता। बुद्धि उसका शरीर है, वह बुद्धि में संचरण करता है, पर बुद्धि उसे नहीं जानती। अहंकार उसका शरीर है, जो अहंकार में विचरण करता है, पर अहंकार उसे नहीं पहचानता। चित्त जिसका शरीर है, जो चित्त में संचरित होता है, पर चित्त उसे नहीं जानता। अव्यक्त जिसका शरीर है, जो अव्यक्त के भीतर संचार करता है, परन्तु अव्यक्त उसे नहीं पहचानता। अक्षर जिसका शरीर है, जो अक्षर के भीतर संचार करता है, पर अक्षर उसे नहीं जानता। मृत्यु जिसका शरीर है, जो मृत्यु के भीतर संचार करता है, पर मृत्यु उसे नहीं जानता। वही यह सर्वभूतों का अन्तरात्मा निष्पाप एक दिव्यदेव नारायण है।

एषा विद्यामपान्तरतमाय ददावपान्तरतमो ब्रह्मणे ददौ। ब्रह्मा घोरांगिरसे ददौ घोरांगिरा रैक्वाय ददौ रैक्वो रामाय ददौ रामः सर्वेभ्यो भूतेभ्यो ददावित्येवं निर्वाणानुशासनमिति वेदानुशासनमिति वेदानुशासनम् ॥2॥

इति सप्तम खण्डः।

यह विद्या नारायण ने अपान्तरतम नाम के सिद्ध ब्राह्मण को दी थी। अपान्तरतम ने इसे ब्रह्मा को दिया, ब्रह्मा ने घोरांगिरस को दिया, घोरांगिरस ने रैक्व को, रैक्व ने राम को, राम ने सब प्राणियों को दिया। इस प्रकार यह मोक्ष का उपदेश है। यही वेदों का उपदेश है, यही वेदों की शिक्षा है।

यहाँ सातवाँ खण्ड पूरा हुआ।

❋

अष्टमः खण्डः

अन्तःशरीरे निहितो गुहायां शुद्धः सोऽयमात्मा सर्वस्य मेदोमांसक्लेदावकीर्णे शरीमध्येऽत्यन्तोपहते चित्रभित्तिप्रतीकाशे गन्धर्वनगरोपमे कदलीगर्भवन्निःसारे जलबुद्बुद्वच्चञ्चले निःसृतमात्मानमचिन्त्यरूपं दिव्यं देवमसङ्गं शुद्धं तेजस्कायमरूपं सर्वेश्वरमचिन्त्यमशरीरं निहितं गुहायाममृतं बिभ्राजमानमानन्दं तं पश्यन्ति विद्वांसस्तेन लयेन पश्यन्ति ॥1॥

इत्यष्टमः खण्डः।

सबके शरीर के भीतर हृदयरूपी गुफा में आत्मा अवस्थित है। पर शरीर तो मेद, मांस और रक्त से भरा हुआ है, वह तो अत्यन्त विनाशी है, चित्र में दी हुई दीवार जैसा भ्रममूलक है, गन्धर्व नगर जैसा झूठा है, केले के पेड़ के गर्भ के समान निःसार है, पानी के बुद्बुदे की तरह चंचल है, पर उससे परे रहा हुआ आत्मा तो अचिन्त्य रूपवाला है, दिव्य देव है, असंग - निर्लेप है, शुद्ध है, तेजरूपी शरीरवाला है, सर्वेश्वर है, उसका शरीर मापा नहीं जा सकता। वह हृदयरूपी गुफा में रहता है। यह अमर है, शोभायमान तेजोरूप है, आनन्दरूप है। उसे विद्वान् देखते हैं फिर उसके साथ एकाकार होने से वह देखा नहीं जाता—दोनों एक हो जाते हैं।

यहाँ आठवाँ खण्ड पूरा हुआ।

❋

नवमः खण्डः

अथ हैनं रैक्वः पप्रच्छ। भगवन्कस्मिन्सर्वेऽस्तं गच्छन्तीति। तस्मै स होवाच चक्षुरेवाप्येति। यच्चक्षुरेवास्तमेति द्रष्टव्यमेवाप्येति यो द्रष्टव्यमेवास्तमेत्यादित्यमेवाप्येति य आदित्यमेवास्तमेति विराजमेवाप्येति यो विराजमेवास्तमेति प्राणमेवाप्येति यः प्राणमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति यो विज्ञानमेवास्तमेत्यानन्दमेवाप्येति य आनन्दमेवास्तमेति तुरीयमेवाप्येति यस्तुरीयमेवास्तमेति तदमृतमभयमशोकमनन्तनिर्बीजमेवाप्येतीति होवाच ॥1॥

रैक्व ने घोरांगिरस से पूछा—'हे भगवन्! सभी पदार्थ किसमें अस्त (विलीन) होते हैं ? तब घोरांगिरस ने कहा—'जो पदार्थ चक्षु को प्राप्त होता है, वह चक्षु में ही विलीन (अस्त) हो जाता है। चक्षु द्रष्टव्य को प्राप्त होता है, तो वह द्रष्टव्य में अस्त होता है। द्रष्टव्य आदित्य को प्राप्त होता है, तो वह आदित्य में अस्त होता है। आदित्य विराजा नाम की नाडी (सुषुम्ना नाडी) को प्राप्त होता है, तो वह विराजा में अस्त होता है। **अथवा**—आदित्य विराट् को प्राप्त होता है और विराट् में अस्त होता है। विराट् प्राण को प्राप्त होता है और प्राण में अस्त होता है। प्राण विज्ञान को प्राप्त होता है और विज्ञान में अस्त होता है। विज्ञान आनन्द को प्राप्त होता है इसलिए वह विज्ञान आनन्द में अस्त होता है। आनन्द तुरीय को प्राप्त होता है अत: आनंद तुरीय में अस्त होता है। और वह अमृत, अभय, अशोक, अनन्त, निर्बीज को ही प्राप्त होता है, ऐसा आंगिरस ने कहा।

श्रोत्रमेवाप्येति यः श्रोत्रमेवास्तमेति श्रोतव्यमेवाप्येति यः श्रोतव्यमेवास्तमेति दिशमेवाप्येति यो दिशमेवास्तमेति सुदर्शनामेवाप्येति यः सुदर्शनामेवास्तमेत्यपानमेवाप्येति योऽपानमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति यो विज्ञानमेवास्तमेति तदमृतमभयमशोकमनन्तनिर्बीजमेवाप्येतीति होवाच ॥2॥

ठीक इसी तरह जो श्रोत्र को प्राप्त होता है, वह श्रोत्र में अस्त होता है। जो श्रोत्र श्रोतव्य को प्राप्त होता है, वह श्रोतव्य में अस्त होता है। जो श्रोतव्य दिशा को प्राप्त होता है, वह दिशा में अस्त होता है। जो दिशा सुदर्शना को प्राप्त होती है अत: सुदर्शना में अस्त होती है। सुदर्शना अपान को प्राप्त होती है तो अपान में अस्त होती है। अपान विज्ञान को प्राप्त होता है अत: विज्ञान में अस्त होता है। वही पूर्वोक्त क्रम से अमृत, अभय, अशोक, अनन्त, निर्बीज को प्राप्त होता है—ऐसा कहा है।

नासामेवाप्येति यो नासामेवास्तमेति घ्रातव्यमेवाप्येति यो घ्रातव्यमेवास्तमेति पृथिवीमेवाप्येति यः पृथिवीमेवास्तमेति जितामेवाप्येति यो जितामेवास्तमेति व्यानमेवाप्येति यो व्यानमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति तदमृत...... होवाच ॥3॥

इसी प्रकार जो नासिका को प्राप्त होता है, वह नासिका में ही अस्त होता है। नासा घ्रातव्य को प्राप्त होती है, तो वह घ्रातव्य में अस्त हो जाती है। वह घ्रातव्य पृथ्वी को प्राप्त होता है और पृथ्वी में अस्त हो जाता है। पृथ्वी जिता-नाडी को प्राप्त होती है और जिता में अस्त होती है। जिता व्यान को प्राप्त होती है और व्यान में अस्त होती है और व्यान विज्ञान को प्राप्त होता है और वही, पूर्वोक्तक्रम से अमृत, अभय, अशोक, अनन्त, निर्बीज को प्राप्त होता है—ऐसा कहा है।

जिह्वामेवाप्येति यो जिह्वामेवास्तमेति रसयितव्यमेवाप्येति यो रसयित-व्यमेवास्तमेति वरुणमेवाप्येति यो वरुणमेवास्तमेति सौम्यामेवाप्येति यः सौम्यामेवास्तमेत्युदानमेवाप्येति य उदानमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति तदमृत……होवाच ॥4॥

इसी प्रकार जो जिह्वा को प्राप्त होता है, वह जिह्वा में अस्त होता है। जिह्वा स्वाद्य पदार्थों के प्रति जाती है तो वह आस्वाद्य पदार्थों में अस्त हो जाती है। स्वाद्य पदार्थ वरुण को प्राप्त होते हैं और वे वरुण में अस्त हो जाते हैं। वरुण सौम्या नाडी को प्राप्त होता है और वह सौम्या में अस्त होता है। सौम्या उदान को प्राप्त होती है और उदान में अस्त हो जाती है। उदान विज्ञान को प्राप्त होता है और वही पूर्वोक्त क्रम से अमृत, अभय, अशोक, अनन्त और निर्बीज को प्राप्त होता है—ऐसा कहा।

त्वचमेवाप्येति यस्त्वचमेवास्तमेति स्पर्शयितव्यमेवाप्येति यः स्पर्शयि-तव्यमेवास्तमेति वायुमेवाप्येति यो वायुमेवास्तमेति मोघामेवाप्येति यो मोघामेवास्तमेति समानमेवाप्येति यः समानमेवास्तमेति। विज्ञान-मेवाप्येति तदमृत……होवाच ॥5॥

उसी प्रकार जो पदार्थ त्वचा को प्राप्त होता है, वह त्वचा में ही अस्त हो जाता है। त्वचा स्पर्शयोग्य पदार्थ को प्राप्त होती है और वह स्पर्शयोग्य पदार्थ में ही लीन हो जाती है। स्पर्शयोग्य पदार्थ वायु को प्राप्त होता है और वह वायु में अस्त हो जाता है। वायु मोघानामक नाडी को प्राप्त होता है और वह मोघा में अस्त हो जाता है। मोघा समान को प्राप्त होती है और समान में अस्त हो जाती है। समान विज्ञान को प्राप्त होता है और वही पूर्वोक्त क्रम से अमृत, अभय, अशोक, अनन्त, निर्बीज को प्राप्त होता है—ऐसा कहा।

वाचमेवाप्येति यो वाचमेवास्तमेति वक्तव्यमेवाप्येति यो वक्तव्य-मेवास्तमेत्यग्निमेवाप्येति योऽग्निमेवास्तमेति कुमारामेवाप्येति यः कुमारामेवास्तमेति वैरम्भमेवाप्येति यो वैरम्भमेवास्तमेति विज्ञानमेवा-प्येति तदमृत……होवाच ॥6॥

इसी प्रकार जो वाणी को प्राप्त होता है, वह वाणी में ही अस्त हो जाता है। वाणी वक्तव्य को प्राप्त होती है और उस वक्तव्य में ही अस्त हो जाती है। वक्तव्य अग्नि को प्राप्त होता है और अग्नि में लीन होता है। वह अग्नि कुमारा नामक नाडी को प्राप्त होता है और कुमारा में अस्त हो जाता है। वह कुमारा नाडी वैरंभ को प्राप्त होती है और वह वैरंभ में ही अस्त होती है। वैरंभ विज्ञान को प्राप्त होता है, और वह पूर्वोक्त क्रम से अमृत, अभय, अशोक, अनन्त, निर्बीज को प्राप्त करता है—ऐसा कहा है।

हस्तमेवाप्येति यो हस्तमेवास्तमेत्यादातव्यमेवाप्येति य आदातव्यमेवा-स्तमेतीन्द्रमेवाप्येति य इन्द्रमेवास्तामेत्यमृतमेवाप्येति योऽमृतमेवास्त-मेति मुख्यमेवाप्येति यो मुख्यमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति तदमृत…… होवाच ॥7॥

जो हाथ को प्राप्त होता है, वह हाथ में ही अस्त होता है। हाथ ग्राह्य पदार्थ को प्राप्त होता है, और उस ग्राह्य वस्तु का हाथ में ही लय होता है। वह ग्रहणयोग्य पदार्थ इन्द्र के पास जाता है और

वह इन्द्र में अस्त हो जाता है। वह इन्द्र अमृता नाडी के पास जाता है और वह अमृता नाडी में अस्त होता है। अमृत नाडी मुख्य की ओर जाती है और मुख्य में अस्त हो जाती है। वह मुख्य विज्ञान की ओर जाता है और वह पूर्वोक्त क्रम से अमृत, अभय, अशोक, अनन्त, निर्बीज को प्राप्त करता है—ऐसा कहा है।

पादमेवाप्येति यः पादमेवास्तमेति गन्तव्यमेवाप्येति यो गन्तव्यमेवास्तमेति विष्णुमेवाप्येति यो विष्णुमेवास्तमेति सत्यामेवाप्येति यो सत्यामेवास्तमेत्यन्तर्याममेवाप्येति योऽन्तर्याममेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति तदमृत''''''होवाच ॥8॥

जो पैर को प्राप्त हो जाता है वह पैर में ही अस्त हो जाता है। पैर गन्तव्य स्थान को प्राप्त होते हैं और गन्तव्य स्थान में अस्त हो जाते हैं। गन्तव्य स्थान विष्णु को प्राप्त होता है और विष्णु में ही अस्त हो जाता है। विष्णु सत्या नाडी को प्राप्त होते हैं और सत्या नाडी में ही अस्त हो जाते हैं। सत्या नाडी अन्तर्यामी विज्ञान को प्राप्त होता है, और विज्ञान पूर्वोक्त क्रमानुसार अमृत, अभय, अशोक अनन्त और निर्बीज को प्राप्त होता है—ऐसा कहा है।

पायुमेवाप्येति यः पायुमेवास्तमेति विसर्जयितव्यमेवाप्येति योविसर्जयितव्यमेवास्तमेति मृत्युमेवाप्येति यो मृत्युमेवास्तमेति मध्यमामेवाप्येति यो मध्यमामेवास्तमेति प्रभञ्जनमेवाप्येति यः प्रभञ्जनमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति तदमृत''''''होवाच ॥9॥

यह कहकर उन्होंने पुन: कहा—जो गुदा को प्राप्त होता है, वह गुदा में ही अस्त हो जाता है। गुदा विसर्जयितव्य (त्याज्य) पदार्थ को प्राप्त होती है, तो वह उस त्याज्य पदार्थ में (मलत्याग) में ही अस्त हो जाती है। त्याज्य पदार्थ मृत्यु को प्राप्त होता है, अत: वह मृत्यु में अस्त होता है। मृत्यु मध्यमा नाडी को प्राप्त होता है तो वह मध्यमा में ही अस्त हो जाता है। मध्यमा प्रभञ्जन नाम के वायु को प्राप्त होती है तो वह प्रभञ्जन में ही अस्त हों जाती है। प्रभञ्जनवायु विज्ञान को प्राप्त होता है और विज्ञान पूर्वोक्त क्रम से अमृत, अभय, अशोक, अनन्त और निर्बीज को प्राप्त होता है—ऐसा कहा है।

उपस्थमेवाप्येति य उपस्थमेवास्तमेत्यानन्दयितव्यमेवाप्येति य आनन्दयितव्यमेवास्तमेति प्रजापतिमेवाप्येति यः प्रजापतिमेवास्तमेति नासीरामेवाप्येति यो नासीरामेवास्तमेति कूर्मिरमेवाप्येति यो कूर्मिरमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति तदमृत''''''होवाच ॥10॥

उन्होंने आगे कहा कि—जो उपस्थ को प्राप्त होता है, वह उपस्थ में ही अस्त होता है। उपस्थ आनंदरूप विषय को प्राप्त करता है इसलिए वह आनन्दरूप विषय में विलीन होता है। आनन्दरूप विषय प्रजापति को प्राप्त करता है, इसलिए वह प्रजापति में लीन होता है। प्रजापति नासीरा को प्राप्त करते हैं इसलिए वे नासीरा में अस्त होते हैं। नासीरा कूर्मिरनाडी को पाता है और वह कूर्मिर में अस्त होता है। कूर्मिर विज्ञान को पाती है और वह पूर्वोक्त क्रम से अमृत, अभय, अशोक, अजन्त, निर्बीज को पाती है—ऐसा कहा है।

मन एवाप्येति यो मन एवास्तमेति मन्तव्यमेवाप्येति यो मन्तव्यमेवास्तमेति चन्द्रमेवाप्येति यश्चन्द्रमेवास्तमेति शिशुमेवाप्येति यः शिशुमेवा-

स्तमेति श्येनमेवाप्येति यः श्येनमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति तदमृत........ होवाच ॥11॥

उन्होंने आगे कहा कि जो मन को प्राप्त होता है, वह मन में ही लीन हो जाता है। मन विचार को प्राप्त होता है, तो वह विचार में अस्त हो जाता है। विचार चन्द्र को प्राप्त होते हैं तो वे चन्द्र में अस्त हो जाते हैं। चन्द्र शिशु नाम की नाडी को प्राप्त होता है, तो वह शिशु नाडी में अस्त होता है। शिशुनाडी श्येन को प्राप्त होती है, इसलिए वह श्येन में अस्त होती है, और श्येन विज्ञान को प्राप्त होता है और वह पूर्वोक्तक्रम से अमृत, अभय, अशोक, अनन्त, निर्बीज को प्राप्त होता है—ऐसा कहा है।

बुद्धिमेवाप्येति यो बुद्धिमेवास्तमेति बोद्धव्यमेवाप्येति यो बोद्धव्यमेवा-स्तमेति ब्रह्माणमेवाप्येति यो ब्रह्माणमेवास्तमेति सूर्यामेवाप्येति यः सूर्यामेवास्तमेति कृष्णमेवाप्येति यः कृष्णमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति तदमृत.....होवाच ॥12॥

उन्होंने आगे कहा कि—जो बुद्धि को प्राप्त होता है, वह बुद्धि में ही अस्त होता है। बुद्धि ज्ञेय विषय की ओर जाती है इसलिए वह ज्ञेय विषय में अस्त हो जाती है। ज्ञेय विषय ब्रह्मा को प्राप्त होते हैं अत: वे ब्रह्मा में अस्त हो जाते हैं। ब्रह्मा सूर्यानाडी को प्राप्त होते हैं, अत: वे सूर्यानाडी में अस्त होते हैं। सूर्यानाडी कृष्ण को प्राप्त होती है अत: वह कृष्ण में अस्त हो जाती है और कृष्ण विज्ञान को प्राप्त होते हैं और विज्ञान पूर्वोक्त क्रम से अमृत, अभय, अशोक, अनन्त और निर्बीज को प्राप्त होता है—ऐसा कहा है।

अहङ्कारमेवाप्येति योऽहङ्कारमेवास्तमेत्यहङ्कर्तव्यमेवाप्येति योऽहङ्कर्त-व्यमेवास्तमेति रुद्रमेवाप्येति यो रुद्रमेवास्तमेत्यसुरामेवाप्येति योऽसुरा-मेवास्तमेति श्वेतमेवाप्येति यः श्वेतमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति तदमृत ......होवाच ॥13॥

उन्होंने आगे बताया कि जो अहंकार को प्राप्त होता है, वह अहंकार में अस्त हो जाता है। वह अहंकार, अहंकार करने योग्य को पाता है और अहंकार करने योग्य में लीन हो जाता है। वह अहंकारयोग्य रुद्र को पाता है और रुद्र में अस्त हो जाता है। वह रुद्र असुरानाडी को प्राप्त होता है और असुरानाडी में अस्त हो जाता है। वह असुरानाडी श्वेत को प्राप्त करती है और वह श्वेत में अस्त हो जाती है। वह श्वेत विज्ञान को पाता है और वह पूर्वोक्त क्रम से अमृत, अभय, अशोक, अनन्त क्रम से और निर्बीज को पाता है—ऐसा कहा है।

चित्तमेवाप्येति यश्चित्तमेवास्तमेति चेतयितव्यमेवाप्येति यश्चेतयितव्य-मेवास्तमेति क्षेत्रज्ञमेवाप्येति यः क्षेत्रज्ञमेवास्तमेति भास्वतीमेवाप्येति यो भास्वतीमेवास्तमेति नागमेवाप्येति यो नागमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति यो विज्ञानमेवास्तमेत्यानन्दमेवाप्येति य आनन्दमेवास्तमेति तुरीयमेवा-प्येति यस्तुरीयमेवास्तमेति तदमृतमभयमशोकमनन्तनिर्बीजमेवाप्येति होवाच ॥14॥

उन्होंने आगे कहा कि जो चित्त को प्राप्त होता है, वह चित्त में अस्त हो जाता है। चित्त विचार

को प्राप्त होता है और वह विचार में लीन हो जाता है। विचार चेतयितव्य (क्षेत्रज्ञ) को प्राप्त होता है और वह क्षेत्रज्ञ में लीन हो जाता है। क्षेत्रज्ञ भास्वती नाडी को प्राप्त होता है और वह भास्वती नाडी में अस्त हो जाता है। भास्वती नाडी नागवायु को प्राप्त होती है, और वह नागवायु में अस्त हो जाती है। वह नागवायु विज्ञान को प्राप्त होता है और वह विज्ञान में ही अस्त हो जाता है। और वह विज्ञान पहले बताए गए तेरहों मन्त्रों के क्रमानुसार आनन्द को प्राप्त होता है और आनन्द में अस्त होता है। वह आनन्द तुरीय को प्राप्त होता है और तुरीय में अस्त होता है। वही तुरीय अमृत, अभय, अशोक, अनन्त और निर्बीज को प्राप्त होता है—ऐसा कहा है।

य एवं निर्बीजं वेद निर्बीज एव स भवति न जायते न म्रियते न मुह्यते न भिद्यते न दह्यते न छिद्यते न कम्पते न कुप्यते सर्वदहनोऽयमात्मेत्या-चक्षते ॥15॥

घोरांगिरस ने अन्त में कहा कि जो मनुष्य इस निर्बीज को पहचान लेता है, वह स्वयं निर्बीज हो जाता है। वह न जन्मता है, न मरता है। वह मोह प्राप्त नहीं करता। उसका भेदन नहीं हो सकता। वह न जलाया जा सकता है, न काटा जा सकता है। वह काँपता नहीं। वह क्रोध नहीं करता। सभी वस्तुओं का दहन करने वाले इसको आत्मा कहा जाता है।

नैवमात्मा प्रवचनशतेनापि लभ्यते। न बहुश्रुतेन न बुद्धिज्ञानाश्रितेन न मेधया न वेदैर्न यज्ञैर्न तपोभिरुग्रैर्न सांख्यैर्न योगैर्नाश्रमैर्नान्यैरात्मानमु-पलभन्ते। प्रवचनेन प्रशंसया व्युत्पानेन तमेतं ब्राह्मणा शुश्रुवांसो-ऽनूचाना उपलभन्ते। शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽ-त्मन्येवात्मानं पश्यति। सर्वस्यात्मा भवति य एवं वेद ॥16॥

इति नवमः खण्डः।

यह आत्मा सैकड़ों प्रवचनों से प्राप्त नहीं किया जा सकता। बहुत शास्त्रश्रवण से या बुद्धि और किसी ज्ञान का आश्रय करने से भी प्राप्त नहीं किया जा सकता। और मेधा से, वेदों से, यज्ञों से, उग्र तपश्चर्याओं से, सांख्यज्ञान से, योगसाधना से, आश्रमों से या अन्य किसी भी साधन से यह आत्मा प्राप्त नहीं किया जा सकता। जो ब्रह्मनिष्ठ पुरुष (अपने) प्रवचन से और प्रशंसा से समाधि से बाहर आकर आत्मा के विषय में श्रवण करवाते हैं और व्याख्यान करते हैं वे ही उसको पा सकते हैं। जो मनुष्य शान्त, दान्त, उपरत और तितिक्षु होकर समाधिनिष्ठ रहता है, वह अपने आत्मा में ही सर्व प्राणियों के आत्मा को देखता है, और जो ऐसा समझता है, वह सबका आत्मा हो जाता है।

यहाँ नवाँ खण्ड पूरा हुआ।

दशमः खण्डः

अथ हैनं रैक्वः पप्रच्छ भगवन्कस्मिन्सर्वे सम्प्रतिष्ठिता भवन्तीति; रसातललोकेष्विति होवाच। कस्मिन्रसातललोका ओताश्च प्रोताश्चेति भूर्लोकेष्विति होवाच। कस्मिन्भूर्लोका ओताश्च प्रोताश्चेति

भुवर्लोकेष्विति होवाच । कस्मिन्भुवर्लोका ओताश्च प्रोताश्चेति
सुवर्लोकेष्विति होवाच । कस्मिन्सुवर्लोका ओताश्च प्रोताश्चेति
महर्लोकेष्विति होवाच । कस्मिन्महर्लोका ओताश्च प्रोताश्चेति
जनोलोकेष्विति होवाच । कस्मिञ्जनोलोका ओताश्च प्रोताश्चेति
तपोलोकेष्विति होवाच । कस्मिंस्तपोलोका ओताश्च प्रोताश्चेति
सत्यलोकेष्विति होवाच । कस्मिन्सत्यलोका ओताश्च प्रोताश्चेति
प्रजापतिलोकेष्विति होवाच । कस्मिन्प्रजापतिलोका ओताश्च प्रोताश्चेति
ब्रह्मलोकेष्विति होवाच । कस्मिन्ब्रह्मलोका ओताश्च प्रोताश्चेति
सर्वलोका आत्मनि ब्रह्मणि मणय इवौताश्च प्रोताश्चेति स होवाच ॥1॥
एवमेतान् लोकानात्मनि प्रतिष्ठितान् वेदात्मैव स भवतीत्येतन्निर्वाणा-
नुशासनमिति वेदानुशासनमिति वेदानुशासनम् ॥2॥

इति दशमः खण्डः ।

आगे भी रैक्व मुनि ने घोरांगिरस से पूछा—'हे भगवन् ! किस पदार्थ में सब पदार्थ निहित हैं ?' तब उन्होंने कहा कि—'सभी पदार्थ रसातल में अवस्थित हैं ।' तब रैक्व बोले—'रसातल लोक किसमें ओतप्रोत है ?' अंगिरस बोले—'वे भूर्लोक में ओतप्रोत हैं ।' रैक्व बोले—'भूर्लोक किसमें ओतप्रोत हैं ?' अंगिरस बोले—'वे भुवर्लोक में ओतप्रोत हैं ।' रैक्व बोले—'भुवर्लोक किसमें ओतप्रोत हैं ?' अंगिरा बोले—'स्वर्लोक में ओतप्रोत हैं । रैक्व बोले—'स्वर्लोक किसमें ओत-प्रोत है ?' अंगिरस बोले—'वे महर्लोक में ओतप्रोत हैं ।' रैक्व बोले—'महर्लोक किसमें ओतप्रोत हैं ?' अंगिरस बोले—'वे जनलोक में ओतप्रोत हैं ।' रैक्व बोले—'जनलोक किसमें ओतप्रोत हैं ?' अंगिरस बोले—वे तपोलोक में ओतप्रोत हैं ।' रैक्व बोले—'तपोलोक किसमें ओतप्रोत हैं ?' अंगिरस बोले—'वे सत्यलोक में ओतप्रोत हैं ।' रैक्व बोले—'सत्यलोक किसमें ओतप्रोत है ।' अंगिरस ने कहा—'वे प्रजापति लोक में ओतप्रोत हैं ।' रैक्व बोले—'प्रजापतिलोक किसमें ओतप्रोत हैं ?' अंगिरस बोले—'वे ब्रह्मलोक में ओतप्रोत हैं । रैक्व बोले—'ब्रह्मलोक किसमें ओतप्रोत हैं ?' अंगिरस बोले—'ये सभी लोक आत्मारूप ब्रह्म में मणियों की तरह ओतप्रोत हैं ।' ऐसा उन्होंने कहा । जो मनुष्य इन सभी लोकों को आत्मा में अवस्थित जान लेता है, वह स्वयं आत्मरूप ही हो जाता है । ऐसा यह मोक्षविषय का उपदेश है । यही वेद का उपदेश है, यही वेद की आज्ञा है ।

यहाँ दसवाँ खण्ड पूरा हुआ ।

❋

एकादशः खण्डः

अथ हैनं रैक्वः पप्रच्छ भगवन् योऽयं विज्ञानघन उत्क्रामन्स केन कतरद् वावस्थानमुत्सृज्यापक्रामतीति तस्मै स होवाच हृदयस्य मध्ये लोहितं मांसपिण्डं यस्मिंस्तद्दहरं पुण्डरीकं कुमुदमिवानेकधा विकसितं तस्य मध्ये समुद्रः समुद्रस्य मध्ये कोशस्तस्मिन्नाड्यश्चतस्रो भवन्ति रमाऽरमेच्छाऽपुनर्भवेति । तत्र रमा पुण्येन पुण्यं लोकं नयत्यरमा पापेन पापमिच्छया

यत्स्मरति तदभिसम्पद्यते अपुनर्भवया कोशं भिनत्ति कोशं भित्त्वा शीर्शकपालं भिनत्ति शीर्षकपालं भित्त्वा पृथिवीं भिनत्ति पृथिवीं भित्त्वाऽपो भिनत्त्यपो भित्त्वा तेजा भिनत्ति तेजो भित्त्वा वायुं भिनत्ति वायुं भित्त्वाऽऽकाशं भिनत्त्याकाशं भित्त्वा मनो भिनत्ति मनो भित्त्वा भूतादिं भिनत्ति भूतादिं भित्त्वा महान्तं भिनत्ति महान्तं भित्त्वाऽव्यक्तं भिनत्त्यव्यक्तं भित्त्वाऽक्षरं भिन्नत्त्यक्षरं भित्त्वा मृत्युं भिनत्ति मृत्युर्वै परे देव एकीभवतीति परस्तान्न सन्नासन्न सदसदित्येतन्निर्वाणानुशासनमिति वेदानुशासनमिति वेदानुशासनमिति ॥1॥

इत्येकादशः खण्डः ।

पुनः रैक्व ने उनसे पूछा—'हे भगवन् ! यह विज्ञानमय आत्मा जब शरीर से बाहर निकलता है, तब किस मार्ग से कौन सा स्थान छोड़ते हुए बाहर जाता है ?' यह सुनकर घोरांगिरस ने कहा कि—'हृदय के बीच रक्तवर्ण मांस का पिण्ड है। उसमें कुमुद (चन्द्रविकासी कमल) जैसा एक सफेद और सूक्ष्म कमल है। वह अनेक तरह से विकसित हुआ है। उसके बीच में एक सागर है। उस समुद्र के बीच में एक कोश (कली) है। उसमें रमा, अरमा, इच्छा और अपुनर्भवा नाम की चार नाड़ियाँ हैं। इनमें रमा पुण्य से पुण्यलोक में ले जाती है और अरमा पापों से पापलोक में ले जाती है। इच्छा नाड़ी के द्वारा जो जिसका स्मरण करता है, उसे वह पाता है। और अपुनर्भवा से उस कोश को भेदता है (खोलता है)। कोश को खोलकर खोपड़ी को खोलता है, खोपड़ी को खोलकर पृथ्वी को खोलता है, पृथ्वी को भेदकर जल को भेदता है, जल को भेदकर तेज को भेदता है, तेल को भेदकर वायु को भेदता है, वायु को भेदकर आकाश को भेदता है, आकाश को भेदकर मन को भेदता है, मन को भेदकर अहंकार को भेदता है, अहंकार को भेदकर महत्तत्त्व को भेदता है, महत्तत्त्व को भेदकर अव्यक्त को भेदता है, अव्यक्त को भेदकर अक्षर को भेदता है और अक्षर को भेदकर मृत्यु को भेदता है। वह मृत्यु परमदेव (परमात्मा) के साथ एकीभूत हो जाता है। फिर इसके बाद तो न सत् है, न असत् है, न सदसत् है। यही यहाँ मोक्ष का उपदेश है। यही वेद का आदेश है। यही वेदों की शिक्षा है।

यहाँ ग्यारहवाँ खण्ड पूरा हुआ ।

❋

द्वादशः खण्डः

ॐ नारायणाद्वा अन्नमागतं पक्वं ब्रह्मलोके महासंवर्तके पुनः पक्वमादित्ये पुनः पक्वं क्रव्यादि पुनः पक्वं जालकिलक्लिन्नं पर्युषितं पूतमन्नमयाचितसंक्लृप्तमश्नीयान्न कञ्चन याचेत ॥1॥

इति द्वादशः खण्डः ।

ॐ यह अन्न नारायण से आया है, वह ब्रह्मलोक में पकाया गया है, बाद में महासंवर्तक में प्रलयकाल में पकाया गया है, तदनन्तर आदित्य में पका है और बाद में क्रव्याद (आवसथ्याग्नि) में

पकाया गया है। इस तरह चार प्रकार से अन्न पकाया जाता है। संन्यासी को यह अन्न यदि पानी से भीग गया हो, बासी हो गया हो, तो उसे न खाकर केवल जो अन्न पवित्र हो, जो माँगा गया न हो, और किसी पूर्वसंकल्प से प्राप्त न किया गया हो, ऐसा अन्न ही खाना चाहिए। और किसी से अन्न की याचना नहीं करनी चाहिए।

यहाँ बारहवाँ खण्ड पूरा हुआ।

❈

त्रयोदशः खण्डः

बाल्येन तिष्ठासेद् बालस्वभावोऽसङ्गो निरवद्यो मौनेन पाण्डित्येन निरवधिकारतयोपलभ्यते कैवल्यमुक्तं निगमनं प्रजापतिरुवाच महत्पदं ज्ञात्वा वृक्षमूले वसेत कुचेलोऽसहाय एकाकी समाधिस्थ आत्मकाम आप्तकामो निष्कामो जीर्णकामो हस्तिनि सिंहे दंशे मशके नकुले सर्पराक्षसगन्धर्वे मृत्यो रूपाणि विदित्वा न बिभेति कुतश्चनेति वृक्षमिव तिष्ठासेच्छिद्यमानोऽपि न कुप्येत न कम्पेतोत्पलमिव तिष्ठासेच्छिद्य-मानोऽपि न कुप्येत न कम्पेताकाशमिव तिष्ठासेच्छिद्यमानोऽपि न कुप्येत न कम्पेत सत्येन तिष्ठासेत्सत्योऽयमात्मा ॥1॥

ज्ञानी को शिशुसहज स्वभाव में रहना चाहिए। ज्ञानी को असंग, निर्दोष, मौनपूर्वक, पाण्डित्यपूर्वक और किसी अवधि से रहित (नियमरहित) अधिकार को प्राप्त करते हुए रहना चाहिए— यही कैवल्य की स्थिति कही गई है। प्रजापति ने कहा है कि उस महान् पद को जानने के बाद वृक्ष के मूल में रहना चाहिए, खराब (फटे-पुराने) वस्त्र पहनने चाहिए, ज्ञानी निःसहाय, एकाकी, समाधिमग्न, आत्मा की ही कामना से युक्त, पूर्णकाम, कामनारहित और जीर्णकाम ही रहता है। वह ज्ञानी हाथी, सिंह, डाँस, मच्छर, नेवले, सर्प, राक्षस और गंधर्व में मृत्यु के रूपों को देखकर किसी से भी डरता नहीं है। वह वृक्ष की ही तरह रहना चाहता है, जो काटा जाने पर भी न कोप करता है, न काँपता है। वह कमल की तरह निर्लेप रहना चाहता है, जो छेद किये जाने पर भी न क्रोध करता है, न डिगता है। वह आकाश की तरह निर्लेप रहना चाहता है जो छिन्न-भिन्न करने पर कोप नहीं करता और काँपता नहीं है। वह सत्य में ही रहना चाहता है। यही आत्मा का सत्य (अकोप और अकम्प) रूप है।

सर्वेषामेव गन्धानां पृथिवी हृदयं सर्वेषामेव रसानामापो हृदयं सर्वेषामेव रूपाणां तेजो हृदयं सर्वेषामेव स्पर्शानां वायुर्हृदयं सर्वेषामेव शब्दा-नामाकाशं हृदयं सर्वेषामेव गतीनामव्यक्तं हृदयं सर्वेषामेव सत्त्वानां मृत्युर्हृदयं मृत्यर्वै परे देव एकीभवतीति परस्तान्न सन्नासन्न सदसदित्येत-न्निर्वाणानुशासनमिति वेदानुशासनमिति वेदानुशासनम् ॥2॥

इति त्रयोदशः खण्डः।

सभी गन्धों का हृदय पृथ्वी है, सभी रसों का हृदय जल है, सभी रूपों का हृदय तेज है, सभी स्पर्शों का हृदय वायु है, सभी शब्दों का हृदय आकाश है, सभी गतियों का हृदय अव्यक्त (प्रकृति) है, सभी प्राणियों का हृदय मृत्यु है। यह मृत्यु ही परमदेव परमात्मा के साथ एकीभूत हो जाता है। और

उसके परे तो न कोई सत् है, न असत् है, न सदसत् है। यही मोक्ष का उपदेश है, यही वेदों की आज्ञा है, यही वेदों की शिक्षा है।

यहाँ तेरहवाँ खण्ड पूरा हुआ।

❋

चतुर्दशः खण्डः

ॐ पृथिवी वाऽन्नमापोऽन्नादा आपो वाऽन्नं ज्योतिरन्नादं ज्योतिर्वाऽन्नं वायुरन्नादो वायुर्वाऽन्नमाकाशोऽन्नाद आकाशो वाऽन्नमिन्द्रियाण्यन्ना-दानीन्द्रियाणि वाऽन्नं मनोऽन्नादं मनो वाऽन्नं बुद्धिरन्नादा बुद्धिर्वाऽ-न्नमव्यक्तमन्नादमव्यक्तं वाऽन्नमक्षरमन्नादमक्षरं वाऽन्नं मृत्युरन्नादो मृत्युर्वै परे देव एकीभवतीति परस्तान्न सन्नासन्न सदसदित्येतन्निर्वाणानुशासन-मिति वेदानुशासनमिति वेदानुशासनम् ॥1॥

इति चतुर्दशः खण्डः।

अथवा पृथ्वी अन्न है, तो जल अन्नभक्षक है। जल यदि अन्न है तो तेज अन्नभक्षक है। तेज अन्न है तो वायु अन्नभक्षक है। वायु अन्न है तो आकाश अन्नभक्षक है। आकाश अन्न है तो इन्द्रियाँ अन्नभक्षक हैं। इन्द्रियाँ अन्न हैं तो मन अन्नभक्षक हैं। मन यदि अन्न है तो बुद्धि अन्नभक्षक है। बुद्धि अन्न है तो अव्यक्त (प्रकृति) अन्नभक्षक है। प्रकृति अन्न है तो अक्षर अन्नभक्षक है। अक्षर अन्न है तो मृत्यु अन्नभक्षक है। वह मृत्यु परमदेव परमात्मा से एकीभूत हो जाता है। इसके परे फिर न सत् है, न असत् है, न सदसत् है। यही मोक्ष का उपदेश है, यही वेदों की आज्ञा है, यही वेदों की शिक्षा है।

यहाँ चौदहवाँ खण्ड पूरा हुआ।

पञ्चदशः खण्डः

अथ हैनं रैक्वः पप्रच्छ भगवन् योऽयं विज्ञानमय उत्क्रामन्स केन कतर-द्वाव स्थानं दहतीति तस्मै स होवाच। योऽयं विज्ञानघन उत्क्रामन्प्राणं दहत्यपानं व्यानमुदानं समानं वैरम्भं मुख्यमन्तर्यामं प्रभञ्जनं कुमारं श्येनं श्वेतं कृष्णं नागं दहति पृथिव्यापस्तेजोवाय्वाकाशं दहति जागरितं स्वप्नं सुषुप्तं तुरीयं च महतां च लोकं परं च लोकं दहति लोकालोकं दहति धर्माधर्मं दहत्यभास्करममर्यादं निरालोकमतः परं दहति महान्तं दहत्य-व्यक्तं दहत्यक्षरं दहति मृत्युं दहति मृत्युर्वै परे देव एकीभवतीति परस्तान्न सन्नासन्न सदसदित्येतन्निर्वाणानुशासनमिति वेदानुशासनमिति वेदानु-शासनम् ॥1॥

इति पञ्चदशः खण्डः।

आगे पुनः रैक्व ने घोरांगिरस से पूछा—'हे भगवन्! यह विज्ञानमय आत्मा जब शरीर से

बाहर निकलता है, तब किसके द्वारा किस स्थान को प्राप्त होता है ?' तब घोर अंगिरस ने कहा कि—यह विज्ञानात्मा जब शरीर से बाहर निकलता है, तब पहले प्राण को, अपान को, व्यान को, उदान को, समान को, वैरंभ को, मुख्य को, अन्तर्याम को, प्रभंजन को, कुमार को, श्येन को, श्वेत को, कृष्ण को और नाग को जलाता है। और बाद में पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश को जलाता है। बाद में जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय तथा महान् लोक को जलाता है तथा परलोक और इस लोक को जलाता है। बाद में लोक और अलोक को भी जलाता है। बाद में बिना सूर्य के, बिना सीमा के लोक को जलाता है। बाद में महत्तत्त्व को जलाता है, बाद में अव्यक्त को, इसके बाद अक्षर को, इसके बाद मृत्यु को जलाता है। मृत्यु उस परमदेव परमात्मा के साथ एकीभूत होता है और उसके परे तो न सत् है, न असत् है, न सदसत् है। यही मोक्ष का उपदेश है, यही वेदों की आज्ञा है, यही वेदों की शिक्षा है।

यहाँ पन्द्रहवाँ खण्ड पूरा हुआ।

❈

षोडशः खण्डः

सौबालबीजब्रह्मोपनिषन्नाप्रशान्ताय दातव्या नापुत्राय नाशिष्याय नासंवत्सररात्रोषिताय नापरिज्ञातकुलशीलाय दातव्या नैव च प्रवक्तव्या।
यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥
इत्येतन्निर्वाणानुशासनमिति वेदानुशासनमिति वेदानुशासनम्॥1॥

इति षोडशः खण्डः।

इति सुबालोपनिषत्समाप्ता।

सौबाल नामक बीजवाली यह ब्रह्मोपनिषद् अशान्त मनुष्य को, अपुत्र को, जो शिष्य न बना हो उसको, जो एक वर्ष तक नजदीक में न रहा हो, जिसके कुल और शील के बारे में कुछ पता न हो, ऐसे मनुष्य को नहीं देनी चाहिए और कहनी भी नहीं चाहिए। क्योंकि जिसको परमात्मा के प्रति और वैसी ही गुरु के प्रति परमभक्ति हो, उसी मनुष्य के लिए ये विषय कहे गए हैं। और ऐसे महात्मा के प्रति ही ऐसे अर्थ प्रकाशित होते हैं। यही मोक्ष का उपदेश है, यही वेद की आज्ञा है और यही वेद की शिक्षा है।

यहाँ सोलहवाँ खण्ड पूरा हुआ।

यहाँ उपनिषत् समाप्त हुई।

शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं......पूर्णमेवावशिष्यते। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

❈

(32) क्षुरिकोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

कृष्णयजुर्वेदीय इस उपनिषद् में 25 मन्त्र हैं। उपनिषद् का नाम क्षुरिका इसलिए रखा गया है कि जैसे क्षुरिका (छुरी) काटने का काम करती है, वैसे ही यह उपनिषद् बन्धनों को काटने में समर्थ है। योग के आठ अंगों में से छठे अंग धारणा की यहाँ विशेष चर्चा हुई है। पहले इस उपनिषद् में योग के अधिकार के विषय में कहकर बाद में आसन और प्राणायाम के बारे में बताया गया है। फिर प्रत्याहार के विषय का स्पर्श करके जो अन्तरंग साधन ध्यान-धारणा-समाधि हैं, उस पर ज्यादा बल दिया गया है। फिर योग के साधन और योग के अधिकारी के विषय में कहा है और अन्त में समाधि का फल बताया है।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ ...... मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

इसका हिन्दी रूपान्तर आरम्भ में (ब्रह्मोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

ॐ क्षुरिकां सम्प्रवक्ष्यामि धारणां योगसिद्धये।
यां प्राप्य न पुनर्जन्म योगयुक्तस्य जायते॥1॥

योग की सिद्धि के लिए धारणारूपी क्षुरिका (छुरी) को मैं कहूँगा। इसको प्राप्त करके जो योगयुक्त हो जाता है, उसका पुनर्जन्म नहीं होता है।

वेदतत्त्वार्थविहितं यथोक्तं हि स्वयम्भुवा।
निःशब्दं देशमास्थाय तत्रासनमवस्थितः॥2॥
कूर्मोऽङ्गानीव संहृत्य मनो हृदि निरुध्य च।
मात्राद्वादशयोगेन प्रणवेन शनैः शनैः॥3॥
पूरयेत्सर्वमात्मानं सर्वद्वारं निरुध्य च।
उरोमुखकटिग्रीवं किञ्चिद्धृदयमुन्नतम्॥4॥
प्राणान्सन्धारयेत्तस्मिन् नासाभ्यन्तरचारिणः।
भूत्वा तत्र गतप्राणः शनैरथ समुत्सृजेत्॥5॥

स्वयंभू ब्रह्माजी के कथनानुसार और वेद के तत्त्वार्थ में कहे अनुसार किसी नीरव स्थान में आसन लगाकर वहाँ पर बैठना चाहिए। और जैसे कछुआ अपने अंगों को सिकोड़ लेता है, वैसे ही इन्द्रियों को विषयों से समेटकर भीतर खींच लेना चाहिए और मन को हृदय में रोक देना चाहिए। बाद में धीरे-धीरे बारह मात्रा वाले ॐकार से समग्र शरीर को पूरक प्राणायाम से भर देना चाहिए। और छाती, मुँह, कमर, गर्दन तथा हृदय को कुछ उन्नत (उठाए हुए) रखना चाहिए। तदनन्तर नासिका के भीतर प्रविष्ट

प्राणों को (श्वासों को) हृदय में धारण करना चाहिए। इस प्रकार (कुंभक की स्थिति में) रहकर धीरे-धीरे उसे छोड़ देना चाहिए, अर्थात् रेचक करना चाहिए।

स्थिरमात्रादृढं कृत्वा अङ्गुष्ठेन समाहितः।
द्वे गुल्फे तु प्रकुर्वीत जङ्घे चैव त्रयस्त्रयः ॥6॥
द्वे जानुनी तथोरुभ्यां गुदे शिश्ने त्रयस्त्रयः।
वायोरायतनं चात्र नाभिदेशे समाश्रयेत् ॥7॥

जब यह धारणायुक्त प्राणायाम दृढ़ हो जाए, तब पूर्ण सावधान रहते हुए पैर के अँगूठे से लेकर दोनों टखनों में (घूटियों में) दो-दो बार, दोनों पिण्डलियों में तीन-तीन बार, घुटनों और जाँघों में दो-दो बार तथा गुदा तथा जननेन्द्रिय में तीन-तीन बार वायु की धारणा करनी चाहिए और बाद में वायु के स्थान नाभि का आश्रय लेना चाहिए।

तत्र नाडी सुषुम्ना तु नाडीभिर्बहुभिर्वृता।
अणु रक्ताश्च पीताश्च कृष्णास्ताम्रा विलोहिताः ॥8॥

उस स्थान पर इडा, पिंगला आदि बहुत-सी नाडियों से घिरी हुई सुषुम्ना नाम की नाडी है। वहाँ पर बहुत-सी नाडियाँ हैं जो बहुत सूक्ष्म हैं तथा लाल, पीली, काली ताँबे की-सी लाल हैं।

अतिसूक्ष्मां च तन्वीं च शुक्लां नाडीं समाश्रयेत्।
ततः संचारयेत्प्राणानूर्णनाभीव तन्तुना ॥9॥

परन्तु, उनमें से जो नाडी बहुत ही सूक्ष्म और पतली है, उस सफेद नाडी का आश्रय लेना चाहिए। जिस प्रकार मकड़ी अपनी लार के तन्तु से संचरण करती है, ठीक वैसे ही योगी को उस नाड़ी में अपने प्राणों का संचार करना चाहिए।

ततो रक्तोत्पलाभासं हृदयायतनं महत्।
दहरं पुण्डरीकं तद् वेदान्तेषु निगद्यते ॥10॥
तद्भित्त्वा कण्ठमायाति तां नाडीं पूरयन्यतः।
मनसस्तु परं गुह्यं सुतीक्ष्णं बुद्धिनिर्मलम् ॥11॥

इसके बाद, वेदान्तों में जिसे 'दहर पुंडरीक' नाम दिया गया है, पुरुष के—आत्मा के उस हृदयरूपी बड़े निवासस्थान को, जो लालकमल की भाँति प्रकाशित हो रहा है, उसको भेदकर वायु उस नाडी को अपने से भरते हुए कण्ठ में आता है। इसके बाद मनःक्षेत्र और इसके भी परे गुह्य, सुनिर्मल और सुतीक्ष्ण (छुरे जैसा) बुद्धि का स्थान है।

पादस्योपरि यन्मर्म तद्रूपं नाम चिन्तयेत्।
मनोद्वारेण तीक्ष्णेन योगमाश्रित्य नित्यशः ॥12॥
इन्द्रवज्र इति प्रोक्तं मर्मजङ्घानुकृन्तनम्।
तद्ध्यानबलयोगेन धारणाभिर्निकृन्तयेत् ॥13॥
ऊर्वोर्मध्ये तु संस्थाप्य मर्मप्राणविमोचनम्।
चतुरभ्यासयोगेन छिन्देदनभिशङ्कितः ॥14॥

इस प्रकार पैरों के ऊपर जो मर्मस्थान स्थित है, उसके नाम और रूप का चिन्तन करना चाहिए। सदैव योगाभ्यास का अवलम्बन करके, तीक्ष्ण मन के द्वारा जंघाओं में लगे हुए 'इन्द्रवज्र' नाम के क्षेत्र

का छेदन करना चाहिए। बाद में ध्यानयोग के बल से और धारणा से दोनों जंघाओं के बीच के मर्म भागों में स्थित प्राण का विमोचन करना चाहिए। और फिर विमोचन करने वाले उस प्राण को ध्यान, बल और धारणा के योग से स्थापित करके योगाभ्यास द्वारा मन को तीक्ष्ण धारणा से बिना शंका किए मूलाधार से लेकर हृदयपर्यन्त मर्म स्थानों का (चारों मर्मस्थलों का) भेदन करना चाहिए।

ततः कण्ठान्तरे योगी समूहन्नाडिसञ्चयम्।
एकोत्तरं नाडिशतं तासां मध्ये परा स्थिता ॥15॥
सुषुम्ना तु परे लीना विरजा ब्रह्मरूपिणी।
इडा तिष्ठति वामेन पिङ्गला दक्षिणेन च ॥16॥

इसके बाद कण्ठस्थ नाडीसमूह में योगी प्राणों को संचरित करे। इस नाडीसमूह में एक सौ एक नाडियाँ हैं। उनके बीच में पराशक्ति रहती है। सुषुम्ना नाडी परमतत्त्व में लीन होती है और विरजा नाडी ब्रह्ममय है। उसके बाएँ भाग में इडा अवस्थित है और दाहिने भाग में पिंगला है।

तयोर्मध्ये वरं स्थानं यस्तं वेद स वेदवित्।
द्वासप्ततिसहस्राणि प्रतिनाडीषु तैतिलम् ॥17॥

इन इडा और पिंगला—दोनों नाडियों के बीच में जो उत्तम स्थान है, उसे जो जान लेता है, वह सभी वेदों को जानने में समर्थ हो जाता है। उन सभी सूक्ष्म नाडियों की संख्या बहत्तर हजार कही गई है। उस नाडीसमूह को 'तैतिल' नाम दिया गया है।

छिन्द्यते ध्यानयोगेन सुषुम्नैका न छिद्यते।
योगनिर्मलधारेण क्षुरेणानलवर्चसा ॥18॥
छिन्देन्नाडीशतं धीरः प्रभवादिह जन्मनि।
जातीपुष्पसमायोगैर्यथा वास्यति तैतिलम् ॥19॥

ध्यानयोग से समस्त नाडीसमूह को काटा जा सकता है, पर एक सुषुम्ना नहीं काटी जा सकती। धीर पुरुष को चाहिए कि वह इसी जन्म में आत्मप्रभाव से आग जैसी तेजस्वी और योगप्रभाव से निर्मल बनी हुई धारणा की तीक्ष्ण छुरी से सभी नाड़ियों का छेदन कर दे। इससे जिस प्रकार चमेली के पुष्प डालने से तिल का तेल सुगन्धित हो जाता है, उसी तरह सभी नाडियाँ सुगन्धित हो उठती हैं।

एवं शुभाशुभैर्भावैः सा नाडी तां विभावयेत्।
तद्भाविताः प्रपद्यन्ते पुनर्जन्मविवर्जिताः ॥20॥

इस प्रकार योगी को शुभ और अशुभ भाववाली सभी नाडियों को समझकर इसमें जो सुषुम्ना नाडी है, उसपर धारणा करनी चाहिए। ऐसी धारणा से जो भावित (युक्त) होते हैं, वे पुनर्जन्म से रहित होकर परमपद को प्राप्त कर लेते हैं। अर्थात् ऐसे लोग शाश्वत ब्रह्मभाव को प्राप्त कर लेते हैं।

तपोविजितचित्तस्तु निःशब्दं देशमास्थितः।
निःसंगस्तत्त्वयोगज्ञो निरपेक्षः शनैः शनैः ॥21॥

तपों से चित्त पर विजय प्राप्त करने वाला मनुष्य नीरव एकान्त प्रदेश में रहते हुए निःसंग तत्त्व के योग को जानने वाला होकर धीरे-धीरे निरपेक्ष हो जाता है।

पाशं छित्त्वा यथा हंसो निर्विशंङ्कं खमुत्क्रमेत्।
छिन्नपाशस्तथा जीवः संसारं तरते सदा ॥22॥

जिस प्रकार जाल के बन्धन को काट कर हंस शंकारहित होकर के आकाश में उड़ता है, वैसे ही जीव (योगीपुरुष) बन्धन के कट जाने से सदा के लिए संसार को पार कर जाता है।

यथा निर्वाणकाले तु दीपो दग्ध्वा स्वयं व्रजेत्।
तथा सर्वाणि कर्माणि योगी दग्ध्वा लयं व्रजेत् ॥23॥

जिस तरह बुझने के समय पर दीपक सभी को (तेल, बाती आदि को) जलाकर स्वयं ही समाप्त हो जाता है, वैसे ही योगी भी सभी कर्मों को जलाकर स्वयं ब्रह्मलीन हो जाता है।

प्राणायामसुतीक्ष्णेन मात्राधारेण योगवित्।
वैराग्योपलघृष्टेन छित्त्वा तं तु न बध्यते ॥24॥

वैराग्यरूपी शिला पर प्रणव के साथ प्राणायाम द्वारा घिसकर तीक्ष्ण बनाई गई धारणा रूपी छुरी से संसार के बन्धनों को काटने वाले योगी को बन्धन नहीं बाँध पाते।

अमृतत्वं समाप्नोति यदा कामात्प्रमुच्यते।
सर्वैषणाविनिर्मुक्तश्छित्त्वा तन्तु न बध्यते॥
छित्त्वा तन्तुं न बध्यते। इत्युपनिषत् ॥25॥

इति क्षुरिकोपनिषत् समाप्ता।

जब वह योगी पुरुष कामनाओं से मुक्त हो जाता है, तब वह अमृतत्व को प्राप्त हो जाता है। जब वह सभी एषणाओं से छूट जाता है, तब वह फिर से कभी बन्धनों में जकड़ा नहीं जा सकता। वह पुनः बन्धनों में नहीं फँसता।

यहाँ उपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ......मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

※

(33) मन्त्रिकोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

शुक्लयजुर्वेद से सम्बन्ध रखने वाली इस उपनिषद् में बीस मन्त्र हैं। इसमें कहा गया है कि जीवात्मा, परमात्मा के अंशरूप में अपने को अनुभव तो करता है, परन्तु उसे सहज रूप में देख नहीं पाता और देहासक्ति का अन्धकार हटने पर ही वह सही दर्शन कर पाता है। साधारण लोग तो माया को ही शाश्वत मान लेते हैं, माया में ही घिरे हुए रहते हैं। परन्तु यह तो ठीक नहीं है। उन्हें चाहिए कि वे माया से परे परमतत्त्व का अनुभव करें। उसी तत्त्व का व्यक्त, अव्यक्त, द्वैत, अद्वैत आदि अनेक प्रकार से वर्णन किया गया है। सूक्ष्म और विराट् भी उसी को कहा गया है। सभी वेदमन्त्रों का वही (ब्रह्म) एकमात्र रहस्य है। ऋषि ने उसे ब्रह्मचारी, खम्भे की तरह निश्चल, संसाररूप में कल्पित होने वाला तथा जगद्रूपी बैलगाड़ी को खींचने वाला बताया है।

शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं.....पूर्णमेवावशिष्यते। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (जाबालोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

ॐ अष्टपादं शुचिं हंसं त्रिसूत्रमणुमव्ययम्।
त्रिवर्त्मानं तेजसोऽहं सर्वतः पश्यन्न पश्यति॥1॥

आठ पाद वाले, उज्ज्वल, तीन सूत्रवाले, सूक्ष्म, अविनाशी, तीन मार्गवाले और 'सोऽहम्' अर्थात् 'वह मैं ही हूँ', इस प्रकार तेज से प्रकाशित आत्मा को मनुष्य देखते हुए भी नहीं देखता।

भूतसंमोहने काले भिन्ने तमस्ति वैखरे।
अन्तः पश्यन्ति सत्त्वस्था निर्गुणं गुणगह्वरे॥2॥

वह आत्मा निर्गुण है, फिर भी गुणरूपी गुहा में छिपा हुआ है। इसलिए प्राणियों में मोह उत्पन्न कराने वाले, काले और अतिकठोर अज्ञानरूपी अन्धकार का जब नाश होता है, तब सत्त्व में अवस्थित रहने वाले मनुष्य उसे अपने अन्तःकरण में देख पाते हैं।

अशक्यः सोऽन्यथा द्रष्टुं ध्यायमानः कुमारकैः।
विकारजननीमज्ञामष्टरूपामजां ध्रुवाम्॥3॥

अन्य किसी प्रकार से ध्यान किया जाए, तो भी अज्ञानी लोग उसे देख नहीं सकते। क्योंकि विकारों को उत्पन्न करने वाली अज्ञान से भरी हुई आठ रूपों को धारण करने वाली जन्मरहित और अविचल (ध्रुव) ऐसी माया का ही वे ध्यान करते हैं। (माया के आठ रूप—5 महाभूत + मन, बुद्धि और अहंकार)।

ध्यायतेऽध्यासिता तेन तन्यते प्रेर्यते पुनः ।
सूयते पुरुषार्थं च तेनैवाधिष्ठितं जगत् ॥4॥

वह माया उस अध्यास से ही देखी जाती है। उसी के द्वारा ही वह फैलाई जाती है। वास्तविक रूपं से तो वह हंस ही पुरुषार्थ उत्पन्न करता है और उसी के ऊपर यह जगत् प्रतिष्ठित है।

गौरनाद्यन्तवती सा जनित्री भूतभाविनी ।
सितासिता च रक्ता च सर्वकामदुघा विभोः ॥5॥

यह परमात्मा की मायारूपी गाय अनादि है और अन्तहीन है। वह सबकी माता है, सभी प्राणियों का पोषण करने वाली है। वह सफेद, काली और लाल है और सभी कामनाओं को पूर्ण करने वाली है।

पिबन्त्येनामविषयामविज्ञातां कुमारकाः।
एकस्तु पिबते देवः स्वच्छन्दोऽत्र वशानुगः ॥6॥

सभी अज्ञानी जीव इस मायारूपी गाय का स्तनपान करते हैं। क्योंकि उनके लिए यह माया अविज्ञात है अर्थात् माया का स्वरूप वे जानते नहीं हैं और माया उनके लिए ज्ञान का विषय नहीं है। परन्तु, एक परमात्मा ही ऐसा है कि जो माया से स्वतंत्र भी है और माया के वश में भी रहकर (स्वतंत्र होते हुए भी स्वेच्छा से माया के मानो वश में हो इस तरह माया का दूध पीते हैं) मायाजनित पदार्थों को भोगते हैं।

ध्यानक्रियाभ्यां भगवान्भुंक्तेऽसौ प्रसहद्विभुः ।
सर्वसाधारणीं दोग्ध्री पीयमानां तु यज्वभिः ॥7॥

भगवान् विभु होने पर भी मानो अवश होकर—बलात् इस माया को ध्यान-चिन्तन और क्रिया द्वारा भोगते हैं। यह माया सर्वसाधारण के लिए समानरूप से भोग्य है और याज्ञिक लोग इसे कर्म के द्वारा पीते हैं (भोगते हैं)।

पश्यन्त्यस्यां महात्मानः सुवर्णं पिप्पलाशनम् ।
उदासीनं ध्रुवं हंसं स्नातकाध्वर्यवो जगुः ॥8॥

महात्मा लोग सुन्दर वर्ण-रूपवाले इस जगत्रूपी पिप्पल का फल खाते हैं और उस पर बैठे हुए उदासीन-साक्षी-ध्रुव-अचल हंस चैतन्य रूप परमात्मा को देखते हैं। उसी हंस को स्नातक और अध्वर्यु लोग गाते हैं—स्तुति करते हैं।

शंसन्तमनुशंसन्ति बह्वृचाः शास्त्रकोविदाः ।
रथन्तरं बृहत्साम सप्तवैधैस्तु गीयते ॥9॥

शास्त्रों में कुशल अनेक ऋग्वेदी लोग ऋचाओं के द्वारा तथा अनेक स्तुति करने वाले लोग स्तवनों से उसी परमात्मा की स्तुति करते हैं। उसी के लिए रथन्तर नाम का बृहत्साम सात प्रकार की विधियों से (सात प्रकार धारण किए हुए) गाया जाता है।

मन्त्रोपनिषदं ब्रह्म पदक्रमसमन्वितम् ।
पठन्ति भार्गवा ह्येते ह्यथर्वाणो भृगूत्तमाः ॥10॥

मन्त्रोपनिषदों का रहस्य ब्रह्म है। इसी रहस्य को भृगुओं के उत्तम जन एवं भार्गव गोत्र के अथर्ववेदी लोग पद और क्रम के साथ गाते हैं (पढ़ते हैं)।

सब्रह्मचारिवृत्तिश्च स्तम्भोऽथ फलितस्तथा।
अनड्वान्रोहितोच्छिष्टः पश्यन्तो बहुविस्तरम् ॥11॥

वह परमात्मा ब्रह्मचारी वृत्तिवाला स्तम्भ की तरह अटल (अचल), संसार के रूप में फलित हुआ, संसाररूपी गाड़ी को खींचने वाले बैल जैसे, रोहित (रजोगुणी) और सर्वनिषेध से (नेति-नेति से) जो शेष बचा है, वह है। उस व्यापक स्वरूप वाले को ऋषि लोग देखते हैं। (यहाँ स्तम्भ, अनड्वान्, रोहित और उच्छिष्ट ऋषियों के भी नाम हैं, जो परमात्मा को देखते हैं—यहाँ श्लेष का उपयोग किया गया मालूम पड़ता है)।

कालः प्राणश्च भगवान्मृत्युः शर्वो महेश्वरः।
उग्रो भवश्च रुद्रश्च ससुरः सासुरस्तथा ॥12॥

यह भगवान् कालरूप, प्राणरूप, मृत्युरूप तथा महेश्वर है। वे शर्वरूप, भवरूप, रुद्ररूप, उग्ररूप भी हैं। वे देवताओं के साथ भी होते हैं और असुरों के साथ भी रहते हैं।

प्रजापतिर्विराट् चैव पुरुषः सलिलमेव च।
स्तूयते मन्त्रसंस्तुत्यैरथर्वविदितैर्विभुः ॥13॥

वह व्यापक परमपुरुष ही प्रजापति है, विराट् है, वही जलरूप होते हुए मन्त्रों से स्तुति करने योग्य हैं। और अथर्ववेद में बताए गए प्रसिद्ध नामों के द्वारा परिज्ञात हुए हैं।

तं षड्विंशक इत्येके सप्तविंशं तथापरे।
पुरुषं निर्गुणं सांख्यमथर्वशिरसो विदुः ॥14॥

उस परमपुरुष परमात्मा को कुछ लोग छब्बीसवें तत्त्व के रूप में पहचानते हैं, कुछ और लोग उसे सत्ताईसवें तत्त्व के रूप में जानते हैं, और उसी को अथर्ववेद की उपनिषदें निर्गुण सांख्य के रूप में बताते हैं।

चतुर्विंशतिसंख्यातं व्यक्तमव्यक्तमेव च।
अद्वैतं द्वैतमित्याहुस्त्रिधा तं पञ्चधा तथा ॥15॥

कुछ लोग उसे चौबीस संख्यक तत्त्व वाला बताते हैं, तो कुछ और लोग उसे व्यक्त, कुछ अव्यक्त, तो कुछ लोग द्वैत, कुछ लोग अद्वैत कहते हैं। कुछ उसे तीन प्रकार का और कुछ पाँच प्रकार का भी कहते हैं।

ब्रह्माद्यं स्थावरान्तं च पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः।
तमेकमेव पश्यन्ति परिशुभ्रं विभुं द्विजाः ॥16॥

कुछ ज्ञानदृष्टिवाले ब्राह्मणलोग ब्रह्म से लेकर स्थावर तक की सृष्टि को एकमात्र अत्यन्त प्रोज्ज्वल परमात्मस्वरूप में ही देखते हैं।

यस्मिन्सर्वमिदं प्रोतं ब्रह्म स्थावरजङ्गमम्।
तस्मिन्नेव लयं यान्ति स्रवन्त्यः सागरे यथा ॥17॥

यह सब कुछ स्थावर और जंगम जिसमें ओतप्रोत होकर स्थित है और उसी में इन सबका लय होता है वह ब्रह्म है। जिस प्रकार सभी नदियाँ आकर अन्त में सागर ही में मिल जाती हैं।

यस्मिन्भावाः प्रलीयन्ते लीनाश्चाव्यक्ततां ययुः ।
पश्यन्ति व्यक्ततां भूयो जायन्ते बुद्बुदा इव ॥18॥

जिस परमात्मा में सभी पदार्थ लीन हो जाते हैं और लीन होकर अव्यक्त हो जाते हैं और फिर व्यक्त हो जाते हैं। जैसे पानी में बुद्बुदे पैदा होते हैं और पानी में ही लीन हो जाते हैं। वही ब्रह्म है।

क्षेत्रज्ञाधिष्ठितं चैव कारणैर्विद्यते पुनः ।
एवं स भगवान्देवं पश्यन्त्यन्ये पुनः पुनः ॥19॥

वह भगवान् 'क्षेत्रज्ञ' के रूप में सभी प्राणियों के द्वारा अधिष्ठित होते हैं (क्षेत्रज्ञ के रूप में वे सबमें अवस्थित हैं)। कारणों से उसका अस्तित्व सिद्ध होता है। इस प्रकार वह क्षेत्रज्ञ ही भगवान् हैं। उस देव को ज्ञानी लोग बार-बार देखा करते हैं।

ब्रह्म ब्रह्मेत्यथायान्ति ये विदुर्ब्राह्मणास्तथा ।
अत्रैव ते लयं यान्ति लीनाश्चाव्यक्तशालिनः ।
लीनाश्चाव्यक्तशालिनः इत्युपनिषत् ॥20॥

इति मन्त्रिकोपनिषत् समाप्ता ।

जो ब्राह्मणलोग ब्रह्म को जानते हैं, वे लोग ब्रह्म को ही प्राप्त होते हैं और उसी में लय हो जाते हैं। ब्रह्म में लीन हुए वे लोग अव्यक्त रूप से शोभित होते हैं। उसी में शोभित होते हैं।

यहाँ उपनिषत् पूर्ण होती है।

शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं...... पूर्णमेवावशिष्यते ।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

❈

(34) सर्वसारोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

कृष्णयजुर्वेद से सम्बद्ध इस उपनिषद् में बन्ध और मोक्ष का स्वरूप, विद्या और अविद्या का स्वरूप, चार अवस्थाओं का निरूपण, पंचकोश का निरूपण, उपहित जीव का स्वरूप, जीवोपाधि का स्वरूप, क्षेत्रज्ञ का स्वरूप, साक्षी का स्वरूप, कूटस्थ का स्वरूप, अन्तर्यामी का स्वरूप, प्रत्यगात्मा का स्वरूप, परमात्मा, ब्रह्म, माया का स्वरूप और ब्रह्मात्मानुभव का प्रकटन—ये विषय दिए गए हैं। इस छोटी उपनिषद् में बहुत विषय हैं।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ ...मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (ब्रह्मोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

कथं बन्धः कथं मोक्षः का विद्या काऽविद्येति। जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ततुरीयं च कथम्। अन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमयकोशाः कथम्। कर्त्ता जीवः पञ्चवर्गः क्षेत्रज्ञः साक्षी कूटस्थोऽन्तर्यामी च कथम्। प्रत्यगात्मा परात्मा माया चेति कथम्॥1॥

प्रश्न हैं—बन्धन क्या है? मोक्ष क्या है? विद्या क्या है? अविद्या क्या है? जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्त और तुरीय—ये अवस्थाएँ क्या हैं? अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय—ये पाँच कोश क्या हैं? कर्ता, जीव, पंचवर्ग, क्षेत्रज्ञ, साक्षी, कूटस्थ, अंतर्यामी, ये सब क्या हैं? प्रत्यगात्मा, परात्मा और माया क्या हैं?

आत्मेश्वरजीवोऽनात्मनां देहादीनामात्मत्वेनाभिमन्यते सोऽभिमान आत्मनो बन्धः। तन्निवृत्तिर्मोक्षः॥2॥

आत्मा ही जीव और ईश्वर का स्वरूप है। परन्तु वह, जो आत्मा नहीं है, ऐसे देह आदि में आत्मत्व का अभिमान करता है वही बन्ध है और उस बन्ध से छुटकारा पाना ही मोक्ष है।

या तदभिमानं कारयति सा अविद्या। सोऽभिमानो यथा निवर्तते सा विद्या॥3॥

जो अनात्म में आत्मत्व का (अहंत्व का) अभिमान करवाती है, वह अविद्या है और जिससे वह अभिमान दूर हो जाता है उसको विद्या कहा जाता है।

मनआदिचतुर्दशकरणैः पुष्कलैरादित्याद्यनुगृहीतैः शब्दादीन्विषयान्स्थूलान्यदोपलभते तदात्मनो जागरणम्। तद्वासनासहितैश्चतुर्दशकरणैः शब्दाद्यभावेऽपि वासनामयाञ्छब्दादीन्यदोपलभते तदात्मनः स्वप्नम्।

चतुर्दशकरणोपरमाद्विशेषविज्ञानाभावाद् यदा शब्दादीन्नोपलभते तदात्मनः सुषुप्तम्। अवस्थात्रयभावाभावसाक्षी स्वयंभावरहितं नैरन्तर्यं चैतन्यं यदा तदा तुरीयं चैतन्यमित्युच्यते ॥4॥

सूर्य आदि देवताओं की शक्तियों की सहायता से मन आदि चौदह करणों (दश इन्द्रियाँ + मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार = 14) से, शब्द-स्पर्शादि स्थूल विषयों को जब मनुष्य प्राप्त होता है, तब वह आत्मा की जाग्रत् अवस्था होती है। अब स्थूल विषयों की वासनाओं से युक्त उन्हीं चौदह करणों से जिस अवस्था में शब्दादि वासनामय सूक्ष्म विषयों को जीव ग्रहण करता है, वह आत्मा की स्वप्न अवस्था कहलाती है। जब ये चौदह करण शान्त हो जाते हैं, और जब विशेष ज्ञान नहीं होता और इसलिए आत्मा जब विषयों को ग्रहण नहीं करता, तब वह आत्मा की सुषुप्तावस्था कही जाती है। परन्तु इन तीनों अवस्थाओं की उत्पत्ति और लय को जानने वाला और स्वयं उत्पत्ति और लय से परे रहने वाला ऐसा जो निरन्तर नित्य साक्षी चैतन्य है, उसे 'तुरीय' चैतन्य अथवा तुरीयावस्था कहा जाता है।

अन्नकार्याणां कोशानां समूहोऽन्नमयः कोश इत्युच्यते। प्राणादिचतुर्दशवायुभेदा अन्नमयकोशे यदा वर्तन्ते तदा प्राणमयः कोश इत्युच्यते। एतत्कोशद्वयसंसक्तं मनआदिचतुर्दशकरणैरात्मा शब्दादिविषयसंकल्पादीन्धर्मान्यदा करोति तदा मनोमयः कोश इत्युच्यते। एतत्कोशत्रयसंसक्तं तद्गतविशेषज्ञो यदा भासते तदा विज्ञानमयः कोश इत्युच्यते। एतत्कोशचतुष्टयं संसक्तं स्वकारणाज्ञाने वटकणिकायामिव वृक्षो यदा वर्तते तदानन्दमयः कोश इत्युच्यते ॥5॥

अन्न से निर्मित कोशों का समूहरूप शरीर अन्नमय कोश कहा जाता है। जब प्राण आदि चौदह प्रकार के वायु उस अन्नमय कोश में संचरण करते हैं, तब उसे प्राणमय कोश कहा जाता है। इन दोनों कोशों के भीतर स्थित मन आदि चौदह करणों (इन्द्रियों) से जब आत्मा शब्द आदि विषयों को सोचता है, तब उसे मनोमय कोश कहा जाता है। और जब इन तीनों कोशों से संयुक्त होकर यह आत्मा बुद्धि से जो जानता है, ऐसा बुद्धिमयस्वरूप विज्ञानमय कोश कहा जाता है। इन चारों कोशों के साथ जब आत्मा वटबीज में वृक्ष की तरह अपने कारणरूप अज्ञान में रहता है तो उसे आनन्दमय कोश कहा जाता है। (आनन्दमय कोश का आत्मा अपने कारण अज्ञान को नहीं जानता)।

सुखदुःखबुद्ध्या श्रेयोऽन्तः कर्ता यदा तदा दृष्टविषये बुद्धिः सुखबुद्धिरनिष्ट विषये बुद्धिर्दुःखबुद्धिः। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः सुखदुःखहेतवः। पुण्यपापकर्मानुसारी भूत्वा प्राप्तशरीरसंयोगमप्राप्तशरीरसंयोगमिव कुर्वाणो यदा दृश्यते तदोपहितजीव इत्युच्यते ॥6॥

जब यह कर्त्ता (जीव) सुख और दुःख की बुद्धि का आश्रय लेता है, तब मन में जो इष्टविषय में बुद्धि होती है, उसे सुखबुद्धि कहा जाता है और मन में जब अनिष्ट बुद्धि होती है, उसे दुःखबुद्धि कहते हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये सुख और दुःख की बुद्धि के विषय हैं। पुण्य और पाप का अनुसरण करने वाला यह आत्मा जब इस मिले हुए शरीर को भी नहीं मिला है ऐसा मानता है, तब वह उपाधियुक्त जीव कहा जाता है। (शरीर से अपने को अलग मानने वाला जीव 'उपाधियुक्त' कहा जाता है)।

मनआदिश्च प्राणादिश्चेच्छादिश्च सत्त्वादिश्च पुण्यादिश्चैते पञ्चवर्गाः। इत्येतेषां पञ्चवर्गाणां धर्मीभूतात्मा ज्ञानादृते न विनश्यत्यात्मसन्निधौ नित्यत्वेन प्रतीयमान आत्मोपाधिर्यस्तल्लिङ्गशरीरं हृद्ग्रन्थिरित्युच्यते ॥7॥

मन आदि (अन्तःकरण चतुष्टय), प्राण आदि (चौदह प्राण), इच्छा आदि (इच्छा और द्वेष), सत्त्व आदि (सत्त्व, रजस् और तमस्) और पुण्य आदि (पुण्य और पाप) को पंच वर्ग कहा गया है। इन पाँचों वर्गों का धर्मी (धारक) जो आत्मा है वह अपने सच्चे स्वरूप के ज्ञान के बिना उन वर्गों से छुटकारा नहीं प्राप्त कर सकता। ये पाँच वर्ग आत्मा के साथ हमेशा ही जुड़े हुए हैं, ऐसी जो प्रतीति होती है, वही लिङ्गशरीर है। और उसी को हृदयग्रन्थि कहा जाता है।

तत्र यत्प्रकाशते चैतन्यं स क्षेत्रज्ञ इत्युच्यते ॥8॥

उस लिंगशरीर में जो प्रकाशित होता है, उस चैतन्य को 'क्षेत्रज्ञ' कहा जाता है।

ज्ञातृज्ञानज्ञेयानामाविर्भावतिरोभावज्ञाता स्वयमाविर्भावतिरोभावरहितः स्वयंज्योतिः साक्षीत्युच्यते ॥9॥

जो ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय के आविर्भाव और तिरोभाव को जानता है और जो स्वयं आविर्भाव और तिरोभाव से रहित है वह स्वयंप्रकाश चैतन्य साक्षी कहा जाता है।

ब्रह्मादिपिपीलिकापर्यन्तं सर्वप्राणिबुद्धिष्वशिष्टतयोपलभ्यमानः सर्वप्राणिबुद्धिस्थो यदा तदा कूटस्थ इत्युच्यते ॥10॥

ब्रह्मा से लेकर चींटी तक के सभी प्राणियों की बुद्धियों में अवस्थित और उन सभी का नाश होने पर भी जो अवशिष्ट (शेष नाशरहित) रह जाता है, ऐसे चैतन्य को कूटस्थ कहा जाता है।

कूटस्थोपहितभेदानां स्वरूपलाभहेतुर्भूत्वा मणिगणे सूत्रमिव सर्वक्षेत्रेष्वनुस्यूतत्वेन यदा काश्यते आत्मा तदान्तर्यामीत्युच्यते ॥11॥

इन कूटस्थ आदि सभी उपाधियों के भेदों में से अपने सच्चे स्वरूप को प्राप्त करने के हेतुरूप होकर यह आत्मा जब मणियों के समूह में सूत्र की तरह पिरोया हुआ प्रकाशित होता है, तब उसे अन्तर्यामी कहा जाता है।

सत्यं ज्ञानमनन्तमानन्दं सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं कटकमुकुटाद्युपाधिरहितसुवर्णघनवद्विज्ञानचिन्मात्रस्वभावात्मा यदा भासते तदा त्वंपदार्थः प्रत्यगात्मेत्युच्यते। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। सत्यमविनाशि। अविनाशि नाम देशकालवस्तुनिमित्तेषु विनश्यत्सु यन्न विनश्यति तदविनाशि। ज्ञानं नामोत्पत्तिविनाशरहितं नैरन्तर्यं चैतन्यं ज्ञानमित्युच्यते। अनन्तं नाम मृद्विकारेषु मृदिव स्वर्णविकारेषु स्वर्णमिव तन्तुविकारेषु तन्तुरिवाव्यक्तादिसृष्टिप्रपञ्चेषु पूर्णं व्यापकं चैतन्यमनन्तमित्युच्यते। आनन्दं नाम सुखचैतन्यस्वरूपोऽपरिमितानन्दसमुद्रोऽवशिष्टसुखस्वरूपश्चानन्द इत्युच्यते ॥12॥

सत्य, ज्ञान, अनन्त और आनन्द ब्रह्म है। जब सभी उपाधियों से जीव (त्वं) मुक्त ही होता है

और जैसे कड़ें और मुकुट आदि उपाधियों से रहित पिण्डरूप सुवर्ण की तरह केवल विज्ञान और चैतन्यरूप दिखाई देता है, तब ऐसे त्वंपदार्थ (जीव) को प्रत्यगात्मा कहा जाता है। क्योंकि ब्रह्म का स्वरूप ही सत्य, ज्ञान और अनन्त है। सत्य का अर्थ अविनाशी है। देश, काल, वस्तु और निमित्त का नाश होने पर भी जिसका नाश नहीं होता, वह अविनाशी कहा जाता है। उत्पत्ति और नाश से रहित नित्य चैतन्य तत्त्व ज्ञान कहलाता है। मिट्टी से बनी हुई वस्तुओं में मिट्टी रहती है, सोने से बनी हुई वस्तुओं में सोना रहता है, तंतुओं से बनी हुई वस्तुओं में तन्तुओं की तरह जो समग्र सृष्टि में पूर्णतः व्याप्त है, वह अनन्त है। जो सुखमय चैतन्यस्वरूप है, असीम आनन्द का सागर है और सबका नाश होने पर भी अवशिष्ट सुख का जो स्वरूप है, वह आनन्द है।

एतद्वस्तुचतुष्टयं यस्य लक्षणं देशकालवस्तुनिमित्तेष्वव्यभिचारी तत्पदार्थः परमात्मेत्युच्यते ॥13॥

ये चार वस्तु (सत्य, ज्ञान, अनन्त, आनन्द) ही जिसका लक्षण है और जो (चैतन्य) सभी देश, काल, वस्तु और निमित्त में अव्यभिचारी रूप से रहता है, वह तत् पदार्थ है और वह परमात्मा है।

त्वंपदार्थादौपाधिकात् तत्पदार्थादौपाधिकभेदाद् विलक्षणमाकाशवत्सूक्ष्मं केवलं सत्तामात्रस्वभावं परं ब्रह्मेत्युच्यते ॥14॥

त्वं पदार्थ में रहे हुए औपाधिक भेद से और तत् पदार्थ में रहे हुए औपाधिक भेद से विलक्षण, आकाश की तरह सूक्ष्म और केवल एक (अद्वितीय) सत्तामात्र स्वभाव वाला चैतन्य परब्रह्म कहा जाता है।

माया नाम अनादिरन्तवती प्रमाणाप्रमाणसाधारणा न सती नासती न सदसती स्वयमधिका विकाररहिता निरूप्यमाणा सतीतरलक्षणशून्या सा मायेत्युच्यते। अज्ञानं तुच्छाप्यसती कालत्रयेऽपि पामराणां वास्तवी च सत्त्वबुद्धिर्लौकिकानामिदमित्यनिर्वचनीया वक्तुं न शक्यते ॥15॥

और माया जो है वह तो अनादि होते हुए भी अन्तवाली है, वह सत् भी नहीं है, असत् भी नहीं है, 'सदसत्' भी नहीं है, किसी प्रमाण से उसका अस्तित्व सिद्ध नहीं होता और अप्रमाण होते हुए भी प्रमाण-सी दिखाई देने वाली वह प्रमाण और अप्रमाण दोनों के लिए समान है। वह स्वयं सबसे ज्यादा विकाररहित दीखती है। निरूपण किए जाने पर भी वह 'है' के सिवा अन्य लक्षण से कही नहीं जा सकती। वह मायाशक्ति अज्ञानरूप तुच्छ और मिथ्या है, फिर भी मूढ मनुष्यों को तीनों काल में वह वास्तविक (पारमार्थिक) मालूम पड़ती है। इसीलिए माया में 'यह ऐसा है'—यह स्पष्टतया नहीं कहा जा सकता।

नाहं भवाम्यहं देवो नेन्द्रियाणि दशैव तु।
न बुद्धिर्न मनः शश्वन्नाहंकारस्तथैव च ॥16॥
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो बुद्ध्यादीनां हि सर्वदा।
साक्ष्यहं सर्वदा नित्यश्चिन्मात्रोऽहं न संशयः ॥17॥
नाहं कर्ता नैव भोक्ता प्रकृतेः साक्षिरूपकः।
मत्सान्निध्यात्प्रवर्तन्ते देहाद्या अजडा इव ॥18॥
स्थाणुर्नित्यः सदानन्दः शुद्धो ज्ञानमयोऽमलः।
आत्माहं सर्वभूतानां विभुः साक्षी न संशयः ॥19॥

देवरूप—चैतन्यरूप मैं कभी उत्पन्न नहीं होता। मैं दश इन्द्रियरूप भी नहीं हूँ; मैं बुद्धि, मन और अहंकार भी नहीं हूँ; मेरे कोई प्राण नहीं हैं, कोई मन नहीं है, मैं सदा उज्ज्वलरूप हूँ। बुद्धि आदि का मैं केवल साक्षी ही हूँ। मैं नित्य और चिन्मात्र हूँ, इसमें कोई सन्देह नहीं है। मैं न कर्त्ता हूँ, न भोक्ता ही हूँ। मैं तो प्रकृति का साक्षीमात्र हूँ। मेरे सान्निध्यमात्र से ही जड देह आदि मानो अजड हों, इस तरह प्रवर्तमान हो जाते हैं। मैं भी स्थाणु हूँ, नित्य हूँ, सदा आनन्दस्वरूप हूँ, शुद्ध ज्ञानमय हूँ। सभी प्राणियों का मैं आत्मा हूँ। निःसंदेह मैं ही व्यापक और साक्षी हूँ।

ब्रह्मैवाहं सर्ववेदान्तवेद्यं नाऽहं वेद्यं व्योमवातादिरूपम्।
रूपं नाहं नाम नाहं न कर्म ब्रह्मैवाहं सच्चिदानन्दरूपम्॥20॥

सभी वेदान्तों के द्वारा जानने योग्य मैं ब्रह्म ही हूँ। मैं वेद्य-विषय नहीं हूँ। जैसे आकाश और वायु ज्ञेय विषय हैं, मैं वैसा नहीं हूँ। मेरा कोई न नाम है, न रूप है, मेरा कोई कर्म भी नहीं है। मैं सत्-चित्-आनन्दस्वरूप ब्रह्म ही हूँ।

नाहं देहो जन्ममृत्यू कुतो मे नाहं प्राणः क्षुत्पिपासे कुतो मे।
नाहं चेतो शोकमोहौ कुतो मे नाहं कर्ता बन्धमोक्षौ कुतो मे॥21॥

इत्युपनिषत्

इति सर्वसारोपनिषत् समाप्ता।

मैं जब देह ही नहीं हूँ, तब भला मेरा जन्म और मृत्यु कैसे सम्भव है ? मैं प्राण नहीं हूँ तब भूख और प्यास मुझे कैसे होगी ? मैं चित्त नहीं हूँ तब शोक और मोह मुझे कैसे हो सकते हैं ? जब मैं कर्त्ता ही नहीं हूँ तब मुझे बन्ध और मोक्ष कैसे हो सकते हैं ?

यहाँ पर उपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ...... मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

(35) निरालम्बोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

इस उपनिषद् का सम्बन्ध शुक्लयजुर्वेद से है। इस उपनिषद् में ब्रह्म, जीव, प्रकृति, ईश्वर, जगत्, कर्म आदि का वर्णन है। पहले कुल 40 प्रश्न किए गए हैं और बाद में उत्तर के रूप में ब्रह्म, जीव, ईश्वर, प्रकृति और परमात्मा का स्वरूप बताकर ब्रह्मादि की ब्रह्ममात्रता बताई गई है। तदनन्तर जाति का स्वरूप कर्म-अकर्म का स्वरूप, ज्ञान-अज्ञान का स्वरूप, सुख-दुःख का स्वरूप, स्वर्ग-नरक का स्वरूप, बन्ध-मोक्ष का स्वरूप, इसी प्रकार उपास्य, शिष्य, मूढ, विद्वान्, आतुर, तप, परमपद, ग्राह्य, अग्राह्य और संन्यासी के स्वरूप बताए गए हैं और अन्त में इस ब्रह्मविद्या की फलश्रुति कही गई है।

शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं.........पूर्णमेवावशिष्यते। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (जाबालोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

ॐ नमः शिवाय गुरवे सच्चिदानन्दमूर्तये।
निष्प्रपञ्चाय शान्ताय निरालम्बाय तेजसे॥
निरालम्बं समाश्रित्य सालम्बं विजहाति यः।
स संन्यासी च योगी च कैवल्यं पदमश्नुते॥1॥

सत्-चित्-आनन्दस्वरूप कल्याणकारी गुरु को, जो प्रपंच (जगत्) रहित हैं, शान्त हैं, तेजोमय हैं और निरधिष्ठान (आधाररहित) हैं, उन्हें नमस्कार है। उस निरधिष्ठान - ब्रह्म - का आश्रय करके जो मनुष्य इन आधार वाले जगत् का त्याग करता है वही संन्यासी है, वही योगी है, वह कैवल्यपद को प्राप्त होता है।

एषामज्ञानजन्तूनां समस्तारिष्टशान्तये।
यद्यद् बोद्धव्यमखिलं तदाशङ्क्य ब्रवीम्यहम्॥2॥

इन अज्ञानी जन्तुओं के लिए—तुच्छ जीवों के सभी कष्टों के निवारण के लिए जो-जो बातें जाननी जरूरी हैं, उनको मैं शंका (प्रश्न) करके बाद में उत्तर के रूप में कहता हूँ।

किं ब्रह्म। क ईश्वरः। को जीव। का प्रकृतिः। कः परमात्मा। को ब्रह्मा। को विष्णुः। को रुद्रः। क इन्द्रः। कः शमनः। कः सूर्यः। कश्चन्द्रः। के सुराः। के असुराः। के पिशाचाः। के मनुष्याः। काः स्त्रियः। के पश्वादयः। किं स्थावरम्। के ब्राह्मणादयः। का जातिः। किं कर्म। किमकर्म। किं ज्ञानम्। किमज्ञानम्। किं सुखम्। किं दुःखम्। कः

स्वर्गः । को नरकः । को बन्धः । को मोक्षः । क उपास्यः । कः शिष्यः । को विद्वान् । को मूढः । किमासुरम् । किं तपः । किं परमं पदम् । किं ग्राह्यम् । किमग्राह्यम् । कः संन्यासीत्याशङ्क्याह ब्रह्मेति ॥3॥

ब्रह्म क्या है ? ईश्वर कौन है ? जीव कौन है ? प्रकृति क्या है ? परमात्मा कौन है ? ब्रह्मा कौन है ? विष्णु कौन है ? रुद्र कौन है ? इन्द्र कौन है ? यम कौन है ? सूर्य कौन है ? चन्द्र कौन है ? देव कौन-कौन से है ? असुर कौन से हैं ? पिशाच कौन हैं ? मनुष्य कौन हैं ? स्त्रियाँ कौन हैं ? पशु आदि कौन हैं ? स्थावर क्या है ? ब्राह्मण आदि कौन हैं ? जाति क्या है ? कर्म क्या है ? अकर्म क्या है ? ज्ञान क्या है ? अज्ञान क्या है ? सुख क्या है ? दुःख क्या है ? स्वर्ग क्या है ? नरक क्या है ? बन्ध क्या है ? मोक्ष क्या है ? उपास्य कौन है ? शिष्य कौन है ? विद्वान् कौन है ? मूढ कौन है ? आसुर क्या है ? तप क्या है ? परमपद क्या है ? ग्राह्य क्या है ? अग्राह्य क्या है ? संन्यासी कौन है ? इस प्रकार शंका व्यक्त करके (प्रश्न पूछकर) उन्होंने इस प्रकार (निम्नलिखित प्रकार) से ब्रह्म का वर्णन किया ।

स होवाच महदहंकारपृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशत्वेन बृहद्रूपेणाण्डकोशेन कर्मज्ञानार्थरूपतया भासमानमद्वितीयमखिलोपाधिविनिर्मुक्तं तत्सकल-शक्त्युपबृंहितमनाद्यनन्तं शुद्धं शिवं शान्तं निर्गुणमित्यादिवाच्यमनि-र्वाच्यं चैतन्यं ब्रह्म । ईश्वर इति च । ब्रह्मैव स्वशक्तिं प्रकृत्यभिधेयामा-श्रित्य लोकान्सृष्ट्वा प्रविश्यान्तर्यामित्वेन ब्रह्मादीनां बुद्धीन्द्रियनियन्तृ-त्वादीश्वरः ॥4॥

महत्तत्त्व, पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश से बने हुए बड़े ब्रह्माण्ड के कोश के रूप में तथा ज्ञान और कर्म के रूप में भासित होने वाला होते हुए भी जो उन सभी उपाधियों से रहित ही है, वह (अनन्य) सकल शक्तियों से युक्त है, अनादि है, अनन्त है, शुद्ध है, कल्याणमय है, शान्त है तथा निर्गुण आदि शब्दों से कहा जाता है वह चैतन्य ही ब्रह्म है । अब ईश्वर का स्वरूप यह है कि वह पूर्वोक्त ब्रह्म ही अपनी प्रकृति नाम की शक्ति का आश्रय करके, लोकों का सर्जन करके फिर उन लोकों में स्वयं प्रविष्ट होकर अन्तर्यामी के रूप में ब्रह्मा आदि जीवों की बुद्धि, इन्द्रियों आदि का नियमन करते हैं इसलिए वह (ब्रह्म ही) ईश्वर कहा जाता है ।

जीव इति च ब्रह्मविष्ण्वीशानेन्द्रादीनां नामरूपद्वारा स्थूलोऽहमिति मिथ्याध्यासवशाज्जीवः । सोऽहमेकोऽपि देहारम्भकभेदवशाद् बहु-जीवः ॥5॥

जब उस चैतन्य को ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र आदि नाम और रूप के द्वारा कि 'मैं स्थूल हूँ' (अमुक-अमुक हूँ) इस प्रकार का मिथ्या अध्यास होता है इसलिए वह 'जीव' होता है । वैसे तो **'वह मैं'** एक ही है, परन्तु अनेक शरीरों के आरंभक (कर्मों) के भेद से वह बहुत-सा हो जाता है ।

प्रकृतिरिति च ब्रह्मणः सकाशान्नानाविचित्रजगन्निर्माणसामर्थ्यबुद्धिरूपा ब्रह्मशक्तिरेव प्रकृतिः ॥6॥

प्रकृति उसे कहा जाता है जो कि अनेक प्रकार के चित्र-विचित्र जगतों को उत्पन्न करने की सामर्थ्य वाली ब्रह्म की बुद्धि है । वह ब्रह्म की शक्ति ही प्रकृति है ।

परमात्मेति च देहादेः परतरत्वाद् ब्रह्मैव परमात्मा ॥7॥

स ब्रह्मा स विष्णुः स इन्द्रः स शमनः स सूर्यः स चन्द्रस्ते सुरास्त असुरास्ते पिशाचास्ते मनुष्यास्ताः स्त्रियस्ते पश्वादयस्तत्स्थावरं ते ब्राह्मणा-दयः ॥8॥

परमात्मा वह है जो देह आदि से अत्यन्त परे है। वह ब्रह्म है, तो वही परमात्मा है। और वही ब्रह्म (वही परमात्मा) ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, यम, सूर्य, चन्द्र, देव, असुर, पिशाच, मनुष्य, स्त्रियाँ, पशु आदि रूपों में प्रकट होता है। वही ब्रह्म-परमात्मा स्थावर है, वही ब्राह्मण आदि रूपों में हुआ है।

सर्वं खल्विदं ब्रह्म। नेह नानास्ति किंचन ॥9॥

यह जो कुछ भी है, वह ब्रह्म ही है, ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य कुछ है ही नहीं।

जातिरिति च।
न चर्मणो न रक्तस्य न मांसस्य न चास्थिनः।
न जातिरात्मनो जातिर्व्यवहारप्रकल्पिता ॥10॥

अब जाति के बारे में कहते हैं कि त्वचा, रक्त, मांस और हड्डियों तथा आत्मा में भी तो कोई जाति नहीं है। जाति तो सिर्फ व्यवहार के लिए कल्पित की गई है।

कर्मेति च क्रियमाणेन्द्रियैः कर्माण्यहं करोमीत्यध्यात्मनिष्ठतया कृतं कर्मैव कर्म ॥11॥

अकर्मेति च कर्तृत्वभोक्तृत्वाद्यहङ्कारतया बन्धरूपं जन्मादिकरणं नित्य-नैमित्तिकयागव्रततपोदानादिषु फलाभिसन्धानं यत्तदकर्म ॥12॥

'कर्म' वह है जो इन्द्रियों के द्वारा किए जाने वाले कर्मों को अध्यात्मनिष्ठा से (कर्तृत्वाभिमान से नहीं कि 'मैं करता हूँ'—इस प्रकार) किया जाता हो। 'अकर्म' वह है कि जो कर्तृत्व और भोक्तृत्व के अभिमान (अहंकार) के साथ किया जाने से बन्धरूप हो जाता है और जन्मादि का कारण बनता है। नित्य, नैमित्तिक, यज्ञ-यागादि, तप, दान आदि कर्मों में जो फलानुसन्धान (फलासक्ति) रखा जाता है, वही अकर्म है।

ज्ञानमिति देहेन्द्रियनिग्रहसद्गुरूपासनश्रवणमनननिदिध्यासनैर्यद्यद् दृग्दृश्यस्वरूपं सर्वान्तरस्थं सर्वसमं घटपटादिपदार्थमिवाविकारं विकारेषु चैतन्यं विना किंचिन्नास्तीति साक्षात्कारानुभवो ज्ञानम् ॥13॥

अब ज्ञान यह है—इस सृष्टि की सभी परिवर्तनशील वस्तुओं के पीछे जो अपरिवर्तनशील तत्त्व है, वह चैतन्य है, और वही सब कुछ है, उसके सिवा कुछ है ही नहीं; जो द्रष्टा है और जो दृश्य हैं, वे सब एक ही चैतन्यरूप हैं। वह चैतन्य सबके भीतर है, और समानरूप से सबमें अवस्थित है, वह चैतन्य स्वयं विकाररहित है, फिर भी घड़ा, वस्त्र आदि पदार्थों के रूप में मानो वह रूपान्तरित हुआ हो, ऐसा दिखाई देता है। इस प्रकार साक्षात्कारयुक्त अनुभव ही ज्ञान है। साक्षात्काररूप यह अनुभव देह-इन्द्रियादि के संयम से और सद्गुरु की उपासना, श्रवण, मनन और निदिध्यासन से मिलता है।

अज्ञानमिति च रज्जौ सर्पभ्रान्तिरिवाद्वितीये सर्वानुस्यूते सर्वमये ब्रह्मणि देवतिर्यङ्नरस्थावरस्त्रीपुरुषवर्णाश्रमबन्धमोक्षोपाधिनानात्मभेदकल्पितं ज्ञानमज्ञानम् ॥14॥

अज्ञान यह है—जिस प्रकार रज्जु में साँप की भ्रान्ति होती है, उसी प्रकार सर्व में अनुस्यूत होकर अवस्थित, सर्वरूप और एकमात्र उस ब्रह्म में देव, पशु, पक्षी, मनुष्य, स्थावर, स्त्री, पुरुष, वर्ण, आश्रम, बन्ध, मोक्ष आदि अनेकानेक उपाधियुक्त अनात्म वस्तुओं का जो भेदकल्पित (मिथ्या) ज्ञान होता है उसे अज्ञान कहते हैं।

सुखमिति च सच्चिदानन्दस्वरूपं ज्ञात्वानन्दरूपा या स्थितिः सैव सुखम् ॥15॥

दुःखमिति अनात्मरूपः विषयसंकल्प एव दुःखम् ॥16॥

सुख यह है—सच्चिदानन्द परमात्मा के स्वरूप को जानकर जो ज्ञानरूप अवस्था होती है, वही सुख है। दुःख यह है—अनात्ममय विषयों के विचार ही दुःख हैं।

स्वर्ग इति सत्संसर्गः स्वर्गः। नरक इति च असत्संसारविषयजसंसर्ग एव नरकः ॥17॥

स्वर्ग यह है—सत्पुरुषों का संसर्ग ही स्वर्ग है। और नरक यह है—असत् संसार के विषयों से जन्मा हुआ संसर्ग ही नरक है। (सत्संसर्ग का अर्थ, अनश्वर (ब्रह्म) का सम्पर्क, ऐसा भी ले सकते हैं)।

बन्ध इति च अनाद्यविद्यावासनया जातोऽहमित्यादिसंकल्पो बन्धः॥18॥

पितृमातृसहोदरदारापत्यगृहारामक्षेत्रममतासंसारावरणसंकल्पो बन्धः ॥19॥

कर्तृत्वाद्यहंकारसंकल्पो बन्धः ॥20॥

अणिमाद्यष्टैश्वर्याशासिद्धसंकल्पो बन्धः ॥21॥

देवमनुष्याद्युपासनाकामसंकल्पो बन्धः ॥22॥

यमाद्यष्टाङ्गयोगसंकल्पो बन्धः ॥23॥

वर्णाश्रमधर्मकर्मसंकल्पो बन्धः ॥24॥

आशा(ज्ञा ?)भयसंशयात्मगुणसंकल्पो बन्धः ॥25॥

यागव्रततपोदानविधिविधानसंकल्पो बन्धः ॥26॥

केवलमोक्षापेक्षासंकल्पो बन्धः ॥27॥

संकल्पमात्रसंभवो बन्धः ॥28॥

बन्ध यह है—अनादि अज्ञान की वासना से 'मैं जन्मता हूँ, मैं मरता हूँ' आदि जो विचार उत्पन्न होते हैं, वही बन्धन है। 'माता, पिता, भाई, पत्नी, पुत्र, घर, बाग-बगीचे, खेत'—'ये सब मेरे हैं'—ऐसे संसारी आवरणरूप विचार भी बन्धन हैं। कर्तृत्व के अभिमानरूप संस्कार भी बन्धन हैं। अणिमा आदि आठ ऐश्वर्यों (सिद्धियों) को सिद्ध करने के आशारूप विचार भी बन्धन है। देव, मनुष्य आदि की उपासना के मनोरथ वाला संकल्प भी तो बन्धन है। यम-नियमादि अष्टांग योग का संकल्प भी बन्धन है। और वर्णाश्रम धर्म और कर्म का संकल्प भी बन्धन ही है। आशा (आज्ञा ?), भय, संशय आदि आत्मगुणों का संकल्प भी बन्धन है। यज्ञ, व्रत, तप, दान, विधिविधान के ज्ञान का संकल्प भी बन्धन है। (अरे !) केवल मोक्ष की इच्छा का संकल्प करना भी बन्धन ही है। तात्पर्य यह है कि बन्धन केवल संकल्प से ही उत्पन्न हो जाता है।

मोक्ष इति च नित्यानित्यवस्तुविचारादनित्यसंसारसुखदुःखविषय-समस्तक्षेत्रममताबन्धक्षयो मोक्षः ॥29॥

मोक्ष यह है—नित्य और अनित्य वस्तु के विचार द्वारा अनित्य संसार के सुखों और दुःखों के सभी क्षेत्रों में से ममत्व के (आसक्ति के) बन्धन का क्षय कर देना ही मोक्ष है ।

उपास्य इति च सर्वशरीरस्थचैतन्यब्रह्मप्रापको गुरुरुपास्यः ॥30॥
शिष्य इति च विद्याध्वस्तप्रपञ्चावगाहितज्ञानावशिष्टं ब्रह्मैव शिष्यः ॥31॥

उपास्य यह है—सभी शरीरों में अवस्थित चैतन्यरूप ब्रह्म को प्राप्त कराने वाले गुरु उपास्य हैं । शिष्य वह है—विद्या के द्वारा संसाररूपी अज्ञान का नाश हो जाने से अवशिष्ट गहनज्ञान रूप जो ब्रह्म है, वही शिष्य है ।

विद्वानिति च सर्वान्तरस्थस्वसंविद्रूपविद्विद्वान् ॥32॥
मूढ इति च कर्तृत्वाद्यहंकारभावारूढो मूढः ॥33॥

विद्वान् वह है जो सबके भीतर रहे हुए आत्मा के ज्ञानस्वरूप को जानता है, वह विद्वान् है । (और) मूढ वह है—कर्तृत्व आदि के अहंकार भाव पर आरूढ व्यक्ति मूढ है ।

आसुरमिति च ब्रह्म विष्णवीशानेन्द्रादीनामैश्वर्यकामनया निरशनजपाग्निहोत्रादिष्वन्तरात्मानं सन्तापयति चात्युग्ररागद्वेषविहिंसादम्भाद्यपेक्षितं तप आसुरम् ॥34॥

आसुर यह है—ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्र आदि के ऐश्वर्य की इच्छा करके और उपवास, जप, अग्निहोत्र, आदि से जो अन्तरात्मा को दुःख देता है, तथा अति उग्र राग, द्वेष, हिंसा, दम्भ आदि दुर्गुणों से युक्त तप जो करता है वह आसुर है ।

तप इति च ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्येत्यपरोक्षज्ञानाग्निना ब्रह्माद्यैश्वर्याशासिद्धसंकल्पसन्तापं तपः ॥35॥

तप यह है—'ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या है'—इस प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञानरूपी अग्नि से, ब्रह्मादि के ऐश्वर्य की आशा सिद्ध करने वाले संकल्प के बीज को जला डालना ही (सही रूप में) तप है ।

परमं पदमिति च प्राणेन्द्रियाद्यन्तःकरणगुणादेः परतरं सच्चिदानन्दरूपं नित्यमुक्तब्रह्मस्थानं परमं पदम् ॥36॥

परमपद यह है—प्राण, इन्द्रिय, अन्तःकरण और गुण आदि से परे जो सच्चिदानन्दरूप और नित्यमुक्त ऐसा जो ब्रह्म का स्थान है, वही परमपद है ।

ग्राह्यमिति च देशकालवस्तुपरिच्छेदराहित्यचिन्मात्रस्वरूपं ग्राह्यम् ॥37॥
अग्राह्यमिति च स्वस्वरूपव्यतिरिक्तमायामयबुद्धीन्द्रियगोचरजगत्सत्यत्वचिन्तनमग्राह्यम् ॥38॥

ग्राह्य यह है—देश, काल, वस्तु आदि की मर्यादा से – परिच्छेद से रहित जो चिन्मय तत्त्व है, वही ग्राह्य (ग्रहणयोग्य) है और अग्राह्य यह है—अपने वास्तविक रूप को छोड़कर, मायामय इन्द्रियों का विषय जो जगत् है उसमें सत्यत्व मानना अग्राह्य है अर्थात् वह ग्रहणयोग्य नहीं है ।

संन्यासीति च सर्वधर्मान्परित्यज्य निर्ममो निरहंकारो भूत्वा ब्रह्मेष्टं

शरणमुपगम्य तत्त्वमसि अहं ब्रह्मास्मि सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचनेत्यादिमहावाक्यार्थानुभवज्ञानाद् ब्रह्मैवाहमस्मीति निश्चित्य निर्विकल्पसमाधिना स्वतन्त्रो यतिश्चरति स संन्यासी स मुक्तः स पूज्यः स योगी स परमहंसः सोऽवधूतः स ब्राह्मण इति ॥39॥

संन्यासी वह है—सभी धर्मों को छोड़कर और अहंता-ममता का भी त्याग करके, इष्ट पदार्थ—ब्रह्म की ही शरण में जाकर, 'वह तू है', 'मैं ब्रह्म हूँ,' 'यह सब वास्तव में ब्रह्म है,' 'यहाँ ब्रह्म से भिन्न ऐसा कुछ है ही नहीं'—ऐसे-ऐसे महावाक्यों से, 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा निश्चय करके निर्विकल्प समाधि में अवस्थित रहकर जो स्वतंत्र यति के रूप में व्यवहार करता है, वही संन्यासी है, वही मुक्त है, वही पूजनीय है, वही योगी है, वही परमहंस है, वही अवधूत है और वही सही रूप में ब्राह्मण कहा जाता है।

इदं निरालम्बोपनिषदं योऽधीते गुर्वनुग्रहतः सोऽग्निपूतो भवति स वायुपूतो भवति। न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तते पुनर्नाभिजायते पुनर्नाभिजायत इत्युपनिषत् ॥40॥

इति निरालम्बोपनिषत् समाप्ता।

जो मनुष्य इस निरालम्बोपनिषद् का अध्ययन करता है, वह गुरु के अनुग्रह से अग्नि जैसा पवित्र हो जाता है, वह वायु जैसा पवित्र हो जाता है। वह फिर से यहाँ (मर्त्यलोक में) नहीं आता, वह पुनर्जन्म नहीं लेता, वह फिर से जन्म ही नहीं लेता। वाक्यों की द्विरुक्ति उपनिषद् की समाप्ति का सूचन करनी है।

यहाँ उपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं······पूर्णमेवावशिष्यते। (पूर्ववत्)

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(36) शुकरहस्योपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

इस उपनिषद् का सम्बन्ध कृष्णयजुर्वेद से है। यह उपनिषद् गद्य-पद्यात्मक है। इसमें व्यास के आग्रह से शिव ने शुकदेव को उपदेश दिया है। उपनिषद् के सुप्रसिद्ध चार महावाक्यों का उपदेश विस्तार से दिया गया है। महावाक्यों का सांग जप, महावाक्य के तत्पद का सांग जप, त्वं पद का सांग जप, असि पद का सांग जप, महावाक्यों का अर्थ, शुक का स्वानुभव कथन, जीव-ईश के ऐक्य की उत्पत्ति, कैवल्यसाधन ज्ञान का उपाय, ब्रह्मभाव से सर्वात्मभाव की प्राप्ति आदि विषय दिए गए हैं।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ........मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (ब्रह्मोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

अथातो रहस्योपनिषदं व्याख्यास्यामः ॥1॥
देवर्षयो ब्रह्माणं सम्पूज्य प्रणिपत्य पप्रच्छुर्भगवन्नस्माकं रहस्योपनिषदं ब्रूहीति ॥2॥

अब हम यहाँ रहस्योपनिषत् की व्याख्या करेंगे। देवर्षियों ने ब्रह्माजी की पूजा करके उनसे पूछा कि—'हे भगवन्! आप हमें रहस्यमय उपनिषद् का उपदेश दीजिए।'

सोऽब्रवीत्—
पुरा व्यासो महातेजाः सर्ववेदतपोनिधिः।
प्रणिपत्य शिवं साम्बं कृताञ्जलिरुवाच ह ॥3॥

तब ब्रह्माजी बोले—प्राचीनकाल में महातेजस्वी तथा वेदों और तप के भण्डार सदृश महर्षि व्यास ने उमासहित महादेव को हाथ जोड़कर प्रणाम करके उनसे विनती की थी।

श्रीवेदव्यास उवाच—
देवदेव महाप्राज्ञ पाशच्छेददृढव्रत।
शुकस्य मम पुत्रस्य वेदसंस्कारकर्मणि ॥4॥
ब्रह्मोपदेशकालोऽयमिदानीं समुपस्थितः।
ब्रह्मोपदेशः कर्तव्यो भवताद्य जगद्गुरो ॥5॥

श्री वेदव्यास ने कहा—'हे देवों के देव! हे महाबुद्धिमान! हे संसाररूपी पाश को काटने का दृढ व्रत लिए हुए देव! मेरे पुत्र शुकदेव को वेदसंस्कार करने का कर्म अभी चल रहा है। उस कर्म में अब उसे ब्रह्म का उपदेश करने का समय आ पहुँचा है। इसलिए हे जगद्गुरो! आज आप उसको ब्रह्म का उपदेश दीजिए।'

ईश्वर उवाच—
मयोपदिष्टे कैवल्ये साक्षाद् ब्रह्मणि शाश्वते ।
विहाय पुत्रो निर्वेदात्प्रकाशं यास्यति स्वयम् ॥6॥

तब ईश्वर ने कहा—'यदि मैं कैवल्यरूप सनातन का साक्षात् उपदेश करूँगा, तब तो आपका पुत्र वैराग्य उत्पन्न होने से सब कुछ त्यागकर प्रकाशस्वरूप को प्राप्त हो जायेगा।'

श्रीवेदव्यास उवाच—
यथा तथा वा भवतु ह्युपनायनकर्मणि ।
उपदिष्टे मम सुते ब्रह्मणि त्वत्प्रसादतः ॥7॥

तब श्री वेदव्यास ने कहा—'जो कुछ भी हो, मेरे पुत्र को आप उपनयनविधि में अनुग्रह करके उपदेश दीजिए। ऐसा करने में चाहे कुछ भी हो, उसे मैं सहने के लिए तैयार हूँ।'

सर्वज्ञो भवतु क्षिप्रं मम पुत्रो महेश्वर ।
तव प्रसादसम्पन्नो लभेन्मुक्तिं चतुर्विधाम् ॥8॥

'हे महेश्वर ! मैं चाहता हूँ कि मेरा पुत्र सत्वर सर्वज्ञ हो जाए। आपके अनुग्रह से युक्त होकर चारों प्रकार की मुक्ति को वह प्राप्त कर ले।' (सायुज्य, सामीप्य, सारूप्य और सालोक्य—ये चार मुक्तिभेद हैं)।

तच्छ्रुत्वा व्यासवचनं सर्वदेवर्षिसंसदि ।
उपदेष्टुं स्थितः शम्भुः साम्बो दिव्यासने मुदा ॥9॥

व्यास का यह वचन सुनकर, अम्बा (उमा) के साथ भगवान् शिव सभी देवर्षियों की सभा में उपदेश करने के लिए दिव्य आसन पर विराजमान हुए।

कृतकृत्यः शुकस्तत्र समागत्य सुभक्तिमान् ।
तस्मात्स प्रणवं लब्ध्वा पुनरित्यब्रवीच्छिवम् ॥10॥

तब कृतकृत्य शुकदेव जी बड़े भक्तिभाव से वहाँ आए और उन्होंने सर्वप्रथम शिवजी से प्रणव का उपदेश ग्रहण किया। बाद में वे (शुक्रदेवजी) फिर से शिव से कहने लगे कि—

श्रीशुक उवाच—
देवादिदेव सर्वज्ञ सच्चिदानन्दलक्षण ।
उमारमण भूतेश प्रसीद करुणानिधे ॥11॥

श्री शुक्रदेव बोले—'हे देवों के भी आदिदेव ! हे सर्वज्ञ ! हे सत्-चित्-आनन्दस्वरूप ! हे उमापति ! हे सभी प्राणियों के ईश्वर ! हे करुणा के सागर ! आप मुझ पर प्रसन्न हों। (आगे भी—)

उपदिष्टं परंब्रह्म प्रणवान्तर्गतं परम् ।
तत्त्वमस्यादिवाक्यानां प्रज्ञादीनां विशेषतः ॥12॥
श्रोतुमिच्छामि तत्त्वेन षडङ्गानि यथाक्रमम् ।
वक्तव्यानि रहस्यानि कृपयाद्य सदाशिव ॥13॥

'आपने मुझे प्रणव का स्वरूप तथा उससे परे जो ब्रह्म है, उसका उपदेश तो दिया। परन्तु, अब

में 'तत्त्वमसि' और 'प्रज्ञानं ब्रह्म' आदि महावाक्यों का छहों अंगों के क्रम से (षडंगन्यास के क्रम से) विशेष तत्त्व के रूप में आपसे सुनना चाहता हूँ। हे सदाशिव ! कृपा करके आप मुझे आज उसके रहस्यों को बताइए।'

श्रीसदाशिव उवाच—
साधु साधु महाप्राज्ञ शुक ज्ञाननिधे मुने।
प्रष्टव्यं तु त्वया पृष्टं रहस्यं वेदगर्भितम् ॥14॥

भगवान् शिव बोले—'हे ज्ञाननिधि मुनि शुकदेव। बहुत ही अच्छा ! बहुत अच्छा ! तुमने जो पूछने योग्य था वह पूछ लिया है। वही रहस्य वेदों का रहस्य है।

रहस्योपनिषन्नाम्ना सषडङ्गमिहोच्यते।
यस्य विज्ञानमात्रेण मोक्षः साक्षान्न संशयः ॥15॥

छः अंगों के साथ (षडंगन्यास के कथन के साथ) वह रहस्योपनिषद् यहाँ कही जा रही है। जिसका ज्ञान प्राप्त करने से ही साक्षात् मोक्ष मिलता है, इसमें कोई भी सन्देह नहीं है।

अङ्गहीनानि वाक्यानि गुरुर्नोपदिशेत्पुनः।
सषडङ्गान्युपदिशेन्महावाक्यानि कृत्स्नशः ॥16॥

गुरु को चाहिए कि वह बिना अंगों का उपदेश किए महावाक्यों का उपदेश न करे। उसे छहों अंगों के साथ ही महावाक्यों का संपूर्ण उपदेश करना चाहिए।

चतुर्णामपि वेदानां अथोपनिषदः शिरः।
इयं रहस्योपनिषत् तथोपनिषदां शिरः ॥17॥

जिस प्रकार चारों वेदों के मस्तक समान उपनिषदें मानी जाती हैं, ठीक उसी प्रकार यह रहस्योपनिषद् सभी उपनिषदों के मस्तक के समान मानी जाती है।

रहस्योपनिषद् ब्रह्म ध्यातं येन विपश्चिता।
तीर्थैर्मन्त्रैः श्रुतैर्जप्यैस्तस्य किं पुण्यहेतुभिः ॥18॥

जिस विद्वान ने इस रहस्योपनिषद् में उपदिष्ट ब्रह्म का ध्यान किया है, उसे भला पुण्य के हेतुरूप अन्य तीर्थों, मन्त्रों और जप्य देवों की क्या आवश्यकता है ? अर्थात् कोई आवश्यकता नहीं।

वाक्यार्थस्य विचारेण यदाप्नोति शरच्छतम्।
एकवारजपेनैव ऋष्यादिध्यानतश्च तत् ॥19॥

सौ वर्षों तक के वाक्यार्थविचार से जो फल प्राप्त किया जाता है, वही फल इसके ऋषि आदि के ध्यानपूर्वक एक बार भी स्मरण करने से मिलता है।

ॐ अस्य श्रीमहावाक्यमहामन्त्रस्य हंसः ऋषिः। अव्यक्तगायत्री छन्दः। परमहंसो देवतो। हं बीजम्। सः शक्तिः। सोऽहं कीलकम्। मम परमहंसप्रीत्यर्थे महावाक्यजपे विनियोगः। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म अंगुष्ठाभ्यां नमः। नित्यानन्दो ब्रह्म तर्जनीभ्यां स्वाहा। नित्यमानन्दमयं ब्रह्म मध्यमाभ्यां वषट्। यो वै भूमा अनामिकाभ्यां हुम्। यो वै

भूमाधिपतिः कनिष्ठिकाभ्यां वौषट्। एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म करतलकर-पृष्ठाभ्यां फट्। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म हृदयाय नमः। नित्यानन्दो ब्रह्म शिरसे स्वाहा। नित्यानन्दमयं ब्रह्म शिखायै वषट्। यो वै भूमा कवचाय हुम्। यो वै भूमाधिपतिः नेत्रत्रयाय वौषट्। एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म अस्त्राय फट्। भूर्भुवःसुवरोमिति दिग्बन्धः ॥20॥

ॐ इस श्रीमहावाक्य महामन्त्र के ऋषि हंस हैं। अव्यक्तगायत्री छन्द है। परमहंस देवता है। 'हं' बीज है। 'सः' शक्ति है। 'सोऽहम्' कीलक है। और मुझ पर परमहंस की प्रीति हो—इसके लिए महावाक्य के जप में इसका विनियोग है। अब करन्यास में, 'सत्य, ज्ञान और अनन्त ब्रह्म है'—ऐसा कहकर (अगुष्ठाभ्यां नमः बोलकर) दोनों अँगूठों का स्पर्श करें फिर, 'ब्रह्म नित्यानन्द है' ऐसा कहकर 'स्वाहा' पूर्वक, दोनों तर्जनियों का स्पर्श करे। 'ब्रह्म नित्यानन्दमय है, मध्यमाभ्यां वषट्'—यह कर दोनों मध्यम अंगुलियों पर न्यास करे। 'जो भूमा है' यह कहते हुए दोनों अनामिकाओं के लिए 'हुम्' कहकर न्यास करे। 'जो भूमा के अधिपति हैं—' ऐसा कहकर दोनों कनिष्ठिकाओं के लिए 'वौषट्' बोलकर न्यास करे। 'एक ही अद्वितीय ब्रह्म है'—यह कहकर दोनों करतलों और हाथों के पीछे के भागों को 'फट्' बोलकर न्यास करे। फिर 'सत्य, ज्ञान और अनन्त ब्रह्म' बोलते हुए हृदय पर 'नमः' कहकर न्यास करे। 'ब्रह्म नित्यानन्द है'—यह बोलते हुए मस्तक के लिए 'स्वाहा' बोलकर न्यास करे। 'ब्रह्म नित्य आनन्दमय है'—यह कहकर शिखा के लिए 'वषट्' कहकर न्यास करना चाहिए। 'जो भूमा (विशाल) है'—यह बोलते हुए कवच (दायें-बायें कन्धे) के लिए 'हुम्' बोलकर न्यास करे। 'जो भूमा का अधिपति है'—यह बोलते हुए तीन नेत्रों के लिए 'वौषट्' बोलकर न्यास करना चाहिए। 'ब्रह्म एक और अद्वितीय है'—यह कहते हुए वाम हस्त को मस्तक के ऊपर से घुमाकर 'अस्त्राय फट्' बोलकर दक्षिण की ओर ले जाकर ताली बजानी चाहिए। और 'भूः भुवः सुवः ओम्'—ऐसा बोलकर दिग्बन्ध करना चाहिए।

ध्यानम्—
नित्यानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिं,
द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम्।
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतं,
भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तं नमामि ॥21॥

फिर इस प्रकार का ध्यान करना चाहिए—जो नित्य आनन्दरूप हैं, परमसुख देने वाले हैं, जो ज्ञान के ही स्वरूप हैं, जो सुख-दुःखादि द्वन्द्वों से परे हैं, जो आकाश जैसे निराकार हैं, जो तत्त्वमसि आदि महावाक्यों का लक्ष्य हैं, जो एक, अद्वितीय, विशुद्ध, अचल हैं, जो सभी की बुद्धियों के केवल साक्षी ही हैं, ऐसे सद्गुरु को मैं नमस्कार करता हूँ।

अथ महावाक्यानि चत्वारि। यथा ॐप्रज्ञानं ब्रह्म (1), ॐ अहं ब्रह्मास्मि (2), ॐ तत्त्वमसि (3), ॐ अयमात्मा ब्रह्म (4)। तत्त्वमसीत्यभेदवाचकमिदं ये जयन्ति ते शिवसायुज्यमुक्तिभाजो भवन्ति ॥22॥

अब चार महावाक्य ये हैं—1. प्रज्ञानं ब्रह्म—प्रकृष्ट ज्ञान ब्रह्म है, 2. अहं ब्रह्मास्मि—मैं ब्रह्म हूँ, 3. तत्त्वमसि—वह तू है, और 4. अयमात्मा ब्रह्म—यहा आत्मा ब्रह्म है। इनमें तत्त्वमसि—वह तू है;

इस अभेदवाचक वाक्य को जो मनुष्य जीत लेते हैं अर्थात् सिद्ध कर लेते हैं, वह शिव की सायुज्य मुक्ति को प्राप्त कर लेते हैं।

तत्पदमहामन्त्रस्य हंस ऋषिः। अव्यक्तगायत्री छन्दः। परमहंसो देवता। हं बीजम्। सः शक्तिः। सोऽहं कीलकम्। मम सायुज्यमुक्त्यर्थे विनियोगः। तत्पुरुषाय अंगुष्ठाभ्यां नमः। ईशानाय तर्जनीभ्यां स्वाहा। अघोराय मध्यमाभ्यां वषट्। सद्योजाताय अनामिकाभ्यां हुम्। वामदेवाय कनिष्ठिकाभ्यां वौषट्। तत्पुरुषेशानाघोरसद्योजातवामदेवेभ्यो नमः करतलकरपृष्ठाभ्यां फट्। एवं हृदयादिन्यासः। भुर्भूवःसुवरोमिति दिग्बन्धः ॥23॥

'तत्त्वमसि' महावाक्य के 'तत्' पदरूप महामन्त्र के ऋषि हंस हैं। अव्यक्तगायत्री छन्द है। परमहंस देवता हैं। हं बीज है। सः शक्ति है। सोऽहम् कीलक है। 'मेरी सायुज्य मुक्ति' के लिए इसका विनियोग है। तत्पुरुष के लिए दोनों अंगूठों का 'नमः' बोलकर स्पर्श करना चाहिए। ईशान के लिए दोनों तर्जनियों का स्वाहा बोलकर स्पर्श करना चाहिए। अघोर के लिए दोनों मध्यमा अँगुलियों का वषट् बोलकर स्पर्श करना चाहिए। सद्योजात के लिए दोनों अनामिकाओं का 'हुम्' बोलते हुए स्पर्श करना चाहिए। वामदेव के लिए दोनों कनिष्ठिकाओं का 'वौषट्' बोलकर स्पर्श करना चाहिए। तत्पुरुष, ईशान, अघोर, सद्योजात और वामदेव को नमस्कार कहकर करतलों एवं हाथों के पृष्ठभागों का 'फट्' बोलकर स्पर्श करना चाहिए। इसी प्रकार हृदय आदि का न्यास भी पूर्वोक्त प्रकार से करना चाहिए। और 'भूः भुवः सुवः'—यह बोलकर दिग्बन्ध करना चाहिए।

ध्यानम्—
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यादतीतं शुद्धं बुद्धं मुक्तमप्यव्ययं च।
सत्यं ज्ञानं सच्चिदानन्दरूपं ध्यायेदेवं तन्महो भ्राजमानम् ॥24॥

बाद में इस प्रकार ध्यान करना चाहिए—'जो ज्ञानरूप है, ज्ञेयरूप है और ज्ञानगम्यता से परे भी है, ऐसे शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, अव्यय, सत्य, ज्ञान, सत्, चित्, आनन्दस्वरूप बड़े प्रकाशमान उस देव का मैं ध्यान करता हूँ।

त्वंपदमहामन्त्रस्य विष्णुर्ऋषिः। गायत्री छन्दः। परमात्मा देवता। ऐं बीजम्। क्लीं शक्तिः। सौः कीलकम्। मम मुक्त्यर्थे जपे विनियोगः। वासुदेवाय अंगुष्ठाभ्यां नमः। संकर्षणाय तर्जनीभ्यां स्वाहा। प्रद्युम्नाय मध्यमाभ्यां वषट्। अनिरुद्धाय अनामिकाभ्यां हुम्। वासुदेवाय कनिष्ठिकाभ्यां वौषट्। वासुदेवसंकर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धेभ्यो करतलकरपृष्ठाभ्यां फट्। एवं हृदयादिन्यासः। भुर्भुवःसुवरोमिति दिग्बन्धः ॥25॥

'तत्त्वमसि' महावाक्य के दूसरे 'त्वं' पदरूपी महामन्त्र के विष्णु ऋषि हैं। गायत्री छन्द है। परमात्मा देवता है। 'ऐं' बीज है। क्लीं शक्ति है। सौर कीलक है। मेरी मुक्ति के लिए जप में विनियोग है। वासुदेव के लिए दोनों अँगूठों का 'नमः' बोलकर न्यास करना चाहिए। संकर्षण के लिए दोनों तर्जनियों का 'स्वाहा' कहकर न्यास करना चाहिए। प्रद्युम्न के लिए दोनों मध्यमाओं से 'वषट्' बोलकर स्पर्श करना चाहिए। अनिरुद्ध के लिए दोनों अनामिकाओं से 'हुम्' बोलकर न्यास करना चाहिए।

वासुदेव के लिए दोनों कनिष्ठिकाओं से 'वौषट्' बोलकर स्पर्श (न्यास) करना चाहिए। वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के लिए दोनों करतलों और करपृष्ठों से 'फट्' बोलकर स्पर्श करना चाहिए। इस प्रकार हृदयादि का भी विन्यास करना चाहिए। और, 'भुर्भूवः सुवरित्योम्'—यह बोलते हुए दिग्बन्ध करना चाहिए।

ध्यानम्—
जीवत्वं सर्वभूतानां सर्वत्राखण्डविग्रहम्।
चित्ताहङ्कारयन्तारं जीवाख्यं त्वंपदं भजे ॥26॥

फिर इस प्रकार ध्यान करना चाहिए—सभी प्राणियों का जीवत्व सभी स्थान पर अखण्ड रूप में विद्यमान है। अर्थात् ब्रह्म अखण्ड विग्रह – परिच्छेदरहित होते हुए सभी प्राणियों में जीवस्वरूप में विद्यमान रहता है। और वह जीव चित्त और अहंकार का नियामक है। ऐसे जीव नाम के 'त्वं' पद की मैं स्तुति करता हूँ।

असिपदमहामन्त्रस्य मन ऋषिः। गायत्री छन्दः। अर्धनारीश्वरो देवता। अव्यक्तादिर्बीजम्। नृसिंहः शक्तिः। परमात्मा कीलकम्। जीवब्रह्मै-क्यार्थे जपे विनियोगः। पृथ्वीद्व्यणुकाय अंगुष्ठाभ्यां नमः। अब्द्व्यणु-काय तर्जनीभ्यां स्वाहा। तेजोद्व्यणुकाय मध्यमाभ्यां वषट्। वायुद्व्य-णुकाय अनामिकाभ्यां हुम्। आकाशद्व्यणुकाय कनिष्ठिकाभ्यां वौषट्। पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशद्व्यणुकेभ्यः करतलकरपृष्ठाभ्यां फट्। एवं हृदयादिन्यासः। भुर्भुवःसुवरोमिति दिग्बन्धः ॥27॥

अब 'तत्त्वमसि' महावाक्य के 'असि' पद रूप महामन्त्र के ऋषि मन है। छन्द गायत्री है। अर्धनारीश्वर देवता है। अव्यक्तादि बीज है। नृसिंह शक्ति है। परमात्मा कीलक है। जीव और ब्रह्म की एकता के लिए जप का इसमें विनियोग है। पृथ्वी के द्व्यणुक (दो अणुओं) के लिए 'नमः' कहकर दोनों अँगूठों पर न्यास करना चाहिए। जल के द्व्यणुक के लिए दोनों तर्जनियों से 'स्वाहा' बोलकर स्पर्श करना चाहिए। तेज के द्व्यणुक के लिए दोनों मध्यमा अँगुलियों से 'वषट्' बोलकर स्पर्श करना चाहिए। वायु के द्व्यणुक के लिए दोनों अनामिकाओं से 'हुम्' कहकर स्पर्श करना चाहिए। आकाश के द्व्यणुक के लिए दोनों कनिष्ठिकाओं से 'वौषट्' बोलकर स्पर्श करना चाहिए। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश के द्व्यणुकों के लिए दोनों करतलों और करपृष्ठों से 'फट्' कहकर स्पर्श करना चाहिए। इसी प्रकार हृदयादि के न्यास भी करने चाहिए। और बाद में 'भूर्भुवः सुवरित्योम्' यह बोलते हुए दिग्बन्ध करना चाहिए।

ध्यानम्—
जीवो ब्रह्मेति वाक्यार्थं यावदस्ति मनःस्थितिः।
ऐक्यं तत्त्वं लये कुर्वन् ध्यायेदसिपदं सदा ॥28॥
एवं महावाक्यषडङ्गान्युक्तानि ॥29॥

बाद में इस प्रकार ध्यान करना चाहिए—जहाँ तक मन का अस्तित्व है, वहाँ तक 'जीव ब्रह्म हैं'—इस प्रकार लयरूप तत्त्व में ऐक्य स्थापित कर 'असि' पद का चिन्तन करते रहना चाहिए। इस प्रकार महावाक्य के षडंग कहे गए।

अथ रहस्योपनिषद्विभागशो वाक्यार्थश्लोकाः प्रोच्यन्ते ॥30॥

अब इस रहस्योपनिषद् के विभागानुसार वाक्यार्थ के श्लोक कहे जा रहे हैं।

येनेक्षते शृणोतीदं जिघ्रति व्याकरोति च।
स्वाद्वस्वादु विजानाति तत्प्रज्ञानमुदीरितम् ॥31॥
चतुर्मुखेन्द्रदेवेषु मनुष्याश्वगवादिषु।
चैतन्यमेकं ब्रह्मातः प्रज्ञानं ब्रह्म मय्यपि ॥32॥

पहला महावाक्य 'प्रज्ञानं ब्रह्म'—यह है। इसकी व्याख्या की जाती है। इस महावाक्य में जो 'प्रज्ञानं' शब्द है, इसका अर्थ यह है कि 'जिसकी वजह से मनुष्यादि सभी प्राणी देखते हैं, सुनते हैं, सूँघते हैं, बोलते हैं, स्वादिष्ट या अस्वादिष्ट जानते हैं, वही 'प्रज्ञान' है। और वह प्रज्ञानरूप चैतन्य ब्रह्मा, इन्द्र आदि देवों में तथा मनुष्यों, गायों, घोड़ों आदि सभी प्राणियों में एक ही है, वह ब्रह्म है। और ऐसा ही प्रज्ञान ब्रह्म मुझमें भी है ही।

परिपूर्णः परात्मास्मिन् देहे विद्याधिकारिणि।
बुद्धेः साक्षितया स्थित्वा स्फुरन्नहमितीर्यते ॥33॥
स्वतः पूर्णः परात्मात्र ब्रह्मशब्देन वर्णितः।
अस्मीत्यैक्यपरामर्शस्तेन ब्रह्म भवाम्यहम् ॥34॥

पहले महावाक्य के अर्थ को बताकर अब दूसरे 'अहं ब्रह्मास्मि' महावाक्य का अर्थ बताते हैं कि विद्या के अधिकारी ऐसे इस मनुष्यदेह में जो परमात्मा (परमचैतन्य) परिपूर्ण रूप से अवस्थित रहा है और जो बुद्धि का साक्षी होकर स्फुरित हो रहा है, वही इस महावाक्य के 'अहं' पद के द्वारा कहा गया है। और वही स्वतः पूर्ण परमात्मा ब्रह्म है, ऐसा यहाँ पर कहा गया है। और महावाक्य का 'अस्मि' पद दोनों के देहस्थ और ब्रह्म चैतन्य की एकता को बताता है। इसलिए 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा अर्थ फलित हो जाता है।

एकमेवाद्वितीयं सन्नामरूपविवर्जितम्।
सृष्टेः पुराऽधुनाप्यस्य तादृक्त्वं तदितीर्यते ॥35॥
श्रोतुर्देहेन्द्रियातीतं वस्त्वत्र त्वंपदेरितम्।
एकता ग्राह्यतेऽसीति तदैक्यमनुभूयताम् ॥36॥

अब तीसरे महावाक्य 'तत्त्वमसि'—'वह तू है' का अर्थ किया जा रहा है। इस सृष्टि के पहले भी और अब भी जो एक ही अद्वितीय सत् तत्त्व, नाम और रूप से रहित था और है, वही 'तत्त्वमसि' के 'तत्' पद का अर्थ होता है। और 'त्वम्' पद का अर्थ, श्रोता के देह और इन्द्रियों से परे जो वस्तु - चैतन्य है, वह है। इन दोनों की एकता 'असि' पद के द्वारा ग्रहण कराई जाती है। इस एकता का अनुभव करो।

स्वप्रकाशापरोक्षत्वमयमित्युक्तितो मतम्।
अहङ्कारादिदेहान्तं प्रत्यगात्मेति गीयते ॥37॥
दृश्यमानस्य सर्वस्य जगतस्तत्त्वमीर्यते।
ब्रह्मशब्देन तद् ब्रह्म स्वप्रकाशात्मरूपकम् ॥38॥

अब 'अयमात्मा ब्रह्म'—इस चौथे महावाक्य का अर्थ करते हैं कि इस वाक्य में जो 'अयम्' पद है, इसका अर्थ स्वप्रकाश और अपरोक्ष होता है। और 'आत्मा' शब्द का अर्थ अंहकार से लेकर देह तक का प्रत्यगात्मा है। और 'ब्रह्म' शब्द से यह दृश्यमान सारा जगत् स्वप्रकाश ब्रह्म का ही रूप है, ऐसा कहा गया है।

अनात्मदृष्टेरविवेकनिद्रामहं मम स्वप्नगतिं गतोऽहम्।
स्वरूपसूर्येऽभ्युदिते स्फुटोक्तेर्गुरोर्महावाक्यपदैः प्रबुद्धः ॥39॥

जब तक मुझमें आत्मदृष्टि (आत्मज्ञान) नहीं थी, तब तक तो मैं अविवेकरूपी निद्रा में ही पड़ा था। तब तो 'अहं' और 'मम'—'मैं' और 'मेरा'—ऐसी स्वप्न की अवस्था में ही अवस्थित था। परन्तु, गुरु के द्वारा कहे गए महावाक्यों के पदों को स्पष्ट रूप से बतलाये जाने पर जब स्वरूपरूपी सूर्य का उदय हुआ, तब मैं जाग उठा।

वाच्यं लक्ष्यमिति द्विधार्थसरणी वाच्यस्य हि त्वंपदं,
वाच्यं भौतिकमिन्द्रियादिरपि यल्लक्ष्यं त्वमर्थश्च सः।
वाच्यं तत्पदमीशताकृतमतिर्लक्ष्यं तु सच्चित्सुखा-
नन्दं ब्रह्म तदर्थ एष च तयोरैक्यं त्वसीदं पदम् ॥40॥

'तत्त्वमसि' इस महावाक्य के 'त्वम्' पद के दो अर्थ होते हैं। एक वाच्य और दूसरा लक्ष्य। उनमें भौतिक इन्द्रियाँ, शरीर और जीव—यह वाच्य अर्थ है और लक्ष्य त्वंपद का वास्तविक अर्थ—शुद्ध चैतन्य है। उसी प्रकार तत्पद के भी दो अर्थ होते हैं। इनमें 'ईश्वर' और इसी तरह 'परमात्मा' आदि तत्पद का वाच्यार्थ है और लक्ष्य अर्थ—सच्चिदानन्द सुखस्वरूप ब्रह्म है। इस प्रकार लक्ष्यार्थरूप में जीव और ब्रह्म की एकता है, ऐसा अर्थ 'असि' पद सूचित करता है।

त्वमिति तदिति कार्ये कारणे सत्युपाधौ,
द्वितयमितरथैकं सच्चिदानन्दरूपम्।
उभयवचनहेतू देशकालौ च हित्वा,
जगति भवति सोऽहं देवदत्तो यथैकः ॥41॥

'त्वम्' और 'तत्' पदार्थों में जो भेद किए जाते हैं, वे कारणरूप और कार्यरूप दो उपाधियों के कारण ही किए जाते हैं। उपाधि के चले जाने पर तो दोनों एक ही सच्चिदानन्दस्वरूप हैं। जगत् में भी ये दोनों वचन—तुम और वह (त्वं और तत्) विशिष्ट देश और काल के कारण ही कहे जाते हैं। उन दोनों (तुम और वह) को छोड़ देने पर ब्रह्म ही शेष रहता है, जैसे—'यह वह देवदत्त है'—यहाँ 'देवदत्त' एक ही है।

कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः।
कार्यकारणतां हित्वा पूर्णबोधोऽवशिष्यते ॥42॥

जीव कार्यरूप उपाधि वाला है और ईश्वर कारणरूप उपाधिवाला है। अर्थात् कार्यरूप उपाधि है इसलिए त्वं पदवाची जीव है, और कारणरूप उपाधि है इसलिए तत् रूप ईश्वर है। पर कार्यता और कारणता छूट जाने पर तो एक ही सच्चिदानन्द स्वरूप पूर्णबोध ही शेष रह जाता है।

श्रवणं तु गुरोः पूर्वं मननं तदनन्तरम्।
निदिध्यासनमित्येत्पूर्णबोधस्य कारणम् ॥43॥

प्रथम तो गुरु के पास महावाक्यों के उपदेश का श्रवण करना चाहिए। बाद में उनके गुरु द्वारा बताए गए अर्थ का मनन करना चाहिए। तदनन्तर उसका निदिध्यासन करना चाहिए। इस प्रकार ये तीनों पूर्णबोध प्राप्त करने के कारण हैं।

अन्यविद्यापरिज्ञानमवश्यं नश्वरं भवेत्।
ब्रह्मविद्यापरिज्ञानं ब्रह्मप्राप्तिकरं स्थितम् ॥44॥

ब्रह्मविद्या के अतिरिक्त अन्य विद्याओं का ज्ञान तो विनाशशील ही है। परन्तु ब्रह्मविद्या का पूर्णज्ञान तो ब्रह्म की प्राप्ति कराने वाला और शाश्वत है।

महावाक्यान्युपदिशेत्सषडङ्गानि देशिकः।
केवलं नहि वाक्यानि ब्रह्मणो वचनं यथा ॥45॥

ब्रह्माजी का ऐसा वचन है कि गुरु द्वारा शिष्य को छः अंगों के साथ महावाक्यों का उपदेश करना चाहिए। परन्तु केवल वाक्यों का ही उपदेश नहीं करना चाहिए।

ईश्वर उवाच—
एवमुक्त्वा मुनिश्रेष्ठ रहस्योपनिषच्छुक।
मया पित्रानुनीतेन व्यासेन ब्रह्मवादिना ॥46॥

ईश्वर ने कहा—'हे मुनिश्रेष्ठ शुकदेव! तुम्हारे पिता ब्रह्मवादी व्यासजी ने मुझसे निवेदन किया था, इसलिए मैंने यह रहस्योपनिषद् इस प्रकार तुमसे कही है।

ततो ब्रह्मोपदिष्टं वै सच्चिदानन्दलक्षणम्।
जीवन्मुक्तः सदा ध्यायन् नित्यस्त्वं विहरिष्यसि ॥47॥

और उसके द्वारा सच्चिदानन्द लक्षण से लक्षित ब्रह्म का उपदेश दिया। अब इसको तुम सदैव ध्यान करते हुए जीवन्मुक्त होकर हमेशा ही स्वस्वरूप में विहार करोगे।

यो वेदादौ स्वरः प्रोक्तो वेदान्ते च प्रतिष्ठितः।
तस्य प्रकृतिलीनस्य यः परः स महेश्वरः ॥48॥

जो 'ॐ' का स्वर वेदों के आदि में कहा गया है, और जो वेदों के अन्त में प्रतिष्ठित हुआ है। और प्रकृति में लय को प्राप्त होकर भी जो उससे परे है, वह महेश्वर हैं।

उपदिष्टः शिवेनेति जगत्तन्मयतां गतः।
उत्थाय प्रणिपत्येशं त्यक्ताशेषपरिग्रहः ॥49॥

शिवजी ने इस प्रकार उपदेश दिया। अतः शुक्रदेवजी जगद्रूप और शिवरूप हो गए। उन्होंने सब परिग्रह छोड़ दिया और शिवजी को प्रणाम करके वहाँ से उठ कर चले गए।

परब्रह्मपयोराशौ प्लवन्निव ययौ तदा।
प्रव्रजन्तं तमालोक्य कृष्णद्वैपायनो मुनिः ॥50॥
अनुव्रजन्नाजुहाव पुत्रविश्लेषकातरः।
प्रतिनेदुस्तदा सर्वे जगत्स्थावरजङ्गमाः॥51॥

जगद्गुरु शिवजी के उपदेश से ब्रह्मानन्द का अनुभव कर चुके शुक्रदेवजी मानो परब्रह्मरूपी

महासागर में तैर रहे हों, ऐसे चलने लगे। तब व्यास मुनि सब कुछ छोड़कर जाते हुए (संन्यासी बनने जाते हुए) पुत्र को देखकर, उनके पीछे जाकर पुत्र के वियोग के दुःख से उद्विग्न होकर उन्हें पुकारने लगे। उस समय जगत् के स्थावर, जंगम सभी पदार्थों ने बादरायण की पुकार का प्रत्युत्तर दिया था।

तच्छ्रुत्वा सकलावारं व्यासः सत्यवती सुतः।
पुत्रेण सहितः प्रीत्या परानन्दमुपेयिवान् ॥52॥

बाद में उस सकलस्वरूप ब्रह्म की आवाज सुनकर, सत्यवती के पुत्र व्यास अपने पुत्र के साथ प्रसन्न होकर परम आनन्द को प्राप्त हुए।

यो रहस्योपनिषदमधीते गुर्वनुग्रहात्।
सर्वपापविनिर्मुक्तः साक्षात्कैवल्यमश्नुते ॥
साक्षात्कैवल्यमश्नुते ॥53॥

इत्युपनिषत्।

इति शुकरहस्योपनिषत्समाप्ता।

जो मनुष्य गुरु की कृपा से इस रहस्योपनिषद् का अध्ययन कर लेता है, वह सभी पापों से मुक्त होकर साक्षात् कैवल्य को प्राप्त होता है। वाक्य की द्विरुक्ति समाप्तिसूचक है।

यहाँ याजुषी शुकरहस्योपनिषद् समाप्त होती है।

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु। सह नौ\.\.\.\.\.\. मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

❋

(37) वज्रसूचिकोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

इस उपनिषद् का सम्बन्ध सामवेद से है। इसमें कुल नौ मन्त्र ही हैं। यह उपनिषद् कहती है कि जीव, शरीर, जन्म, ज्ञान या कर्म से ब्राह्मणत्व प्राप्त नहीं होता। किन्तु ब्रह्म को जानने से ही ब्राह्मणत्व प्राप्त होता है। वह ब्रह्म तो जाति-गुण-क्रिया आदि से रहित है। वह निर्दुष्ट है, वह अन्तर्यामी है, वह आकाश की ही तरह सर्वगत और नित्य है। ऐसे ब्रह्म को जो जानता है, वही सही रूप में ब्राह्मण कहलाता है। ऐसा ब्राह्मण क्रोधरहित होता है, कामरहित होता है, वह संयतेन्द्रिय और मनोजयी होता है। तृष्णा, आशा, मोह आदि उसमें नहीं होते। वह कभी अहंकार करता ही नहीं।

शान्तिपाठः

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि......ते मयि सन्तु। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (आरुण्युपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

वज्रसूचीं प्रवक्ष्यामि शास्त्रमज्ञानभेदनम्।
दूषणं ज्ञानहीनानां भूषणं ज्ञानचक्षुषाम् ॥1॥

मैं अज्ञान का नाश करने वाले, ज्ञानहीनों के दूषण रूप, ज्ञानरूपी आँख वालों के लिए भूषणरूप ऐसे वज्रसूचि नामक उपनिषत् रूप शास्त्र कह रहा हूँ।

ब्रह्मक्षत्रियवैश्यशूद्रा इति चत्वारो वर्णास्तेषां वर्णानां ब्राह्मण एव प्रधान इति वेदवचनानुरूपं स्मृतिभिरप्युक्तम्। तत्र चोद्यमस्ति को वा ब्राह्मणो नाम किं जीवः किं देहः किं जातिः किं ज्ञानं किं कर्म किं धार्मिक इति ॥2॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये चार वर्ण हैं। उनमें ब्राह्मण ही मुख्य है ऐसा वेद-वचन के अनुसार स्मृतियों में भी कहा गया है। यहाँ पर विचारणीय यह है कि ब्राह्मण का सही अर्थ क्या है ? क्या वह जीव है ? क्या वह देह है ? क्या वह जाति है ? क्या वह ज्ञान है ? क्या वह कर्म है ? अथवा क्या वह धार्मिकता है ?

तत्र प्रथमो जीवो ब्राह्मण इति चैतन्न। अतीतानागतानामनेकदेहानां जीवस्यैकरूपत्वादेकस्यापि कर्मवशादनेकदेहसम्भवात् सर्वशरीराणां जीवस्यैकरूपत्वाच्च। तस्मान्न जीवो ब्राह्मण इति ॥3॥

इस स्थिति में यदि पहला विकल्प ब्राह्मण को जीव मानें तो, यह ठीक नहीं है क्योंकि भूतकाल के और भविष्यत्काल के अनेक देहों में जीव का तो एक ही रूप होता है, और उस एक ही जीव का

अपने कर्मों के अनुसार अनेक देहों से युक्त होना संभव है। इन सभी शरीरों में जीव तो एक होता है इसलिए जीव तो ब्राह्मण नहीं हो सकता।

तर्हि देहो ब्राह्मण इति चेत्तन्न। आचाण्डालादिपर्यन्तानां मनुष्याणां पाञ्चभौतिकत्वेन देहस्यैकरूपत्वाज्जरामरणधर्माधर्मादिसाम्यदर्शनाद् ब्राह्मणः श्वेतवर्णः क्षत्रियो रक्तवर्णो वैश्यः पीतवर्णः शूद्रः कृष्णवर्ण इति नियमाभावात्। पित्रादिशरीरदहने पुत्रादीनां ब्रह्महत्यादिदोषसम्भ-वाच्च। तस्मान्न देहो ब्राह्मण इति ॥4॥

तब दूसरा विकल्प 'देह ब्राह्मण है'—यह भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि चाण्डाल पर्यन्त सभी मनुष्यों के देह पांचभौतिक ही हैं, इसलिए समान ही हैं। सभी देहों में जरा, मरण, धर्म, अधर्म आदि की भी समानता देखी जाती है। ब्राह्मण श्वेतवर्ण ही हो, क्षत्रिय लाल वर्ण वाला ही हो, वैश्य पीले वर्ण वाला हो और शूद्र काले ही रंग वाला हो, ऐसा कोई नियम भी नहीं देखा जाता। और देह के ब्राह्मण होने पर तो पिता आदि के शरीर को जलाने में पुत्र आदि को ब्रह्महत्या का पाप-दोष भी लग सकता है। इसलिए देह तो ब्राह्मण नहीं हो सकता।

तर्हि जातिर्ब्राह्मण इति चेत्तन्न। तत्र जात्यन्तरजन्तुष्वनेकजातिसम्भवा महर्षयो बहवः सन्ति। ऋष्यश्रृंगो मृग्याः, कौशिकः कुशात्, जाम्बूको जम्बूकात्, वाल्मीको वल्मीकात्, व्यासः कैवर्तककन्यायां, शशपृष्ठाद् गौतमः, वसिष्ठ उर्वश्याम्, अगस्त्यः कलशे जात इति श्रुतत्वात्। एतेषां जात्या विनाप्यग्रे ज्ञानप्रतिपादिता ऋषयो बहवः सन्तिः। तस्मान्न जातिर्ब्राह्मण इति ॥5॥

तब तीसरा विकल्प 'जाति ब्राह्मण है'—ऐसा भी नहीं हो सकता। क्योंकि अलग-अलग जाति और जन्तुओं की भी अनेक जातियों में बहुत-से महर्षि लोग उत्पन्न हुए हैं। मृगी से ऋष्यश्रृंग, कुश से कौशिक, जम्बूक से जाम्बूक, वल्मीक से वाल्मीक, धीवरकन्या सत्यवती से व्यास, शशक के पृष्ठभाग से गौतम, उर्वशी अप्सरा से वसिष्ठ, कुम्भ से अगस्त्य उत्पन्न हुए थे, ऐसा सुना जाता है। इन सभी की ब्राह्मण जाति न होने पर भी प्राचीन काल में वे ज्ञान को प्रतिपादित करने वाले बड़े ही विद्वान् ब्राह्मण हुए हैं। इसलिए जाति भी ब्राह्मण नहीं है।

तर्हि ज्ञानं ब्राह्मण इति चेत्तन्न। क्षत्रियादयोऽपि परमार्थदर्शिनोऽभिज्ञा बहवः सन्ति। तस्मान्न ज्ञानं ब्राह्मण इति ॥6॥

यदि चौथा विकल्प 'ज्ञान ब्राह्मण है'—यह कहा जाए, तो भी ठीक नहीं, क्योंकि क्षत्रिय आदि कहलाने वाले भी कई लोग परमार्थदर्शी (ज्ञानी) हैं। इसलिए ज्ञान को ब्राह्मण नहीं कहा जा सकता।

तर्हि कर्म ब्राह्मण इति चेत्तन्न। सर्वेषां प्राणिनां प्रारब्धसंचितागामिकर्म-साधर्म्यदर्शनात् कर्माभिप्रेरिताः सन्तो जनाः क्रियाः कुर्वन्तीति। तस्मान्न कर्म ब्राह्मण इति ॥7॥

तब यदि 'कर्म ब्राह्मण है'—ऐसा कहना भी ठीक नहीं। क्योंकि सभी प्राणियों में प्रारब्ध, संचित और आगामी – क्रियमाण कर्मों की समानता प्रतीत होती है। और सभी मनुष्य (जाति की अपेक्षा के बिना) कर्म से प्रेरित होकर ही क्रियाएँ करते हैं। इसलिए कर्म को ब्राह्मण नहीं कहा जा सकता।

तर्हि धार्मिको ब्राह्मण इति चेत्तन्न। क्षत्रियादयो हिरण्यदातारो बहवः सन्ति। तस्मान्न धार्मिको ब्राह्मण इति ॥8॥

तब यदि धार्मिक को ब्राह्मण कहा जाए तो वह भी योग्य नहीं है। क्योंकि बहुत से क्षत्रिय आदि लोग सुवर्ण आदि का दान करने वाले धार्मिक होते हैं। इसलिए धार्मिक भी ब्राह्मण नहीं है।

तर्हि को ब्राह्मणो नाम। यः कश्चिदात्मानमद्वितीयं जातिगुणक्रियाहीनं षडूर्मिषड्भावेत्यादिसर्वदोषरहितं सत्यज्ञानानन्दानन्तस्वरूपं स्वयं निर्विकल्पमशेषकल्पाधारमशेषभूतान्तर्यामित्वेन वर्तमानमन्तर्बहिश्चा-काशवदनुस्यूतमखण्डानन्दस्वभावमप्रमेयमनुभवैकवेद्यमपरोक्षतया भासमानं करतलामलकवत्साक्षादपरोक्षीकृत्य कृतार्थतया कामरागादि-दोषरहितः शमदमादिसम्पन्नो भावमात्सर्यतृष्णाशामोहादिरहितो दम्भाहं-कारादिभिरसंस्पृष्टचेता वर्तत एवमुक्तलक्षणो यः स एव ब्राह्मण इति श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासानामभिप्रायः। अन्यथा हि ब्राह्मणत्वसिद्धिर्ना-स्त्येव। सच्चिदानन्दमात्मानमद्वितीयं ब्रह्म भावयेदात्मानं सच्चिदा-नन्दरूपं ब्रह्म भावयेदित्युपनिषत् ॥9॥

इति वज्रसूच्युपनिषत् समाप्ता।

तब ब्राह्मण कौन है ? उत्तर है कि जो आत्मा को एक और अद्वितीय रूप में अनुभव करता हो; वह आत्मा जाति-गुण-क्रिया से रहित, जिसे छः ऊर्मियों और छः भावों का स्पर्श न हो, और भी अन्य दोषों से वह मुक्त हो, वह आत्मा सत्य, ज्ञान, आनन्दस्वरूप स्वयं निर्विकल्प समाधि में रहने वाला हो, वह समग्र कल्पों का अवलम्बन रूप, समस्त प्राणियों के अन्तस् में रहने वाला, भीतर-बाहर आकाश की तरह व्याप्त, अखण्ड आनन्दरूप, अप्रमेय, अनुभवगम्य, अपरोक्षतया भासमान हो—ऐसे आत्मा को जो मनुष्य हाथ में लिए आमलक की भाँति साक्षात् अपरोक्ष रूप से अनुभव करके कृतार्थभाव से काम-राग आदि दोषों से मुक्त होता है, जिस मनुष्य में शम-दम आदि होते हैं, जो मात्सर्य, आशा, तृष्णा, मोह आदि भावों से रहित होता है, जो मन में दंभ, अहंकार आदि से रहित होकर ही वर्तन करता है, जो इन पूर्वोक्त लक्षणों से युक्त है, वही सही अर्थ में ब्राह्मण है; ऐसा श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास—सबका अभिप्राय है। इसके सिवा तो अन्य कोई ब्राह्मणत्व की सिद्धि (लक्षण) हो ही नहीं सकती। आत्मा ही सत्-चित्-आनन्द रूप है—ऐसी भावना करनी चाहिए। वाक्य की द्विरुक्ति उपनिषद् की समाप्ति की सूचक है।

इस प्रकार यह वज्रसूच्युपनिषद् पूर्ण होती है।

शान्तिपाठः

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि.....ते मयिसन्तु। (पूर्ववत्)

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(38) तेजोबिन्दूपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

इस उपनिषद् का सम्बन्ध कृष्णयजुर्वेद से है। इस उपनिषद् में छः अध्याय हैं। इसमें कहा गया है कि तेज के बिन्दु का ध्यान उत्कृष्ट ध्यान है। वह अगोचर और हृदयस्थित है। मुनियों और बुद्धिमानों को भी यह ध्यान दुःसाध्य, दुःसेव्य और दुर्दृश्य है। मिताहारी, क्रोधरहित और जितेन्द्रिय, सुखदुःखादि-द्वन्द्वरहित, अहंकार-आशा-तृष्णा-रहित, उत्साही एवं सद्गुरु के अनुग्रह से युक्त ही ऐसा ध्यान करने का अधिकारी है। जनसाधारण के लिए अप्रतीत, निरधिष्ठान, सूक्ष्मातिसूक्ष्म ब्रह्म विष्णु का विश्रामस्थल है। वह त्रिलोकजनक, त्रिगुणाश्रय, नीरूप, निश्चल, निर्विकल्प, निरवलम्ब, निरूपाधिक, अवाङ्मनसगोचर, सच्चिदानन्दरूप भाव से ग्राह्य है। वह निरुपाधिक आनन्दरूप है। वह अजन्मा, अविकारी, शाश्वत, अचल, अविनाशी ब्रह्म है, वही आत्मा है। वही ज्ञानियों की परम गति है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, दर्प आदि को तथा शीतोष्णादि, मानापमानादि, भूख-प्यास आदि की असहिष्णुता को तथा कुलाभिमानादि वासनाओं को छोड़कर ही ब्रह्मसाक्षात्कार हो सकता है। [विरजानंद स्वामी द्वारा प्रकाशित इस उपनिषद् के केवल तेरह मन्त्र हैं परन्तु निर्णयसागर द्वारा प्रकाशित 'अष्टोत्तरशतोपनिषदः' में संगृहीत इस उपनिषत् के छः अध्याय हैं। यहाँ उसी का अनुसरण किया जा रहा है, क्योंकि वह तत्त्वपूर्ण है।]

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ ...... मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (ब्रह्मोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

प्रथमोऽध्यायः

ॐ तेजोबिन्दुः परं ध्यानं विश्वात्महृदि संस्थितम्।
आणवं शाम्भवं शान्तं स्थूलं सूक्ष्मं परं च यत्॥1॥

विश्व में और अपने हृदय में अवस्थित तेजोबिन्दु का ध्यान ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है, क्योंकि वही परमात्मा का अणुस्वरूप है, वही शान्त है, स्थूल भी वही, सूक्ष्म भी वही और स्थूल-सूक्ष्म दोनों से परे भी तो वही तत्त्व है।

दुःखाद्यं च दुराराध्यं दुष्प्रेक्ष्यं मुक्तमव्ययम्।
दुर्लभं तत्स्वयं ध्यानं मुनीनां च मनीषिणाम्॥2॥

उस मुक्त अविनाशी स्वरूप का दर्शन करना अत्यन्त कठिन है, बड़ा मुश्किल है, कष्टसाध्य है। जनसाधारण के लिए ही नहीं, मुनियों और मनीषियों के लिए भी यह ध्यान प्राप्त करना अत्यन्त दुर्लभ है।

यताहारो जितक्रोधो जितसङ्गो जितेन्द्रियः ।
निर्द्वन्द्वो निरहङ्कारो निराशीरपरिग्रहः ॥3॥

जो मनुष्य आहार के प्रति संयमित है, जिसने क्रोध को जीता है, जिसने निःसंगता प्राप्त की है, जो सुख-दुःखादि और शीतोष्णादि द्वन्द्वों से परे हो गया हो, जो अहंकाररहित हो, आशातृष्णारहित हो जो अपरिग्रही हो, वही ऐसा ध्यान प्राप्त कर सकता है। (उत्तम अधिकारियों को तो यह ध्यान सिद्ध हो ही जाता है, पर ऊपर के ये साधन मध्यमाधिकारी और मन्दाधिकारी के लिए बताए गए हैं।)

अगम्यागमकर्ता यो गम्याऽगमनमानसः ।
मुखे त्रीणि च विन्दन्ति त्रिधामा हंस उच्यते ॥4॥

जो मनुष्य इन्द्रियों के लिए अयोग्य तत्त्व में गमन (प्रवेश) नहीं करता है, और इन्द्रियगम्य पदार्थों में भी प्रवेश करने की मानसिकता नहीं रखता, और जिसके मुख को ये तीन (ॐकार की मात्राएँ) प्राप्त हो जाती हैं, वह पुरुष त्रिधामा (तीन धामवाला) हंस कहलाता है। (अयोग्य पदार्थों का त्याग, इन्द्रिय-विषयों में अनासक्ति और ॐकार का जाप—ये तीन धाम हैं)।

परं गुह्यतमं विद्धि ह्यस्ततन्द्री निराश्रयः ।
सोमरूपकला सूक्ष्मा विष्णोस्तत्परमं पदम् ॥5॥

तुम्हें जानना चाहिए कि यह परम गुह्य वस्तु है। उसमें तन्द्रा (आलस्य) अस्त हो चुकी है, अर्थात् है ही नहीं। उसका कोई आधार (अधिष्ठान) नहीं है। सौम्य रूप (सोम जैसी) सूक्ष्म कला है। वह विष्णु का परमपद (स्थान) है।

त्रिवक्त्रं त्रिगुणं स्थानं त्रिधातुं रूपवर्जितम् ।
निश्चलं निर्विकल्पं च निराकारं निराश्रयम् ॥6॥

वह स्थान विश्व-तैजस-प्राज्ञरूप तीन मुखों वाला है, विराट्-सूत्रात्मा-ईश्वर भेद से तीन गुणों वाला है, ओता-अनुज्ञाता-अनुज्ञा भेद से अथवा ब्रह्मा-विष्णु-महेश भेद से तीन धातुओं वाला है। परन्तु पारमार्थिक दृष्टि से तो उसका कोई रूप ही नहीं है, वास्तव में तो वह निश्चल, निर्विकल्प और निरधिष्ठान ही है।

उपाधिरहितं स्थानं वाङ्मनोऽतीतगोचरम् ।
स्वभावं भावसंग्राह्यमसंघातं पदाच्युतम् ॥7॥

वह स्थान उपाधिरहित है, वाणी और मन से परे है इसलिए वह उनका विषय नहीं है। वह केवल स्वरूपमात्र ही है, केवल हृदय के भाव से ही वह पकड़ा जा सकता है। वह कुछ तत्त्वों का समूहरूप नहीं है। और अपने स्थान में वह अच्युत ही है।

अनानानन्दनातीतं दुष्प्रेक्ष्यं मुक्तमव्ययम् ।
चिन्त्यमेवं विनिर्मुक्तं शाश्वतं ध्रुवमच्युतम् ॥8॥

तरह-तरह के आनन्दों से वह रहित नहीं है अर्थात् सभी प्रकार के आनंद उसमें हैं। उसे भौतिक नेत्रों से देखना मुश्किल है। वह सर्वदा मुक्त है, अक्षय है, निर्विकार है, शाश्वत है, अविचल है, अच्युत है; इसी तरह उसका चिन्तन-मनन करना चाहिए।

तद्ब्रह्मणस्तदध्यात्मं तद्विष्णोस्तत्परायणम्।
अचिन्त्यं चिन्मयात्मानं यद्व्योम परमं स्थितम् ॥9॥

वही अध्यात्म है, वही व्यापक ब्रह्मरूप विष्णु का परम स्थान है। वह अचिन्त्य है, वह चैतन्यस्वरूप है और विशाल आकाश के रूप में अवस्थित है।

अशून्यं शून्यभावं तु शून्यातीतं हृदि स्थितम्।
न ध्यानं च न च ध्याता न ध्येयो ध्येय एव च ॥10॥

वह अशून्य है फिर भी वह शून्यभाव वाला है। और शून्य-अशून्य से परे भी है। वह हृदय में ही अवस्थित है। वह न ध्यानरूप है, न ध्यातारूप है, न ही ध्येयरूप है। फिर भी केवल एक ध्येय तो वही है।

सर्वं च न परं शून्यं न परं नापरात्परम्।
अचिन्त्यमप्रबुद्धं च न सत्यं न परं विदुः ॥11॥

वह सर्वस्वरूप है। वह सर्व से परे (अलग) नहीं है। वह शून्य नहीं है। वह द्वैतरूप नहीं है। वह अपर (जगत् से परे) नहीं है। ऐसे अचिन्त्य स्थान को आज तक किसी ने नहीं जाना है। इसे किसी ने न तो सत्यरूप से पूरा जाना है या न ही पररूप से पूरा पहचाना है।

मुनीनां सम्प्रयुक्तं च न देवा न परं विदुः।
लोभं मोहं भयं दर्पं कामं क्रोधं च किल्बिषम् ॥12॥
शीतोष्णे क्षुत्पिपासे च संकल्पकविकल्पकम्।
न ब्रह्मकुलदर्पं च न मुक्तिग्रन्थिसञ्चयम् ॥13॥
न भयं न सुखं दुःखं तथा मानापमानयोः।
एतद्भावविनिर्मुक्तं तद्ग्राह्यं ब्रह्म तत्परम् ॥14॥

वह मुनियों के साथ अच्छी तरह से जुड़ा हुआ दिखाई देता है। देव लोग उसे नहीं जानते। और लोग भी उस परमतत्त्व को पहचानते नहीं हैं। लोभ, मोह, भय, गर्व, काम, क्रोध, पाप, शीतता, उष्णता, भूख, प्यास, संकल्प और विकल्प—ये सब उस परमतत्त्व में नहीं हैं। ब्राह्मण कुल का (उच्चकुल का) अभिमान भी वहाँ नहीं है। बन्धन-मुक्ति की ग्रन्थियों का साथ भी उसे नहीं है। मानापमानजन्य सुख-दुःख भी वहाँ नहीं है। वहाँ कोई भय नहीं है। वह उपर्युक्त सभी भावों से रहित है, वही ब्रह्म ग्रहणयोग्य है।

यमो हि नियमस्त्यागो मौनं देशश्च कालतः।
आसनं मूलबन्धश्च देहसाम्यं च दृक्स्थितिः ॥15॥
प्राणसंयमनं चैव प्रत्याहारश्च धारणा।
आत्मध्यानं समाधिश्च प्रोक्तान्यङ्गानि वै क्रमात् ॥16॥

योग के ये अंग हैं—यम, नियम, मौन, त्याग, देश, काल, आसन, मूलबन्ध, देहसाम्य, दृष्टि की एकाग्रता, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, आत्मध्यान और समाधि—ये योग के क्रमानुसारी अंग कहे गए हैं।

सर्वं ब्रह्मेति वै ज्ञानादिन्द्रियग्रामसंयमः।
यमोऽयमिति सम्प्रोक्तोऽभ्यसनीयो मुहुर्मुहुः ॥17॥

'सब कुछ ब्रह्म ही है'—इस प्रकार के ज्ञान से जो आप-ही-आप इन्द्रियों का संयम हो जाता है, उसे 'यम' कहा जाता है। इसका बार-बार अभ्यास करना चाहिए।

सजातीयप्रवाहश्च विजातीयतिरस्कृतिः।
नियमो हि परानन्दो नियमात्क्रियते बुधैः ॥18॥

नियमपूर्वक एक ही प्रकार के विचार करना और अन्य प्रकार के विचारों का तिरस्कार करना ही परम आनंदरूप 'नियम' कहा गया है। ज्ञानियों के द्वारा यह नियम दत्तचित्त होकर किया जाता है।

त्यागः प्रपञ्चरूपस्य सच्चिदात्मावलोकनात्।
त्यागो हि महतां पूज्यः सद्यो मोक्षप्रदायकः ॥19॥

सच्चिद्रूप आत्मा के अवलोकन से इस जगत्रूपी प्रपंच को छोड़ना ही त्याग कहलाता है। यह त्याग बड़े लोगों के द्वारा भी आदर से देखा जाता है। क्योंकि वह तुरन्त मोक्ष का प्रदाता है।

यस्माद्वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
यन्मौनं योगिभिर्गम्यं तद्भवेत्सर्वदा जडैः ॥20॥

'जिस परमतत्त्व को बिना प्राप्त किए ही वाणी मन के साथ वापस लौट जाती है'—ऐसे विचार से जो मौन रखा जाता है, वही योगियों के द्वारा सिद्ध करने योग्य है और वह मौन जड इन्द्रियों के द्वारा किया जाता है। (यहाँ चौथे चरण में 'तद् भजेत्सर्वदा बुधः'—ऐसा पाठान्तर है। इस पक्ष में यह अर्थ होगा—'वह मौन ज्ञानी हमेशा के लिए करता रहे')।

वाचो यस्मान्निवर्तन्ते तद्वक्तुं केन शक्यते।
प्रपञ्चो यदि वक्तव्यः सोऽपि शब्दविवर्जितः ॥21॥
इति वा तद्भवेन्मौनं सर्वं सहजसंज्ञितम्।
गिरां मौनं तु बालानामयुक्तं ब्रह्मवादिनम् ॥22॥

जिसको बिना कहे वाणी भी वापिस लौट जाती है, वह भला फिर किसके द्वारा कहा जा सकता है? '(अरे!) यदि जगत् (प्रपंच) का वर्णन करना हो, तो भी वह शब्दों से नहीं कहा जा सकता।'—इस विचार से जो मौन रखा जाता है, उसे 'सहज मौन' नाम दिया गया है। बाकी केवल वाणी का मौन तो बच्चों का अर्थात् अज्ञानियों का ही मौन है। वैसा मौन ब्रह्मवादियों के लिए योग्य नहीं है।

आदावन्ते च मध्ये च जनो यस्मिन्न विद्यते।
येनेदं सततं व्याप्तं स देशो विजनः स्मृतः ॥23॥

जहाँ आदि में, मध्य में या अन्त में कोई लोग या लोक है ही नहीं और जिस एक ही के द्वारा यह सब कुछ व्याप्त हुआ है, ऐसा देश ही वास्तव में 'विजन देश' कहा गया है।

कल्पना सर्वभूतानां ब्रह्मादीनां निमेषतः।
कालशब्देन निर्दिष्टं ह्यखण्डानन्दमद्वयम् ॥24॥

जिसके नेत्र के एक निमिषमात्र से ही सभी भूतों की कल्पना (रचना) हो जाती है वही अखण्ड आनन्दरूप अद्वयतत्त्व यहाँ 'काल' शब्द के द्वारा निर्दिष्ट किया गया है।

सुखेनैव भवेद्यस्मिन्नजस्रं ब्रह्मचिन्तनम्।
आसनं तद्विजानीयादन्यत्सुखविनाशनम् ॥25॥

जहाँ सुखपूर्वक निरन्तर ब्रह्म का चिन्तन किया जा सके उसी को आसन समझना चाहिए। अन्य जो दूसरे आसन हैं, वे तो सुख के विनाशक हैं।

सिद्धये सर्वभूतादि विश्वाधिष्ठानमद्वयम्।
यस्मिन्सिद्धिं गताः सिद्धास्तत्सिद्धासनमुच्यते ॥26॥

सभी भूतों के आदि, जगत् का अधिष्ठान और अद्वैत ब्रह्म, ये ही सिद्ध करने के लिए योग्य तत्त्व है। इन्हें सिद्ध करने वाले मनुष्य स्वयं सिद्ध होते हैं और उसी सिद्धि को सिद्धासन नाम दिया जाता है।

यन्मूलं सर्वलोकानां यन्मूलं चित्तबन्धनम्।
मूलबन्धः सदा सेव्यो योग्योऽसौ ब्रह्मवादिनाम् ॥27॥

जो सभी लोकों का मूल है, जो चित्त के बन्धन का कारण (मूल) हो सकता है, वही मूलबन्ध ब्रह्मवादियों के लिए सदैव सेवन करने योग्य है। अर्थात् सर्वकारण ब्रह्म ही मूलबन्ध है। शरीर की आकुंचनादि क्रिया वास्तव में मूलबन्ध नहीं है। यह राजयोगियों का सेव्य है।

अङ्गानां समतां विद्यात् समे ब्रह्मणि लीयते।
नो चेन्नैव समानत्यमृजुत्वं शुष्कवृक्षवत् ॥28॥

सर्वस्वरूप ब्रह्म में लीनता को ही 'अंगों की समता' कहा जाता है। ऐसा न मानने पर तो सूखे पेड़ की-सी समानता कोई 'समत्व' नहीं है, या वैसी सरलता (वैसा सीधापन) वास्तव में कोई सीधापन नहीं है।

दृष्टिं शास्त्रमयीं कृत्वा पश्येद् ब्रह्ममयं जगत्।
सा दृष्टिः परमोदारा न नासाग्रावलोकिनी ॥29॥

शास्त्रपरक दृष्टि करके जगत् को ब्रह्ममय देखना चाहिए। उसे ही 'परमोदार दृष्टि' कहते हैं। केवल नाक के अग्र भाग को देखना ही कोई वास्तविक एकाग्रता (परमोदार दृष्टि) नहीं कही जा सकती।

द्रष्टृदर्शनदृश्यानां विरामो यत्र वा भवेत्।
दृष्टिस्तत्रैव कर्तव्या न नासाग्रावलोकिनी ॥30॥

जिसमें द्रष्टा, दर्शन और दृश्य का अभाव ही हो जाए, उस ब्रह्म में ही दृष्टि को स्थिर करना चाहिए। केवल नाक के अग्र भाग को देखना कोई वास्तविक 'स्थिर दृष्टि' नहीं कही जाती।

चित्तादिसर्वभावेषु ब्रह्मत्वेनैव भावनात्।
निरोधः सर्ववृत्तीनां प्राणायामः स उच्यते ॥31॥

चित्त आदि सभी पदार्थों में ब्रह्मदृष्टि करने से अन्य सभी चित्तवृत्तियाँ अवरुद्ध हो जाती हैं। इसी को सही प्राणायाम कहा जाता है।

निषेधनं प्रपञ्चस्य रेचकाख्यः समीरितः।
ब्रह्मैवास्मीति या वृत्तिः पूरको वायुरुच्यते ॥32॥
ततस्तद्वृत्तिनैश्चल्यं कुम्भकः प्राणसंयमः।
अयं चापि प्रबुद्धानामज्ञानां प्राणपीडनम् ॥33॥

जगत्रूप प्रपंच का निषेध ही वास्तविक रूप में रेचक है। और 'मैं ब्रह्म हूँ'—ऐसी वृत्ति ही वास्तव में पूरक है। और बाद में उसी वृत्ति की निश्चलता होना ही सही रूप में कुंभक है। यही ज्ञानियों का प्राणायाम है। अज्ञानी लोग ही नाक दबाना आदि को प्राणायाम समझते हैं।

विषयेष्वात्मतां दृष्ट्वा मनसश्चित्तरञ्जकम्।
प्रत्याहारः स विज्ञेयोऽभ्यसनीयो मुहुर्मुहुः ॥34॥

सभी विषयों में आत्मदृष्टि (ब्रह्मदृष्टि) करते हुए मन और चित्त को उसी में लीन करना (और अन्य विषयों से हटा लेना) ही प्रत्याहार है और वह बार-बार अभ्यास करने योग्य है।

यत्र यत्र मनो याति ब्रह्मणस्तत्र दर्शनात्।
मनसा धारणं चैव धारणा सा परा मता ॥35॥

जहाँ-जहाँ मन जाता है, वहाँ-वहाँ मन से ब्रह्म का ही जो दर्शन किया जाता है, वही परम धारणा कही गई है।

ब्रह्मैवास्मीति सद्वृत्या निरालम्बतया स्थितिः।
ध्यानशब्देन व्याख्यातः परमानन्ददायकः ॥36॥

'मैं ब्रह्म हूँ'—इस प्रकार की आलम्बनरहित स्थिति सत् वृत्ति के द्वारा हो, वह विख्यात भाव ध्यान शब्द के द्वारा कहा गया है। वह परम आनन्ददायक भाव है।

निर्विकारतया वृत्त्या ब्रह्माकारतया पुनः।
वृत्तिविस्मरणं सम्यक् समाधिरभिधीयते ॥37॥

और फिर बाद में वही निर्विकार वृत्ति जब ब्रह्माकार हो जाती है और वृत्ति का ही बिल्कुल विस्मरण हो जाता है, तब उस अवस्था को समाधि कहा जाता है।

इमं चाकृत्रिमानन्दं तावत्साधु समभ्यसेत्।
लक्ष्यो यावत्क्षणात्पुंसः प्रत्यक्त्वं सम्भवेत्स्वयम् ॥38॥
ततः साधननिर्मुक्तः सिद्धो भवति योगिराट्।
तत्स्वं रूपं भवेत्तस्य विषयो मनसो गिराम् ॥39॥

इस अकृत्रिम (स्वाभाविक) आनन्द का मनुष्य को तब तक अच्छी तरह से अभ्यास करना चाहिए जब तक कि मनुष्य का लक्ष्य आप-ही-आप प्रत्यक् स्वरूप स्पष्ट न हो जाए। इसके बाद साधनरहित होकर वह मनुष्य सिद्ध योगीराज बन जाता है। और तब उसके मन और वाणी का विषय अपना ब्रह्मरूप ही हो जाता है।

समाधौ क्रियमाणे तु विघ्नान्यायान्ति वै बलात्।
अनुसन्धानराहित्यमालस्यं भोगलालसम् ॥40॥
लयस्तमश्च विक्षेपस्तेजः स्वेदश्च शून्यता।
एवं हि विघ्नबाहुल्यं त्याज्यं ब्रह्मविशारदैः ॥41॥
भाववृत्त्या हि भावत्वं शून्यवृत्त्या हि शून्यता।
ब्रह्मवृत्त्या हि पूर्णत्वं तया पूर्णत्वमभ्यसेत् ॥42॥

समाधि करते समय बलात् अनेकानेक विघ्न आते हैं—अनुसन्धानराहित्य आता है, आलस्य

आता है, भोगलालसा आती है, लय, तमस्, विक्षेप, तेज, पसीना और शून्यता आदि आते हैं। परन्तु, ब्रह्मकुशल लोग उनको हटा सकते हैं। किसी भावात्मक वृत्ति से उस भाव का स्वरूप पाया जा सकता है। शून्य की वृत्ति से शून्यवृत्तिरूप और ब्रह्मवृत्ति से ब्रह्मरूप – पूर्णरूप पाया जा सकता है। इसलिए उसी वृत्ति में रहकर पूर्णता का अनुभव करना चाहिए।

ये हि वृत्तिं विहायैनां ब्रह्माख्यां पावनीं पराम्।
वृथैव ते तु जीवन्ति पशुभिश्च समा नराः ॥43॥

जो लोग इस परमपावन ब्रह्म नाम की वृत्ति को छोड़कर जी रहे हैं, वे तो पशु के समान ही हैं, और वे वृथा ही जी रहे हैं।

ये तु वृत्तिं विजानन्ति ज्ञात्वा वै वर्धयन्ति ये।
ते वै सत्पुरुषा धन्या वन्द्यास्ते भुवनत्रये ॥44॥

जो मनुष्य इस ब्रह्माकारवृत्ति को जानते हैं, और जानकर उसे आगे बढ़ाते हैं अर्थात् परिशीलन करते हैं, वे सत्पुरुष धन्य (कृतार्थ) हैं, और वे तीनों लोकों में वन्दन योग्य हैं।

येषां वृत्तिः समा वृद्धा परिपक्वा च सा पुनः।
ते वै सद् ब्रह्मतां प्राप्ता नेतरे शब्दवादिनः ॥45॥

जिन मनुष्यों की वह ब्रह्मवृत्ति एकसमान रूप से बढ़ती हुई बाद में परिपक्व हो जाती है, वे मनुष्य ही सद्रूप ब्रह्म को प्राप्त होते हैं, पर अन्य लोग जो केवल ऐसे शब्दमात्र ही बोला करते हैं, वे ब्रह्मत्व को प्राप्त नहीं कर सकते।

कुशला ब्रह्मवार्तायां वृत्तिहीनाः सुरागिणः।
तेऽप्यज्ञानतया नूनं पुनरायान्ति यान्ति च ॥46॥

जो लोग ब्रह्म की बातें करने में तो बहुत कुशल होते हैं, पर ब्रह्मवृत्ति से हीन होते हैं और अतिशय आसक्तिवाले होते हैं, वे सचमुच अपने अज्ञान के कारण मृत्यु के बाद पुनः जन्म लेते हैं और जन्म लेकर फिर मृत्यु को प्राप्त करते हैं।

निमिषार्धं न तिष्ठन्ति वृत्तिं ब्रह्ममयीं विना।
यथा तिष्ठन्ति ब्रह्माद्याः सनकाद्याः शुकादयः ॥47॥

वे योगी लोग आधे निमिष तक भी ब्रह्मादि, सनकादि और शुकादि की तरह ब्रह्मवृत्ति के बिना नहीं रह सकते।

कारणं यस्य वै कार्यं कारणं तस्य जायते।
कारणं तत्त्वतो नश्येत् कार्याभावे विचारतः ॥48॥

'कारण ही कार्य है' और 'कार्य ही कारण है'—ऐसी जिसकी वृत्ति होती है, उसके लिए यदि तात्त्विक विचार किया जाए, तो कार्य के अभाव में कारण भी नष्ट हो जाता है।

अथ शुद्धं भवेद्वस्तु यद्वै वाचामगोचरम्।
उदेति शुद्धचित्तानां वृत्तिज्ञानं ततः परम् ॥49॥

फिर तो ऐसे शुद्ध चितवाले मनुष्यों के सामने वाणी से अगोचर शुद्ध ब्रह्मरूप पदार्थ, वृत्ति के ज्ञान में उदित हो जाता है।

भावितं तीव्रवेगेन यद्वस्तु निश्चयात्मकम् ।
दृश्यं ह्यदृश्यतां नीत्वा ब्रह्माकारेण चिन्तयेत् ॥50॥
विद्वान्नित्यं सुखे तिष्ठेद्धिया चिद्रसपूर्णया ॥51॥

इति प्रथमोऽध्यायः ।

सम्यक् ज्ञान से पहले निश्चयात्मक रूप से बड़ी तत्परता से दृश्यभाव के रूप में जिस वस्तु को माना गया हो, उसी का फिर बाद में अदृश्यता में ले जाकर ब्रह्माकार में चिन्तन-मनन करना चाहिए जिससे उसे जानने वाला होकर अर्थात् ज्ञानी बनकर मनुष्य चैतन्यरस से परिपूर्ण हुई बुद्धि के कारण हमेशा सुख को प्राप्त कर सकता है ।

यहाँ प्रथम अध्याय पूरा हुआ ।

द्वितीयोऽध्यायः

अथ ह कुमारः शिवं पप्रच्छाऽखण्डैकरसचिन्मात्रस्वरूपमनुब्रूहीति । स होवाच परमशिवः—

फिर कार्त्तिकस्वामी ने (कुमार ने) शिव से पूछा—मुझे आप अखण्ड-एकरसमात्र चिन्मात्र का (चैतन्य मात्र का) उपदेश दीजिए । तब परम शिव ने कहा—

अखण्डैकरसं दृश्यमखण्डैकरसं जगत् ।
अखण्डैकरसं भावमखण्डैकरसं स्वयम् ॥1॥
अखण्डैकरसो मन्त्र अखण्डैकरसा क्रिया ।
अखण्डैकरसं ज्ञानमखण्डैकरसं जलम् ॥2॥
अखण्डैकरसा भूमिरखण्डैकरसं वियत् ।
अखण्डैकरसं शास्त्रमखण्डैकरसा त्रयी ॥3॥
अखण्डैकरसं ब्रह्म चाखण्डैकरसं वृतम् ।
अखण्डैकरसो जीव अखण्डैकरसो ह्यजः ॥4॥

दृश्य अखण्ड एकरस है, जगत् अखण्ड एकरस है, भाव अखण्ड एकरस है, स्वयं भी अखण्ड एकरस है । इसी प्रकार मन्त्र, क्रिया, ज्ञान और जल भी अखण्ड एकरस हैं । उसी प्रकार पृथ्वी, आकाश, शास्त्र और तीन वेद भी अखण्ड एकरस हैं । इसी तरह ब्रह्म, वृत्त, जीव और अजन्मा परमात्मा भी अखण्ड एकरस ही है ।

अखण्डैकरसो ब्रह्मा अखण्डैकरसो हरिः ।
अखण्डैकरसो रुद्र अखण्डैकरसोऽस्म्यहम् ॥5॥
अखण्डैकरसो ह्यात्मा अखण्डैकरसोऽगुरुः ।
अखण्डैकरसं लक्ष्यमखण्डैकरसं महः ॥6॥
अखण्डैकरसो देह अखण्डैकरसं मनः ।
अखण्डैकरसं चित्तमखण्डैकरसं सुखम् ॥7॥

अखण्डैकरसा विद्या अखण्डैकरसोऽव्ययः ।
अखण्डैकरसं नित्यमखण्डैकरसं परम् ॥8॥

ठीक उसी प्रकार ब्रह्मा, हरि (विष्णु), रुद्र और मैं—ये सब भी अखण्ड एकरस रूप ही हैं। और आत्मा, गुरु, लक्ष्यस्थान और तेज भी अखण्ड एकरस हैं। देह, मन, चित्त और सुख भी अखण्ड एकरस है। उसी तरह विद्या, विकारविहीन आत्मा, नित्यत्व, परमतत्त्व ब्रह्मतत्त्व भी अखण्डैकरस ही हैं।

अखण्डैकरसं किंचिदखण्डैकरसं परम् ।
अखण्डैकरसादन्यन्नास्ति नास्ति षडानन ॥9॥
अखण्डैकरसान्नास्ति अखण्डैकरसान्न हि ।
अखण्डैकरसात्किंचिदखण्डैकरसादहम् ॥10॥

हे षडानन! जो कुछ भी अव्याख्येय है, वह अखण्ड एकरस ही है। वही परम है। अखण्ड एकरस से भिन्न कोई वस्तु है ही नहीं। कुछ है ही नहीं, है ही नहीं। अखण्ड एकरस से अतिरिक्त कोई भी पदार्थ नहीं है। मैं स्वयं भी अखण्ड एकरस से खाली नहीं हूँ।

अखण्डैकरसं स्थूलं सूक्ष्मं चाखण्डरूपकम् ।
अखण्डैकरसं वेद्यमखण्डैकरसो भवान् ॥11॥
अखण्डैकरसं गुह्यमखण्डैकरसादिकम् ।
अखण्डैकरसो ज्ञाता ह्यखण्डैकरसा स्थितिः ॥12॥
अखण्डैकरसा माता अखण्डैकरसः पिता ।
अखण्डैकरसो भ्राता अखण्डैकरसः पतिः ॥13॥

स्थूल, सूक्ष्म, ज्ञेय पदार्थ और तुम—सभी अखण्ड एकरस हैं। गुह्य वस्तु अखण्ड एकरस है और उसका आदि भी अखण्ड एकरस है। ज्ञाता भी अखण्डैकरस है और स्थिति भी अखण्ड एकरस है। माता, पिता, भाई और स्वामी सभी अखण्ड एकरस हैं।

अखण्डैकरसं सूत्रमखण्डैकरसो विराट् ।
अखण्डैकरसं गात्रमखण्डैकरसं शिरः ॥14॥
अखण्डैकरसं चान्तरखण्डैकरसं बहिः ।
अखण्डैकरसं पूर्णमखण्डैकरसामृतम् ॥15॥
अखण्डैकरसं गोत्रमखण्डैकरसं गृहम् ।
अखण्डैकरसं गोप्यमखण्डैकरसश्शशी ॥16॥
अखण्डैकरसास्तारा अखण्डैकरसो रविः ।
अखण्डैकरसं क्षेत्रमखण्डैकरसा क्षमा ॥17॥

सूत्रात्मा, विराट्, सभी अवयव और मस्तक अखण्ड एकरस हैं। अन्दर का सब अखण्डैकरस है और बाहर का भी सब अखण्डैकरस ही है। पूर्ण वस्तु अखण्डैकरस है और अमृत अखण्डैकरस है। वंशनाम, घर सब अखण्डैकरस हैं, सब गोपनीय और चन्द्र, सूर्य, तारा भी अखण्ड एकरस है। क्षेत्र, क्षमा भी अखण्ड एकरस हैं।

अखण्डैकरसः शान्त अखण्डैकरसोऽगुणः ।
अखण्डैकरसः साक्षी अखण्डैकरसः सुहृत् ॥18॥

अखण्डैकरसो बन्धुरखण्डैकरसः सखा ।
अखण्डैकरसो राजा अखण्डैकरसं पुरम् ॥19॥
अखण्डैकरसं राज्यमखण्डैकरसः प्रजाः ।
अखण्डैकरसं तारमखण्डैकरसो जपः ॥20॥

जो शान्तरस है वह अखण्ड एकरस है, निर्गुण अखण्डैकरस है, साक्षी और मित्र भी अखण्ड एकरस हैं। भाई, सखा, राजा और नगर ये सभी अखण्ड एकरस हैं। राज्य, प्रजा, तारक मन्त्र (ओम्) और जप—सभी अखण्ड एकरस हैं।

अखण्डैकरसं ध्यानमखण्डैकरसं पदम् ।
अखण्डैकरसं ग्राह्यमखण्डैकरसं महत् ॥21॥
अखण्डैकरसं ज्योतिरखण्डैकरसं धनम् ।
अखण्डैकरसं भोज्यमखण्डैकरसं हविः ॥22॥
अखण्डैकरसो होम अखण्डैकरसो जपः ।
अखण्डैकरसं स्वर्गमखण्डैकरसः स्वयम् ॥23॥

ध्यान, परमतत्त्व, ग्राह्य पदार्थ, विशाल वस्तु भी अखण्ड एकरस हैं। ज्योति, धन, खाद्यपदार्थ, होमद्रव्य आदि भी अखण्ड एकरस ही हैं। होमक्रिया, जपक्रिया और स्वयं भी अखण्ड एकरस रूप ही हैं।

अखण्डैकरसं सर्वं चिन्मात्रमिति भावयेत् ।
चिन्मात्रमेव चिन्मात्रमखण्डैकरसं परम् ॥24॥

यह सब मात्र अखण्डैकरस चैतन्य ही है—ऐसा चिन्तन करना चाहिए। सब चैतन्य ही है। और मात्र चैतन्य ही परमतत्त्व है और वही अखण्ड एकरस है।

भववर्जितचिन्मात्रं सर्वं चिन्मात्रमेव हि ।
इदं च सर्वं चिन्मात्रमयं चिन्मात्रमेव हि ॥25॥
आत्मभावं च चिन्मात्रमखण्डैकरसं विदुः ।
सर्वलोकं च चिन्मात्रं त्वत्ता मत्ता च चिन्मयम् ॥26॥
आकाशो भूर्जलं वायुरग्निर्ब्रह्मा हरिः शिवः ।
यत्किञ्चिद्यन्न किञ्चिच्च सर्वं चिन्मात्रमेव हि ॥27॥
अखण्डैकरसं सर्वं यद्यच्चिन्मात्रमेव हि ।
भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं चिन्मात्रमेव हि ॥28॥

संसार रहित यह सब चिन्मात्र है। यह केवल चैतन्य और मात्र चैतन्य ही है। यह जो आत्मा का भाव (सत्ता) है वह केवल चैतन्य ही है, अखण्ड है, एकरस ही है, ऐसा ज्ञानी लोग मानते हैं। ये सभी लोक चैतन्य हैं, त्वंभाव और अहंभाव भी चैतन्य है। आकाश, पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, जो कुछ है और जो कुछ नहीं है वह सब चैतन्य ही हैं और जो चिन्मात्र है वह अखण्ड एकरस ही है। भूत, भविष्य और वर्तमान सभी अखण्डैकरस और चैतन्यमय ही हैं।

द्रव्यं कालं च चिन्मात्रं ज्ञानं ज्ञेयं चिदेव हि ।
ज्ञाता चिन्मात्ररूपश्च सर्वं चिन्मयमेव हि ॥29॥

सम्भाषणं च चिन्मात्रं यद्यच्चिन्मात्रमेव हि ।
असच्च सच्च चिन्मात्रमाद्यन्तं चिन्मयं सदा ॥30॥
आदिरन्तश्च चिन्मात्रं गुरुशिष्यादि चिन्मयम् ।
दृग्दृश्यं यदि चिन्मात्रमस्ति चेच्चिन्मयं सदा ॥31॥
सर्वाश्चर्यं हि चिन्मात्रं देहं चिन्मात्रमेव हि ।
लिङ्गं च कारणं चैव चिन्मात्रान्न हि भिद्यते ॥32॥

द्रव्य और काल केवल चैतन्य है, ज्ञान और ज्ञेय केवल चैतन्य है, ज्ञाता भी चिन्मात्र रूप ही है। सब कुछ चिन्मय ही है। संभाषण भी चैतन्यमात्र है, जो भी है वह सब भी चिन्मय है। असत् और सत् भी चैतन्यमात्र है, आदि और अन्त भी चैतन्यमात्र है, गुरु-शिष्य आदि भी चैतन्यमात्र है, और यदि दृक् तथा दृश्य (द्रष्टा और दृश्य) सब चिन्मात्र है, तब तो सब कुछ चिन्मात्र ही है। सभी आश्चर्य, देह, लिंगदेह, इन सबका कारण—ये सभी चिन्मात्र हैं। चिन्मात्र से भिन्न कुछ भी नहीं है।

अहं त्वं चैव चिन्मात्रं मूर्तामूर्तादि चिन्मयम् ।
पुण्यं पापं च चिन्मात्रं जीवश्चिन्मात्रविग्रहः ॥33॥
चिन्मात्रान्नास्ति संकल्पश्चिन्मात्रान्नास्ति वेदनम् ।
चिन्मात्रान्नास्ति मन्त्रादि चिन्मात्रान्नास्ति देवता ॥34॥
चिन्मात्रान्नास्ति दिक्पालाश्चिन्मात्राद्व्यावहारिकम् ।
चिन्मात्रात्परमं ब्रह्म चिन्मात्रान्नास्ति कोऽपि हि ॥35॥
चिन्मात्रान्नास्ति माया च चिन्मात्रान्नास्ति पूजनम् ।
चिन्मात्रान्नास्ति मन्तव्यं चिन्मात्रान्नास्ति सत्यकम् ॥36॥

'मैं' और 'तू' केवल चैतन्य ही हैं। मूर्त-अमूर्त सब केवल चैतन्य है। पुण्य-पाप चिन्मात्र ही है, जीव केवल चिन्मय है। कोई संकल्प चैतन्य से अलग नहीं है, कोई अनुभव, कोई ज्ञान, कोई भी दिक्पाल, कोई भी व्यावहारिक वस्तु चैतन्यमात्र से भिन्न है ही नहीं। परमब्रह्म भी चैतन्य से भिन्न नहीं है। कोई भी पदार्थ चैतन्यमात्र से भिन्न नहीं है। माया भी चिन्मात्र से अलग नहीं है। कोई पूजन भी चिन्मयता से अलग नहीं है। चिन्मात्र से अलग कोई भी पदार्थ मन्तव्य (चिन्तनीय) ही नहीं है। चिन्मात्र से बढ़कर कोई सत्य नहीं है।

चिन्मात्रान्नास्ति कोशादि चिन्मात्रान्नास्ति वै वसु ।
चिन्मात्रान्नास्ति मौनं च चिन्मात्रान्नास्त्यमौनकम् ॥37॥
चिनमात्रान्नास्ति वैराग्यं सर्वं चिन्मात्रमेव हि ।
यच्च यावच्च चिन्मात्रं यच्च यावच्च दृश्यते ॥38॥
यच्च यावच्च दूरस्थं सर्वं चिन्मात्रमेव हि ।
यच्च यावच्च भूतादि यच्च यावच्च लक्ष्यते ॥39॥
यच्च यावच्च वेदान्ताः सर्वं चिन्मात्रमेव हि ।
चिन्मात्रान्नास्ति गमनं चिन्मात्रान्नास्ति मोक्षकम् ॥40॥

निधि आदि भी चैतन्यमात्र से अलग नहीं हैं। चैतन्य से बढ़कर कोई धन नहीं है। कोई मौन या कोई अमौन भी चैतन्य से अलग नहीं है। वैराग्य भी चैतन्य से भिन्न नहीं क्योंकि सब कुछ चिन्मात्र ही है। जो जितना दिखाई देता है वह केवल चैतन्य ही है और जो नहीं दिखाई देता अर्थात् दूर है,

वह भी चिन्मात्र है। जितने और जिस प्रमाण में ये पंचभूत आदि हैं, वे भी चिन्मात्र हैं। जो कुछ भी और जितने प्रमाण में वेदान्त हैं, सब चिन्मात्र हैं। चिन्मात्र से भिन्न कोई गति नहीं, चिन्मय से बढ़कर कोई मोक्ष ही नहीं है।

चिन्मात्रान्नास्ति लक्ष्यं च सर्वं चिन्मात्रमेव हि।
अखण्डैकरसं ब्रह्म चिन्मात्रान्न हि विद्यते ॥41॥
शास्त्रे मयि त्वयीशे च ह्यखण्डैकरसो भवान्।
इत्येकरूपकतया यो वा जानात्यहं त्विति ॥42॥
सकृज्ज्ञानेन मुक्तिः स्यात्सम्यग्ज्ञाने स्वयं सदा ॥43॥

इति द्वितीयोऽध्यायः।

चैतन्य को छोड़कर कोई लक्ष्य ही नहीं है। सब कुछ केवल चित् ही है। सब कुछ अतएव अखण्ड एकरस ही है, चिन्मात्र से अलग कुछ भी नहीं है। शास्त्र में, मुझमें, तुझमें, और ईश्वर में—सबमें आप ही अखण्ड एकरस रूप से विद्यमान हैं। इस प्रकार एकरूपता से सर्वत्र मैं हूँ, ऐसा जो जानता है अर्थात् ऐसे सम्यग् ज्ञान से उसकी तत्काल सदा के लिए मुक्ति हो जाती है।

यहाँ दूसरा अध्याय पूरा हुआ।

तृतीयोऽध्यायः

कुमारः पितरमात्मानुभवमनुब्रूहीति पप्रच्छ। स होवाच परः शिवः—
परब्रह्मस्वरूपोऽहं परमानन्दमस्म्यहम्।
केवलं ज्ञानरूपोऽहं केवलं परमोऽस्म्यहम् ॥1॥
केवलं शान्तरूपोऽहं केवलं चिन्मयोऽस्म्यहम्।
केवलं नित्यरूपोऽहं केवलं शाश्वतोऽस्म्यहम् ॥2॥
केवलं सत्त्वरूपोऽहमहं त्यक्त्वाहमस्म्यहम्।
सर्वहीनस्वरूपोऽहं चिदाकाशमयोऽस्म्यहम् ॥3॥
केवलं तुर्यरूपोऽस्मि तुर्यातीतोऽस्मि केवलः।
सदा चैतन्यरूपोऽस्मि चिदानन्दमयोऽस्म्यहम् ॥4॥

कुमार कार्तिकस्वामी ने अपने पिता शंकर से पूछा—'आप आत्मानुभूति की बात कहिए'। तब परम शिव बोले—'मैं परब्रह्मस्वरूप हूँ, मैं परम आनन्दस्वरूप हूँ, मैं केवल ज्ञानरूप हूँ, मैं केवल परमात्मा हूँ। मैं केवल शान्तरूप हूँ, चैतन्यरूप हूँ, केवल नित्यरूप हूँ, मैं शाश्वत-स्थिर-एकरूप हूँ। मैं केवल सत्त्वस्वरूप हूँ, 'मैं' भाव को छोड़कर 'मैं' हूँ, सर्व से हीन स्वरूपवाला हूँ, मैं चिदाकाशमय हूँ, केवल तुर्यरूप हूँ, और तुर्यातीत (तुर्यतुर्य रूप) भी मैं हूँ। सदैव चैतन्यरूप मैं हूँ। मैं चिदानन्दमय हूँ।

केवलाकाररूपोऽस्मि शुद्धरूपोऽस्म्यहं सदा।
केवलं ज्ञानरूपोऽस्मि केवलं प्रियमस्म्यहम् ॥5॥
निर्विकल्पस्वरूपोऽस्मि निरीहोऽस्मि निरामयः।
सदाऽसङ्गस्वरूपोऽस्मि निर्विकारोऽहमव्ययः ॥6॥

सदैकरसरूपोऽस्मि सदा चिन्मात्रविग्रहः ।
अपरिच्छिन्नरूपोऽस्मि ह्यखण्डानन्दरूपवान् ॥7॥
सत्परानन्दरूपोऽस्मि चित्परानन्दमस्म्यहम् ।
अन्तरान्तररूपोहमवाङ्मनसगोचरः ॥8॥

मैं केवल आकाररूप हूँ, सदैव शुद्ध रूपवाला हूँ, केवल ज्ञानरूप हूँ, एकमात्र प्रियस्वरूप हूँ, निर्विकल्परूप हूँ, सदा इच्छारहित हूँ, निर्दोष हूँ, सदा असंग स्वरूप हूँ, विकाररहित हूँ, सदैव एकरस हूँ, सदैव चैतन्यमात्र रूप हूँ, असीम स्वरूप वाला हूँ, अखण्ड-आनन्दस्वरूप हूँ, सद्रूप, परानन्दरूप, चिद्रूप, उच्चतम आनन्दरूप, भीतर से भी भीतर के रूपवाला हूँ और वाणी एवं मन का विषय नहीं हूँ।

आत्मानन्दस्वरूपोऽहं सत्यानन्दोऽस्म्यहं सदा ।
आत्मारामस्वरूपोऽस्मि ह्ययमात्मा सदाशिवः ॥9॥
आत्मप्रकाशरूपोऽस्मि ह्यात्मज्योती रसोऽस्म्यहम् ।
आदिमध्यान्तहीनोऽस्मि ह्याकाशसदृशोऽस्म्यहम् ॥10॥
नित्यशुद्धचिदानन्दसत्तामात्रोऽहमव्ययः ।
नित्यबुद्धविशुद्धैकसच्चिदानन्दमस्म्यहम् ॥11॥
नित्यशेषस्वरूपोऽस्मि सर्वातीतोऽस्म्यहं सदा ।
रूपातीतस्वरूपोऽस्मि परमाकाशविग्रहः ॥12॥

मैं आत्मानन्दस्वरूप हूँ, सदा सत्य – आनन्द हूँ, आत्मारामस्वरूप हूँ, सदाशिव आत्मा हूँ। मैं आत्मा का प्रकाशरूप हूँ, मैं आत्मज्योतिरूप रसयुक्त हूँ, मैं आदि-मध्य-अन्त हीन हूँ, मैं आकाश जैसा हूँ। मैं नित्य, शुद्ध, चैतन्य, आनन्द और नित्य सत्तामात्र हूँ। मैं निर्विकार, नित्य ज्ञानी, अतिशय शुद्ध और केवल सच्चिदानन्द हूँ। मैं नित्य और 'नेति नेति' करने से शेष रहा हुआ तत्त्व हूँ। मैं सबसे परे, सदा रूपरहित स्वरूपवाला हूँ, मैं परम आकाश जैसे शरीरवाला हूँ।

भूमानन्दस्वरूपोऽस्मि भाषाहीनोऽस्म्यहं सदा ।
सर्वाधिष्ठानरूपोऽस्मि सर्वदा चिद्घनोऽस्म्यहम् ॥13॥
देहभावविहीनोऽस्मि चिन्ताहीनोऽस्मि सर्वदा ।
चित्तवृत्तिविहीनोऽहं चिदात्मैकरसोऽस्म्यहम् ॥14॥
सर्वदृश्यविहीनोऽहं दृग्रूपोऽस्म्यहमेव हि ।
सर्वदा पूर्णरूपोऽस्मि नित्यतृप्तोऽस्म्यहं सदा ॥15॥
अहं ब्रह्मैव सर्वं स्यादहं चैतन्यमेव हि ।
अहमेवाहमेवास्मि भूमाकाशस्वरूपवान् ॥16॥

मैं भूमा (विशालतम) आनन्दस्वरूप हूँ। मैं भाषारहित हूँ, सर्वाधिष्ठानस्वरूप हूँ, सर्वदा चिद्घन - सर्वत्र चिद्व्याप्त हूँ, देहभाव से रहित हूँ, सदैव चिन्ता-विचार-हीन हूँ, चित्तवृत्तियों से रहित हूँ, चित्-रूप एकरस वाला हूँ, सभी दृश्यपदार्थों से परे हूँ, केवल द्रष्टा (साक्षी) ही हूँ, सदैव पूर्ण हूँ, सदैव परितुष्ट हूँ, मैं ब्रह्म ही हूँ, यह सर्वचैतन्य मैं ही हूँ, मैं मैं ही हूँ, विशालतम आकाश जैसे व्याप्त शरीरवाला मैं ही हूँ।

अहमेव महानात्मा अहमेव परात्परः ।
अहमन्यवदाभामि ह्यहमेव शरीरवत् ॥17॥

अहं शिष्यवदाभामि ह्यहं लोकत्रयाश्रयः ।
अहं कालत्रयातीत अहं वेदैरुपासितः ॥18॥
अहं शास्त्रेण निर्णीत अहं चित्ते व्यवस्थितः ।
मत्त्यक्तं नास्ति किंचिद्वा मत्त्यक्तं पृथिवी च वा ॥19॥
मयातिरिक्तं यद्यद्वा तत्तन्नास्तीति निश्चिनु ।
अहं ब्रह्मास्मि सिद्धोऽस्मि नित्यशुद्धोऽस्म्यहं सदा ॥20॥

मैं ही महान् आत्मा हूँ, मैं परमत्त्व से भी परतत्त्व हूँ। मैं अन्य-सा मात्र दिखाई ही देता हूँ, मैं ही शरीर जैसा लग रहा हूँ, मैं शिष्य जैसा लग रहा हूँ, मैं तीनों लोकों का आश्रय हूँ, मैं भूत, भविष्य और वर्तमान—तीनों कालों से परे हूँ, मैं ही वेदों के द्वारा उपासित हूँ। मैं ही शास्त्रों के द्वारा निर्णीत किया गया हूँ, मैं चित्त में रहा हूँ, मुझसे कोई भी त्यागा नहीं गया है, अव्यक्त, पृथ्वी सबमें मैं व्याप्त हूँ। मुझसे रिक्त जो है वह है ही नहीं, ऐसा निश्चय जान लो। मैं ही ब्रह्म हूँ, सिद्ध हूँ, नित्य शुद्ध हूँ।

निर्गुणः केवलात्मास्मि निराकारोस्म्यहं सदा ।
केवलं ब्रह्ममात्रोऽस्मि ह्यजरोऽस्म्यमरोऽस्म्यहम् ॥21॥
स्वयमेव स्वयं भामि स्वयमेव सदात्मकः ।
स्वयमेवात्मनि स्वस्थः स्वयमेव परा गतिः ॥22॥
स्वयमेव स्वयं भुञ्जे स्वयमेव स्वयं रमे ।
स्वयमेव स्वयं ज्योतिः स्वयमेव स्वयं महः ॥23॥
स्वस्यात्मनि स्वयं रंस्ये स्वात्मन्येव विलोकये ।
स्वात्मन्येव सुखासीनः स्वात्ममात्रावशेषकः ॥24॥

मैं केवल निर्गुण आत्मा हूँ, सदैव निराकार हूँ, मैं केवल (मात्र) ब्रह्म हूँ, अजर हूँ, अमर हूँ। मैं स्वयं ही अपना प्रकाश करता हूँ। मैं स्वयं सदा आत्मरूप हूँ। स्वयं अपने आत्मा में रहता हूँ, स्वयं ही परमगति हूँ। मैं स्वयं अपने को खाता हूँ, मैं अपने आपसे ही खेलता हूँ, मैं अपने आपमें ज्योति रूप हूँ, मैं ही अपना प्रकाश हूँ। मैं अपने आपमें ही खेलता हूँ, अपने आपमें ही देखता हूँ, अपने आपमें ही सुख से अवस्थित होकर अपने में ही स्वयं शेष रहता हूँ।

स्वचैतन्ये सदा स्थास्ये स्वात्मराज्ये सुखे रमे ।
स्वात्मसिंहासने स्थित्वा स्वात्मनोऽत्यन्न चिन्तये ॥25॥
चिद्रूपमात्रं ब्रह्मैव सच्चिदानन्दमद्वयम् ।
आनन्दघन एवाहमहं ब्रह्मास्मि केवलम् ॥26॥
सर्वदा सर्वशून्योऽहं सर्वात्मानन्दवानहम् ।
नित्यानन्दस्वरूपोऽहमात्माकाशोऽस्मि नित्यदा ॥27॥
अहमेव हृदाकाशश्चिदादित्यस्वरूपवान् ।
आत्मनात्मनि तृप्तोऽस्मि ह्यरूपोऽस्म्यहमव्ययः ॥28॥

मैं अपने चैतन्य में सदैव रहता हूँ। अपने आत्मरूप राज्य में सिंहासन पर बैठकर अपने आत्मा से अलग किसी का चिन्तन नहीं करता। केवल चैतन्यरूप ब्रह्म ही सच्चिदानन्द और अद्वैत है। मैं ही आनन्दमय हूँ, मैं ही वह ब्रह्म हूँ, मात्र ब्रह्म ही हूँ। मैं सर्वदा सर्व से शून्य हूँ। मैं ही सबका आत्मा

और मैं ही सर्वानन्दमय हूँ। मैं नित्यानन्दस्वरूप आकाश की तरह व्यापक हूँ। मैं हृदयाकाश रूप प्रकाशमान चिदाकाश हूँ। मैं अपने आत्मा में आत्मा से ही परितृप्त हूँ। मैं अरूप हूँ, मैं अव्यय हूँ।

एकसंख्याविहीनोऽस्मि नित्यमुक्तस्वरूपवान्।
आकाशादपि सूक्ष्मोऽहमाद्यन्ताभाववानहम् ॥29॥
सर्वप्रकाशरूपोऽहं परावरसुखोऽस्म्यहम्।
सत्तामात्रस्वरूपोऽहं शुद्धमोक्षस्वरूपवान् ॥30॥
सत्यानन्दस्वरूपोऽहं ज्ञानानन्दघनोऽस्म्यहम्।
विज्ञानमात्ररूपोऽहं सच्चिदानन्दलक्षणः ॥31॥
ब्रह्ममात्रमिदं सर्वं ब्रह्मणोऽन्यन्न किञ्चन।
तदेवाहं सदानन्दं ब्रह्मैवाहं सनातनम् ॥32॥

मैं एक संख्या से रहित हूँ। मैं नित्यमुक्त स्वरूप वाला हूँ। मैं आकाश से भी सूक्ष्म हूँ। मैं आदि-अन्त से रहित हूँ। मैं सर्वप्रकाशरूप, परमोत्तम (दिव्य) सुखरूप, केवल सद्रूप, शुद्ध मोक्षस्वरूप, सत्य और आनन्दस्वरूप, ज्ञान और आनन्दघन, केवल विज्ञानरूप, सच्चिदानन्द ही हूँ। यह सब भी केवल ब्रह्मस्वरूप ही है, ब्रह्म से अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। और वह मैं हूँ। मैं ही वह सदानन्दरूप सनातन ब्रह्म हूँ।

त्वमित्येतत्तदित्येतन्मत्तोऽन्यन्नास्ति किञ्चन।
चिच्चैतन्यस्वरूपोऽहमहमेव परः शिवः ॥33॥
अतिभावस्वरूपोऽहमहमेव सुखात्मकः।
साक्षिवस्तुविहीनत्वात्साक्षित्वं नास्ति मे सदा ॥34॥
केवलं ब्रह्ममात्रत्वादहमात्मा सनातनः।
अहमेवादिशेषोऽहमहं शेषोऽहमेव च ॥35॥
नामरूपविमुक्तोऽहमहमानन्दविग्रहः।
इन्द्रियाभावरूपोऽहं सर्वभावस्वरूपकः ॥36॥

'तू' और 'वह' मुझसे अलग नहीं हैं। कुछ भी मुझसे अलग नहीं है। मैं ज्ञानरूप और चैतन्यरूप हूँ। मैं ही परमशिव हूँ। मैं सर्व पदार्थों से परे रहने वाला पदार्थ हूँ, मैं ही सुखस्वरूप हूँ। मैं साक्षी के लिए (साक्ष्य) वस्तु का अभाव हो जाने से सभी काल में साक्षी नहीं बना रहता परन्तु केवल ब्रह्मत्व मात्र से ही मैं सदा शाश्वत आत्मरूप में रहता हूँ। मैं ही आदि में शेष होता हूँ और अन्त में भी मैं ही शेष रहता हूँ। मेरा न कोई नाम है, न रूप है, मैं तो केवल आनन्दस्वरूप हूँ। मुझमें इन्द्रियाँ नहीं है, फिर भी सब पदार्थों में मैं ही तो हूँ। (मैं सर्वभावरूप हूँ)।

बन्धमुक्तिविहीनोऽहं शाश्वतानन्दविग्रहः।
आदिचैतन्यमात्रोऽहमखण्डैकरसोऽस्म्यहम् ॥37॥
वाङ्मनोऽगोचरश्चाहं सर्वत्र सुखवानहम्।
सर्वत्र पूर्णरूपोऽहं भूमानन्दमयोऽस्म्यहम् ॥38॥
सर्वत्र तृप्तिरूपोऽहं परामृतरसोऽस्म्यहम्।
एकमेवाद्वितीयं सद् ब्रह्मैवाहं न संशयः ॥39॥

सर्वशून्यस्वरूपोऽहं सकलागमगोचरः ।
मुक्तोऽहं मोक्षरूपोऽहं निर्वाणसुखरूपवान् ॥40॥

मैं बन्ध-मोक्ष से रहित, सनातन आनन्दरूप शरीर वाला, केवल आदिचैतन्य और अखण्ड एकरस हूँ। मैं वाणी और मन का विषय नहीं हूँ। मैं सर्वत्र सुखस्वरूप, सर्वत्र पूर्णरूप और सर्वातिशय आनन्दस्वरूप हूँ। मैं सर्वत्र तृप्तिरूप, परम अमृत रसस्वरूप, एक, अद्वितीय, ऐसा ब्रह्म ही हूँ, इसमें कोई सन्देह नहीं। मैं सर्वत्र शून्यस्वरूप हूँ। मैं सभी सत्प्रतिपादक शास्त्रों का प्रतिपाद्य विषय हूँ। मैं मुक्त, मोक्षरूप और निर्वाणस्वरूप वाला हूँ।

सत्यविज्ञानमात्रोऽहं सन्मात्रानन्दवानहम् ।
तुरीयातीतरूपोऽहं निर्विकल्पस्वरूपवान् ॥41॥
सर्वदा ह्यजरूपोऽहं नीरागोऽस्मि निरञ्जनः ।
अहं शुद्धोऽस्मि बुद्धोऽस्मि नित्योऽस्मि प्रभुरस्म्यहम् ॥42॥
ओंकारार्थस्वरूपोऽस्मि निष्कलङ्कमयोऽस्म्यहम् ।
चिदाकारस्वरूपोऽस्मि नाहमस्मि न सोऽस्म्यहम् ॥43॥
न हि किञ्चित्स्वरूपोऽस्मि निर्व्यापारस्वरूपवान् ।
निरंशोऽस्मि निराभासो न मनो नेन्द्रियोऽस्म्यहम् ॥44॥

मैं केवल सत्य, केवल विज्ञान हूँ, मैं केवल सत्य और आनन्दस्वरूप ही हूँ, मैं तुरीय से भी परे स्वरूपवाला हूँ, मैं निर्विकल्प हूँ। मैं सभी कालों में अजन्मा हूँ। मैं रागरहित और निरंजन हूँ। मैं शुद्ध, ब्रह्म, नित्य हूँ। मैं प्रभु हूँ। मैं ओंकार का अर्थस्वरूप हूँ। निष्कलंक और चैतन्य के स्वरूपवाला हूँ। मैं 'मैं' भी नहीं हूँ और 'तू' भी नहीं हूँ। मेरा कोई स्वरूप ही नहीं है। मैं व्यापाररहित स्वरूप वाला हूँ। मैं अंशहीन और आभासहीन हूँ। मैं न मन हूँ, न इन्द्रिय ही हूँ।

न बुद्धिर्न विकल्पोऽहं न देहादित्रयोऽस्म्यहम् ।
न जाग्रत्स्वप्नरूपोऽहं न सुषुप्तिस्वरूपवान् ॥45॥
न तापत्रयरूपोऽहं नेषणात्रयवानहम् ।
श्रवणं नास्ति मे सिद्धेर्मननं च चिदात्मनि ॥46॥
सजातीयं न मे किञ्चिद्विजातीयं न मे क्वचित् ।
स्वगतं च न मे किञ्चिन्न मे भेदत्रयं क्वचित् ॥47॥
असत्यं हि मनोरूपमसत्यं बुद्धिरूपकम् ।
अहङ्कारमसद्धीति नित्योऽहं शाश्वतो ह्यजः ॥48॥

मैं बुद्धि नहीं हूँ, विकल्प नहीं हूँ, स्थूल-सूक्ष्म-कारणरूप तीनों देह नहीं हूँ, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिरूप तीनों अवस्थाएँ नहीं हूँ, आध्यात्मिक-आधिभौतिक-आध्यात्मिक तीनों नामरूप नहीं हूँ, पुत्रैषणा-वित्तैषणा-लोकैषणारूप तीनों एषणाएँ नहीं हूँ। मेरा कोई श्रवण नहीं, चित्स्वरूप आत्मा में कोई मनन भी तो नहीं है। मेरा कोई सजातीय नहीं, विजातीय भी नहीं और स्वगत भी नहीं—ये तीन भेद मुझमें नहीं हैं। मन का रूप असत्य है, बुद्धि का रूप भी तो असत्य ही है, और अहंकार भी असत् है। इसलिए मैं ही शाश्वत नित्य हूँ।

देहत्रयमसद्विद्धि कालत्रयमसत्सदा ।
गुणत्रयमसद्विद्धि ह्यहं सत्यात्मकः शुचिः ॥49॥

श्रुतं सर्वमसद्विद्धि वेदं सर्वमसत्सदा ।
शास्त्रं सर्वमसद्विद्धि ह्यहं सत्यचिदात्मकः ॥50॥
मूर्तित्रयमसद्विद्धि सर्वभूतमसत्सदा ।
सर्वसत्त्वमसद्विद्धि ह्यहं भूमा सदाशिवः ॥51॥
गुरुशिष्यमसद्विद्धि गुरोर्मन्त्रमसत्ततः ।
यद्दृश्यं तदसद्विद्धि न मां विद्धि तथाविधम् ॥52॥

स्थूल-सूक्ष्म-कारणरूप तीनों देह को असत् मानो । भूत-भविष्य-वर्तमान तीनों कालों को सदा असत् मानो । सत्त्व-रजस्-तमस् तीनों गुणों को असत् मानो । सत्यरूप और निर्मल तो मैं ही हूँ । शास्त्रों को, वेदों को, श्रवण को असत् मानो । मैं ही एक सत्य चिदात्मक हूँ । ब्रह्मा-विष्णु-महेश की तीन मूर्तियों को असत् मानो । सब प्राणिसमूह को असत् मानो । सर्व भूतों को (पाँच भूतों को) असत् मानो । मैं ही सर्वव्यापक सदाशिव हूँ । गुरु-शिष्य को असत् मानो पर मुझे ऐसा नहीं मानो ।

यच्चिन्त्यं तदसद्विद्धि यन्न्याय्यं तदसत्सदा ।
यद्धितं तदसद्विद्धि न मां विद्धि तथाविधम् ॥53॥
सर्वान्प्राणानसद्विद्धि सर्वान्भोगानसत्त्विति ।
दृष्टं श्रुतमसद्विद्धि ओतं प्रोतमसन्मयम् ॥54॥
कार्याकार्यमसद्विद्धि नष्टं प्राप्तमसन्मयम् ।
दुःखादुःखमसद्विद्धि सर्वासर्वमसन्मयम् ॥55॥
पूर्णापूर्णमसद्विद्धि धर्माधर्ममसन्मयम् ।
लाभालाभावसद्विद्धि जयाजयमसन्मयम् ॥56॥

जो चिन्तनीय है उसे असत् मानो और जो तर्कपूत-न्याय्य है उसे भी असत् मानो । जो हित है उसे असत् मानो । पर मुझे ऐसा नहीं मानना चाहिए । सभी प्राणों को मिथ्या मानो, सब भोगों को मिथ्या मानो, जो दृष्ट और श्रुत है उसे भी मिथ्या मानो, जो ओत-प्रोत है उसे मिथ्या मानो, कार्याकार्य को मिथ्या समझो, जो नष्ट है या जो प्राप्त है उसे भी मिथ्या मानो, दुःख और अदुःख को भी झूठा समझो, सर्व और असर्व को भी असत् मान लो, पूर्ण और अपूर्ण को मिथ्या जानो, जय और पराजय को भी मिथ्या ही मान लो ।

शब्दं सर्वमसद्विद्धि स्पर्शं सर्वमसत्सदा ।
रूपं सर्वमसद्विद्धि रसं सर्वमसन्मयम् ॥57॥
गन्धं सर्वमसद्विद्धि सर्वाज्ञानमसन्मयम् ।
असदेव सदा सर्वमसदेव भवोद्भवम् ॥58॥
असदेव गुणं सर्वं सन्मात्रमहमेव हि ।
स्वात्ममन्त्रं सदा पश्येत् स्वात्ममन्त्रं सदाभ्यसेत् ॥59॥
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं दृश्यपापं विनाशयेत् ।
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयमन्यमन्त्रं विनाशयेत् ॥60॥

सभी शब्द को, सभी स्पर्श को, सभी रूप को, सभी रस को, सभी गन्ध को हमेशा के लिए असत् (मिथ्या) ही जानो और सभी अज्ञान को भी मिथ्या ही मानो । सब कुछ सदैव असत् ही है । इस संसार में उत्पन्न हुआ सब कुछ मिथ्या ही है । सभी गुण भी असत् हैं । सत् तो केवल मैं ही हूँ । अपने

आत्मरूप मन्त्र का सदा दर्शन करते ही रहना चाहिए और उसी - अपने आत्मा के मन्त्र का - अभ्यास (रटन) करना चाहिए। 'मैं ब्रह्म हूँ'—यह आत्म मन्त्र दृश्य (दिखाई देने वाले) पाप का नाश करता है, और वही 'मैं ब्रह्म हूँ' का आत्ममन्त्र अन्य मन्त्रों का भी विनाश कर देता है।

अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं देहदोषं विनाशयेत्।
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं जन्मपापं विनाशयेत् ॥61॥
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं मृत्युपाशं विनाशयेत्।
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं द्वैतदुःखं विनाशयेत् ॥62॥
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं भेदबुद्धिं विनाशयेत्।
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं चिन्तादुःखं विनाशयेत् ॥63॥
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं बुद्धिव्याधिं विनाशयेत्।
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं चित्तबन्धं विनाशयेत् ॥64॥

'मैं ब्रह्म हूँ' – 'अहं ब्रह्मास्मि' – यह मन्त्र देह के दोषों का नाश करता है, यही मन्त्र जन्मों के पाप का नाश करता है, यही मन्त्र मृत्यु के बन्धन का नाश करता है, यह मन्त्र द्वैत के दुःखों का नाश कर देता है। यही मन्त्र भेदबुद्धि का नाश करता है, यह मन्त्र चिन्ता से उत्पन्न होने वाली पीडा को हटा देता है, यह मन्त्र बुद्धिरूपी व्याधि का नाश करता है, यह मन्त्र चित्तरूपी बन्धन को नष्ट कर देता है।

अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं सर्वव्याधीन् विनाशयेत्।
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं सर्वशोकं विनाशयेत् ॥65॥
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं कामादीन्नाशयेत्क्षणात्।
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं क्रोधशक्तिं विनाशयेत् ॥66॥
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं चित्तवृत्तिं विनाशयेत्।
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं संकल्पादीन्विनाशयेत् ॥67॥
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं कोटिदोषं विनाशयेत्।
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं सर्वतन्त्रं विनाशयेत् ॥68॥

यह 'अहं ब्रह्मास्मि' मन्त्र सभी व्याधियों का विनाश कर देता है, यही मन्त्र सब शोक को मिटा देता है, यही मन्त्र एक क्षण में कामादि दोषों को दूर कर देता है। यही मन्त्र क्रोधशक्ति का नाश कर देता है, यही मन्त्र चित्तवृत्ति का शमन कर देता है, यही मन्त्र संकल्पादि को नष्ट कर देता है, यही मन्त्र करोड़ों दोषों का नाश करता है और यही मन्त्र सब तन्त्रों का भी नाश कर देता है।

अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयमात्माज्ञानं विनाशयेत्।
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयमात्मलोकजयप्रदः ॥69॥
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयमप्रतर्क्यसुखप्रदः।
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयमजडत्वं प्रयच्छति ॥70॥
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयमनात्मासुरमर्दनः।
अहं ब्रह्मास्मि वज्रोऽयमनात्माख्यगिरीन्हरेत् ॥71॥
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयमनात्माख्यासुरान्हरेत्।
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं सर्वांस्तान्मोक्षयिष्यति ॥72॥

यह 'अहं ब्रह्मास्मि' मन्त्र आत्मा के अज्ञान को दूर करता है, यह मन्त्र आत्मलोक को जीतता है, यही मन्त्र अकल्पनीय सुख देने वाला है, यही मन्त्र अजडत्व (चैतन्य) को देने वाला है, यह मन्त्र अनात्मारूपी असुर का नाश करने वाला है, यह मन्त्र अनात्मारूप पर्वत को तोड़ने वाला वज्र है। यह मन्त्र अनात्मा रूपी असुरों का नाश करने वाला है, यह मन्त्र सभी उपासकों को मोक्ष ही देने वाला है।

अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं ज्ञानानन्दं प्रयच्छति।
सप्तकोटिमहामन्त्रं जन्मकोटिशतप्रदम् ॥73॥
सर्वतन्त्रान्समुत्सृज्य एतं मन्त्रं समभ्यसेत्।
सद्यो मोक्षमवाप्नोति नात्र सन्देहमण्वपि ॥74॥

इति तृतीयोऽध्यायः।

'मैं ब्रह्म हूँ' – 'अहं ब्रह्मास्मि'—यह मन्त्र ज्ञान का आनन्द देता है। और यह मन्त्र सात करोड़ महामन्त्रों की समानता रखता है, और करोड़ों जन्मों के बन्धनों को काट डालता है। इसलिए अन्य सभी मन्त्रों को छोड़कर इसी मन्त्र का अभ्यास करना चाहिए, जिससे मनुष्य तुरन्त ही मोक्ष को प्राप्त कर लेता है, इसमें कोई भी सन्देह नहीं है।

यहाँ तीसरा अध्याय पूरा हुआ।

❈

चतुर्थोऽध्यायः

कुमारः परमेश्वरं पप्रच्छ जीवन्मुक्तविदेहमुक्तयोः स्थितिमनुब्रूहीति। स होवाचः परः शिवः—

कुमार ने परमेश्वर से पूछा—'जीवन्मुक्त और विदेहमुक्त की स्थिति कहिए'। तब वह परमशिव बोले—

चिदात्माहं परात्माहं निर्गुणोऽहं परात्परः।
आत्ममात्रेण यस्तिष्ठेत्स जीवन्मुक्त उच्यते ॥1॥
देहत्रयातिरिक्तोऽहं शुद्धचैतन्यमस्म्यहम्।
ब्रह्माहमिति यस्यान्तः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥2॥
आनन्दघनरूपोऽस्मि परानन्दघनोऽस्म्यहम्।
यस्य देहादिकं नास्ति यस्य ब्रह्मेति निश्चयः।
परमानन्दपूर्णो यः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥3॥
यस्य किंचिदहं नास्ति चिन्मात्रेणावतिष्ठते।
चैतन्यमात्रो यस्यान्तश्चिन्मात्रैकस्वरूपवान् ॥4॥

'मैं चिदात्मा हूँ, मैं परमात्मा हूँ, मैं निर्गुण हूँ, मैं पर से भी परे हूँ'—इस प्रकार जो मनुष्य केवल आत्मा में ही अवस्थित होता है, वह जीवन्मुक्त कहा जाता है। 'मैं स्थूल-सूक्ष्म-कारण, इन तीनों देहों से अलग हूँ, मैं शुद्ध चैतन्य स्वरूप हूँ, मैं ब्रह्म हूँ'—इस प्रकार का चिन्तन जिसके अन्तःकरण में होता रहता हो, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। 'मैं आनन्दरूप हूँ, मैं परमानन्दघन हूँ'—ऐसे विचार से जिसका

देह आदि से कोई सम्बन्ध ही नहीं रहता और 'मैं ब्रह्म ही हूँ' ऐसा जिसको निश्चय हो चुका हो और जो परमानन्द से पूर्ण हो गया हो, उसे 'जीवन्मुक्त' कहा जाता है। जिसमें किसी भी प्रकार का 'अहंभाव' नहीं है, जो केवल चिन्मात्र भाव में अवस्थित रहता है, जिसके अंतस् में केवल चैतन्य ही रममाण होने से जो केवल चिन्मात्ररूप स्वरूप वाला रहता है।

सर्वत्र पूर्णरूपात्मा सर्वत्रात्मावशेषकः।
आनन्दरतिरव्यक्तः परिपूर्णश्चिदात्मकः ॥5॥
शुद्धचैतन्यरूपात्मा सर्वसङ्गविवर्जितः।
नित्यानन्दः प्रसन्नात्मा ह्यन्यचिन्ताविवर्जितः ॥6॥
किञ्चिदस्तित्वहीनो यः स जीवन्मुक्त उच्यते।
न मे चित्तं न मे बुद्धिर्नाहङ्कारो न चेन्द्रियम् ॥7॥

वह सर्वत्र व्यापक पूर्ण आत्मरूप में रहता है, सभी व्याप्य पदार्थों के बाद भी वह शेष रहता है। वह अपने आनंद में ही प्रेम रखता है। वह अव्यक्त है, परिपूर्ण है, चैतन्यात्मक है, शुद्ध चैतन्य स्वरूपवाला है, सभी प्रकार की आसक्ति से वह मुक्त है, नित्यानन्दस्वरूप है, सदैव प्रसन्न रहता है। आत्मातिरिक्त किसी अन्य विचार से वह रहित होता है। आत्मातिरिक्त अन्य किसी अस्तित्व को वह नहीं मानता; ऐसा जो मनुष्य होता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। वह ऐसा सोचता है कि यह चित्त, यह बुद्धि, ये इन्द्रियाँ—सब कुछ मेरा नहीं है। (और भी—)

न मे देहः कदाचिद् वा न मे प्राणादयः क्वचित्।
न मे माया न मे कामो न मे क्रोधः परोऽस्म्यहम् ॥8॥
न मे किञ्चिदिदं वापि न मे किञ्चित्क्वचिज्जगत्।
न मे दोषो न मे लिङ्गं न मे चक्षुर्न मे मनः ॥9॥
न मे श्रोत्रं न मे नासा न मे जिह्वा न मे करः।
न मे जाग्रन्न मे स्वप्नं न मे कारणमण्वपि ॥10॥
न मे तुरीयमिति यः स जीवन्मुक्त उच्यते।
इदं सर्वं न मे किञ्चिदयं सर्वं न मे क्वचित् ॥11॥

देह कभी मेरा नहीं है, प्राण आदि मेरे नहीं हैं, माया मेरी नहीं है, कामना मेरी नहीं है, क्रोध मेरा नहीं है, मैं तो सबसे परे हूँ। यह जो कुछ है वह मेरा नहीं है, कोई भी, कहीं भी, कभी भी यह जगत् मेरा नहीं है, दोष मेरा नहीं, जाति या चिह्न मेरा नहीं, आँख मेरी नहीं, मन मेरा नहीं, कान भी मेरा नहीं, नाक भी मेरा नहीं, जीभ मेरी नहीं, जाग्रत् मुझे नहीं, स्वप्न भी मेरा नहीं, मेरा कारण अणु भी नहीं है। मेरी कोई तुरीयावस्था भी नहीं है—ऐसा सोचने वाला जीवन्मुक्त कहा जाता है। वह आगे सोचता रहता है कि यह दिखाई देने वाला कुछ भी मेरा नहीं है और वह भी मेरा नहीं है (अर्थात् मैं निर्लेप हूँ)।

न मे कालो न मे देशो न मे वस्तु न मे मतिः।
न मे स्नानं न मे सन्ध्या न मे दैवं न मे स्थलम् ॥12॥
न मे तीर्थं न मे सेवा न मे ज्ञानं न मे पदम्।
न मे बन्धो न मे जन्म न मे वाक्यं न मे रविः ॥13॥

न मे पुण्यं न मे पापं न मे कार्यं न मे शुभम् ।
न मे जीव इति स्वात्मा न मे किञ्चिज्जगत्त्रयम्॥14॥
न मे मोक्षो न मे द्वैतं न मे वेदो न मे विधिः ।
न मेऽन्तिकं न मे दूरं न मे बोधो न मे रहः ॥15॥

काल मेरा नहीं है, देश मेरा नहीं है, वस्तु मेरी नहीं है, बुद्धि मेरी नहीं है, स्नान मेरा नहीं, सन्ध्या मेरी नहीं, दैव मेरा नहीं, स्थल मेरा नहीं है। मेरा तीर्थ नहीं, मेरी सेवा नहीं, मेरा ज्ञान नहीं, मेरा स्थान नहीं, मेरा बन्ध नहीं, मेरा जन्म नहीं, मेरा वाक्य नहीं, मेरा सूर्य नहीं है, मेरा पुण्य नहीं, मेरा पाप नहीं, मेरा कार्य नहीं, मेरा शुभ नहीं, मेरा जीव नहीं, मैं स्वयं आत्मा हूँ, ये तीनों जगत् में से मेरा कुछ भी नहीं है। मेरा मोक्ष नहीं है, द्वैत मेरा नहीं है, वेद मेरा नहीं, विधि मेरा नहीं, मेरे लिए कोई नजदीकी या दूरी भी नहीं है, मेरा कोई ज्ञान नहीं, मेरा कोई एकान्त नहीं है।

न मे गुरुर्न मे शिष्यो न मे हीनो न चाधिकः ।
न मे ब्रह्मा न मे विष्णुर्न मे रुद्रो न चन्द्रमाः ॥16॥
न मे पृथ्वी न मे तोयं न मे वायुर्न मे वियत् ।
न मे वह्निर्न मे गोत्रं न मे लक्ष्यं न मे भवः ॥17॥
न मे ध्याता न मे ध्येयं न मे ध्यानं न मे मनुः ।
न मे शीतं न मे चोष्णं न मे तृष्णा न मे क्षुधा ॥18॥
न मे मित्रं न मे शत्रुर्न मे मोहो न मे जयः ।
न मे पूर्वं न मे पश्चान्न मे चोर्ध्वं न मे दिशः ॥19॥

मेरा कोई गुरु नहीं, कोई शिष्य नहीं, मुझसे कोई हल्का या निम्न नहीं, कोई उच्च भी नहीं, मेरे लिए कोई ब्रह्मा नहीं, कोई विष्णु नहीं, कोई रुद्र नहीं, कोई चन्द्र नहीं है। मेरी कोई पृथ्वी नहीं, कोई जल नहीं, कोई वायु नहीं, मेरा कोई आकाश नहीं है। मेरा कोई अग्नि नहीं, कोई गोत्र नहीं, कोई लक्ष्य नहीं, मेरा कोई संसार ही नहीं है। मेरा कोई ध्याता नहीं, कोई ध्येय नहीं, कोई ध्यान नहीं, मेरा कोई मन्त्र नहीं है (अथवा कालमान नहीं है)। मेरे लिए कोई शीत नहीं, कोई उष्ण नहीं है, मेरी कोई तृष्णा नहीं है, कोई क्षुधा भी नहीं है। मेरा कोई मित्र नहीं, कोई शत्रु भी नहीं है। मुझे किसी का मोह नहीं है, मेरा कोई विजय नहीं है। मेरे लिए कोई पूर्व नहीं, पश्चिम नहीं, ऊपर भी कुछ नहीं, दिशाएँ भी नहीं है।

न मे वक्तव्यमल्पं वा न मे श्रोतव्यमण्वपि ।
न मे गन्तव्यमीषद्वा न मे ध्यातव्यमण्वपि ॥20॥
न मे भोक्तव्यमीषद्वा न मे स्मर्तव्यमण्वपि ।
न मे भोगो न मे रागो न मे यागो न मे लयः ॥21॥
न मे मौर्ख्यं न मे शान्तं न मे बन्धो न मे प्रियम् ।
न मे मोदः प्रमोदो वा न मे स्थूलं न मे कृशम् ॥22॥
न मे दीर्घं न मे ह्रस्वं न मे वृद्धिर्न मे क्षयः ।
अध्यारोपोऽपवादो वा न मे चैकं न मे बहु ॥23॥

मेरा कुछ बोलने का नहीं है, सुनने का भी कुछ नहीं है। कहीं जाने का भी नहीं है। कुछ ध्यान करने का भी मेरे लिए नहीं है। मेरे लिए कुछ भोगने का भी नहीं और स्मरणीय भी कुछ नहीं है। मेरा

कोई भोग नहीं है, राग नहीं है, कोई याग नहीं है, कोई लय भी नहीं है। मुझमें मूर्खता नहीं है, मेरी शान्ति नहीं, मेरा कोई बन्ध नहीं, कोई मेरा प्रिय नहीं है, कोई मेरा आनन्द नहीं, कोई प्रमोद नहीं, कोई स्थूल और दुबला-पतला भी मेरा नहीं है। मेरा न दीर्घ है, न ह्रस्व है। बुद्धि मेरी नहीं है, क्षय भी मेरा नहीं है। मुझमें किसी का अध्यारोप नहीं होता, मुझसे कोई अपवाद भी नहीं किया जाता। मैं न एक हूँ, न बहुत हूँ।

न मे आन्ध्यं न मे मान्द्यं न मे पट्विदमण्वपि।
न मे मांसं न मे रक्तं न मे मेदो न मे ह्यसृक् ॥24॥
न मे मज्जा न मेऽस्थिर्वा न मे त्वग्धातुसप्तकम्।
न मे शुक्लं न मे रक्तं न मे नीलं न मे पृथक् ॥25॥
न मे तापो न मे लाभो मुख्यं गौणं न मे क्वचित्।
न मे भ्रान्तिर्न मे स्थैर्यं न मे गुह्यं न मे कुलम् ॥26॥
न मे त्याज्यं न मे ग्राह्यं न मे हास्यं न मे नयः।
न मे वृत्तं न मे ग्लानिर्न मे शोष्यं न मे सुखम् ॥27॥

मेरे लिए कुछ अन्धापन नहीं है, कोई मन्दता नहीं है। मेरे लिए यह जरा-सा भी कुछ अच्छा नहीं है। मांस मेरा नहीं, लहू मेरा नहीं, चरबी मेरी नहीं, हड्डियाँ मेरी नहीं हैं, त्वक् मेरी नहीं, इस प्रकार सातों धातुएँ मेरी नहीं हैं। सफेद मेरा नहीं, लाल मेरा नहीं, हरा मेरा नहीं है। फिर भी मुझसे कोई अलग भी नहीं है। मेरा ताप नहीं, मेरा लाभ नहीं, मेरा मुख्य नहीं, मेरा गौण नहीं है। मुझे कहीं भी भ्रान्ति नहीं है, स्थिरता भी मेरी नहीं है, मुझे कोई गोपनीय नहीं है और मेरा कोई कुल नहीं है। मेरे लिए कुछ त्याज्य भी नहीं और ग्राह्य भी नहीं है। मेरा कोई हास्य नहीं है, मेरी कोई नीति भी नहीं है। मेरा कोई वर्तन नहीं है और मुझे कोई ग्लानि नहीं है। मेरे लिए कोई शोष्य नहीं है और मेरा कोई सुख नहीं है।

न मे ज्ञाता न मे ज्ञानं न मे ज्ञेयं न मे स्वयम्।
न मे तुभ्यं न मे मह्यं न मे त्वं च न मे त्वहम् ॥28॥
न मे जरा न मे बाल्यं न मे यौवनमण्वपि।
अहं ब्रह्मास्म्यहं ब्रह्मास्म्यहं ब्रह्मेति निश्चयः ॥29॥
चिदहं चिदहं चेति स जीवन्मुक्त उच्यते।
ब्रह्मैवाहं चिदेवाहं परो वाहं न संशयः ॥30॥
स्वयमेव स्वयं हंसः स्वयमेव स्वयं स्थितः।
स्वयमेव स्वयं पश्येत् स्वात्मराज्ये सुखं वसेत्।
स्वात्मानन्दं सदा पश्येत् स जीवन्मुक्त उच्यते ॥31॥

मेरा कोई ज्ञाता नहीं है, मेरा कोई ज्ञान नहीं है, कोई ज्ञेय नहीं है, मैं स्वयं ही हूँ। मेरा कुछ तुम्हारे लिए नहीं है, मेरा कुछ मेरे लिए भी नहीं है, मेरा तू नहीं है, मेरा मैं भी नहीं हूँ। मुझे वृद्धत्व नहीं, मुझे बचपन नहीं, मुझे थोड़ा-सा यौवन भी नहीं है। 'मैं ब्रह्म हूँ, मैं ब्रह्म हूँ, मैं ब्रह्म हूँ'—बस, इतना ही निश्चय है। मैं चित्स्वरूप हूँ, चिद्रूप ही हूँ ऐसा जो सोचता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। मैं ब्रह्म हूँ, मैं चिद्रूप हूँ, मैं सबसे परे हूँ इसमें कोई शंका नहीं है। ऐसा मनुष्य स्वयं ही स्वयं में रहता है, वह स्वयं ही हंसरूप में अपने में अवस्थित रहता है। वह स्वयं ही स्वयं को देखता रहता है, वह अपने आत्मराज्य

में ही सुखपूर्वक रहता है और वह सदैव आत्मानन्द को देखता (आत्मानन्द में मग्न रहता) है, उसे जीवन्मुक्त कहा जाता है।

स्वयमेवैकवीरोऽग्रे स्वयमेव प्रभुः स्मृतः।
स्वस्वरूपे स्वयं स्वप्स्येत् स जीवन्मुक्त उच्यते ॥32॥

जो स्वयं ही एक वीर की तरह आगे अग्रसर होता है, वह प्रभु कहलाता है। वह अपने ही स्वरूप में सोता भी है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है।

ब्रह्मभूतः प्रशान्तात्मा ब्रह्मानन्दमयः सुखी।
स्वच्छभूतो महामौनी वैदेही मुक्त एव सः ॥33॥
सर्वात्मा समरूपात्मा शुद्धात्मा त्वहमुत्थितः।
एकवर्जित एकात्मा सर्वात्मा स्वात्ममात्रकः ॥34॥
अजात्मा चामृतात्माऽहं स्वयमात्माहमव्ययः।
लक्ष्यात्मा ललितात्माहं तूष्णीमात्मस्वरूपवान् ॥35॥
आनन्दात्मा प्रियो ह्यात्मा मोक्षात्मा बन्धवर्जितः।
ब्रह्मैवाहं चिदेवाहमेवं वाऽपि न चिन्त्यते ॥36॥
चिन्मात्रेणैव यस्तिष्ठेद् वैदेही मुक्त एव सः ॥37॥

जो ब्रह्मरूप हो गया हो, अत्यन्त शान्त मनवाला हो, ब्रह्मानन्दमय होते हुए जो सुखी, निर्मल, बड़ा मौनव्रती हो, वह विदेहमुक्त ही है। जो सबका आत्मरूप हो, समान रूप से आत्मा हो और 'मैं शुद्धात्मा हूँ'—इस प्रकार का उत्थान प्राप्त करने वाला हो, वह विदेहमुक्त ही है। एक संख्या से रहित फिर भी एकस्वरूप हो, सर्वस्वरूप हो, आत्माराम हो, वह अजन्मा, अमर, अव्यय है। जो आत्मा को ही लक्ष्य में रखे हुए हो और स्वयं को उसी का स्वरूप मानता हो, जो चुपचाप आत्मस्वभावस्थ हो, जो आनन्दस्वरूप हो, प्रिय-आत्मा मोक्षात्मा हो, बन्ध से मुक्त हो, 'मैं ब्रह्म ही हूँ', 'मैं चिद्रूप ही हूँ'—ऐसा विचार तक नहीं किया जाता (विचार भी छोड़ दिया जाता है)। जो इस तरह चिन्मात्र में ही अवस्थित रहता है, वह विदेहमुक्त ही है।

निश्चयं च परित्यज्य अहं ब्रह्मेति निश्चयम्।
आनन्दभरितस्वान्तो वैदेही मुक्त एव सः ॥38॥
सर्वमस्तीति नास्तीति निश्चयं त्यज्य तिष्ठति।
अहं ब्रह्मास्मि नास्मीति सच्चिदानन्दमात्रकः ॥39॥
किञ्चित्क्वचित्कदाचिच्च आत्मानं व स्पृशत्यसौ।
तूष्णीमेव स्थितस्तूष्णीं तूष्णीं सत्यं न किञ्चन ॥40॥

'यह सब कुछ है या नहीं है ?'—इस प्रकार के विचारों या निर्णयों को छोड़कर जो रहता है, इतना ही नहीं, मैं ब्रह्म हूँ या नहीं—ऐसे विचारों को और निश्चय को भी छोड़ देता है, अर्थात् निर्विचार हो जाता है, और अपने अन्तःकरण को केवल आनन्द से ही भर देता है, वह विदेहमुक्त ही है। जो केवल सच्चिदानन्दमात्र है, जो कुछ भी, कहीं भी, कभी भी आत्मा को स्पर्श नहीं करता, जो मौन रहता हो और जो मौन ही को सत्य मानता हो (वह विदेहमुक्त है)।

परमात्मा गुणातीतः सर्वात्मा भूतभावनः।
कालभेदं वस्तुभेदं देशभेदं स्वभेदकम् ॥41॥

किञ्चिद्भेदं न तस्यास्ति किञ्चिद्वापि न विद्यते ।
अहं त्वं तदिदं सोऽयं कालात्मा कालहीनकः ॥42॥
शून्यात्मा सूक्ष्मरूपात्मा विश्वात्मा विश्वहीनकः ।
देवात्मा देवहीनात्मा मेयात्मा मेयवर्जितः ॥43॥
सर्वत्र जडहीनात्मा सर्वेषामन्तरात्मकः ।
सर्वसङ्कल्पहीनात्मा चिन्मात्रोऽस्मीति सर्वदा ॥44॥

परमात्मा गुणातीत है, वह सर्वात्मा, सर्व भूतों का रक्षक हैं। उसमें न कालभेद है, न वस्तुभेद है, न देशभेद है या न तो कोई स्वगतभेद ही है। किसी भी प्रकार का उसमें भेद नहीं है। उसमें मैं-तू-वह-यह—ऐसा कुछ भी नहीं है। वह कालात्मा होते हुए भी कालहीन है, वह शून्यात्मा है, सूक्ष्मात्मा है, विश्वात्मा हुए भी विश्वविहीन है। वह देवात्मा और देवहीनात्मा दोनों है। मेयात्मा – प्रमेयस्वरूप होते हुए भी मेयवर्जित (प्रमेयहीन) है। वह सर्वत्र जड़हीन (चैतन्यरूप) आत्मा है। वही सबका अंतरात्मा है। वह सभी संकल्पों से रहित स्वरूपवाला है। वह पूर्ववर्णित चिन्मय आत्मा सदा मैं ही हूँ।

केवलः परमात्माहं केवलो ज्ञानविग्रहः ।
सत्तामात्रस्वरूपात्मा नान्यत्किञ्चिज्जगद्भयम् ॥45॥
जीवेश्वरेति वाक् क्वेति वेदशास्त्राद्यहं त्विति ।
इदं चैतन्यमेवेति अहं चैतन्यमित्यपि ॥46॥
इति निश्चयशून्यो यो वैदेही मुक्त एव यः ।
चैतन्यमात्रसंसिद्धः स्वात्मारामः सुखासनः ॥47॥
अपरिच्छिन्नरूपात्मा अणुस्थूलादिवर्जितः ।
तुर्यतुर्यः परानन्दो वैदेही मुक्त एव सः ॥48॥

मैं केवल परमात्मा हूँ, केवल ज्ञानरूप शरीरवाला हूँ, केवल सत्ता ही मेरा स्वरूप है और किसी जगत् जैसा भय है ही नहीं। 'जीव' और 'ईश्वर'—ऐसी वाणी कहाँ है ? वेद और शास्त्र मैं ही हूँ। मैं यह चैतन्य ही हूँ। अरे ! 'मैं चैतन्य हूँ'—ऐसा विचार भी जिसमें न रहा हो, वह विदेहमुक्त ही है। जो केवल चैतन्यरूप से ही सिद्ध हुआ हो, अपने आत्मा में ही रममाण रहता हो, सुखपूर्वक बैठा रहता हो, अपरिमेय आत्मस्वरूप बन गया हो, स्थूल-सूक्ष्मादि से ऊपर उठ गया हो, तुरीय का भी तुरीय बन चुका हो, वह विदेहमुक्त ही है।

नामरूपविहीनात्मा परसंवित्सुखात्मकः ।
तुरीयातीतरूपात्मा शुभाशुभविवर्जितः ॥49॥
योगात्मा योगयुक्तात्मा बन्धमोक्षविवर्जितः ।
गुणागुणविहीनात्मा देशकालादिवर्जितः ॥50॥
साक्ष्यसाक्षित्वहीनात्मा किञ्चित्किञ्चिन्न किञ्चन ।
यस्य प्रपञ्चमानं न ब्रह्माकारमपीह न ॥51॥
स्वस्वरूपे स्वयंज्योतिः स्वस्वरूपे स्वयंरतिः ।
वाचामगोचरानन्दो वाङ्मनोऽगोचरः स्वयम् ॥52॥

जिसका स्वरूप नाम-रूप से रहित बन चुका हो, जिसका आत्मा उत्कृष्ट ज्ञानमय हो गया हो, जो तुरीय से पर स्वरूपवाला हो गया हो, जो शुभ-अशुभ से ऊपर उठ गया हो, जो योगरूप और योग से युक्त आत्मा वाला भी हो, जिसका कोई बन्ध और मोक्ष न हो, जो गुण या अगुण दोनों से रहित हो, देश और काल से रहित हो, साक्षित्व और असाक्षित्व से परे हो, जिसकी दृष्टि में 'कुछ-कुछ' और 'कुछ नहीं' जैसी कोई बात न हो, जिसको न तो संसार का भान है, न ब्रह्म का भी भान है, केवल अपनी ज्योति से अपने स्वरूप में रहता हो, अपने में ही रममाण हो, जो आनंद वाणी का विषय नहीं है, वह वाणी और मन का भविष्य जो है (वह विदेहमुक्त ही है)।

अतीतातीतभावो यो वैदेही मुक्त एव सः।
चित्तवृत्तेरतीतो यश्चित्तवृत्त्यवभासकः ॥53॥
सर्ववृत्तिविहीनात्मा वैदेही मुक्त एव सः।
तस्मिन्काले विदेहीति देहस्मरणवर्जितः ॥54॥
ईषन्मात्रं स्मृतं चेद्यस्तदा सर्वसमन्वितः।
परैरदृष्टबाह्यात्मा परमानन्दचिद्घनः ॥55॥
परैरदृष्टबाह्यात्मा सर्ववेदान्तगोचरः।
ब्रह्मामृतरसास्वादो ब्रह्मामृतरसायनः ॥56॥

जो चित्त की वृत्तियों से परे रहा हो, जो चित्त की वृत्तियों का प्रकाशक बन गया हो, जो स्वयं सभी चित्तवृत्तियों से रहित हो, वह विदेहमुक्त ही है। उस समय, 'मैं विदेहमुक्त हूँ'—ऐसे ज्ञान से उसे देहभान नहीं रहता। उसे थोड़ा-सा स्मरण यही है कि वह सबके साथ रहता है। फिर भी उसे बाहर के अन्य लोग पहचान नहीं पाते। वह स्वयं तो आनन्दरूप और चैतन्यमय ही होता है। उसका आत्मा बाह्य रूप से देखा नहीं जा सकता। वह सर्व वेदान्तों का विषय है। ब्रह्मरूप अमृतरस का उसे अब स्वाद लग गया है। ब्रह्मरूप अमृतरस का वह आश्रय बना हुआ रहता है।

ब्रह्मामृतरसासक्तो ब्रह्मामृतरसः स्वयम्।
ब्रह्मामृतरसे मग्नो ब्रह्मानन्दशिवार्चनः ॥57॥
ब्रह्मामृतरसे तृप्तो ब्रह्मानन्दानुभावकः।
ब्रह्मानन्दशिवानन्दो ब्रह्मानन्दरसप्रभः ॥58॥
ब्रह्मानन्दपरं ज्योतिर्ब्रह्मानन्दनिरन्तरः।
ब्रह्मानन्दरसान्नादो ब्रह्मानन्दकुटुम्बकः ॥59॥
ब्रह्मानन्दरसारूढो ब्रह्मानन्दैकचिद्घनः।
ब्रह्मानन्दरसोद्वाहो ब्रह्मानन्दरसम्भरः ॥60॥

वह विदेहमुक्त ब्रह्मानन्दरस में आसक्त होकर स्वयं ब्रह्मात्मकरस बन जाता है। ब्रह्मामृतरस में डूबकर वह ब्रह्मानन्दरस का ही शिवार्चन करता है। ब्रह्मामृतरस से वह तृप्त होता है, ब्रह्मानन्दरस का अनुभव करता रहता है। ब्रह्मानन्दरूप मंगलकारी उसका आनंद होता है, ब्रह्मानन्दरस ही उसका तेज होता है। वह ब्रह्मानन्दरूप परम ज्योति का अनुभव करता रहता है। वह निरंतर ब्रह्मानन्द से व्याप्त रहता है ब्रह्मानन्द रस रूप अन्न को ही वह खाता रहता है। ब्रह्मानन्द ही उसका कुटुम्ब होता है। वह ब्रह्मानन्दरस पर आरूढ रहता है। ब्रह्मानन्दरूप एक समान रस से वह तरबतर रहता है। ब्रह्मानन्द के रस को वह वहन करता है। वह ब्रह्मानन्द रस से भरपूर रहता है।

ब्रह्मानन्दजनैर्युक्तो ब्रह्मानन्दात्मनि स्थितः ।
आत्मरूपमिदं सर्वमात्मनोऽन्यन्न किंचन ॥61॥
सर्वमात्माऽहमात्मास्मि परमात्मा परात्मकः ।
नित्यानन्दस्वरूपात्मा वैदेही मुक्त एव सः ॥62॥
पूर्णरूपो महानात्मा प्रीतात्मा शाश्वदात्मकः ।
सर्वान्तर्यामिरूपात्मा निर्मलात्मा निरात्मकः ॥63॥
निर्विकारस्वरूपात्मा शुद्धात्मा शान्तरूपकः ।
शान्ताशान्तस्वरूपात्मा नैकात्मत्वविवर्जितः ॥64॥

वह ब्रह्मानन्दरूप लोगों के साथ रहता है, वह ब्रह्मानन्दरूप आत्मा में अवस्थित है, उसके लिए यह सब कुछ आत्मरूप ही है, आत्मा से अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। यह सब कुछ आत्मा ही है और मैं वही आत्मा हूँ, मैं ही सबसे परे परमात्मा हूँ। वह आत्मा नित्य आनन्दस्वरूप ही है और ऐसे आत्मा वाला वह मनुष्य विदेहमुक्त ही है। वह पूर्णरूप महान् आत्मा है, वह प्रसन्न आत्मा है। वह शाश्वतरूप आत्मा है, वह सर्वान्तर्यामी है, वह विशुद्ध है, वह आत्मभाव से रहित है। वह निर्विकारस्वरूप है। वह शुद्धात्मा, शान्तस्वरूप, शान्त-अशान्तस्वरूपात्मक, अनेक आत्माओं की भावना से रहित है।

जीवात्मपरमात्मेति चिन्तासर्वस्ववर्जितः ।
मुक्तामुक्तस्वरूपात्मा मुक्तामुक्तविवर्जितः ॥65॥
बन्धमोक्षस्वरूपात्मा बन्धमोक्षविवर्जितः ।
द्वैताद्वैतस्वरूपात्मा द्वैताद्वैतविवर्जितः ॥66॥
सर्वासर्वस्वरूपात्मा सर्वासर्वविवर्जितः ।
मोदप्रमोदरूपात्मा मोदादिविनिवर्जितः ॥67॥
सर्वसंकल्पहीनात्मा वैदेही मुक्त एव सः ।
निष्कलात्मा निर्मलात्मा बुद्धात्मा पुरुषात्मकः ॥68॥

वह जीवात्मा और परमात्मा के भेद जैसी सभी चिन्ताओं (विकारों) से पूर्ण मुक्त होता है। वह मुक्तामुक्त दोनों स्वरूप वाला होते हुए भी उन दोनों मुक्त-अमुक्त स्वरूप से रहित है। वह बन्ध-मोक्ष दोनों स्वरूप वाला होते हुए भी उन दोनों (बन्धन और मोक्ष) से रहित है। वह द्वैत-अद्वैत स्वरूपी होते हुए भी वह द्वैत-अद्वैत से रहित है। वह सर्व-असर्व दोनों रूप होते हुए भी सर्व-असर्व से रहित है। वह मोदात्मक-प्रमोदात्मक होते हुए भी मोदादि से रहित है। वह सभी संकल्पों से रहित होता है। ऐसा वह विदेहमुक्त ही होता है। वह अंशरहित है, वह विशुद्ध ही है, वह बुद्ध है और पुरुषात्मा है।

आनन्दादिविहीनात्मा अमृतात्माभृतात्मकः ।
कालत्रयस्वरूपात्मा कालत्रयविवर्जितः ॥69॥
अखिलात्मा ह्यमेयात्मा मानात्मा मानवर्जितः ।
नित्यप्रत्यक्षरूपात्मा नित्यप्रत्यक्षनिर्णयः ॥70॥
अन्यहीनस्वभावात्मा अन्यहीनस्वयम्प्रभः ।
विद्याविद्यादिमेयात्मा विद्याविद्यादिवर्जितः॥71॥
नित्यानित्यविहीनात्मा इहामुत्रविवर्जितः ।
शमादिषट्कशून्यात्मा मुमुक्षुत्वादिवर्जितः ॥72॥

और भी वह तथाकथित आनन्द से रहित स्वरूपवाला, अमृतस्वरूप और अमृत का भी आत्मा, तीनों काल का स्वरूप होते हुए भी तीनों काल से रहित है। वह अखिलात्मा है, अमेयात्मा है - असीम है, वह सभी प्रमाणों का भी आत्मा है, वह किसी प्रमाण से गम्य नहीं है। वह सदैव प्रत्यक्ष है और सदैव प्रत्यक्ष का निर्णय भी है। वह अनन्य स्वभाववाला है, वह अनन्य स्वयंप्रकाशरूप है। विद्या-अविद्या आदि सीमित वस्तुओं का वह आत्मा है, फिर भी स्वयं विद्या और अविद्या से वर्जित है। उसे न नित्य कहा जा सकता है न ही अनित्य। उसमें यहाँ-वहाँ का कोई स्थलभेद नहीं है। शमदमादि षट्सम्पत् उसमें नहीं है, उसमें मुमुक्षुत्व भी नहीं।

स्थूलदेहविहीनात्मा सूक्ष्मदेहविवर्जितः।
कारणादिविहीनात्मा तुरीयादिविवर्जितः ॥73॥
अन्नकोशविहीनात्मा प्राणकोशविवर्जितः।
मनःकोशविहीनात्मा विज्ञानादिविवर्जितः ॥74॥
आनन्दकोशहीनात्मा पंचकोशविवर्जितः।
निर्विकल्पस्वरूपात्मा सविकल्पविवर्जितः ॥75॥
दृश्यानुविद्धहीनात्मा शब्दविद्धविवर्जितः।
सदा समाधिशून्यात्मा आदिमध्यान्तवर्जितः ॥76॥

उस विदेहमुक्त का आत्मा स्थूल देह से, सूक्ष्म देह से, कारण देह से और तुरीय देह से भी अलग ही है। वह अन्नमय कोश से रहित, प्राणमय कोश से रहित, मनोमय कोश से रहित और विज्ञानमय कोश आदि से भी रहित है। वह आनन्दमय कोश से भी रहित है, अर्थात् पंचकोशों से रहित है। वह निर्विकल्पस्वरूप आत्मावाला होता है, सविकल्पकात्मकता से वह रहित है। और भी उस विदेहमुक्त का आत्मा दृश्य के साथ जुड़ा हुआ नहीं रहता। किसी शब्द से भी वह सम्बद्ध नहीं है। वह सदैव समाधिशून्य रहता है और वह आदि-मध्य-अन्त हीन होता है।

प्रज्ञानवाक्यहीनात्मा अहंब्रह्मास्मिवर्जितः।
तत्त्वमस्यादिहीनात्मा अयमात्मेत्यभावकः ॥77॥
ओंकारवाच्यहीनात्मा सर्ववाच्यविवर्जितः।
अवस्थात्रयहीनात्मा अक्षरात्मा चिदात्मकः ॥78॥
आत्मज्ञेयादिहीनात्मा यत्किञ्चिदिदमात्मकः।
भानाभानविहीनात्मा वैदेही मुक्त एव सः ॥79॥
आत्मानमेव वीक्षस्व आत्मानं बोधय स्वकम्।
स्वमात्मानं स्वयं भुंक्ष्व स्वस्थो भव षडानन ॥80॥
स्वमात्मनि स्वयं तृप्तः स्वमात्मानं स्वयं चर।
आत्मानमेव मोदस्व वैदेही मुक्तिको भवेत् ॥81॥ इत्युपनिषत् ॥

इति चतुर्थोऽध्यायः।

उस विदेहमुक्त का स्वरूप 'प्रज्ञानं ब्रह्म' इस महावाक्य से रहित, 'अहं ब्रह्मास्मि' इस महावाक्य से रहित, 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य से रहित और 'अयमात्मा ब्रह्म' इस महावाक्य से भी रहित है।

उसका स्वरूप ओंकार से वाच्य नहीं है, क्योंकि वह सभी वाच्य शब्दों से हीन है। जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति ये तीन अवस्थाएँ उसकी नहीं हैं। वह अक्षर-अक्षय स्वरूप है, चिद्रूप है। और वह आत्मरूप से 'ज्ञेय' नहीं है। जो कुछ भी है वह उसी का स्वरूप है। वह भान और अभान से रहित है—वह विदेहमुक्त ऐसा होता है। तुम आत्मा को ही देखते रहो। हे कार्तिक स्वामी ! अपने आत्मा को ही ज्ञान कराओ। अपने आत्मा का ही तुम भोग करो और स्वस्थ बने रहो। अपने आत्मा से ही तुम तृप्त हो जाओ। अपने आत्मा में ही विचरण किया करो। आत्मा में ही आनन्द लिया करो और तुम भी वैसा ही विदेहमुक्त बन जाओ।' यह उपदेश है।

यहाँ चतुर्थ अध्याय पूरा हुआ।

❋

पञ्चमोऽध्यायः

निदाघो नाम वै मुनिः पप्रच्छ ऋभुं भगवन्तमात्मानात्मविवेकमनुब्रूहीति
स होवाच ऋभुः—
सर्ववाचोऽवधिर्ब्रह्म सर्वचिन्तावधिर्गुरुः।
सर्वकारणकार्यात्मा कार्यकारणवर्जितः ॥1॥

निदाघ नाम के मुनि ने भगवान् ऋभु से पूछा कि आप आत्मा और अनात्मा का विवेक कहिए। इस पर ऋभु ने कहा कि—

'ब्रह्म सभी वाणी की अवधि है, और गुरु सभी चिन्ताओं (चिन्तनों) की अवधि है। वह ब्रह्म सर्व कार्यकारणरूप है और फिर भी सभी कार्यकारणों से रहित भी है।

सर्वसंकल्परहितः सर्वनादमयः शिवः।
सर्ववर्जितचिन्मात्रः सर्वानन्दमयः परः ॥2॥
सर्वतेजःप्रकाशात्मा नादानन्दमयात्मकः।
सर्वानुभवनिर्मुक्तः सर्वध्यानविवर्जितः ॥3॥
सर्वनादकलातीतः एष आत्माहमव्ययः।
आत्मानात्मविवेकादिभेदाभेदविवर्जितः ॥4॥
शान्ताशान्तादिहीनात्मा नादान्तर्ज्योतिरूपकः।
महावाक्यार्थतो दूरो ब्रह्मास्मीत्यतिदूरतः ॥5॥
तच्छब्दवर्ज्यस्त्वंशब्दहीनो वाक्यार्थवर्जितः।
क्षराक्षरविहीनो यो नादान्तर्ज्योतिरेव सः ॥6॥

सर्व प्रकार के संकल्पों से रहित, सर्वनादमय, शिवरूप, सर्वपदार्थरहित, केवल चिद्रूप और सर्वानन्दमय ही परमात्मा है। सर्वतेज और सर्वप्रकाश के स्वरूप, नाद और आनंद का स्वरूप, सर्वप्रकार के अनुभवों से रहित, सभी ध्यान से भी रहित, सभी नादों और कलाओं से भी परे यह जो अव्यय आत्मा है, वह मैं हूँ। और मैं आत्मा तथा अनात्मा के विवेक से रहित हूँ। भेद-अभेद से भी ऊपर उठा हुआ हूँ। शान्त-अशान्त आदि के अभाववाला, नाद के भीतर की ज्योतिरूप, महावाक्यों के अर्थ से भी परे, 'ब्रह्मास्मि' वाक्य से तो बहुत ही दूर, 'तत्' शब्द से हीन, 'त्वं' शब्द से भी रहित, वाच्यार्थ से हीन, क्षर-अक्षर से रहित ऐसा जो नाद के भीतर का ज्योतिस्वरूप है, वही आत्मा है।

अखण्डैकरसो वाहमानन्दोऽस्मीति वर्जितः ।
सर्वातीतस्वभावात्मा नादान्तर्ज्योतिरेव सः ॥7॥
आत्मेति शब्दहीनो य आत्मशब्दार्थवर्जितः ।
सच्चिदानन्दहीनो य एषैवात्मा सनातनः ॥8॥
स निर्देष्टुमशक्यो यो वेदवाक्यैरगम्यतः ।
यस्य किञ्चिद्बहिर्नास्ति किञ्चिदन्तः कियन्न च ॥9॥
यस्य लिङ्गं प्रपञ्चं वा ब्रह्मैवात्मा न संशयः ।
नास्ति यस्य शरीरं वा जीवो वा भूतभौतिकः ॥10॥

मैं या तो अखण्डैकरस हूँ, और या तो आनन्दरूप से वर्जित भी हूँ। सबसे ऊपर उठे हुए स्वरूप वाला मैं हूँ, नाद के भीतर की ज्योति वह आत्मा शब्दहीन है। 'आत्मा' शब्द के अर्थ से भी वह रहित है। वह 'सच्चिदानन्द' शब्द से भी रहित है। वही सनातन आत्मा है। उसका निर्देश नहीं किया जा सकता अर्थात् वह बताया नहीं जा सकता। वह वेद के वाक्यों के द्वारा भी गम्य नहीं है। उसके बाहर कुछ नहीं है, उसके भीतर भी कुछ नहीं है। जिसका लिंगशरीर नहीं है, जिसका यह प्रपञ्च – जगत् भी नहीं है, वही ब्रह्म आत्मा है, इसमें कोई भी सन्देह नहीं है, जिसका शरीर भी नहीं है, जीव भी नहीं है अथवा भूत-भौतिक कुछ भी नहीं है।

नामरूपादिकं नास्ति भोज्यं वा भोगभुक्च वा ।
सद्वाऽसद्वा स्थितिर्वापि यस्य नास्ति क्षराक्षरम् ॥11॥
गुणं वा विगुणं वापि सम आत्मा न संशयः ।
यस्य वाच्यं वाचकं वा श्रवणं मननं च वा ॥12॥
गुरुशिष्यादिभेदं वा देवलोकाः सुरासुराः ।
यत्र धर्ममधर्मं वा शुद्धं वाऽशुद्धमण्वपि ॥13॥
यत्र कालमकालं वा निश्चयः संशयो न हि ।
यत्र मन्त्रममन्त्रं वा विद्याऽविद्या न विद्यते ॥14॥

जिसका कोई नाम-रूप नहीं है, जिसके लिए कुछ भोज्य नहीं है, जो किसी का भोक्ता नहीं है, जिसकी सत् या असत् जैसी कोई स्थिति नहीं है, जो न क्षर है न अक्षर है, जो न गुणयुक्त है न गुणहीन है, वह समान आत्मा है, इसमें कोई शंका नहीं है। उसमें वाच्य और वाचक का तथा श्रवण और मनन का कोई भेद नहीं है, गुरु-शिष्य आदि का भी कोई भेद नहीं है। जिसमें धर्म-अधर्म अथवा शुद्ध-अशुद्ध का लेशमात्र भी भेद नहीं है, जिससे देवलोक या सुर-असुर का कोई सरोकार नहीं है। उसमें काल या अकाल, निश्चय या संशय, मन्त्र या अमन्त्र, विद्या और अविद्या कुछ भी नहीं है।

द्रष्टृदर्शनदृश्यं वा ईषन्मात्रं कलात्मकम् ।
अनात्मेति प्रसङ्गो वा ह्यनात्मेति मनोऽपि वा ॥15॥
अनात्मेति जगद्वापि नास्ति नास्तीति निश्चिनु ।
सर्वसङ्कल्पशून्यत्वात्सर्वकार्यविवर्जनात् ॥16॥
केवलं ब्रह्ममात्रत्वान्नास्त्यनात्मेति निश्चिनु ।
देहत्रयविहीनत्वात्कालत्रयविवर्जनात् ॥17॥
जीवत्रयगुणाभावात् तापत्रयविवर्जनात् ।
लोकत्रयविहीनत्वात्सर्वमात्मेति शासनात् ॥18॥

जो कुछ दृश्य है, जो कुछ दर्शन है, या द्रष्टा का जो कुछ है, जो थोड़ा-सा भी कलात्मक है, वह अनात्मा है, अथवा तो उनका स्वरूप ही अनात्मा है। मन भी अनात्मा है और जगत् भी अनात्मा ही है। और ये सब नहीं हैं, नहीं हैं—ऐसा निश्चय करो। सर्वसंकल्प से रहित होने से और सभी कार्यों से रहित होने से तथा केवल ब्रह्म ही होने से कुछ अनात्मा जैसी चीज ही नहीं है, ऐसा निश्चय करो। तीनों देहों से, तीनों कालों से, जीव के तीनों गुणों से, तीनों तापों से और तीनों लोकों से रहित होने से यह सब कुछ अनात्मा ही है, ऐसा उपदेश है। इसलिए अनात्मा जैसी कोई चीज ही नहीं है, ऐसा तुम निश्चय कर लो।

चित्ताभावाच्चिन्तनीयं देहाभावाज्जरा न च।
पादाभावाद् गतिर्नास्ति हस्ताभावात्क्रिया न च ॥19॥
मृत्युर्न जननाभावाद् बुद्ध्यभावात्सुखादिकम्।
धर्मो नास्ति शुचिर्नास्ति सत्यं नास्ति भयं न च ॥20॥
अक्षरोच्चारणं नास्ति गुरुशिष्यादि नास्त्यपि।
एकाभावे.द्वितीयं न द्वितीयेऽपि न चैकता ॥21॥
सत्यत्वमस्ति चेत्किञ्चिदसत्यं न च सम्भवेत्।
असत्यत्वं यदि भवेत्सत्यत्वं न घटिष्यति ॥22॥

चित्त नहीं है इसलिए चिन्तनीय भी कुछ नहीं है। देह नहीं है इसलिए बुढ़ापा नहीं है। पैर नहीं है इसलिए गति नहीं है। हाथ नहीं है इसलिए क्रिया नहीं है। जन्म नहीं है इसलिए मृत्यु भी नहीं है। बुद्धि नहीं है इसलिए सुखादि कुछ नहीं है। धर्म नहीं है इसलिए शुचिता नहीं है। सत्य भी नहीं है और भय भी नहीं है। अक्षरों का उच्चारण नहीं है, गुरु-शिष्य आदि भी नहीं हैं, एक नहीं है अत: दूसरा भी नहीं है। और दूसरे के अभाव में एक भी नहीं है। यदि सत्य हो तो कुछ भी असत्य हो ही नहीं सकता और यदि असत्य ही हो तब तो सत्य रह ही नहीं सकता।

शुभं यद्यशुभं विद्धि अशुभाच्छुभमिष्यते।
भयं यद्यभयं विद्धि अभयाद्भयमापतेत् ॥23॥
बन्धत्वमपि चेन्मोक्षो बन्धाभावे क्व मोक्षता।
मरणं यदि चेज्जन्म जन्माभावे मृतिर्न च ॥24॥
त्वमित्यपि भवेच्चाहं त्वं नो चेदहमेव नो।
इदं यदि तदेवास्ति तदभावादिदं न च ॥25॥
अस्तीति चेन्नास्ति तदा नास्ति चेदस्ति किञ्चन।
कार्यं चेत्कारणं किञ्चित्कार्याभावे न कारणम् ॥26॥

यदि शुभ हो तो तुम्हें उसे अशुभ मानना चाहिए क्योंकि अशुभ से ही शुभ की कामना की जाती है। यदि भय हो तो तुम्हें उसे अभय मानना चाहिए क्योंकि अभय से भय आ जाता है। यदि बन्धन है तो मोक्ष है, पर बन्धन ही न हो तो मोक्षत्व कहाँ से होगा? यदि मरण हो तो जन्म हो सकता है पर जन्म ही नहीं है तो मरण नहीं हो सकता। यदि 'तू' है तो 'मैं' हो सकता हूँ, पर 'तू' नहीं है, तो मैं भी नहीं हूँ। यदि 'यह' है, तो 'वह' हो सकता है, पर 'वह' न हो, तो 'यह' भी नहीं होगा। यदि 'है' का अस्तित्व है, तो 'नहीं है' का भी अस्तित्व है, जब 'नहीं है' का कोई अस्तित्व नहीं है, तो 'है' का भी कोई अस्तित्व नहीं। इसी तरह यदि कोई 'कार्य' है तो कारण होगा, पर जब 'कार्य' ही नहीं है, तब कारण भी नहीं होगा।

द्वैतं यदि तदाऽद्वैतं द्वैताभावेऽद्वयं न च।
दृश्यं यदि दृगप्यस्ति दृश्याभावे दृगेव न ॥27॥
अन्तर्यदि बहिः सत्यमन्ताभावे बहिर्न च।
पूर्णत्वमस्ति चेत्किञ्चिदपूर्णत्वं प्रसज्यते ॥28॥
तस्मादेतत्क्वचिन्नास्ति त्वं चाहं वा इमे इदम्।
नास्ति दृष्टान्तिकं सत्ये नास्ति दार्ष्टान्तिकं ह्यजे ॥29॥
परंब्रह्माहमस्मीति स्मरणस्य मनो न हि।
ब्रह्ममात्रं जगदिदं ब्रह्ममात्रं त्वमप्ययम् ॥30॥

यदि द्वैत है तो अद्वैत है, पर द्वैत के अभाव में अद्वैत नहीं होता। यदि दृश्य है तो द्रष्टा भी है, दृश्य के अभाव में द्रष्टा होता ही नहीं। यदि बाहर है तो भीतर सत्य है, पर भीतर के अभाव में बाहर नहीं होता। यदि पूर्णत्व कुछ है, तभी अपूर्णत्व हो सकता है। इसलिए वह कुछ है ही नहीं। न तू है, न मैं हूँ, न ये हैं, न यह है। सत्य में कोई दार्ष्टान्तिक (उदाहरण) नहीं है। अजन्मा का कोई दार्ष्टान्तिक नहीं है। 'मैं ब्रह्म हूँ'—ऐसे स्मरण के लिए मन ही नहीं है। यह जगत् मात्र ब्रह्मरूप ही है और 'मैं' और 'तू' सब ब्रह्मरूप ही है।

चिन्मात्रं केवलं चाहं नास्त्यनात्मेति निश्चिनु।
इदं प्रपञ्चं नास्त्येव नोत्पन्नं न स्थितं क्वचित् ॥31॥
चित्तं प्रपञ्चमित्याहुर्नास्ति नास्त्येव सर्वदा।
न प्रपञ्चं न चित्तादि नाहङ्कारो न जीवकः ॥32॥
मायाकार्यादिकं नास्ति माया नास्ति भयं न हि।
कर्ता नास्ति क्रिया नास्ति श्रवणं मननं न हि ॥33॥
समाधिद्वितयं नास्ति मातृमानादि नास्ति हि।
अज्ञानं चापि नास्त्येव ह्यविवेकं कदाचन ॥34॥

'मात्र चैतन्य ऐसा 'मैं' हूँ अनात्मा जैसा कुछ है ही नहीं'—ऐसा तुम निश्चय कर लो। यह प्रपञ्च (जगत्) है ही नहीं, वह कभी उत्पन्न हुआ ही नहीं, और कहीं रहा भी नहीं है। चित्त को भी प्रपंच कहा जाता है, और वह कभी है ही नहीं, है ही नहीं। प्रपंच भी नहीं है, चित्त भी नहीं है, अहंकार भी नहीं है, जीव भी नहीं है, माया का कार्य जैसा कुछ नहीं है, माया ही नहीं है, भय भी नहीं है। कर्ता नहीं है, क्रिया नहीं है, श्रवण और मनन भी नहीं है। दो प्रकार की समाधि भी नहीं है। कोई प्रमाता नहीं है, कोई प्रमाण नहीं है, अज्ञान ही नहीं है और इसीलिए अविवेक भी तो नहीं है।

अनुबन्धचतुष्कं न सम्बन्धत्रयमेव न।
न गंगा न गया सेतुर्न भूतं नान्यदस्ति हि ॥35॥
न भूमिर्न जलं नाग्निर्न वायुर्न च खं क्वचित्।
न देवा न च दिक्पाला न वेदा न गुरुः क्वचित् ॥36॥
न दूरं नान्तिकं नालं न मध्यं न क्वचित्स्थितम्।
नाद्वैतं द्वैतसत्यं वा ह्यसत्यं वा इदं न च ॥37॥
बन्धमोक्षादिकं नास्ति सद्वाऽसद्वा सुखादि वा।
जातिर्नास्ति गतिर्नास्ति वर्णो नास्ति न लौकिकम् ॥38॥

चारों अनुबन्ध नहीं हैं, तीनों सम्बन्ध नहीं हैं, गंगा नहीं है, गया नहीं है, सेतु नहीं है, भूत (प्राणी) नहीं है और अन्य भी कुछ है ही नहीं। पृथ्वी नहीं है, जल नहीं है, अग्नि नहीं है, वायु नहीं है, आकाश नहीं है। कभी भी देव नहीं हैं, कहीं दिक्पाल नहीं है, वेद नहीं हैं, कहीं गुरु भी नहीं है, कोई दूर नहीं, नजदीक भी नहीं, कोई अन्त नहीं, कोई मध्य नहीं, कहीं भी अद्वैत नहीं है, द्वैत और सत्य भी नहीं है, असत्य भी नहीं है, यह भी नहीं है, बन्ध और मोक्ष भी नहीं है सत्. असत् या सुख आदि भी नहीं है। जाति नहीं है, गति नहीं है वर्ण नहीं है, कोई व्यवहार भी नहीं है।

सर्वं ब्रह्मेति नास्त्येव ब्रह्म इत्यपि नास्ति हि।
चिदित्येवेति नास्त्येव चिदहंभाषणं न हि ॥39॥
अहं ब्रह्मास्मि नास्त्येव नित्यशुद्धोऽस्मि न क्वचित्।
वाचा यदुच्यते किञ्चिन् मनसा मनुते क्वचित् ॥40॥
बुद्ध्या निश्चिनुते नास्ति चित्तेन ज्ञायते न हि।
योगी योगादिकं नास्ति सदा सर्वं सदा न च ॥41॥
अहोरात्रादिकं नास्ति स्नानध्यानादिकं न हि।
भ्रान्तिरभ्रान्तिर्नास्त्येव नास्त्यनात्मेति निश्चिनु ॥42॥

'ब्रह्म सब है' ऐसा भी नहीं है और 'सब ब्रह्म है' ऐसा भी नहीं है। 'सब चिद्रूप है' ऐसा भी नहीं है और 'मैं चिद्रूप हूँ' ऐसा भी भाषण नहीं है। 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा भी नहीं है और 'मैं नित्य शुद्ध हूँ' ऐसा भी नहीं है। वाणी से जो बोला जाता है, मन से जो सोचा जाता है, बुद्धि से जो निर्णय किया जाता है और चित्त से जो कुछ देखा जाता है या जाना जाता है वह सब कुछ भी नहीं है। योगी भी नहीं है, मोक्ष भी कभी नहीं है। रात नहीं है, दिन नहीं है, स्नान नहीं है, ध्यानादि कुछ नहीं है। भ्रान्ति और अभ्रान्ति भी नहीं है। इसी तरह आत्मा भी नहीं है—ऐसा तू निश्चय कर ले।

वेदः शास्त्रं पुराणं च कार्यं कारणमीश्वरः।
लोको भूतं जनस्त्वैक्यं सर्वं मिथ्या न संशयः ॥43॥
बन्धो मोक्षः सुखं दुःखं ध्यानं चित्तं सुरासुराः।
गौणं मुख्यं परं चान्यत्सर्वं मिथ्या न संशयः ॥44॥
वाचा वदति यत्किञ्चित् सङ्कल्पैः कल्प्यते च यत्।
मनसा चिन्त्यते यद्यत् सर्वं मिथ्या न संशयः ॥45॥
बुद्ध्या निश्चीयते किञ्चिच्चित्ते निश्चीयते क्वचित्।
शास्त्रैः प्रपञ्च्यते यद्यन्नेत्रेणैव निरीक्ष्यते ॥46॥
श्रोत्राभ्यां श्रूयते यद्यदन्यत्सद्भावमेव च।
नेत्रं श्रोत्रं गात्रमेव मिथ्येति च सुनिश्चितम् ॥47॥

वेद, शास्त्र, पुराण, कार्य, कारण, ईश्वर, लोक, भूत (प्राणी), मनुष्य, ऐक्य—यह सब मिथ्या है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। बन्ध, मोक्ष, सुख, दुःख, ध्यान, चित्त, सुर, असुर, गौण, मुख्य, अन्य, सब निःसंदेह मिथ्या है। जो कुछ वाणी से बोलता है, या संकल्पों से कल्पना की जाती है, या मन में जो कुछ सोचा जाता है, वह सब कुछ निःसंदेह मिथ्या है। जो कुछ बुद्धि से निश्चय किया जाता है, कभी कुछ जो चित्त में निर्णय किया जाता है, शास्त्रों में जिसकी चर्चा की जाती है, जो-जो आँख से देखा जाता है, जो-जो कान से सुना जाता है, और भी जो-जो कुछ है, नेत्र, श्रोत्र, गात्र—यह सब मिथ्या ही है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

इदमित्येव निर्दिष्टमयमित्येव कल्प्यते ।
त्वमहं तदिदं सोऽहमन्यत्सद्भावमेव च ॥48॥
यद्यत्संभाव्यते लोके सर्वसंकल्पसम्भ्रमः ।
सर्वाध्यासं सर्वगोप्यं सर्वभोगप्रभेदकम् ॥49॥
सर्वदोषप्रभेदाच्च नास्त्यनात्मेति निश्चिनु ।
मदीयं च त्वदीयं च ममेति च तवेति च ॥50॥
मह्यं तुभ्यं मयेत्यादि तत्सर्वं वितथं भवेत् ।
रक्षको विष्णुरित्यादि ब्रह्मा सृष्टेस्तु कारणम् ॥51॥
संहारे रुद्र इत्येवं सर्वं मिथ्येति निश्चिनु ।

जिसका 'यह' शब्द से निर्देश होता है, और जो 'यह' शब्द से कल्पित किया जाता है, वह और तू, मैं, यह, और अन्य जो कुछ भी अस्तित्व इस लोक में माना जाता है, वह सब केवल संकल्प का संभ्रम है। सभी आरोप, सभी गोपनीय, सभी भोगों के भेद, और सभी दोषों के भेद—ये सब भी अनात्मरूप नहीं है, ऐसा निश्चयपूर्वक जानो। यह तेरा, यह मेरा, यह तेरे लिए, यह मेरे लिए—ये सब मिथ्या है। विष्णु इस सृष्टि के पालक हैं, ब्रह्मा सर्जक हैं और रुद्र संहारक हैं—यह सब मिथ्या ही है।

स्नानं जपस्तपो होमः स्वाध्यायो देवपूजनम् ॥52॥
मन्त्रं तन्त्रं च सत्सङ्गो गुणदोषविजृम्भणम् ।
अन्तःकरणसद्भाव अविद्यायाश्च संशयः ॥53॥
अनेककोटिब्रह्माण्डं सर्वं मिथ्येति निश्चिनु ।
सर्वदेशिकवाक्योक्तिर्येन केनापि निश्चितम् ॥54॥
दृश्यते जगति यद्यद् यद्यज्जगति वीक्ष्यते ।
वर्तते जगति यद्यत्सर्वं मिथ्येति निश्चिनु ॥55॥

स्नान, जप, तप, होम, स्वाध्याय, देवपूजन, मन्त्र, तन्त्र, सत्संग, गुण और दोष के विलास, अन्तःकरण की सच्चाई, अविद्या का संशय और अनेक करोड़ों ब्रह्माण्ड—ये सब मिथ्या हैं। सभी गुरुओं के वाक्य और वचन और जिस किसी ने जो कुछ भी निश्चय किया हो वह, तथा जगत् में जो-जो देखा जाता है, और जो-जो कुछ भी दीख पड़ता है, वह सब मिथ्या ही है—ऐसा तुम निश्चय कर लो।

येन केनाक्षरेणोक्तं येन केन विनिश्चितम् ।
येन केनापि गदितं येन केनापि मोदितम् ॥56॥
येन केनापि यद्दत्तं येन केनापि यत्कृतम् ।
यत्र यत्र शुभं कर्म यत्र यत्र च दुष्कृतम् ॥57॥
यद्यत्करोति सत्येन सर्वं मिथ्येति निश्चिनु ।
त्वमेव परमात्मासि त्वमेव परमो गुरुः ॥58॥
त्वमेवाकाशरूपोऽसि साक्षिहीनोऽसि सर्वदा ।
त्वमेव सर्वभावोऽसि त्वं ब्रह्मासि न संशयः ॥59॥
कालहीनोऽसि कालोऽसि सदा ब्रह्मासि चिद्घनः ।
सर्वतः स्वस्वरूपोऽसि चैतन्यघनवामसि ॥60॥

जिस किसी अक्षर से कहा गया हो, जिस किसी से निर्णीत किया गया हो, जिस किसी से भी कहा गया हो, जिस किसी से भी आनन्दित हुआ हो, जिस किसी से जो कुछ भी दिया गया हो, जिस किसी से जो कुछ किया गया हो, जहाँ-जहाँ शुभ कर्म हो, जहाँ-जहाँ अशुभ कर्म हो, जो-जो तुम सच्चाई से करते हो—यह सबका सब मिथ्या ही है, ऐसा निश्चय कर लो। तू ही परमात्मा है, तू ही परम गुरु है, तू ही आकाश के-से रूपवाला है, तू ही साक्षी हीन है – सदैव है (क्योंकि दूसरा है नहीं तो साक्षी किसका ?), तू ही सर्व अस्तित्वमय है, तू ही ब्रह्म है, इसमें कोई शंका नहीं है। काल से परे भी तू ही है और कालस्वरूप भी तो तू ही है। तू ही सदैव चिन्मय ब्रह्मस्वरूप है। हमेशा तू अपने स्वरूप में ही अवस्थित रहता है, तू चिद्घन चिद्रूप व्यापक है।

सत्योऽसि सिद्धोऽसि सनातनोऽसि मुक्तोऽसि मोक्षोऽसि मुदामृतोऽसि।
देवोऽसि शान्तोऽसि निरामयोऽसि ब्रह्माऽसि पूर्णोऽसि परात्परोऽसि ॥61॥
समोऽसि सच्चासि सनातनोऽसि सत्यादिवाक्यैः प्रतिबोधितोऽसि।
सर्वाङ्गहीनोऽसि सदा स्थितोऽसि ब्रह्मेन्द्ररुद्रादिविभावितोऽसि ॥62॥
सर्वप्रपञ्चभ्रमवर्जितोऽसि सर्वेषु भूतेषु च भासितोऽसि।
सर्वत्र सङ्कल्पविवर्जितोऽसि सर्वागमान्तार्थविभावितोऽसि ॥63॥
सर्वत्र सन्तोषसुखासनोऽसि सर्वत्र गत्यादिविवर्जितोऽसि।
सर्वत्र लक्ष्यादिविवर्जितोऽसि ध्यातोऽसि विष्ण्वादिसुरैरजस्रम् ॥64॥

तू सत्य है, सिद्ध है, सनातन है, मुक्त है, मोक्ष है, आनन्द के साथ अमर है, तू देव है, शान्त है, निर्दोष है, ब्रह्म है, पूर्ण है, परे से भी परे है, सर्वत्र समान है, सद्रूप है, सनातन है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' आदि वाक्यों के द्वारा बताया गया है—ज्ञात करवाया गया है। तू सभी अवयवों से रहित है, तू सदा अवस्थित है। ब्रह्मा, इन्द्र, रुद्र आदि के द्वारा पूजित तू ही है। सब जगत् के भ्रम से तू रहित है, तू ही सभी प्राणियों में अवभासित है, तू सभी संकल्पों से रहित है, सभी आगमों के सार का तात्पर्य को दिखाने वाला तू ही है। तू सर्वत्र संतोष से सुखपूर्वक रहने वाला है, तू सदैव गति आदि क्रियाओं से रहित है, सदा (सर्वत्र) लक्ष्य आदि से तू रहित है, विष्णु आदि देवों के द्वारा ध्यान किया जाने वाला तू ही है।

चिदाकारस्वरूपोऽसि चिन्मात्रोऽसि निरङ्कुशः।
आत्मन्येव स्थितोऽसि त्वं सर्वशून्योऽसि निर्गुणः ॥65॥
आनन्दोऽसि परोऽसि त्वमेक एवाद्वितीयकः।
चिद्घनानन्दरूपोऽसि परिपूर्णस्वरूपकः ॥66॥
सदसि त्वमसि ज्ञोऽसि सोऽसि जानासि वीक्षसि।
सच्चिदानन्दरूपोऽसि वासुदेवोऽसि वै प्रभुः ॥67॥
अमृतोऽसि विभुश्चापि चञ्चलो ह्यचलो ह्यसि।
सर्वोऽपि सर्वहीनोऽसि शान्ताशान्तविवर्जितः ॥68॥

तू चैतन्याकारस्वरूप है, तू केवल चिद्रूप है, तू किसी अंकुश से रहित है, तू आत्मा में ही स्थित है, तू सर्वशून्य है, तू निर्गुण है, तू परम आनन्दरूप है, तू एक और अद्वितीय है, तू व्यापक चैतन्य है, तू परिपूर्ण स्वरूप है, तू सत् है, तू 'त्वम्' है, तू 'सः' है, तू वही है, तू जानता है, तू मुक्त होता है, तू सच्चिदानस्वरूप है, तू वासुदेव है, तू ही प्रभु है, तू अमृत है, तू ही विभु है, तू ही चंचल और

तू ही अचल है। सर्व और असर्व भी तू है, शान्त-अशान्त आदि से मुक्त भी तू ही है—अर्थात् सब कुछ तू ही है।

सत्तामात्रप्रकाशोऽसि सत्तासामान्यको ह्यसि।
नित्यसिद्धिस्वरूपोऽपि सर्वसिद्धिविवर्जितः ॥69॥
ईषन्मात्रविशून्योऽसि अणुमात्रविवर्जितः।
अस्तित्ववर्जितोऽसि त्वं नास्तित्वादिविवर्जितः ॥70॥
लक्ष्यलक्षणहीनोऽसि निर्विकारो निरामयः।
सर्वनादान्तरोऽसि त्वं कलाकाष्ठाविवर्जितः ॥71॥
ब्रह्मविष्णवीशहीनोऽपि स्वस्वरूपं प्रपश्यसि।
स्वस्वरूपावशेषोऽसि स्वानन्दाब्धौ निमज्जसि ॥72॥

तू मात्र सत्तारूप प्रकाशवाला है, तू सामान्य सत्तारूप है, तू नित्यसिद्धिस्वरूप है, तू सर्व सिद्धियों से रहित भी है, तू शून्यता से लेशमात्र रहित है और तू अणुमात्र से रहित है। तू अस्तित्व से भी रहित है और नास्तित्व से भी रहित है। तू लक्ष्य और लक्षण से रहित है। तू निर्विकार, निर्दूषित और नीरोगी है। तू सर्वनादों के भीतर है, तथापि सभी कलाओं की सीमाओं से रहित है। तू न ब्रह्मा है, न विष्णु है, न महेश है, तथापि अपने स्वरूप को स्वयं देख रहा है। तू ही अपने स्वरूप में सब अपवाद दूर हो जाने के बाद अवशिष्ट रहता है। तू ही केवल अपने आनन्दरूपी सागर में निमग्न होकर रहता है।

स्वात्मराज्ये स्वमेवासि स्वयम्भावविवर्जितः।
शिष्टपूर्णस्वरूपोऽसि स्वस्मात्किंचिन्न पश्यसि ॥73॥
स्वस्वरूपान्न चलसि स्वस्वरूपेण जृम्भसि।
स्वस्वरूपादनन्योऽसि ह्यहमेवास्मि निश्चिनु ॥74॥
इदं प्रपञ्चं यत्किंचिद् यद्यज्जगति विद्यते।
दृश्यरूपं च दृग्रूपं सर्वं शशविषाणवत् ॥75॥
भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकारश्च तेजश्च लोकं भुवनमण्डलम् ॥76॥

अपने आत्मराज्य में तू ही है, 'स्वयम्' ऐसे शब्द से (किसी भी सापेक्ष शब्द से) नू रहित है। सभी अपवादों के चले जाने के बाद अवशिष्ट स्वरूप तू ही है। तू पूर्ण है। तू अपने आपसे अलग किसी को देखता नहीं है, तू अपने स्वरूप से विचलित नहीं होता। तू ऐसा निश्चय कर ले कि 'सर्वत्र मैं ही हूँ'। इस जगत् में जो कुछ दृश्यरूप है या जो द्रष्टा रूप है यह सब खरगोश के सींग की तरह मिथ्या ही है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार, तेज, लोक, भुवनमण्डल सभी खरगोश के सींग जैसे ही मिथ्या (झूठे) ही हैं। उनका अस्तित्व ही नहीं।

नाशो जन्म च सत्यं च पुण्यपापजयादिकम्।
रागः कामः क्रोध-लोभौ ध्यानं ध्येयं गुणं परम् ॥77॥
गुरुशिष्योपदेशादिरादिरन्तं शमं शुभम्।
भूतं भव्यं वर्तमानं लक्ष्यं लक्षणमद्वयम् ॥78॥

शमो विचारः सन्तोषो भोक्तृभोज्यादिरूपकम् ।
यमाद्यष्टाङ्गयोगं च गमनागमनात्मकम् ॥79॥
आदिमध्यान्तरङ्गं च शास्त्रं त्याज्यं हरिः शिवः ।
इन्द्रियाणि मनश्चैव अवस्थात्रितयं तथा ॥80॥

नाश, जन्म, सत्य, पुण्य, पाप, जय आदि तथा राग, काम, क्रोध, ध्यान, ध्येय, गुण, परवस्तु, गुरु-शिष्य उपदेशादि तथा आदि, मध्य, अन्त, शम, शुभ, भूत, भविष्य, वर्तमान, लक्ष्य, लक्षण, अद्वैत, शम, विचार, सन्तोष, भोक्ता, भोज्य आदि तथा यमनियमादि अष्टांगयोग, शास्त्र, त्याज्य, हरि, शिव, इन्द्रियाँ, मन, जाग्रदादि तीन अवस्थाएँ—सब कुछ खरगोश के सींग की तरह मिथ्या (झूठ) ही है ।

चतुर्विंशतितत्त्वं च साधनानां चतुष्टयम् ।
सजातीयं विजातीयं लोका भूरादयः क्रमात् ॥81॥
सर्ववर्णाश्रमाचारं मन्त्रतन्त्रादिसंग्रहम् ।
विद्याविद्यादिरूपं च सर्ववेद्यं जडाजडम् ॥82॥
बन्धमोक्षविभागं च ज्ञानविज्ञानरूपकम् ।
बोधाबोधस्वरूपं वा द्वैताद्वैतादिभाषणम् ॥83॥
सर्ववेदान्तसिद्धान्तं सर्वशास्त्रार्थनिर्णयम् ।
अनेकजीवसद्भावमेकजीवादिनिर्णयम् ॥84॥

चौबीस तत्त्व, चार साधन, सजातीय, विजातीय, भूः आदि सब लोक, सभी वर्णों के आचार, मन्त्रों और तन्त्रों का संग्रह, विद्या, अविद्या, सभी वेद्य वस्तुएँ, जड, अजड, बन्ध, मोक्ष आदि के विभाग, ज्ञान और अज्ञान, बोध, अबोध, द्वैत-अद्वैत आदि का संभाषण, सभी वेदान्तों के सिद्धान्त, सभी शास्त्रों के निर्णय, अनेक जीववाद, एक जीववाद आदि का निर्णय—यह सब भी खरगोश के सींग के समान ही मिथ्या (झूठ) ही है ।

यद्यद् ध्यायति चित्तेन यद्यत्सङ्कल्पते क्वचित् ।
बुद्ध्या निश्चीयते यद्यद् गुरुणा संश्रृणोति यत् ॥85॥
यद्यद्वाचा व्याकरोति यद्यदाचार्यभाषणम् ।
यद्यत्स्वरेन्द्रियैर्भाव्यं यद्यन्मीमांस्यते पृथक् ॥86॥
यद्यन्न्यायेन निर्णीतं महद्भिर्वेदपारगैः ।
शिवः क्षरति लोकान्वै विष्णुः पाति जगत्त्रयम् ॥87॥
ब्रह्मा सृजति लोकान्वै एवमादिक्रियादिकम् ।
यद्यदस्ति पुराणेषु यद्यद्वेदेषु निर्णयम् ॥88॥
सर्वोपनिषदां भावं सर्वं शशविषाणवत् ।

मनुष्य चित्त के द्वारा जो ध्यान करता है वह, और जो-जो चित्त से कल्पना करता है वह, बुद्धि से जो-जो निर्णय किया जाता है वह, जो गुरु से सुनता है, वाणी से जो-जो बोलता है, गुरु का जो-जो भाषण है, जो-जो स्वरों और इन्द्रियों से होता है, जिसकी अलग विचारणा की जाती है, बड़े-बड़े पारंगत लोगों के द्वारा जो वेदों से साबित किया जाता है, शिव लोगों का संहार करते हैं, विष्णु रक्षण करते हैं, इस जगत् को ब्रह्मा उत्पन्न करते हैं'—इत्यादि क्रियाएँ जो पुराणों में बताई गई हैं, और जो-जो वेदों में निर्णय किया गया है, यह सब कुछ खरगोश के सींग की तरह मिथ्या (झूठ) ही है ।

देहोऽहमिति सङ्कल्पं तदन्तःकरणं स्मृतम् ॥89॥
देहोऽहमिति सङ्कल्पो महत्संसार उच्यते ।
देहोऽहमिति सङ्कल्पस्तद्बन्धमिति चोच्यते ॥90॥
देहोऽहमिति सङ्कल्पस्तद्दुःखमिति चोच्यते ।
देहोऽहमिति यद्भानं तदेव नरकं स्मृतम् ॥91॥
देहोऽहमिति सङ्कल्पो जगत्सर्वमितीर्यते ।
देहोऽहमिति सङ्कल्पो हृदयग्रन्थिरीरितः ॥92॥

'मैं देह हूँ' ऐसा संकल्प ही अन्तःकरण है। 'मैं देह हूँ' ऐसा संकल्प ही बड़ा संसार कहा जाता है। 'मैं देह हूँ' ऐसा संकल्प ही बन्धन है, ऐसा संकल्प ही दुःख कहा जाता है। 'मै देह हूँ' ऐसा भान होना ही नरक कहलाता है। 'मैं देह हूँ' ऐसा संकल्प ही यह सारा जगत् है, ऐसा कहा जाता है। 'मैं देह हूँ' ऐसे संकल्प को ही हृदय की गाँठ कहा गया है।

देहोऽहमिति यज्ज्ञानं तदेवाज्ञानमुच्यते ।
देहोऽहमिति यज्ज्ञानं तदसद्भावमेव च ॥93॥
देहोऽहमिति या बुद्धिः सा चाविद्येति भण्यते ।
देहोऽहमिति यज्ज्ञानं तदेव द्वैतमुच्यते ॥94॥
देहोऽहमिति सङ्कल्पः सत्यजीवः स एव हि ।
देहोऽहमिति यज्ज्ञानं परिच्छिन्नमितीरितम् ॥95॥
देहोऽहमिति सङ्कल्पो महापापमिति स्फुटम् ।
देहोऽहमिति या बुद्धिस्तृष्णा दोषामयः किल ।
यत्किञ्चिदपि सङ्कल्पस्तापत्रयमितीरितम् ॥96॥

'मैं देह हूँ', ऐसा ज्ञान वही अज्ञान है, 'मैं देह हूँ' यह ज्ञान असद्रूप ही है, 'मैं देह हूँ' ऐसी बुद्धि अविद्या है, 'मैं देह हूँ' ऐसा ज्ञान ही द्वैत कहा जाता है। 'मैं देह हूँ' ऐसा संकल्प ही सत्य जीव है, 'मैं देह हूँ' ऐसा ज्ञान परिच्छिन्न (संकुचित) है, 'मैं देह हूँ' ऐसा संकल्प ही स्पष्टरूप से बड़ा पाप है, 'मैं देह हूँ' ऐसी बुद्धि दोषमय तृष्णा है। सचमुच, जो कुछ भी संकल्प किया जाता है, वह तीन प्रकार के संताप हैं, ऐसा कहा गया है।

कामं क्रोधं बन्धनं सर्वदुःखं विश्वं दोषं कालनानास्वरूपम् ।
यत्किञ्चेदं सर्वसंकल्पजालं तत्किञ्चेदं मानसं सोम्य विद्धि ॥97॥
मन एव जगत्सर्वं मन एव महारिपुः ।
मन एव हि संसारो मन एव जगत्त्रयम् ॥98॥
मन एव महद्दुःखं मन एव जरादिकम् ।
मन एव हि कालश्च मन एव मलं तथा ॥99॥
मन एव हि सङ्कल्पो मन एव च जीवकः ।
मन एव हि चित्तं च मनोऽहङ्कार एव च ॥100॥

काम, क्रोध, बन्धन, सब दुःख, सब दोष, काल के अनेक स्वरूप, जो कुछ भी यह संकल्पों का जाल है, वह सब हे सोम्य ! तुम मानस (मनोविकार) ही मानो। मन ही यह सारा जगत् है, मन

ही बड़ा दुश्मन है, मन ही संसार है, मन ही ये तीन जगत् है, मन ही बड़ा दुःख है, मन ही बुढ़ापा आदि है, मन ही काल है, मन ही मलिनता है, मन ही संकल्प है, मन ही जीव है, मन ही चित्त है, मन ही अहंकार है।

मन एव महद्बन्धं मनोऽन्तःकरणं च तत्।
मन एव हि भूमिश्च मन एव हि तोयकम् ॥101॥
मन एव हि तेजश्च मन एव मरुन्महान्।
मन एव हि चाकाशं मन एव हि शब्दकम् ॥102॥
स्पर्शं रूपं रसं गन्धं कोशाः पञ्च मनोभवाः।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादि मनोमयमितीरितम् ॥103॥
दिक्पाला वसवो रुद्रा आदित्याश्च मनोमयाः।
दृश्यं जडं द्वन्द्वजातमज्ञानं मानसं स्मृतम् ॥104॥
सङ्कल्पमेव यत्किञ्चित् तत्तन्नास्तीति निश्चिनु।
नास्ति नास्ति जगत्सर्वं गुरुशिष्यादिकं न हि ॥105॥ इत्युपनिषत्।

इति पञ्चमोऽध्यायः।

मन ही बड़ा बन्धन है, मन ही अन्तःकरण है, मन ही पृथ्वी है, मन ही जल है, मन ही तेज है, मन ही महान् वायु है, मन ही आकाश है और मन ही शब्द है। स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, पाँच कोश, सब मनोमय ही हैं। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्थाएँ सब मनोमय ही हैं, ऐसा कहा गया है। दश दिक्पाल, ग्यारह रुद्र, आठ वसु, बारह आदित्य आदि सब मनोमय हैं। जो कुछ दृश्य है, जड़ है, द्वन्द्वमय है, वह सब अज्ञान और मानस ही है। जो कुछ भी संकल्प है, वह है ही नहीं ऐसा निश्चय कर लो। यह जगत् है ही नहीं, सचमुच नहीं है, यह सब गुरु-शिष्य आदि भी नहीं है—ऐसा उपदेश है।

यहाँ पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ।

❋

षष्ठोऽध्यायः

ऋभुः।
सर्वं सच्चिन्मयं विद्धि सर्वं सच्चिन्मयं ततम्।
सच्चिदानन्दमद्वैतं सच्चिदानन्दमद्वयम् ॥1॥
सच्चिदानन्दमात्रं हि सच्चिदानन्दमन्यकम्।
सच्चिदानन्दरूपोऽहं सच्चिदानन्दमेव खम् ॥2॥
सच्चिदानन्दमेव त्वं सच्चिदानन्दकोऽस्म्यहम्।
मनोबुद्धिरहंकारचित्तसंघातका अमी ॥3॥
न त्वं नाहं न चान्यद्वा सर्वं ब्रह्मैव केवलम्।
न वाक्यं न पदं वेदं नाक्षरं न जडं क्वचित् ॥4॥

ऋभु बोले—तुम ऐसा जान लो कि सब कुछ सच्चिदानन्दमय ही है, सब कुछ सच्चिन्मय का ही विस्तार है, सच्चिदानन्दमय ही अद्वैत है, सच्चिदानन्दमय ही एकमात्र है। केवल एक सच्चिदानन्द ही है, बस, वही मात्र सच्चिदानन्द है। मैं भी सच्चिदानन्द मात्र हूँ, आकाश भी सच्चिदानन्द मात्र है, तू भी सच्चिदानन्द ही है, मैं भी सच्चिदानन्दमय हूँ। ये जो मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार के समूह हैं, वे और तू, मैं या अन्य कुछ भी नहीं हैं, केवल ब्रह्म ही है। कोई वाक्य नहीं है, पद नहीं है, वेद नहीं है, कोई अक्षर नहीं है (केवल ब्रह्म है)।

न मध्यं नादि नान्तं वा न सत्यं न निबन्धनम्।
न दुःखं न सुखं भावं न माया प्रकृतिस्तथा ॥5॥
न देहं न मुखं घ्राणं न जिह्वा न च तालुनी।
न दन्तौष्ठौ ललाटं च निःश्वासोच्छ्वास एव च ॥6॥
न स्वेदमस्थि मांसं च न रक्तं न च मूत्रकम्।
न दूरं नान्तिकं नाङ्गं नोदरं न किरीटकम् ॥7॥
न हस्तपादचलनं न शास्त्रं न च शासनम्।
न वेत्ता वेदनं वेद्यं न जाग्रत्स्वप्नसुप्तयः ॥8॥

मध्य नहीं है, आदि नहीं है, अन्त नहीं है, सत्य नहीं है, बन्धन नहीं है, दुःख नहीं है, सुख नहीं है, पदार्थ नहीं है, माया नहीं है, प्रकृति नहीं है, शरीर नहीं है, मुँह नहीं है, नाक नहीं है, जीभ नहीं है, दो तालु नहीं है, दाँत और ओठ नहीं हैं, ललाट नहीं है, श्वासोच्छ्श्वास भी नहीं हैं। पसीना नहीं है, मांस नहीं है, लहू नहीं है, मूत्र नहीं है। दूर जैसा कुछ नहीं और नजदीक जैसा भी कुछ नहीं है। अंग नहीं है, उदर नहीं है, किरिट भी नहीं है, हाथ-पैर का हिलना भी नहीं है, शास्त्र नहीं है, आज्ञा नहीं है, ज्ञाता, नहीं है, ज्ञेय नहीं है, ज्ञान नहीं है, जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति भी नहीं है।

तुर्यातीतं न मे किंचित्सर्वं सच्चिन्मयं जगत्।
नाध्यात्मिकं नाधिभूतं नाधिदैवं न मायिकम् ॥9॥
न विश्वस्तैजसः प्राज्ञो विराट्सूत्रात्मकेश्वराः।
न गमागमचेष्टा च न नष्टं न प्रयोजनम् ॥10॥
त्याज्यं ग्राह्यं न दूष्यं वा ह्यमेध्यामेध्यकं तथा।
न पीनं न कृशं क्लेदं न कालं देशभाषणम् ॥11॥
न सर्वं न भयं द्वैतं न वृक्षतृणपर्वताः।
न ध्यानं न योगसिद्धिर्न ब्रह्मक्षत्रवैश्यकम् ॥12॥

मेरी तुरीयातीतावस्था भी नहीं है, सब सच्चिन्मय फैला हुआ है। आध्यात्मिक नहीं है, आधिभौतिक नहीं है, आधिदैविक नहीं है, विश्व नहीं है, तैजस नहीं है, प्राज्ञ नहीं है, विराट् नहीं है, सूत्रात्मा नहीं है, ईश्वर नहीं है, आने-जाने की कोई चेष्टा ही नहीं है, कुछ नष्ट नहीं है, प्रयोजन भी नहीं है, कुछ त्याज्य नहीं है, ग्राह्य नहीं है, कुछ दूषित नहीं है, मेध्य नहीं और अमेध्य भी नहीं है, स्थूल नहीं है, दुबला नहीं है, और काल नहीं, देश का भी कथन नहीं है। सब नहीं है, भय नहीं है, द्वैत नहीं है। पेड़-घास-पर्वत कुछ भी नहीं है। ध्यान नहीं है, योगसिद्धि भी नहीं है। ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य कुछ भी नहीं है।

न पक्षी न मृगो नाङ्गी न लोभो मोह एव च ।
न मदो न च मात्सर्यं कामक्रोधादयस्तथा ॥13॥
न स्त्रीशूद्रबिडालादि भक्ष्यभोज्यादिकं च तत् ।
न प्रौढहीनो नास्तिक्यं न वार्तावसरोऽस्ति हि ॥14॥
न लौकिको न लोको वा न व्यापारो न मूढता ।
न भोक्ता भोजनं भोज्यं न पात्रं पानपेयकम् ॥15॥
न शत्रुमित्रपुत्रादिर्न मात्रा न पिता स्वसा ।
न जन्म न मृतिर्वृद्धिर्न देहोऽहमिति भ्रमः ॥16॥

पक्षी नहीं हैं, प्राणी नहीं है, कोई अंगी नहीं है। लोभ नहीं है, मोह नहीं है, मद नहीं है, मात्सर्य नहीं है, काम-क्रोध आदि भी नहीं है। स्त्री-शूद्र-बिडाल आदि भी नहीं है। भक्ष्य-भोज्यादि जो भी है वह नहीं है। कोई प्रौढ नहीं, कोई छोटा भी नहीं है। नास्तिकता नहीं है। किसी बात या समाचार का कोई अवसर ही नहीं है। कोई लौकिक नहीं, लोक भी नहीं, व्यापार भी नहीं, मूढता नहीं है। भोक्ता-भोजन-भोज्य भी नहीं है। कोई पात्र-पान-पेय भी नहीं है। शत्रु-मित्र-पुत्रादिक नहीं हैं, माता-पिता-बहन नहीं है। जन्म-मरण-वार्द्धक्य नहीं है। मैं देह हूँ—यह तो केवल भ्रम ही है।

न शून्यं नापि चाशून्यं नान्तः कारणसंसृतिः ।
न रात्रिर्न दिवा नक्तं न ब्रह्मा न हरिः शिवः ॥17॥
न वारपक्षमासादि वत्सरं न च चञ्चलम् ।
न ब्रह्मलोको वैकुण्ठो न कैलासो न चान्यकः ॥18॥
न स्वर्गो न च देवेन्द्रो नाग्निलोको न चाग्निकः ।
न यमो यमलोको वा न लोका लोकपालकाः ॥19॥
न भूर्भुवःस्वस्त्रैलोक्यं न पातालं न भूतलम् ।
नाविद्या न च विद्या च न माया प्रकृतिर्जडा ॥20॥

शून्य नहीं है, अशून्य नहीं है, भीतर नहीं है, कारण नहीं है, संसार नहीं है, रात नहीं, दिन नहीं, मध्य रात्रि नहीं, ब्रह्मा-विष्णु-महेश नहीं हैं, वार-पक्ष-मास-वर्ष आदि भी कुछ नहीं है। चंचल नहीं है। ब्रह्मलोक, वैकुण्ठ, कैलास और अन्य ऐसे लोक भी नहीं हैं। स्वर्ग और इन्द्र भी नहीं है। अग्निलोक और अग्नि भी नहीं है। यम और यमलोक भी नहीं है। लोक और लोकपाल भी नहीं हैं। भूः, भुवः, स्वः ये तीन लोक भी नहीं हैं। पाताल-भूतल आदि भी कुछ नहीं हैं। अविद्या और विद्या नहीं हैं। माया या जड़ प्रकृति भी नहीं है।

न स्थिरं क्षणिकं नाशं न गतिर्न च धावनम् ।
न ध्यातव्यं न मे ध्यानं न मन्त्रो न जपः क्वचित् ॥21॥
न पदार्थं न पूजार्हं नाभिषेको न चार्चनम् ।
न पुष्पं न फलं पत्रं गन्धपुष्पादिधूपकम् ॥22॥
न स्तोत्रं न नमस्कारो न प्रदक्षिणमण्वपि ।
न प्रार्थना न पृथग्भावो न हविर्नाग्निवन्दनम् ॥23॥
न होमो न च कर्माणि न दुर्वाक्यं सुभाषणम् ।
न गायत्री न वा सन्धिर्न मनस्यं न दुःखितिः ॥24॥

स्थिर (क्षणिक) जैसा कुछ नहीं है। नाश, गति, दौड़ना आदि भी नहीं है। ध्यातव्य, ध्यान, मन्त्र, जप आदि कुछ भी मेरे लिए कहीं भी नहीं हैं। कोई पदार्थ नहीं है, पूजायोग्य कोई नहीं है, अभिषेक (पूजन) भी नहीं है, पुष्प, फल, पत्र, गन्ध, धूप आदि भी कुछ नहीं हैं, स्तोत्र, नमस्कार और प्रदक्षिणा भी कुछ नहीं है, प्रार्थना भी नहीं है, कोई अलगपन ही नहीं है, हविष्य, अग्निवन्दन, होम और अन्य कर्म भी नहीं हैं, कोई सुवाक्य नहीं, दुर्वाक्य भी नहीं है। गायत्री, सन्ध्या आदि भी नहीं है। मन में होने वाली कोई भावना भी नहीं है अतः दुःख भी नहीं हैं।

न दुराशा न दुष्टात्मा न चाण्डालो न पौल्कसः।
न दुःसहं दुरालापं न किरातो न कैतवम् ॥25॥
न पक्षपातं न पक्षं वा न विभूषणतस्करौ।
न च दम्भो दाम्भिको वा न हीनो नाधिको नरः ॥26॥
नैकं द्वयं त्रयं तुर्यं न महत्त्वं न चाल्पता।
न पूर्णं न परिच्छिन्नं न काशी न व्रतं तपः ॥27॥
न गोत्रं न कुलं सूत्रं न विभुत्वं न शून्यता।
न स्त्री न योषिन्नो वृद्धा न कन्या न वितन्तुता ॥28॥

दुष्ट आशा नहीं है, दुष्ट आत्मा नहीं है, चाण्डाल नहीं है, भंगी नहीं है, दुःसह नहीं है, दुष्ट आलाप नहीं है। भील नहीं, कपट नहीं, पक्षपात नहीं, पक्ष भी नहीं है। कोई चोर नहीं, चोरी करने का कोई पदार्थ भी नहीं है। दम्भ नहीं है, दाम्भिक नहीं है, कोई छोटा नहीं, कोई बड़ा भी नहीं है। कोई एक नहीं है, दूसरा नहीं, तीसरा नहीं, चौथा भी नहीं है, कोई बड़प्पन नहीं है, छुटपन भी नहीं है, पूर्ण नहीं है, मर्यादित नहीं है, काशी नहीं, व्रत नहीं, तप नहीं है। गोत्र-कुल-सूत्र कुछ भी नहीं है। विभुता नहीं है, शून्यता नहीं है। स्त्री-युवती-वृद्धा-कन्या-वन्ध्या कुछ भी नहीं है।

न सूतकं न जातं वा नान्तर्मुखसुविभ्रमः।
न महावाक्यमैक्यं वा नाणिमादिविभूतयः ॥29॥
सर्वचैतन्यमात्रत्वात् सर्वदोषा सदा न हि।
सर्वं सन्मात्ररूपत्वात् सच्चिदानन्दमात्रकम् ॥30॥
ब्रह्मैव सर्वं नान्योऽस्ति तदहं तदहं तथा।
तदेवाहं तदेवाहं ब्रह्मैवाहं सनानतम् ॥31॥
ब्रह्मैवाहं न संसारी ब्रह्मैवाहं न मे मनः।
ब्रह्मैवाहं न मे बुद्धिर्ब्रह्मैवाहं न चेन्द्रियः ॥32॥

सूतक नहीं है, कोई जन्मा ही नहीं है, कोई भीतर के भ्रमवाला नहीं है, महावाक्यों की एकता नहीं है और अणिमा आदि सिद्धियाँ भी नहीं हैं। सभी चैतन्यमात्र ही हैं, इसलिए सभी दोष हैं ही नहीं। सब कुछ केवल सत् मात्र होने से सब सच्चिदानन्दरूप ही है। ब्रह्म ही सब कुछ है, इसके अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। मैं वही हूँ बस, मैं वही हूँ। मैं सनातन ब्रह्म हूँ, वही मैं हूँ। मैं ब्रह्म ही हूँ। संसारी नहीं हूँ, मेरा कोई मन नहीं है, मेरी कोई बुद्धि भी नहीं है, कोई इन्द्रिय भी नहीं। मैं ब्रह्म हूँ, ब्रह्म ही हूँ।

ब्रह्मैवाहं न देहोऽहं ब्रह्मैवाहं न गोचरः।
ब्रह्मैवाहं न जीवोऽहं ब्रह्मैवाहं न भेदभूः ॥33॥

ब्रह्मैवाहं जडो नाहमहं ब्रह्म न मे मृतिः ।
ब्रह्मैवाहं न च प्राणो ब्रह्मैवाहं परात्परः ॥34॥
इदं ब्रह्म परं ब्रह्म सत्यं ब्रह्म प्रभुर्हि सः ।
कालो ब्रह्म कला ब्रह्म सुखं ब्रह्म स्वयंप्रभम् ॥35॥
एकं ब्रह्म द्वयं ब्रह्म मोहो ब्रह्म शमादिकम् ।
दोषो ब्रह्म गुणो ब्रह्म दमः शान्तं विभुः प्रभुः ॥36॥

मैं ब्रह्म हूँ, देह नहीं हूँ। मैं ब्रह्म हूँ, विषय नहीं हूँ। मैं ब्रह्म हूँ, जीव नहीं हूँ। मैं ब्रह्म हूँ, भेद की भूमि नहीं हूँ। मैं ब्रह्म हूँ, जड नहीं हूँ। मैं ब्रह्म हूँ, मेरा मरण नहीं है। मैं ब्रह्म हूँ, प्राण नहीं हूँ। मैं ब्रह्म हूँ, परे से भी परे हूँ। यह भी ब्रह्म है, परे भी ब्रह्म है, सत्य ब्रह्म है, वही समर्थ (जगत् का स्रोत) है। काल ब्रह्म है, कला ब्रह्म है, सुख ब्रह्म है। वह स्वयंप्रकाश है। एक भी ब्रह्म और दो भी ब्रह्म ही है। मोह भी ब्रह्म है और शमादि भी ब्रह्म ही है। दोष भी ब्रह्म है, गुण भी ब्रह्म है, दम और शान्त भी वह व्यापक प्रभु (जगत् का प्रभवस्थान) ब्रह्म ही है।

लोको ब्रह्म गुरुर्ब्रह्म शिष्यो ब्रह्म सदाशिवः ।
पूर्वं ब्रह्म परं ब्रह्म शुद्धं ब्रह्म शुभाशुभम् ॥37॥
जीव एव सदा ब्रह्म सच्चिदानन्दमस्म्यहम् ।
सर्वं ब्रह्ममयं प्रोक्तं सर्वं ब्रह्ममयं जगत् ॥38॥
स्वयं ब्रह्म न सन्देहः स्वस्मादन्यन्न किञ्चन ।
सर्वमात्मैव शुद्धात्मा सर्वं चिन्मात्रमव्ययम् ॥39॥
नित्यनिर्मलरूपात्मा ह्यात्मनोऽन्यन्न किञ्चन ।
अणुमात्रलसद्रूपमणुमात्रमिदं जगत् ॥40॥

यह लोक ब्रह्म है, गुरु ब्रह्म है, शिष्य ब्रह्म है, सदाशिव ब्रह्म है, पूर्व ब्रह्म है, परे ब्रह्म है, शुद्ध ब्रह्म है, शुभ ब्रह्म है, अशुभ भी ब्रह्म है, जीव सदैव ब्रह्म ही है, मैं सच्चिदानन्दस्वरूप हूँ। सब ब्रह्ममय ही कहा गया है। यह सारा जगत् ब्रह्ममय है। मैं स्वयं ब्रह्म हूँ, इसमें कोई सन्देह नहीं है। अपने से अन्य कुछ भी नहीं है। सब कुछ आत्मा ही है, आत्मा शुद्ध है सब कुछ केवल चिन्मात्रस्वरूप वाला है। आत्मा नित्य निर्मल रूपवाला है और ऐसे आत्मा से अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। वह यहाँ अणुमात्र ही प्रकाशित होता है और उसके अणुमात्र से ही यह जगत् है।

अणुमात्रं शरीरं वा ह्यणुमात्रमसत्यकम् ।
अणुमात्रमचिन्त्यं वा चिन्त्यं वा ह्यणुमात्रकम् ॥41॥
ब्रह्मैव सर्वं चिन्मात्रं ब्रह्ममात्रं जगत्त्रयम् ।
आनन्दं परमानन्दमन्यत्किञ्चिन्न किञ्चन ॥42॥
चैतन्यमात्रमोंकारं ब्रह्मैव सकलं स्वयम् ।
अहमेव जगत्सर्वमहमेव परं पदम् ॥43॥
अहमेव गुणातीत अहमेव परात्परः ।
अहमेव परं ब्रह्म अहमेव गुरोर्गुरुः ॥44॥

शरीर तो अणुमात्र है, और अणु असत्य ही है। वह अचिन्त्य है अथवा तो अणुमात्र चिन्तनीय है। सब चिन्मात्र ब्रह्म ही है, यह त्रिभुवन ब्रह्मस्वरूप मात्र ही है। आनन्दरूप परमानन्दरूप ही सब कुछ

है, ब्रह्मातिरिक्त कुछ है ही नहीं। सब ओंकारमात्र, चैतन्यमात्र, ब्रह्मरूप ही है। यह जगत् स्वयं आत्मरूप ही है। मैं ही तो यह सारा जगत् हूँ। मैं ही परमोच्च स्थानरूप हूँ। मैं ही गुणातीत, मैं ही पर से भी परे, मैं ही परब्रह्म हूँ। मैं ही गुरु का भी गुरु हूँ।

अहमेवाखिलाधार अहमेव सुखात्सुखम्।
आत्मनोऽन्यज्जगन्नास्ति आत्मनोऽन्यत्सुखं न च ॥45॥
आत्मनोऽन्या गतिर्नास्ति सर्वमात्ममयं जगत्।
आत्मनोऽन्यन्न हि क्वापि आत्मनोऽन्यत्तृणं न हि ॥46॥
आत्मनोऽन्यत्तुषं नास्ति सर्वमात्ममयं जगत्।
ब्रह्ममात्रमिदं सर्वं ब्रह्ममात्रमसन्न हि ॥47॥
ब्रह्ममात्रं श्रुतं सर्वं स्वयं ब्रह्मैव केवलम्।
ब्रह्ममात्रं वृत्तं सर्वं ब्रह्ममात्रं रसं सुखम् ॥48॥

मैं सबका आधार हूँ, पैं सुख से सुख हूँ, आत्मा से अतिरिक्त कोई जगत् नहीं है। आत्मा से अतिरिक्त कोई सुख नहीं है। आत्मा के बिना कोई गति नहीं है, सब जगत् आत्ममय है, कहीं कुछ आत्मा से अलग नहीं है। एक तिनका भी आत्मा से अलग नहीं है। आत्मा से अलग छिलका भी नहीं है, सब जगत् आत्ममय है, सब ब्रह्ममय है, सब ब्रह्ममय होने से असत् नहीं है। सुना हुआ सब ब्रह्म है, स्वयं केवल ब्रह्म है, बना हुआ सब ब्रह्म है। और ब्रह्म ही सदा सुखरूप तथा रसरूप है।

ब्रह्ममात्रं चिदाकाशं सच्चिदानन्दमव्ययम्।
ब्रह्मणोऽन्यतरन्नास्ति ब्रह्मणोऽन्यज्जगन्न च ॥49॥
ब्रह्मणोऽन्यदहं नास्ति ब्रह्मणोऽन्यत्फलं न हि।
ब्रह्मणोऽन्यत्तृणं नास्ति ब्रह्मणोऽन्यत्पदं न हि ॥50॥
ब्रह्मणोऽन्यद्गुरुर्नास्ति ब्रह्मणोऽन्यदसद्वपुः।
ब्रह्मणोऽन्यन्न चाहंता त्वत्तेदन्ते न हि क्वचित् ॥51॥
स्वयं ब्रह्मात्मकं विद्धि स्वस्मादन्यन्न किञ्चन।
यत्किञ्चिद्दृश्यते लोके यत्किञ्चिद्भाष्यते जनैः ॥52॥

चैतन्यरूप आकाशमात्र ब्रह्म है, सब सच्चिदानंद है, सब अव्यय है, ब्रह्म के सिवा दूसरा कुछ नहीं। ब्रह्मातिरिक्त कोई जगत् नहीं है, मैं भी ब्रह्मातिरिक्त नहीं हूँ, ब्रह्म के सिवा कोई फल नहीं है। एक तिनका भी ब्रह्मातिरिक्त नहीं है। ब्रह्म से उच्चतर कुछ है ही नहीं। कोई गुरु भी ब्रह्म के सिवा नहीं है, ब्रह्म के सिवा शरीर असत् है। ब्रह्म के सिवा अहंभाव नहीं है। ब्रह्म के सिवा 'वह' का और 'यह' का भी कोई भाव नहीं है। अपने आपको ब्रह्मात्मक मानो। अपने आपको छोड़कर कुछ नहीं है। जो कुछ इस लोक में देखा जाता है, और जो कुछ लोगों से बोला जाता है, वह तो मिथ्या है।

यत्किञ्चिद्भुज्यते क्वापि तत्सर्वमसदेव हि।
कर्तृभेदं क्रियाभेदं गणभेदं रसात्मकम् ॥53॥
लिङ्गभेदमिदं सर्वमसदेव सदा सुखम्।
कालभेदं देशभेदं वस्तुभेदं जयाजयम् ॥54॥
यद्यद्भेदं च तत्सर्वमसदेव हि केवलम्।
असदन्तःकरणकमसदेवेन्द्रियादिकम् ॥55॥

असत्प्राणादिकं सर्वं संघातमसदात्मकम् ।
असत्यं पञ्चकोशाख्यमसत्यं पञ्चदेवताः ॥56॥

जो कुछ कहीं भी खाया जाता है, वह असत् ही है । कर्ता का भेद, क्रिया का भेद, गुण का भेद, रस आदि एवं जाति का भेद—सब का सब असत् है । सदा रहने वाला तो मात्र सुख ही है । काल का भेद, देश का भेद, वस्तु का भेद, जय और पराजय, और भी जो कुछ भेद है वह सभी असत् (मिथ्या) ही हैं । अन्तःकरण भी असत् है, इन्द्रियादिक भी असत् हैं, प्राणादिक भी असत् हैं, भूतसंघ भी असत् है, पाँच कोश आदि भी असत् हैं और पाँच देव भी असत्य हैं ।

असत्यं षड्विकारादि असत्यमरिवर्गकम् ।
असत्यं षड्तुश्चैव असत्यं षड्रसस्तथा ॥57॥
सच्चिदानन्दमात्रोऽहमनुत्पन्नमिदं जगत् ।
आत्मैवाहं परं सत्यं नान्याः संसारदृष्टयः ॥58॥
सत्यमानन्दरूपोऽहं चिद्घनानन्दविग्रहः ।
अहमेव परानन्द अहमेव परात्परः ॥59॥
ज्ञानाकारमिदं सर्वं ज्ञानानन्दोऽहमद्वयः ।
सर्वप्रकाशरूपोऽहं सर्वाभावस्वरूपकः ॥60॥

कामक्रोधादि छः विकार, शत्रुओं का नाश, छः ऋतुएँ, छः रस आदि सब मिथ्या (झूठे) ही हैं । मैं तो केवल सच्चिदानन्दस्वरूप ही हूँ । सत्य रूप तो मैं आत्मा ही हूँ । कोई संसार की दृष्टियाँ मैं नहीं हूँ । मैं सत्य और आनन्दस्वरूप हूँ । मैं चिद्घनानन्दस्वरूप हूँ । मैं ही परम आनन्द हूँ । मैं ही परम से भी परम हूँ । यह सब ज्ञान का ही स्वरूप है, मैं भी ज्ञान का ही स्वरूप हूँ, मैं अद्वय – एक ही हूँ, मैं सभी का प्रकाशक हूँ और सर्व का अभावरूप भी तो मैं ही हूँ ।

अहमेव सदा भामीत्येवं रूपं कुतोऽप्यसत् ।
त्वमित्येवं परं ब्रह्म चिन्मयानन्दरूपवान् ॥61॥
चिदाकारं चिदाकाशं चिदेव परमं सुखम् ।
आत्मैवाहमसन्नाहं कूटस्थोऽहं गुरुः परः ॥62॥
सच्चिदानन्दमात्रोऽहमनुत्पन्नमिदं जगत् ।
कालो नास्ति जगन्नास्ति मायाप्रकृतिरेव न ॥63॥
अहमेव हरिः साक्षादहमेव सदाशिवः ।
शुद्धचैतन्यभावोऽहं शुद्धसत्त्वानुभावनः ॥64॥

मैं ही सदा प्रकाशित रहता हूँ, तो ऐसा रूप भला असत्य कैसे होगा ? 'तू' शब्द से कहा जाने वाला भी परब्रह्म ही है । वह भी चैतन्यमय तथा आनन्दरूप है । चैतन्याकार चिदाकाश है, चैतन्य ही परमसुख है । मैं आत्मा ही हूँ, मैं असत् नहीं हूँ, मैं कूटस्थ हूँ, मैं परमगुरु हूँ । मैं केवल सच्चिदानन्द हूँ । इस जगत् की तो कभी उत्पत्ति ही नहीं हुई । काल, जगत्, माया, प्रकृति कुछ है ही नहीं । मैं ही हरि हूँ, मैं ही साक्षात् सदाशिव हूँ । मैं ही केवल शुद्ध चैतन्यमात्र हूँ । मैं ही सही रूप से चैतन्यरूप भाव पदार्थ अथवा शुद्ध सत्त्वगुण का अनुभव करने वाला हूँ ।

अद्वयानन्दमात्रोऽहं चिद्घनैकरसोऽस्म्यहम् ।
सर्वं ब्रह्मैव सततं सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥65॥

सर्वं ब्रह्मैव सततं सर्वं ब्रह्मैव चेतनम्।
सर्वान्तर्यामिरूपोऽहं सर्वसाक्षित्वलक्षणः ॥66॥
परमात्मा परं ज्योतिः परं धाम परा गतिः।
सर्ववेदान्तसारोऽहं सर्वशास्त्रसुनिश्चितः ॥67॥
योगानन्दस्वरूपोऽहं मुख्यानन्दमहोदयः।
सर्वज्ञानप्रकाशोऽस्मि मुख्यविज्ञानविग्रहः ॥68॥

मैं मात्र अद्वैत आनन्द हूँ। चैतन्यव्याप्त एकरस हूँ। सब निरंतर ब्रह्म है, सब कुछ ब्रह्म - चेतन ही है। मैं सबका अन्तर्यामी हूँ। मैं सबके साक्षीरूप लक्षण वाला हूँ। मैं परमात्मा हूँ, परम ज्योति हूँ, परम धाम हूँ, परम गति हूँ। सभी वेदान्तों का मैं सार हूँ और सभी शास्त्रों द्वारा सुनिश्चित रूप से निर्णीत हुआ हूँ। मैं योगानन्दस्वरूप हूँ। प्रमुख आनन्दरूप और बड़े उदयवाला हूँ। मैं सर्व ज्ञानों को प्रकाशित करने वाला हूँ और परम विज्ञानरूप शरीरवाला भी मैं ही हूँ।

तुर्यातुर्यप्रकाशोऽस्मि तुर्यातुर्यादिवर्जितः।
चिदक्षरोऽहं सत्योऽहं वासुदेवोऽजरोऽमरः ॥69॥
अहं ब्रह्म चिदाकाशं नित्यं ब्रह्म निरञ्जनम्।
शुद्धं बुद्धं सदामुक्तमनामकमरूपकम् ॥70॥
सच्चिदानन्दरूपोऽहमनुत्पन्नमिदं जगत्।
सत्यासत्यं जगन्नास्ति सङ्कल्पकलनादिकम् ॥71॥
नित्यानन्दमयं ब्रह्म केवलं सर्वदा स्वयम्।
अनन्तमव्ययं शान्तमेकरूपमनामयम् ॥72॥

तुर्यप्रकाश भी मैं हूँ और अतुर्यप्रकाश भी मैं हूँ। फिर भी मैं तुर्य और अतुर्य से अलग हूँ। मैं चैतन्य रूप और अच्युत (अक्षय) हूँ। मैं ही सत्य, वासुदेव, अजर, अमर हूँ। मैं चिदाकाशरूप ब्रह्म हूँ। मैं नित्य, निरंजन, शुद्ध, बुद्ध, सदैव मुक्त, नामरहित और रूपरहित ब्रह्म ही हूँ। मैं सच्चिदानन्दस्वरूप हूँ। इस जगत् की तो कभी उत्पत्ति हुई ही नहीं है। यह जगत् न सत्य है न असत्य ही है। संकल्पों की घटना आदि कुछ भी नहीं है। ब्रह्म तो नित्य आनन्दमय है और वह केवल (एक-अद्वितीय) है तथा अनन्त, अव्यय, शान्त, एकरूप और नामरहित है।

मत्तोऽन्यदस्ति चेन्मिथ्या यथा मरुमरीचिका।
बन्ध्याकुमारवचने भीतिश्चेदस्ति किञ्चन ॥73॥
शशशृङ्गेण नागेन्द्रो मतश्चेज्जगदस्ति तत्।
मृगतृष्णाजलं पीत्वा तृप्तश्चेदस्त्विदं जगत् ॥74॥
नरशृङ्गेण नष्टश्चेत्कश्चिदस्त्विदमेव हि।
गन्धर्वनगरे सत्ये जगद्भवति सर्वदा ॥75॥
गगने नीलिमासत्ये जगत्सत्यं भविष्यति।
शुक्तिकारजतं सत्यं भूषणं चेज्जगद्भवेत् ॥76॥

जो कुछ भी मुझसे अलग है, वह मृगजल की तरह ही मिथ्या है। बाँझ के बच्चे के वचन से यदि भय होता हो, तभी यह सब सत्य कहा जा सकता है। खरगोश के सींग से अगर हाथी का मारा जाना सत्य हो सकता है, तभी यह जगत् का अस्तित्व सही हो सकता है। मरुमरीचिका का जल पीकर

यदि कोई तृप्त हो सकता हो, तभी यह जगत् सत्य है। मनुष्य के सींग से किसी का मारा जाना होता हो, तभी यह जगत् है। गन्धर्वनगर सत्य हो, तभी जगत् सत्य है। आकाश की नीलिमा का यदि अस्तित्व है, तभी यह जगत् सत्य है। शुक्तिरजत का गहना यदि सत्य है, तभी यह जगत् सत्य है। अर्थात् जगत् मिथ्या ही है।

रज्जुसर्पेण दष्टश्चेन्नरो भवतु संसृतिः।
जातरूपेण बाणेन ज्वालाग्नौ नाशिते जगत् ॥77॥
विन्ध्याटव्यां पायसान्नमस्ति चेज्जगदुद्भवः।
रम्भास्तम्भेन काष्ठेन पाकसिद्धौ जगद्भवेत् ॥78॥
सद्यःकुमारिकारूपैः पाके सिद्धे जगद्भवेत्।
चित्रस्थदीपैस्तमसो नाशश्चेदस्त्विदं जगत् ॥79॥
मासात्पूर्वं मृतो मर्त्यो ह्यागतश्चेज्जगद्भवेत्।
तक्रं क्षीरस्वरूपं चेत् क्वचिन्नित्यं जगद्भवेत् ॥80॥

यदि रज्जु में भ्रम से माने गए साँप ने किसी को डंक मारा हो, तब कहीं जगत् सत्य हो सकता है। सोने के बाण से यदि जलती हुई आग नष्ट हो, तब जगत् सत्य हो सकता है। विन्ध्याचल के जंगल में यदि दूधपाक मिले, तो जगत् सत्य हो सकता है। केले के पेड़ के तने के काष्ठ से यदि रसोई पक सकती हो, तभी जगत् सत्य हो सकता है। तुरन्त जन्मी हुई कुमारिका के रूप में रसोई यदि बन जाती हो, तभी जगत् सत्य है। चित्र में आलिखित दीपों से यदि अन्धकार का नाश हो सकता हो, तभी जगत् सत्य हो सकता है। एक मास पहले मरा हुआ कोई मनुष्य फिर से आ जाए, तभी जगत् सत्य हो सकता है। लस्सी फिर से दूधस्वरूप में हो जाय तब कहीं जगत् सत्य हो सकता है। अर्थात् जगत् का सत्य होना ऐसे उदाहरणों की तरह ही बिल्कुल असंभव है।

गोस्तनादुद्भवं क्षीरं पुनरारोपणे जगत्।
भूरजोऽब्धौ समुत्पन्ने जगद्भवतु सर्वदा ॥81॥
कूर्मरोम्णा गजे बद्धे जगदस्तु मदोत्कटे।
नालस्थतन्तुना मेरुश्चालितश्चेज्जगद्भवेत् ॥82॥
तरङ्गमालया सिन्धुर्बद्धश्चेदस्त्विदं जगत्।
अग्नेरधश्चेज्ज्वलनं जगद्भवतु सर्वदा ॥83॥
ज्वालावह्निः शीतलश्चेदस्तिरूपमिदं जगत्।
ज्वालाग्निमण्डले पद्मवृद्धिश्चेज्जगदस्त्विदम् ॥84॥

गाय के स्तन से निकला हुआ दूध यदि फिर से स्तन में आरोपित किया जा सके, तब कहीं जगत् सत्य हो सकता है। धरती की धूल से यदि सागर बन सकता हो, तब कहीं जगत् सत्य हो सकता है। कछुए के रोंगटों से यदि मदोन्मत्त हाथी बाँधा जा सके, तब कहीं जगत् सत्य हो सकता है। कमलनाल के तन्तु से यदि मेरु को हिलाया जा सके, तब कहीं जगत् सत्य हो सकता है। तरंगों की माला से यदि सागर को बाँधा जा सके, तब कहीं जगत् सत्य हो सकता है। आग की ज्वालाएँ निम्नगामी हों, तब कहीं जगत् सत्य हो सकता है। जलती हुई आग यदि शीतल हो, तब जगत् का अस्तित्व हो सकता है और जलती आग के घेरे में यदि कमलों की वृद्धि सम्भव हो तब कहीं जगत् सत्य हो सकता है।

महच्छैलेन्द्रनीलं वा सम्भवेच्चेदिदं जगत् ।
मेरुरागत्य पद्माक्षे स्थितश्चेदस्त्विदं जगत् ॥85॥
निगिरेच्चेद्भृङ्गसूनुर्मेरुं चलवदस्त्विदम् ।
मशकेन हते सिंहे जगत्सत्यं तदास्तु ते ॥86॥
अणुकोटरविस्तीर्णे त्रैलोक्यं चेज्जगद्भवेत् ।
तृणानलश्च नित्यश्चेत् क्षणिकं तज्जगद्भवेत् ॥87॥
स्वप्नदृष्टं च यद्वस्तु जागरे चेज्जगद्भवः ।
नदीवेगो निश्चलश्चेत्केनाऽपीदं जगद्भवेत् ॥88॥

बड़े पर्वत पर यदि नीलकमल उगता हो, तभी यह जगत् सत्य हो सकता है। पद्म के बीज पर यदि मेरु पर्वत आकर बैठ जाए, तो जगत् का अस्तित्व है। भौंरे का बच्चा यदि मेरु पर्वत को निगल जाए, तो यह जगत् सत्य हो सकता है। मच्छर यदि सिंह को मार डाले, तब तुम्हारा जगत् भी भले सत्य हो जाए। अणु के परिमाणवाली गुफा में यदि तीनों लोक समा सकते हों, तब कहीं जगत् सत्य हो सकता है। घास की आग यदि हमेशा के लिए रहती हो, तब यह क्षणिक जगत् कदाचित् सत्य हो सकता है। स्वप्न में देखी गई वस्तुएँ अगर जाग्रत् अवस्था में भी दिखाई देती हों, तब कहीं जगत् की उत्पत्ति हो सकती है; और नदी का वेग यदि निश्चल हो जाए, तो किसी तरह यह जगत् सत्य हो सकता है।

क्षुधितस्याग्निर्भोज्यश्चेन्निमिषं कल्पितं भवेत् ।
जात्यन्धै रत्नविषयः सुज्ञातश्चेज्जगत्सदा ॥89॥
नपुंसककुमारस्य स्त्रीसुखं चेद्भवेज्जगत् ।
निर्मितः शशश्रृंगेण रथश्चेज्जगदस्ति तत् ॥90॥
सद्योजाता तु या कन्या भोगयोग्या भवेज्जगत् ।
वन्ध्या गर्भाप्ततत्सौख्यं ज्ञाता चेदस्त्विदं जगत् ॥91॥
काको वा हंसवद्गच्छेज्जगद्भवतु निश्चलम् ।
महाखरो वा सिंहेन युध्यते चेज्जगत्स्थितिः ॥92॥

भूखा आदमी यदि आग को खा सके, तब एक निमिष के लिए भी यह जगत् कल्पित किया जा सकता है। जन्मान्ध लोगों के द्वारा यदि रत्नों की परख की जा सकती हो, तब यह जगत् हो सकता है। नपुंसक कुमार को यदि स्त्री का सुख मिलता हो, तो यह जगत् कहीं हो सकता है। यदि खरगोश के सींगों से रथ बनाया जा सकता हो तब जगत् हो सकता है। तुरन्त ही जन्मी हुई कन्या यदि भोग-योग्य हो, तब जगत् हो सकता है। वन्ध्या स्त्री यदि गर्भधारण करने के बाद होने वाले सुख को जानने वाली हो सके, तब वह जगत् हो सकता है। कौआ यदि हंस की चाल चलता हो, तब स्थायी जगत् कहीं हो सकता है। कोई बड़ा गधा सिंह के साथ यदि युद्ध कर सकता हो, तब इस जगत् की स्थिति हो सकती है। (सभी उदाहरण असंभव हैं अतः जगत् भी असंभव है)।

महाखरो गजगतिं गतश्चेज्जगदस्तु तत् ।
सम्पूर्णसूर्यचन्द्रश्चेदज्जगद्भातु स्वयं जडम् ॥93॥
चन्द्रसूर्यादिकौ त्यक्त्वा राहुश्चेद्दृश्यते जगत् ।
भृष्टबीजसमुत्पन्नवृद्धिश्चेज्जगदस्तु सत् ॥94॥
दरिद्रो धनिकानां च सुखं भुङ्क्ते तदा जगत् ।
शुना वीर्येण सिंहस्तु जितो यदि जगत्तदा ॥95॥

ज्ञानिनो हृदयं मूढैर्ज्ञातं चेत्कल्पनं तदा ।
श्वानेन सागरे पीते निःशेषेण मनो भवेत् ॥96॥

कोई बड़ा गधा यदि हाथी की चाल चलने लगे, तो कहीं जगत् सत्य हो सकता है। पूरा चाँद यदि सूर्य बन जाए तो भले यह जड़ जगत् दिखाई पड़े। सूर्य-चन्द्र को छोड़कर राहु अगर दिखाई दे तो जगत् कहीं हो सकता है। भूँजे गए बीज से उत्पन्न पौधा अगर बढ़ता रहे, तो ही जगत् सत्य ठहर सकता है। गरीब आदमी यदि धनिकों के सुख को भोगने लगे तो जगत् हो सकता है। कुत्ता अगर अपने पराक्रम से सिंह को जीत ले, तभी जगत् हो सकता है। मूर्ख आदमी यदि ज्ञानी के हृदय को जान ले तो यह कल्पित जगत् हो सकता है। कुत्ता यदि पूरे सागर को पी जाए तो ही यह मनरूप जगत् हो सकता है। (उदाहरणगत सभी बातें बिल्कुल ही असंभव हैं, अत: जगत् भी असंभव ही है)।

शुद्धाकाशो मनुष्येषु पतितश्चेत्तदा जगत् ।
भूमौ वा पतितं व्योम व्योमपुष्पं सुगन्धकम् ॥97॥
शुद्धाकाशे वने जाते चलिते तु तदा जगत् ।
केवले दर्पणे नास्ति प्रतिबिम्बं तदा जगत् ॥98॥
अजकुक्षौ जगन्नास्ति ह्यात्मकुक्षौ जगन्न हि ।
सर्वथा भेदकलनं द्वैताद्वैतं न विद्यते ॥99॥
मायाकार्यमिदं भेदमस्ति चेद् ब्रह्मभावनम् ।
देहोऽमिति दुःखं चेद् ब्रह्माहमिति निश्चयः ॥100॥

मनुष्यों पर यदि शुद्ध आकाश गिर पड़े, तो जगत् कहीं हो सकता है, अथवा आकाश या आकाश का सुगन्धी पुष्प भी पृथ्वी पर गिरे, तो जगत् संभव है। शुद्ध आकाश में यदि वन-उपवन बन गया हो और वह चलित-विकसित-फूला-फला हो, तो जगत् कहीं होगा। केवल-शुद्ध आइने में भी यदि प्रतिबिम्ब न पड़ता हो, तब कहीं जगत् हो सकता है। जैसे बकरे की कोख में जगत् नहीं है, उसी प्रकार आत्मा की कोख में भी जगत् नहीं है। सभी प्रकार के भेदों कीं गणना और द्वैत या अद्वैत कुछ है ही नहीं। यह भेद तो माया का कार्य है, और तब तो ब्रह्म की भावना ही करनी चाहिए। यदि 'मैं देह हूँ'—यह दु:ख ही है तो फिर 'मैं ब्रह्म हूँ'—इस प्रकार का निश्चय कर लेना चाहिए।

हृदयग्रन्थिरस्तित्वे छिद्यते ब्रह्मचक्रकम् ।
संशये समनुप्राप्तं ब्रह्मनिश्चयमाचरेत् ॥101॥
अनात्मरूपचौरश्चेदात्मरत्नस्य रक्षणम् ।
नित्यानन्दमयं ब्रह्म केवलं सर्वदा स्वयम् ॥102॥
एवमादिसुदृष्टान्तैः साधितं ब्रह्ममात्रकम् ।
ब्रह्मैव सर्वभवनं भुवनं नाम सन्त्यज ॥103॥
अहं ब्रह्मेति निश्चित्य अहंभावं परित्यज ।
सर्वमेव लयं याति सुप्तहस्तस्थपुष्पवत् ॥104॥

हृदय में यदि कोई गाँठ हो तो ब्रह्मरूपी चक्र उसे काट डालेगा। यदि मन में कोई संशय रहा हो, तो ब्रह्मरूपी निश्चय कर लेना चाहिए। अनात्मरूप यदि कोई चोर आ गया हो, तो उससे आत्मारूपी रत्न का रक्षण करना चाहिए। क्योंकि वह ब्रह्म ही नित्य आनन्दमय और अपने आपमें केवल एक ही है। और ऊपर के दिए हुए एवं यहाँ पर दिए गए सुयोग्य दृष्टान्तों के द्वारा वही केवल एकमात्र ब्रह्म साधित – प्रतिपादित किया गया है। सभी का ब्रह्म ही घर (भवन) है, भुवन की, स्वर्ग

आदि लोक की बात छोड़ दो। 'मैं ब्रह्म हूँ'—ऐसा निश्चय करके अपने (देहादि के) अहंभाव को छोड़ दो। ब्रह्मातिरिक्त सभी तो सोए हुए पुरुष के हाथ में रखे गए फूल की तरह लय (नष्ट) ही हो जाता है।

न देहो न च कर्माणि सर्वं ब्रह्मैव केवलम्।
न भूतं न च कार्यं च न चावस्थाचतुष्टयम् ॥105॥
लक्षणात्रयविज्ञानं सर्वं ब्रह्मैव केवलम्।
सर्वव्यापारमुत्सृज्य ह्यहं ब्रह्मेति भावय ॥106॥
अहं ब्रह्म न सन्देहो अहं ब्रह्म चिदात्मकम्।
सच्चिदानन्दमात्रोऽहमिति निश्चित्य सन्त्यज ॥107॥
शाङ्करीयं महाशास्त्रं न देयं यस्य कस्यचित्।
नास्तिकाय कृतघ्नाय दुर्वृत्ताय दुरात्मने ॥108॥

देह जैसा कुछ नहीं है, कर्म भी नहीं है। सब कुछ केवल ब्रह्म ही है। भूत नहीं, कोई कार्य भी नहीं है और जाग्रदादि चारों अवस्थाएँ भी नहीं हैं। तीनों लक्षणाओं के विशेष ज्ञान रूप सब कुछ केवल ब्रह्म ही है, इसलिए अन्य सभी व्यापारों को छोड़कर, 'मैं ही ब्रह्म हूँ'—ऐसी भावना करे। मैं ब्रह्म हूँ इसमें कोई सन्देह नहीं है, वास्तव में ही मैं चिदात्मक – चैतन्यस्वरूप ब्रह्म ही हूँ। 'मैं सच्चिदानन्दमय ब्रह्म हूँ'—ऐसा निश्चय करके सबका त्याग करो। (उस निश्चय का भी त्याग कर दो)। यह शंकर का महान् शास्त्र है। इसे किसी अपरीक्षित को, नास्तिक को और कृतघ्न आदमी को एवं दुष्ट चारित्र्य वालों एवं दुष्टात्मा को नहीं देना चाहिए अर्थात् नहीं सुनाना चाहिए।

गुरुभक्तिविशुद्धान्तःकरणाय महात्मने।
सम्यक्परीक्ष्य दातव्यं मासं षण्मासवत्सरम् ॥109॥
सर्वोपनिषदभ्यासं दूरतस्त्यज्य सादरम्।
तेजोबिन्दूपनिषदमभ्यसेत्सर्वदा मुदा ॥110॥
सकृदभ्यासमात्रेण ब्रह्मैव भवति स्वयं ब्रह्मैव भवति स्वयमित्युपनिषत् ॥

इति तेजोबिन्दूपनिषत् समाप्ता।

परन्तु जिसका अन्तःकरण गुरुभक्ति से विशुद्ध हो गया हो, ऐसे महान् – योग्य अन्तःकरण वाले मनुष्य की एक मास तक, छः मास तक या एक वर्ष तक कसौटी (परीक्षा) करने के बाद ही उसे यह उपदेश हमेशा देना अर्थात् सुनाना चाहिए। अन्य सभी उपनिषदों का अभ्यास छोड़कर आदरपूर्वक इस तेजोबिन्दु उपनिषद् का अभ्यास सर्वदा आनन्दपूर्वक करना चाहिए। इस उपनिषद् का केवल एक बार ही अभ्यास करने से स्वयं ब्रह्म ही हो जाता है, मनुष्य आप ही ब्रह्म हो जाता है, यही (इसका) उपदेश है।

यहाँ तेजोबिन्दूपनिषद् पूरी हुई।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ……मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(39) नादबिन्दूपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

इस उपनिषद् का सम्बन्ध ऋग्वेद से है। 56 मन्त्रों की इस उपनिषद् में वैराजप्रणव का स्वरूप, वैराजविद्या का फल, प्रणव की मुख्य चार मात्राओं का स्वरूप, व्यष्टि और समष्टि के भेद से प्रणव के द्वादश मात्रा-भेदों का कथन और उपासकों का उस-उस मात्रा के काल के उत्क्रमण का फल, निर्विशेष ब्रह्मज्ञान का स्वरूप और उसके ज्ञान का फल बताया गया है। तदुपरान्त ज्ञानी के प्रारब्ध कर्मों के भाव और अभाव का विचार किया गया है। तुरीयतुरीय की प्राप्ति के लिए नादानुसन्धान नामक उपाय का निर्देश किया गया है। नाद का मन के नियमन का सामर्थ्य भी बताया गया है। अन्त में उपेयनाद का स्वरूप बतलाकर नादारूढ योगियों के लिए विदेहमुक्ति का लाभ बताया गया है।

शान्तिपाठः

ॐ वाङ्मे मनसि......वक्तारमवतु वक्तारम्। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

ॐ अकारो दक्षिणः पक्ष उकारस्तूत्तरः स्मृतः।
मकारं पुच्छमित्याहुरर्धमात्रा तु मस्तकम् ॥1॥

ॐकाररूपी पक्षी (हंस) का जो 'अ'कार है, वह दाहिना पंख है, 'उ'कार उत्तर पंख (दायाँ पंख) है और 'म'कार को उसकी पुच्छ माना गया है और जो अर्धमात्रा है, वह मस्तक है।

पादादिकं गुणास्तस्य शरीरं तत्त्वमुच्यते।
धर्मोऽस्य दक्षिणश्चक्षुरधर्मोऽथो परः स्मृतः ॥2॥

गुण उस ॐकार हंस के पाद आदि हैं अर्थात् रजोगुण और तमोगुण उस हंस का क्रमशः दाहिना और बाँया पैर है। और तत्त्व – सत्त्वगुण उसका शरीर है (कुछ लोग 'तत्त्व' शब्द का अर्थ वाराहोपनिषद् में बताये गये छियानवें तत्त्वों से युक्त विशिष्ट अवयववाला शरीर मानते हैं)। इसका दाहिना नेत्र धर्म है और बाँया नेत्र अधर्म कहा गया है।

भूर्लोकः पादयोस्तस्य भुवर्लोकस्तु जानुनि।
सुवर्लोकः कटीदेशे नाभिदेशे महर्जगत् ॥3॥
जनोलोकस्तु हृद्देशे कण्ठे लोकस्तपस्ततः।
भ्रुवोर्ललाटमध्ये तु सत्यलोको व्यवस्थितः ॥4॥

इस ॐकाररूप हंस के दोनों पैरों में भूर्लोक (पृथ्वी) आया हुआ है। उसकी जंघाओं में भुवर्लोक (अन्तरिक्षलोक) आया हुआ है, उसके कटि प्रदेश में सुवर्लोक (स्वर्लोक-स्वर्गलोग) अवस्थित है और नाभिप्रदेश में महर्लोक है। हृदय प्रदेश में जनलोक अवस्थित है, उसके कण्ठ में तपोलोक है। दोनों

भौंहों के बीच ललाट में सत्यलोक का स्थान है (इसे वैराजप्रणव कहते हैं और उसका स्वरूप ऊपर के चार मन्त्रों में बताया गया है)।

सहस्त्रार्णमतीवात्र मन्त्र एव प्रदर्शितः ।
एवमेतां समारूढो हंसयोगविचक्षणः ॥5॥
न भिद्यते कर्मचारैः पापकोटिशतैरपि ।
आग्नेयी प्रथमा मात्रा वायव्येषा तथापरा ॥6॥
भानुमण्डलसंकाशा भवेन्मात्रा तथोत्तरा ।
परमा चार्धमात्रा या वारुणीं तां विदुर्बुधाः ॥7॥
कालत्रयेऽपि यस्येमा मात्रा नूनं प्रतिष्ठिताः ।
एष ओंकार आख्यातो धारणाभिर्निबोधत ॥8॥

(वैराजप्रणव का स्वरूप बताकर अब वैराजविद्या का फल बताते हुए कहते हैं कि—) इस प्रकार से सहस्त्र अवयवों से युक्त प्रणवमन्त्र – वैराजप्रणवरूपी हंसपर आरूढ़ होकर अर्थात् ध्यान आदि उपासना में लीन होकर हंसयोगी (हंसयोग में विचक्षण योगी) इस ओंकार की विधि-मनन-चिन्तनादियुक्त उपासना करता हुआ, अपने कर्मों से उत्पन्न हजारों-करोड़ों पापों से भी आहत नहीं होता और मुक्ति को प्राप्त होता है। (इस प्रकार वैराजविद्या का फल बताकर अब प्रणव की मुख्य चार मात्राओं का स्वरूप बताते हैं कि—) प्रणव की 'अ'कार नामक प्रथम मात्रा 'आग्नेयी' कही जाती है, और 'उ'कार नामक द्वितीय मात्रा 'वायव्या' कही गई है। इसके बाद 'म'कार की तीसरी मात्रा सूर्यमण्डल जैसी है। इसके देव सूर्य हैं (प्रथम मात्रा के अग्नि, द्वितीय मात्रा के वायु और तृतीय मात्रा के देव सूर्य हैं) और जो अर्धमात्रा है वह चतुर्थ है और वह 'वारुणी' कही जाती है (क्योंकि इसके देव वरुण हैं)। उपर्युक्त चारों मात्राएँ तीन-तीन काल या तीन-तीन कलारूप हैं। इस प्रकार ओंकार को बारह कलाओं से युक्त कहा गया है। धारणा, ध्यान और समाधि के द्वारा उसे जानने का प्रयत्न करना चाहिए। (कहने का तात्पर्य यह है कि ओंकार की साधना केवल उच्चारण (जप या रटने) से ही पूरी नहीं हो जाती। उसमें ध्यान, धारणा आदि भी आवश्यक हैं)।

घोषिणी प्रथमा मात्रा विद्युन्मात्रा तथापरा ।
पतङ्गिनी तृतीया स्याच्चतुर्थी वायुवेगिनी ॥9॥
पञ्चमी नामधेया तु षष्ठी चैन्द्र्यभिधीयते ।
सप्तमी वैष्णवी नाम अष्टमी शांकरीति च ॥10॥
नवमी महती नाम धृतिस्तु दशमी मता ।
एकादशी भवेन्नारी ब्राह्मी तु द्वादशी परा ॥11॥

अब उन द्वादश कलाओं की सूची दी जा रही है—इनमें प्रथम कला (मात्रा) 'घोषिणी' कही जाती है, और दूसरी मात्रा को 'विद्युत्' कहते हैं। तृतीय को 'पतंगिनी' और चतुर्थ मात्रा को 'वायुवेगिनी' कहा जाता है। पंचमी का नाम 'नामधेया' है और षष्ठी मात्रा का नाम 'ऐन्द्री' कहा जाता है। सातवीं मात्रा का नाम 'वैष्णवी' है, और आठवीं मात्रा 'शांकरी' है। नवमीं मात्रा 'महती' नाम की है और दसवीं मात्रा 'द्युति' नाम की कही गई है। ग्यारहवीं मात्रा 'नारी' कही जाती है और बारहवीं मात्रा 'ब्राह्मी' है।

प्रथमायां तु मात्रायां यदि प्राणैर्वियुज्यते ।
भरते वर्षराजाऽसौ सार्वभौमः प्रजायते ॥12॥
द्वितीयायां समुत्क्रान्तो भवेद्यक्षो महात्मवान् ।
विद्याधरस्तृतीयायां गान्धर्वस्तु चतुर्थिका ॥13॥
पञ्चम्यामथ मात्रायां यदि प्राणैर्वियुज्यते ।
उषितः सह देवत्वं सोमलोके महीयते ॥14॥
षष्ठ्यामिन्द्रस्य सायुज्यं सप्तम्यां वैष्णवं पदम् ।
अष्टम्यां व्रजते रुद्रं पशूनां च पतिं तथा ॥15॥
नवम्यां तु महर्लोकं दशम्यां तु जनं व्रजेत् ।
एकादश्यां तपोलोकं द्वादश्यां ब्रह्म शाश्वतम् ॥16॥

(अब उपासकों के उस-उस मात्रा (कला) के समय में उत्क्रमण का फल कहा जाता है। साठ घड़ियों में पाँच घड़ियों की एक मात्रा के प्रमाण में कुल बारह मात्राओं की दृष्टि करके उपासना करने वाले के लिए उस-उस काल में उत्क्रमण का फल बताया जाता है—) यदि साधक प्रथम मात्रा में ही अपने शरीर का परित्याग कर देता है तो वह इस भरतखण्ड के चक्रवर्ती सम्राट् के रूप में आविर्भूत होता है। यदि वह साधक दूसरी कला (मात्रा) में अपने प्राणों का उत्क्रमण करता है, तो वह बड़े महिमामय यक्ष के रूप में उत्पन्न होता है। ॐकार की तृतीय मात्रा (कला) में प्राण का उत्सर्ग करने पर विद्याधर के रूप में जन्म लेता है। यदि वह उपासक ओंकार की चौथी मात्रा में उत्क्रमण करता है तो गन्धर्व बनता है, और यदि पाँचवीं मात्रा में वह अपने प्राणों से वियुक्त होता है, तो उसका निवास देवों के साथ होता है और वह सोमलोक में अत्यन्त आनन्द प्राप्त करता है। छठी मात्रा में उत्क्रान्त होने पर वह इन्द्र का सायुज्य प्राप्त करता है। सातवीं मात्रा में उत्क्रमण करने पर साधक विष्णु के पद को प्राप्त करता है, और आठवीं मात्रा में प्राणों का उत्क्रमण करने वाला साधक रुद्रलोक को प्राप्त होता है। नवमीं मात्रा में प्राणों का परित्याग करने वाला महर्लोक में और दसवीं मात्रा में उत्क्रमण करने वाला साधक जनलोक में जाता है। ग्यारहवीं मात्रा में उत्क्रमण करने वाला तपोलोक को और बारहवीं मात्रा में उत्क्रमण करने वाला साधक शाश्वत ब्रह्म को प्राप्त करता है।

ततः परतरं शुद्धं व्यापकं निर्मलं शिवम् ।
सदोदितं परं ब्रह्म ज्योतिषामुदयो यतः ॥17॥
अतीन्द्रियं गुणातीतं मनो लीनं यदा भवेत् ।
अनूपमं शिवं शान्तं योगयुक्तः(तं) सदा विशेत् ॥18॥
तद्युक्तस्तन्मयो जन्तुः शनैर्मुञ्चेत्कलेवरम् ।
संस्थितो योगचारेण सर्वसङ्गविवर्जितः ॥19॥
ततो विलीनपाशोऽसौ विमलः कमलाप्रभुः ।
तेनैव ब्रह्मभावेन परमानन्दमश्नुते ॥20॥

उस सविशेष ब्रह्म से परे शुद्ध, व्यापक और निर्विशेष परब्रह्म है। वह मंगलकारी सदैव उदीयमान है और उसी से सूर्य-चन्द्रादि अन्य ज्योतियाँ उदित होती हैं। वह इन्द्रियों से अगम्य है, तीनों गुणों से परे है, ऐसे निर्विशेष में जब मन लीन होता है, तब वह साधक अनुपम, कल्याणकारी, शान्त, योगयुक्त हो जाता है। ऐसी उच्च स्थिति में पहुँचे हुए साधकों को योगयुक्त कहना चाहिए। उस

योगयुक्त और तन्मय बने हुए साधक को धीरे-धीरे शरीर छोड़ते हुए योग का परिशीलन करते हुए सभी प्रकार के संग से (आसक्तियों से) छुटकारा पा लेना चाहिए। और बाद में सांसारिक सभी पाशों के छूट जाने से निर्मल होकर वह स्वयं कमलाप्रभु—सभी ऐश्वर्यों का स्वामी बन जाता है और उसी ब्रह्मभाव से परम आनन्द को भोगता है।

आत्मानं सततं ज्ञात्वा कालं नय महामते।
प्रारब्धमखिलं भुञ्जन्नोद्वेगं कर्तुमर्हसि ॥21॥

हे महाज्ञानी जन ! आत्मा को निरन्तर जानते (परिशीलन करते) हुए तुम समय बिताते रहो। और अखिल (संपूर्ण) प्रारब्ध कर्मों का फल भोगते हुए मन में किसी प्रकार का उद्वेग मत करो।

उत्पन्ने तत्त्वविज्ञाने प्रारब्धं नैव मुञ्चति।
तत्त्वज्ञातोदयादूर्ध्वं प्रारब्धं नैव विद्यते ॥22॥
देहादीनामसत्त्वात्तु यथा स्वप्ने विबोधतः।
कर्म जन्मान्तरीयं यत्प्रारब्धमिति कीर्तितम् ॥23॥

तत्त्वविज्ञान (ब्रह्मज्ञान) प्राप्त हो जाने से प्रारब्ध मनुष्य को छोड़ता नहीं है। (यहाँ प्रारब्ध का अर्थ, जिन कर्मों ने फल देना शुरू कर दिया है ऐसे पूर्वकृत कर्म—यह अर्थ नहीं है। यहाँ 'प्रारब्ध' का अर्थ केवल पूर्वजन्म में किए गए कर्मों का संस्कार—ऐसा ही अर्थ है। तात्पर्य यह है कि तत्त्वज्ञान होने पर भी पूर्व संस्कार अमुक समय तक बने ही रहते हैं। परन्तु तत्त्वज्ञान हो जाने के बाद वह प्रारब्ध – वे संस्कार नहीं रहते, जैसे कि स्वप्न से जागकर स्वप्नादि में देखे गए देहादि असत् ही मालूम पड़ते हैं। प्रारब्ध जन्मान्तरीय अर्थात् अन्य जन्मों में किए गए कर्मों को कहा गया है।

यत्तु जन्मान्तराभावात्पुंसो नैवास्ति कर्हिचित्।
स्वप्नदेहो यथाऽध्यस्तस्तथैवायं च देहकः ॥24॥

पूर्व कथनानुसार ज्ञानीजन का तो कर्मजन्य दूसरा जन्म कहीं होता ही नहीं है। और इसीलिए जागने पर जैसे स्वप्न का देह अध्यस्त (क्रम) ही था ऐसा मालूम पड़ता है, ठीक इसी प्रकार ज्ञानावस्था में यह देह की अध्यस्त (भ्रान्त) ही मालूम पड़ता है।

अध्यस्तस्य कुतो जन्म जन्माभावे कुतः स्थितिः।
उपादानं प्रपञ्चस्य मृद्भाण्डस्येव पश्यति ॥25॥

जो पदार्थ अध्यस्त (भ्रम – मिथ्या) ही है, भला उसका जन्म कैसे हो सकता है ? और जिसका जन्म नहीं हुआ उसका अस्तित्व भी कैसे हो सकता है ? इस जगत् का उपादान कारण ब्रह्म ही है। ज्ञानी पुरुष घड़े का उपादानकारण जैसे मिट्टी है, वैसे ही जगत् के उपादानकारण ब्रह्म को ही जानता है।

अज्ञानं चेति वेदान्तैस्तस्मिन्नष्टे क्व विश्वता।
यथा रज्जुं परित्यज्य सर्पं गृह्णाति वै भ्रमात् ॥26॥
तद्वत्सत्यमविज्ञाय जगत्पश्यति मूढधीः।
रज्जुखण्डे परिज्ञाते सर्परूपं न तिष्ठति ॥27॥

वेदान्तों के द्वारा तो यह सब जगत् अज्ञान ही है (ऐसा प्रतिपादित किया गया है)। उस अज्ञान का नाश होने पर यह विश्वत्व (सांसारिक प्रपंच) भला कहाँ है ? जैसे रज्जु में सर्प का भ्रम होने के बाद उस भ्रम का नाश होने से रज्जु ही दिखाई पड़ती है, साँप तो नहीं दिखाई देता। उसी प्रकार आत्मा को जाने बिना मूढ बुद्धि वाला मनुष्य जगत् देख रहा है, पर रज्जुखण्ड के जानने से सर्परूप नहीं दीखता, उसी प्रकार आत्मज्ञान होने के बाद जगत् नहीं ठहरता।

अधिष्ठाने यथा ज्ञाते प्रपञ्चे शून्यतां गते।
देहस्यापि प्रपञ्चत्वात् प्रारब्धावस्थितिः कुतः ॥28॥

जब जगत् के मूल अधिष्ठान को पहचान लिया गया, तो फिर उसमें अध्यस्त (मिथ्या, भ्रम) प्रपञ्च नष्ट हो जायगा। और जब उस जगत् में आया हुआ यह देह भी अध्यस्त ही हुआ, तब तो प्रारब्ध की स्थिति भी कैसे और कहाँ रह सकती है ? अर्थात् कहीं नहीं रहेगी।

अज्ञानजनबोधार्थं प्रारब्धमिति चोच्यते।
ततः कालवशादेव प्रारब्धे तु क्षयं गते ॥29॥
ब्रह्मप्रणवसन्धानं नादो ज्योतिर्मयः शिवः।
स्वयमाविर्भवेदात्मा मेघापायेऽंशुमानिव ॥30॥

प्रारब्धादि सब अध्यस्त (भ्रान्त-मिथ्या) होने पर भी उसकी शास्त्रों में कही गई बात तो मूर्ख मनुष्यों को ज्ञान देने के लिए (अभ्युपगमवाद से) ही कही गई हैं। परन्तु, ज्ञान होने के बाद कुछ काल के कारण से ही जब उन प्रारब्धों का क्षय हो जाता है, तब ब्रह्मरूप प्रणव का आत्मा के साथ अनुसन्धान होता है और तब नादरूप, ज्योतिर्मय, कल्याणकारी स्वयं आत्मा उसी प्रकार आविर्भूत हो जाता है, जिस प्रकार बादलों के हट जाने से सूर्य प्रकाशित हो उठता है।

सिद्धासने स्थितो योगी मुद्रां सन्धाय वैष्णवीम्।
शृणुयाद्दक्षिणे कर्णे नादमन्तर्गतं सदा ॥31॥

योगी को सिद्धासन[1] में बैठने के उपरान्त वैष्णवी मुद्रा[2] का अनुसन्धान करना चाहिए। ऐसी अवस्था (सिद्धासन एवं वैष्णवी मुद्रा की स्थिति) में दाहिने कान के भीतर होने वाले अनाहत नाद को सतत सुनना चाहिए।

अभ्यस्यमानो नादोऽयं बाह्यमावृणुते ध्वनिः।
पक्षाद्विपक्षमखिलं जित्वा तुर्यपदं व्रजेत् ॥32॥

इस प्रकार इस नाद को सुनने का अभ्यास बाहर की ध्वनियों को आवृत कर देता है। इस प्रकार उपासक योगी वह नाद केवल अपने ही पक्ष से – केवल अपनी अनाहतनाद की ही प्रबलता से सब विपक्षरूप बाह्य ध्वनियों को जीतकर (नाश करके) अन्त में तुर्यपद (परमपद) की प्राप्ति करता है अर्थात् इसके परिशीलन से योगी परमपद को प्राप्त करता है।

---

1. बायें पैर की एड़ी से गुदा को ओर दाहिने पैर से जननेन्द्रिय के मूल को दबाकर शरीर को सीधा रखकर त्रिबन्ध लगाकर बैठना 'सिद्धासन' कहलाता है।
2. अपलक नेत्रों से बाह्य दृष्टि को अन्तर्लक्ष्य करके भ्रूकुटि के मध्य में देखने की क्रिया को 'वैष्णवी मुद्रा' कहते हैं।

श्रूयते प्रथमाभ्यासे नादो नानाविधो महान् ।
वर्धमाने तथाभ्यासे श्रूयते सूक्ष्मसूक्ष्मतः ॥33॥

यह पूर्वोक्त अनाहतनाद अभ्यास के आरम्भ में तरह-तरह का और बड़े परिमाण में सुनाई देता है, परन्तु ज्यों-ज्यों अभ्यास बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों सूक्ष्म-से-सूक्ष्म होता जाता सुनाई देता है।

आदौ जलधिजीमूतभेरीनिर्झरसम्भवः ।
मध्ये मर्दलशब्दाभो घण्टाकाहलजस्तथा ॥34॥
अन्ते तु किङ्किणीवंशवीणाभ्रमरनिःस्वनः ।
इति नानाविधा नादाः श्रूयन्ते सूक्ष्मसूक्ष्मतः ॥35॥

शुरू में वह अनाहतनाद सागर, मेघगर्जन, भेरी और झरने से उत्पन्न हुई आवाज जैसा सुनाई पड़ता है। मध्य की अवस्था में वह नाद मृदंग, घण्टा और नगाड़े की आवाज जैसा सुनाई देता है। उत्तरावस्था में वह नाद किंकिणी, वंशी, वीणा और भ्रमर की-सी आवाज में जैसा सुनाई देता है। इस प्रकार तरह-तरह से वे नाद सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होते सुनाई देते हैं।

महति श्रूयमाणे तु महाभेर्यादिकध्वनौ ।
तत्र सूक्ष्मं सूक्ष्मतरं नादमेव परामृशेत् ॥36॥

नाद का अभ्यास करते समय जब शुरू में महाभेरी आदि जैसा बड़ा नाद सुनाई दे, तब उससे सन्तोष न करते हुए साधक को उससे सूक्ष्म और सूक्ष्मतर नाद सुनने का ही प्रयास करना चाहिए।

घनमुत्सृज्य वा सूक्ष्म सूक्ष्ममुत्सृज्य वा घने ।
रममाणमपि क्षिप्तं मनो नान्यत्र चालयेत् ॥37॥

नादसाधक के लिए यह आवश्यक है कि वह स्थूल नाद को छोड़कर सूक्ष्मनाद में लगे हुए मन को, अथवा ऐसा न बन सके तो सूक्ष्म नाद को छोड़कर स्थूलनाद की ओर लगे हुए अपने मन को स्थिर रखे। नाद से अतिरिक्त किसी अन्य विषय की ओर मन को चलित न करे। उसे नाद में ही रममाण रखे—चाहे वह स्थूल हो चाहे सूक्ष्म।

यत्र कुत्रापि वा नादे लगति प्रथमं मनः ।
तत्र तत्र स्थिरीभूत्वा तेन सार्धं विलीयते ॥38॥

नाद स्थूल हो या सूक्ष्म—जहाँ कहीं भी पहले मन लग जाता है, तो मन को उसी में स्थिर करे और फिर उसी नाद में विलीन हो जाये।

विस्मृत्य सकलं बाह्यं नादे दुग्धाम्बुवन्मनः ।
एकीभूयाऽथ सहसा चिदाकाशे विलीयते ॥39॥

साधक को चाहिए कि वह बाहर की सभी वस्तुओं को भूल जाए और जैसे दूध में पानी मिल जाता है, वैसे ही अपने मन को नाद के साथ एकीभूत करे। ऐसा करने से मन स्वयं ही चिदाकाश में अपना विलय कर देता है।

उदासीनस्ततो भूत्वा सदाभ्यासेन संयमी ।
उन्मनीकारकं सद्यो नादमेवावधारयेत् ॥40॥

साधक को चाहिए कि वह नादातिरिक्त सभी विषयों से उदासीन होकर, मन को संयत कर, सतत नादाभ्यास के द्वारा अमनस्क बनाने वाले नाद को ही दृढ़ता से अवधारित करे।

सर्वचिन्तां समुत्सृज्य सर्वचेष्टाविवर्जितः।
नादमेवानुसन्दध्यान्नादे चित्तं विलीयते ॥41॥

और सभी चिन्ताओं को छोड़कर तथा सभी चेष्टाओं से रहित होकर नाद का ही अनुसन्धान करना चाहिए। तब नाद में ही चित्त विलीन हो जाता है।

मकरन्दं पिबन्भृङ्गो गन्धान्नापेक्षते यथा।
नादासक्तं सदा चित्तं विषयं न हि कांक्षति ॥42॥

जिस प्रकार पुष्परस को पीता हुआ भौंरा फिर अन्यान्य गन्धों की अपेक्षा नहीं करता (केवल एकचित्त होकर मधुपान ही करता रहता है), उसी तरह जब मन नाद में आसक्त हो जाता है, तब वह बाहर के किसी विषय की आकांक्षा नहीं रखता।

बद्धः सुनादगन्धेन सद्यः संत्यक्तचापलः।
नादग्रहणतश्चित्तमन्तरङ्गभुजङ्गमः ॥43॥

सुन्दर आवाजरूपी गन्ध से बँधा हुआ साँप जिस तरह अपनी चपलता को एकदम ही छोड़ देता है (और स्थिर-शान्त हो जाता है), ठीक उसी तरह नादग्रहण से मन (चित्तरूपी भीतर का साँप भी) चंचलता को एकदम छोड़कर शान्त हो जाता है (तल्लीन हो जाता है)।

विस्मृत्य विश्वमेकाग्रं कुत्रचिन्न हि धावति।
मनोमत्तगजेन्द्रस्य विषयोद्यानचारिणः ॥44॥
नियामनसमर्थोऽयं निनादो निशिताङ्कुशः।
नादोऽन्तरङ्गसारङ्गबन्धने वागुरायते ॥45॥
अन्तरङ्गसमुद्रस्य रोधे वेलायतेऽपि वा।
ब्रह्मप्रणवसंलग्ननादो ज्योतिर्मयात्मकः ॥46॥

जब ऐसा होता है, तब वह एकाग्र हुआ मन विश्व (जगत्प्रपंच) को भूलकर और कहीं भी नहीं दौड़ता है। विषयरूपी बगीचे में घूमने वाले मदोन्मत्त हाथी के सदृश मन को नियम में रखने के लिए यह निनाद ही तो तीक्ष्ण अङ्कुश है। यह नाद ही अन्तःकरणरूपी (चंचल) हिरण को पकड़ने के जाल समान है। अथवा तो अन्तस् के (मन के) सागर को रोकने के लिए यह निनाद तीर (किनारे) जैसा है। यह ब्रह्मप्रणव के साथ सम्बद्ध नाद ज्योतिर्मयस्वरूप वाला है।

मनस्तत्र स्वयं याति तद्विष्णोः परमं पदम्।
तावदाकाशसङ्कल्पो यावच्छब्दः प्रवर्तते ॥47॥

उस ज्योर्तिमय स्वरूप में मन स्वयं लीन होता है और वही विष्णु का परमपद है। मन में आकाशतत्त्व का ंकल्प तो तभी तक ही रहता है जब तक कि शब्द का प्रवर्तन होता है।

निःशब्दं तत्परं ब्रह्म परमात्मा समीयते।
नादो यावन्मनस्तावन्नादान्ते तु मनोन्मनी ॥48॥

नादानुभव के बाद जब वह मन निःशब्द हो जाता है, तब वह परब्रह्म परमात्मा का अनुभव करने

लगता है। क्योंकि मन भी अपना अस्तित्व वहीं तक रखता है जहाँ तक नाद का अस्तित्व होता है। जब नाद का अन्त हो जाता है तब मन भी अमन (शून्य) बन जाता है।

सशब्दश्चाक्षरे क्षीणे निःशब्दं परमं पदम्।
सदा नादानुसन्धानात्संक्षीणा वासना तु या ॥49॥
निरञ्जने विलीयेते मनोवायू न संशयः।

जब सशब्द (शब्दसहित) नाद अक्षर में (ब्रह्म में) क्षीण (लय) हो जाता है, तब वह जो निःशब्द (शब्द-ध्वनिरहित) स्थान है, वही परमपद है, इसमें कोई संशय नहीं है। पहले तो नाद के अनुसन्धान से जो वासना होती है, वह क्षीण होती है और बाद में मन और प्राण उस निरंजन परब्रह्म में विलीन हो जाते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं।

नादकोटिसहस्राणि बिन्दुकोटिशतानि च ॥50॥
सर्वे तत्र लयं यान्ति ब्रह्मप्रणवनादके।

करोड़ों-करोड़ों नाद एवं करोड़ों-करोड़ों बिन्दु – सभी उस ब्रह्मरूपी प्रणवनाद (निःशब्द नाद) में विलीन हो जाते हैं।

सर्वावस्थाविनिर्मुक्तः सर्वचिन्ताविवर्जितः ॥51॥
मृतवत् तिष्ठते योगी स मुक्तो नात्र संशयः।
शङ्खदुन्दुभिनादं च न शृणोति कदाचन ॥52॥

वह योगी जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तावस्थाओं से विनिर्मुक्त होकर, अन्य किसी भी विचार से रहित होकर मरे हुए आदमी की तरह रहता है। वह मुक्त ही है, इसमें किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं है। ऐसा योगी शंख-भेरी-दुन्दुभि आदि लौकिक ध्वनियों को सुनता ही नहीं है।

काष्ठवज्जायते देहः उन्मन्यावस्थया ध्रुवम्।
न जानाति स शीतोष्णं न दुःखं न सुखं तथा ॥53॥

जब ऐसी उन्मनी (मनोरहित) अवस्था हो जाती है, तब निश्चित रूप से यह देह काष्ठवत् हो जाता है। उस समय वह योगी न शीत जानता है, न उष्ण ही जानता है तथा सुख या दुःख का भी अनुभव नहीं करता।

न मानं नावमानं च सन्त्यक्त्वा तु समाधिना।
अवस्थात्रयमन्वेति न चित्तं योगिनः सदा ॥54॥

ऐसे योगी को मान या अपमान कुछ भी अनुभव नहीं होता। अपनी समाधि से सब कुछ त्याग कर रहता है। ऐसे योगी का मन जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति—इन तीन अवस्थाओं का अनुसरण नहीं करता।

जाग्रन्निद्राविनिर्मुक्तः स्वरूपावस्थतामियात् ॥55॥
दृष्टिः स्थिरा यस्य विना सदृश्यं वायुः स्थिरो यस्य विना प्रयत्नम्।
चित्तं स्थिरं यस्य विनावलम्बं स ब्रह्मतारान्तरनादरूपः ॥56॥

इत्युपनिषत्।

इति नादबिन्दूपनिषत् समाप्ता।

वह योगी जाग्रत् और निद्रा से विनिर्मुक्त होकर अपने स्वरूप की अवस्था को ही प्राप्त होता है। दृश्य पदार्थ के अभाव में भी जिसकी दृष्टि स्थिर रहती है, किसी भी प्रयत्न के बिना जिसका प्राण (श्वासोच्छ्वास) स्थिर रहता है, किसी भी आधार के बिना भी जिसका चित्त स्थिर ही रहता है वह ऐसा योगी ब्रह्मरूप प्रणवनाद के भीतर के नादरूप तुर्यतुर्य वादरूपता से विदेहमुक्त हो जाता है—यह उपदेश है।

यहाँ नादबिन्दु उपनिषद् पूर्ण हुई।

शान्तिपाठः

ॐ वाङ्मे मनसि⋯⋯वक्तारमवतु वक्तारम्। (पूर्ववत्)

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

❋

(40) ध्यानबिन्दूपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

यह उपनिषद् कृष्णयजुर्वेद से सम्बन्ध रखती है। इसमें ध्यान केन्द्रविषय है। ब्रह्म के ध्यानयोग की महिमा बताकर पहले ब्रह्म का सूक्ष्मत्व और सर्वव्यापकत्व बताया है। बाद में प्रणव का स्वरूप, उसके ध्यान की विधि, प्राणायाम और अन्य प्रकार से प्रणवध्यान, ब्रह्मध्यान, त्रिमूर्तिध्यान और उसका फल बताया गया है। तदुपरान्त षडंगयोग, आसनचतुष्टय, योनिस्थान, मूलाधारादि चक्र, नाड़ीचक्र, प्राणादि दशावयव आदि कई विषय समाविष्ट हैं। यौगिक क्रियाओं के द्वारा योगी प्राण को अलग-अलग चक्रों में से क्रमशः सुषुम्णा नाड़ी के द्वारा ऊपर चढ़ाता है, और योग की अलग-अलग अन्यान्य क्रियाओं के द्वारा योगी को तरह-तरह की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, और अन्त में उस योगी को ब्रह्म का अनुभव होता है। इस उपनिषद् में योग की अनेकानेक क्रियाओं का भी सविस्तार वर्णन किया गया है।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ......मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (ब्रह्मोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

यदि शैलसमं पापं विस्तीर्णं बहुयोजनम्।
भिद्यते ध्यानयोगेन नान्यो भेदः कदाचन ॥1॥

यदि पर्वत जैसा (विशालतम) पाप हो और जो योजनों तक फैला हुआ हो, तो भी ध्यानयोग के द्वारा उसका नाश हो सकता है। ऐसे विशाल पाप के नाश के लिए अन्य कोई उपाय नहीं है।

बीजाक्षरं परं बिन्दुं नादं तस्योपरि स्थितम्।
सशब्दं चाक्षरे क्षीणे निःशब्दं परमं पदम् ॥2॥

बीजाक्षर ॐकार के परे बिन्दु है। उसके ऊपर नाद अवस्थित है। वह ध्वनियुक्त नाद जब अक्षर में क्षीण (लीन) हो जाता है, तब यह निःशब्द परमपद की स्थिति होती है।

अनाहतं तु यच्छब्दं तस्य शब्दस्य यत्परम्।
तत्परं विन्दते यस्तु सयोगी छिन्नसंशयः ॥3॥

जो अनाहत (आघात किए बिना होने वाली) ध्वनि है, उससे पर (उस शब्द का कारणभूत) जो तत्त्व है, उससे भी परे अर्थात् उसका भी जो कारण निर्विशेष ब्रह्म है, उसको जो साधक प्राप्त कर लेता है, उस योगीजन के सभी संशय छिन्न (नष्ट) हो जाते हैं।

वालाग्रशतसाहस्रं तस्य भागस्य भागिनः।
तस्य भागस्य भागार्धं तत्क्षये तु निरञ्जनम् ॥4॥

गेहूँ आदि पौधों के डंठल के अग्रभाग को (नोक को) यदि एक लाख हिस्सों में बाँटा जाय (तो उसका वह एकांश सूक्ष्मभाग जीव की सूक्ष्मता होगी) फिर उस एकांश भाग को भी उतने ही भागों में अर्थात् एक लाख भागों में बाँटा जाए (तो उस सूक्ष्मतः भाग की सूक्ष्मता ईश्वर की कही जाएगी), इसके बाद उस सूक्ष्म हिस्से को भी आधे (पचास हजार) भागों में बाँट देने पर जो बाकी रहता है वह भी क्षीण या नष्ट हो जाने पर (अर्थात् साक्ष्य-साक्षी आदि विशेषण के भी नष्ट होने के बाद) जो शेष रहता है, वही सूक्ष्मातिसूक्ष्म निरंजन (ब्रह्म) की सत्ता है।

पुष्पमध्ये यथा गन्धः पयोमध्ये यथा घृतम्।
तिलमध्ये यथा तैलं पाषणेष्विव काञ्चनम् ॥5॥
एवं सर्वाणि भूतानि मणौ सूत्र इवात्मनि।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥6॥

पुष्पों में जिस प्रकार आँखों से दिखाई न पड़ने पर भी गन्ध होती है, दूध में जिस तरह अव्यक्त रूप से घी रहता है, तिल में जैसे अव्यक्त तेल रहता है और पत्थर में जैसे छिपकर सोना रहता है, ठीक उसी प्रकार सभी प्राणियों में आत्मा का अस्तित्व रहता ही है। जो स्थिर बुद्धिवाला, मोहरहित और ब्रह्मज्ञानी होता है वह मणियों में पिरोये हुए सूत्र की तरह ही सर्वत्र उस अव्यक्त आत्मा को अपने में ही जानकर ब्रह्म में ही अवस्थित रहता है।

तिलानां तु यथा तैलं पुष्पे गन्ध इवाश्रितः।
पुरुषस्य शरीरे तु सबाह्यभ्यन्तरे स्थितः ॥7॥

जिस प्रकार तिल में तेल बाहर-भीतर (सब जगह पर) व्याप्त होकर रहता है, और पुष्प में भी गन्ध जिस तरह समग्रतया समव्याप्त रहती है, उसी प्रकार पुरुष के शरीर में आत्मा बाहर और भीतर (सर्वत्र) समव्याप्त होकर रहता है।

वृक्षं तु सकलं विद्याच्छाया तस्यैव निष्कला।
सकले निष्कले भावे सर्वत्रात्मा व्यवस्थितः ॥8॥

ईश्वर-साक्षी आदि कलाओं से युक्त को वृक्षरूप जानना चाहिए और उस कलासहित चैतन्य की छाया में कोई कला नहीं है – वह एक-सी है। यह जो चैतन्य - शुद्ध चिद्रूप है, वह तो उस कलासहित चैतन्य रूप वृक्ष में और उसकी छाया रूप निष्कल (एक) माया में—दोनों में ही सर्वत्र समभाव से व्यवस्थित रहता है।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म ध्येयं सर्वमुमुक्षुभिः।
पृथिव्यग्निश्च ऋग्वेदो भूरित्येव पितामहः ॥9॥
अकारे तु लयं प्राप्ते प्रथमे प्रणवांशके।
अन्तरिक्षं यजुर्वायुर्भुवो विष्णुर्जनार्दनः ॥10॥
उकारे तु लयं प्राप्ते द्वितीये प्रणवांशके।
द्यौः सूर्यः सामवेदश्च स्वरित्येव महेश्वरः ॥11॥
मकारे तु लयं प्राप्ते तृतीये प्रणवांशके।
अकारः पीतवर्णः स्याद्रजोगुण उदीरितः ॥12॥
उकारः सात्त्विकः शुक्लो मकारः कृष्णतामसः।
अष्टांगं च चतुष्पादं त्रिस्थानं पञ्चदैवतम् ॥13॥

'ओंकार'रूपी एकाक्षर ब्रह्म सभी मुमुक्षुओं का ध्येय रहा है। उस प्रणव के पहले **'अ'** अंश में पृथ्वी, अग्नि, ऋग्वेद, भूर्लोक और पितामह ब्रह्मा का लय होता है। ओंकार का दूसरा अंश **'उ'** है। इस अंश में अन्तरिक्ष, यजुर्वेद, वायु, भुवर्लोक और जनार्दन विष्णु का लय हो जाता है। ओंकार का तीसरा अंश **'म'** है, इसमें द्यौः, सूर्य, सामवेद, स्वर्लोक और महेश्वर का लय होता है। ऊपर के इन तीनों अंशों में 'अकार' पीले वर्ण वाला है और रजोगुण से युक्त है। 'उकार' श्वेतवर्णवाला है और सत्त्वगुण से युक्त है और 'मकार' कृष्णवर्ण वाला और तमोगुणयुक्त है। यह ओंकार आठ अंगों वाला, चार पैरों वाला, तीन आँखों वाला तथा पाँच देवताओं वाला है। (ओंकार के **आठ** अंग—अकार, उकार, मकार, नाद, बिन्दु, कला, कलातीत तथा कालातीतातीत हैं। ओंकार के **चार** पैर—विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय **अथवा** विराट्, सूत्र, बीज और तुरीय हैं। ओंकार के **तीन** स्थान—सत्त्व-रजस्-तमस् या जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति **या** स्थूल-सूक्ष्म-कारण, **या** ज्ञान-इच्छा-क्रियाशक्ति, **या** भूत-भविष्यत्-वर्तमान काल माने जा सकते हैं। ओंकार के **पाँच** देवता—ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव हैं।

ओंकारं यो न जानाति ब्राह्मणो न भवेत्तु सः।
प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ॥14॥
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्।
निवर्तन्ते क्रियाः सर्वास्तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥15॥

जो ओंकार को नहीं जानता, वह ब्राह्मण ही नहीं हो सकता। प्रणव (ओंकार) धनुष रूप है और आत्मा बाणरूप है और लक्ष्य ब्रह्म है। साधक को प्रमादरहित होकर उस ब्रह्मरूप लक्ष्य को आत्मारूपी बाण का प्रणव में सन्धान करके तन्मय होकर बींध देना चाहिए। ऐसा होने पर वह जब परात्पर ब्रह्मतत्त्व से सायुज्य प्राप्त कर लेगा, तब उसके लिए कोई कर्तव्य बाकी नहीं रहेगा।

ओंकारप्रभवा देवा ओंकारप्रभवाः स्वराः।
ओंकारप्रभवं सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥16॥

सभी देव ओंकार से ही उत्पन्न हुए हैं। सभी स्वर भी ओंकार से उत्पन्न हुए हैं। यह सारा जगत् ओंकार से ही उत्पन्न हुआ है। ये तीनों (भूः, भुवः, स्वः) लोक और यह जड और चेतन सब कुछ ओंकार ही से उत्पन्न हुआ है।

ह्रस्वो दहति पापानि दीर्घः सम्पत्प्रदोऽव्ययः।
अर्धमात्रासमायुक्तः प्रणवो मोक्षदायकः ॥17॥

प्रणव का ह्रस्व जप पापों को जला देता है और दीर्घमात्रीय जप अक्षयरूप से संपत्ति प्रदान करने वाला होता है। और अर्ध मात्रा से युक्त प्रणव जप मोक्ष को देने वाला होता है। (यहाँ ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत प्रकार से किए जाने प्रणव जप का फल बताया गया है। अर्ध मात्रा समायुक्त दीर्घ जप ही प्लुतता से किया गया जप है)।

तैलधारामिवाच्छिन्नं दीर्घघण्टानिनादवत्।
अवाच्यं प्रणवस्याग्रं यस्तं वेद स वेदवित् ॥18॥

तेल की धारा की तरह अविच्छिन्न (अटूट) और विशाल घण्टा की दीर्घ आवाज के समान प्रणव-जाप के आगे अश्राव्य (ध्वनिरहित) आवाज को भी जो सुन लेता है वही वेद को सही जानने वाला है।

हृत्पद्मकर्णिकामध्ये स्थिरदीपनिभाकृतिम् ।
अंगुष्ठमात्रमचलं ध्यायेदोंकारमीश्वरम् ॥19॥

हृदयरूपी कमल की कर्णिका के मध्य अचल दीप जैसी प्रभा को धारण करने वाले के समान अंगुष्ठमात्र आकार वाले तेजोमय और स्थिर ऐसे ओंकाररूपी ईश्वर का ध्यान करना चाहिए।

इडया वायुमापूर्य पूरयित्वोदरस्थितम् ।
ओंकारं देहमध्यस्थं ध्यायेज्ज्वालावलीयुतम् ॥20॥
ब्रह्मा पूरक इत्युक्तो विष्णुः कुम्भक उच्यते ।
रेचो रुद्र इति प्रोक्तः प्राणायामस्य देवताः ॥21॥

इडा (बायीं नासिका) से वायु को भरकर उदर में स्थापित करना चाहिए और तब देह के मध्यभाग में स्थित ज्योतिर्मय ओंकार का ध्यान करना चाहिए। इस पूरक के ध्येय देवता ब्रह्मा हैं। कुम्भक के ध्येय देवता विष्णु और रेचक के ध्येय देवता रुद्र कहे गए हैं। ये तीन—ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र क्रमशः पूरक, कुंभक और रेचक के ध्येय देवता हैं। (परंपरा से हटकर इस मन्त्र में तीन प्राणायाम के देवता बताए गए हैं, यह चिन्तनीय है। परंपरा तो पूरक के विष्णु, कुंभक के ब्रह्मा और रेचक के शिव—इस प्रकार कहती है। इसी उपनिषद् के 29 और 31 मन्त्र में वही परंपरा बताई है)।

आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् ।
ध्याननिर्मथनाभ्यासादेवं पश्येन्निगूढवत् ॥22॥

आत्मा को अरणि बनाकर और प्रणवमन्त्र को ऊपर की अरणिरूप बनाकर ध्यानरूपी मन्थन के बार-बार परिशीलन से अरणि में आग की तरह स्थित निगूढ आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करना चाहिए।

ओंकारध्वनिनादेन वायोः संहरणान्तिकम् ।
यावद्बलं समादध्यात्सम्यङ्नादलयावधि ॥23॥

जहाँ तक नादसहित रेचक वायु का अच्छी तरह से विलय हो जाए, वहाँ तक जितना बल हो उसे लगाकर ओंकार के निनाद के साथ ध्यान करते ही रहना चाहिए।

गमागमस्थं गमनादिशून्यमोंकारमेकं रविकोटिदीप्तम् ।
पश्यन्ति ये सर्वजनान्तरस्थं हंसात्मकं ते विरजा भवन्ति ॥24॥

गमन और आगमन में अनुस्यूत होते हुए भी गमन और आगमन से रहित एवं करोड़ों सूर्यों के-से तेजस्वी, सभी मनुष्यों के अन्तस् में अवस्थित हंसरूप उस ओंकार को जो मनुष्य देख लेते हैं (साक्षात्कार कर लेते हैं) वे निष्पाप हो जाते हैं।

यन्मनस्त्रिजगत्सृष्टिस्थितिप्रलयकर्मकत् ।
तन्मनो विलयं याति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥25॥
अष्टपत्रं तु हृत्पद्मं द्वात्रिंशत्केसरान्वितम् ।
तस्य मध्ये स्थितो भानुर्भानुमध्यगतः शशी ॥26॥

जो मन इस जगत् का सर्जन, पालन और प्रलय करता है, उस मन का ही तब विलय हो जाता है और वही विष्णु का परमपद है। हृदयरूपी कमल आठ पँखुड़ियों वाला है और उसमें बत्तीस केसर (तन्तु) हैं। उसके बीच सूर्य अवस्थित है और उस सूर्य के मध्य में शशी (चन्द्र) अवस्थित है।

शशिमध्यगतो वह्निर्वह्निमध्यगता प्रभा।
प्रभामध्यगतं पीठं नानारत्नप्रवेष्टितम् ॥27॥
तस्य मध्यगतं देवं वासुदेवं निरञ्जनम्।
श्रीवत्सकौस्तुभोरस्कं मुक्तामणिविभूषितम् ॥28॥
शुद्धस्फटिकसंकाशं चन्द्रकोटिसमप्रभम्।
एवं ध्यायेन्महाविष्णुमेवं वा विनयान्वितः ॥29॥
अतसीपुष्पसंकाशं नाभिस्थाने प्रतिष्ठितम्।
चतुर्भुजं महाविष्णुं पूरकेण विचिन्तयेत् ॥30॥

उस शशी के बीच में वह्नि अवस्थित है, वह्नि के मध्य में तेज है और उस तेज के बीच में तरह-तरह के रत्नों से मढ़ा हुआ एक पीठ है। उस पीठ के ऊपर वासुदेव निरंजन विराजित हैं जो श्रीवत्स का लांछन और कौस्तुभमणि को वक्षस्थल पर धारण किए हुए, मुक्तारत्न से विभूषित हैं, जो शुद्ध स्फटिक के सदृश वर्णवाले एवं करोड़ों चन्द्रों के तेज से युक्त हैं—ऐसे महाविष्णु का विनयपूर्वक ध्यान करना चाहिए। **अथवा** उसी पूरक के समय में—नाभिस्थान में प्रतिष्ठित और अतसी के पुष्प के समान चतुर्भुज भगवान् विष्णु का ध्यान करना चाहिए।

कुम्भकेन हृदि स्थाने चिन्तयेत्कमलासनम्।
ब्रह्माणं रक्तगौराभं चतुर्वक्त्रं पितामहम् ॥31॥

कुंभक के द्वारा (कुंभक करते समय) हृदयरूपी कमल के आसन पर विराजमान लाल और गौर (गेहुँए) वर्णवाले, चार मुँहवाले पितामह ब्रह्माजी का ध्यान करना चाहिए।

रेचकेन तु विद्यात्मा ललाटस्थं त्रिलोचनम्।
शुद्धस्फटिकसंकाशं निष्फलं पापनाशनम् ॥32॥
अब्जपत्रमधःपुष्पमूर्ध्वनालमधोमुखम्।
कदलीपुष्पसंकाशं सर्ववेदमयं शिवम् ॥33॥

रेचक के समय (साँस छोड़ने के समय) भाल प्रदेश में शुद्ध स्फटिक के समान तथा श्वेत वर्णवाले एवं तीन नेत्रवाले तथा कलारहित, पापनाशक, भगवान् शिव का ध्यान करना चाहिए। वह शिव ऐसे हृदयरूपी कमल में विराजित हैं, जो नीचे की ओर पद्मपत्रों से युक्त है और पुष्पित है तथा जिसकी नाल ऊपर की ओर बढ़ी हुई है, जो कदली के फूल जैसा कोमल है, जो सर्ववेदों का आधाररूप अतएव सदैव कल्याणकारी है।

शतारं शतपत्राढ्यं विकीर्णाम्बुजकर्णिकम्।
तत्रार्कचन्द्रवह्नीनामुपर्युपरि चिन्तयेत् ॥34॥

सौ अरेवाले, सौ पत्ते वाले विकसित पँखुड़ियों से युक्त उस हृदयरूपी कमल में शिव का पूर्वोक्त प्रकार से ध्यान करने के बाद क्रमशः (एक के बाद एक) सूर्य, चन्द्र और अग्नि का ध्यान करना चाहिए।

पद्मस्योद्घाटनं कृत्वा बोधचन्द्रादिसूर्यकम्।
तस्य हृद्बीजमादाय आत्मानं चरते ध्रुवम् ॥35॥

सूर्य-चन्द्र-अग्नि का बोध करने के लिए सर्वप्रथम उस हृदयकमल का प्रणवमन्त्र से उद्‌घाटन करके (उसे ऊर्ध्वमुख करके) ही चन्द्र-सूर्यादि ज्ञान के लिए ध्यान करना चाहिए। बाद में उस हृदयकमल के अकार नामक बीज को ग्रहण कर अपने आत्मा की उसी रूप में संभावना करने से वह अकारार्थ विष्णु आत्मा में अवश्य संचारित हो जाते हैं।

त्रिस्थानं च त्रिमार्गं च त्रिब्रह्म च त्रयाक्षरम्।
त्रिमात्रमर्धमात्रं वा यस्तं वेद स वेदवित् ॥36॥

(जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिरूप) तीन स्थान, (धूम-अर्चि-अगतिरूप) तीन मार्ग, (विश्व-विराट्-ओतृ-ब्रह्मरूप) तीन ब्रह्म, (अ-उ-म्-रूप) तीन अक्षर, और (ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत) रूप तीन मात्राएँ तथा अर्ध-मात्रा—इन सबमें जो परमात्मा स्थित है, उसको जो जानता है, वही सही रूप में वेदों को जानता है।

तैलधारामिवाच्छिन्नं दीर्घघण्टानिनादवत्।
बिन्दुनादकलातीतं यस्तं वेद स वेदवित् ॥37॥

दीर्घघण्टा की ध्वनि सदृश, तेल की अविच्छिन्न धारा की तरह सातत्ययुक्त तथा बिन्दु, नाद और कला से परे (रहित) ऐसे इस परमतत्त्व ॐकार को जो जानता है, वही सही रूप में वेदों को जानने वाला है।

यथैवोत्पलनालेन तोयमाकर्षयेन्नरः।
तथैवोल्कर्षयेद्वायुं योगी योगपथे स्थितः ॥38॥

जैसे मनुष्य कमल की नाल से पानी को खींचता है, उसी प्रकार योगमार्ग का अनुसरण करने वाला योगी वायु को धीरे-धीरे ऊर्ध्व को ओर ले जाय।

अर्धमात्रात्मकं कृत्वा कोशभूतं तु पङ्कजम्।
कर्षयेन्नालमात्रेण भ्रुवोर्मध्ये लयं नयेत् ॥39॥

फिर स्थूल-सूक्ष्म-बीजभाव को प्राप्त हुए, दृष्टि-मन-अग्नि से एकीभूत हुए हृदयकमल को अर्धमात्रात्मक बनाकर, नालरूप सुषुम्नामार्ग से दोनों भौंहों के बीच उसका लय कर देना चाहिए। (पहले कोशभूत हृदयकमल को अर्धमात्रात्मक (अव्यक्तोच्चारणात्मक) करके उसकी सहायता से सुषुम्नामार्ग से कुण्डलिनी को भौंहों के बीच स्थित अमृतस्थान में लय करना चाहिए)।

भ्रुवोर्मध्ये ललाटे तु नासिकायास्तु मूलतः।
जानीयादमृतं स्थानं तद्ब्रह्मायतनं महत् ॥40॥

दोनों भौंहों के बीच, भाल प्रदेश में, नासिका के मूल में, वह अमृतस्थान अवस्थित है। वह ब्रह्म का महान् निवास स्थान है, ऐसा जानना चाहिए।

आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा।
ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि भवन्ति षट् ॥41॥

आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये छः योग के अंग होते हैं।

आसनानि तु तावन्ति यावन्त्यो जीवजातयः।
एतेषामतुलान्भेदान् विजानाति महेश्वरः ॥42॥

जीव की जितनी जातियाँ हैं, उतनी ही (असंख्य) आसन की विधियाँ हैं। इन असंख्य भेदों के ज्ञाता तो एक महेश्वर हैं।

सिद्धं भद्रं तथा सिंहं पद्मं चेति चतुष्टयम्।
आधारं प्रथमं चक्रं स्वाधिष्ठानं द्वितीयकम् ॥43॥

आसनों में सिद्धासन, भद्रासन, सिंहासन तथा पद्मासन—ये चार मुख्य हैं। (अब नया विषय कहते हैं—) पहला चक्र आधार - मूलाधारचक्र है और दूसरा चक्र स्वाधिष्ठान कहा जाता है।

योनिस्थानं तयोर्मध्ये कामरूपं निगद्यते।
आधाराख्ये गुदस्थाने पङ्कजं यच्चतुर्दलम् ॥44॥
तन्मध्ये प्रोच्यते योनिः कामाख्या सिद्धवन्दिता।
योनिमध्ये स्थितं लिङ्गं पश्चिमाभिमुखं तथा ॥45॥

इन मूलाधार और स्वाधिष्ठान चक्रों के बीच कामरूप प्रजननस्थान कहा जाता है। गुदा स्थान पर आए हुए मूलाधार चक्र में चार पँखुडियों वाला कमल है। उसके बीच कामाख्या नाम की सुविख्यात प्रजननयोनि (कुण्डलिनी शक्ति) है। वह सिद्ध पुरुषों के द्वारा अभ्यर्थित है। उस योनि के बीच पश्चिम की ओर प्रत्यगात्मलिंग है।

मस्तके मणिवद्भिन्नं यो जानाति स योगवित्।
तप्तचामीकराकारं तडिल्लेखेव विस्फुरत् ॥46॥
चतुरस्त्रमुपर्यग्नेरधो मेढ्रात्प्रतिष्ठितम्।
स्वशब्देन भवेत्प्राणः स्वाधिष्ठानं तदाश्रयम् ॥47॥

वह प्रत्यगात्मलिंग उस कामाख्या योनि के मुख पर स्थित है जो वहाँ मणि की तरह स्वप्रकाशित रूप से विद्यमान है। उसे जो जानता है, वह योगवित् माना जाता है। अब जो तपे हुए सोने जैसे आकार (तेज) वाला और बिजली की रेखा की तरह स्फुरित होता हुआ वहाँ विद्यमान है और जो अग्निमण्डल से चार अंगुल ऊपर है तथा मेढ़ (मूत्रेन्द्रिय) के नीचे है वह मूलाधार चक्र है। और लिंग के मूल में 'स्व' शब्दवाचक जो प्राण है, उसके आश्रयभूत चक्र को (जो छः दलवाला है) 'स्वाधिष्ठान चक्र' कहा जाता है।

स्वाधिष्ठानं ततश्चक्रं मेढ्रमेव निगद्यते।
मणिवत्तन्तुना यत्र वायुना पूरितं वपुः ॥48॥
तन्नाभिमण्डलं चक्रं प्रोच्यते मणिपूरकम्।
द्वादशारमहाचक्रे पुण्यपापनियन्त्रितः ॥49॥

इसीलिए मेढ़ (मूत्रेन्द्रिय) को ही स्वाधिष्ठान चक्र कहा जाता है। और जहाँ पर मणि में पिरोए गए तन्तु की तरह वायु के द्वारा शरीर अनुस्यूत हुआ है, उस नाभिमण्डल के चक्र को मणिपूरक कहा गया है। वह दश दलवाला होता है। उससे ऊपर जो बारह दलवाला महाचक्र है, वह अनाहतचक्र है। इसमें जीव पुण्य और पाप से विवर्जित होता है। (अब यहाँ कहना चाहिए कि इस द्वादशदलीय अनाहतचक्र के ऊपर षोडशदलीय विशुद्धिचक्र, उससे परे द्विदलीय आज्ञाचक्र तथा उससे परे चन्द्रसूर्य मण्डल तथा उससे भी परे सहस्रारचक्र अवस्थित है, यह जान लेना चाहिए)।

तावज्जीवो भ्रमत्येवं यावत्तत्वं न विन्दति ।
ऊर्ध्वं मेढ्रादधो नाभेः कन्दो योऽस्ति खगाण्डवत् ॥50॥
तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्त्राणि द्विसप्ततिः ।
तेषु नाडीसहस्त्रेषु द्विसप्ततिरुदाहृताः ॥51॥

जीव जब तक आत्मतत्त्व को नहीं पहचान लेता, तब तक संसार में घूमा ही करता है। मेढ्र (मूत्रेन्द्रिय) के ऊपर और नाभि के नीचे पक्षी के अण्डे के आकार का एक कन्द नामक स्थान है। वहाँ से बहत्तर हजार नाड़ियाँ उत्पन्न होती हैं। उन हजारों नाड़ियों में से बहत्तर नाड़ियाँ मुख्य हैं।

प्रधानाः प्राणवाहिन्यो भूयस्तत्र दश स्मृताः ।
इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्ना च तृतीयका ॥52॥
गान्धारी हस्तजिह्वा च पूषा चैव यशस्विनी ।
अलम्बुसा कुहूरत्र शंखिनी दशमी स्मृता ॥53॥

इनमें से भी प्राणों का संचरण करने वाली मुख्य दस नाडियाँ मानी गई है। वे हैं—इडा, पिंगला, सुषुम्ना, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, यशस्विनी, अलम्बुसा, कुहू और शंखिनी।

एवं नाडीमयं चक्रं विज्ञेयं योगिना सदा ।
सततं प्राणवाहिन्यः सोमसूर्याग्निदेवताः ॥54॥
इडापिङ्गलासुषुम्नास्तिस्त्रो नाड्यः प्रकीर्तिताः ।
इडा वामे स्थिता भागे पिङ्गला दक्षिणे स्थिता ॥55॥
सुषुम्ना मध्यदेशे तु प्राणमार्गास्त्रयः स्मृताः ।
प्राणोऽपानः समानश्चोदानो व्यानस्तथैव च ॥56॥
नागः कूर्मः कृकरको देवदत्तो धनञ्जयः ।
प्राणाद्याः पञ्च विख्याता नागाद्याः पञ्च वायवः ॥57॥

योगी को इस प्रकार का नाडीचक्र सदैव जान लेना चाहिए। सतत प्राण का संचरण करने वाली इडा, पिंगला और सुषुम्ना—इन तीन नाडियों के अधिष्ठाता देवता क्रमशः सोम, सूर्य और अग्नि हैं। इन तीन नाडियों में इडा बाँयें भाग पर है और पिंगला दक्षिण भाग में है। सुषुम्ना इन दोनों के बीच में अवस्थित है। इस प्रकार प्राणों के संचार के तीन मार्ग हैं। ये प्राण इस प्रकार हैं—प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकरक, देवदत्त और धनंजय है। इनमें प्राण आदि पहले पाँच विख्यात (मुख्य) हैं और नाग आदि अंतिम पाँच गौण हैं।

एते नाडीसहस्त्रेषु वर्तन्ते जीवरूपिणः ।
प्राणापानवशो जीवो ह्यधश्चोर्ध्वं प्रधावति ॥58॥

इन हजारों नाड़ियों में प्राण जीवरूप होकर स्थित है। जीव प्राण और अपान का वशवर्ती होकर ऊपर-नीचे आया-जाया करता है अर्थात् दौड़ता रहता है।

वामदक्षिणमार्गेण चञ्चलत्वान्न दृश्यते ।
आक्षिप्तो भुजदण्डेन यथोच्चलति कन्दुकः ॥59॥
प्राणापानसमाक्षिप्तस्तद्वज्जीवो न विश्रमेत् ।
अपानात्कर्षति प्राणोऽपानः प्राणाच्च कर्षति ॥60॥

खगरज्जुवदित्येतद्यो जानाति स योगवित् ।
हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः ॥61॥
हंसहंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ।
शतानि षड्दिवारात्रं सहस्राण्येकविंशतिः ॥62॥
एतत्संख्यान्वितं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ।
अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदा सदा ॥63॥

यह प्राण शरीर के दाँये-बाँये गमन करता रहता है, पर चंचल होने से वह दिखाई नहीं देता । जैसे हाथ से उछाली गई गेंद इधर-उधर चलायमान होती है, उसी प्रकार प्राण और अपान के द्वारा अपनी-अपनी ओर खींचा जाने वाला यह जीव कभी आराम नहीं प्राप्त करता, क्योंकि उसे अपान की ओर से प्राण अपनी ओर खींचता है और प्राण की ओर से अपान अपनी ओर हमेशा खींचता ही रहता है, जिस प्रकार रस्सी से बाँधा गया पक्षी खींच लिया जाता है । इस तत्त्व को जो जानता है उसे योगवित् कहा जा सकता है । हमारा प्राण 'ह'कार जैसे उच्चारण से बाहर निकलता है, और 'स'कार जैसे उच्चारण से फिर वह शरीर में प्रवेश करता है । इस प्रकार यह जीव सदैव 'हंस' 'हंस' का मंत्र जपता ही रहता है और ऐसा जप प्रतिदिन इक्कीस हजार छः सौ की संख्या में होता है । ऐसे जाप को अजपा गायत्री कहा जाता है । ऐसा जाप योगियों के लिए सदा मोक्ष देने वाला होता है ।

अस्याः सङ्कल्पमात्रेण नरः पापैः प्रमुच्यते ।
अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः ॥64॥
अनया सदृशं पुण्यं न भूतं न भविष्यति ।
येन मार्गेण गन्तव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम् ॥65॥

इस अजपा गायत्री के संकल्पमात्र से मनुष्य पापों से मुक्त हो जाता है । इसके जैसी कोई विद्या, इसके जैसा कोई जप, इसके जैसा कोई पुण्य, न अभी तक हुआ है, न होगा कि जिस मार्ग पर चलकर निरामय विशुद्ध ब्रह्म को प्राप्त किया जा सके ।

मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ।
प्रबुद्धा वह्नियोगेन मनसा मरुता सह ॥66॥
सूचीवद् गुणमादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्नया ।
उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुञ्चिकया हठात् ॥67॥
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत् ॥68॥

वह्नियोग के द्वारा जाग्रत् की जाने वाली वह परमेश्वरी (कुण्डलिनी शक्ति) उस द्वारमार्ग को अपने मुँह से आच्छादित कर स्थित है (वह सोई हुई अवस्था में है) । वह जब वह्नियोग से जाग्रत् की जाती है, तब मन और प्राणवायु के साथ सुषुम्ना के मार्ग से ऊर्ध्वगमन करती है और जैसे सुई धागे को अपने साथ ले आती है वैसे ही वह शक्ति भी मन और प्राण को अपने साथ लेकर ही ऊपर बढ़ती है। योगीजन मुक्तिद्वार को कुण्डलिनी शक्ति द्वारा उसी प्रकार खोल देते हैं, जैसे चाभी से ताला खोलकर प्रयत्नपूर्वक दरवाजा खोल दिया जाता है ।

कृत्वा सम्पुटितौ करौ दृढतरं बद्ध्वाऽथ पद्मासनं,
गाढं वक्षसि सन्निधाय चुबुकं ध्यानं च तच्चेतसि ।

वारंवारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोच्यारयन्पूरितं,
मुञ्चन्प्राणमुपैति बोधमतुलं शक्तिप्रभावान्नरः ॥69॥

अच्छी तरह से पद्मासन लगाकर हाथों को संपुटित करके छाती पर चिबुक (ठोड़ी) को मजबूती से रखकर चित्त में स्वरूप का ध्यान करना चाहिए। ध्यान करते समय बार-बार नीचे की अपानवायु को ऊपर की ओर लाना चाहिए तथा पूरित वायु को बाहर छोड़ते रहना चाहिए। इस प्रकार करने वाला योगी उस कुण्डलिनी शक्ति कें प्रभाव से अतुलनीय बोध प्राप्त कर सकता है।

पद्मासनस्थितो योगी नाडीद्वारेषु पूरयन्।
मारुतं कुम्भयन्यस्तु स मुक्तो नात्र संशयः ॥70॥

पद्मासन में स्थित योगीजन नाड़ियों के द्वारों से प्राण वायु को भीतर लाते हुए पूरक प्राणायाम करता है, फिर वह उस वायु को कुंभक प्राणायाम से रोकता है, वह निःसन्देह मुक्त हो जाता है।

अङ्गानां मर्दनं कृत्वा श्रमजातेन वारिणा।
कट्वम्ललवणत्यागी क्षीरपानरतः सुखी ॥71॥
ब्रह्मचारी मिताहारी योगी योगपरायणः।
अब्दादूर्ध्वं भवेत्सिद्धो नात्र कार्या विचारणा ॥72॥

इस प्राणायाम के परिश्रम से उत्पन्न हुए प्रस्वेद-बिन्दुओं से ही अपने शरीर को मलकर और तीखे, खट्टे एवं नमकीन पदार्थों को छोड़कर, केवल दूध के पान से ही जीने वाला, सुखी, ब्रह्मचारी, मिताहार करने वाला योगपरायण योगीजन एक वर्ष के भीतर ही सिद्धि प्राप्त करता है, इसमें कुछ विचारने की बात नहीं है।

कन्दोर्ध्वकुण्डलीशक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम्।
अपानप्राणयोरैक्यं क्षयान्मूत्रपुरीषयोः ॥73॥
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात्।
पार्ष्णिभागेन सम्पीड्य योनिमाकुञ्चयेद् गुदम् ॥74॥
अपानमूर्ध्वमुत्कृष्य मूलबन्धोऽयमुच्यते।
उड्याणं कुरुते यस्मादविश्रान्तमहाखगः ॥75॥
उड्डियाणं तदेव स्यात्तत्र बन्धो विधीयते।
उदरे पश्चिमं ताणं नाभेरूर्ध्वं तु कारयेत् ॥76॥

कन्द-प्रदेश से ऊपर के भाग में जिसकी कुण्डलिनी शक्ति स्थित है, वह योगी सिद्धि के योग्य है। अर्थात् जिसकी नाडीकन्द के ऊर्ध्व भाग में (सुषुम्ना में) कुण्डलिनी शक्ति हो, वह योगी योगसिद्धि का पात्र बनता है। सतत मूलबन्ध का अभ्यास करने से अपान और प्राण का एकीभाव हो जाता है। मल-मूत्र का क्षय हो जाने से बूढ़ा भी जवान हो जाता है। एड़ी से योनि को दबाकर गुदा को संकुचित करना चाहिए और अपानवायु को ऊपर खींचना चाहिए—इस क्रिया को मूलबन्ध कहा गया है। 'उड्डियाणबन्ध' की विधि में कहा गया है कि जिस प्रकार कोई बड़ा पक्षी बिना थकान के ही उड़ने की क्रिया करता है उसी प्रकार पेट को पीछे की ओर वेग से खींचने (सिकोड़ने) की 'ताण' क्रिया करने के साथ नाभि को ऊपर की ओर खींचना चाहिए (इसको 'उड्डियाणबन्ध' कहा जाता है)।

उड्डियाणोऽप्ययं बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी ।
बध्नाति हि शिरोजातमधोगामिनभोजलम् ॥77॥
ततो जालन्धरो बन्धः कर्मदुःखौघनाशनः ।
जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसंकोचलक्षणे ॥78॥
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रधावति ।
कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ॥79॥
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ।
न रोगो मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा ॥80॥

यह पूर्वोक्त 'उड्डियाणबन्ध' मृत्युरूपी हाथी के लिए सिंह जैसा नाशक होता है। और अन्य एक जो बन्ध है, शिरो(नभो)जात अर्थात् सहस्रारूपी आकाश में विद्यमान तथा नीचे जाने वाले सर्वरोगहर कफ-जल को बाँध देता है (सुखा देता है), उसे 'जालन्धरबन्ध' कहा जाता है। इस बन्ध से कर्मबन्ध और पापजन्य दुःखों का नाश होता है। जालन्धरबन्ध करते समय कण्ठ को सिकोड़ा जाता है, जिससे वायु की गति रुक जाती है और अमृत के अग्नि में गिरने की संभावना नहीं रहती। अब इसके बाद 'खेचरी' मुद्रा' कहते हैं—जीभ को उल्टा कर कपाल के कुहर में प्रविष्ट किया जाता है और अपनी दृष्टि को दोनों भौंहों के बीच स्थिर किया जाता है। इस खेचरी मुद्रा के स्थिर हो जाने से निद्रा एवं भूख-प्यास नहीं सताती है और किसी पीड़ा (रोग) तथा मृत्यु का भी भय नहीं होता।

न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ।
पीड्यते न च रोगेण लिप्यते न च कर्मणा ॥81॥
बध्यते न च कालेन यस्य मुद्रास्ति खेचरी ।
चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा भवति खे गता ॥82॥
तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धनमस्कृता ।
खेचर्या मुद्रया यस्य विवरं लम्बिकोर्ध्वतः ॥83॥
बिन्दुः क्षरति नो यस्य कामिन्यालिङ्गितस्य च ।
यावद्बिन्दुः स्थितो देहे तावन्मृत्युभयं कुतः ॥84॥

इस खेचरी मुद्रा को जो जानता है, वह कभी मूर्च्छित नहीं होता। रोगों से वह पीड़ित नहीं होता है, कर्म से वह लिप्त नहीं होता। जिसको खेचरी मुद्रा सिद्ध है, उसे काल बाँध नहीं सकता। लम्बे अरसे तक उसका चित्त आकाश में विहार कर सकता है, क्योंकि उसकी जीभ अन्तरिक्षगामिनी हो जाती है। इसीलिए तो यह खेचरी मुद्रा सिद्धों के लिए भी वन्दनीय है। इस खेचरी मुद्रा के द्वारा जिसने लम्बिका (अन्तर्जिह्वा) से भी आगे के विवर (तालु) को अवरुद्ध कर दिया है, ऐसे मनुष्य का कामिनी के आलिंगन करने पर भी वीर्यबिन्दु स्खलित नहीं होता और जब तक शरीर में वीर्य रहता है तब तक मृत्यु का भय भी कहाँ से हो सकता है ?

यावद्बद्धा नभोमुद्रा तावद्बिन्दुर्न गच्छति ।
गलितोऽपि यथा बिन्दुः सम्प्राप्तो योनिमण्डले ॥85॥
व्रजत्यूर्ध्वं हठाच्छक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया ।
स एव द्विविधो बिन्दुः पाण्डरो लोहितस्तथा ॥86॥
पाण्डरं शुक्रमित्याहुर्लोहिताख्यं महारजः ।
विद्रुमद्रुमसङ्काशं योनिस्थाने स्थितं रजः ॥87॥

शशिस्थाने वसेद्‌बिन्दुस्तयोरैक्यं सुदुर्लभम् ।
बिन्दुः शिवो रजः शक्तिर्बिन्दुरिन्दू रजो रविः ॥88॥

यह नभोमुद्रा (खेचरी) जहाँ तक बद्ध (चालू) रहती है, वहाँ तक तो वीर्य - बिन्दु का स्खलन नहीं होता, तथापि यदि कहीं वह वीर्य - बिन्दु गिर जाए और योनि में चला जाए, तो हठपूर्वक (बलात्) उसे योनिमण्डल से पुनः शक्ति द्वारा ऊपर खींच लिया जाता है। यह वीर्य - बिन्दु दो प्रकार का होता है—एक पाण्डर (सफेद) रंग का और दूसरा लाल रंग का। पाण्डर (सफेद) वर्ण वाले को 'शुक्र' और लाल रंगवाले को 'महारज' कहा जाता है। मूँगे के सदृश रंगवाला रज योगी के योनिस्थान में रहता है, और शुक्ल (पाण्डर) वर्णवाला वीर्य योगी के चन्द्रस्थान में रहता है। उन दोनों का ऐक्य होना बड़ा दुष्कर है। जो शुक्ल बिन्दु है वह शिव है और जो रज है वह शक्ति है। वीर्य ही चन्द्र है, रज ही सूर्य है।

उभयोः सङ्गमादेव प्राप्यते परमं वपुः ।
वायुना शक्तिचालेन प्रेरितं खे यथा रजः ॥89॥
रविणैकत्वमायाति भवेद्दिव्यं वपुस्तदा ।
शुक्लं चन्द्रेण संयुक्तं रजः सूर्यसमन्वितम् ॥90॥
द्वयोः समरसीभावं यो जानाति स योगवित् ।

आकाश में शक्ति द्वारा संचालित वायु से प्रेरित रज जिस तरह सूर्य से संयुक्त होकर दिव्य स्वरूप (तेजस्वी रूप) धारण करता है उसी तरह इन दोनों के संयोग से परम देह की प्राप्ति होती है। रवि (रज) के साथ वीर्यबिन्दु का एकत्व होने से तब दिव्य शरीर प्राप्त हो जाता है। पूर्व कथनानुसार शुक्ल वीर्य चन्द्र के साथ संयुक्त है और रज सूर्य के साथ युक्त है—इन दोनों की समरसता के भाव को जो जानता है, वही सही रूप में योगवित् कहा जाता है।

शोधनं मलजालानां घटनं चन्द्रसूर्ययोः ॥91॥
रसानां शोषणं सम्यङ् महामुद्राभिधीयते ॥92॥
वक्षोन्यस्तहनुर्निपीड्य सुषिरं योनेश्च वामाङ्घ्रिणा,
हस्ताभ्यामनुधारयन्प्रविततं पादं तथा दक्षिणम् ।
आपूर्य श्वसनेन कुक्षियुगलं बध्वा शनै रेचये-
देषा पातकनाशिनी ननु महामुद्रा नृणां प्रोच्यते ॥93॥

'महामुद्रा' उसे कहा गया है कि जो मल के जालों का शोधन करती हो, जो चन्द्र और सूर्य का मेल करती हो, जो वात, पित्त और कफ का अच्छी तरह से शोषण करती हो। महामुद्रा की विधि इस प्रकार है—वक्षःस्थल को ठोड़ी से दबाकर तथा बाँयी एड़ी से योनि-स्थल को दबाकर, दोनों हाथों से फैलाए गए दाहिने पैर को पकड़कर, और दोनों कोखों को वायु से भरकर कुम्भक करने के बाद धीरे-धीरे साँस को बाहर निकालना चाहिए। योगियों ने इसे 'पातकनाशिनी महामुद्रा' नाम दिया है।

अथात्मनिर्णयं व्याख्यास्ये—हृदि स्थाने अष्टदलपद्मं वर्तते। तन्मध्ये रेखावलयं कृत्वा जीवात्मरूपं ज्योतीरूपमणुमात्रं वर्तते। तस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितं भवति सर्वं जानाति सर्वं करोति सर्वमेतच्चरितमहं कर्ताऽहं भोक्ता सुखी दुःखी काणः खञ्जो बधिरो मूकः कृश स्थूलोऽनेन प्रकारेण स्वतन्त्रवादेन वर्तते ॥(93-1)॥

अब आत्मा के सम्बन्ध में विवेचन करता हूँ—हृदय प्रदेश में आठ पँखुड़ियों वाला कमल है। इसके मध्य में रेखावलय बनाकर ज्योतिरूप जीवात्मा अणुमात्र स्वरूप से निवास करता है। वह सर्वज्ञाता, सर्वकर्ता है, सब-कुछ उसी में प्रतिष्ठित रहता है। वह ऐसा सोचता है कि इन सभी चरित्रों में मैं ही कर्ता, मैं ही भोक्ता, सुखी, दुःखी, काना, बहरा, लँगड़ा, गूँगा, पतला, मोटा हूँ। इस प्रकार वह स्वतंत्र व्यवहार करते हुए रहता है।

पूर्वदले विश्रमते पूर्वं दलं श्वेतवर्णं तदा भक्तिपुरःसरं धर्मे मतिर्भवति ॥ (93-2)॥ यदाऽऽग्नेयदले विश्रमते तदाऽऽग्नेयदलं रक्तवर्णं तदा निद्रालस्यमतिर्भवति ॥ (93-3)॥ यदा दक्षिणदले विश्रमते तद्दक्षिणदलं कृष्णवर्णं तदा द्वेषकोपमतिर्भवति ॥ (93-4)॥ यदा नैर्ऋतदले विश्रमते तन्नैर्ऋतदलं नीलवर्णं तदा पापकर्महिंसामतिर्भवति ॥ (93-5)॥

उस अष्टदल कमल के पूर्व दिशा के दल में, जो दल श्वेतवर्ण है, जब वह रहता है, तब भक्तिपूर्वक धर्म में मति होती है। जब आग्नेय दिशा के रक्तवर्ण वाले दल में रहता है, तब निद्रा और आलस्य की वृत्ति होती है। जब दक्षिण दिशा के काले रंग वाले दल में रहता है, तब द्वेष और क्रोध की मति होती है। जब नैर्ऋत्य दिशा के नीलवर्ण वाले दल में रहता है, तब पापकर्म और हिंसा की वृत्ति उभर आती है।

यदा पश्चिमदले विश्रमते तत्पश्चिमदलं स्फटिवर्णं तदा क्रीडाविनोदे मतिर्भवति ॥ (93-6)॥ यदा वायव्यदले विश्रमते वायव्यदलं माणिक्यवर्णं तदा गमनचलनवैराग्यमतिर्भवति ॥ (93-7)॥ यदोत्तरदले विश्रमते तदुत्तरदलं पीतवर्णं तदा सुखशृङ्गारमतिर्भवति ॥ (93-8)॥ यदेशानदले विश्रमते तदीशानदलं वैडूर्यवर्णं तदा दानादिकृपामतिर्भवति ॥ (93-9)॥

जब वह स्फटिक वर्ण वाले पश्चिम दिशा के दल में निवास करता है, तब खेल (आनन्द) करने की रुचि उत्पन्न होती है। जब वह माणिक्य के से वर्ण वाले वायव्य दिशा के दल में निवास करता है, तब घूमने-फिरने तथा वैराग्य की वृत्ति होती है। जब वह पीले वर्ण वाले उत्तर दिशा के दल में निवास करता है, तब सुख और श्रृंगार की अभिलाषा होती है और जब वह वैडूर्य मणि जैसे वर्णवाले ईशान दिशा के दल में निवास करता है, तब दान देने और दया करने की ओर मन का झुकाव होता है।

यदा सन्धिसन्धिषु मतिर्भवतिं तदा वातपित्तश्लेष्ममहाव्याधिप्रकोपो भवति ॥ (93-10)॥ यदा मध्ये तिष्ठति तदा सर्वं जानाति गायति नृत्यति पठत्यानन्दं करोति ॥ (93-11)॥

जब उसकी मति जोड़ों के सन्धिभाग में रहती है, तब वात-पित्त-कफ की महाव्याधि होती है और जब वह मति मध्य में रहती है, तब इस अवस्था में मनुष्य सब जानता है, गाता है, नाचता है, पढ़ता है और आनन्द करता है।

यदा नेत्रश्रमो भवति श्रमनिर्भरणार्थं प्रथमरेखावलयं कृत्वा मध्ये निमज्जनं कुरुते। प्रथमरेखाबन्धूकपुष्पवर्णं तथा निद्रावस्था भवति। निद्रावस्थामध्ये स्वप्नावस्था भवति। स्वप्नावस्थामध्ये दृष्टं श्रुतमनुमानसम्भववार्ता इत्यादिकल्पनां करोति तदादिश्रमो भवति ॥ (93-12)॥

जब आँख थक जाती है तो थकान दूर करने के लिए पहली रेखा का आश्रय करके वह उसके बीच निमज्जन करती है और तब निद्रावस्था होती है। वह प्रथम रेखा बन्धूक के पुष्प जैसे वर्ण वाली होती है। निद्रावस्था के बीच स्वप्नावस्था होती है। स्वप्नावस्था में देखी गई, सुनी गई, अनुमान की गई, संभावित कथा आदि की कल्पना होती है। इस कल्पना से भी परिश्रम (थकान) उत्पन्न होती है।

श्रमनिर्हरणार्थं द्वितीयरेखावलयं कृत्वा मध्ये निमज्जनं कुरुते। द्वितीय-रेखा इन्द्रकोपवर्णं तदा सुषुप्तावस्था भवति। सुषुप्तौ केवलपरमेश्वर-सम्बन्धिनी बुद्धिर्भवति। नित्यबोधस्वरूपा भवति। पश्चात् परमेश्वरस्व-रूपेण प्राप्तिर्भवति ॥ (93-13)॥

तब उस थकान को दूर करने के लिए द्वितीय रेखा का वलय करके उसमें निमज्जन करता है। वह द्वितीय रेखा बहूटी के वर्ण की है। तब सुषुप्तावस्था होती है। सुषुप्तावस्था में केवल परमेश्वर सम्बन्धी ही बुद्धि होती है। वह नित्यबोधस्वरूप होती है। बाद में ही परमेश्वर की प्राप्ति होती है।

तृतीयरेखावलयं कृत्वा मध्ये निमज्जनं कुरुते। तृतीयरेखा पद्मरागवर्णं तदा तुरीयावस्था भवति। तुरीये केवलपरमात्मसम्बन्धिनी मतिर्भवति। नित्यबोधस्वरूपा भवति। तदा शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीत-यात्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥ (93-14)॥

जब तृतीय रेखा का वलय करके उसके बीच वह निमज्जन करता है, तब तुरीयावस्था प्राप्त होती है। वह तृतीय रेखा पद्मराग जैसे वर्णवाली है। उस तुरीयावस्था में केवल परमात्मा सम्बन्धी वृत्ति होती है। वह नित्यबोधस्वरूप है, तब धीरे-धीरे धैर्ययुक्त बुद्धि से मन को आत्मा में अवस्थित करके शान्त हो जाना चाहिए और किसी अन्य विषय का विचार नहीं करना चाहिए।

तदा प्राणापानयोरैक्यं कृत्वा सर्वं विश्वमात्मस्वरूपेण लक्ष्यं धारयति। यदा तुरीयातीतावस्था तदा सर्वेषामानन्दरूपो भवति द्वन्द्वातीतो भवति। यावद्देहधारणा वर्तते तावत्तिष्ठति। पश्चात् परमात्मस्वरूपेण प्राप्ति-र्भवति। इत्यनेन प्रकारेण मोक्षो भवतीदमेवात्मदर्शनोपाया भवन्ति ॥ (93-15)॥

तब प्राण और अपान का एकीकरण करके अखिल विश्व को आत्मस्वरूप मानकर ऐसे ही आत्मस्वरूप को लक्ष्य पर ध्यान केन्द्रित करे। और जब तुरीयातीत अवस्था प्राप्त होती है, तब सब कुछ आनन्दस्वरूप ही होने लगता है, और वह द्वन्द्वातीत हो जाता है। जहाँ तक जीव में देहधारणा रहती है, वहीं तक वह देह में रहता है। बाद में तो उसे परमात्मतत्त्व की प्राप्ति हो जाती है। इसी मार्ग से मोक्ष होता है। ये ही सब आत्मदर्शन के उपाय हैं।

चतुष्पथसमायुक्तमहाद्वारगवायुना।
सहस्थितत्रिकोणार्धगमने दृश्यतेऽच्युतः ॥94॥

चारों मार्ग से संयुक्त ऐसे महाद्वार की ओर जाने वाले वायु के साथ स्थिर होने पर अर्धत्रिकोण में जाकर परमात्मा के दर्शन किए जा सकते हैं।

पूर्वोक्तत्रिकोणस्थानादुपरि पृथिव्यादिपञ्चवर्णकं ध्येयम्।
प्राणादिपञ्चवायुश्च बीजं वर्णं च स्थानकम्।

यकारं प्राणबीजं च नीलजीमूतसन्निभम्।
रकारमग्निबीजं च अपानादित्यसन्निभम् ॥95॥

पूर्वोक्त त्रिकोणस्थान के ऊपर पृथिवी आदि पाँच वर्ण वाले तत्त्व ध्यान करने योग्य हैं। बीज, वर्ण और स्थान सहित पाँच प्राणादि वायु भी उसी के साथ ध्यान करने योग्य हैं। नीले बादलों के समान कान्ति वाला 'य'कार प्राण का बीज है और 'र'कार आदित्य के वर्णवाले अग्निरूप अपान का बीज है।

लकारं पृथिवीरूपं ध्यानं बन्धूकसन्निभम्।
वकारं जीवबीजं च उदानं शंखवर्णकम् ॥96॥
हकारं वियत्स्वरूपं च समानं स्फटिकप्रभम्।
हृन्नाभिनासाकर्णं च पादाङ्गुष्ठादिसंस्थितम् ॥97॥
द्विसप्ततिसहस्त्राणि नाडीमार्गेषु वर्तते।
अष्टाविंशतिकोटिषु रोमकूपेषु संस्थिताः ॥98॥
समानप्राण एकस्तु जीवः स एक एव हि।
रेचकादित्रयं कुर्याद् दृढचित्तः समाहितः ॥99॥
शनैः समस्तमाकृष्य हृत्सरोरुहकोटरे।
प्राणापानौ च बद्ध्वा तु प्रणवेन समुच्चरेत् ॥100॥

बन्धूकपुष्प के वर्णवाला 'ल'कार पृथ्वीरूप ध्यान का बीज है। और शंखवर्णी 'व'कार जीवरूप उदान का बीज है। स्फटिक जैसी कान्तिवाला 'ह'कार आकाशरूप समान का बीज है। इस समान प्राण के स्थान हृदय, नाभि, नासिका, कान तथा पैर हैं। और यह समान प्राण बहत्तर हजार नाडियों में तथा शरीर के अट्ठाइस हजार रोमकूपों में विद्यमान होता है। समान और प्राण अलग-अलग नहीं हैं, अपितु एक ही हैं। दोनों एकस्वरूप (जीवस्वरूप) ही हैं। साधक चित्त को दृढ़ता से समाहित करके पूरक-रेचक-कुंभक—तीनों प्राणायाम करे। हृदयरूपी कमल की गुहा में धीरे-धीरे सबको खींचकर प्राणवायु और अपानवायु को रोकते हुए प्रणव का – ॐकार का उच्चारण करना चाहिए।

कण्ठसंकोचनं कृत्वा लिङ्गसंकोचनं तथा।
मूलाधारात्सुषुम्ना च पद्मतन्तुनिभा शुभा ॥101॥
अमूर्तो वर्तते नादो वीणादण्डसमुत्थितः।
शङ्खनादादिभिश्चैव मध्यमेव ध्वनिर्यथा ॥102॥

कण्ठ का संकोच करके लिंग का भी संकोच करना चाहिए (अर्थात् बन्धत्रय करना चाहिए)। तत्पश्चात् मूलाधार से शुरू होती हुई एक पद्म के तन्तु जैसी सूक्ष्म मंगलकारी सुषुम्ना नाम की जो नाडी है, उसमें से वीणादण्ड के सदृश एक अमूर्त नाद होता है, जैसे कि शंख आदि के द्वारा 'मध्यम' ध्वनि निकल रही हो।

व्योमरन्ध्रगतो नादो मायूरं नादमेव च।
कपालकुहरे मध्ये चतुर्द्वारस्य मध्यमे ॥103॥
तदात्मा राजते तत्र यथा व्योम्नि दिवाकरः।
कोदण्डद्वयमध्ये तु ब्रह्मरन्ध्रेषु शक्ति च ॥104॥
स्वात्मानं पुरुषं पश्येन्मनस्तत्र लयं गतम्।

रत्नानि ज्योत्स्निनादं तु बिन्दुमाहेश्वरं पदम् ॥105॥
य एवं वेद पुरुषः स कैवल्यं समश्नुत इत्युपनिषत् ॥106॥

इति ध्यानबिन्दूपनिषत् समाप्ता ।

आकाशरन्ध्र से गमन करने वाला नाद मयूर पक्षी की आवाज के जैसा होता है । कपाल के कुहर के बीच में चार दरवाजों वाले मध्य के भाग में आत्मा विराजमान रहता है । वह आत्मा आकाश में सूर्य की भाँति शोभित है । और ब्रह्मरन्ध्र में दो धनुष के बीच शक्ति विद्यमान है । वहाँ मन को तन्मय करके अपने आत्मस्वरूप का साक्षात्कार करना चाहिए । वहीं रत्नों से ज्योतिर्मय नादबिन्दु महेश्वर का स्थान है । जो पुरुष इस प्रकार से जानता है, वह कैवल्य को प्राप्त कर लेता है—इस प्रकार का उपदेश है ।

यहाँ ध्यानबिन्दु उपनिषत् पूरी हुई ।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु । सह नौ······मा विद्विषावहै । (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

❋

(41) ब्रह्मविद्योपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

कृष्णयजुर्वेद से सम्बद्ध इस उपनिषद् में ब्रह्मप्राप्ति के उपाय और उसके स्वरूप का सुन्दर निरूपण है। प्रणवब्रह्म, उसकी तीन मात्राएँ—तीन वेद, तीन अग्नि, तीन लोक और तीन देवरूप हैं। जीवात्म रातदिन 'हंसः' इस प्रकार प्रणव का जप करता है—स्वयंप्रकाशित चैतन्य ही हंस है। प्राणायाम से प्राण-अपान को समान करके समाधि का अभ्यास करते हुए सिर से टपकते अमृतरस से तृप्त होना चाहिए। प्राणायाम के साथ 'हंस' का जप नियमपूर्वक करने वाला सिद्धि प्राप्त करता है, और बाद में ज्ञानप्राप्ति से ब्रह्मरूप बनता है। जो अपने आपको स्थिर, अचिन्त्य, अजन्मा, देहेन्द्रिय-प्राणादिरहित, अक्षय, निर्लेप, अन्तर्यामी, निर्गुण, अभौतिक, अकर्ता, अभोक्ता, अनादि, अनन्त, चैतन्य, आनंदरूप, अमृतरूप, आत्मरूप, स्वयंप्रकाश, अक्रिय, निर्मल, विचारहीन, पुराणपुरुष परमात्मा मानता है, वह सही रूप में सच्चिदानन्द ज्ञानस्वरूप मुक्त ही हो जाता है—यह उपदेश इसमें दिया गया है।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ ...... मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (ब्रह्मोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

अथ ब्रह्मविद्योपनिषदुच्यते—
प्रसादाद् ब्रह्मणस्तस्य विष्णोरद्भुतकर्मणः।
रहस्यं ब्रह्मविद्याया ध्रुवाग्निं सम्प्रचक्षते ॥1॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म यदुक्तं ब्रह्मवादिभिः।
शरीरं तस्य वक्ष्यामि स्थानं कालत्रयं तथा ॥2॥
तत्र देवास्त्रयः प्रोक्ताः लोका वेदास्त्रयोऽग्नयः।
तिस्रो मात्राऽर्धमात्रा च त्र्यक्षरस्य शिवस्य तु ॥3॥
ऋग्वेदो गार्हपत्यं च पृथिवी ब्रह्म एव च।
अकारस्य शरीरं तु व्याख्यातं ब्रह्मवादिभिः ॥4॥

अत्र ब्रह्मविद्योपनिषद् कही जा रही है—भव्य और उत्तम कर्म करने वाले विष्णुरूप परब्रह्म की ध्रुवाग्नि (ध्रुव – अटल ऐसा अग्नि) ज्ञान का स्वरूप धारण करने वाली ब्रह्मविद्या का रहस्य कहते हैं। ब्रह्म को कहने वाले ऋषियों ने ॐकार को 'एकाक्षर ब्रह्म' कहा है। उस ॐकार के शरीर, स्थान तथा तीन कालों के बारे में मैं कहूँगा। इस विषय में तीन देव कहे गए हैं, तीन लोक और तीन अग्नि कहे गए हैं, तीन मात्राएँ भी हैं और एक अर्धमात्रा है, ये तीन मात्राएँ और अर्धमात्रा शिव का स्वरूप हैं।

उनमें 'अ'कार की मात्रा का शरीर ऋग्वेद है, अग्नि गार्हस्पत्य है, पृथ्वी तत्त्व है और ब्रह्मा देवता है—ऐसा बतलाया गया है।

यजुर्वेदोऽन्तरिक्षं च दक्षिणाग्निस्तथैव च।
विष्णुश्च भगवान्देव उकारः परिकीर्तितः ॥5॥
सामवेदस्तथा द्यौश्चाहवनीयस्तथैव च।
ईश्वरः परमो देवो मकारः परिकीर्तितः ॥6॥
सूर्यमण्डलमध्येऽथ ह्यकारः शङ्खमध्यगः।
उकारश्चन्द्रसङ्काशस्तस्य मध्ये व्यवस्थितः ॥7॥
मकारस्त्वग्निसङ्काशो विधूमो विद्युतोपमः।
तिस्रो मात्रास्तथा ज्ञेया सोमसूर्याग्निरूपिणः ॥8॥

'उ'कार का शरीर यजुर्वेद है, अग्नि दक्षिणाग्नि है, तत्त्व आकाश है, देवता भगवान् विष्णु कहा गया है। 'म'कार का शरीर सामवेद है, अग्नि आहवनीय है, तत्त्व द्युलोक है, देवता ईश्वर परमदेव कहा गया है। मानो शंख के मध्य भाग में रहा हो ऐसा 'अ'कार सूर्यमण्डल के बीच में अवस्थित है। और उसी तरह 'उ'कार भी चन्द्र जैसा होते हुए चन्द्रमण्डल में अवस्थित है। और 'म'कार विद्युत् जैसे तेजवाला होते हुए निर्धूम और अग्नि में प्रतिष्ठित है। इस प्रकार तीन मात्राओं में ॐकार की तीनों मात्राओं को सूर्य, चन्द्र और अग्नि के रूप में मानना चाहिए।

शिखा तु दीपसङ्काशा तस्मिन्नुपरि विद्यते।
अर्धमात्रा तथा ज्ञेया प्रणवस्योपरि स्थिता ॥9॥

जिस तरह दीपक की शिखा ऊपर को ही मुख किए हुए रहती है, उसी तरह प्रणव के ऊपर की अर्धमात्रा भी ऊर्ध्वाभिमुख होती है। (अनुस्वार नासिकामूल में गुंजरित होता है, इसी के कारण (अ-उ-म ऊर्ध्वमुख हो उठते हैं)।

पद्मपत्रनिभा सूक्ष्मा शिखा या दृश्यते शुभा।
सा नाडी सूर्यसङ्काशा सूर्यं भित्त्वा तथापरा ॥10॥
द्विसप्ततिसहस्राणि नाडीं भित्त्वा तु मूर्धनि।
वरदः सर्वभूतानां सर्वं व्याप्येव तिष्ठति ॥11॥
कांस्यघण्टानिनादस्तु यथा लीयति शान्तये।
ओंकारस्तु तथा योग्यः शान्तये सर्वमिच्छता ॥12॥
यस्मिन् स लीयते शब्दस्तत्परं ब्रह्म गीयते।
धियं हि लीयते ब्रह्म सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥13॥

वह शुभकारी शिखा कमलपत्र की तरह सूक्ष्म दिखाई देती है। सूर्य जैसी वह परा नाडी सूर्य को भेदकर तथा उन बहत्तर हजार नाड़ियों को भेदकर मूर्धा में प्रतिष्ठित होती है। सभी प्राणियों को वह वरदान देने वाली होती है और सबको व्याप्त कर स्थित रहनेवाली होती है। कांस्य धातु से बनाए गए घण्टे की आवाज जैसे शनैः शनैः शान्ति देते हुए लीन हो जाती है, वैसे ही सब कुछ चाहने वाले मनुष्य की शान्ति के लिए यह ओंकार की साधना उत्तम है। अर्थात् मनुष्य की सभी कामनाओं की शान्ति ओंकार की साधना के द्वारा होती है। जिस तत्त्व में वह शब्द विलीन हो जाता है, उसे परब्रह्म कहा गया है। ब्रह्मस्वरूप में लीन होने वाली बुद्धि को अमृतस्वरूप कहा है।

वायुस्तेजस्तथाकाशस्त्रिविधो जीवसंज्ञकः ।
स जीवः प्राण इत्युक्तो बालाग्रशतकल्पितः ॥14॥
नाभिस्थाने स्थितं विश्वं शुद्धतत्त्वं सुनिर्मलम् ।
आदित्यमिव दीप्यन्तं रश्मिभिश्चाखिलं शिवम् ॥15॥

वायु, तेज और आकाश इन तीनों को जीव की उपमा दी गई है। उस जीव को प्राण कहा गया है। उसका प्रमाण (आकार) बाल के अग्र भाग की नोक के भी सौवें भाग जैसा सूक्ष्म है। उस जीव की सत्ता 'विश्व' है, शुद्ध है, निर्मलस्वरूप है, आदित्य की तरह किरणों से प्रकाशित है। वह विश्वप्रकाशक, मंगलकारी तथा नाभिप्रदेश में (न्युक्लिअस में) प्रतिष्ठित है।

सकारं च हकारं च जीवो जपति सर्वदा ।
नाभिरन्ध्राद्विनिष्क्रान्तं विषयव्याप्तिवर्जितम् ॥16॥
तेनेदं निष्फलं विद्यात्क्षीरात्सर्पिर्यथा तथा ।
कारणेनात्मना युक्तः प्राणायामैश्च पञ्चभिः ॥17॥
चतुष्कलासमायुक्तो भ्राम्यते च हृदि स्थितः ।
गोलकस्तु यदा देहे क्षीरदण्डेन वाऽहतः ॥18॥
एतस्मिन्वसते शीघ्रमविश्रान्तं महाखगः ।
यावन्निःश्वसितो जीवस्तावन्निष्कलतां गतः ॥19॥
नभःस्थं निष्कलं ध्यात्वा मुच्यते भवबन्धनात् ।
अनाहतध्वनियुतं हंसं यो वेद हृद्गतम् ॥20॥

यह जीव श्वासोच्छ्वास के रूप में 'स'कार और 'ह'कार (हंसः का जाप) हमेशा (निरन्तर) करता ही रहता है। इसके प्रभाव से वह जीव नाभि के रन्ध्र से ऊपर जाया करता रहता है और सभी विषयों से मुक्त हो जाता है। दूध से निकले गए घी की तरह वह उससे निष्कल हो जाता है। ऐसे सबके कारणरूप आत्मतत्त्व को पाँच प्राणायामों के द्वारा जाना जा सकता है। (ये पाँच प्राणों के आयाम—देह के पाँचों तत्त्वों में प्रवाहित प्राण ही यहाँ पाँच प्राणों के आयाम कहे गए हैं)। जिस तरह मथनदण्ड से दूध मथा जाता है, इसी प्रकार चार कलाओं से युक्त हृदय में स्थित प्राणतत्त्व को (श्वास-प्रश्वास को) भ्रमण कराया जाता है। इस शरीर में वह जीव कभी विश्वास न करता हुआ जैसे कोई बड़ा पक्षी हो, इस तरह रहता है। जब श्वास रुक जाती है, तब जीव निष्कल हो जाता है। (यहाँ हृदय चार कलाओं वाला कहा गया है)। आकाश में स्थित निष्कल ब्रह्मतत्त्व का ध्यान करके संसाररूपी बन्धन से मुक्त हुआ जा सकता है। जो पुरुष इस हृदयस्थ हंस को जो कि चिदानन्द है, जो अनाहतनादयुक्त है, इस प्रकार जानता है वह भवबन्धन से मुक्त हो जाता है।

स्वप्रकाशचिदानन्दं स हंस इति गीयते ।
रेचकं पूरकं मुक्त्वा कुम्भकेन स्थितः सुधीः ॥21॥
नाभिकन्दे समौ कृत्वा प्राणापानौ समाहितः ।
मस्तकस्थामृतास्वादं पीत्वा ध्यानेन सादरम् ॥22॥
दीपाकारं महादेवं ज्वलन्तं नाभिमध्यमे ।
अभिषिच्यामृतेनैव हंस हंसेति यो जपेत् ॥23॥

जरामरणरोगादि न तस्य भुवि विद्यते ।
एवं दिने दिने कुर्यादणिमादिविभूतये ॥24॥

जो ज्ञानी पुरुष रेचक और पूरक का त्याग करके कुंभक में स्थित होकर पूर्व में वर्णित स्वप्रकाशित चिदानन्द को जानता है, वह 'हंस' कहा जाता है। जो पुरुष पूर्व मन्त्रोक्त प्रकार से स्थित होकर प्राण एवं अपान को एक करके मस्तक में प्रतिष्ठित अमृत को ध्यानपूर्वक आदरसहित पीता है, तथा जो नाभि के बीच के प्रदेश में दीपक की भाँति अच्छी तरह प्रकाशित महादेव पर अमृत का सिंचन करते हुए 'हंस हंस' का जाप करता रहता है, उसे पृथ्वी पर रहते हुए भी जरावस्था, मरण, रोग आदि विकार नहीं होता और इस प्रकार सर्वदा करते हुए वह आणिमादि सिद्धियों को प्राप्त करने का अधिकारी हो जाता है।

ईश्वरत्वमवाप्नोति सदाभ्यासरतः पुमान् ।
बहवो नैकमार्गेण प्राप्ता नित्यत्वमागताः ॥25॥
हंसविद्यामृते लोके नास्ति नित्यत्वसाधनम् ।
यो ददाति महाविद्यां हंसाख्यां पारमेश्वरीम् ॥26॥
तस्य दास्यं सदा कुर्यात्प्रज्ञया परया सह ।
शुभं वाऽशुभमन्यद्वा यदुक्तं गुरुणा भुवि ॥27॥
तत्कुर्यादविचारेण शिष्यः सन्तोषसंयुतः ।
हंसविद्यामिमां लब्ध्वा गुरुशुश्रूषया नरः ॥28॥

जो मनुष्य हमेशा ही इस ब्रह्मविद्या के परिशीलन में लगा रहता है, उसे ईश्वरत्व की प्राप्ति हो जाती है। अनेक पुरुष इस एक ही मार्ग के द्वारा नित्यपद को प्राप्त कर चुके हैं। हंसरूपी विद्यामृत के समान इस जगत् में नित्यत्वप्राप्ति के लिए अन्य कोई भी साधन नहीं है। जो ज्ञानीगुरु इस हंस नाम की परमेश्वरी विद्या का दान करते हैं, उन गुरु की परम प्रज्ञा (निष्ठा) से सेवा करनी चाहिए। इस पृथ्वी पर वह गुरु जो शुभ, अशुभ वा अन्य जो भी आज्ञा करे उसका शिष्य को बिना किसी विचार किए पालन करना चाहिए। इस हंस विद्या को प्राप्त करके गुरु की सेवा करते हुए शिष्य को संतुष्ट होना चाहिए।

आत्मानमात्मना साक्षाद् ब्रह्म बुद्ध्वा सुनिश्चलम् ।
देहजात्यादिसम्बन्धान्वर्णाश्रमसमन्वितान् ॥29॥
वेदशास्त्राणि चान्यानि पदपांसुमिव त्यजेत् ।
गुरुभक्तिं सदा कुर्याच्छ्रेयसे भूयसे नरः ॥30॥
गुरुरेव हरिः साक्षान्नान्य इत्यब्रवीच्छ्रुतिः ॥31॥

गुरु के उपदेश से अपने आप से ही अत्यन्त निश्चल ऐसे आत्मा रूप ब्रह्म को जानकर, देह-जाति आदि सम्बन्धों को और वर्ण-आश्रम आदि के धर्मों को भी तथा अन्य वेद-विधि आदि सभी शास्त्रों को पैर में लगी हुई धूल के समान छोड़ देना चाहिए और अपने कल्याण के लिए हमेशा गुरुभक्ति करनी चाहिए। क्योंकि श्रुति ने ऐसा कहा है कि गुरु ही साक्षात् हरि है। इसके सिवा अन्य कोई हरि नहीं।

श्रुतं यदुक्तं परमार्थमेव तत्संशयो नात्र ततः समस्तम् ।
श्रुत्या विरोधे न भवेत्प्रमाणं भवेदनर्थाय विना प्रमाणम् ॥32॥

श्रुति का वचन तो परमार्थरूप ही है, इसमें कोई संशय नहीं है। वह संपूर्णतया प्रमाणभूत इसलिए है क्योंकि श्रुति के विरोध में कोई अन्य प्रमाण हो ही नहीं सकता और प्रमाणहीन वाक्य तो अनर्थ के लिए ही होगा।

देहस्थः सकलो ज्ञेयो निष्कलो देहवर्जितः ।
आप्तोपदेशगम्योऽसौ सर्वतः समवस्थितः ॥33॥
हंसहंसेति यो ब्रूयाद्धंसो ब्रह्मा हरिः शिवः ।
गुरुवक्त्रात्तु लभ्येत प्रत्यक्षं सर्वतोमुखम् ॥34॥
तिलेषु च यथा तैलं पुष्पं गन्ध इवाश्रितः ।
पुरुषस्य शरीरेऽस्मिन् स बाह्याभ्यन्तरस्तथा ॥35॥
उल्काहस्तो यथालोके द्रव्यमालोक्य तां त्यजेत् ।
ज्ञानेन ज्ञेयमालोक्य पश्चाज्ज्ञानं परित्यजेत् ॥36॥
पुष्पवत्सकलं विद्याद् गन्धस्तस्य तु निष्कलः ।
वृक्षस्तु सकलं विद्याच्छाया तस्य तु निष्कला ॥37॥

देह में रहा हुआ चैतन्य तो कलायुक्त है, पर देहरहित परमचैतन्य तो कलारहित ही है। आप्त गुरु द्वारा प्राप्त वह परमतत्त्व सर्वत्र समभाव से प्रतिष्ठित है। 'हंस हंस' बोलता हुआ ज्ञानी ब्रह्मा, हरि और शिवस्वरूप ही है। चारों ओर मुखवाले और सर्वव्यापक उस परमतत्त्व का साक्षात्कार गुरु के उपदेशवचन से ही किया जा सकता है। वह परमतत्त्व तिल में तेल की और पुष्प में गन्ध की तरह पुरुष के शरीर में और शरीर के बाहर सर्वत्र समरूप से व्याप्त रहता है। जिस प्रकार मशाल के प्रकाश में द्रव्य (वस्तु) को देख लेने के बाद मशाल को छोड़ दिया जाता है, उसी तरह ज्ञान से ज्ञेय को जान लेने के बाद ज्ञान को छोड़ दिया जाता है। पुष्प तो कलायुक्त (अंशांशि) भाव से युक्त होता है, पर उसमें स्थित गन्ध कलारहित ही है और पुष्प की ही तरह वृक्ष को कलासहित मानना चाहिए और उस वृक्ष की छाया तो कलारहित (निष्कल) ही है।

निष्कलः सकलो भावः सर्वत्रैव व्यवस्थितः ।
उपायः सकलस्तद्वदुपेयश्चैव निष्कलः ॥38॥
सकले सकलो भावो निष्कले निष्कलस्तथा ।
एकमात्रो द्विमात्रश्च त्रिमात्रश्चैव भेदतः ॥39॥
अर्धमात्रा परा ज्ञेया तत ऊर्ध्वं परात्परम् ।
पञ्चधा पञ्चदैवत्वं सकलं परिपठ्यते ॥40॥
ब्रह्मणो हृदयस्थानं कण्ठे विष्णुः समाश्रितः ।
तालुमध्ये स्थितो रुद्रः ललाटस्थो महेश्वरः ॥41॥

पूर्वकथनानुसार निष्कल और सकल का भाव सर्वत्र दिखाई पड़ता है। इनमें जो स-कल यानी कला (अंश-भेद) वाला भाव है वह उपाय अर्थात् साधन है और जो निष्कल यानी कलारहित (अंश रहित) है वह उपेय (प्राप्तव्य) है। स-कल में कलायुक्त भाव रहता है और निष्कल में निष्कल (अखण्ड – विकारहीन) भाव रहता है। वह स-कल भाव एकमात्र, द्विमात्र और त्रिमात्र – इस तरह तीन

भागों वाला होता है। जो अर्ध मात्रा है, वह 'परा' है, और उससे भी जो परे है, उसे परात्पर कहा जाता है। इस प्रकार वह 'स-कल' पाँच प्रकार का (पंचभूतात्मक और पंचप्राणात्मक) कहा गया है। ब्रह्म का स्थान हृदय है, कण्ठ में विष्णु का निवास है, तालु में रुद्र बसते हैं और ललाट में महेश्वर हैं।

नासाग्रे अच्युतं विद्यात् तस्यान्ते च परं पदम्।
परत्वात्तु परं नास्तीत्येवं शास्त्रस्य निर्णयः ॥42॥
देहातीतं तु तं विद्यान्नासाग्रे द्वादशाङ्गुलम्।
तदन्तं तं विजानीयात् तत्रस्थो व्यापयेत्प्रभुः ॥43॥
मनोऽप्यन्यत्र निक्षिप्तं चक्षुरन्यत्र पातितम्।
तथापि योगिनां योगो ह्यविच्छिन्नः प्रवर्तते ॥44॥
एतत्तु परमं गुह्यमेतत्तु परमं शुभम्।
नातः परतरं किञ्चिन्नातः परतरं शुभम् ॥45॥

नासिका के अग्र भाग में अच्युत को जानना चाहिए। (यहाँ अच्युत सदाशिव है) तथा उसके अन्त भाग में (भौंहों के बीच में) परमपद को प्रतिष्ठित मानना चाहिए। इस परमपद से परे कुछ भी नहीं है, ऐसा शास्त्रों का निर्णय है। उस देहातीत परमपद को नासिका के अग्रभाग से ऊपर बारह अँगुलियों में जानना चाहिए तथा उसके अन्तिम भाग में (सहस्रारचक्र में) व्यापक प्रभु रहते हैं, ऐसा जानना चाहिए। मन के इधर-उधर चले जाने पर भी और आँख के इधर-उधर देखते रहने पर भी योगियों का योग धारावाहिक गति से चलता ही रहता है। यह सबसे गूढ रहस्य है, यही परमकल्याणकारी है। इससे बढ़कर कोई वस्तु श्रेष्ठ नहीं है, इससे बढ़कर कोई उच्चतर नहीं है।

शुद्धज्ञानामृतं प्राप्य परमाक्षरनिर्णयम्।
गुह्याद् गुह्यतमं गोप्यं ग्रहणीयं प्रयत्नतः ॥46॥
नापुत्राय प्रदातव्यं नाशिष्याय कदाचन।
गुरुदेवाय भक्ताय नित्यं भक्तिपराय च ॥47॥
प्रदातव्यमिदं शास्त्रं नेतरेभ्यः प्रदापयेत्।
दाताऽस्य नरकं याति सिद्ध्यते न कदाचन ॥48॥
गृहस्थो ब्रह्मचारी वा वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः।
यत्र यत्र स्थितो ज्ञानी परमाक्षरवित्सदा ॥49॥

शुद्ध ज्ञानामृत को प्राप्त करके परम अक्षरस्वरूप का निश्चय करना चाहिए। यह अक्षरस्वरूप गुह्य से भी गुह्य है, गोपनीय है, संग्रहणीय है। उसे पुत्ररहित पुरुष को या जो शिष्य न बना हो उसको कभी नहीं देना चाहिए। परन्तु, जो गुरु को देव मानता हो, जो भक्त हो और जो हमेशा ही भक्तिपरायण हो, उसे ही यह शास्त्र देना चाहिए, अन्य को नहीं देना चाहिए। ऐसों को देने वाला तो नरक में ही जाता है और उसकी कभी सिद्धि नहीं होती है। परन्तु ज़ो परम अक्षर तत्त्व को जानने वाला होता है, वह चाहे गृहस्थ हो या ब्रह्मचारी हो, चाहे वानप्रस्थी हो या संन्यासी हो, जहाँ कहीं भी हो, और किसी भी स्थिति में हो वह तो हमेशा ज्ञानी ही होता है।

विषयी विषयासक्तो याति देहान्तरे शुभम्।
ज्ञानादेवास्य शास्त्रस्य सर्वावस्थोऽपि मानवः ॥50॥

ब्रह्महत्याश्वमेधाद्यैः पुण्यपापैर्न लिप्यते ।
चोदको बोधकश्चैव मोक्षदश्च परः स्मृतः ॥51॥
इत्येषां त्रिविधो ज्ञेय आचार्यस्तु महीतले ।
चोदको दर्शयेन्मार्गं बोधकः स्थानमाचरेत् ॥52॥
मोक्षदस्तु परं तत्त्वं यज्ज्ञात्वा परमश्नुते ।
प्रत्यक्षयजनं लोके संक्षेपाच्छृणु गौतम ॥53॥

इतना ही नहीं, इस शास्त्र के ज्ञान से ही चाहे वह विषयासक्त हो या कैसी भी अवस्था में हो, वह मनुष्य तब भी देहान्तर में (मरण के बाद) शुभ गति को प्राप्त करता है। ऐसे शास्त्रज्ञानी मनुष्य को न ब्रह्महत्यादि का पाप लगता है, न अश्वमेधादि का पुण्य ही लगता है। इस ज्ञान को देने वाले गुरु इस पृथ्वी में तीन प्रकार के होते हैं—एक प्रेरक, दूसरा बोधक और तीसरा परमगुरु मोक्षदाता। प्रेरक गुरु मार्ग बताते हैं, बोधक गुरु उस ज्ञान का आचरण कर दिखाता है और तीसरा मोक्षदाता गुरु परमतत्त्व को ही प्रदान करता है, जिसे जानकर शिष्य परमतत्त्व का अनुभव करता है। अब हे गौतम ! तुम इस प्रत्यक्ष शरीर के यजन के विषय में संक्षेप में श्रवण करो।

तेनेष्ट्वा स नरो याति शाश्वतं पदमव्ययम् ।
स्वयमेव तु सम्पश्येद्देहे बिन्दुं च निष्कलम् ॥54॥
अयने द्वे च विषुवे सदा पश्यति मार्गवित् ।
कृत्वा यामं पुरा वत्स रेचपूरककुम्भकान् ॥55॥
पूर्वं चोभयमुच्चार्य अर्चयेत्तु यथाक्रमम् ।
नमस्कारेण योगेन मुद्रयारभ्य चार्चयेत् ॥56॥
सूर्यस्य ग्रहणं वत्स प्रत्यक्षयजनं स्मृतम् ।
ज्ञानात्सायुज्यमेवोक्तं तोयं तोयं यथा तथा ॥57॥

इस प्रत्यक्ष यजन के करने से मनुष्य शाश्वत अव्यय पद को पा लेता है और आप ही आप अपने देह के अन्दर ही इस निष्कल और बिन्दु को देख लेता है। दोनों अयनों के समान प्राणमार्ग को जानने वाला मनुष्य मूलाधार और मूर्धा के बीच दो विषुव – दो भाग करके वह सिद्धि प्राप्त करता है। पर इसके पहले उसको एक प्रहर तक पूरक, रेचक और कुंभक का अभ्यास कर लेना चाहिए। सबसे पहले तो 'ओम्' तथा 'हंस'—इन दोनों का स्मरण करके क्रमानुसार पूजन करे। 'हंसः सोऽहम्' इस नमस्कारयोग के द्वारा तथा शाम्भवी, खेचरी आदि मुद्राओं के द्वारा पूजन करना चाहिए। हे वत्स ! यही प्रत्यक्षयजन है। और जब प्राण पिंगला के द्वारा कुण्डलिनीस्थान में प्रवेश करता है, वही सूर्यग्रहण है। जिस प्रकार जल में जल मिल जाता है, वैसे ही इस ज्ञान से सायुज्यपद प्राप्त होता है।

एते गुणाः प्रवर्तन्ते योगाभ्यासकृतश्रमैः ।
तस्माद्योगं समादाय सर्वदुःखबहिष्कृतः ॥58॥
योगध्यानं सदा कृत्वा ज्ञानं तन्मयतां व्रजेत् ।
ज्ञानात्स्वरूपं परमं हंसमन्त्रं समुच्चरेत् ॥59॥
प्राणिनां देहमध्ये तु स्थितो हंसः सदाऽच्युतः ।
हंस एव परं सत्यं हंस एव तु शक्तिकम् ॥60॥

हंस एव परं वाक्यं हंस एव तु वैदिकम्।
हंस एव परो रुद्रो हंस एव परात्परम् ॥61॥

योग के अभ्यास में किए जाने वाले परिश्रम में इतने गुण होते हैं जिनके द्वारा मनुष्य सभी दुःखों से मुक्त हो सकता है, अतः इसके लिए निरन्तर अभ्यास करना चाहिए। हमेशा ही इस ब्रह्मविद्या के मन्त्र को जपते हुए, योगचिन्तन से तल्लीनता को प्राप्त करना चाहिए। केवल ज्ञान के द्वारा ही इस परमस्वरूपात्मक हंसमन्त्र का उच्चारण करना चाहिए। सभी प्राणियों के देह में सर्वदैव अच्युत हंस अवस्थित है ही। वह हंस ही परम सत्य है, हंस ही शक्ति है, हंस ही बड़ा वाक्य है, हंस ही वैदिक वाक्य है। हंस ही परम रुद्र है, और हंस ही परम से भी परम है।

सर्वदेवस्य मध्यस्थो हंस एव महेश्वरः।
पृथिव्यादिशिवान्तं तु अकाराद्याश्च वर्णकाः ॥62॥
कूटान्ता हंस एव स्यान्मातृकेति व्यवस्थिताः।
मातृकारहितं मन्त्रमादिशन्ते न कुत्रचित् ॥63॥
हंसज्योतिरनूपम्यं देवमध्ये व्यवस्थितम्।
दक्षिणामुखमाश्रित्य ज्ञानमुद्रां प्रकल्पयेत् ॥64॥
सदा समाधिं कुर्वीत हंसमन्त्रमनुस्मरन्।
निर्मलस्फटिकाकारं दिव्यरूपमनुत्तमम् ॥65॥

सभी देवों के बीच हंस ही सबसे बड़ा ईश्वर है। पृथ्वी से लेकर शिवतत्त्व तक तथा अकार से लेकर क्षकार तक के सभी वर्णों में हंस ही वर्ण (मात्राओं) के रूप में विद्यमान है। कहीं भी मात्राओं से रहित कोई मन्त्र तो कहा नहीं गया है। हंस की अनुपम ज्योति देवताओं के बीच में अवस्थित है। दक्षिणामुख (दक्षिणामूर्ति) भगवान् शिव का आश्रय लेकर साधक को ज्ञानमुद्रा करनी चाहिए और सदा समाधि में हंस का चिन्तन करते रहना चाहिए और सदा स्वच्छ स्फटिक जैसे उत्तम दिव्य रूप का ध्यान करना चाहिए।

मध्यदेशे परं हंसं ज्ञानमुद्रात्मरूपकम्।
प्राणोऽपानः समानश्चोदानव्यानौ च वायवः ॥66॥
पञ्चकर्मेन्द्रियैर्युक्ताः क्रियाशक्तिबलोद्यताः।
नागः कूर्मश्च कृकरो देवदत्तो धनञ्जयः ॥67॥
पञ्चज्ञानेन्द्रियैर्युक्ता ज्ञानशक्तिबलोद्यताः।
पावकः शक्तिमध्ये तु नाभिचक्रे रविः स्थितः ॥68॥

मध्य प्रदेश में ज्ञानमुद्रात्मक स्वरूपवाले परमतत्त्व हंस का ध्यान करना चाहिए। प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान—ये पाँच प्राणवायु पाँच कर्मेन्द्रियों के साथ मिलकर क्रियाशक्ति का बल बढ़ा देते हैं। और नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनंजय—ये पाँच उपप्राण पाँच ज्ञानेन्द्रियों के साथ मिलकर ज्ञानशक्ति के बल को बढ़ा देते हैं। कुण्डलिनी शक्ति के मध्य में अग्नि और नाभिचक्र में रवि अवस्थित है।

बन्धमुद्रा कृता येन नासाग्रे तु स्वलोचने।
अकारे वह्निरित्याहुरुकारे हृदि संस्थितः ॥69॥

मकारे च भ्रुवोर्मध्ये प्राणशक्त्या प्रबोधयेत् ।
ब्रह्मग्रन्थिरकारे तु विष्णुग्रन्थिर्हृदि स्थितः ॥70॥
रुद्रग्रन्थिर्भ्रुवोर्मध्ये भिद्यतेऽक्षरवायुना ।
अकारे संस्थितो ब्रह्मा उकारे विष्णुरास्थितः ॥71॥
मकारे संस्थितो रुद्रस्ततोऽस्यान्तः परात्परः ।
कण्ठं संकुच्य नाड्यादौ स्तम्भिते येन शक्तितः ॥72॥
रसना पीड्यमानेयं षोडशी चोर्ध्वगामिनी ।
त्रिकूटं त्रिविधा चैव गोलाखं निखरं तथा ॥73॥
त्रिशङ्खं वज्रमोंकारमूर्ध्वनालं भ्रुवोर्मुखम् ।
कुण्डलीं चालयन्प्राणान् भेदयन् शशिमण्डलम् ॥74॥

पहले तो बन्ध और मुद्रा का अभ्यास करना चाहिए। नासिका के अग्र भाग और दोनों नेत्रों में **'अकार-अग्नि'**, हृदय में **'उकार-अग्नि'** तथा भौहों के बीच **'मकार-अग्नि'** प्रतिष्ठित कही गई है। इन अग्नियों में प्राणशक्ति को संयुक्त करना चाहिए। ब्रह्मग्रन्थि अकार में और विष्णुग्रन्थि हृदय में हैं, तथा रुद्रग्रन्थि दोनों भौहों के बीच विद्यमान है। ये तीनों ग्रन्थियाँ अक्षरवायु से – हंसज्ञान से भेदी जाती हैं। 'अ'कार में ब्रह्म का, 'उ'कार में विष्णु का और 'म'कार में रुद्र का स्थान बताया गया है। और उसके अन्त में परात्पर ब्रह्म है। कण्ठ का संकोचन करके (जालन्धरबन्ध करके) आदिशक्ति (कुण्डलिनी शक्ति) को स्तम्भित करना चाहिए। इसके बाद जिह्वा को दबाकर सुषुम्ना नाडी को, प्राणों को तथा कुण्डलिनी शक्ति को चालित करके शशिमण्डल का भेदन करना चाहिए। वह सुषुम्ना नाडी सोलह आधारवाली है, ऊर्ध्वगामिनी है, त्रिकूट (इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना का मिलन-स्थान) वाली, तीन प्रकार वाली, ब्रह्मरन्ध्र को जानने वाली तथा अतिसूक्ष्म है। और कुण्डलिनी शक्ति ओंकारयुक्त है, ऊर्ध्वनाल है, भ्रूकुटियों को ओर गमन करने वाली है और वह ओंकार त्रिकूट है, अर्थात् सुख, दुःख और सुख-दुःख, तीनों को खा जाने वाला है। वह अयोगी द्वारा दुर्भेद्य वज्र जैसा है। तात्पर्य यह है कि सुषुम्ना नाडी, ओंकार और कुण्डलिनी शक्ति—तीनों को चालित कर शशिमण्डल का भेदन करना चाहिए।

साधयन्वज्रकुम्भानि नव द्वाराणि बन्धयेत् ।
सुमनः पवनारूढः सरागो निर्गुणस्तथा ॥75॥
ब्रह्मस्थाने तु नादः स्याच्छङ्खिन्यमृतवर्षिणी ।
षट्चक्रमण्डलोद्धारं ज्ञानदीपं प्रकाशयेत् ॥76॥
सर्वभूतस्थितं देवं सर्वेशं नित्यमर्चयेत् ।
आत्मरूपं तमालोक्य ज्ञानरूपं निरामयम् ॥77॥
दृश्यन्तं दिव्यरूपेण सर्वव्यापी निरञ्जनः ।
हंस हंस वदेद्वाक्यं प्राणिनां देहमाश्रितः ।
स प्राणापानयोर्ग्रन्थिरजपेत्यभिधीयते ॥78॥

नव द्वारों को बन्द करके वज्रकुम्भक का साधन करना चाहिए। मन को स्वस्थ (प्रसन्न) रखते हुए सहज स्थिति में गुणरहित होकर पवनारूढ (प्राणायामपरायण) रहना चाहिए। ऐसे ध्यान से ब्रह्मस्थान में नाद सुनाई देता है और शंकिनी नामक नाड़ी से अमृत झरने लगता है और षट्चक्रमण्डल का भेदन होने से ज्ञानरूपी दीपक प्रकाशित हो उठता है। सभी भूत (प्राणियों) में निवास करने वाले परम देव

का सदैव पूजन करना चाहिए। वे देव आत्मस्वरूप, ज्ञानस्वरूप और दुःखों से रहित हैं। उन सर्वव्यापी निरंजन परमदेव के दिव्यरूप का दर्शन करके 'हंस हंस'—ऐसा जाप निरन्तर करते रहना चाहिए। सभी प्राणियों के शरीर में स्थित प्राण और अपान की ग्रन्थि को अजपा जाप कहा जाता है।

सहस्रमेकं द्व्ययुक्तं षट्शतं चैव सर्वदा।
उच्चरन् पठितो हंसः सोऽहमित्यभिधीयते ॥79॥
पूर्वभागे ह्यधोलिङ्गं शिखिन्यां चैव पश्चिमम्।
ज्योतिर्लिङ्गं भ्रुवोर्मध्ये नित्यं ध्यायेत्सदा यतिः ॥80॥

इससे प्रतिदिन इक्कीस हजार और छः सौ बार जप करता हुआ हंस 'सोऽहम्' के रूप में परिवर्तित हो जाता है। साधक को हमेशा के लिए कुण्डलिनी के पूर्व में अधोलिंग का तथा शिखास्थान में पश्चिम लिंग का और भ्रूकुटियों के बीच में ज्योतिर्लिंग का ध्यान करना चाहिए।

अच्युतोऽहमचिन्त्योऽहमतर्क्योऽहमजोऽस्म्यहम्।
अव्रणोऽहमकायोऽहमनङ्गोऽस्म्यभयोऽस्म्यहम् ॥81॥
अशब्दोऽहमरूपोऽहमस्पर्शोऽस्म्यहमद्वयः।
अरसोऽहमगन्धोऽहमनादिरमृतोऽस्म्यहम् ॥82॥
अक्षयोऽहमलिङ्गोऽहमजरोऽस्म्यकलोऽस्म्यहम्।
अप्राणोऽहममूकोऽहमचिन्त्योऽस्म्यकृतोऽस्म्यहम् ॥83॥
अन्तर्याम्यहमग्राह्योऽनिर्देश्योऽहमलक्षणः।
अगोत्रोऽहमगात्रोऽहमचक्षुष्कोऽस्म्यवागहम् ॥84॥

मैं अच्युत, अचिन्त्य, अतर्क्य, अजन्मा हूँ। मैं व्रणरहित, कायारहित, अवयवरहित, अभय हूँ। मैं शब्दरहित, रूपरहित, स्पर्शरहित एवं अद्वय हूँ। मैं रसहीन, गन्धहीन, अनादि और अमृत हूँ। मैं अक्षय, लिंगहीन, अजर और कला-भेदशून्य हूँ। मैं प्राणहीन, अमूक (वाणीयुक्त), अचिन्त्य तथा क्रियारहित हूँ। मैं अन्तर्यामी हूँ, अग्राह्य हूँ, अनिर्देश्य हूँ, लक्षणरहित हूँ। मैं कुल-गोत्र-शरीर आदि से रहित हूँ। मैं नेत्रेन्द्रियरहित हूँ और वागिन्द्रिय से भी रहित ही हूँ।

अदृश्योऽहमवर्णोऽहमखण्डोऽस्म्यहमद्भुतः।
अश्रुतोऽहमदृष्टोऽहमन्वेष्टव्योऽमरोस्म्यहम् ॥85॥
अवायुरप्यनाकाशोऽतेजस्कोऽव्यभिचार्यहम्।
अमतोऽहमजातोऽहमतिसूक्ष्मोऽविकार्यहम् ॥86॥
अरजस्कोऽतमस्कोऽहमसत्त्वोऽस्म्यगुणोऽस्म्यहम्।
अमायोऽनुभवात्माऽहमनन्योऽविषयोऽस्म्यहम् ॥87॥
अद्वैतोऽहमपूर्णोऽहमबाह्योऽहमनन्तरः।
अश्रोत्रोऽहमदीर्घोऽहमव्यक्तोऽहमनामयः ॥88॥

मैं अदृश्य', वर्णरहित, अखण्ड और अद्भुत हूँ। मैं अश्रुत, अद्वैत, अन्वेषणीय और अमर हूँ। मैं वायु नहीं हूँ आकाश भी नहीं हूँ, तेज भी नहीं हूँ, मैं नियमभंजक नहीं हूँ। मैं अज्ञेय, अजन्मा, अतिसूक्ष्म और अविकारी हूँ। मैं रजोगुणरहित, तमोगुणरहित, सत्त्वगुणरहित एवं निर्गुण हूँ। मैं मायारहित, अभय, निर्विषय, अद्वैत, जीवभाव में अपूर्ण, अबाह्य, अनन्तर और श्रोत्ररहित हूँ। मैं दीर्घादि परिमाणरहित अव्यक्त और अनामय (व्याधिरहित) हूँ।

अद्वयानन्दविज्ञानघनोऽस्म्यहमविक्रियः ।
अनिच्छोऽहमलेपोऽहमकर्ताऽस्म्यहमद्वयः ॥89॥
अविद्याकार्यहीनोऽहमवाङ्मनसगोचरः ।
अनल्पोऽहमशोकोऽहमविकल्पोऽस्म्यविज्वलन् ॥90॥
आदिमध्यान्तहीनोऽहमाकाशसदृशोऽस्म्यहम् ।
आत्मचैतन्यरूपोऽहमहमानन्दचिद्घनः ॥91॥
आनन्दामृतरूपोऽहमात्मसंस्थोऽहमन्तरः ।
आत्मकामोऽहमाकाशात्परमात्मेश्वरोऽस्म्यहम् ॥92॥

मैं अद्वय, आनन्दरूप, विज्ञानघन, विकाररहित, इच्छारहित, निर्लेप, अकर्ता तथा अद्वैत हूँ। अविद्या का कार्य मैं नहीं हूँ। मैं वाणी और मन से परे हूँ। मैं अनल्प, शोकरहित, विकल्पशून्य, निरग्निरूप हूँ। मैं आदि-मध्य-अन्त हीन हूँ। मैं आकाश जैसा हूँ। मैं आत्मचैतन्यरूप, आनन्दरूप, चिद्घन, आनन्दामृतस्वरूप और आकाश से भी ज्यादा व्यापक हूँ। मैं परमेश्वर हूँ।

ईशानोऽस्म्यहमीड्योऽहमहमुत्तमपूरुषः ।
उत्कृष्टोऽहमुपद्रष्टाऽहमुत्तरोत्तरोऽस्म्यहम् ॥93॥
केवलोऽहं कविः कर्माध्यक्षोऽहं करणाधिपः ।
गुहाशयोऽहं गोप्ताहं चक्षुषश्चक्षुरस्म्यहम् ॥94॥
चिदानन्दोऽस्म्यहं चेता चिद्घनश्चिन्मयोऽस्म्यहम् ।
ज्योतिर्मयोऽस्म्यहं ज्यायाञ्ज्योतिषां ज्योतिरस्म्यहम् ॥95॥
तमसः साक्ष्यहं तुर्यतुर्योऽहं तमसः परः ।
दिव्यो देवोऽस्मि दुर्दर्शो दृष्टाध्यायो ध्रुवोऽस्म्यहम् ॥96॥

मैं ईशान, पूजनीय, परमपुरुष और उत्कृष्ट हूँ। मैं साक्षीस्वरूप हूँ। मैं परे से भी परे हूँ। मैं केवल हूँ, कवि हूँ, कर्माध्यक्ष हूँ। मैं कारणों का भी कारण हूँ। मैं गुप्त रहस्य हूँ। मैं गोप्ता हूँ। और मैं ही नेत्रों का भी नेत्र हूँ। मैं चिदानन्द हूँ, मैं चेतना प्रदान करने वाला हूँ। मैं चिद्घन हूँ, चिन्मय हूँ, ज्योतिर्मय हूँ और ज्योतियों का भी ज्योतिरूप हूँ। मैं अन्धकार में साक्ष्यस्वरूप हूँ। तुर्य का भी तुर्य हूँ। अन्धकार से मैं परे हूँ और मैं देवस्वरूप हूँ, मैं दुर्दर्श हूँ और दृष्टि का आधार ध्रुव हूँ (शाश्वत हूँ)।

नित्योऽहं निरवद्योऽहं निष्क्रियोऽस्मि निरञ्जनः ।
निर्मलो निर्विकल्पोऽहं निराख्यातोऽस्मि निश्चलः ॥97॥
निर्विकारो नित्यपूतो निर्गुणो निःस्पृहोऽस्म्यहम् ।
निरिन्द्रियो नियन्ताऽहं निरपेक्षोऽस्मि निष्कलः ॥98॥
पुरुषः परमात्माऽहं पुराणः परमोऽस्म्यहम् ।
परावरोऽस्म्यहं प्राज्ञः प्रपञ्चोपशमोऽस्म्यहम् ॥99॥
परामृतोऽस्म्यहं प्राज्ञः प्रभुरस्मि पुरातनः ।
पूर्णानन्दैकबोधोऽहं प्रत्यगेकरसोऽस्म्यहम् ॥100॥

मैं नित्य हूँ, दोषरहित हूँ, अक्रिय हूँ, निरंजन हूँ, शुद्ध हूँ, विकल्पशून्य हूँ, अनिरुक्त हूँ और निश्चल हूँ। मैं अविकारी हूँ, सदैव पवित्र हूँ, गुणरहित हूँ, ऐषणारहित हूँ। मैं निरिन्द्रिय हूँ, मैं नियन्ता हूँ, मैं निरपेक्ष हूँ और अंशांशिभाव-रहित हूँ। मैं पुरुष हूँ, परमात्मा हूँ शाश्वत और सर्वप्रथम हूँ। मैं ही

परम हूँ, पर से भी पर हूँ, प्राज्ञ हूँ, संसार का शामक मैं ही हूँ। मैं परम अमृतरूप हूँ। मैं प्राज्ञ हूँ, प्रभु हूँ, पुरातन हूँ, पूर्णानन्द हूँ, ज्ञानैकागम्य (बोधस्वरूप) हूँ। मैं अन्तस् में स्थित एकरसमय (समानरूप से रहा) हूँ।

प्रज्ञातोऽहं प्रशान्तोऽहं प्रकाशः परमेश्वरः।
एकधा चिन्त्यमानोऽहं द्वैताद्वैतविलक्षणः ॥101॥
बुद्धोऽहं भूतपालोऽहं भारूपो भगवानहम्।
महादेवो महानस्मि महाज्ञेयो महेश्वरः ॥102॥
विमुक्तोऽहं विभुरहं वरेण्यो व्यापकोऽस्म्यहम्।
वैश्वानरो वासुदेवो विश्वतश्चक्षुरस्म्यहम् ॥103॥
विश्वाधिकोऽहं विशदो विष्णुर्विश्वकृदस्म्यहम्।
शुद्धोऽस्मि शुक्रः शान्तोऽस्मि शाश्वतोऽस्मि शिवोऽस्म्यहम् ॥104॥
सर्वभूतान्तरात्माहमहमस्मि सनातनः।
अहं सकृद्विभातोऽस्मि स्वे महिम्नि सदा स्थितः ॥105॥

मैं प्रकृष्ट ज्ञाता हूँ, मैं प्रकाश हूँ, मैं परमेश्वर हूँ, मैं एक ही प्रकार से विचारणीय हूँ, मैं द्वैत और अद्वैत से विलक्षण हूँ। मैं बुद्ध (ज्ञानी) हूँ, मैं सभी प्राणियों का पालक हूँ, मैं तेज:स्वरूप हूँ, मैं भगवान् हूँ। मैं महादेव हूँ, मैं बड़ा हूँ, मैं ही सबसे अधिक जानने योग्य हूँ, मैं ही महेश्वर हूँ। मैं विमुक्त हूँ, मैं विभु हूँ, मैं वरणयोग्य हूँ, मैं व्यापक हूँ, मैं वैश्वानर एवं वासुदेव हूँ, मैं ही सम्पूर्ण विश्व का चक्षुरूप हूँ। मैं विश्व से अधिक हूँ, मैं विशद हूँ, मैं विष्णु हूँ, मैं विश्वस्रष्टा हूँ। मैं शुद्ध हूँ, मैं शुक्र हूँ, मैं शान्त हूँ, मैं शाश्वत और शिव हूँ। मैं सभी प्राणियों का अन्तरात्मा हूँ, मैं सनातन हूँ, मैं अपनी महिमा में स्थिर रहकर सदैव निरन्तर प्रकाशित होता रहता हूँ।

सर्वान्तरः सर्वज्योतिः सर्वाधिपतिरस्म्यहम्।
सर्वभूताधिवासोऽहं सर्वव्यापी स्वराडहम् ॥106॥
समस्तसाक्षी सर्वात्मा सर्वभूतगुहाशयः।
सर्वेन्द्रियगुणाभासः सर्वेन्द्रियविवर्जितः ॥107॥
स्थानत्रयव्यतीतोऽहं सर्वानुग्राहकोऽस्म्यहम्।
सच्चिदानन्दपूर्णात्मा सर्वप्रेमास्पदोऽस्म्यहम् ॥108॥
सच्चिदानन्दमात्रोऽहं स्वप्रकाशोऽस्मि चिद्घनः।
सत्त्वस्वरूपसन्मात्रसिद्धसर्वात्मकोऽस्म्यहम् ॥109॥
सर्वाधिष्ठानसन्मात्रः सर्वबन्धहरोऽस्म्यहम्।
सर्वग्रासोऽस्म्यहं सर्वद्रष्टा सर्वानुभूरहम् ॥
एवं यो वेद तत्त्वेन स वै पुरुष उच्यते ॥110॥ इत्युपनिषत्।

इति ब्रह्मविद्योपनिषत् समाप्ता।

मैं सबके भीतर हूँ, मैं सर्वप्रकाशक हूँ, मैं सर्वाधिपति हूँ, मैं सभी प्राणियों में और भूतों में रहता हूँ। मैं सर्वव्यापक हूँ, मैं स्वराट् हूँ। मैं सबका साक्षी हूँ, सबका आत्मा हूँ, सभी प्राणियों की हृदय रूपी

गुहा में रहता हूँ। सभी इन्द्रियों में गुणों का मैं प्रकाशक हूँ। सभी इन्द्रियों से मैं रहित हूँ। मैं जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति से परे हूँ। मैं सभी पर कृपा करने वाला हूँ। मैं सच्चिदानन्द हूँ, मैं पूर्णात्मा हूँ। मैं सभी के लिए प्रेम का पात्र हूँ। मैं केवल सच्चिदानन्द ही हूँ। मैं स्वयंप्रकाश चिद्घन हूँ। मैं सत्तास्वरूप और केवल सत्ता ही हूँ। मेरे लिए सब सिद्ध ही है। मैं सबका अधिष्ठान (आधार) और सत्तात्मक ही हूँ। सभी प्रकार के बन्धनों को मैं काटने वाला हूँ। मैं सबका ग्रास करने वाला हूँ। मैं सबका द्रष्टा (साक्षी) हूँ। मैं सबका अनुभव करने वाला हूँ। इस प्रकार से जो तत्त्वरूप को समझता है या ज्ञाता है वही पुरुष है—ऐसा उपदेश है।

यहाँ ब्रह्मविद्योपनिषत् पूर्ण होती है।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ ...... मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

❉

(42) योगतत्त्वोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

कृष्णयजुर्वेद के साथ सम्बद्ध इस उपनिषद् में विविध प्रकार के योगों के उपादानों का विशद विवरण दिया गया है। एक बार पितामह ब्रह्मा ने भगवान् विष्णु से आठ अंगों वाले योगतत्त्व के बारे में पूछा था और उसके उत्तर में विष्णु ने यह उपदेश दिया था। इसमें कैवल्यपद की प्राप्ति के लिए योगमार्ग को श्रेष्ठ बताया गया है। इसमें मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग और राजयोग—ये चार प्रकार योग के बताए हैं। और क्रमशः उनकी ये चार अवस्थाएँ—आरंभ, घट, परिचय और निष्पत्ति भी बताई गई हैं। योग के साधकों और सिद्धों के आहार, विहार, दिनचर्या के बारे में भी बताया गया है। यौगिक सिद्धियों और साधनाकालीन सावधानियों का भी निर्देश किया गया है। योगलभ्य अणिमादि आठ सिद्धियों की निःसंदिग्धता बताते हुए भी अन्ततोगत्वा जीवन के लिए आत्मतत्त्व का साक्षात्कार ही परम लक्ष्य है—यह सूचित करते हुए कहा गया है कि निर्वात दीपशिखा की तरह अन्तःकरण में आत्मतत्व का साक्षात्कार करके संसार-चक्र से मुक्त हो जाना ही परम लक्ष्य है। इस उपनिषद् की सभी उपनिषदों की तरह फलश्रुति तो यही है।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ ...... मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (ब्रह्मोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

योगतत्त्वं प्रवक्ष्यामि योगिनां हितकाम्यया।
यच्छ्रुत्वा च पठित्वा च सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥1॥
विष्णुर्नाम महायोगी महाभूतो महातपाः।
तत्त्वमार्गे यथा दीपो दृश्यते पुरुषोत्तमः ॥2॥
तमाराध्य जगन्नाथं प्रणिपत्य पितामहः।
पप्रच्छ योगतत्त्वं मे ब्रूहि चाष्टाङ्गसंयुतम् ॥3॥
तमुवाच हृषीकेशो वक्ष्यामि शृणु तत्त्वतः।
सर्वे जीवाः सुखैर्दुःखैर्मायाजालेन वेष्टिताः ॥4॥

योगियों के हित की कामना से मैं योगतत्त्व के बारे में कह रहा हूँ, जिसे सुनकर या पढ़कर मनुष्य सभी पापों से मुक्त हो जाता है। विष्णु नाम के महायोगी ही सभी प्राणियों में महान् हैं और महातपस्वी हैं। और वही दीप की तरह तत्त्वमार्ग में पुरुषोत्तम हैं। इन जगन्नाथ (भगवान् विष्णु) की आराधना करके और उन्हें प्रणाम करके पितामह ब्रह्मा ने उनसे पूछा—'मुझे आठ अंगों के साथ योगतत्त्व कहिए'। उनके पूछने पर हृषीकेश भगवान् विष्णु ने उनसे कहा—'मैं आपको उस तत्त्व का वर्णन करता हूँ, आप ध्यान पूर्वक उसे सुनिए। ये सभी जीव माया के जाल से सुखों और दुःखों से घिरे हुए हैं।

तेषां मुक्तिकरं मार्गं मायाजालनिकृन्तनम् ।
जन्ममृत्युजराव्याधिनाशनं मृत्युतारकम् ॥5॥
नानामार्गैस्तु दुष्प्रापं कैवल्यं परमं पदम् ।
पतिताः शास्त्रजालेषु प्रज्ञया तेन मोहिताः ॥6॥
अनिर्वाच्यं पदं वक्तुं न शक्यं तैः सुरैरपि ।
स्वात्मप्रकाशरूपं तत् किं शास्त्रेण प्रकाश्यते ॥7॥
निष्कलं निर्मलं शान्तं सर्वातीतं निरामयम् ।
तदेव जीवरूपेण पुण्यपापफलैर्वृतम् ॥8॥

उन लोगों की मुक्ति करने वाला, माया के जाल को काटने वाला, जन्म-मरण-जरावस्था और रोगों का नाश करने वाला मार्ग तो यही है (जो कि आपने पूछा है)। इसके अतिरिक्त दूसरे मार्गों का अनुसरण करने से तो कैवल्य का पद बड़ी कठिनता से मिलता है और शास्त्रों में बताए गए मतमतान्तर वाले अन्यान्य मार्गों पर चलने वाले लोगों की बुद्धि में मोह उत्पन्न हो जाता है। उस अनिर्वचनीय पद का उल्लेख देवगण भी नहीं कर पाते, तब उस स्वयंप्रकाश आत्मा के स्वरूप को शास्त्रों के द्वारा किस तरह प्रकाशित किया जा सकता है ? यह आत्मा अंशरहित, मलरहित, शान्त और सर्वातीत एवं दोषरहित है। वही आत्मा पुण्य और पाप से आवृत होकर जीवरूप में हो जाता है।

परमात्मपदं नित्यं तत्कथं जीवतां गतम् ।
सर्वभावपदातीतं ज्ञानरूपं निरञ्जनम् ॥9॥
वारिवत्स्फुरितं तस्मिंस्तत्राहङ्कृतिरुत्थिता ।
पञ्चात्मकमभूत्पिण्डं धातुबद्धं गुणात्मकम् ॥10॥
सुखदुःखैः समायुक्तं जीवभावनया कुरु ।
तेन जीवाभिधा प्रोक्ता विशुद्धे परमात्मनि ॥11॥

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि परमात्मा का पद तो नित्य ही है, और जब वह परमात्मा सभी प्रकार के भावों और पदों से परे है, ज्ञानरूप हैं और निर्लेप है, तब भला वह जीवभाव को कैसे प्राप्त हो सकता है ? इसका उत्तर यह है कि जैसे पानी में तरंगें उठती हैं, वैसे ही उस परमतत्त्व में एक स्फुरण हुआ और उसमें से 'अहंकार' उत्पन्न हुआ। इसमें से पंचभूतात्मक पिण्ड पैदा हुआ। वह पिण्ड सात धातुओं और तीन गुणों से युक्त था। वही पिण्ड सुख-दुःख से युक्त होने से जीव भाव को प्राप्त होता है। इसीलिए विशुद्ध परमात्मा को ही जीव का नाम दिया गया।

कामक्रोधभयं चापि मोहलोभमदो रजः ।
जन्म मृत्युश्च कार्पण्यं शोकस्तन्द्रा क्षुधा तृषा ॥12॥
तृष्णा लज्जा भयं दुःखं विषादो हर्ष एव च ।
एभिर्दोषैर्विनिर्मुक्तः स जीवः केवलो मतः ॥13॥
तस्माद्दोषविनाशार्थमुपायं कथयामि ते ।
योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवति ध्रुवम् ॥14॥
योगो हि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि ।
तस्माज्ज्ञानं च योगं च मुमुक्षुर्दृढमभ्यसेत् ॥15॥

काम, क्रोध, भय, मोह, लोभ, मद, रजोगुण, जन्म, मृत्यु, कृपणता, शोक, तन्द्रा, भूख, प्यास, तृष्णा, लज्जा, भय, दु:ख, विषाद, हर्ष—इन दोषों से विमुक्त वह जीव (मूलत: तो) केवल चैतन्य ही है। अत: इन दोषों के विनाश के लिए मैं आपको उपाय बतला रहा हूँ। योग के बिना केवल ज्ञान ही मोक्षकारक कैसे हो सकता है ? और इसी प्रकार ज्ञान से हीन (रहित) केवल योग भी मोक्ष देने के लिए समर्थ नहीं हो सकता। इसलिए मुमुक्षु को ज्ञान और योग—दोनों का दृढ अभ्यास करना चाहिए।

अज्ञानादेव संसारो ज्ञानादेव विमुच्यते।
ज्ञानस्वरूपमेवादौ ज्ञानं ज्ञेयैकसाधनम् ॥16॥

यह संसार ही अज्ञान से ही उत्पन्न हुआ है, और ज्ञान से ही उसकी निवृत्ति हो सकती है। आदि में ज्ञान का ही स्वरूप होता है और ज्ञान के द्वारा ही ज्ञेय को प्राप्त किया जा सकता है।

ज्ञातं येन निजं रूपं कैवल्यं परमं पदम्।
निष्कलं निर्मलं साक्षात् सच्चिदानन्दरूपकम् ॥17॥
उत्पत्तिस्थितिसंहारस्फूर्तिज्ञानविवर्जितम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमथ योगं ब्रवीमि ते ॥18॥
योगो हि बहुधा ब्रह्मन् भिद्यते व्यवहारतः।
मन्त्रयोगो लयश्चैव हठोऽसौ राजयोगतः ॥19॥
आरम्भश्च घटश्चैव तथा परिचयः स्मृतः।
निष्पत्तिश्चेत्यवस्था च सर्वत्र परिकीर्तिता ॥20॥

जिस मनुष्य ने अपने चैतन्यरूप परम पद को जान लिया है, जो पद अंशरहित, विशुद्ध, साक्षात् सच्चिदानन्दस्वरूप, उत्पत्ति-स्थिति-नाश के स्फुरण से जो रहित है, वही सच्चा ज्ञान है (अर्थात् सर्जन-पालन-विसर्जन शून्य, अंशरहित शुद्ध चैतन्य ही ज्ञान है)। वह ज्ञान मैंने आपको बताया। हे ब्रह्माजी ! अब मैं आपको योग के बारे में बताता हूँ। वह योग व्यवहार में अनेक प्रकार के होते हैं जैसे मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग और राजयोग। उस योग की चार अवस्थाएँ कही गयी हैं—आरम्भ, घट, परिचय और निष्पत्ति।

एतेषां लक्षणं ब्रह्मन्वक्ष्ये शृणु समासतः।
मातृकादियुतं मन्त्रं द्वादशाब्दं तु यो जपेत् ॥21॥
क्रमेण लभते ज्ञानमणिमादिगुणान्वितम्।
अल्पबुद्धिरिमं योगं सेवते साधकाधमः ॥22॥
लययोगश्चित्तलयः कोटिशः परिकीर्तितः।
गच्छंस्तिष्ठन्स्वपन्भुञ्जन्ध्यायेन्निष्कलमीश्वरम् ॥23॥
स एष लययोगः स्याद्धठयोगमतः शृणु।
यमश्च नियमश्चैव आसनं प्राणसंयमः ॥24॥
प्रत्याहारो धारणा च ध्यानं भ्रूमध्यमे हरिम्।
समाधिः समतावस्था साष्टाङ्गो योग उच्यते ॥25॥

हे ब्रह्मन् ! इन चारों योगों के लक्षण मैं संक्षेप में कहूँगा, उसे सुनिए। जब कोई साधक बारह वर्ष तक मात्रासहित मन्त्र का जप करता है, तो यह मन्त्रयोग कहा जाता है। इसका साधक धीरे-धीरे

अणिमा आदि सिद्धियों के गुण से युक्त ज्ञान प्राप्त करता है। परन्तु इस मन्त्रयोग की कम बुद्धि वाले ही उपासना करते हैं, वह साधक अधम माना जाता है। अब दूसरा लययोग है—यह तो करोड़ों प्रकार का कहा गया है। चलते-फिरते, बैठते-उठते, सोते, खाते-पीते, निष्कल ईश्वर का ध्यान करना चाहिए। इसी को लययोग कहा जाता है। अब तीसरे हठयोग को सुनो—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, दोनों भौहों के बीच हरि का ध्यान और समाधि—यह आठ अंगों वाला योग है।

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी।
जालन्धरोड्डियाणश्च मूलबन्धस्तथैव च ॥26॥
दीर्घप्रणवसन्धानं सिद्धान्तश्रवणं परम्।
वज्रोली चामरोली च सहजोली त्रिधा मता ॥27॥
एतेषां लक्षणं ब्रह्मन्प्रत्येकं शृणु तत्त्वतः।
लघ्वाराहो यमेष्वेको मुख्यो भवति नेतरः ॥28॥
अहिंसा नियमेष्वेका मुख्या वै चतुरानन।
सिद्धं पद्मं तथा सिंहं भद्रं चेति चतुष्टयम् ॥29॥

हठयोग में महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरीमुद्रा, जालन्धरबन्ध, उड्डियाणबन्ध, मूलबन्ध, दीर्घप्रणव-अनुसन्धान, परम सिद्धान्त-श्रवण तथा वज्रोली, अमरोली और सहजोली, ऐसी तीन मुद्राएँ आती हैं। हे ब्रह्मन्! इनमें से हर एक के लक्षण आप सुनिए। यमों में एकमात्र मिताहार (अल्पाहार) ही मुख्य है और नियमों में अहिंसा को मुख्य माना गया है। आसनों में सिद्धासन, पद्मासन, सिंहासन और भद्रासन—इन चार आसनों को मुख्य माना गया है।

प्रथमाभ्यासकाले तु विघ्नाः स्युश्चतुरानन।
आलस्यं कत्थनं धूर्तगोष्ठी मन्त्रादिसाधनम् ॥30॥
धातुस्त्रीलौल्यकादीनि मृगतृष्णामयानि वै।
ज्ञात्वा सुधीस्त्यजेत्सर्वान् विघ्नान्पुण्यप्रभावतः ॥31॥
प्राणायामं ततः कुर्यात्पद्मासनगतः स्वयम्।
सुशोभनं मठं कुर्यात्सूक्ष्मद्वारं तु निर्व्रणम् ॥32॥
सुष्ठु लिप्तं गोमयेन सुधया वा प्रयत्नतः।
मत्कुणैर्मशकैर्लूतैर्वर्जितं च प्रयत्नतः ॥33॥

हे चतुरानन! योग के अभ्यास के प्रारंभ में विघ्न तो आते हैं। जैसे आलस्य, अपनी बड़ाई, धूर्तपने की बातें और मन्त्रादि का साधन आदि होते हैं। श्रेष्ठ साधक को धातु (धनादि), स्त्री, लोलुपता आदि को मृगजल समझकर छोड़ देना चाहिए और अपने पुण्य के प्रभाव से सभी विघ्नों को हटा देना चाहिए। बाद में प्राणायाम करना चाहिए। उसके लिए स्वयं पहले पद्मासन लगाकर बैठना चाहिए। ऐसा करने के लिए तो सबसे पहले एक छोटी-सी सुन्दर कुटिया बनानी चाहिए। उसका द्वार छोटा होना चाहिए, उसमें छिद्र नहीं होने चाहिए, वह गोमय से प्रयत्नपूर्वक लीपा होना चाहिए। खटमल, मच्छर, मकड़ी आदि जन्तुओं से उसे प्रयत्नपूर्वक रहित कर देना चाहिए।

दिने दिने च सम्मृष्टं सम्मार्जन्या विशेषतः।
वासितं च सुगन्धेन धूपितं गुग्गुलादिभिः ॥34॥

नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ।
तत्रोपविश्य मेधावी पद्मासनसमन्वितः ॥35॥
ऋजुकायः प्राञ्जलिश्च प्रणमेदिष्टदेवताम् ।
ततो दक्षिणहस्तस्य अङ्गुष्ठेनैव पिङ्गलाम् ॥36॥
निरुध्य पूरयेद्वायुमिडया तु शनैः शनैः ।
यथाशक्त्यविरोधेन ततः कुर्याच्च कुम्भकम् ॥37॥

फिर, उस कुटिया को प्रतिदिन संमार्जनी से प्रयत्नपूर्वक झाड़कर स्वच्छ रखना चाहिए और गुग्गुल आदि की धूप से उसे सुगन्धित रखना चाहिए। बाद में जो न बहुत ऊँचा हो और न बहुत नीचा हो, ऐसे वस्त्र, मृगचर्म या कुश के आसन पर पद्मासन में बैठकर शरीर को सीधा रखकर हाथ जोड़कर इष्ट देवता को प्रणाम करना चाहिए। और इसके बाद, दाहिने हाथ के अँगूठे से पिंगला का निरोध करके (उसे दबाकर) धीरे-धीरे वायु को भीतर की ओर खींचना चाहिए और उसे यथाशक्ति रोककर कुम्भक करना चाहिए।

पुनस्त्यजेत्पिङ्गलया शनैरेव न वेगतः ।
पुनः पिङ्गलमापूर्य पूरयेदुदरं शनैः ॥38॥
धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदिडया शनैः ।
यया त्यजेत्तयापूर्य धारयेदविरोधतः ॥39॥
जानु प्रदक्षिणीकृत्य न द्रुतं न विलम्बितम् ।
अङ्गुलिस्फोटनं कुर्यात्सा मात्रा परिगीयते ॥40॥

इसके बाद पिंगला द्वारा उस वायु को धीरे-धीरे, वेगरहित बाहर निकालना चाहिए। फिर इसके बाद पिंगला से वायु को पेट में फिर से भरकर, शक्ति के अनुसार ग्रहण करके इडा के माध्यम से धीरे-धीरे रेचन करना चाहिए। इस प्रकार जिस ओर के नथुने से वायु बाहर निकाला हो उसी के जरिए फिर से वायु को भरकर दूसरी ओर के नथुने से बाहर निकालते रहना चाहिए। मात्रा का काल प्रमाण यह है कि जानु को हाथ से शीघ्र भी नहीं और धीरे-धीरे भी नहीं—ऐसे सामान्य-मध्यम रूप से चारों ओर घुमाकर बाद में चुटकी बजाने में जितना समय लगता है, उस समय को 'मात्रा' कहा जाता है।

इडया वायुमारोप्य शनैः षोडशमात्रया ।
कुम्भयेत्पूरितं पश्चाच्चतुःषष्ट्या तु मात्रया ॥41॥
रेचयेत्पिङ्गलानाड्या द्वात्रिंशन्मात्रया पुनः ।
पुनः पिङ्गलयापूर्य पूर्ववत्सुसमाहितः ॥42॥
प्रातर्मध्यन्दिने सायमर्धरात्रे च कुम्भकान् ।
शनैरशीतिपर्यन्तं चतुर्वारं समभ्यसेत् ॥43॥
एवं मासत्रयाभ्यासान्नाडीशुद्धिस्ततो भवेत् ।
यदा तु नाडी शुद्धिः स्यात्तदा चिह्नानि बाह्यतः ॥44॥

इडा नाडी से धीरे-धीरे सोलह मात्रा तक वायु का पूरक करना चाहिए। फिर उस पूरित वायु का चौसठ मात्रा तक कुंभक करना चाहिए। फिर पिंगला नाडी के जरिए उस कुंभित वायु का बत्तीस मात्रा तक के काल में रेचन करना चाहिए। फिर से उस पिंगला नाडी से वायु का पूर्वोक्त रीति से ही पूरक करना चाहिए, और पूर्वोक्त प्रकार से ही कुंभक तथा रेचक करना चाहिए। इस प्रकार प्रातः में, मध्याह्न

में, सायंकाल में तथा आधी रात को धीरे-धीरे अस्सी कुंभकों का अभ्यास करना चाहिए। इस प्रकार तीन मास तक अभ्यास करने से नाडीशुद्धि हो जाती है। और ऐसा होने पर अर्थात् नाडीशुद्धि होने पर परिणामतः उसके बाह्य चिह्न दिखाई देने लग जाते हैं।

जायन्ते योगिनो देहे तानि वक्ष्याम्यशेषतः।
शरीरलघुता दीप्तिर्जाठराग्निविवर्धनम् ॥45॥
कृशत्वं च शरीरस्य सदा जायेत निश्चितम्।
योगविघ्नकराहारं वर्जयेद् योगवित्तमः ॥46॥
लवणं सर्षपं चाम्लमुष्णं रूक्षं च तीक्ष्णकम्।
शाकजातं रामठादि वह्निस्त्रीपथसेवनम् ॥47॥
प्रातःस्नानोपवासादिकायक्लेशांश्च वर्जयेत्।
अभ्यासकाले प्रथमं शस्तं क्षीराज्यभोजनम् ॥48॥

ऐसे बाह्य चिह्न किस प्रकार से दिखाई देते हैं, वह मैं पूर्णतः कहूँगा। शरीर में हल्कापन आ जाता है, जठराग्नि तेज हो जाती है, शरीर में कान्ति बढ़ती है, शरीर में पतलापन आता है। ऐसे समय में योग में बाधा पहुँचाने वाले आहार का त्याग कर देना चाहिए। नमक, तेल, खटाई, गरम-सूखा-तीखा भोजन, हरे साग-तरकारी, हींग आदि मसाले, आग में तपना, स्त्री का सहवास, अति चलना, सुबह का स्नान, उपवास और शरीर को कष्ट पहुँचाने वाले अन्य कार्य छोड़ देने चाहिए। योगाभ्यास के आरंभ के दिनों में दूध और घी का भोजन प्रशस्त माना गया है।

गोधूममुद्गशाल्यन्नं योगवृद्धिकरं विदुः।
ततः परं यथेष्टं तु शक्तः स्याद्वायुधारणे ॥49॥
यथेष्टधारणाद्वायोः सिद्ध्येत्केवलकुम्भकः।
केवले कुम्भके सिद्धे रेचपूरविवर्जिते ॥50॥
न तस्य दुर्लभं किञ्चित् त्रिषु लोकेषु विद्यते।
प्रस्वेदो जायते पूर्वं मर्दनं तेन कारयेत् ॥51॥
ततोऽपि धारणाद्वायोः क्रमेणैव शनैः शनैः।
कम्पो भवति देहस्य आसनस्थस्य देहिनः ॥52॥

गेहूँ, मूँग और चावल का आहार योग की वृद्धि करने वाला माना जाता है। इसको लेने के बाद मनुष्य अपनी इच्छानुसार प्राण का संयम (निरोध) कर सकता है। जब इस तरह प्राणवायु का यथेष्ट धारण सिद्ध हो जाता है, तब केवल-कुम्भक सिद्ध हो जाता है। जब केवल-कुंभक सिद्ध हो जाता है तो रेचक एवं पूरक चले ही जाते हैं। तब ऐसे मनुष्य के लिए तीनों लोकों में कुछ भी दुर्लभ नहीं होता। केवल-कुंभक सिद्ध होने पर शरीर में जो पसीना उत्पन्न होता है, उसे शरीर में ही मल लेना चाहिए। तदनन्तर प्राणवायु की धारणशक्ति धीरे-धीरे क्रमशः बढ़ती रहने से आसन पर बैठे हुए साधक की देह में कंप उत्पन्न होने लगता है।

ततोऽधिकतराभ्यासाद् दार्दुरी स्वेन जायते।
यथा च दर्दुरो भाव उत्प्लुत्योत्प्लुत्य गच्छति ॥53॥
पद्मासनस्थितो योगी तथा गच्छति भूतले।
ततोऽधिकतराभ्यासाद् भूमित्यागश्च जायते ॥54॥

पद्मासनस्थ एवाऽसौ भूमिमुत्सृज्य वर्तते ।
अतिमानुषचेष्टादि तथा सामर्थ्यमुद्भवेत् ॥55॥
न दर्शयेच्च सामर्थ्यं दर्शनं वीर्यवत्तरम् ।
स्वल्पं वा बहुधा दुःखं योगी न व्यथते सदा ॥56॥

इससे भी आगे और अधिक अभ्यास करने से मेंढक की तरह चेष्टाएँ होने लगती हैं। जैसे मेढक जमीन से उछल-उछल कर वापिस जमीन में और पुनः ऊपर आया-जाया करता है, वैसे ही वह पद्मासनस्थ योगी आसन से ऊपर उठकर फिर जमीन पर आया-जाया करता है। और भी अधिक अभ्यास किए जाने पर जमीन को बिल्कुल छोड़ ही देता है। पद्मासन में ही स्थित वह योगी भूमि से ऊपर उठकर रहता है। उस समय उस योगी में मानवेतर चेष्टाएँ करने की सामर्थ्य आ जाती है ! लेकिन वह सामर्थ्य उसे किसी को नहीं बताना चाहिए अपितु उस सामर्थ्य का स्वयं दर्शन करके अपने उत्साह को बढ़ाना चाहिए। अर्थात् उस सामर्थ्य का अपने-आप में किया हुआ दर्शन ही वीर्यवत्तर (बलवत्तर) होता है। ऐसे समय में वह योगी थोड़े या बहुत दुःख से भी व्यथित नहीं होता।

अल्पमूत्रपुरीषश्च स्वल्पनिद्रश्च जायते ।
कीलवो दूषिका लाला स्वेददुर्गन्धतानने ॥57॥
एतानि सर्वथा तस्य न जायन्ते ततः परम् ।
ततोऽधिकतराभ्यासाद् बलमुत्पद्यते बहु ॥58॥
येन भूचरसिद्धिः स्याद् भूचराणां जये क्षमः ।
व्याघ्रो वा शरभो वापि गजो गवय एव वा ॥59॥
सिंहो वा योगिना तेन म्रियन्ते हस्तताडिताः ।
कन्दर्पस्य यथा रूपं तथा स्यादपि योगिनः ॥60॥

उस योगी के मूत्र और मल में कमी हो जाती है, उसकी निद्रा कम हो जाती है। इसके बाद उस योगी को कीचड़, नाक का मैल, थूक, पसीना, मुँह में गन्ध—ये सब कभी नहीं होते। इससे भी अधिक अभ्यास किए जाने पर योगी में बहुत बल आ जाता है, जिस बल से वह भूचरसिद्धि प्राप्त करता है। भूचरसिद्धि का अर्थ पृथ्वी पर विचरते हुए प्राणियों पर काबू पा लेने का सामर्थ्य होता है। बाघ हो या शरभ हो, हाथी हो या नील गाय हो, सिंह हो या और कोई हो, पर वे सब इस योगी के मात्र हाथ से ही मारने पर मर जाते हैं। और इस योगी का रूप कामदेव जैसा हो जाता है।

तद्रूपवशगा नार्यः कांक्षन्ते तस्य सङ्गमम् ।
यदि सङ्गं करोत्येष तस्य बिन्दुक्षयो भवेत् ॥61॥
वर्जयित्वा स्त्रियाः सङ्गं कुर्यादभ्यासमादरात् ।
योगिनोऽङ्गे सुगन्धश्च जायते बिन्दुधारणात् ॥62॥
ततो रहस्युपाविष्टः प्रणवं प्लुतमात्रया ।
जपेत्पूर्वार्जितानां तु पापानां नाशहेतवे ॥63॥
सर्वविघ्नहरो मन्त्रः प्रणवः सर्वदोषहा ।
एवमभ्यासयोगेन सिद्धिरारम्भसम्भवा ॥64॥

उस योगी के ऐसे रूप के वशीभूत होकर नारियाँ उसके साथ समागम करना चाहती हैं। यदि वह योगी समागम कर लेता है, तो उसका बिन्दुक्षय (वीर्य का नाश) हो जाता है। इसलिए स्त्रियों का

संग छोड़कर आदरपूर्वक योग का अभ्यास ही करते रहना चाहिए। क्योंकि बिन्दु के धारण करते रहने से ही (ऊर्ध्वरेता बने रहने से ही) योगी के शरीर में सुगन्ध पैदा होती है। बाद में पूर्वार्जित पापों के क्षय के लिए एकान्त में बैठकर योगी को प्लुतमात्रा से प्रणव का जाप करना चाहिए। क्योंकि वह प्रणवमन्त्र तो सर्व विघ्नों को और सभी दोषों (बाधाओं) को दूर करने वाला है। ऐसे अभ्यासयोग से सिद्धियों का संभव (उत्पत्ति) शुरू हो जाता है।

ततो भवेद्घटावस्था पवनाभ्यासतत्परा।
प्राणोऽपानो मनो बुद्धिर्जीवात्मपरमात्मनोः ॥65॥
अन्योऽन्यस्याविरोधेन एकता घटते यदा।
घटावस्थेति सा प्रोक्ता तच्चिह्नानि ब्रवीम्यहम् ॥66॥
पूर्वं यः कथितोऽभ्यासश्चतुर्थांशं परिग्रहेत्।
दिवा वा यदि वा सायं याममात्रं समभ्यसेत् ॥67॥
एकवारं प्रतिदिनं कुर्यात्केवलकुम्भकम्।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो यत्प्रत्याहरणं स्फुटम् ॥68॥

इसके बाद एक घटावस्था होती है, वह प्राणायाम से होती है। पूर्वोक्त प्रणवजाप के साथ प्राणायाम करने से वह सहजरूप से होती हैं। जिस अवस्था में प्राण, अपान, मन, बुद्धि, जीव तथा परमात्मा में निर्विरोध एकता स्थापित होती है, उसे 'घटावस्था' कहा जाता है। उसके चिह्नों का आगे वर्णन किया जाता है। यथा—पहले जितना अभ्यास योगी करता था, उसका चतुर्थांश ही अब करना चाहिए। दिन में अथवा रात में केवल एक प्रहर ही योगाभ्यास करना चाहिए। 'केवल कुंभक' तो दिन में एक बार ही करना चाहिए। कुम्भक में स्थिर होकर इन्द्रियों को उनके विषयों से खींचकर लाए, यही प्रत्याहार है।

योगी कुम्भकमास्थाय प्रत्याहारः स उच्यते।
यद्यत्पश्यति चक्षुर्भ्यां तत्तदात्मेति भावयेत् ॥69॥
यद्यच्छृणोति कर्णाभ्यां तत्तदात्मेति भावयेत्।
लभते नासया यद्यत् तत्तदात्मेति भावयेत् ॥70॥
जिह्वया यद्रसं ह्यत्ति तत्तदात्मेति भावयेत्।
त्वचा यद्यत्स्पृशेद्योगी तत्तदात्मेति भावयेत् ॥71॥
एवं ज्ञानेन्द्रियाणां तु तत्तदात्मनि धारयेत्।
याममात्रं प्रतिदिनं योगी यत्नादतन्द्रितः ॥72॥

पूर्वोक्त प्रकार से योगी जब कुंभक करता है, तब उसे प्रत्याहार कहा जाता है। ऐसे प्रत्याहार के समय में योगी अपनी आँखों से जो कुछ देखता है, उसे आत्मवत् ही समझे। अपने कानों से जो कुछ भी सुनता है, उसे आत्मवत् ही समझे। अपनी नासिका से जो कुछ सूँघता है, उसे आत्मरूप ही समझे। जीभ से जो कुछ भी आस्वाद करे, उसे आत्मवत् ही समझे। त्वगिन्द्रिय से जिस किसी का स्पर्श करे, उसे आत्मवत् ही समझे। इस प्रकार सभी ज्ञानेन्द्रियों को – उनके विषयों को – योगी अपने आत्मा में ही धारण करे। इस प्रकार का प्रत्याहार प्रतिदिन एकबार योगी को आलस्यरहित होकर एक प्रहर तक करना चाहिए।

यथा वा चित्तसामर्थ्यं जायते योगिनो ध्रुवम् ।
दूरश्रुतिर्दूरदृष्टिः क्षणाद् दूरागमस्तथा ॥73॥
वाक्सिद्धिः कामरूपत्वमदृश्यकरणी तथा ।
मलमूत्रप्रलेपेन लोहादेः स्वर्णता भवेत् ॥74॥
खे गतिस्तस्य जायेत सन्तताभ्यासयोगतः ।
सदा बुद्धिमता भाव्यं योगिना योगसिद्धये ॥75॥
एते विघ्ना महासिद्धेर्न रमेत्तेषु बुद्धिमान् ।
न दर्शयेत्स्वसामर्थ्यं यस्य कस्यापि योगिराट् ॥76॥

इस प्रकार योगी के चित्त का सामर्थ्य योगाभ्यास करते-करते बढ़ता जाता है, जैसे कि दूर से सुनाई पड़ना, दूर से दिखाई पड़ना, एक क्षण में बहुत दूर चले जाना, वाणी की सिद्धि, इच्छानुसार रूप धारण करना, अदृश्य हो जाना, अपने मल-मूत्र के लेप से लोहे को सोना बना देना, आकाश में गमन करना—आदि सामर्थ्य सतत योगाभ्यास से आ जाते हैं। परन्तु बुद्धिमान योगी को यह सोच लेना चाहिए कि उसकी योग की परम सिद्धि के लिए ये सभी सामर्थ्य विघ्नरूप (अवरोधक) ही हैं। बुद्धिमान योगी को इन सामर्थ्यों में मग्न नहीं होना चाहिए। और जहाँ-तहाँ अपने सामर्थ्यों का प्रदर्शन नहीं करना चाहिए। (तात्पर्य यह है कि बुद्धिमान योगी को ऐसी सिद्धियों के प्रदर्शन से बचना चाहिए)।

यथा मूढो यथा मूर्खो यथा बधिर एव च ।
तथा वर्तेत लोकस्य स्वसामर्थ्यस्य गुप्तये ॥77॥
शिष्याश्च स्वस्वकार्येषु प्रार्थयन्ति न संशयः ।
तत्तत्कर्मकरव्यग्रः स्वाभ्यासे विस्मृतो भवेत् ॥78॥
सर्वव्यापारमुत्सृज्य योगनिष्ठो भवेद्यतिः ।
अविस्मृत्य गुरोर्वाक्यमभ्यसेत्तदहर्निशम् ॥79॥
एवं भवेद्घटावस्था सन्तताभ्यासयोगतः ।
अनभ्यासवतश्चैव वृथागोष्ठ्या न सिद्ध्यति ॥80॥

इसीलिए श्रेष्ठ योगी को जनसाधारण के सामने अज्ञानी, मूर्ख, बहरा होने जैसा वर्ताव अपने सामर्थ्यों को छिपाने के लिए करना चाहिए। शिष्यलोग तो अपने-अपने कर्मों की सिद्धि के लिए उस योगी के पास निश्चित ही विज्ञप्तियाँ किया करेंगे, फलस्वरूप उनके उन कार्यों में फँसकर योगी अपने योगाभ्यास को भूल जाता है। इसलिए उस योगी को तो ऐसे सभी प्रकार के व्यापारों को छोड़कर केवल योगनिष्ठ ही बने रहना चाहिए। गुरु के वाक्य को बिना भूले हमेशा ही योगाभ्यास चालू रखना चाहिए। इस प्रकार के योग के अविरत किए गए अभ्यास से घटावस्था उत्पन्न होती है। जो मनुष्य अभ्यास नहीं करता और केवल वृथा बातें करता है, उसके द्वारा यह घटावस्था सिद्ध नहीं होती।

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन योगमेव सदाभ्यसेत् ।
ततः परिचयावस्था जायतेऽभ्यासयोगतः ॥81॥
वायुः परिचितो यत्नादग्निना सह कुण्डलीम् ।
भावयित्वा सुषुम्नायां प्रविशेदनिरोधतः ॥82॥

वायुना सह चित्तं च प्रविशेच्च महापथम् ।
यस्य चित्तं स्वपवनं सुषुम्नां प्रविशेदिह ॥83॥
भूमिरापोऽनलो वायुराकाशश्चेति पञ्चकः ।
येषु पञ्चसु देवानां धारणा पञ्चधोच्यते ॥84॥

इसलिए सभी प्रयत्न करते हुए निरन्तर योग का ही अभ्यास करना चाहिए। इसके बाद (घटावस्था के बाद) एक और 'परिचय' नाम की अवस्था भी होती है । अग्नि के साथ कुण्डलिनी की भावना करके, निरोधरहित होकर सुषुम्ना में जब प्राणवायु का प्रवेश होता है, तब यह 'परिचय' की अवस्था होती है । इस महापथ में वायु के साथ जब चित्त का भी वहाँ प्रवेश होता है और जिस योगी का चित्त भी इस तरह सुषुम्ना में वायुसहित प्रविष्ट हो जाता है, उसको पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश में – अपने अवयवों में विभक्त पंचभूतों में – ब्रह्म से लेकर सदाशिवपर्यन्त पाँच देवों की धारणा होती है ।

पादादिजानुपर्यन्तं पृथिवी स्थानमुच्यते ।
पृथिवी चतुरस्त्रं च पीतवर्णं लवर्णकम् ॥85॥
पार्थिवे वायुमारोप्य लकारेण समन्वितम् ।
ध्यायंश्चतुर्भुजाकारं चतुर्वक्त्रं हिरण्मयम् ॥86॥
धारयेत्पञ्च घटिकाः पृथिवीजयमाप्नुयात् ।
पृथिवीयोगतो मृत्युर्न भवेदस्य योगिनः ॥87॥

पैरों से घुटनों तक का स्थान पृथ्वीतत्त्व का स्थान माना गया है । चार अन्तों (कोनों) से युक्त यह पृथ्वी पीले वर्ण और लकार से युक्त कही गई है । पृथ्वीतत्त्व में वायु को आरोपित करके उसमें लकार को जोड़ कर उस स्थान में सुनहरे रंगवाले चतुर्भुख और चतुर्भुज ब्रह्माजी का ध्यान करना चाहिए । इस तरह से पाँच घटिका (दो घण्टे) तक ध्यान करने से योगी पृथ्वीतत्त्व को जीत लेता है । ऐसे योगी की पृथ्वी के संयोग (आघात) से मृत्यु नहीं होती ।

आजानोः पायुपर्यन्तमपां स्थानं प्रकीर्तितम् ।
आपोऽर्धचन्द्रं शुक्लं च वंबीजं परिकीर्तितम् ॥88॥
वारुणे वायुमारोप्य वकारेण समन्वितम् ।
स्मरन्नारायणं देवं चतुर्बाहुं किरीटिनम् ॥89॥
शुद्धस्फटिकसङ्काशं पीतवाससमच्युतम् ।
धारयेत्पञ्च घटिकाः सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥90॥
ततो जलाद्भयं नास्ति जले मृत्युर्न विद्यते ।

घुटने से लेकर पायु (गुदा) तक का स्थान जल का स्थान माना गया है । वह जलतत्त्व, अर्ध-चन्द्र रूप में और 'वं' बीज वाला माना गया है । इस जलतत्त्व में वायु का आरोपण करके, उसे 'वं'कार के साथ बीज को जोड़कर चार हाथ वाले मुकुटधर, शुद्ध स्फटिक-से वर्ण वाले, पीले वस्त्र पहने हुए भगवान् अच्युत (नारायण देव) का पाँच घटिका तक ध्यान करके योगी (जलतत्त्व को जीत लेता है और) सभी पापों से छुटकारा पा लेता है । इस तरह जलतत्त्व को जीत लेने के बाद जल से उसे कोई भय नहीं रहता । जल में उसकी मृत्यु नहीं होती ।

आपायोर्हृदयान्तं च वह्निस्थानं प्रकीर्तितम् ॥91॥
वह्निस्त्रिकोणं रक्तं च रेफाक्षरसमुद्भवम् ।
वह्नौ चानिलमारोप्य रेफाक्षरसमुज्ज्वलम् ॥92॥
त्रियक्षं वरदं रुद्रं तरुणादित्यसन्निभम् ।
भस्मोद्धूलितसर्वाङ्गं सुप्रसन्नमनुस्मरन् ॥93॥
धारयेत्पञ्च घटिका वह्निनाऽसौ न दाह्यते ।
न दह्यते शरीरं च प्रविष्टस्याग्निमण्डले ॥94॥

पायु (गुदा) से लेकर हृदयपर्यन्त के स्थान को वह्निस्थान कहा जाता है। वह अग्नित्रिकोण रूप में और रक्तवर्ण तथा 'र'कार बीज वाला माना गया है। उस वह्नि में वायु का आरोपण करके उसे 'इ'काररूप बीज से जोड़कर तीन आँखों वाले, वरदान देने वाले, तरुण आदित्य के समान कान्तिवाले, सभी अंगों में भस्म का लेप किए हुए अति प्रसन्न ऐसे रुद्र का स्मरण करते हुए पाँच घटिका तक ध्यान करना चाहिए। ऐसा साधक वह्नि से नहीं जलाया जा सकता। उसका शरीर जलता नहीं है, भले ही वह अग्नि के घेरे के बीच हो।

आहृदयाद्भ्रुवोर्मध्ये वायुस्थानं प्रकीर्तितम् ।
वायुः षट्कोणकं कृष्णं यकाराक्षरभासुरम् ॥95॥
मारुतं मरुतां स्थाने यकाराक्षरभासुरम् ।
धारयेत्तत्र सर्वज्ञमीश्वरं विश्वतोमुखम् ॥96॥
धारयेत्पञ्च घटिका वायुवद् व्योमगो भवेत् ।
मरणं न तु वायोश्च भयं भवति योगिनः ॥97॥

हृदय से लेकर भौंहों तक का स्थान वायु का क्षेत्र कहा गया है। वह छः कोनों के आकार का, काले रंग का और भास्वर 'य' अक्षरवाला होता है। इस प्रकार मरुत्स्थान पर (वायुस्थान पर) यकार होता है। यहाँ भास्वर 'य' अक्षर के साथ विश्वतोमुख सर्वज्ञ ईश्वर का ध्यान करना चाहिए। इस तरह पाँच घटिका (दो घण्टे) तक ध्यान करते रहने से साधक वायु की तरह आकाशविहारी होता है। वायु से उसकी मृत्यु नहीं होती और वायु से उसको भय नहीं होता।

आभ्रूमध्याच्च मूर्धान्तमाकाशस्थानमुच्यते ।
व्योम वृत्तं च धूम्रं च हकाराक्षरभासुरम् ॥98॥
आकाशे वायुमारोप्य हकारोपरि शङ्करम् ।
बिन्दुरूपं महादेवं व्योमाकारं सदाशिवम् ॥99॥
शुद्धस्फटिकसङ्काशं धृतबालेन्दुमौलिनम् ।
पञ्चवक्त्रयुतं सौम्यं दशबाहुं त्रिलोचनम् ॥100॥
सर्वायुधैर्धृताकारं सर्वभूषणभूषितम् ।
उमार्धदेहं वरदं सर्वकारणकारणम् ॥101॥
आकाशधारणात्तस्य खेचरत्वं भवेद् ध्रुवम् ।
यत्र कुत्र स्थितो वापि सुखमत्यन्तमश्नुते ॥102॥

भौंहों के बीच के भाग से लेकर मूर्धा के अन्त तक का क्षेत्र आकाशस्थान कहा गया है। वह व्योम (आकाश) व्योमवृत्त जैसे आकारवाला तथा धुएँ के-से रंगवाला तथा 'ह'कार अक्षर से युक्त होता

है। ऐसे उस आकाश-तत्त्व में वायु का आरोपण करके, उसके साथ हकार को जोड़कर भगवान् शंकर का ध्यान करना चाहिए। वह भगवान् शंकर बिन्दुरूप हैं, महादेव हैं, व्योम जैसे आकार वाले हैं, सदाशिव हैं, शुद्ध स्फटिक जैसे वर्णवाले हैं, मस्तक पर बालचन्द्र को धारण किए हुए हैं, पाँच मुख वाले हैं, सौम्यमुद्रा वाले हैं, दश हाथवाले हैं, तीन आँखों वाले हैं, सभी शस्त्रास्त्रों को धारण किए हुए हैं, सभी आभूषणों से सुशोभित हैं, उमासहित – उमारूपी अर्धदेह वाले हैं। वह सभी कारणों के भी कारणस्वरूप हैं। आकाशतत्त्व में उनका ध्यान करते रहने से अवश्य ही आकाश-विचरण की शक्ति आ जाती है। ऐसा योगी कहीं भी रहता हो, फिर भी वह अत्यन्त सुख भोगता रहता है।

एवं च धारणाः पञ्च कुर्याद्योगी विचक्षणः।
ततो दृढशरीरः स्यान्मृत्युस्तस्य न विद्यते ॥103॥
ब्रह्मणः प्रलयेनापि न सीदति महामतिः।
समभ्यसेत्तथा ध्यानं घटिकाषष्ठिमेव च ॥104॥
वायुं निरुध्य चाकाशे देवतामिष्टदामिति।
सगुणं ध्यानमेतत्स्यादणिमादिगुणप्रदम्।
निर्गुणध्यानयुक्तस्य समाधिश्च ततो भवेत् ॥105॥

विचक्षण योगी को इस प्रकार की पाँच धारणाएँ करनी चाहिए। इसमें उस योगी का शरीर दृढ़ हो जाता है और उसको मृत्यु का कोई भय नहीं रहता। ऐसा महाबुद्धिशाली योगी ब्रह्मा के प्रलय के समय में भी – सर्वसृष्टि के प्रलय में भी दुःखी नहीं होता। छः घटिका तक वायु को रोककर आकाशतत्त्व में इष्ट सिद्धि देने वाले देव का निरन्तर ध्यान करते रहना चाहिए। इस प्रकार के सगुण ईश्वर का ध्यान करने से अणिमादि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। इस सगुण ध्यान के बाद जब योगी निर्गुणध्यानयुक्त हो जाता है, तब समाधि प्राप्त हो जाती है।

दिनद्वादशकेनैव समाधिं समवाप्नुयात्।
वायुं निरुध्य मेधावी जीवन्मुक्तो भवत्ययम् ॥106॥
समाधिः समतावस्था जीवात्मपरमात्मनोः।
यदि स्वदेहमुत्स्रष्टुमिच्छा चेदुत्सृजेत्स्वयम् ॥107॥
परब्रह्मणि लीयेत न तस्योत्क्रान्तिरिष्यते।
अथ नो चेत्समुत्स्रष्टुं स्वशरीरं प्रियं यदि ॥108॥
सर्वलोकेषु विहरन्नणिमादिगुणान्वितः।
कदाचित्स्वेच्छया देवो भूत्वा स्वर्गे महीयते ॥109॥

इस प्रकार अनवरत साधना से योगी बारह दिवसों में समाधि को प्राप्त कर सकता है। प्राणवायु के पूर्वोक्त प्रकार से निरोध करने पर यह योगी जीवन्मुक्त हो जाता है। जीवात्मा और परमात्मा की समान अवस्था को ही समाधि कहा जाता है। ऐसा समाधि-प्राप्त जीवन्मुक्त योगी अपनी देह को स्वयं अपनी इच्छा से छोड़ सकता है। वह देह छोड़कर परब्रह्म में ही लीन हो जाता है, उसे फिर जन्म नहीं लेना पड़ता। यदि उसको अपना शरीर प्रिय हो, और उसे वह छोड़ना न चाहता हो, तो वह अणिमादि सिद्धियों से युक्त होकर सभी लोकों में यथेष्ट विहार कर सकता है। कभी-कभी अपनी इच्छा से देव होकर स्वर्ग में आनन्द भी कर सकता है।

मनुष्यो वापि यक्षो वा स्वेच्छयापि क्षणाद्भवेत् ।
सिंहो व्याघ्रो गजो चाश्वः स्वेच्छया बहुतामियात् ॥110॥
यथेष्टमेव वर्तेत यद्वा योगी महेश्वरः ।
अभ्यासभेदतो भेदः फलं तु सममेव हि ॥111॥

योगी अपनी इच्छा से एक क्षण में ही मनुष्य, यक्ष, सिंह, बाघ, हाथी, घोड़ा, आदि अनेक रूपों को धारण कर सकता है। वह अपनी इच्छानुसार व्यवहार कर सकता है। वह योगी महासमर्थ होता है। योगियों में भेद तो अभ्यास के भेद से होता है, पर फल तो समान ही होता है।

पार्ष्णि वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ।
प्रसार्य दक्षिणं पादं हस्ताभ्यां धारयेद् दृढम् ॥112॥
चुबुकं हृदि विन्यस्य पूरयेद्वायुना पुनः ।
कुम्भकेन यथाशक्तिं धारयित्वा तु रेचयेत् ॥113॥
वामाङ्गेन समभ्यस्य दक्षाङ्गेन ततोऽभ्यसेत् ।
प्रसारितस्तु यः पादस्तमूरूपरि नामयेत् ॥114॥ (अयमेव महाबन्धः ।)

अब **महाबन्ध** के विषय में कहा जा रहा है—बाँये पैर की एड़ी के द्वारा पहले योनि स्थान को दबाना चाहिए तथा दाहिने पैर को फैलाना चाहिए। फिर उसको अँगूठे से दोनों हाथों से जोर से पकड़ना चाहिए। इसके बाद ठोड़ी को छाती से लगाना चाहिए। तब फिर वायु को धीरे-धीरे भीतर धारण करके यथाशक्ति कुम्भक करना चाहिए और बाद में उसे रेचक के द्वारा बाहर निकाल देना चाहिए। इस प्रकार की क्रिया को निरन्तर बाँयें और दायें, पुनः दाँयें और बायें—इस प्रकार अभ्यास करना चाहिए। अर्थात् पहले बाँये पैर की एड़ी से जिस तरह शुरू किया था, उसी तरह दक्षिण पैर की एड़ी से शुरू करके (अदल-बदलकर) अभ्यास करना चाहिए। पहले प्रसारित किए गए पैर को अब पूर्ववत् जंघा पर नवाना चाहिए। (इसे ही महाबन्ध कहा जाता है)।

अयमेव महाबन्ध उभयत्रैवमभ्यसेत् ।
महाबन्धस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः ॥115॥
वायुना गतिमावृत्य निभृतं कण्ठमुद्रया ।
पुटद्वयं समाक्रम्य वायुः स्फुरति सत्वरम् ॥116॥

ऊपर बताए अनुसार यही महाबन्ध कहलाता है। इस बन्ध का दोनों तरीकों से (अदल-बदलकर अर्थात् परिवर्तित क्रम से) अभ्यास किया जा सकता है। जब महाबन्ध में सतत संलग्न वह योगी एकाग्र होकर कण्ठ की मुद्रा के जरिए वायु की गति को आवृत्त करके दोनों नथुनों को संकुचित करके तत्परतापूर्वक वायु को भर लेता है, तब—

अयमेव महावेधः सिद्धैरभ्यस्यतेऽनिशम् ।
अन्तःकपालकुहरे जिह्वां व्यावृत्य धारयेत् ॥117॥
भ्रूमध्यदृष्टिरप्येषा मुद्रा भवति खेचरी ।
कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेद् दृढया धिया ॥118॥
बन्धो जालन्धराख्योऽयं मृत्युमातङ्गकेसरी ।
बन्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः ॥119॥
उड्यानाख्यो हि बन्धोऽयं योगिभिः समुदाहृतः ।

—इसी को महाबन्ध कहा जाता है। सिद्ध पुरुष सदैव इसका अभ्यास करते रहते हैं। जीभ को भीतर के कपाल में लौटाकर, दोनों भृकुटियों के बीच दृष्टि रखी जाने पर **खेचरी मुद्रा** होती है। कण्ठ को संकुचित करके ठोड़ी को मजबूती से जब स्थापित किया जाता है, तब **जालन्धरबन्ध** होता है। यह बन्ध मृत्युरूपी हाथी के लिए सिंह समान (कालरूप) है। और जिस बन्ध से प्राण सुषुम्ना से उठ जाता है, उसे योगी लोग उड्डयन (उड्डयाण) नामक बन्ध कहते हैं।

पार्ष्णिभागेन सम्पीड्य योनिमाकुञ्चयेद् दृढम् ॥120॥
अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य योनिबन्धोऽयमुच्यते।
प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम् ॥121॥
गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः।

एड़ी से योनिस्थान को यत्नपूर्वक दबाकर भीतर की तरफ खींचना चाहिए। इस तरह अपान को ऊँचे उठाकर जो बन्ध किया जाता है, वह **योनिबन्ध** कहा जाता है। इस योनिबन्ध की क्रिया से प्राण, अपान, नाद और बिन्दु में मूलबन्ध के द्वारा एकता स्थापित की जाती है, और यह बन्ध निःसंदिग्ध रूप में योग की सिद्धि प्राप्त कराता है।

करणी विपरीताख्या सर्वव्याधिविनाशिनी ॥122॥
नित्यमभ्यासयुक्तस्य जाठराग्निविवर्धिनी।
आहारो बहुलस्तस्य सम्पाद्यः साधकस्य च ॥123॥
अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्देहं हरेत्क्षणात्।
अधःशिरश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने ॥124॥
क्षणाच्च किञ्चिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने।
वली च पलितं चैव षण्मासार्धन्न दृश्यते ॥125॥
याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु कालवित्।
वज्रोलीमभ्यसेद्यस्तु स योगी सिद्धिभाजनम् ॥126॥

अब **विपरीतकरणी** नामक मुद्रा के बारे में कहा जाता है। यह मुद्रा सभी प्रकार की व्याधियों (पीड़ाओं) का नाश करने वाली है। इस 'विपरीतकरणी' मुद्रा का नित्य अभ्यास करने से साधक की जठराग्नि तीव्र हो जाती है फलस्वरूप साधक बहुत अन्न पचाने में समर्थ हो जाता है। इस समय में यदि साधक कम आहार लेगा तो उसकी जठराग्नि उसके शरीर का ही नाश कर देगी। इस मुद्रा के लिए प्रथम दिन एक क्षण के लिए सिर नीचे और दोनों पैर ऊपर की ओर रखने चाहिए। बाद में प्रत्येक दिन एक-एक क्षण इस अभ्यास को बढ़ाते रहना चाहिए। ऐसा करने से छः मास के भीतर ही साधक के शरीर की झुरियाँ, और बालों की सफेदी नष्ट हो जाएगी। जो साधक हर रोज एक प्रहर तक छः महीनों पर्यन्त इस विपरीतकरणी मुद्रा का अभ्यास करता है, वह काल को अपने वश में कर लेता है। और जो योगी वज्रोली मुद्रा का अभ्यास करता है, वह सिद्धावस्था को प्राप्त हो जाता है।

लभ्यते यदि तस्यैव योगसिद्धिः करे स्थिता।
अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेद् ध्रुवम् ॥127॥
अमरीं यः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन्दिने दिने।
वज्रोलीमभ्यसेन्नित्यममरोलीति कथ्यते ॥128॥

ततो भवेद्राजयोगो नान्तरा भवति ध्रुवम् ।
यदा तु राजयोगेन निष्पन्ना योगिभिः क्रियाः ॥129॥
तदा विवेकवैराग्यं जायते योगिनो ध्रुवम् ।
विष्णुर्नाम महायोगी महाभूतो महातपाः ॥130॥

उस **वज्रोली** मुद्रा के साधक की सिद्धि तो उसके हाथ में ही रहती है । ऐसा योगी भूत और भविष्य को जान लेता है और वह आकाश में विचरण करने वाला हो जाता है । जो योगी अपने मूत्र को हर रोज पीता है और प्रतिदिन उसे सूँघता भी है और साथ-साथ पूर्वोक्त प्रकार से वज्रोली का अभ्यास करता है, उस क्रिया को **अमरोली** कहा जाता है । अब इसके बाद **राजयोग** होता है । अर्थात् वह योगी बाद में तुरन्त राजयोग का अधिकारी बनता है, इसमें कोई भी सन्देह नहीं । राजयोग में सम्पन्न हो जाने के बाद उस योगी को फिर हठयोगादि की अन्य विधियाँ करने की आवश्यकता नहीं रहती । तब उस योगी को विवेक और वैराग्य उत्पन्न होता है । ऐसे योगियों में विष्णु नाम के महातपस्वी और महाभूतस्वरूप भगवान् हैं ।

तत्त्वमार्गे यथा दीपो दृश्यते पुरुषोत्तमः ।
यः स्तनः पूर्वपीतस्तं निष्पीड्य मुदमश्नुते ॥131॥
यस्माज्जातो भगात्पूर्वं तस्मिन्नेव भगे रमन् ।
या माता सा पुनर्भार्या या भार्या मातरेव हि ॥132॥
यः पिता स पुनः पुत्रो यः पुत्रः स पुनः पिता ।
एवं संसारचक्रेण कूपचक्रे घटा इव ॥133॥
भ्रमन्तो योनिजन्मानि श्रुत्वा लोकान्समश्नुते ।
त्रयो लोकास्त्रयो वेदास्तिस्त्रः सन्ध्यास्त्रयः स्वराः ॥134॥
त्रयोऽग्नयश्च त्रिगुणाः स्थिताः सर्वे त्रयाक्षरे ।
त्रयाणामक्षराणां च योऽधीतेप्यर्धमक्षरम् ॥135॥

यह भगवान् पुरुषोत्तम तत्त्वमार्ग पर चलने वाले के लिए दीपक के समान दिखाई पड़ते हैं । अब यह जीवन विविध योनियों में भटकता हुआ जब मानवयोनि में आता है, तब विचित्र बात यह होती है कि बचपन में जिस स्तन को उसने पीया है, उसी स्तन को वह युवावस्था में दबा करके आनन्द लेता है, और उसने जिस योनि से जन्म लिया था, वैसी ही योनि में बार-बार रमण किया करता है । एक जन्म में जो माता होती है, दूसरे जन्म में वही स्त्री हो जाती है । जो पिता है, वह पुत्र बन जाता है, तथा जो पुत्र होता है वही फिर पिता भी बन जाता है । इसी प्रकार यह संसारचक्र कूपचक्र (रहट) के ही समान है जिसमें प्राणी तरह-तरह की योनियों में गमनागमन किया ही करता है । तीन ही लोक हैं, तीन ही वेद हैं, तीन ही सन्ध्याएँ है, तीन ही स्वर हैं, तीन ही अग्नि हैं, तीन गुण कहे गए हैं, तथा तीन अक्षरों में सब कुछ विद्यमान है । अतः इन तीन अक्षरों का और अर्धक्षर का भी योगी को अध्ययन करना चाहिए ।

तेन सर्वमिदं प्रोतं तत्सत्यं तत्परं पदम् ।
पुष्पमध्ये यथा गन्धः पयोमध्ये यथा घृतम् ॥136॥
तिलमध्ये यथा तैलं पाषाणेष्विव कांचनम् ।
हृदि स्थाने स्थितं पद्मं तस्य वक्त्रमधोमुखम् ॥137॥

ऊर्ध्वनालमधोबिन्दुस्तस्य मध्ये स्थितं मनः ।
अकारे रेचितं पद्ममुकारेणैव भिद्यते ॥138॥
मकारे लभते नादमर्धमात्रा तु निश्चला ।
शुद्धस्फटिकसङ्काशं निष्कलं पापनाशनम् ॥139॥

सब कुछ इन्हीं तीन अक्षरों में पिरोया गया है। वही सत्य है, वही परमपद है। जिस तरह पुष्प में गन्ध, दूध में घी, तिल में तेल, और पत्थरों में सोना निगूढ रूप से रहता है वैसे ही वह सबमें व्याप्त है। हृदयस्थल में जो कमलपुष्प है उसका मुख नीचे की ओर है और उसकी दण्डी ऊपर की ओर है। नीचे बिन्दु है, उसी के बीच में मन प्रतिष्ठित है। 'अ'कार के द्वारा रेचित किया हुआ वह पद्म 'उ'कार के द्वारा भेदा जाता है और बाद में 'म'कार के द्वारा नाद को प्राप्त करता है। अर्धमात्रा तो निश्चल ही रहती है। वह अर्धमात्रा शुद्ध स्फटिक जैसी, अंशरहित और पापनाशक है।

लभते योगयुक्तात्मा पुरुषस्तत्परं पदम् ।
कूर्मः स्वपाणिपादादि शिरश्चात्मनि धारयेत् ॥140॥
एवं द्वारेषु सर्वेषु वायुपूरितरेचितः ।
निषिद्धं तु नवद्वारे ऊर्ध्वं प्राङ्निःश्वसस्तदा ॥141॥
घटमध्ये यथा दीपो निवासं कुम्भकं विदुः ।
निषिद्धैर्नवभिर्द्वारैर्निर्जने निरुपद्रवे ।
निश्चितं त्वात्ममात्रेणावशिष्टं योगसेवयेत् ॥142॥ इत्युपनिषत् ।

इति योगतत्त्वोपनिषत् समाप्ता ।

ऐसे योगसाधक योगी मुक्तावस्था पा लेता है। जैसे कछुआ अपने हाथ-पैर-सिर को अपने भीतर स्थापित कर लेता है, वैसे सभी द्वारों में भरकर दबाया गया वायु नौ द्वारों के बन्द होने से ऊपर जाता है। जैसे वायुरहित घड़े के बीच रखा गया दीपक होता है, वैसे ही कुंभक को जानना चाहिए। इस योग-साधना में नौ द्वारों के अवरुद्ध किए जाने पर निर्जन निरुपद्रव स्थान में केवल आत्मतत्त्व ही शेष रह जाता है। ऐसा ही यह योगतत्त्व उपनिषद् है।

यहाँ योगतत्त्वोपनिषद् पूरी हुई।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु । सह नौ……मा विद्विषावहै । (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(43) आत्मबोधोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

ऋग्वेद से सम्बद्ध इस दो अध्याय (खण्ड) वाली 'आत्मबोध' उपनिषद् को 'आत्म-प्रबोधोपनिषद्' भी कहा गया है। इसके प्रथम अध्याय या खण्ड में प्रणवरूप नारायण को नमस्कार करके हृदय को ब्रह्मपुर कहा गया है, वह ब्रह्मपुर स्वप्रकाशित है, इसमें प्रज्ञा (चेतन) का निवास है। इस प्रज्ञानेत्र ज्ञान का महत्त्व और ज्ञानफल रूप में सर्वदा ज्योतिर्मय अमरलोक निवास के लाभ की बात कही गई है। द्वितीय खण्ड में आत्मसाक्षात्कारी महापुरुष की अनुभूतियाँ वर्णित की गई हैं। गन्ने के रस में व्याप्त शक्कर और सागर की तरंगों की समानता दिखाकर ब्रह्म, जगत् और जीव की स्थितियाँ समझाई गई हैं। अपरोक्षानुभूति की इस अवस्था में सब प्रकार के व्यावहारिक सम्बन्धों और भेदभाव की समाप्ति हो जाती है। इस अवस्था को जीवन्मुक्तावस्था कहते हैं।

शान्तिपाठः

ॐ वाङ्मे मनसि ...... वक्तारमवतु वक्तारम्। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

प्रथम खण्डः

ॐ प्रत्यगानन्दं ब्रह्मपुरुषं प्रणवस्वरूपं अकार उकारो मकार इति त्र्यक्षरं प्रणवं तदेतदोमिति। यमुक्त्वा मुच्यते योगी जन्मसंसारबन्धनात्। ॐ नमो नारायणाय शङ्खचक्रगदाधराय तस्मात् ॐ नमो नारायणायेति मन्त्रोपासको वैकुण्ठभवनं गमिष्यति ॥1॥

ॐ सर्व में व्याप्त आनन्दरूप ब्रह्मपुरुष है और वही अकार, उकार तथा मकार—इन तीन अक्षरों वाला प्रणव का स्वरूप है। यही प्रणव ओंकार है। उसका जप करने से योगी जन्मादि सांसारिक बन्धनों से छूट जाता है। शंख, चक्र और गदा को धारण करने वाले नारायण को नमस्कार। अतः 'ॐ नमो नारायणाय' इस मन्त्र का उपासक वैकुण्ठ के भवन में जाता है।

अथ यदिदं ब्रह्मपुरं पुण्डरीकं तस्मात्तडिदाभमात्रं दीपवत्प्रकाशम् ॥2॥
ब्रह्मण्यो देवकीपुत्रो ब्रह्मण्यो मधुसूदनः।
ब्रह्मण्यः पुण्डरीकाक्षो ब्रह्मण्यो विष्णुरच्युतः ॥3॥
सर्वभूतस्थमेकं नारायणं कारणपुरुषमकारणं परं ब्रह्मोम् ॥4॥

अब जो यह हृदयकमल है, वह ब्रह्मपुर है। अतः वह विद्युत् और दीपक की तरह ही प्रकाशित है। देवकीपुत्र ब्राह्मणों के हितैषी हैं। मधुसूदन ब्राह्मणों के हितकर हैं। कमलनयन विष्णु ब्राह्मणों के हितकर्ता हैं। अच्युत ब्राह्मणहितकारी हैं। सर्वभूतों में अवस्थित एक नारायण ही कारणपुरुष हैं, वे स्वयं तो कारणरहित ही हैं, परब्रह्म स्वरूप हैं, ॐकारस्वरूप ही हैं।

शोकमोहविनिर्मुक्तो विष्णुं ध्यायन्न सीदति। द्वैताद्वैतमभयं भवति।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥5॥

ऐसे विष्णु का ध्यान करने वाला शोक और मोह से मुक्त होकर कभी दु:खी नहीं होता। दीखने वाला द्वैत, अद्वैत ही है और ऐसा देखने वाला ही अभय होता है। जो यहाँ – इस ब्रह्म में भेदभाव देखता है, तो वह एक मृत्यु के बाद दूसरी मृत्यु को प्राप्त करता ही रहता है।

हृत्पद्ममध्ये सर्वं यत्तत्प्रज्ञाने प्रतिष्ठितम्।
प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म ॥6॥

हृदयकमल के बीच में सर्वरूप ब्रह्म (चेतन) है, वह प्रज्ञान में प्रतिष्ठित है। यह लोक प्रज्ञारूप नेत्र से जुड़ा है, या प्रज्ञा के द्वारा ही गतिशील है। सर्वत्र प्रज्ञा ही प्रतिष्ठित है। अविनाशी ब्रह्म प्रज्ञारूप ही है।

स एतेन प्रज्ञेनात्मनाऽस्माल्लोकादुत्क्रम्यामुष्मिन्स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वाऽमृतः समभवदमृतः समभवत् ॥7॥

वह ज्ञानी इस उत्कृष्ट ज्ञान वाले आत्मा के साथ इस लोक से उत्क्रमण करके उस स्वर्गलोक में सभी कामनाओं को पूर्ण करके अमर हो गया।

यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिंल्लोकेऽभ्यर्हितं तस्मिन्मां देहि स्वमानमृते लोके
अक्षते अच्युते लोके अक्षते अमृतत्वं च गच्छत्यों नमः ॥8॥

इति प्रथमः खण्डः।

जहाँ नित्य ज्योति है, जिस लोक में वह पूजित है, वह स्थान आप मुझे प्रदान करें। उस अविनाशी लोक में, च्युतिरहित लोक में, अक्षय लोक में ज्ञानी प्रवेश पाता है।

यहाँ प्रथम खण्ड पूरा हुआ।

❋

द्वितीयः खण्डः

प्रगलितनिजमायोऽहं निस्तुलदृशिरूपवस्तुमात्रोऽहम्।
अस्तमिताहन्तोऽहं प्रगलितजगदीशजीवभेदोऽहम् ॥1॥
प्रत्यगभिन्नपरोऽहं विध्वस्ताशेषविधिनिषेधोऽहम्।
समुदस्ताश्रमितोऽहं प्रविततसुखपूर्णसंविदेवाहम् ॥2॥
साक्ष्यनपेक्षोऽहं निजमहिम्नि संस्थोऽहमचलोऽहम्।
अजरोऽहमव्ययोऽहं पक्षविपक्षादिभेदविधुरोऽहम् ॥3॥
अवबोधैकरसोऽहं मोक्षानन्दैकसिन्धुरेवाहम्।
सूक्ष्मोऽहमक्षरोऽहं विगलितगुणजालकेवलात्माऽहम् ॥4॥

मुझमें से मेरी माया सर्वथा विगलित हो चुकी है। मैं अतुलनीय दर्शनरूप केवल वस्तुमात्र (सत्तामात्र) हूँ। मैं अहंता से शून्य हूँ, मैं जगत्-जीव-ईश्वर आदि के भेद से पूर्णतया विमुक्त हूँ। मैं प्रत्यगात्मा से अभिन्न परमात्मा हूँ, मुझमें सभी विधि और निषधों का नाश हो गया है। मैंने सभी आश्रम धर्म त्याग दिए हैं, मैं व्यापक सुख से पूर्ण तथा ज्ञानस्वरूप हूँ। मैं साक्षी हूँ, अन्य कोई मेरा साक्षी नहीं

है, मुझे किसी की अपेक्षा नहीं है, मैं अपनी महिमा में अवस्थित और अचल हूँ। मैं अजर हूँ, अव्यय हूँ, मेरे लिए कोई पक्ष या विपक्ष है ही नहीं। मैं एक ज्ञानरूप रस वाला हूँ, मैं मोक्षरूपी आनन्द का सागर हूँ। मैं सूक्ष्म हूँ, अक्षर हूँ, गुणों का जाल मुझमें से अतीत हो गया है। मैं केवल आत्मा ही हूँ।

निस्त्रैगुण्यपदोऽहं कुक्षिस्थानेकलोककलनोऽहम्।
कूटस्थचेतनोऽहं निष्क्रियधामाहमप्रतर्क्योऽहम् ॥5॥
एकोऽहमविकलोऽहं निर्मलनिर्वाणमूर्तिरेवाहम्।
निरवयवोऽहमजोऽहं केवलसन्मात्रसारभूतोऽहम् ॥6॥
निरवधिनिजबोधोऽहं शुभतरभावोऽहमप्रभेद्योऽहम्।
विभुरहमनवद्योऽहं निरवधिनिःसीमतत्त्वमात्रोऽहम् ॥7॥
वेद्योऽहमागमान्तैराराध्यः सकलभुवनहृद्योऽहम्।
परमानन्दघनोऽहं परमानन्दैकभूमरूपोऽहम् ॥8॥

मैं तीनों गुणों से रहित परमपद हूँ। मेरे उदर में अनेकानेक लोकों की संख्या है। मैं कूटस्थ चैतन्य हूँ, मैं क्रियारहित धाम हूँ। मैं तर्क का विषय नहीं हूँ। मैं एक हूँ, परिपूर्ण हूँ, निर्मल हूँ, निर्वाणमूर्ति हूँ, मैं अवयवों से रहित हूँ, मैं अजन्मा हूँ, और केवल सत्स्वरूप से सर्व का सार हूँ। मैं निरवधि (अनन्त) आत्मज्ञानवाला हूँ, अनन्त शुभ भावनाओं से युक्त हूँ, मैं अभेद्य हूँ, मैं विभु (व्यापक) हूँ, मैं निष्कलंक हूँ, मैं अनन्त और सीमारहित सत्तामात्र स्वरूपवाला हूँ। मैं वेदान्तों के द्वारा जानने योग्य हूँ, मैं ही आराधना करने योग्य हूँ। मैं ही समस्त भुवनों में सुन्दर हूँ। मैं परमानन्द घन हूँ, मैं एकमात्र परमानन्दरूप भूमा हूँ।

शुद्धोऽहमद्वयोऽहं सन्ततभावोऽहमादिशून्योऽहम्।
शमितान्तत्रितयोऽहं बद्धो मुक्तोऽहमद्भुतात्माऽहम् ॥9॥
शुद्धोऽहमान्तरोऽहं शाश्वतविज्ञानसमरसात्माऽहम्।
शोधितपरतत्त्वोऽहं बोधानन्दैकमूर्तिरेवाहम् ॥10॥
विवेकबुद्धियुक्त्याऽहं जानाम्यात्मानमद्वयम्।
तथापि बन्धमोक्षादिव्यवहारः प्रतीयते ॥11॥
निवृत्तोऽपि प्रपञ्चो मे सत्यवद्भाति सर्वदा।
सर्पादौ रज्जुसत्तेव ब्रह्मसत्तैव केवलम्।
प्रपञ्चाधाररूपेण वर्ततेऽतो जगन्नहि ॥12॥

मैं शुद्ध हूँ, अद्वैत हूँ, भावरूप हूँ, निरन्तर हूँ, अनादि हूँ, तीनों गुण मुझमें शान्त हो गए हैं, मैं बद्ध, मुक्त और अद्भुत स्वरूप हूँ। मैं शुद्ध हूँ, अन्तरात्मा हूँ, सनातन विज्ञान का मैं संपूर्ण रसात्मा हूँ, मैंने परमतत्त्व खोज लिया है, मैं ज्ञान और आनन्द की एकमात्र मूर्ति हूँ। मैं अपनी विवेक बुद्धि से तो आत्मा को अद्वैत ही जानता हूँ, फिर भी व्यवहार में बन्ध-मोक्ष आदि जाने जाते हैं। मेरी दृष्टि से तो वह प्रपंच (संसार) दूर ही हो गया है, फिर भी वह सभी समय सत्य जैसा प्रतिभासित होता है। पारमार्थिक रूप में तो जैसे साँप आदि में रस्सीमात्र की ही सत्ता होती है, वैसे ही प्रपंच में केवल ब्रह्म का ही अस्तित्व है। जगत् तो वास्तव में है ही नहीं।

यथेक्षुरससंव्याप्ता शर्करा वर्तते तथा।
अद्वयब्रह्मरूपेण व्याप्तोऽहं वै जगत्त्रयम् ॥13॥
ब्रह्मादिकीटपर्यन्ताः प्राणिनो मयि कल्पिताः।
बुद्बुदादिविकारान्तस्तरङ्गः सागरे यथा ॥14॥

तरङ्गस्थं द्रवं सिन्धुर्न वाञ्छति यथा तथा ।
विषयानन्दवाञ्छा मे माभूदानन्दरूपतः ॥15॥
दारिद्र्याशा यथा नास्ति सम्पन्नस्य तथा मम ।
ब्रह्मानन्दे निमग्नस्य विषयाशा न तद्भवेत् ॥16॥

जिस प्रकार शक्कर ईख के रस में व्याप्त होता है, उसी तरह अद्वैत ब्रह्म के रूप में मैं तीनों लोकों में व्याप्त हूँ। जिस प्रकार समुद्र में बुद्बुदे आदि विकार वाली तरंगें कल्पित ही हैं, उसी प्रकार मुझमें ब्रह्माजी से लेकर कीड़े तक के सभी प्राणी कल्पित ही हैं। जैसे सागर तरंगों में रहते हुए भी जलबिन्दु की इच्छा नहीं रखता, उसी तरह केवल आनन्दस्वरूप होने से मैं विषयानन्दों की इच्छा नहीं करता। जैसे धनादिसम्पन्न मनुष्य गरीबी की इच्छा नहीं करता, वैसे ही ब्रह्मानन्द में निमग्न मुझमें विषयों की इच्छा नहीं होती।

विषं दृष्ट्वाऽमृतं दृष्ट्वा विषं त्यजति बुद्धिमान् ।
आत्मानमपि दृष्ट्वाहमनात्मानं त्यजाम्यहम् ॥17॥
घटावभासको भानुर्घटनाशे न नश्यति ।
देहावभासकः साक्षी देहनाशे न नश्यति ॥18॥
न मे बन्धो न मे मुक्तिर्न मे शास्त्रं न मे गुरुः ।
मायामात्रविकासत्वान्मायातीतोऽहमद्वयः ॥19॥
प्राणाश्चलन्तु तद्धर्मैः कामैर्वा हन्यतां मनः ।
आनन्दबुद्धिपूर्णस्य मम दुःखं कथं भवेत् ॥20॥

बुद्धिमान मनुष्य विष को और अमृत को देखकर विष को छोड़ देता है, उसी तरह मैं आत्मा को देखकर अनात्मा को छोड़ देता हूँ। जैसे घट को प्रकाशित करने वाला सूर्य घड़े का नाश होने पर भी स्वयं नष्ट नहीं होता, वैसे ही देह को प्रकाशित करने वाला आत्मा देह का नाश होने पर भी स्वयं नष्ट नहीं होता। मुझे कोई बन्धन नहीं है, मेरी कोई मुक्ति भी नहीं है। न कोई मेरा शास्त्र है और न कोई मेरा गुरु ही है। क्योंकि ये सब तो माया के विकास मात्र हैं और मैं तो माया से परे हूँ, अद्वय हूँ। प्राण भले ही चले जाएँ, मन भले ही कामनाओं के साथ नष्ट हो जाए, पर आनन्द और ज्ञान से पूर्ण मेरे लिए दुःख कैसे हो सकता है ?

आत्मानमञ्जसा वेद्मि क्वाप्यज्ञानं पलायितम् ।
कर्तृत्वमद्य मे नष्टं कर्तव्यं वापि न क्वचित् ॥21॥
ब्राह्मण्यं कुलगोत्रे च नामसौन्दर्यजातयः ।
स्थूलदेहगता एते स्थूलाद्भिन्नस्य मे नहि ॥22॥
क्षुत्पिपासाऽन्ध्यबाधिर्यकामक्रोधादयोऽखिलाः ।
लिङ्गदेहगता एते ह्यलिङ्गस्य न सन्ति हि ॥23॥
जडत्वप्रियमोदत्वधर्माः कारणदेहगाः ।
न सन्ति मम नित्यस्य निर्विकारस्वरूपिणः ॥24॥

मैं आत्मा को अनायास ही जानता हूँ। मेरा अज्ञान न मालूम कहाँ भाग गया है। अब मेरा कर्तापन भी नष्ट हो गया है और मुझे अब कुछ करने का शेष नहीं रहा। ब्राह्मणत्व, कुल, गोत्र, नाम, सुन्दरता और जाति तो स्थूल देह में ही रहते हैं, मैं तो स्थूलदेह से अलग हूँ, अतः मेरा तो उनमें से कुछ भी नहीं है। भूख, प्यास, अन्धापन, बहरापन, काम, क्रोध आदि सब धर्म तो लिंगदेह के हैं,

मुझमें उनमें से एक भी नहीं है। जडता, प्रियता, आनन्द आदि कारणदेह के धर्म हैं और मैं तो नित्य ही अविकारी स्वरूप वाला हूँ। इसलिए वे धर्म मेरे नहीं हैं।

उलूकस्य यथा भानुरन्धकारः प्रतीयते।
स्वप्रकाशे परानन्दे तमो मूढस्य जायते ॥25॥
चतुर्दृष्टिनिरोधेऽभ्रैः सूर्यो नास्तीति मन्यते।
तथाज्ञानावृतो देही ब्रह्म नास्तीति मन्यते ॥26॥
यथाऽमृतं विषाद्भिन्नं विषदोषैर्न लिप्यते।
न स्पृशामि जडाद्भिन्नो जडदोषाप्रकाशतः ॥27॥
स्वल्पापि दीपकणिका बहुलं नाशयेत्तमः।
स्वल्पोऽपि बोधो निबिडं बहुलं नाशेयत्तमः ॥28॥

जैसे उल्लू को सूर्य अन्धकाररूप ही मालूम होता है, उसी प्रकार अज्ञानी को स्वयंप्रकाशरूप परमानन्द में अज्ञान दीखता है। जैसे बादलों की वजह से चारों ओर दृष्टि रुक जाती है और मानो सूर्य है ही नहीं, ऐसा लोग मानते हैं, उसी प्रकार अज्ञान से घिरा हुआ मनुष्य ब्रह्म नहीं है, ऐसा मानता है। जैसे अमृत विष से अलग है, इसलिए वह विष के दोषों से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार मैं जड से अलग हूँ, इसलिए जड के दोषों के अप्रकाश से मैं स्पृष्ट नहीं होता। जैसे दीपक की छोटी-सी ज्योति भी पुष्कल अन्धकार को नष्ट कर देती है, वैसे ही अति अल्प ज्ञानरूप प्रकाश भी गाढ़ अंधकाररूप अज्ञान को हटा देता है।

कालत्रये यथा सर्पो रज्जौ नास्ति तथा मयि।
अहङ्कारादिदेहान्तं जगन्नास्त्यहमद्वयः ॥29॥
चिद्रूपत्वान्न मे जाड्यं सत्यत्वान्नानृतं मम।
आनन्दत्वान्न मे दुःखमज्ञानाद्भाति सत्यवत् ॥30॥
आत्मप्रबोधोपनिषन्मुहूर्तमुपासित्वा न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तत इत्युपनिषद् ॥31॥

इत्यात्मबोधोपनित्समाप्ता।

जैसे रस्सी में तीनों काल में साँप है ही नहीं, वैसे ही मुझमें अहंकार से लेकर देह तक का जगत् है ही नहीं, मैं तो केवल अद्वैत हूँ। मैं चैतन्यस्वरूप हूँ, इसलिए मुझमें जड़ता नहीं है। मैं सत्यस्वरूप हूँ, इसलिए मुझमें असत्य नहीं है। मैं आनन्दस्वरूप हूँ, इसलिए मुझमें दुःख नहीं है। केवल अज्ञान से ही ये सब सत्य दिखाई देते हैं। इस आत्मप्रबोध उपनिषद् को घड़ी-दो-घड़ी अभ्यास करके भी मनुष्य संसार में नहीं आता, मनुष्य संसार में नहीं आता।

यहाँ उपनिषद् पूरी होती है।

शान्तिपाठ

ॐ वाङ्मे मनसि.........वक्तारमवतु वक्तारम्। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(44) नारदपरिव्राजकोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

इस अथर्ववेदीय उपनिषद् में परिव्राजक (संन्यासी) के सिद्धान्तों एवं आचरणों का विशद वर्णन है। नौ उपदेशों (खण्डों) में विवेचित इस उपनिषद् में उपदेष्टा देवर्षि नारदजी ने शौनक आदि ऋषियों को वर्णाश्रमधर्म, संन्यासविधि, संन्यास का अधिकारी, आतुरसंन्यास, संन्यास का महत्त्व, संन्यासियों के प्रकार, संन्यास ग्रहण की शास्त्रीय विधि आदि अनेक विषयों का भली प्रकार से प्रतिपादन किया है। इसमें संन्यासियों की दैनंदिन जीवनचर्या का भी वर्णन आ जाता है। तुरीयातीत पद की प्राप्ति के उपाय भी इसमें बताए गए हैं। संन्यासधर्म के सर्वसाधारण नियमों का उल्लेख भी किया गया है। साथ ही कुटीचक, बहूदक आदि विशिष्ट नियम भी बताए गए हैं। प्रणवानुसंधान के विशेष क्रम का भी निर्देश किया गया है। ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन तथा आत्मज्ञानी संन्यासी का लक्षण बताकर उसके द्वारा परमपद प्राप्त करने की प्रकिया का वर्णन करके उपनिषद् की समाप्ति की गई है।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः........देवहितं यदायुः। (पूर्ववत्)

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (अथर्वशिर उपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

प्रथमोपदेशः

अथ कदाचित्परिव्राजकाभरणो नारदः सर्वलोकसञ्चारं कुर्वन्नपूर्वपुण्यस्थलानि पुण्यतीर्थानि तीर्थीकुर्वन्नवलोक्य चित्तशुद्धिं प्राप्य निर्वैरः शान्तो दान्तः सर्वतो निर्वेदमासाद्य स्वरूपानुसन्धानमनुसन्धाय नियमानन्दविशेषगण्यं मुनिजनैरुपसंकीर्णं नैमिषारण्यं पुण्यस्थलमव-लोक्य सरिगमपधनिससंज्ञैर्वैराग्यबोधकरैः स्वरविशेषैः प्रापञ्चिकपराङ्मुखैर्हरिकथालापैः स्थावरजङ्गमनामकैर्भगवद्भक्तिविशेषैर्नरमृगकिंपुरुषामरकिंनराप्सरोगणान्सम्मोहयन्नागतं ब्रह्मात्मजं भगवद्भक्तं नारदमवलोक्य द्वादशवर्षसत्रयागोपस्थिताः श्रुताध्ययनसम्पन्नाः सर्वज्ञास्तपोनिष्ठापराश्च ज्ञानवैराग्यसम्पन्नाः शौनकादिमहर्षयः प्रत्युत्थानं कृत्वा नत्वा यथोचितातिथ्यपूर्वकमुपवेशयित्वा स्वयं सर्वेऽप्युपविष्टा भो भगवन् ब्रह्मपुत्र कथं मुक्त्युपायोऽस्माकं वक्तव्यम् ॥1॥

एक बार परिव्राजकों में सर्वोत्तम देवर्षि नारदजी सभी लोकों में घूमते हुए, अत्यन्त पुण्यदायक स्थलों और तीर्थस्थानों में गए। वे सभी तीर्थस्थान उनके मंगलकारी आगमन से और भी पवित्र हो गए। उन सभी तीर्थस्थलों के केवल देखने-मात्र से ही उन्होंने अपनी चित्तशुद्धि प्राप्त की। देवर्षिजी का मन

बहुत शान्त था, इन्द्रियाँ उनके वश में थीं। वे सर्वतः विरक्त थे, उनके मन में किसी भी प्राणी के प्रति द्वेष नहीं था। वे स्वरूप के अनुसन्धान में ही लगे हुए थे। घूमते-घूमते वे नैमिषारण्य आ पहुँचे। वह तीर्थ विशेष गणनापात्र तीर्थ है, क्योंकि नियम-संयम से वह सबको आनन्दित रखता है। अनेक ऋषिमुनि उस तीर्थ में रहते थे। देवर्षि नारदजी ने उस पुण्यभूमि के दर्शन किए। वहाँ वैराग्य के बोधक विशेष वीणास्वर झंकार कर रहे थे। वे सांसारिक चर्चा से ऊपर उठकर वीणा द्वारा भगवान् की मधुर कथा के गीतों में ही रस लेते थे। देवर्षि के उन गीतों को सुनकर समग्र स्थावर-जंगम प्राणीसमुदाय आनन्द से झूम उठता था। उनका भक्तिरस से भरपूर संगीत मानव, पशु, देव, किन्नर, गन्धर्व और अप्सरा आदि को भी आकृष्ट कर रहा था। उस समय में उस सुविख्यात स्थल पर बारह वर्षों का एक सत्र याग आयोजित किया जा रहा था। उस महायज्ञ में सभी देवगण, तपस्वीगण तथा ज्ञानवैराग्य से सम्पन्न शौनक आदि महान् ऋषि भी सम्मिलित हुए। उन महर्षि महानुभावों के पास परम भागवत देवर्षि नारद को आया हुआ देखकर उन्होंने अतिभव्य स्वागत-सत्कार किया। उन्होंने उनके चरणों में सिर झुकाया और उन्हें बहुत सुन्दर आसन पर बिठाया। इसके बाद, समस्त ऋषिजन अपने-अपने आसनों पर विराजमान हुए। बाद में शौनक आदि ऋषियों ने उनसे नम्रतापूर्वक पूछा—हे देवर्षे ! संसार के बन्धनों से छुटकारा पाने का क्या उपाय है ? यह हमें बताने का अनुग्रह कीजिए।

इत्युक्तस्तान् स होवाच नारदः सत्कुलभवोपनीतः सम्यगुपनयनपूर्वकं चतुश्चत्त्वारिंशत्संस्कारसम्पन्नः स्वाभिमतैकगुरुसमीपे स्वशाखाध्ययन-पूर्वकं सर्वविद्याभ्यासं कृत्वा द्वादशवर्षशुश्रूषापूर्वकं ब्रह्मचर्यं पञ्च-विंशतिवत्सरं गार्हस्थ्यं च पञ्चविंशतिवत्सरं वानप्रस्थाश्रमं तद्विधिवत् क्रमान्निर्वर्त्य चतुर्विधब्रह्मचर्यं षड्विधं गार्हस्थ्यं च चतुर्विधं वानप्रस्थ-धर्मं सम्यगभ्यस्य तदुचितं कर्म सर्वं निर्वर्त्य साधनचतुष्टयसम्पन्नः सर्वसंसारोपरि मनोवाक्कायकर्मभिर्यथाशानिवृत्तस्तथा वासनैषणो-पर्यपि निर्वैरः शान्तो दान्तः संन्यासी परमहंसाश्रमेणास्खलितस्वस्व-रूपध्यानेन देहत्यागं करोति स मुक्तो भवति स मुक्तो भवतीत्यु-पनिषत् ॥2॥

इति प्रथमोपदेशः।

शौनकादि के द्वारा पूछने पर तीनों लोकों में सुविख्यात नारद इस प्रकार कहने लगे—उत्तम कुल में जन्मा हुआ पुरुष (यदि उपनयन संस्कार न हुआ हो तो पहले-पहल वह) विधिपूर्वक उपनयन संस्कार करवा ले। उसके बाद चँवालीस संस्कारों से संस्कृत होकर अपने मनचाहे गुरु के पास जाकर अपने वेद की शाखा का अध्ययन करते हुए, उसके साथ अन्य सभी विद्याओं का भी अभ्यास करे। वहाँ गुरु के आश्रम में उसे बारह वर्ष तक गुरु की सेवा करते हुए रहना चाहिए और ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना चाहिए। इसके बाद पचीस वर्ष तक गृहस्थाश्रम और आगे के पचीस वर्ष तक वानप्रस्थाश्रम में रहना चाहिए। इन आश्रमों का विधिपूर्वक क्रमशः पालन करके रहना चाहिए। विद्वान् पुरुष चार प्रकार का ब्रह्मचर्य और छः प्रकार का गृहस्थ जीवन बताते हैं तथा चार प्रकार का वानप्रस्थाश्रम भी बताते हैं। मनुष्य इन सबका अच्छी तरह पालन और निर्वर्तन करके बाद में साधन-चतुष्टय से युक्त होकर, सारे संसार से ऊपर उठकर, मन, वाणी, काया और कर्म से जैसे आशा से निवृत हो गया हो और वासनाओं और एषणाओं से ऊपर उठकर, वैररहित होकर शान्त, दमनशील

(संयमी) संन्यासी के परमहंस के आश्रम में धारावाहिक रूप से अपने आत्मस्वरूप का ध्यान करते हुए देहत्याग करता है। ऐसा साधक मुक्त हो जाता है, मुक्त हो ही जाता है, यह उपदेश है।

यहाँ प्रथमोपदेश पूरा हुआ।

❈

द्वितीयोपदेशः

अथ हैनं भगवन्तं नारदं सर्वे शौनकादयः पप्रच्छुर्भो भगवन्! संन्यासविधिं नो ब्रूहीति तानवलोक्य नारदस्तत्स्वरूपं सर्वं पितामहमुखेनैव ज्ञातुमुचितमित्युक्त्वा सत्रयागपूर्त्यनन्तरं तैः सह सत्यलोकं गत्वा विधिवद् ब्रह्मनिष्ठापरं परमेष्ठिनं नत्वा स्तुत्वा यथोचितं तदाज्ञया तैः सहोपविश्य नारदः पितामहमुवाच गुरुस्त्वं जनकस्त्वं सर्वविद्यारहस्यज्ञः सर्वज्ञस्त्वमतो मत्तो मदिष्टं रहस्यमेकं वक्तव्यं त्वद्विना मदभिमतरहस्यं वक्तुं कः समर्थः। किमिति चेत् परिव्राज्यस्वरूपक्रमं नो ब्रूहीति नारदेन प्रार्थितः परमेष्ठी सर्वतः सर्वानवलोक्य मुहूर्तमात्रं समाधिनिष्ठो भूत्वा संसारार्तिनिवृत्त्यन्वेषण इति निश्चित्य नारदमवलोक्य तमाह पितामहः। पुरा मत्पुत्र पुरुषसूक्तोपनिषद्रहस्यप्रकारं निरतिशयाकारावलम्बिना विराट्पुरुषेणोपदिष्टं रहस्यं ते विविच्योच्यते। तत्क्रममतिरहस्यं बाढमवहितो भूत्वा श्रूयताम् ॥1॥

तब उन शौनकादिकों ने नारद से पूछा—'हे भगवन्! आप हम सब लोगों को संन्यास की विधि बताने की कृपा कीजिए।' उन सभी को देखकर नारदजी ने कहा—'इसका सही और पूर्ण स्वरूप तो हम पितामह से ही सुनेंगे' ऐसा कहकर जब सत्र-याग पूर्ण हुआ, तब उन ऋषियों के साथ सत्यलोक में जाकर, ब्रह्मनिष्ठों में श्रेष्ठ ऐसे परमेष्ठी ब्रह्माजी को विधिपूर्वक प्रणाम करके और उनकी यथोचित स्तुति करके उनकी आज्ञानुसार उन ऋषियों के साथ बैठकर नारद ने पितामह से कहा—'आप गुरु हैं, आप सबके पिता हैं, आप सभी विद्याओं के रहस्य को जानने वाले हैं, आप सर्वज्ञ हैं। मेरा एक इष्ट रहस्य मुझसे आप कहिए। आपके अतिरिक्त मेरे अभिमत रहस्य को कहने में भला कौन समर्थ है? वह क्या है, ऐसा यदि आप पूछें, तो मैं कहता हूँ कि आप हमें पारिव्राज्य का रहस्य बताइए।' इस प्रकार नारद के द्वारा प्रार्थना किए जाने पर परमेष्ठी ब्रह्मा ने चारों ओर देखकर संसारनिवृत्ति के उपाय को खोजने में एक मुहूर्त तक समाधिमग्न होकर बाद में नारद को देखते हुए पितामह ने कहा—'हे नारद! प्राचीन काल में पुरुषसूक्त और उपनिषदों में बताए गए गूढ रहस्य को, जो कि मुझको दिव्य देहधारी विराट् पुरुष ने बताया था, उसी दिव्य ज्ञान को मैं तुम सब लोगों के आगे बता रहा हूँ, तो सावधान होकर अच्छी तरह से सुनो।'

भो नारद! विधिवदादावुपनीतोपनयनानन्तरं तत्सत्कुलप्रसूतः पितृमातृविधेयः पितृसमीपादन्यत्र सत्सम्प्रदायस्थ श्रद्धावन्तं सत्कुलभवं श्रोत्रियं शास्त्रवात्सल्यं गुणवन्तमकुटिलं सद्गुरुमासाद्य नत्वा यथोपयोगशुश्रूषापूर्वकं स्वाभिमतं विज्ञाप्य द्वादशवर्षसेवापुरःसरं सर्वविद्याभ्यासं कृत्वा तदाज्ञया स्वकुलानुरूपामभिमतकन्यां विवाह्य पञ्च-

विंशतिवत्सरं गुरुकुलवासं कृत्वाथ गुर्वनुज्ञया गृहस्थोचितकर्म कुर्वन्दौ-र्ब्राह्मण्यनिवृत्तिमेत्य स्ववंशवृद्धिकामः पुत्रमेकमासाद्य गार्हस्थ्योचित-पञ्चविंशतिवत्सरं तीर्त्वा ततः पञ्चविंशतिवत्सरपर्यन्तं त्रिषवणमुदक-स्पर्शनपूर्वकं चतुर्थकालमेकवारमाहारमाहरन्नयमेक एव वनस्थो भूत्वा पुरग्रामप्राक्तनसञ्चारं विहाय निकिरविरहिततदाश्रितकर्मोचितकृत्यं निर्वर्त्य दृष्टश्रवणविषयवैतृष्ण्यमेत्य चत्वारिंशत्संस्कारसम्पन्नः सर्वतो विरक्तश्चित्तशुद्धिमेत्याशासूयेर्ष्याहङ्कारं दग्ध्वा साधनचतुष्टयसम्पन्नः संन्यस्तुमर्हतीत्युपनिषत् ॥2॥

इति द्वितीयोपदेशः ।

हे नारद ! सर्वप्रथम तो उस सत्कुल में जन्म लिए हुए और माता-पिता की आज्ञा मानने वाले को उपनयन संस्कार करवाना चाहिए। इसके बाद उस बालक को पिता के समीप न रहकर अन्यत्र किसी सत् संप्रदाय में और ऊँचे कुल में जन्मे हुए श्रद्धावान् शास्त्रज्ञानी, गुणवान्, सरल स्वभाववाले, सद्गुरु को पसन्द करके, उन्हें प्रणाम करके, गुरु की आवश्यकतानुसार सेवा करके, उनके आगे अपना हेतु कह करके, बारह वर्ष तक उनकी सेवा करते हुए उनके पास से सभी विद्याओं का अभ्यास करके, बाद में उनकी आज्ञा से अपने कुल के अनुरूप अपनी चाही हुई कन्या के साथ विवाह करके अपने वंश की वृद्धि की कामना करते हुए एक पुत्र को प्राप्त करके पचीस वर्ष तक गुरुगृह में वास करने के बाद, गुरु की आज्ञा से गृहस्थोचित कर्म करते हुए पचीस वर्ष तक रहना चाहिए। इसके बाद के पचीस वर्ष तक दिन में तीन बार सन्ध्या-स्नानादि करते हुए दिन के चौथे प्रहर में एक बार ही भोजन करके रहना चाहिए। नगरों एवं ग्रामों के परिचित मार्गों को छोड़कर एकान्त में रहना चाहिए। बिना बोई हुई जमीन पर बिखरे हुए सामा, ताण्डुल आदि को ही इकट्ठा करके उसी से आश्रमोचित धर्म का पालन करते हुए दृश्य-श्रव्यादि विषयों से विरक्त होकर चालीस संस्कारों से सम्पन्न होकर चित्त को सभी तरह से हमेशा के लिए शुद्ध (पवित्र) कर लेना चाहिए। आशा, असूया, ईर्ष्या, आदि को छोड़कर साधनचतुष्टय से परिपूर्ण हो जाना चाहिए। इन सबसे युक्त होने पर ही मनुष्य संन्यास का अधिकारी बन जाता है। यही उपदेश है।

यहाँ द्वितीयोपदेश पूरा हुआ।

तृतीयोपदेशः

अथ हैनं नारदः पितामहं पप्रच्छ भगवन् केन संन्यासाधिकारी वेत्येवमादौ संन्यासाधिकारिणं निरूप्य पश्चात्संन्यासविधिरुच्यते। अवहितः शृणु ! अथ षण्डः पतितोऽङ्गविकलः स्त्रैणो बधिरोऽर्भको मूकः पाषण्डश्चक्री लिङ्गी वैखानसहरद्विजौ भृतकाध्यापकः शिपिविष्टो-ऽनग्निको वैराग्यवन्तोऽप्येते न संन्यासार्हाः संन्यस्ता यद्यपि महा-वाक्योपदेशेनाधिकारिणः पूर्वसंन्यासी परमहंसाधिकारी ॥1॥

अब नारद ने उन पितामह से पूछा—'हे भगवन् ! किसके द्वारा संन्यास लेना चाहिए और संन्यास का अधिकारी कौन है ? ब्रह्माजी ने कहा—पहले मैं संन्यास के अधिकारी के विषय में कहूँगा और बाद में संन्यास की विधि बताऊँगा। तुम इसे सावधान होकर सुनो। नपुंसक, पतित, विकलांग, स्त्री में अत्यासक्त, बहारा, बच्चा, गूँगा, पाखण्डी, चक्री (षडयन्त्रकारी), वेषभूषा धारण करने वाला, वैखानस, शिवभक्त, धन लेकर पढ़ाने वाला, कोढी, अग्निहोत्ररहित—ये सब वैराग्य वाले हों, तो भी संन्यास के लिए योग्य नहीं हैं। वे यदि संन्यास ग्रहण करें, तो भी महावाक्यों के उपदेश के अधिकारी तो हैं ही नहीं ! जो पूर्व में (पूर्वाश्रमों में) भी संन्यास जैसा आचरण करने वाले हों, वे ही संन्यास लेने के अधिकारी समझे जाते हैं।

परेणैवात्मनश्चापि परस्यैवात्मना तथा।
अभयं समवाप्नोति स परिव्राडिति स्मृतिः ॥2॥
षण्ढोऽथ विकलोऽप्यन्धो बालकश्चापि पातकी।
पतितश्च परद्वारी वैखानसहरद्विजौ ॥3॥
चक्री लिङ्गी च पाखण्डी शिपिविष्टोऽप्यनग्निकः।
द्वित्रिवारेण संन्यस्तो भृतकाध्यापकोऽपि च।
एते नार्हन्ति संन्यासमातुरेण विना क्रमम् ॥4॥

जो अन्यों को डराता नहीं है और स्वयं किसी से डरता नहीं है, वह परिव्राट् (परिव्राजक) कहा गया है। (अब संन्यास के लिए अनधिकारी बताए जाते हैं—) नपुंसक, विकलांग, अन्ध, बालक, पातकी, पतित, परद्वारी (व्यभिचारी), वैखानस, शिवभक्त, षड्यंत्र करने वाला, वेशभूषा करने वाला नट आदि, पाखण्डी, कोढी, अग्निहोत्ररहित, दो-तीन बार संन्यासी होने वाला, धन लेकर पढ़ाने वाला—ये सब संन्यास के योग्य नहीं हैं। किन्तु यदि आतुरसंन्यास लेना हो, तो ये सब बिना क्रम से ही संन्यास के अधिकारी माने जा सकते हैं।

आतुरकालः कथमार्यसम्मतः।
प्राणस्योत्क्रमणासन्नकालस्त्वातुरसंज्ञकः।
नेतरस्त्वातुरः कालो मुक्तिमार्गप्रवर्तकः ॥5॥
आतुरेऽपि च संन्यासे तत्तन्मन्त्रपुरःसरम्।
मन्त्रावृत्तिं च कृत्वैव संन्यसेद्विधिवद्बुधः ॥6॥
आतुरेऽपि क्रमे वाऽपि प्रैषभेदो न कुत्रचित्।
न मन्त्रं कर्मरहितं कर्म मन्त्रमपेक्षते ॥7॥
अकर्म मन्त्ररहितं नातो मन्त्र परित्यजेत्।
मन्त्रं विना कर्म कुर्याद् भस्मन्याहुतिवद्भवेत् ॥8॥
विध्युक्तकर्मसंक्षेपात् संन्यासस्त्वातुरः स्मृतः।
तस्मादातुरसंन्यासे मन्त्रावृत्तिविधिर्मुने ॥9॥

तब नारद ने पूछा—'आतुरसंन्यास कौन-सा काल (समय) आर्यों (विद्वज्जनों) द्वारा मान्य किया गया ?' तब ब्रह्माजी बोले—प्राणों के निकलने का समय जब अत्यन्त निकट आ जाए, तभी आतुर-संन्यास लेना उचित समझा गया है। इसके इतर अन्य कोई समय योग्य नहीं है। योग्य समय पर लिया गया आतुरसंन्यास मुक्ति को देने वाला है। आतुरसंन्यास में भी ज्ञानी पुरुष उस-उस योग्यमन्त्र को

लेकर उस मन्त्रावृत्तिपूर्वक ही संन्यास ग्रहण करे। यों तो आतुरसंन्यास में और क्रमसंन्यास में विशेष कोई भेद नहीं है। कोई भी मन्त्र कार्यरहित नहीं होता और हरएक कर्म मंत्र की अपेक्षा करता ही है। कोई भी कर्म मंत्ररहित नहीं होता। इसलिए मंत्र को छोड़ना नहीं चाहिए, मंत्ररहित कर्म तो अकर्म ही है। यदि मंत्र के बिना कोई कर्म करता है, तो वह भस्म (राख) में आहुति डालने के समान व्यर्थ ही है। इसलिए हे मुनि, संक्षेप में शास्त्रोक्त कर्म करने से आतुरसंन्यास की विधि सम्पन्न होती है। अत: इस विधि के मंत्रों का बार-बार उच्चारण करना विधिपुर:सर ही है।

आहिताग्निर्विरक्तश्चेद्देशान्तरगतो यदि।
प्राजापत्येष्टिमप्स्वेव निर्वृत्यैवाथ संन्यसेत् ॥10॥
मनसा वाऽथ विध्युक्तमन्त्रावृत्याऽथ वा जले।
श्रुत्यनुष्ठानमार्गेण कर्मानुष्ठानमेव वा।
समाप्य संन्यसेद्विद्वान्नो चेत्पातित्यमाप्नुयात् ॥11॥

यदि अग्निहोत्र करने वाला मनुष्य देशान्तर में गया हो और वहाँ वैराग्य हो गया हो, तो जल में ही प्राजापत्य यज्ञ करके संन्यास ले सकता है। वह प्राजापत्य याग या तो वह मन से कर सकता है, या तो विधिपुर:सर जल में ही मन्त्रों के उच्चारण की आवृत्ति भी कर सकता है। श्रुति-वर्णित अनुष्ठान वा कर्मानुष्ठान सब समेट कर विद्वान् पुरुष को संन्यास लेना चाहिए, अन्यथा उसे पाप लगता है।

यदा मनसि सञ्जातं वैतृष्ण्यं सर्ववस्तुषु।
तदा संन्यासमिच्छेत पतितः स्याद्विपर्यये ॥12॥
विरक्तः प्रव्रजेद् धीमान् सरक्तस्तु गृहे वसेत्।
सरागो नरकं याति प्रव्रजन् हि द्विजाधमः ॥13॥

जब मन में सभी वस्तुओं के प्रति तृष्णा का अभाव हो जाए, तब संन्यास की इच्छा करनी चाहिए। इसके विपरीत अर्थात् तृष्णा होने पर भी संन्यास की इच्छा करने से मनुष्य पतित हो जाता है। अत: बुद्धिमान को विरक्त होने पर ही संन्यास लेना चाहिए। यदि मन में राग रह गया हो तबं तो घर में ही रहना चाहिए। राग होने पर भी संन्यास लेने वाला द्विजाधम तो नरक में ही जाता है।

यस्यैतानि सुगुप्तानि जिह्वोपस्थोदरं करः।
संन्यसेदकृतोद्वाहो ब्राह्मणो ब्रह्मचर्यवान् ॥14॥
संसारमेव निःसारं दृष्ट्वा सारदिदृक्षया।
प्रव्रजन्त्यकृतोद्वाहाः परं वैराग्यमाश्रिताः ॥15॥
प्रवृत्तिलक्षणं कर्म ज्ञानं संन्यासलक्षणम्।
तस्माज्ज्ञानं पुरस्कृत्य संन्यसेदिह बुद्धिमान् ॥16॥

जिस पुरुष की जिह्वा, उपस्थ, उदर और हाथ आदि इन्द्रियाँ अपने वश में हैं, उसे विवाह किये बिना ही संन्यास ले लेना चाहिए। ब्रह्मचर्यवान् ब्राह्मण संसार को नि:सार ही समझकर सारतत्त्व को देखने की इच्छा से विवाह किए बिना ही परमवैराग्य को ग्रहण कर संन्यास ले ही लेते हैं। कर्म का लक्षण प्रवृत्ति है और ज्ञान का लक्षण संन्यास है। इसलिए ज्ञान को ही आगे बढ़ाकर बुद्धिमान को संन्यास ले ही लेना चाहिए।

यदा तु विदितं तत्त्वं परं ब्रह्म सनातनम् ।
तदैकदण्डं संगृह्य सोपवीतां शिखां त्यजेत् ॥17॥
परमात्मनि यो रक्तो विरक्तोऽपरमात्मनि ।
सर्वैषणाविनिर्मुक्तः स भैक्षं भोक्तुमर्हति ॥18॥
पूजितो वन्दितश्चैव सुप्रसन्नो यथा भवेत् ।
तथा चेत्ताड्यमानस्तु तदा भवति भैक्षभुक् ॥19॥
अहमेवाक्षरं ब्रह्म वासुदेवाख्यमद्वयम् ।
इति भावो ध्रुवो यस्य तदा भवति भैक्षभुक् ॥20॥

जब मनुष्य सनातन परब्रह्मरूप तत्त्व को जान लेता है, तब उपवीत के साथ शिखा का भी त्याग करके एक दण्ड लिए हुए परमात्मा में ही वह रमण करता है और परमात्मा के अतिरिक्त वस्तुओं से वह विरक्त हो जाता है। तब वह सभी प्रकार की एषणाओं से रहित हो जाता है। जब ऐसा हो जाता है तभी वह भिक्षान्न ग्रहण करने का अधिकारी होता है। जिस प्रकार वह पूजित और वन्दित होने पर खुश होता है, उसी प्रकार यदि प्रताड़ित होने से भी खुश होता हो, तभी वह भिक्षान्न खाने के योग्य माना जा सकता है। 'मैं एकाक्षर – ॐकाररूप – वासुदेव नामक अद्वैत ब्रह्म ही हूँ'—ऐसा अविचलित भाव जिसमें रहता हो, वही भिक्षान्न खा सकता है।

यस्मिञ् शान्तिः शमः शौचं सत्यं सन्तोष आर्जवम् ।
अकिञ्चनमदम्भश्च स कैवल्याश्रमे वसेत् ॥21॥
यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेषु पापकम् ।
कर्मणा मनसा वाचा तदा भवति भैक्षभुक् ॥22॥
दशलक्षणकं धर्ममनुतिष्ठन्समाहितः ।
वेदान्तान्विधिवच्छ्रुत्वा संन्यसेदनृणो द्विजः ॥23॥
धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥24॥

जिसमें शान्ति, दम, पवित्रता, सत्य, सन्तोष, सरलता, अकिंचनत्व, निर्दम्भता होती है, वही कैवल्याश्रम (विद्वत्संन्यास) में रह सकता है। जब वह सभी प्राणियों के प्रति किसी प्रकार का पापकर्म नहीं करता, कर्म, वचन और मन से निष्पाप रहता है, तभी वह भिक्षान्न खा सकता है। दश लक्षणवाले धर्म का आचरण करते हुए, वह सावधान होकर वेदान्तों को (उपनिषदों को) विधिपुरःसर सुनकर ही अनृण होकर संन्यास ग्रहण करे। धैर्य, क्षमा, दम, अचौर्य, पवित्रता, इन्द्रियनिग्रह, बुद्धि, विद्या, सत्य, अक्रोध—ये दश लक्षण धर्म के होते हैं।

अतीतान्न स्मरेद्भोगान्न तथानागतानपि ।
प्राप्तांश्च नाभिनन्देद्यः स कैवल्याश्रमे वसेत् ॥25॥
अन्तःस्थानीन्द्रियाण्यन्तर्बहिष्ठान्विषयान्बहिः ।
शक्नोति यः सदा कर्तुं स कैवल्याश्रमे वसेत् ॥26॥
प्राणे गते यथा देहः सुखं दुःखं न विन्दति ।
तथा चेत्प्राणयुक्तोऽपि स कैवल्याश्रमे वसेत् ॥27॥

लेकर उस मन्त्रावृत्तिपूर्वक ही संन्यास ग्रहण करे। यों तो आतुरसंन्यास में और क्रमसंन्यास में विशेष कोई भेद नहीं है। कोई भी मन्त्र कार्यरहित नहीं होता और हरएक कर्म मंत्र की अपेक्षा करता ही है। कोई भी कर्म मंत्ररहित नहीं होता। इसलिए मंत्र को छोड़ना नहीं चाहिए, मंत्ररहित कर्म तो अकर्म ही है। यदि मंत्र के बिना कोई कर्म करता है, तो वह भस्म (राख) में आहुति डालने के समान व्यर्थ ही है। इसलिए हे मुनि, संक्षेप में शास्त्रोक्त कर्म करने से आतुरसंन्यास की विधि सम्पन्न होती है। अत: इस विधि के मंत्रों का बार-बार उच्चारण करना विधिपुर:सर ही है।

आहिताग्निर्विरक्तश्चेद्देशान्तरगतो यदि।
प्राजापत्येष्टिमप्स्वेव निर्वृत्यैवाथ संन्यसेत् ॥10॥
मनसा वाऽथ विध्युक्तमन्त्रावृत्याऽथ वा जले।
श्रुत्यनुष्ठानमार्गेण कर्मानुष्ठानमेव वा।
समाप्य संन्यसेद्विद्वान्नो चेत्पातित्यमाप्नुयात् ॥11॥

यदि अग्निहोत्र करने वाला मनुष्य देशान्तर में गया हो और वहाँ वैराग्य हो गया हो, तो जल में ही प्राजापत्य यज्ञ करके संन्यास ले सकता है। वह प्राजापत्य याग या तो वह मन से कर सकता है, या तो विधिपुर:सर जल में ही मन्त्रों के उच्चारण की आवृत्ति भी कर सकता है। श्रुति-वर्णित अनुष्ठान वा कर्मानुष्ठान सब समेट कर विद्वान् पुरुष को संन्यास लेना चाहिए, अन्यथा उसे पाप लगता है।

यदा मनसि सञ्जातं वैतृष्ण्यं सर्ववस्तुषु।
तदा संन्यासमिच्छेत पतितः स्याद्विपर्यये ॥12॥
विरक्तः प्रव्रजेद् धीमान् सरक्तस्तु गृहे वसेत्।
सरागो नरकं याति प्रव्रजन् हि द्विजाधमः ॥13॥

जब मन में सभी वस्तुओं के प्रति तृष्णा का अभाव हो जाए, तब संन्यास की इच्छा करनी चाहिए। इसके विपरीत अर्थात् तृष्णा होने पर भी संन्यास की इच्छा करने से मनुष्य पतित हो जाता है। अत: बुद्धिमान को विरक्त होने पर ही संन्यास लेना चाहिए। यदि मन में राग रह गया हो तब तो घर में ही रहना चाहिए। राग होने पर भी संन्यास लेने वाला द्विजाधम तो नरक में ही जाता है।

यस्यैतानि सुगुप्तानि जिह्वोपस्थोदरं करः।
संन्यसेदकृतोद्वाहो ब्राह्मणो ब्रह्मचर्यवान् ॥14॥
संसारमेव निःसारं दृष्ट्वा सारदिदृक्षया।
प्रव्रजन्त्यकृतोद्वाहाः परं वैराग्यमाश्रिताः ॥15॥
प्रवृत्तिलक्षणं कर्म ज्ञानं संन्यासलक्षणम्।
तस्माज्ज्ञानं पुरस्कृत्य संन्यसेदिह बुद्धिमान् ॥16॥

जिस पुरुष की जिह्वा, उपस्थ, उदर और हाथ आदि इन्द्रियाँ अपने वश में हैं, उसे विवाह किये बिना ही संन्यास ले लेना चाहिए। ब्रह्मचर्यवान् ब्राह्मण संसार को नि:सार ही समझकर सारतत्त्व को देखने की इच्छा से विवाह किए बिना ही परमवैराग्य को ग्रहण कर संन्यास ले ही लेते हैं। कर्म का लक्षण प्रवृत्ति है और ज्ञान का लक्षण संन्यास है। इसलिए ज्ञान को ही आगे बढ़ाकर बुद्धिमान को संन्यास ले ही लेना चाहिए।

यदा तु विदितं तत्त्वं परं ब्रह्म सनातनम् ।
तदैकदण्डं संगृह्य सोपवीतां शिखां त्यजेत् ॥17॥
परमात्मनि यो रक्तो विरक्तोऽपरमात्मनि ।
सर्वैषणाविनिर्मुक्तः स भैक्षं भोक्तुमर्हति ॥18॥
पूजितो वन्दितश्चैव सुप्रसन्नो यथा भवेत् ।
तथा चेत्ताड्यमानस्तु तदा भवति भैक्षभुक् ॥19॥
अहमेवाक्षरं ब्रह्म वासुदेवाख्यमद्वयम् ।
इति भावो ध्रुवो यस्य तदा भवति भैक्षभुक् ॥20॥

जब मनुष्य सनातन परब्रह्मरूप तत्त्व को जान लेता है, तब उपवीत के साथ शिखा का भी त्याग करके एक दण्ड लिए हुए परमात्मा में ही वह रमण करता है और परमात्मा के अतिरिक्त वस्तुओं से वह विरक्त हो जाता है। तब वह सभी प्रकार की एषणाओं से रहित हो जाता है। जब ऐसा हो जाता है तभी वह भिक्षान्न ग्रहण करने का अधिकारी होता है। जिस प्रकार वह पूजित और वन्दित होने पर खुश होता है, उसी प्रकार यदि प्रताड़ित होने से भी खुश होता हो, तभी वह भिक्षान्न खाने के योग्य माना जा सकता है। 'मैं एकाक्षर – ॐकाररूप – वासुदेव नामक अद्वैत ब्रह्म ही हूँ'—ऐसा अविचलित भाव जिसमें रहता हो, वही भिक्षान्न खा सकता है।

यस्मिञ् शान्तिः शमः शौचं सत्यं सन्तोष आर्जवम् ।
अकिञ्चनमदम्भश्च स कैवल्याश्रमे वसेत् ॥21॥
यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेषु पापकम् ।
कर्मणा मनसा वाचा तदा भवति भैक्षभुक् ॥22॥
दशलक्षणकं धर्ममनुतिष्ठन्समाहितः ।
वेदान्तान्विधिवच्छ्रुत्वा संन्यसेदनृणो द्विजः ॥23॥
धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥24॥

जिसमें शान्ति, दम, पवित्रता, सत्य, सन्तोष, सरलता, अकिंचनत्व, निर्दम्भता होती है, वही कैवल्याश्रम (विद्वत्संन्यास) में रह सकता है। जब वह सभी प्राणियों के प्रति किसी प्रकार का पापकर्म नहीं करता, कर्म, वचन और मन से निष्पाप रहता है, तभी वह भिक्षान्न खा सकता है। दश लक्षणवाले धर्म का आचरण करते हुए, वह सावधान होकर वेदान्तों को (उपनिषदों को) विधिपुरःसर सुनकर ही अनृण होकर संन्यास ग्रहण करे। धैर्य, क्षमा, दम, अचौर्य, पवित्रता, इन्द्रियनिग्रह, बुद्धि, विद्या, सत्य, अक्रोध—ये दश लक्षण धर्म के होते हैं।

अतीतान्न स्मरेद्भोगान्न तथानागतानपि ।
प्राप्तांश्च नाभिनन्देद्यः स कैवल्याश्रमे वसेत् ॥25॥
अन्तःस्थानीन्द्रियाण्यन्तर्बहिष्ठान्विषयान्बहिः ।
शक्नोति यः सदा कर्तुं स कैवल्याश्रमे वसेत् ॥26॥
प्राणे गते यथा देहः सुखं दुःखं न विन्दति ।
तथा चेत्प्राणयुक्तोऽपि स कैवल्याश्रमे वसेत् ॥27॥

जो भूतकाल में भोगे हुए भोगों का स्मरण नहीं करता और भविष्य में प्राप्त होने वाले भोगों की कामना नहीं करता तथा जो वर्तमान में भोगे जाने वाले भोगों का स्वागत भी नहीं करता वह कैवल्याश्रम में (संन्यास में) रह सकता है। जो अन्तरिन्द्रियों को सदा के लिए भीतर और बाहर की इन्द्रियों को सदैव बाहर रखने की शक्ति रखता है, वही कैवल्याश्रम में रह सकता है। जिस तरह प्राण के निकल जाने पर सुख या दुःख का ज्ञान नहीं होता, इसी तरह प्राण रहने पर भी जो सुख-दुःख को नहीं जानता, वह कैवल्याश्रम में रह सकता है, वही कैवल्याश्रम में रह सकता है।

कौपीनयुगलं कन्था दण्ड एकः परिग्रहः ।
यतेः परमहंसस्य नाधिकं तु विधीयते ।।28।।
यदि वा कुरुते रागादधिकस्य परिग्रहम् ।
रौरवं नरकं गत्वा तिर्यग् योनिषु जायते ।।29।।
विशीर्णान्यमलान्येव चेलानि ग्रथितानि तु ।
कृत्वा कन्थां बहिर्वासो धारयेद्धातुरंजितम् ।।30।।
एकवासा अवासा वा एकदृष्टिरलोलुपः ।
एक एव चरेन्नित्यं वर्षास्वेकत्र संवसेत् ।।31।।
कुटुम्बं पुत्रदारांश्च वेदाङ्गानि च सर्वशः ।
यज्ञं यज्ञोपवीतं च त्यक्त्वा गूढश्चरेद्यतिः ।।32।।

दो कौपीन, एक गुदड़ी और एक दण्ड—इतना ही उस परमहंस संन्यासी का परिग्रह होता है। इससे ज्यादा नहीं होना चाहिए। यदि वह आसक्तिवश ज्यादा परिग्रह करता है, तब तो वह रौरव (नामक) नरक में ही गिरता है, और बाद में नीच योनियों में जन्म लेता है। टूटे-फटे परन्तु स्वच्छ कपड़ों से सिलकर उसकी गुदडी बनाये और ग्राम के बाहर बसना चाहिए और गेरुआ वस्त्र धारण करना चाहिए। उसे एक ही वस्त्र पहनना चाहिए या तो वस्त्र ही नहीं पहनना चाहिए। उसकी दृष्टि एकाग्र होनी चाहिए। वह अलोलुप होना चाहिए। उसे अकेला ही विचरण करना चाहिए। वर्षाऋतु के चार मासों में वह एक जगह पर रह सकता है। वेदों, घर-कुटुम्ब, स्त्री-पुत्रादि का एवं यज्ञ तथा यज्ञोपवीत का त्याग करके उस यति को छिपकर रहना चाहिए।

कामः क्रोधस्तथा दर्पो लोभमोहादयश्च वै ।
तांस्तु दोषान्परित्यज्य परिव्राण्निर्ममो भवेत् ।।33।।
रागद्वेषवियुक्तात्मा समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
प्राणिहिंसानिवृत्तश्च मुनिः स्यात्सर्वनिःस्पृहः ।।34।।
दम्भाहङ्कारनिर्मुक्तः हिंसापैशून्यवर्जितः ।
आत्मज्ञानगुणोपेतो यतिर्मोक्षमवाप्नुयात् ।।35।।
इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयः ।
संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं निगच्छति ।।36।।

काम, क्रोध, दर्प, लोभ, मोह आदि जो हैं उन दोषों को छोड़कर संन्यासी को सब तरफ से निर्मम होना चाहिए। रागद्वेष से रहित मन वाला, लोहे, काष्ठ, पत्थर और सोने को समान देखने वाला, प्राणियों की हिंसा से रहित, सर्व से निस्पृह ही ऐसा मुनि होता है। दंभ और अहंकार से रहित, तथा हिंसा और चुगली से रहित, आत्मज्ञानरूप गुण से युक्त यति ही भिक्षान्न प्राप्त करता है। इन्द्रियों

का प्रसंग आने पर मनुष्य अवश्य दोष प्राप्त करता है। अतः इन्द्रियसंयम करके ही यति सिद्धि को प्राप्त कर सकता है।

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥37॥
श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च भुक्त्वा च दृष्ट्वा घ्रात्वा च यो नरः।
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः ॥38॥
यस्य वाङ्मनसी शुद्धे सम्यग् गुप्ते च सर्वदा।
स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम् ॥39॥
सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव।
अमृतस्येव चाकांक्षेदवमानस्य सर्वदा ॥40॥

कामनाएँ कभी भोग से शान्त नहीं होतीं। वह हवि के द्रव्यों से उत्पन्न अग्नि की भाँति फिर से ही भड़क उठती हैं। सुनकर, स्पर्श कर, खाकर, देखकर और सूँघकर जो मनुष्य न तो खुश होता है और न ही खिन्न होता है, उसी को जितेन्द्रिय जानना चाहिए। जिस मनुष्य की वाणी और मन शुद्ध होते हैं, और वे अच्छी तरह से वश में किए गए होते हैं, वही वेदान्त में बताया गया सब फल पा सकता है। सच्चा ब्राह्मण सम्मान से खिन्न होता है, मानो विष से युक्त हो गया हो। वह तो हमेशा अपमान की ही आकांक्षा करता रहता है।

सुखं ह्यवमतः शेते सुखं च प्रतिबुध्यते।
सुखं चरति लोकेऽस्मिन्नवमन्ता विनश्यति ॥41॥
अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कंचन।
न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥42॥
क्रुध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येदाक्रुष्टं कुशलं वदेत्।
सप्तद्वारावकीर्णां च न वाचमनृतां वदेत् ॥43॥
अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निराशिषः।
आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह ॥44॥

वह परमहंस अपमान किए जाने पर सुखपूर्वक ही सोता है, और सुखपूर्वक ही उठता है। इस लोक में वह सुखपूर्वक ही विचरण करता रहता है। वह नहीं, परन्तु उसका अपमान करने वाला ही विनष्ट हो जाता है। अपने विरुद्ध किए गए विवादों को वह सहन करे और किसी का वह अपमान न करे। इस भौतिक शरीर के लिए से किसी से वैर न करे। अपने ऊपर क्रोध करने वाले के ऊपर भी वह क्रोध न करे और उस वाणी से जो कि सात द्वारों के साथ सम्बद्ध है, झूठ न बोले। (वाणी के सात द्वार—दो कान, दो आँख, दो नथुने और एक मुख है)। आध्यात्मिक विषयों में ही तल्लीन रहकर शान्त भाव से किसी की अपेक्षा किए बिना, सभी कामनाओं का त्याग कर केवल अपने आत्मा के ही सहाय्य से सुखार्थी होकर विचरण करता है।

इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च।
अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते ॥45॥
अस्थिस्थूणं स्नायुबद्धं मांसशोणितलेपितम्।
चर्मावबद्धं दुर्गन्धि पूर्णं मूत्रपुरीषयोः ॥46॥

जराशोकसमाविष्टं रोगायतनमातुरम् ।
रजस्वलमनित्यं च भूतावासमिमं त्यजेत् ॥47॥
मांसासृक्पूयविण्मूत्रस्नायुमज्जास्थिसंहतौ ।
देहे चेत्प्रीतिमान्मूढो भविता नरकेऽपि सः ॥48॥

इन्द्रियों के निरोध से और राग-द्वेष के क्षय से तथा प्राणियों की अहिंसा से मनुष्य मुक्ति प्राप्त कर लेता है। इस शरीर में हड्डियों के खम्भे बनाए गए हैं, स्नायुओं का जाल बना दिया गया है, यह मांस और शोणित से लेपा गया है और चमड़े से बाँधा गया है, यह दुर्गन्धवाला है और मूत्र एवं विष्टा से भरा हुआ है। वृद्धावस्था और शोक से समाविष्ट है, रोगों का घर है, व्यथाओं और पीड़ाओं से युक्त है, रक्त और वीर्य से युक्त एवं रजोगुण युक्त है। यह अनित्य है, पाँचों महाभूत इसमें अपना स्थान बनाए हुए हैं अतः ऐसे शरीर के मोह को छोड़ ही देना चाहिए। मांस, रक्त, चर्बी, मज्जा, स्नायु, विष्टा, मूत्र एवं हड्डियों आदि से भरे हुए इस देह में आसक्ति रखने वाला मूढ तो जैसे नरक में ही प्रीतिवाला है। वह अवश्य नरक से ही प्रेम करता है।

सा कालसूत्रपदवी सा महावीचिवागुरा ।
सासिपत्रवनश्रेणी या देहेऽहमिति स्थितिः ॥49॥
सा त्याज्या सर्वयत्नेन सर्वनाशोऽप्युपस्थिते ।
स्प्रष्टव्या सा न भव्येन सश्वमांसेन पुल्कसी ॥50॥
प्रियेषु स्वेषु सुकृतमप्रियेषु च दुष्कृतम् ।
विसृज्य ध्यानयोगेन ब्रह्माप्येति सनातनम् ॥51॥
अनेन विधिना सर्वान् सङ्गांस्त्यक्त्वा शनैः शनैः ।
सर्वद्वन्द्वैर्विनिमुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते ॥52॥

वह देहप्रीति ही कालसूत्र नाम के नरक का मार्ग है, वही कालवीचि नामक नरक में ले जाने वाली जाल के रूप में बिछी हुई है। वह देह के प्रति अहंत्व की भावना तलवार की धार जैसी वनस्पति के वनों की श्रेणी जैसी है। और वही देहासक्ति इस शरीर में 'अहं' के रूप में रहती है। किसी भी प्रकार से यदि नाश होने की स्थिति जाए तो भी सभी प्रयत्न करके वह देहासक्ति छोड़ ही देनी चाहिए। भव्य ज्ञानी पुरुष ऐसी अहंता को कुत्ते का मांस खाने वाली चाण्डालिनी की ही तरह छोड़कर तथा अपने प्रियजनों में रहे हुए सुकृतों को और अपने अप्रिय जनों में रहे हुए दुष्कृतों को अर्थात् राग और द्वेष दोनों को भूलकर ध्यानयोग से सनातन ब्रह्म की प्राप्ति कर लेता है। वह इसी विधि से सभी आसक्तियों को छोड़कर धीरे-धीरे सभी द्वन्द्वों से मुक्त होकर ब्रह्म में ही अपना स्थान ग्रहण करता है।

एक एव चरेन्नित्यं सिद्ध्यर्थमसहायकः ।
सिद्धिमेकस्य पश्यन्हि न जहाति न हीयते ॥53॥
कपालं वृक्षमूलानि कुचेलान्यसहायता ।
समता चैव सर्वस्मिन्नेतन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥54॥
सर्वभूतहितः शान्तस्त्रिदण्डी सकमण्डलुः ।
एकरामः परिव्रज्य भिक्षार्थं ग्राममाविशेत् ॥55॥
एको भिक्षुर्यथोक्तः स्याद् द्वावेव मिथुनं स्मृतम् ।
त्रयो ग्रामः समाख्यात ऊर्ध्वं तु नगरायते ॥56॥

उस परमहंस को अकेले ही विचरण करना चाहिए। उसे सिद्धि के लिए किसी की सहायता की जरूरत नहीं है। किसी एक की सिद्धि देखकर वह अपनी साधना नहीं छोड़ता और वह सिद्धि से वंचित भी नहीं रहता। एक कपाल, वृक्षों के मूल और फटे-पुराने वस्त्र—ये तीन ही उसकी खानपान, रहने और पहनने की सामग्री है। वह किसी की सहायता नहीं लेता। वह सबमें समानता ही देखता है। यही जीवन्मुक्त का लक्षण कहा गया है। वह सभी प्राणियों के हित में रत है, वह शान्त है, वह त्रिदण्डी है, वह अपने साथ एक कमण्डलु रखता है, वह केवल आत्मा में ही रममाण है। वह अकेला ही रहता हुआ केवल भिक्षा के लिए ही किसी गाँव में प्रवेश करता है। शास्त्रों में तो अकेला रहने वाला ही संन्यासी कहा गया है। यदि दो संन्यासी साथ-साथ रहते हों तो उसे 'मिथुन' कहा जाता है। ऐसे ही यदि तीन हों तो ग्राम और उससे भी अधिक हों तो नगर कहा जायेगा।

नगरं नहि कर्तव्यं ग्रामो वा मिथुनं तथा।
एतत्त्रयं प्रकुर्वाणः स्वधर्माच्च्यवते यतिः ॥57॥
राजवार्तादि तेषां स्याद् भिक्षावार्ता परस्परम्।
स्नेहपैशून्यमात्सर्यं संनिकर्षान्न संशयः ॥58॥
एकाकी निःस्पृहस्तिष्ठेन्न हि केन सहालपेत्।
दद्यान्नारायणेत्येव प्रतिवाक्यं सदा यतिः ॥59॥
एकाकी चिन्तयेद् ब्रह्म मनोवाक्कायकर्मभिः।
मृत्युं च नाभिनन्देत जीवितं वा कथञ्चन ॥60॥

परमहंस योगी को पूर्व में कहे गए अनुसार नगर, ग्राम या मिथुन की स्थिति नहीं उत्पन्न करनी चाहिए। ऐसा करने वाला योगी अपने मार्ग से पतित हो जाता है। क्योंकि इस प्रकार के संसर्ग से अवश्य ही एक दूसरे के साथ राज्य सम्बन्धी या भिक्षा सम्बन्धी बातचीत होती ही है और उससे स्नेह, चुगली या द्वेष आदि मनोभाव उत्पन्न होते ही हैं। इसलिए उसे अकेले ही निःस्पृहभाव से रहना चाहिए। और किसी के साथ वार्तालाप नहीं करना चाहिए। उसे प्रतिवचन के रूप में केवल नारायण का नाम कहना चाहिए। उसे एकाकी रहकर ही ब्रह्म का चिन्तन करना चाहिए। वह मन, वाणी, शरीर तथा कर्म से ब्रह्मचिन्तन करे। संन्यासी को मृत्यु या जीवन दोनों को ही किसी प्रकार से अभिनन्दित नहीं करना चाहिए।

कालमेव प्रतीक्षेत यावदायुः समाप्यते।
नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम्॥
कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशं भृतको यथा ॥61॥
अजिह्वः षण्डकः पङ्गुरन्धो बधिर एव च।
मुग्धश्च मुच्यते भिक्षुः षड्भिरेतैर्न संशयः ॥62॥
इदमिष्टमिदं नेति योऽश्नन्नपि न सज्जति।
हितं सत्यं मितं वक्ति तमजिह्वं प्रचक्षते ॥63॥
अद्यजातां यथा नारीं तथा षोडशवार्षिकीम्।
शतवर्षां च यो दृष्ट्वा निर्विकारः स षण्डकः ॥64॥

वह जीवन्मुक्त जहाँ तक आयु समाप्त होती है, वहाँ तक काल की प्रतीक्षा करता रहता है। वह जीवन और मरण किसी को भी अभिनन्दित नहीं करता। जैसे भृतक (धन लेकर कार्य करने वाला व्यक्ति) नियत की गई समयावधि की राह देखता रहता है, वैसे ही वह काल की प्रतीक्षा करता है। वह

'अजिह्व' होता है और 'षण्डक' भी होता है। साथ ही वह पंगु, बहरा और अन्धा भी होता है। वह मूढ भी होता है। इन छः गुणों से युक्त होने पर ही भिक्षु को मुक्ति मिलती है। जो भिक्षु 'यह इष्ट है' या 'यह अनिष्ट है' इसका विचार किये बिना ही (अर्थात् अनासक्त होकर) भोजन ग्रहण करता है और साथ ही हितकारी, सत्य और कम वचन बोलता है, उसी को 'अजिह्व' कहा जाता है। आज ही जन्मी हुई नारी (नवजात कन्या) को, या सोलह साल की युवती को या सौ साल की बूढ़ी को देखकर भी जो निर्विकार रहता है, वही 'षण्डक' कहा जाता है।

भिक्षार्थमटनं यस्य विण्मूत्रकरणाय च।
योजनान्न परं याति सर्वथा पङ्गुरेव सः ॥65॥
तिष्ठतो व्रजतो वापि यस्य चक्षुर्न दूरगम्।
चतुर्युगां भुवं मुक्त्वा परिव्राट् सोऽन्ध उच्यते ॥66॥
हिताहितं मनोरामं वचः शोकावहं तु यत्।
श्रुत्वापि न शृणोतीव बधिरः सः प्रकीर्तितः ॥67॥
सान्निध्ये विषयाणां यः समर्थो विकलेन्द्रियः।
सुप्तवद् वर्तते नित्यं स भिक्षुर्मुग्ध उच्यते ॥68॥

और पंगु (लँगड़ा) वह भिक्षु कहा जाता है कि जो केवल भिक्षा के लिए या विष्टा-मूत्र को त्याग करने के लिए ही अटन (भ्रमण) करता है, और वह भी ज्यादा से ज्यादा एक योजन तक ही दूर जाता है। अन्ध उसे कहा जाता है कि जो उठते-बैठते अपनी आँखों को दूर तक नहीं ले जाता और चार युग तक की (करीब दस हाथ तक की) भूमि को ही देखता है। जो हितकर (मनोरम) तथा अहितकर (शोकदायक) वचन सुनकर भी नहीं सुनता उसे बधिर कहा जाता है। जो भिक्षु विषयों के सामीप्य में रहते हुए, सामर्थ्यवान् तथा जितेन्द्रिय होकर भी विषयों के समीप सोते हुए की भाँति व्यवहार करता है अर्थात् उन विषयों के प्रति आकृष्ट नहीं होता, वह भिक्षु मुग्ध (मूढ) कहा गया है।

नटादिप्रेक्षणं द्यूतं प्रमदासुहृदं तथा।
भक्ष्यं भोज्यमुदक्यां च षण्न पश्येत्कदाचन ॥69॥
रागं द्वेषं मदं मायां द्रोहं मोहं परात्मसु।
षडेतानि यतिर्नित्यं मनसापि न चिन्तयेत् ॥70॥
मञ्चकं शुक्लवस्त्रं च स्त्रीकथालौल्यमेव च।
दिवा स्वापं च यानं च यतीनां पातनानि षट् ॥71॥
दूरयात्रां प्रयत्नेन वर्जयेदात्मचिन्तकः।
सदोपनिषदं विद्यामभ्यसेन्मुक्तिहैतुकीम् ॥72॥

उस भिक्षु को चाहिए कि वह नटों आदि का खेल, जुआ, स्त्रीमित्र, भक्ष्य, भोज्य और रजस्वला स्त्री को न देखे। राग, द्वेष, मद, माया, परजीव के प्रति द्रोह और मोह—इन छः का यति द्वारा कभी मन से भी चिन्तन नहीं होना चाहिए। ऊँचा आसन, सफेद वस्त्र, स्त्री-कथा में रुचि, इन्द्रियलोलुपता, दिन में सोना और वाहन में बैठना—ये छः यति के लिए पतनकारक हैं। उसे प्रयत्नपूर्वक दूर की यात्रा को टालना चाहिए और आत्मचिन्तन में ही मग्न रहना चाहिए। उसे सर्वदा उपनिषद् की विद्या का सतत अध्ययन करते रहना चाहिए।

न तीर्थसेवी नित्यं स्यान्नोपवासपरो यतिः।
न चाध्ययनशीलः स्यान्न व्याख्यानपरो भवेत् ॥73॥

**अपापमशठं वृत्तमजिह्मं नित्यमाचरेत् ।
इन्द्रियाणि समाहृत्य कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ॥74॥
क्षीणेन्द्रियमनोवृत्तिनिराशीर्निष्परिग्रहः ।
निर्द्वन्द्वो निर्नमस्कारो निःस्वधाकार एव च ॥75॥
निर्ममो निरहङ्कारो निरपेक्षो निराशिषः ।
विविक्तदेशसंसक्तो मुच्यते नात्र संशयः ॥76॥ इति ।**

उस भिक्षु को हमेशा तीर्थ का प्रेमी नहीं होना चाहिए। और ज्यादा उपवास भी उसे नहीं करना चाहिए। वह अध्ययनशील भी न हो। उसे व्याख्यान भी नहीं देने चाहिए। उसे सदैव निष्पाप, निर्दोष और वक्रताशून्य (कुटिलतारहित) जीवन जीना चाहिए। कछुए की तरह ही उसे अपनी सभी इन्द्रियाँ समेटकर रखनी चाहिए। उसे अपनी इन्द्रियों और मन की वृत्तियों को क्षीण कर देना चाहिए। कामना एवं परिग्रह को त्यागकर उसे हर्ष-शोक के रहित (अर्थात् निर्द्वन्द्व) होना चाहिए। उसे देवस्तुति एवं स्वधा (पितृतर्पणादि) त्याग देना चाहिए। ममता एवं अहंकारशून्य होकर किसी प्रकार की अपेक्षा न करते हुए उसे उदासीन रहना चाहिए। इस प्रकार (जीवनयापन करते हुए) एकान्त में निवास करने वाला यति मोक्ष को प्राप्त होता है।

अप्रमत्तः कर्मभक्तिज्ञानसम्पन्नः स्वतन्त्रो वैराग्यमेत्य ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो वा मुख्यवृत्तिका चेद् ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेद् गृहाद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद् वा वनाद् वा। अथ पुनरव्रती वा व्रती वा स्नातको वाऽस्नातको वोत्सन्नाग्निरनग्निको वा यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्। तद्धैके प्राजापत्यामेवेष्टिं कुर्वन्त्य-थवा न कुर्यादाग्नेय्यामेव कुर्यादग्निर्हि प्राणः प्राणमेवैतया करोति तस्मात् त्रैधातवीयामेव कुर्यादेतयैव त्रयो धातवो यदुत सत्त्वं रजस्तम इति ॥77॥

जो प्रमादरहित तथा कर्म, भक्ति तथा ज्ञान से युक्त होता है, वह स्वतंत्र रीति से क्रम की परवाह किए बिना ही वैराग्य लेकर संन्यास ग्रहण कर सकता है। सामान्य क्रम तो ऐसा ही है कि पहले ब्रह्मचारी, बाद में गृहस्थ और उसके बाद वानप्रस्थ होकर उसके बाद संन्यास लेना चाहिए। परन्तु इससे विपरीत भी ब्रह्मचर्य के बाद भी संन्यास लिया जा सकता है। अथवा गृहस्थाश्रम से भी सीधे संन्यास लिया जा सकता है। और भी—जो पुरुष ब्रह्मचारी हो या न हो, स्नातक हो या न हो, अग्निहोत्री हो या अनग्निक हो, पर कभी भी वैराग्य भाव प्रबल होने पर संन्यास ले सकता है। कुछ लोग कहते हैं कि पहले प्राजापत्य इष्टि करनी चाहिए पर कुछ लोग कहते हैं कि नहीं करनी चाहिए। 'आग्नेय्या' इष्टि ही पर्याप्त है, क्योंकि अग्नि ही प्राण है। इस इष्टि से ही साधक प्राण का पोषण करता है। इसलिए 'त्रैधातवीया' का ही अनुष्ठान करना चाहिए। इसी से तीन धातुएँ होमी जाती हैं, ये तीन धातुएँ सत्त्व, रज और तमोगुण हैं। यह त्रैधातवी इष्टि ही सम्पन्न करनी चाहिए।

**अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः ।
तं जानन्नग्न आरोहाथानो वर्धया रयिम् ॥78॥**

विधिवत् त्रैधातवी इष्टि करके अग्नि में 'अयं ते योनिः' इत्यादि ऊपर कहे गए मन्त्र के द्वारा अग्नि को सूँघना चाहिए। ऊपर दिए हुए मन्त्र का अर्थ यह है—'हे अग्निदेव ! यह समष्टिगत प्राण ही तुम्हारी उत्पत्ति का मूल है। इसी कारण तुम श्रेष्ठ तेज से सुशोभित हो रहे हो। तुम अपने जनक

प्राण को जानकर इसमें विराजित हो। इसी प्रकार हमारे प्राणों में भी प्रतिष्ठित होकर हमारे ज्ञान-धन को समृद्ध करो।'

इत्यनेन मन्त्रेणाग्निमाजिघ्रेदेष वा अग्नेर्योनिर्यः प्राणः प्राणं गच्छ स्वां योनिं गच्छ स्वाहेत्येवमेवैतदाहवनीयादग्निमाहृत्य पूर्ववदग्निमाजिघ्रेद्यग्निं न विन्देदप्सु जुहुयादापो वै सर्वा देवताः सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुहोमि स्वाहेति हुत्वोद्धृत्य तदुदकं प्राश्नीयात् साज्यं हविरनामयं मोदमिति शिखां यज्ञोपवीतं पितरं कलत्रं कर्म चाध्ययनं मन्त्रान्तरं विसृज्यैव परिव्रजत्यात्मवित् मोक्षमन्त्रैस्त्रैधातवीयैर्विधेस्तद् ब्रह्म तदुपासितव्यमेवेति ॥79॥

इस मन्त्र से अग्नि को सूँघना चाहिए। अवश्य ही यह प्राणतत्त्व ही अग्नि का उद्भवस्थान है। अथवा इस मन्त्र से अग्नि और प्राण की एकता सिद्ध हुई है। आहवनीय से अग्नि को लाकर पूर्वोक्त रीति से ही उसे सूँघकर और 'गच्छ स्वां योनिं' इत्यादि मन्त्रों से आहुतियाँ देनी चाहिए। यदि कहीं पर अग्नि न मिले तो जल में ही होम कर लेना चाहिए। उस समय 'आपो वै सर्वा देवताः सर्वाभ्य देवताभ्यो जुहोमि' यह मंत्र बोलना चाहिए। इसका अर्थ है—मैं समस्त देवताओं के लिए यजन करता हूँ। स्वाहा का उच्चारण करते हुए होम करके 'यह हवि उन देवों को प्राप्त हो'—ऐसा भाव करना चाहिए। उसके बाद, उस होम किए गए जल से थोड़ा जल लेकर उसका आचमन करना चाहिए। घृत मिश्रित वह हविष्य अति पवित्र और निरामय होता है। इसके बाद शिखा, यज्ञोपवीत, पिता, पुत्र, कलत्र, कर्म, अध्ययन इत्यादि तथा अन्यान्य मन्त्रों को छोड़ने वाला ही संन्यास लेता है। वही आत्मवित् है। 'त्रैधातवीय मोक्ष' के लिए योग्य माने गए मन्त्रों को पढ़कर उन्हें अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। ये मन्त्र शाश्वत सत्य एवं ज्ञान आदि लक्षणों से युक्त हैं। वही ब्रह्म है, उसी की उपासना करनी चाहिए।

पितामहं पुनः पप्रच्छ नारदः कथमयज्ञोपवीती ब्राह्मण इति। तमाह पितामहः ॥80॥

नारद ने पुनः पितामह ब्रह्माजी से पूछा—बिना यज्ञोपवीत धारण किए हुए मनुष्य ब्राह्मण कैसे होता है ? तब ब्रह्माजी ने यह उत्तर दिया—

सशिखं वपनं कृत्वा बहिःसूत्रं त्यजेद् बुधः।
यदक्षरं परं ब्रह्म तत्सूत्रमिति धारयेत् ॥81॥
सूचनात्सूत्रमित्याहुः सूत्रं नाम परं पदम्।
तत्सूत्रं विदितं येन स विप्रो वेदपारगः ॥82॥
येन सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।
तं सूत्रं धारयेद् योगी योगवित्तत्त्वदर्शनः ॥83॥
बहिःसूत्रं त्यजेद्विद्वान् योगमुत्तममास्थितः।
ब्रह्मभावमिदं सूत्रं धारयेद्यः स चेतनः ॥
धारणात्तस्य सूत्रस्य नोच्छिष्टो नाशुचिर्भवेत् ॥84॥

शिखासहित मुण्डन करवा कर ज्ञानी को बाहर के सूत्र का त्याग कर देना चाहिए। और जो अक्षर ब्रह्मरूप (ॐकार) सूत्र है, उसे ही धारण कर लेना चाहिए। जो सूचना (ज्ञान, जानकारी) देता

है, उसे ही सूत्र कहा जाता है। यह सूत्र परमपद जैसा पावनकारी है। ऐसे आध्यात्मिक सूत्र को जिसने जान लिया है, वही ब्राह्मण वेदों में पारंगत समझा जाता है। जैसे सूत्र में रत्नों के समूह पिरोए जाते हैं, उसी तरह इस ब्रह्मसूत्र में सारा जगत् पिरोया हुआ है। योगी को तो ऐसा सूत्र ही धारण करना चाहिए। जो योग का जानने वाला और तत्त्वसाक्षात्कारी है, ऐसे विद्वान् को बाहर का यह सूत्र तो छोड़ ही देना चाहिए और उसे अपने उत्तम योग में ही अवस्थित रहना चाहिए। यह सूत्र तो ब्रह्मभावक है चेतनायुक्त प्राणी को यही सूत्र धारण करना चाहिए। ऐसा ज्ञानमय सूत्र धारण करने से भिक्षु पवित्र बनता है, वह उच्छिष्ट नहीं होता।

सूत्रमन्तर्गतं येषां ज्ञानयज्ञोपवीतिनाम्।
ते वै सूत्रविदो लोके ते च यज्ञोपवीतिनः ॥85॥
ज्ञानशिखिनो ज्ञाननिष्ठा ज्ञानयज्ञोपवीतिनः।
ज्ञानमेव परं तेषां पवित्रं ज्ञानमुच्यते ॥86॥
अग्नेरिव शिखा नान्या यस्य ज्ञानमयी शिखा।
स शिखीत्युच्यते विद्वान्नेतरे केशधारिणः ॥87॥
कर्मण्यधिकृता ये तु वैदिके ब्राह्मणादयः।
तैर्निधार्यमिदं सूत्रं क्रियाङ्गं तद्धि वै स्मृतम् ॥88॥
शिखा ज्ञानमयी यस्य उपवीतं च तन्मयम्।
ब्राह्मण्यं सकलं तस्य इति ब्रह्मविदो विदुः ॥89॥ इति।

ज्ञानरूप यज्ञोपवीत को धारण करने वाले जिन लोगों के अन्तस् में यह यज्ञोपवीत है, वे लोग ही सही अर्थ में सूत्र को जानने वाले और वे ही सच्चे अर्थों में यज्ञोपवीत धारण करने वाले माने जाते हैं। संन्यासी लोग ज्ञानरूपी शिखा को धारण करते हैं, ज्ञान में ही वे प्रतिष्ठित रहते हैं, तथा ज्ञानरूप यज्ञोपवीत को ही वे धारण करते हैं। उन संन्यासियों के लिए ज्ञान ही सबसे बड़ा पुरुषार्थ होता है। ज्ञान को ही सबसे पवित्र माना गया है। जैसे अग्निशिखा अग्नि से अलग नहीं होती वैसे ही ज्ञानी संन्यासी को ज्ञानशिखाधारी कहा जाता है। अन्य लोग तो केवल केशधारी ही हैं। वैदिक कर्मों में अधिकृत जो ब्राह्मणादि हैं, वे भले ही इस तीन सूत्रों वाली बाहरी उपवीत का धारण करें, क्योंकि ऐसा यह सूत्र कर्मों का अंगभूत है। पर ज्ञानमय शिखावालों और ज्ञानमय उपवीत वालों के लिए तो सारा जगत् ही ब्रह्ममय होता है, ऐसा तत्त्वज्ञानियों ने कहा है।

तदेतद् विज्ञाय ब्राह्मणः परिव्रज्य परिव्राडेकशाटी मुण्डोऽपरिग्रहः शरीरक्लेशासहिष्णुश्चेदथवा यथाविधिश्चेज्जातरूपधरो भूत्वा सपुत्रमित्रकलत्राप्तबन्ध्वादीनि स्वाध्यायं सर्वकर्माणि संन्यस्यायं ब्रह्माण्डं च सर्वं कौपीनं दण्डमाच्छादनं च त्यक्त्वा द्वन्द्वसहिष्णुर्न शीतं न चोष्णं न सुखं न दुःखं न निद्रा न मानावमाने च षडूर्मिवर्जितो निन्दाहङ्कारमत्सरगर्वदम्भेर्ष्यासूयेच्छाद्वेषसुखदुःखकामक्रोधलोभमोहादीन्विसृज्य स्ववपुः शवाकारमिव स्मृत्वा स्वव्यतिरिक्तं सर्वमन्तर्बहिरमन्यमानः कस्यापि वन्दनमकृत्वा न नमस्कारो न स्वाहाकारो न स्वधाकारो न निन्दास्तुतिर्यादृच्छिको भवेद्यदृच्छालाभसन्तुष्टः सुवर्णादीन्न परिग्रहेन्नावाहनं न विसर्जनं न मन्त्रं नामन्त्रं न ध्यानं नोपासनं न लक्ष्यं नालक्ष्यं न पृथक

नापृथक् न त्वन्यत्र सर्वत्रानिकेतः स्थिरमतिः शून्यागारवृक्षमूलदेवगृहतृण-कूटकुलालशालाग्निहोत्रशालाग्निदिगन्तरनदीतटपुलिनभूगृहकन्दर-निर्झरस्थण्डिलेषु वने वा। श्वेतकेतुऋभुनिदाघऋषभदुर्वासःसंवर्तक-दत्तात्रेयरैवतकवदव्यक्तलिङ्गोऽव्यक्ताचारो बालोन्मत्तपिशाचवदनुन्म-त्तोन्मत्तवदाचरंस्त्रिदण्डं शिक्यं पात्रं कमण्डलुं कटिसूत्रं कौपीनं च तत्सर्वं भूः स्वाहेत्यप्सु परित्यज्य ॥90॥

इस प्रकार से वह ब्रह्मज्ञानी सब तत्त्व जानकर, घर-बार छोड़ कर परिव्राजक हो जाता है और वह एक ही वस्त्र धारण करता है, मुण्डन करवाता है, अपरिग्रही होता है। यदि वह शरीर के कष्ट को सहन न कर सके, तो वह विधिपूर्वक वस्त्र धारण कर सकता है। यदि शरीर के कष्टों को सहने में समर्थ हो तो वह जातरूपधर अर्थात् जन्म के समय का नग्न रूप ही रखते हुए वह पुत्र, माता, पिता, पत्नी, आप्तजन, सगे-सम्बन्धियों को एवं स्वाध्याय को और अन्य सभी कर्मों का त्याग कर देता है। वह इस ब्रह्माण्ड को भी अपना नहीं समझता। वह एक कौपीन, कमण्डलु, दण्ड, बिछाने का आसन, सब कुछ छोड़कर शीतोष्णादि द्वन्द्वों को सहन करता हुआ अर्थात् सुख-दुःख, शीत-उष्ण आदि द्वन्द्व सहता हुआ मानापमान और निद्रा का भी त्याग कर देता है। वह जन्म-मरणादि छः देह-विकारों से रहित हो जाता है। निन्दा, अहंकार, मात्सर्य, गर्व, दम्भ, ईर्ष्या, असूया, इच्छा, सुख, दुःख, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि को छोड़कर अपने शरीर को मुर्दे की तरह समझता रहता है। वह अपनी आत्मा के सिवा अन्य (बाहर-भीतर की) किसी भी वस्तु को मानता ही नहीं। वह किसी का नमस्कार नहीं चाहता। उसे न स्वाहाकार की न वा स्वधाकार की कोई चिन्ता होती है। वह स्वयं भी किसी की निन्दा या स्तुति नहीं करता। यदृच्छा से यों ही जो कुछ मिल जाए उसी से वह सन्तुष्ट रहता है। यादृच्छिकी ही उसका आधार है। वह सोने आदि का संग्रह नहीं करता। उसके लिए न कोई आवाहन है, न कोई विसर्जन ही है। उसके लिए कोई मन्त्र भी नहीं है और कोई अमन्त्र भी नहीं है। न उसके लिए कोई उपासना है, न लक्ष्य है, न ही कोई अलक्ष्य ही है। कोई भिन्नता नहीं है, कोई अभिन्नता भी नहीं है। कोई अन्यत्र-सर्वत्र का भेद भी नहीं है। वह स्थिरबुद्धि वाला होता है। कोई सूना घर, वृक्ष का मूल, कोई देवमन्दिर, घास की कुटिया, कुलालशाला, अग्निहोत्रशाला, अग्निकोणीय शाला, नदीतीर, नदी किनारे के थोड़े ऊपर की जगह, अथवा वन—इन जगहों में उसका निवासस्थान हो जाता है। श्वेतकेतु, ऋभु, निदाघ, ऋषभ, दुर्वासा, संवर्तक, दत्तात्रेय, और रैवतक की तरह ही वह अपनी महत्ता के चिह्न नहीं बताता और अपनी विशिष्टता का कोई भी चिह्न धारण नहीं करता। उसका आचरण छिपा हुआ रहता है। अथवा बच्चे या पागल की तरह अथवा पिशाच की तरह ही व्यवहार करता है। वास्तव में पागल न होते हुए भी वह पागलों का-सा वर्ताव करता है। त्रिदण्ड, पात्र, थैली, कमण्डलु, कटिसूत्र और कौपीन इत्यादि सब चीजों को वह 'भूः स्वाहा' कहकर पानी में फेंक देता है।

कटिसूत्रं च कौपीनं दण्डं वस्त्रं कमण्डलुम्।
सर्वमप्सु विसृज्याथ जातरूपधरश्चरेत् ॥91॥

कटिसूत्र, कौपीन, दण्ड, वस्त्र और कमण्डलु—इन सबको पानी में फेंककर परमहंस को वस्त्र रहित होकर ही सर्वत्र घूमते रहना चाहिए।

आत्मानमन्विच्छेद्यथा जातरूपधरो निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहस्तत्त्वब्रह्ममार्गे सम्यक्सम्पन्नः शुद्धमानसः प्राणसन्धारणार्थं यथोक्तकाले करपात्रेणा-

न्येन याचिताहारमाहरन् लाभालाभे समो भूत्वा निर्ममः शुक्लध्यान-परायणोऽध्यात्मनिष्ठः शुभाशुभकर्मनिर्मूलनपरः संन्यस्य पूर्णानन्दैक-बोधस्तद्ब्रह्माऽहमस्मीति ब्रह्मप्रणवमनुस्मरन्भ्रमरकीटन्यायेन शरीर-त्रयमुत्सृज्य संन्यासेनैव देहत्यागं करोति स कृतकृत्यो भवतीत्यु-पनिषत् ॥92॥

इति तृतीयोपदेशः ।

वह परमहंस सतत आत्मा को ही खोजता है (अनुसन्धान करता है)। वह वस्त्ररहित होकर, द्वन्द्वरहित होकर और निष्परिग्रह होकर तत्त्वरूप ब्रह्मप्राप्ति के मार्ग में अच्छी तरह से प्रतिष्ठित हो जाता है। विशुद्ध मन वाला होकर वह प्राणानुसन्धान अर्थात् प्राणों की रक्षा के लिए योग्य समय पर हाथ के ही पात्र में या अन्य किसी पात्र में बिना याचना के ही प्राप्त हुई भिक्षा को लेकर, लाभ और अलाभ में समान बुद्धिवाला होकर, ममता (आसक्ति) रहित होकर केवल विशुद्ध ब्रह्म का ही ध्यान करता है। वह अध्यात्मनिष्ठ ही रहता है। वह अपने शुभ और अशुभ कार्यों के निर्मूलन के लिए प्रयत्न करता रहता है, और सभी प्रकार के कर्मों को छोड़ देता है। अन्त में वह संन्यास के द्वारा ही देहत्याग करता है और वह कृत्यकृत्य हो जाता है।

यहाँ तृतीयोपदेश पूरा हुआ।

❊

चतुर्थोपदेशः

त्यक्त्वा लोकांश्च वेदांश्च विषयानिन्द्रियाणि च ।
आत्मन्येव स्थितो यस्तु स याति परमां गतिम् ॥1॥
नामगोत्रादिवरणं देशं कालं श्रुतं कुलम् ।
वयो वृत्तं व्रतं शीलं ख्यापयेन्नैव सद्यतिः ॥2॥
न सम्भाषेत्स्त्रियं कांचित् पूर्वदृष्टां च न स्मरेत् ।
कथां च वर्जयेत्तासां न पश्येल्लिखितामपि ॥3॥
एतच्चतुष्टयं मोहात् स्त्रीणामाचरतो यतेः ।
चित्तं विक्रियतेऽवश्यं तद्विकारात्प्रणश्यति ॥4॥

लोकों को, वेदों को, विषयों को और इन्द्रियों को छोड़कर जो पुरुष अपने आत्मा में ही स्थित रहता है, वह परमगति को पाता है। श्रेष्ठ यति तो वह कहा गया है कि जो अपने नाम-गोत्र आदि का वरण तथा देश, काल, श्रुत, भूतकालीन घटनाएँ, अपनी उम्र और अपने शील आदि को कभी किसी के समक्ष प्रकट नहीं करता। यह योगी किसी भी स्त्री के साथ बातचीत नहीं करता अथवा पहले देखी गई स्त्री का स्मरण भी नहीं करता, स्त्रियों की कथाओं को वह छोड़ ही देता है और वह किसी स्त्री के चित्र को भी नहीं देखता। इन स्त्री-विषयक चार बातों का मोहवश होकर आचरण करता हुआ यति अपने चित्त में अवश्य ही विकार प्राप्त करता है और ऐसे विकारों से वह यति नष्ट हो जाता है।

तृष्णा क्रोधोऽनृतं माया लोभमोहौ प्रियाप्रिये ।
शिल्पं व्याख्यानयोगश्च कामो रागपरिग्रहः ॥5॥

अहङ्कारो ममत्वं च चिकित्सा धर्मसाहसम् ।
प्रायश्चित्तं प्रवासश्च मन्त्रौषधपराशिषः ।
प्रतिषिद्धानि चैतानि सेवमानो व्रजेदधः ॥6॥
आगच्छ गच्छ तिष्ठेति स्वागतं सुहृदोऽपि वा ।
सम्माननं च न ब्रूयान्मुनिर्मोक्षपरायणः ॥7॥
प्रतिग्रहं न ग्रहणीयात्नैव चान्यं प्रदापयेत् ।
प्रेरयेद्वा तथा भिक्षुः स्वप्नेऽपि न कदाचन ॥8॥

तृष्णा, क्रोध, झूठ, माया, लोभ, मोह, प्रिय, अप्रिय, शिल्प, व्याख्यान का प्रसंग, कामना, आसक्ति, परिग्रह, अहंकार, ममत्व, संग्रह, चिकित्साकर्म, धर्म के लिए साहसिक कार्य, प्रायश्चित्त, प्रवास, मंत्रौषधिपरता, आशीर्वादादि—ये सब यति के लिए निषिद्ध हैं। इन प्रतिषिद्ध कार्यों को करता हुआ योगी अधःपाती हो जाता है। आओ, जाओ, बैठो इत्यादि स्वागत वचनों की उसे मित्रों के लिए कहने की भी जरूरत नहीं है। उस मोक्षपरायण मुनि को दान देना नहीं चाहिए, दान लेना नहीं चाहिए, दान दिलाना भी नहीं चाहिए और उसके लिए किसी को प्रेरित नहीं करना चाहिए। उस भिक्षु को स्वप्न में भी ऐसा नहीं करना चाहिए।

जायाभ्रातृसुतादीनां बन्धूनां च शुभाशुभम् ।
श्रुत्वा दृष्ट्वा न कम्पेत शोकहर्षौ त्यजेद्यतिः ॥9॥
अहिंसा सत्यमस्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः ।
अनौद्धत्यमदीनत्वं प्रसादः स्थैर्यमार्जवम् ॥10॥
अस्नेहो गुरुशुश्रूषा श्रद्धा क्षान्तिर्दमः शमः ।
उपेक्षा धैर्यमाधुर्ये तितिक्षा करुणा तथा ॥11॥
ह्रीस्तथा ज्ञानविज्ञाने योगो लघ्वशनं धृतिः ।
एष स्वधर्मो विख्यातो यतीनां नियतात्मनाम् ॥12॥

पत्नी, भाई, पुत्र आदि बान्धवों के शुभ-अशुभ समाचारों को सुनकर या देखकर भी जो विचलित नहीं होता; जिसने शोक और हर्ष को छोड़ दिया है; इसके अतिरिक्त अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, उद्दण्डता के भाव से रहित और साथ-साथ अपनी दीनता को प्रकट न करना, प्रसन्न रहना, स्थिरता, सरलता, अनासक्ति, गुरु की सेवा, श्रद्धा, क्षान्ति, दम, शम, औदासीन्य, धैर्य, माधुर्य, सहनशीलता, करुणा, लज्जा, ज्ञान-विज्ञान परायणता, मिताहार और धैर्य धारण करना—ये सब मनोजयी यतियों का स्वधर्म कहलाता है।

निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थः सर्वत्र समदर्शनः ।
तुरीयः परमो हंसः साक्षान्नारायणो यतिः ॥13॥
एकरात्रं वसेद् ग्रामे नगरे पञ्चरात्रकम् ।
वर्षाभ्योऽन्यत्र वर्षासु मासांश्च चतुरो वसेत् ॥14॥
द्विरात्रं न वसेद् ग्रामे भिक्षुर्यदि वसेत्तदा ।
रागादयः प्रसज्येरंस्तेनासौ नारकी भवेत् ॥15॥
ग्रामान्ते निर्जने देशे नियमात्माऽनिकेतनः ।
पर्यटेत्कीटवद् भूमौ वर्षास्वेकत्र संवसेत् ॥16॥

वह यति द्वन्द्वरहित, सर्वदा सत्य में अवस्थित, सर्वत्र समान दृष्टि वाला, तुरीयावस्था में स्थित परमहंस साक्षात् नारायणस्वरूप ही होता है। वह गाँव में एक रात रहता है, नगर में पाँच रात रहता है। जब वर्षा न हो तब के लिए यह पूर्वोक्त नियम हैं। परन्तु, यदि वर्षा ऋतु हो तो चार महीनों तक एक स्थान में वह रह सकता है। ऐसे यति को किसी गाँव में दो रात तक नहीं रहना चाहिए। यदि रहे, तो वह पतित हो जाएगा। क्योंकि ऐसा करने से ग्रामादि के राग-द्वेषादि उसमें चिपक ही जाएँगे। उसे गाँव के अन्त भाग में, निर्जन प्रदेश में, संयमशील रहकर तथा अनिकेतन ही रहकर, जैसे धरती पर कीडा घूमता रहता है उसी तरह भ्रमण करते हुए ही रहना चाहिए। केवल वर्षा ऋतु में ही एक ही स्थान रहना चाहिए।

एकवासा अवासा वा स्थिरदृष्टिरलोलुपः।
अदूषयन्सतां मार्गं ध्यानयुक्तो महीं चरेत् ॥17॥
शुचौ देशे सदा भिक्षुः स्वधर्ममनुपालयन्।
पर्यटेत सदा योगी वीक्षयन्वसुधातलम् ॥18॥
न रात्रौ न च मध्याह्ने सन्धयोर्नैव पर्यटन्।
न शून्ये न च दुर्गे वा प्राणिबाधकरे न च ॥19॥
एकरात्रं वसेद् ग्रामे पत्तने तु दिनत्रयम्।
पुरे दिनद्वयं भिक्षुर्नगरे पञ्चरात्रकम्।
वर्षास्वेकत्र तिष्ठेत स्थाने पुण्यजलावृते ॥20॥

वह एक ही वस्त्र धारण करता है, अथवा वस्त्र रहित होकर रहता है। उसकी दृष्टि स्थिर होती है। वह लोलुप नहीं होता। सत्पुरुषों के मार्ग को दूषित न करते हुए, वह ध्यानयुक्त होकर ही इस धरती के ऊपर भ्रमण करता है। भिक्षु अपने धर्म का पालन करते हुए ही पवित्र देश में हमेशा घूमता रहता है और इस धरतीतल को ही वह योगी देखा करता है। उसे रात्रि में, दोपहर में तथा संध्या के समय घूमना नहीं चाहिए तथा शून्य स्थान में या किसी किले में जहाँ प्राणियों के लिए अवरोध खड़ा होता हो, वहाँ भी नहीं घूमना चाहिए। उसे गाँव में एक दिन तक, कस्बे में तीन दिनों तक, पुर में दो दिनों तक और नगर में पाँच रात तक रहना चाहिए। और वर्षा ऋतु में एक स्थान में रहना चाहिए। पर वह स्थान ऐसा हो कि जहाँ पवित्र जल प्रवहमाण हो।

आत्मवत्सर्वभूतानि पश्यन्भिक्षुश्चरेन्महीम्।
अन्धवत्कुब्जवच्चैव बधिरोन्मत्तमूकवत् ॥21॥
स्नानं त्रिषवणं प्रोक्तं बहूदकवनस्थयोः।
हंसे तु सकृदेव स्यात्परहंसे न विद्यते ॥22॥
मौनं योगासनं योगस्तितिक्षैकान्तशीलता।
निःस्पृहत्वं समत्वं च सप्तैतान्येकदण्डिनाम् ॥23॥
परहंसाश्रमस्थो हि स्नानादेरविधानतः।
अशेषचित्तवृत्तीनां त्यागं केवलमाचरेत् ॥24॥

सभी प्राणियों को अपनी ही आत्मा की तरह जानकर वह भिक्षु भूमि पर विचरण करता रहता है। वह अन्धे की तरह, मूर्ख की तरह अथवा बहरे और पागल की तरह बर्ताव करता है। यों तो बहूदक या वन में रहने वाले संन्यासियों के लिए तीन बार का (त्रिकाल का) स्नान विहित है लेकिन हंसयोगी

अहङ्कारो ममत्वं च चिकित्सा धर्मसाहसम् ।
प्रायश्चित्तं प्रवासश्च मन्त्रौषधपराशिषः ।
प्रतिषिद्धानि चैतानि सेवमानो व्रजेदधः ॥6॥
आगच्छ गच्छ तिष्ठेति स्वागतं सुहृदोऽपि वा ।
सम्माननं च न ब्रूयान्मुनिर्मोक्षपरायणः ॥7॥
प्रतिग्रहं न ग्रहणीयात्नैव चान्यं प्रदापयेत् ।
प्रेरयेद्वा तथा भिक्षुः स्वप्नेऽपि न कदाचन ॥8॥

तृष्णा, क्रोध, झूठ, माया, लोभ, मोह, प्रिय, अप्रिय, शिल्प, व्याख्यान का प्रसंग, कामना, आसक्ति, परिग्रह, अहंकार, ममत्व, संग्रह, चिकित्साकर्म, धर्म के लिए साहसिक कार्य, प्रायश्चित्त, प्रवास, मंत्रौषधिपरता, आशीर्वादादि—ये सब यति के लिए निषिद्ध हैं। इन प्रतिषिद्ध कार्यों को करता हुआ योगी अधःपाती हो जाता है। आओ, जाओ, बैठो इत्यादि स्वागत वचनों की उसे मित्रों के लिए कहने की भी जरूरत नहीं है। उस मोक्षपरायण मुनि को दान देना नहीं चाहिए, दान लेना नहीं चाहिए, दान दिलाना भी नहीं चाहिए और उसके लिए किसी को प्रेरित नहीं करना चाहिए। उस भिक्षु को स्वप्न में भी ऐसा नहीं करना चाहिए।

जायाभ्रातृसुतादीनां बन्धूनां च शुभाशुभम् ।
श्रुत्वा दृष्ट्वा न कम्पेत शोकहर्षौ त्यजेद्यतिः ॥9॥
अहिंसा सत्यमस्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः ।
अनौद्धत्यमदीनत्वं प्रसादः स्थैर्यमार्जवम् ॥10॥
अस्नेहो गुरुशुश्रूषा श्रद्धा क्षान्तिर्दमः शमः ।
उपेक्षा धैर्यमाधुर्ये तितिक्षा करुणा तथा ॥11॥
ह्रीस्तथा ज्ञानविज्ञाने योगो लघ्वशनं धृतिः ।
एष स्वधर्मो विख्यातो यतीनां नियतात्मनाम् ॥12॥

पत्नी, भाई, पुत्र आदि बान्धवों के शुभ-अशुभ समाचारों को सुनकर या देखकर भी जो विचलित नहीं होता; जिसने शोक और हर्ष को छोड़ दिया है; इसके अतिरिक्त अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, उद्दण्डता के भाव से रहित और साथ-साथ अपनी दीनता को प्रकट न करना, प्रसन्न रहना, स्थिरता, सरलता, अनासक्ति, गुरु की सेवा, श्रद्धा, क्षान्ति, दम, शम, औदासीन्य, धैर्य, माधुर्य, सहनशीलता, करुणा, लज्जा, ज्ञान-विज्ञान परायणता, मिताहार और धैर्य धारण करना—ये सब मनोजयी यतियों का स्वधर्म कहलाता है।

निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थः सर्वत्र समदर्शनः ।
तुरीयः परमो हंसः साक्षान्नारायणो यतिः ॥13॥
एकरात्रं वसेद् ग्रामे नगरे पञ्चरात्रकम् ।
वर्षाभ्योऽन्यत्र वर्षासु मासांश्च चतुरो वसेत् ॥14॥
द्विरात्रं न वसेद् ग्रामे भिक्षुर्यदि वसेत्तदा ।
रागादयः प्रसज्येरंस्तेनासौ नारकी भवेत् ॥15॥
ग्रामान्ते निर्जने देशे नियमात्माऽनिकेतनः ।
पर्यटेत्कीटवद् भूमौ वर्षास्वेकत्र संवसेत् ॥16॥

वह यति द्वन्द्वरहित, सर्वदा सत्य में अवस्थित, सर्वत्र समान दृष्टि वाला, तुरीयावस्था में स्थित परमहंस साक्षात् नारायणस्वरूप ही होता है। वह गाँव में एक रात रहता है, नगर में पाँच रात रहता है। जब वर्षा न हो तब के लिए यह पूर्वोक्त नियम हैं। परन्तु, यदि वर्षा ऋतु हो तो चार महीनों तक एक स्थान में वह रह सकता है। ऐसे यति को किसी गाँव में दो रात तक नहीं रहना चाहिए। यदि रहे, तो वह पतित हो जाएगा। क्योंकि ऐसा करने से ग्रामादि के राग-द्वेषादि उसमें चिपक ही जाएँगे। उसे गाँव के अन्त भाग में, निर्जन प्रदेश में, संयमशील रहकर तथा अनिकेतन ही रहकर, जैसे धरती पर कीडा घूमता रहता है उसी तरह भ्रमण करते हुए ही रहना चाहिए। केवल वर्षा ऋतु में ही एक ही स्थान रहना चाहिए।

एकवासा अवासा वा स्थिरदृष्टिरलोलुपः।
अदूषयन्सतां मार्गं ध्यानयुक्तो महीं चरेत् ॥17॥
शुचौ देशे सदा भिक्षुः स्वधर्ममनुपालयन्।
पर्यटेत सदा योगी वीक्षयन्वसुधातलम् ॥18॥
न रात्रौ न च मध्याह्ने सन्धयोर्नैव पर्यटन्।
न शून्ये न च दुर्गे वा प्राणिबाधकरे न च ॥19॥
एकरात्रं वसेद् ग्रामे पत्तने तु दिनत्रयम्।
पुरे दिनद्वयं भिक्षुर्नगरे पञ्चरात्रकम्।
वर्षास्वेकत्र तिष्ठेत स्थाने पुण्यजलावृते ॥20॥

वह एक ही वस्त्र धारण करता है, अथवा वस्त्र रहित होकर रहता है। उसकी दृष्टि स्थिर होती है। वह लोलुप नहीं होता। सत्पुरुषों के मार्ग को दूषित न करते हुए, वह ध्यानयुक्त होकर ही इस धरती के ऊपर भ्रमण करता है। भिक्षु अपने धर्म का पालन करते हुए ही पवित्र देश में हमेशा घूमता रहता है और इस धरतीतल को ही वह योगी देखा करता है। उसे रात्रि में, दोपहर में तथा संध्या के समय घूमना नहीं चाहिए तथा शून्य स्थान में या किसी किले में जहाँ प्राणियों के लिए अवरोध खड़ा होता हो, वहाँ भी नहीं घूमना चाहिए। उसे गाँव में एक दिन तक, कस्बे में तीन दिनों तक, पुर में दो दिनों तक और नगर में पाँच रात तक रहना चाहिए। और वर्षा ऋतु में एक स्थान में रहना चाहिए। पर वह स्थान ऐसा हो कि जहाँ पवित्र जल प्रवहमाण हो।

आत्मवत्सर्वभूतानि पश्यन्भिक्षुश्चरेन्महीम्।
अन्धवत्कुब्जवच्चैव बधिरोन्मत्तमूकवत् ॥21॥
स्नानं त्रिषवणं प्रोक्तं बहूदकवनस्थयोः।
हंसे तु सकृदेव स्यात्परहंसे न विद्यते ॥22॥
मौनं योगासनं योगस्तितिक्षैकान्तशीलता।
निःस्पृहत्वं समत्वं च सप्तैतान्येकदण्डिनाम् ॥23॥
परहंसाश्रमस्थो हि स्नानादेरविधानतः।
अशेषचित्तवृत्तीनां त्यागं केवलमाचरेत् ॥24॥

सभी प्राणियों को अपनी ही आत्मा की तरह जानकर वह भिक्षु भूमि पर विचरण करता रहता है। वह अन्धे की तरह, मूर्ख की तरह अथवा बहरे और पागल की तरह बर्ताव करता है। यों तो बहूदक या वन में रहने वाले संन्यासियों के लिए तीन बार का (त्रिकाल का) स्नान विहित है लेकिन हंसयोगी

के लिए सिर्फ एक बार का स्नान और परमहंस के लिए तो एक बार का भी स्नान विहित नहीं है। अब एकदंडी संन्यासी के लिए ये सात नियम हैं—मौन, योगासन, योग, तितिक्षा, एकान्तशीलता, निःस्पृहता और समत्व। किन्तु परमहंसावस्था को प्राप्त हुए योगी के लिए तो स्नानादि का कोई विधान नहीं है। क्योंकि उसने तो अशेष चित्तवृत्तियों का त्याग ही कर दिया होता है। वह केवल उस त्याग का ही आचरण करता है।

त्वङ्मांसरुधिरस्नायुमज्जामेदोस्थिसंहतौ।
विण्मूत्रपूये रमतां क्रिमीणां कियदन्तरम् ॥25॥
क्व शरीरमशेषाणां श्लेष्मादीनां महाचयः।
क्व चाङ्गशोभा सौभाग्यकमनीयादयो गुणाः ॥26॥
मांसासृक्पूयंविण्मूत्रस्नायुमज्जास्थिसंहतौ।
देहे चेत्प्रीतिमान्मूढो भविता नरकेऽपि सः ॥27॥
स्त्रीणामवाच्यदेशस्य क्लिन्ननाडीव्रणस्य च।
अभेदेऽपि मनोभेदाज्जनः प्रायेण वञ्च्यते ॥28॥

त्वचा, मांस, रक्त, स्नायु, मज्जा, मेद और हड्डियों के समूहरूप देह में रममाण मनुष्यों में तथा विष्टा और मूत्र में ही खेलने वाले कीड़ों में भला क्या अन्तर है ? अर्थात् कुछ नहीं। कहाँ वास्तव में श्लेष्म आदि दूषित पदार्थों का ढेर जैसा यह शरीर और कहाँ इस शरीर की शोभा और रमणीयता आदि कहे गये गुण ? मांस, रक्त, मज्जा, पूय, विष्टा, मूत्र, नाडियाँ, चरबी और हड्डियाँ के समूह वाले इस शरीर से यदि मनुष्य प्रीति करता है, वह तो नरक में ही गिरता है। सड़ी हुई नाडी के घाव और स्त्री के अवाच्यांग (योनि) में कुछ भी भेद न होते हुए भी मन के ही भेद से मनुष्य वंचित होता आया है।

चर्मखण्डं द्विधा भिन्नमपानोद्गारधूपितम्।
ये रमन्ति नमस्तेभ्यः साहसं किमतः परम् ॥29॥
न तस्य विद्यते कार्यं न लिङ्गं वा विपश्चितः।
निर्ममो निर्भयः शान्तः निर्द्वन्द्वोऽवर्णभोजनः ॥30॥
मुनिः कौपीनवासाः स्यान्नग्नो वा ध्यानतत्परः।
एवं ज्ञानपरो योगी ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥31॥
लिङ्गे सत्यपि खल्वस्मिन् ज्ञानमेव हि कारणम्।
निर्मोक्षायेह भूतानां लिङ्गग्रामो निरर्थकः ॥32॥

चमड़ी का टुकड़ा जो दो भागों में विदीर्ण हुआ है और जिसमें से अपानवायु निकलने से दुर्गन्ध आया करती है—ऐसे भाग में (अर्थात् स्त्री की योनि में) जो लोग बहुत रुचि रखते हैं, उन्हें नमस्कार ही है, क्योंकि इससे बड़ा साहस और क्या हो सकता है ? लेकिन जो ज्ञानी है, उसके लिए तो कोई भी कार्य अवशिष्ट नहीं है और न ही उसे अपनी पहचान बनाने के लिए किसी विशेष चिह्न धारण करने की कोई आवश्यकता ही है। वह तो ममत्वरहित, निर्भय, शान्त, निर्द्वन्द्व, जातिवर्ण की भावना से रहित तथा वर्ण की अपेक्षा न रखते हुए कहीं भी भोजन करने वाला होता है। वह ध्यानतत्पर मुनि या तो एकाध वस्त्र को धारण किए हुए होता है, या नग्न ही रहता है। इस प्रकार से ज्ञानपरायण योगी ब्रह्मभाव की प्राप्ति के लिए शक्तिशाली होता है। इसके शरीर पर संन्यासी के चिह्न विशेष होते भी

उसमें ज्ञान ही उसके यतित्व का माध्यम होता है। लोगों को मोक्ष के लिए विविध प्रकार के चिह्नों को धारण करना तो बिल्कुल निरर्थक ही है।

यन्न सन्तं न चासन्तं नाश्रुतं न बहुश्रुतम्।
न सुवृत्तं न दुर्वृत्तं वेद कश्चित्स ब्राह्मणः ॥33॥
तस्मादलिङ्गो धर्मज्ञो ब्रह्मवृत्तमनुव्रतम्।
गूढधर्माश्रितो विद्वानज्ञातचरितं चरेत् ॥34॥
सन्दिग्धः सर्वभूतानां वर्णाश्रमविवर्जितः।
अन्धवज्जडवच्चापि मूकवच्च महीं चरेत् ॥35॥
तं दृष्ट्वा शान्तमनसं स्पृहयन्ति दिवौकसः।
लिङ्गाभावात्तु कैवल्यमिति ब्रह्मानुशासनम् ॥36॥ इति।

जिसके विषय में यह सन्त है या असन्त है, यह शास्त्रज्ञ है या शास्त्रज्ञ नहीं है, इसके कार्य अच्छे हैं या बुरे हैं, इन बातों को जो नहीं जानता, वही सही रूप में ब्राह्मण है। इसलिए किसी चिह्न को धारण न करने वाला, धर्म को ही जानने वाला, वह व्यापक ब्रह्मसत्ता के व्रत का (ध्यान का) पालन करता है। इस प्रकार इस रहस्यमय विद्या की उपासना करते हुए वह अज्ञातवास में ही अपना जीवन बिताए। सभी प्राणियों के लिए संदेह का विषय बना हुआ और वर्ण एवं आश्रमों से रहित बना हुआ वह अन्धे की तरह या जड़ की भाँति अथवा गूँगे की तरह पृथ्वी पर विचरण करता है। उस शान्तमन वाले को देखकर देवलोग भी उसका साहचर्य चाहते रहते हैं। लिंग (चिह्न) के अभाव में भी कैवल्य की प्राप्ति होती है, ऐसा अनुशासन – उपदेश है।

अथ नारदः पितामहं संन्यासविधिं नो ब्रूहीति पप्रच्छ। पितामहस्त-थेत्यङ्गीकृत्यातुरे वा क्रमे वापि तुरीयाश्रमस्वीकारार्थं कृच्छ्रप्रायश्चित्त-पूर्वकमष्टश्राद्धं कुर्याद्देवर्षिदिव्यमनुष्यभूतपितृमात्रात्मेत्यष्टश्राद्धानि कुर्यात्। प्रथमं सत्यवसुसंज्ञकान्विश्वान्देवान्देवश्राद्धे ब्रह्मविष्णुमहेश्व-रानृषिश्राद्धे देवर्षिक्षत्रियर्षिमनुष्यर्षीन् दिव्यश्राद्धे वसुरुद्रादित्यरूपा-न्मनुष्यश्राद्धे सनकसनन्दनसनत्कुमारसनत्सुजातान् भूतश्राद्धे पृथिव्या-दिपञ्चमहाभूतानि चक्षुरादिकरणानि चतुर्विधभूतग्रामान्। पितृश्राद्धे पितृपितामहप्रपितामहान् मातृश्राद्धे मातृपितामहीप्रपितामहीरात्मश्राद्धे आत्मपितृपितामहान् जीवात्पितृकश्चेत्पितरं त्यक्त्वा आत्मपितामह-प्रपितामहानिति सर्वत्र युग्मक्लृप्त्या ब्राह्मणानर्चयेदेकाध्वरपक्षेऽष्टा-ध्वरपक्षे वा स्वशाखानुगतमन्त्रैरष्टश्राद्धान्यष्टदिनेषु वा एकदिने वा पितृयागोक्तविधानेन ब्राह्मणानभ्यर्च्य भुक्त्यन्तं यथाविधि निर्वर्त्य पिण्डप्रदानानि निर्वर्त्य दक्षिणाताम्बूलैस्तोषयित्वा ब्राह्मणान्प्रेषयित्वा शेषकर्मसिद्ध्यर्थं सप्तकेशान्विसृज्य–'शेषकर्मप्रसिद्ध्यर्थं केशान्सप्ताष्ट वा द्विजः। संक्षिप्य वापयेत्पूर्वं केशश्मश्रुनखानि च'॥ इति।

बाद में नारदजी ने ब्रह्माजी से पुनः पूछा—'हे भगवन्! संन्यास की (क्रमसंन्यास की) विधि क्या है? वह कृपा कर हमें बताइए।' पितामह ने 'अच्छा ठीक है' ऐसा कहकर अपनी स्वीकृति प्रदान की और बोले—आतुर संन्यास हो या क्रमसंन्यास हो, दोनों में पहले तो चतुर्थाश्रम स्वीकार के लिए

आवश्यक कृच्छ्र और प्रायश्चित्तपूर्वक आठ प्रकार के श्राद्ध करने चाहिए। ये अष्टश्राद्ध हैं—देव, ऋषि, दिव्य, मनुष्य, भूत, पितृश्राद्ध, मातृश्राद्ध, आत्मश्राद्ध। सबसे पहले सत्य और वसु देवों का आवाहन करना चाहिए। इसके बाद देवश्राद्ध में ब्रह्मा, विष्णु और महेश का आवाहन करना चाहिए। दूसरे ऋषिश्राद्ध में देवर्षि, राजर्षि तथा मानवर्षियों का आवाहन करना चाहिए। तीसरे दिव्यश्राद्ध में आठ वसुओं, एकादश रुद्रों तथा बारह आदित्यों का आवाहन करना चाहिए। चौथे मनुष्यश्राद्ध में सनक, सनन्दन, सनत्कुमार और सनत्सुजात का आवाहन करना चाहिए। पाँचवें भूतश्राद्ध में पृथ्वी, आकाश, आदि पाँच महाभूतों का आवाहन करना चाहिए। नेत्र आदि सभी इन्द्रियों के साथ चार प्रकार के प्राणीसमुदाय (जरायुज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज) का भी आवाहन करना चाहिए। छठे पितृश्राद्ध में पिता, पितामह और प्रपितामह का आवाहन करना चाहिए। तथा सातवें मातृश्राद्ध में माता, पितामही और प्रपितामही का आवाहन करना चाहिए। आठवें आत्मश्राद्ध में स्वयं अपना, अपने पिता का, तथा अपने पितामह का आवाहन करना चाहिए। आत्मश्राद्ध में पिता अगर जीवित हों, तो उन्हें छोड़कर अपना, पितामह का और प्रपितामह का आवाहन करना चाहिए। प्रत्येक श्राद्ध के लिए दो-दो के क्रम से ब्राह्मणों को निमंत्रित करना चाहिए। आठों श्राद्धों के 'एकाध्वरपक्ष' में अर्थात् आठों श्राद्धों को एक ही यज्ञ का अंग बनाकर करने से प्रत्येक श्राद्ध के लिए दो-दो के क्रम से ब्राह्मणों को निमंत्रित करना चाहिए तथा विधिपूर्वक उनका पूजन करना चाहिए। और यदि अष्टाध्वर का प्रसंग हो, अर्थात् आठों श्राद्ध अलग-अलग यज्ञरूप में सम्पन्न किए जाने का प्रसंग हो, तब इस प्रकार की परिस्थिति में अपनी शाखा में आए हुए मंत्रों द्वारा इन आठ प्रकार के श्राद्धों को आठ दिन में या फिर एक दिन में ही पूर्ण करना चाहिए। श्राद्धकल्प में कहे गए नियमानुसार ब्राह्मणों के पूजन-संस्कार से लेकर भोजन आदि सभी कर्तव्य पूर्ण करके पिण्डदान करना चाहिए। इसके बाद दक्षिणा, ताम्बूल आदि से सन्तुष्ट कर उन्हें बिदा करके अन्य शेष कार्य की सिद्धि के लिए सात या आठ बालों को छोड़कर शेष बालों को मुँडवा लेना चाहिए। साथ ही साथ दाढ़ी-मूँछ भी कटवा देनी चाहिए।

सप्तकेशान्संरक्ष्य कक्षोपस्थवर्जं क्षौरपूर्वकं स्नात्वा सायंसन्ध्यावन्दनं निर्वर्त्य सहस्रगायत्रीं जप्त्वा ब्रह्मयज्ञं निर्वर्त्य स्वाधीनाग्निमुपस्थाप्य स्वशाखोपसंहरणं कृत्वा तदुक्तप्रकारेणाज्याहुतिमाज्यभागान्तं हुत्वा-हुतिविधिं समाप्यात्मादिभिस्त्रिवारं सक्तुप्राशनं कृत्वाचमनपूर्वकमग्निं संरक्ष्य स्वयमग्नेरुत्तरतः कृष्णाजिनोपरि स्थित्वा पुराणश्रवणपूर्वकं जागरणं कृत्वा चतुर्थयामान्ते स्नात्वा तदग्नौ चरुं श्रपयित्वा पुरुषसूक्ते-नान्नस्य षोडशाहुतीर्हुत्वा विरजाहोमं कृत्वा अथाचम्य सदक्षिणं वस्त्रं सुवर्णपात्रं धेनुं दत्त्वा समाप्य ब्रह्मोद्वासनं कृत्वा।

'सं मा सिञ्चन्तु मरुतः समिन्द्रः सं बृहस्पतिः। सं मायमग्निः सिञ्चत्वा-युषा च धनेन च बलेन चायुष्मान्तं करोतु मा' इति।

'या ते अग्ने यज्ञिया तनूस्तयेह्यारोहात्मात्मानम्। अच्छा वसूनि कृण्वन्नस्मे नर्या पुरूणि। यज्ञो भूत्वा यज्ञमासीद त्वां योनिं जातवेदो भुव आजायमानः स क्षय एधि'।

इत्यनेनाग्निमात्मन्यारोप्य ध्यात्वाग्निं प्रदक्षिणनमस्कारपूर्वकमुद्वास्य प्रातःसन्ध्यामुपास्य सहस्रगायत्रीपूर्वकं सूर्योपस्थानं कृत्वा नाभिदघ्नो-दकमुपविश्याष्टदिक्पालकार्घ्यपूर्वकं गायत्र्युद्वासनं कृत्वा सावित्रीं

व्याहृतिषु प्रवेशयित्वा। अहं वृक्षस्य रेरिव। कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव। ऊर्ध्वपवित्रो वागिनीव स्वमृतमस्मि। द्रविणं मे सवर्चसं सुमेधा अमृतोऽक्षितः। इति त्रिशङ्कोर्वेदानुवचनम्। यच्छन्दसामृषभो विश्वरूपः। छन्दोभ्योऽध्यमृतासम्बभूव। स मे इन्द्रो मेधया स्पृणोतु। अमृतस्य देवधारणो भूयासम्। शरीरं मे विचर्षणम्। जिह्वा मे मधुमत्तमा। कर्णाभ्यां भूरि विश्रवम्। ब्रह्मणः कोशोऽसि मेधयापिहितः। श्रुतं मे गोपाय। दारैषणायाश्च वित्तेषणायाश्च लोकेषणायाश्च व्युत्थितोऽहं ॐ भूः संन्यस्तं मया ॐ भुवः संन्यस्तं मया ॐ सुवः संन्यस्तं मया ॐ भूर्भुवः-सुवः संन्यस्तं मयेति मन्द्रमध्यमतालजध्वनिभिर्मनसा वाचोच्चार्याभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः सर्वं प्रवर्तते स्वाहेत्यनेन जलं प्राश्य प्राच्यां दिशि पूर्णांजलिं प्रक्षिप्योंस्वाहेति शिखामुत्पाट्य।

'यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः'॥
'यज्ञोपवीत बहिर्न निवसेस्त्वमन्तः प्रविश्य मध्ये ह्यजस्रं परमं पवित्रं यशो बलं ज्ञानवैराग्यं मेधां प्रयच्छ'।

इति यज्ञोपवीतं छित्त्वा उदकाञ्जलिना सह। ॐ भूः समुद्रं गच्छ स्वाहेत्यप्सु जुहुयात्। ॐ भूः संन्यस्तं मया। ॐ भुवः संन्यस्तं मया। ॐ सुवः सन्यस्तं मयेति त्रिरुक्त्वा त्रिवारमभिमन्त्र्य तज्जलं प्राश्याचम्य ॐ भूः स्वाहेत्यप्सु वस्त्रं कटिसूत्रमपि विसृज्य सर्वकर्मनिवर्तकोऽहमिति स्मृत्वा जातरूपधरो भूत्वा स्वरूपानुसन्धानपूर्वकमूर्ध्वबाहुरुदीचीं गच्छेत्॥37॥

तदनन्तर काँख और उपस्थ के बालों को कभी नहीं कटाना चाहिए। क्षौरकर्म के बाद स्नान अवश्य करना चाहिए। बाद में सायंकाल में ब्रह्मसन्ध्या करके एक हजार गायत्री का जप करना चाहिए। और भी ब्रह्मयज्ञ करके स्वतंत्र अग्नि की स्थापना करनी चाहिए। बाद में, अपनी शाखा का उपसंहार करने के बाद उसमें कहे हुए आज्यभाग पर्यन्त घी की आहुति देनी चाहिए। यज्ञ को पूर्ण विधान से करने के बाद तीन ग्रास सक्तु का प्राशन करना चाहिए। बाद में आचमन से मुखशुद्धि करके अग्निरक्षा के लिए उसमें ईंधनादि डालकर स्वयं अग्नि से उत्तर की तरफ काले चर्म पर बैठ जाय तथा पौराणिक कथाएँ सुनते हुए रात को जागरण करे। रात्रि के चौथे प्रहर के अन्त में स्नान आदि से निवृत्त होकर पूर्वोक्त अग्नि में खीर पकानी चाहिए। बाद में पुरुषसूक्त के सोलह मंत्रों से चरु की (खीर की) सोलह आहुतियाँ अग्नि में डालनी चाहिए। तथा विरजाहोम करके आचमन तथा दक्षिणा सहित वस्त्राभूषण, सोना, गाय और बरतन आदि का दान करना चाहिए और इस प्रकार विधि को पूर्णतः सम्पन्न करना चाहिए। बाद में ब्रह्मा का विसर्जन करके ऊपर दिए गए दो मन्त्रों—(1) 'सं मासिञ्चन्तु······ करोत् मा' तथा (2) 'या ते अग्ने······ स क्षय एधि' के द्वारा अग्नि के आधिदैविक स्वरूप को अपने अन्तरात्मा के भीतर प्रतिष्ठित करना चाहिए। इन दोनों का मन्त्रों का अर्थ इस प्रकार है—(1) 'मरुद्गण, इन्द्र, बृहस्पति एवं अग्निदेव—ये समस्त देवगण मुझपर कल्याण का सिंचन करें।' हे अग्नि देव! आप मुझे आयुष्य, ज्ञानधन तथा साधनादि शक्ति से पूर्ण करें और मुझे लम्बी आयु भी दें।' (2) 'हे अग्निदेव! आपका जो यज्ञों में प्रकट होने वाला स्वरूप है, उसी रूप में आप

यहाँ उपस्थित होने की कृपा करें। तथा हमारे लिए बहुत से मानवोपयोगी अति शुद्ध धन-दौलत का विकास करते हुए, हमारी आत्मा में आत्मरूप से प्रतिष्ठित हो जाएँ। आप यज्ञरूप होकर अपने कारणरूप यज्ञ में स्थित हो जाएँ। हे जातवेदा ! आप पृथिवी से प्रकट होकर अपने धाम के साथ यहाँ प्रतिष्ठित हों।'

तत्पश्चात् अग्निदेव का ध्यान करके प्रदक्षिणा तथा नमस्कारपूर्वक अग्निशाला में अग्नि का विसर्जन कर देना चाहिए। बाद में प्रातः और सायं संध्या के समय भी हजार गायत्री मंत्र जप तथा सूर्योपस्थान करना चाहिए। फिर नाभि प्रदेश तक पानी में जाकर, उसमें बैठकर आठ दिक्पालों को अर्घ्य देना चाहिए। फिर माँ जगदम्बा को विसर्जित करके सावित्री देवी से व्याहृतियों में प्रवेश करने की निम्न मंत्रों से प्रार्थना करनी चाहिए—(1) 'अहं वृक्षस्य रेरिवा.....त्रिशङ्कोर्वेदानुवचनम्' अर्थात् मैं विश्ववृक्ष का उच्छेदक हूँ। मेरा यश गिरिशिखर के समान उच्च है। अन्नोत्पादक सूर्य में व्याप्त अमृत के समान मैं भी अतिपवित्र अमृतरूप ही हूँ। मैं तेजोयुक्त संपदावान उत्तम मेधा से युक्त एवं अमृत से अभिषिक्त हूँ। यह त्रिशंकु ऋषि की ज्ञानानुभूतियुक्त वाणी है। (2) 'यश्छन्दसामृषभो·····भूयासम्।' अर्थात् जिसे वेदों में सर्वश्रेष्ठ सर्वरूप कहा है, वेदों से जिसका विशिष्ट प्राकट्य हुआ है, वह इन्द्र मुझे मेधावी बनाएँ। (3) 'शरीरं मे···गोपाय'। अर्थात् मेरा शरीर स्फूर्तियुक्त हो, जिह्वा मधुरभाषिणी हो, कान अच्छी वाणी सुननेवाले हों। आप मेधावी ब्रह्मा जैसे हैं। मेरे द्वारा सुनी हुई ये वाणियाँ विस्मृत न हों। (4) 'दारैषणयाश्च····सुवः संन्यस्तं मया' अर्थात् मैं स्त्री की, वित्त की और लोककीर्ति की एषणा से ऊपर उठ गया हूँ। मैंने भूलोक का संन्यास पूर्णता से किया है। मैंने भूः (पृथ्वी), भुवः (अन्तरिक्ष) और सुवः (स्वर्ग) के सुखवैभवों का पूर्णतः परित्याग कर दिया है।'—इन प्रार्थनामंत्रों का वाणी के मन्द, मध्यम और उच्च स्वर से अथवा मन-ही-मन उच्चारण करके 'अभयं प्रवर्तते····स्वाहा'—इत्यादि मन्त्रों से जल का आचमन करके (मंत्रार्थ इस प्रकार है—मेरे द्वारा सभी प्राणियों को 'अभय' दिया गया है। मुझमें ही सबकी प्रवृत्ति है) पूर्व दिशा की ओर पूरी अंजलि भरकर जल डालकर, 'ॐ स्वाहा' कहकर शेष रही हुई शिखा के बालों को भी उखाड़ डालना चाहिए। इसके बाद—'यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं·····' इत्यादि मंत्रों के द्वारा यद्योपवीत को तोड़ डालना चाहिए (मन्त्र का भाव यह है—पूर्वकाल में परमपवित्र यह यज्ञोपवीत प्रजापति से जन्मा था वह हमें उत्तम आयु, बल, और तेज दे)। फिर जलांजलि के साथ उसे हाथ में लेकर 'ॐ भूः समुद्रं गच्छ स्वाहा'—इस मंत्र से जल में छोड़कर, बाद में 'ॐ भूः संन्यस्तं मया, ॐ भुवः संन्यस्तं मया, ॐ स्वः संन्यस्तं मया' इस तरह तीन बार इस मंत्र को पढ़कर, तीन बार जल को अभिमंत्रित करके आचमन करने के बाद 'भूः स्वाहा' कहते हुए कटिवस्त्र को भी जल में फेंक देना चाहिए। बाद में अपने किए समस्त कर्मों के त्याग को याद करके वस्त्ररहित होकर अपने आत्मस्वरूप का चिन्तन करते हुए, बाँह को ऊपर उठाकर उत्तर दिशा की ओर जाना चाहिए।

पूर्ववद्विद्वत्संन्यासी चेद् गुरोः सकाशात् प्रणवमहावाक्योपदेशं प्राप्य यथासुखं विहरन् मत्तः कश्चिन्नान्यो व्यतिरिक्त इति फलपत्रोदकाहारः पर्वतवनदेवालयेषु सञ्चरेत्संन्यस्याथ दिगम्बरः सकलसञ्चारकः सर्वदा-नन्दस्वानुभवैकपूर्णहृदयः कर्मातिदूरलाभः प्राणायामपरायणः फलरस-त्वक्पत्रमूलोदकैर्मोक्षार्थी गिरिकन्दरेषु विसृजेद्देहं स्मरंस्तारकम् ॥38॥

यदि पहले की तरह विद्वत्संन्यासी हो, तो गुरु के पास से प्रणव एवं महावाक्यों का उपदेश पाकर यथेच्छ विहार करना चाहिए। पागल की तरह 'मेरे सिवा यहाँ कोई है ही नहीं' ऐसा मानना चाहिए।

भोजन में उसे फल, पत्र, पानी ग्रहण करना चाहिए। पर्वतों, वनों और देवालयों में वास करना चाहिए। संन्यास लेकर, वस्त्रविहीन होकर सर्वत्र घूमते हुए उसको हमेशा ही आनन्द की स्वानुभूति से भरे हुए हृदयवाला होना चाहिए। कर्मों से अतिदूर रहने में ही लाभ मानना चाहिए। प्राणायामपरायण रहना चाहिए। फल-फूलों के रस, छिलके, पत्ते, मूल, जड और पानी से ही जीवन बिताते हुए उस मोक्षार्थी को तारकमंत्र का जाप करते हुए ही पर्वत की गुफाओं में देह को त्याग देना चाहिए।

विविदिषासंन्यासी चेच्छतपथं गत्वाचार्यादिभिर्विप्रैस्तिष्ठ तिष्ठ महाभाग दण्डं वस्त्रं कमण्डलुं ग्रहाण प्रणवमहावाक्यग्रहणार्थं गुरुनिकट-मागच्छेत्याचार्यैर्दण्डकटिसूत्रकौपीनं शाटीमेकां कमण्डलुं पादादि-मस्तकप्रमाणमव्रणं समं सौम्यमकालपृष्ठं सलक्षणं वैणवं दण्डमेकमा-चमनपूर्वकं 'सखा मा गोपायौजः सखायोऽसीन्द्रस्य वज्रोऽसि वार्त्रघ्नः शर्म मे भव यत्पापं तन्निवारयेति दण्डं परिग्रहेज्जगज्जीवनं जीवना-धारभूतं मा ते मा मन्त्रयस्व सर्वदा सर्वसौम्येति प्रणवपूर्वकं कमण्डलुं परिगृह्य कौपीनाधारं कटिसूत्रमोमिति गुह्याच्छादनं कौपीनमोमिति शीतवातोष्णत्राणकरं देहैकरक्षणमोमिति कटिसूत्रकौपीनवस्त्रमाचमन-पूर्वकं योगपट्टाभिषिक्तो भूत्वा कृतार्थोऽहमिति मत्वा स्वाश्रमाचारपरो भवेदित्युपनिषत् ॥39॥

इति चतुर्थोपदेशः।

यदि ज्ञान की प्राप्ति की इच्छा से संन्यास धर्म का वरण किया गया हो, तब वह सौ कदम आगे चलने के बाद आचार्यों-गुरुजनों के द्वारा इस प्रकार बुलाये जाने पर कि—'हे महाभाग! ठहरो ठहरो; यह कमण्डलु, वस्त्र और दण्ड धारण करो'। तुम्हें ॐकार और महावाक्यों के उपदेश के लिए गुरु के पास जाना चाहिए। गुरु के समीप जाने के बाद, गुरुजनों एवं आचार्यों द्वारा दिए जाने पर ही वह दण्ड, कटिसूत्र, कौपीन, एक चादर तथा एक कमण्डलु अपने पास रखता है। वह दण्ड बाँस का ही होना चाहिए और उसकी ऊँचाई सिर से लेकर पैरों तक की होनी चाहिए। वह खरौंच तथा छेद से रहित होना चाहिए। वह चिकना तथा श्रेष्ठ लक्षणों से युक्त होना चाहिए। उस दण्ड का रंग काला नहीं होना चाहिए। इन सभी वस्तुओं के ग्रहण करने से पहले आचमनादि करना चाहिए और निधारित मंत्र 'सखा मा गौपायौजः····· तन्निवारय'—पढ़कर हाथ में दण्ड ग्रहण करना चाहिए। इसके बाद, 'जगज्जीवनं·····सर्वसौम्य' मन्त्र के साथ ॐकार का उच्चारण कर कमण्डलु को धारण करना चाहिए। बाद में 'गुह्याच्छादनं कौपीनम्' बोलकर कौपीन धारण करना चाहिए। और 'शीतवातोष्णत्राणकरं देहैकरक्षणकरमोम्' यह बोलकर ही वस्त्र धारण करना चाहिए। इसके बाद योगपट्टाभिषिक्त हो 'अब मैं कृतकृत्य हो गया'—ऐसा मानता हुआ अपने आश्रम के उचित सदाचार के पालन में वह संलग्न हो जाना चाहिए। इतना ही उपदेश है।

यहाँ चतुर्थोपदेश पूरा हुआ।

❋

पञ्चमोपदेशः

अथ हैनं पितामहं नारदः पप्रच्छ भगवन्सर्वकर्मनिवर्तकः संन्यास इति त्वयैवोक्तः पुनः स्वाश्रमाचारपरो भवेदित्युच्यते। ततः पितामह उवाच —शरीरस्य देहिनो जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुरीयावस्थाः सन्ति। तदधीनाः कर्मज्ञानवैराग्यप्रवर्तकाः पुरुषा जन्तवस्तदनुकूलाचाराः सन्ति। तथैव चेद्भगवन्संन्यासाः कतिभेदास्तदनुष्ठानभेदाः कीदृशास्तत्त्वतोऽस्माकं वक्तुमर्हसीति तथेत्यङ्गीकृत्य तु पितामहेन ॥1॥

अब पितामह ब्रह्माजी से नारद ने पूछा—हे भगवन्! आपने तो संन्यास को सर्वकर्मनिर्वतक कहा है अब फिर ऐसा क्यों कहते हैं कि उसे अपने आश्रमानुकूल आचार पालने चाहिए। तब पितामह बोले—इस शरीर को धारण करने वाले देही (आत्मा) की जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय अवस्थाएँ होती हैं। और कर्म-ज्ञान-वैराग्य का प्रवर्तन करने वाले सभी मनुष्य उन अवस्थाओं के अधीन ही रहते हैं। सभी प्राणी भी (जन्तु तक भी) वैसे ही रहते हैं। तब नारद ने पूछा—'हे भगवन्! यदि ऐसा ही है, तब फिर संन्यास के कितने भेद हैं? उनके अनुष्ठानों के भेद कैसे-कैसे हैं? यह सब हमें आप बताइए। तब पितामह ने 'ठीक है' इस प्रकार स्वीकार करते हुए कहा—

संन्यासभेदैराचारभेदः कथमिति चेत् तत्त्वस्त्वेक एव संन्यास अज्ञाने-नाशक्तिवशात्कर्मलोपतश्च त्रैविध्यमेत्य वैराग्यसंन्यासो ज्ञानसंन्यासो ज्ञानवैराग्यसंन्यासः कर्मसंन्यासश्चेति चातुर्विध्यमुपागतः ॥2॥

हे नारद! संन्यास के भेद से आचारभेद में क्या अन्तर आता है, यदि ऐसा पूछते हो तो मैं बताता हूँ, सुनो! वास्तव में तो संन्यास का एक ही प्रकार है, पर ज्ञानरहित होने के कारण असामर्थ्यवश तथा कर्मलोप से तीन भेदों में बँटकर वैराग्यसंन्यास, ज्ञानसंन्यास, वैराग्यज्ञानसंन्यास और कर्मसंन्यास इन चार प्रकारों वाला हो जाता है।

तद्यथेति दुष्टमदनाभावाच्चेति विषयवैतृष्ण्यमेत्य प्राक्पुण्यकर्मवशात् संन्यस्तः स वैराग्यसंन्यासी ॥3॥
शास्त्रज्ञानात् पापपुण्यलोकानुभवश्रवणात् प्रपञ्चोपरतः क्रोधेर्ष्यासूया-हङ्काराभिमानात्मकसर्वसंसारं निर्वृत्य दारेषणाधनेषणालोकेषणात्मक-देहवासनां शास्त्रवासनां लोकवासनां त्यक्त्वा वमनान्नमिव प्रकृतीयं सर्वमिदं हेयं मत्वा। साधनचतुष्टयसम्पन्नो यः संन्यस्यति स एव ज्ञानसंन्यासी ॥4॥

मन में दुष्ट भावनाओं का अभाव होने पर या विषयों में वितृष्णाभाव आ जाने से पूर्वजन्म के पुण्यों के कारण जो संन्यास लिया जाता है, वह 'वैराग्यसंन्यास' कहा जाता है। अब ज्ञानसंन्यासी वह है, जो शास्त्रों के ज्ञान से पाप और पुण्य के लोकों के अनुभव और श्रवण से इस संसार-प्रपंच से उपरत हो गया हो। जो क्रोध, ईर्ष्या, असूया, अहंकार, अभिमान से लिप्त इस संसार से हट गया हो तथा पुत्रैषणा, धनैषणा और लोकैषणा और स्त्री-एषणारूपी देह की वासना को, शास्त्रवासना और कीर्ति की वासना को भी वमन किए हुए अन्न की तरह छोड़ देता है तथा यह सब प्रकृति का ही है, इसीलिए यह सब त्याज्य ही है, ऐसा मानते हुए जो साधन-चतुष्टय से सम्पन्न होकर संन्यास लेता है, वह ज्ञानसंन्यासी है।

क्रमेण सर्वमभ्यस्य सर्वमनुभूय ज्ञानवैराग्याभ्यां स्वरूपानुसन्धानेन देहमात्रावशिष्टः संन्यस्य जातरूपधरो भवति स ज्ञानवैराग्य-संन्यासी ॥5॥

ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भूत्वा वानप्रस्थाश्रममेत्य वैराग्यभावेऽप्याश्रम-क्रमानुसारेण यः संन्यस्यति स कर्मसंन्यासी ॥6॥

अब ज्ञानवैराग्यसंन्यासी वह है जो क्रमशः सबका अभ्यास करते हुए ज्ञान और वैराग्य से स्वरूपानुसन्धान द्वारा बालक की तरह निर्दोष और निर्दश-निष्कपट-निश्छल हो जाता है, उसे ज्ञानवैराग्यसंन्यासी कहा जाता है। जो मनुष्य ब्रह्मचर्य को समाप्त करके गृहस्थी होकर, बाद में वानप्रस्थी होकर वैराग्य भाव हो जाने पर आश्रम के क्रमानुसार ही संन्यास लेता है, वह कर्मसंन्यासी कहा जाता है।

ब्रह्मचर्येण संन्यस्य संन्यासाज्जातरूपधरो वैराग्यसंन्यासी। विद्वत्सं-न्यासी ज्ञानसंन्यासी विविदषासंन्यासी कर्मसंन्यासी ॥7॥

अथवा ब्रह्मचर्य के तुरन्त बाद संन्यास लेकर उस संन्यास से शिशुवत् निर्दोष निश्छल हो जाने वाला वैराग्यसंन्यासी कहा जाता है विद्वत्संन्यासी ही ज्ञानसंन्यासी है, और विविदिषासंन्यासी ही कर्मसंन्यासी है।

कर्मसंन्यासोऽपि द्विविधः निमित्तसंन्यासोऽनिमित्तसंन्यासश्चेति। निमित्तस्त्वातुरः। अनिमित्तः क्रमसंन्यासः। आतुरः सर्वकर्मलोपः प्राणस्योत्क्रमणकालसंन्यासः सनिमित्तसंन्यासः। दृढाङ्गो भूत्वा सर्वं कृतकं नश्वरमिति देहादिकं सर्वं हेयं प्राप्य ॥8-9॥

हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्। नृषद्वरसदृतसद्-व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत् ॥10॥

कर्मसंन्यास भी दो प्रकार का होता है—निमित्तसंन्यास और अनिमित्तसंन्यास। निमित्तसंन्यास ही आतुरसंन्यास है और अनिमित्त ही क्रमसंन्यास है। किसी रोग के कारण पीडित व्यक्ति के जब सभी कर्मों का लोप होता है अर्थात् जब कर्म किए ही नहीं जा सकते हों, तब प्राणों के जाने के समय ही संन्यास लिया जाए, उसी को निमित्तसंन्यास कहते हैं! परन्तु, शरीर के बलवान होने पर सब प्रपंच कृतक होने से मिथ्या ही है, इस प्रकार अपने देहादिक सबको त्याज्य समझ लेता है—"यह परमात्मा आकाश में विचरण करने वाला हंस है (सूर्य है), वही अन्तरिक्ष में स्वेच्छाविहारी वसु है। वही होता है और वही यज्ञवेदी पर प्रतिष्ठित अग्नि है। सद्गृहस्थों के भवनों में आतिथ्यरूप में आश्रय करने वाला भी यही है। उसी की सत्ता पुरुषों में सर्वोत्तम है। उत्तमोत्तम और अनुपम वस्तुओं में उसी का अस्तित्व है। शाश्वत सत्य में उसी का वास है। आकाश में वही सत्यरूप है। जल से भी वही प्रादुर्भूत होता है। वही गो-पृथ्वी-वाणी से उत्पन्न होता है। सत्य से भी उसी का प्राकट्य होता है। वही पर्वतों से उत्पन्न होकर इन सभी से भिन्न अतिविलक्षण एकमात्र महान् सत्ता है"।

ब्रह्मव्यतिरिक्तं सर्वं नश्वरमिति निश्चित्याथो क्रमेण यः संन्यस्यति स संन्यासोऽनिमित्तसंन्यासः ॥11॥

इस प्रकार पूर्व मन्त्रोक्त-भावानुसार जो मनुष्य केवल परब्रह्म परमात्मा को ही सत्यस्वरूप जानता

है, और ब्रह्म से अलग सब कुछ नश्वर ही है ऐसा मानता है, और क्रमानुसार संन्यास में प्रवेश करता है, उसका संन्यास अनिमित्तसंन्यास कहा जाता है।

संन्यासः षड्विधो भवति। कुटीचको बहूदको हंसः परमहंसः तुरीयातीतोऽवधूतश्चेति ॥12॥

कुटीचकः शिखायज्ञोपवीती दण्डकमण्डलुधरः कौपीनकन्थाधरः पितृमातृगुर्वाराधनपरः पिठरखनित्रशिक्यादिमन्त्रसाधनपरः एकत्रान्नादनपरः श्वेतोर्ध्वपुण्ड्रधारी त्रिदण्डः।

बहूदकः शिखादिकन्थाधरस्त्रिपुण्ड्रधारी कुटीचकवत्सर्वसमो मधुकरवृत्त्याष्टकवलाशी ॥13॥

हंसो जटाधारी त्रिपुण्ड्रोर्ध्वपुण्ड्रधारी असंक्लृप्तमाधूकरान्नाशी कौपीनखण्डतुण्डधारी ॥14॥

परमहंसः शिखायज्ञोपवीतरहितः पञ्चगृहेष्वेकरात्रान्नादनपरः करपात्री एककौपीनधारी शाटीमेकामेकं वैणवं दण्डमेकशाटीधरो वा भस्मोद्धूलनपरः सर्वव्यापी ॥15॥

संन्यासी के छः भेद इस प्रकार कहे गए हैं—(1) कुटीचक, (2) बहूदक, (3) हंस, (4) परमहंस, (5) तुरीयातीत और (6) अवधूत। इनमें कुटीचक संन्यासी शिखा और यज्ञोपवीत को धारण करता है, दण्ड और कमण्डलु भी अपने पास रखता है, कौपीन तथा गुदड़ी भी रखता है और अपने माता, पिता, गुरु की आज्ञा का पालन और उनकी सेवा में परायण रहता है। वह हमेशा बरतन, कुदाली और झोली को अपने साथ रखता है। यह सदा मन्त्र साधना करता रहता है। सदा एक ही स्थान में वह भोजन लेने का आग्रही होता है। वह ललाट में सफेद ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करता है और त्रिदण्ड को धारण करता है। बहूदक संन्यासी भी शिखादि तथा कन्थादि को धारण करता है, त्रिपुण्ड्र को धारण करता है, और ऊर्ध्वपुण्ड्र को भी धारण करता है। कुटीचक संन्यासी की ही तरह अन्य सब बातों में समान ही होता है। और वह अलग-अलग घरों से माधुकरी प्राप्त कर प्रतिदिन के मात्र आठ कवल (ग्रास) ही भोजन करता है। अब हंस संन्यासी जटाजूट को धारण किए हुए होता है, त्रिपुण्ड्र और ऊर्ध्वपुण्ड्र को धारण करता हैं, उसके रोज के भिक्षा माँगने के घर अनिश्चित होते हैं, पर खाता तो वह भिक्षान्न ही है। वह कौपीन का टुकड़ा और तुम्बीपात्र अपने पास रखता है। परमहंस संन्यास वह है जो शिखा और यज्ञोपवीत को छोड़कर, हररोज पाँच घरों में भिक्षा माँगकर खाता है (रोज ही घर बदले जाते हैं, हाथ ही उसके पात्र होते हैं)। वह एक कौपीन, ओढने का वस्त्र, तथा बाँस का एक दण्ड लेता है। उसका शरीर या तो भस्म से और या तो चादर से लिपटा हुआ होता है।

तुरीयातीतो गोमुखः फलाहारी अन्नाहारी चेद्गृहत्रये देहमात्रावशिष्टो दिगम्बरः कुणपवच्छरीरवृत्तिकः ॥16॥

अवधूतस्त्वनियमोऽभिशस्तपतितवर्जनपूर्वकं सर्ववर्णेष्वजगरवृत्त्याहारपरः स्वरूपानुसन्धानपरः ॥17॥

आतुरो जीवति चेत्क्रमसंन्यासः कर्तव्यः ॥18॥

कुटीचकबहूदकहंसानां ब्रह्मचर्याश्रमादितुरीयाश्रमवत् कुटीचकादीनां संन्यासविधिः ॥19॥

तुरीयातीत संन्यासी गाय की तरह यदृच्छा से जो प्राप्त हो उसे खाकर जीवन निर्वाह करता है, वह फल ही खाता है। यदि वह अन्नाहारी भी हो, तो तीन घर की भिक्षा से ही काम चलाता है। शरीर को छोड़कर उसके पास कोई परिग्रह नहीं होता। वह दिगम्बर (नग्न) रहता है वह मुर्दे की तरह अपने शरीर का वर्तन करता है। जो अवधूत होता है, वह तो किसी नियम के अधीन नहीं होता। कलंकित और पथभ्रष्ट लोगों को छोड़कर वह जाति-पाँति के किसी भेद को न मानकर अजगरवृत्ति से जो मिलता है उसी का आहार कर लेता है। और अपने स्वरूप का अनुसन्धान करता रहता है। अब जो आतुर संन्यासी है, वह संन्यास लेने के बाद यदि जीवित रहता है तो उसे क्रमसंन्यास ग्रहण करना चाहिए। कुटीचक, बहूदक और हंस संज्ञक तीन संन्यासियों को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ—इस क्रम से ही संन्यास का अधिकार है। अर्थात् उन्हें तो क्रमानुसार ही संन्यास लेना चाहिए (यह साधारण नियम है)।

परमहंसादित्रयाणां न कटीसूत्रं न कौपीनं न वस्त्रं न कमण्डलुर्न दण्डः। सार्ववर्णैकभैक्षाटनपरत्वं जातरूपधरत्वं विधिः। संन्यासकालेऽप्यलं-बुद्धिपर्यन्तमधीत्य तदनन्तरं कटीसूत्रं कौपीनं दण्डं वस्त्रं कमण्डलुं सर्वमप्सु विसृज्याथ जातरूपधरश्चरेन्न कन्थावेशो नाध्येतव्यो न वक्तव्यो न श्रोतव्यमन्यत्किञ्चित् प्रणवादन्यं न तर्कं पठेन्न शब्दमपि बृहच्छब्दान्ना-ध्यापयेन्न महद्वाचो विग्लापनं गिरा पाण्यादिना सम्भाषणं नान्यस्माद् वा विशेषेण न शूद्रस्त्रीपतितोदक्यासम्भाषणं न यतेर्देवपूजा नोत्सवदर्शनं तीर्थयात्रावृत्तिः ॥20॥

परमहंस, तुरीयातीत और अवधूत—इन तीनों को कटिसूत्र, कौपीन, वस्त्र, कमण्डलु और दण्ड रखने की कोई आवश्यकता नहीं है। जातिपाँति के किसी भेदभाव के बिना ही उन्हें भिक्षाटन करना चाहिए। नग्न या बच्चों जैसे निश्छल रहना चाहिए। यही उनके लिए विधि है। संन्यास काल में भी 'इतना अध्ययन मेरे लिए पर्याप्त है।' यह भाव मन में जहाँ तक आए तब तक उसे अध्ययन करते रहना चाहिए। फिर अध्ययन के बाद कटिसूत्र, कौपीन, दण्ड, वस्त्र, कमण्डलु—इन सब चीजों को पानी में छोड़कर जातरूपधर (निश्छल-निष्कपट) रहते हुए बिना कन्था लिए घूमते रहना चाहिए। उसे तब पढ़ना नहीं चाहिए न ही उसे भाषण देना चाहिए। उसे तब कुछ सुनना भी नहीं चाहिए। केवल प्रणव ही सुनना चाहिए। उसे तब न तर्क पढ़ना चाहिए, न शब्दशास्त्र। महान् शब्दों का अध्यापन नहीं करना चाहिए। विशालता भी नहीं—बुद्धि भी नहीं—ये सब तो केवल वाणी का विलास है। उसे किसी के साथ संकेतों से (हाथ-पैर के भावों से) भी बातचीत नहीं करनी चाहिए। स्त्री, शूद्र, पतिता और रजस्वला के साथ तो उसे भूलकर भी भाषण नहीं करना चाहिए। इस संन्यासी के लिए देवपूजा, उत्सवपूजा और तीर्थयात्रा आदि करना जरूरी नहीं माना गया है।

पुनर्यतिविशेषः। कुटीचकस्यैकत्र भिक्षा बहूदकस्यासंक्लृप्तं माधुकरं हंसस्याष्टगृहेष्वष्टकवलं परमहंसस्य पञ्चगृहेषु करपात्रं फलाहारो गोमुखं तुरीयातीतस्यावधूतस्याजगरवृत्तिः सार्ववर्णिकेषु यतिर्नैकरात्रं वसेन्न कस्यापि नमेत् तुरीयातीतावधूतयोर्न ज्येष्ठो यो न स्वरूपज्ञः। स ज्येष्ठोऽपि कनिष्ठो हस्ताभ्यां नद्युत्तरणं न कुर्यान्न वृक्षमारोहेन्न यानादि-रूढो न क्रयविक्रयपरो न किञ्चिद्विनिमयपरो न दाम्भिको नानृतवादी न

यतः किञ्चित्कर्तव्यमस्ति चेत्साङ्कर्यम्। तस्मान्मननादौ संन्यासिना-मधिकारः ॥21॥

अब फिर से संन्यासियों की विशेषता बताकर नियमादि कहे जाते हैं—कुटीचक की भिक्षा एक स्थानविशेष पर होती है, बहूदक की अनियत स्थान पर होती है, हंस की आठ घरों से आठ ग्रास की होती है, परमहंस की पाँच घरों से होती है, हाथ ही उसका पात्र होता है, फल ही उसका आहार होता है। तुरीयातीत के लिए गाय के मुख से समान यदृच्छया प्राप्त भिक्षा होती है और अवधूत के लिए अजगरवृत्ति की-सी भिक्षा होती है। उसमें जातिपाँति का कोई भेद नहीं होता। सभी वर्णों के लोगों के साथ यति को एक रात तक नहीं रहना चाहिए। उसको किसी को नमन नहीं करना चाहिए। तुरीय और अवधूत में से जिसने स्वरूप को नहीं जाना, वह बड़ा होते हुए भी छोटा ही है। यति को तैरकर नदी नहीं पार करना चाहिए। उसे वृक्षपर भी नहीं चढ़ना चाहिए। वाहन में भी उसे नहीं बैठना चाहिए। उसे क्रय-विक्रय भी नहीं करना चाहिए। उसे किसी प्रकार का लेन-देन नहीं करना चाहिए। उसे दम्भ नहीं करना चाहिए। उसे झूठ नहीं बोलना चाहिए। यति के लिए कोई भी कर्तव्य शेष नहीं रह जाता, यदि शेष रहा तब तो संकर दोष आएगा। अतः संन्यासियों का मनन में ही अधिकार है, यह बात सिद्ध हो ही जाती है।

आतुरकुटीचकयोर्भूर्लोकभुवर्लोकौ बहूदकस्य स्वर्गलोको हंसस्य तपो-लोकः परमहंसस्य सत्यलोकस्तुरीयातीतावधूतयोः स्वात्मन्येव कैवल्यं स्वरूपानुसन्धानेन भ्रमरकीटन्यायवत् ॥22॥
यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेव समाप्नोति नान्यथा श्रुतिशासनम् ॥23॥

आतुर और कुटीचक संन्यासी भूर्लोक को और भुवर्लोक को प्राप्त करते हैं, जबकि बहूदक स्वर्ग लोक को प्राप्त करता है। हंस के लिए तपोलोक गन्तव्य होता है और परमहंस के लिए सत्यलोक होता है। तुरीयातीत और अवधूत के लिए अपने ही आत्मा में कैवल्यस्वरूप का अनुभव हो जाता है। मृत्यु के समय में जिस-जिस भाव का स्मरण करते हुए मनुष्य देह छोड़ता है, उस-उस भाव को वह प्राप्त होता है। यह श्रुति का शासन अन्यथा (वृथा) नहीं है।

तदेवं ज्ञात्वा स्वरूपानुसन्धानं विनान्यथाचारपरो न भवेत् तदाचार-वशात् तत्तल्लोकप्राप्तिर्ज्ञानवैराग्यसम्पन्नस्य स्वस्मिन्नेव मुक्तिरिति न सर्वत्राचारप्रसक्तिस्तदाचारः। जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिष्वेकशरीरस्य जाग्र-त्काले विश्वः स्वप्नकाले तैजसः सुषुप्तिकाले प्राज्ञः अवस्थाभेदादव-स्थेश्वरभेदः। कार्यभेदात्कारणभेदस्तासु चतुर्दशकरणानां बाह्यवृत्त-योऽन्तर्वृत्तयस्तेषामुपादानकारणम्। वृत्तयश्चत्वारः मनोबुद्धिरहङ्कार-श्चित्तं चेति। तत्तद् वृत्तिव्यापारभेदेन पृथगाचारभेदः ॥24॥

अतः इस प्रकार जानकर संन्यासी को अपने आत्मस्वरूप के अनुसन्धान के अतिरिक्त किसी अन्य उपाय के साथ संलग्न नहीं रहना चाहिए। अलग-अलग आचार के कारण उस-उस आचारानुकूल लोकों की प्राप्ति होती है। परन्तु ज्ञान और वैराग्य से सम्पन्न पुरुष को अपने में ही मुक्ति होती है, इसलिए सभी जगह पर आचार की आसक्ति नहीं होती। और ऐसी अनासक्ति ही उसका आचार है। वह जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति में एक ही शरीरवाला (एक ही स्वरूपवाला) होता है।

जाग्रत अवस्था वह विश्वरूप होता है, और वही स्वप्नकाल में तैजस होता है और सुषुप्तिकाल में वही प्राज्ञ होता है। काल के ही भेद से उन-उन अवस्था के स्वामी का भेद दीखता है। कार्यभेद से कारण का भेद होता है। जाग्रदादि अवस्थाओं में चौदह कारणों की जो बाह्य वृत्तियाँ हैं, उनका उपादानकारण अन्तर्वृत्तियाँ हैं। (ये चौदह बाह्यवृत्तियाँ—5 ज्ञानेन्द्रियाँ + 5 कर्मेन्द्रियाँ + 4 अन्तःकरण = 14 हैं)। उपादानभूत अन्तःकरण की चार वृत्तियाँ हैं—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। उस-उस वृत्ति के व्यापारभेद से अलग-अलग आचारभेद होता है।

नेत्रस्थं जागरितं विद्यात्कण्ठे स्वप्नं समाविशेत्।
सुषुप्तं हृदयस्थं तु तुरीयं मूर्ध्नि संस्थितम्॥25॥

तुरीयमक्षरमिति ज्ञात्वा जागरिते सुषुप्त्यवस्थापन्न इव यद्यच्छ्रुतं यद्यद्दृष्टं तत्तत्सर्वमविज्ञातमिव यो वसेत्तस्य स्वप्नावस्थायामपि तादृगवस्था भवति। स जीवन्मुक्त इति वदन्ति। सर्वश्रुत्यर्थप्रतिपादनमपि तस्यैव मुक्तिरिति। भिक्षुर्नैहिकामुष्मिकापेक्षः। यद्यपेक्षाऽस्ति तदनुरूपो भवति। स्वरूपानुसन्धानव्यतिरिक्तान्यशास्त्राभ्यासैरुष्ट्रकुङ्कुमभारवद् व्यर्थो न योगशास्त्रप्रवृत्तिर्न सांख्यशास्त्राभ्यासो न मन्त्रतन्त्रव्यापारः। इतरशास्त्रप्रवृत्तिर्यतेरस्ति चेच्छवालङ्कारवच्चर्मकारवदतिविदूरकर्माचारविद्यादूरो न प्रणवकीर्तनपरो यद्यत्कर्म करोति तत्तत्फलमनुभवति। एरण्डतैलफेनवदतः सर्वं परित्यज्य तत्प्रसक्तं मनोदण्डं करपात्रं दिगम्बरं दृष्ट्वा परिव्रजेद् भिक्षुः। बालोन्मत्तपिशाचवन्मरणं जीवितं वा न कांक्षेत कालमेव प्रतीक्षेत। निर्देशभृतकन्यायेन परिव्राडिति॥26॥

जाग्रदवस्था के अधिष्ठातादेव नेत्र में हैं, स्वप्नावस्था के अधिष्ठातादेव कण्ठ में तथा सुषुप्तावस्था के अधिष्ठातादेव हृदय में स्थित हैं और तुरीय का स्थान तो मस्तक पर है। यह जो तुरीय है, वह परमात्मा है, उसके स्वरूप को जानकर—वह मैं ही हूँ ऐसा साक्षात्कार करके मनुष्य जाग्रत् अवस्था में भी मानो वह सुषुप्ति अवस्था में ही हो, ऐसा अनुभव करते हुए, पहले जो कुछ सुना गया है, या देखा गया है, उस सबको मानो सुना ही न गया हो और देखा ही न गया हो ऐसा मानकर रहता है; उसकी अवस्था तो स्वप्नावस्था में भी वैसी ही रहेगी। ऐसे मनुष्य को जीवन्मुक्त कहते हैं। सभी श्रुतियों के अर्थ उसकी मुक्ति का ही प्रतिपादन करते हैं। ऐसा भिक्षुसंन्यासी इस लोक या परलोक की अपेक्षा नहीं करता। जैसी उसकी अपेक्षा होती है उसी के अनुरूप वह होता है। और स्वरूपानुसन्धान के सिवा अन्य शास्त्रों के अभ्यास से तो उसकी स्थिति केसर के भार को वहन करने वाले ऊँट की स्थिति जैसी व्यर्थ ही हो जाएगी। ऐसे योगी की (संन्यासी की) योगशास्त्र की ओर कोई प्रवृत्ति नहीं होती, उसको सांख्यशास्त्राभ्यास की भी अपेक्षा नहीं होती। कोई मन्त्रतन्त्र का व्यापार भी उसका नहीं होता। इस प्रकार के यति की किसी इतरशास्त्र में प्रवृत्ति ही नहीं होती और यदि होती है तो वह मुर्दे के अलंकार जैसी ही व्यर्थ होती है। जिस तरह कोई चमार बहुत दूर रहकर काम करता है इस तरह इस संन्यासी को भी बहुत ही दूर रहकर—विद्या से भी बहुत दूर रहकर रहना चाहिए, यहाँ तक कि उसे ॐकार का उच्चारण भी जोर से नहीं करना चाहिए। वह जो-जो काम करता है, वैसा-वैसा ही फल भोगता है अतः ऐरण्ड के तेल के फेन की तरह सब कुछ को मिथ्या ही समझकर, सबको छोड़कर मनोमय दंड को लिए, कररूपी पात्र वाले निर्वस्त्र ऐसे संन्यासी का दर्शन करके इसको भी परिव्रज्या शुरू कर

देनी चाहिए। बालक, पागल या पिशाच की तरह जन्म की या मृत्यु की अपेक्षा (प्रतीक्षा) नहीं करनी चाहिए, किन्तु काल की ही राह देखते रहना चाहिए। जिस प्रकार वैतनिक नौकर समय की प्रतीक्षा करता है, वैसे ही परिव्राजक को समय की प्रतीक्षा करनी चाहिए।

तितिक्षाज्ञानवैराग्यशमादिगुणवर्जितः।
भिक्षामात्रेण जीवी स्यात् स यतिर्यतिवृत्तिहा ॥27॥
न दण्डधारणेन न मुण्डनेन न वेषेण न दम्भाचारेण मुक्तिः ॥28॥
ज्ञानदण्डो धृतो येन एकदण्डी स उच्यते।
काष्ठदण्डो धृतो येन सर्वाशी ज्ञानवर्जितः।
स याति नरकान्घोरान् महारौरवसंज्ञितान् ॥29॥
प्रतिष्ठा सूकरीविष्ठा समा गीता महर्षिभिः।
तस्मादेनां परित्यज्य कीटवत्पर्यटेद्यतिः ॥30॥

जिस संन्यासी में तितिक्षा, ज्ञान, वैराग्य, शम आदि गुण नहीं हैं, वह तो भिक्षामात्र से ही जिन्दगी गुजारता हुआ रहता है, ऐसा संन्यासी तो संन्यासवृत्ति की हत्या करने वाला ही है। सिर्फ दण्ड को धारण करने से या फिर सर मुँडवाने से, अथवा गेरुआ वस्त्र पहन लेने से तो दम्भ का ही आचरण होता है और इस बाह्य परिवेशमात्र से मुक्ति नहीं मिलती। जिसने ज्ञानरूपी दण्ड धारण कर लिया है वह एकदण्डी कहा जाता है, परन्तु जो केवल लकड़ी की लाठी हाथ में लिए होता है, जो सब कुछ खाता है, जिसमें कुछ भी ज्ञान नहीं है, वह तो महारौरव नामक भयंकर नरक में ही वास करता है। महर्षियों ने कहा है कि प्रतिष्ठा तो सुअर की विष्टा जैसी अपवित्र है इसलिए प्रतिष्ठा (कीर्ति) को छोड़कर यति को एक कीड़े की भाँति भ्रमण करते रहना चाहिए।

अयाचितं यथालाभं भोजनाच्छादनं भवेत्।
परेच्छया च दिग्वासाः स्नानं कुर्यात्परेच्छया ॥31॥
स्वप्नेऽपि सो हि युक्तः स्याज्जाग्रतीव विशेषतः।
ईदृक्चेष्टः स्मृतः श्रेष्ठो वरिष्ठो ब्रह्मवादिनाम् ॥32॥
अलाभे न विषादी स्याल्लाभे नैव च हर्षयेत्।
प्राणयात्रिकमात्रः स्यान्मात्रासङ्गविवर्जितः ॥33॥
अभिपूजितलाभांश्च जुगुप्सेतैव सर्वशः।
अभिपूजितलाभैस्तु यतिर्मुक्तोऽपि बध्यते ॥34॥

बिना माँगे ही भोजन या आच्छादन जो कुछ मिल जाय उसी से संन्यासी को निर्वाह करना चाहिए। ऐसा संन्यासी दूसरों की इच्छानुसार ही कपड़े पहनता है, अथवा कपड़े उतार देता है। वह स्नान भी दूसरों की इच्छा से ही करता है। वह जैसे जाग्रत् अवस्था में आत्मस्थ रहता है, वैसे स्वप्नावस्था में भी आत्मस्थ रहता है। इस प्रकार का वर्तन करने वाले को ही ब्रह्मवादियों में वरिष्ठ और श्रेष्ठ कहा गया है। ऐसे यति को भिक्षा न मिलने पर वह खिन्न नहीं होता और भिक्षा के मिलने पर आनन्द में भी नहीं आ जाता। वह तो केवल प्राणयात्रा चलाने का पथिक है। वह मात्राओं के (विषयों के) संग (आसक्ति) से रहित होता है। वह मानापमानादि लाभों की ओर घृणा की दृष्टि से ही देखता है। क्योंकि ऐसे मानापमानादि से तो मुक्त योगी भी बन्धन में पड़ जाता है।

प्राणयात्रानिमित्तं च व्यङ्गारे भुक्तवज्जने ।
काले प्रशस्ते वर्णानां भिक्षार्थं पर्यटेद् गृहात् ॥35॥
पाणिपात्रश्चरन्योगी नासकृद् भैक्षमाचरेत् ।
तिष्ठन्भुञ्ज्याच्चरन्भुञ्ज्यान्मध्येनाचमनं तथा ॥36॥
अब्धिवद् धृतमर्यादा भवन्ति विशदाशयाः ।
नियतिं न विमुञ्चन्ति महान्तो भास्करा इव ॥37॥
आस्येन तु यदाहारं गोवन्मृगयते मुनिः ।
तदा समः स्यात्सर्वेषु सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥38॥

जब रसोईघर व्यंगार – अंगाररहित अर्थात् शान्त हो जाए, जब घर के सभी लोगों ने भोजन ग्रहण कर लिया हो, ऐसे प्रशस्त समय में संन्यासी को अपने घर से भिक्षा के लिए निकलना चाहिए। उसकी वह भिक्षा केवल प्राणयात्रा चलाने के लिए ही होती है। वह संन्यासी हाथ को ही पात्र बनाकर घूमता हुआ बार-बार भिक्षा नहीं माँगता अर्थात् एक बार ही भिक्षा माँगता है। भिक्षा माँगकर वह खड़ा-खड़ा ही खा लेता है, चलते-चलते भी खा लेता है। वह बीच में पानी भी नहीं पीता। ऐसे यति लोग सागर जैसे मर्यादा में रहने वाले होते हैं। वे बड़े महाभाग होते हैं। वे अपनी नियति को कभी छोड़ते नहीं (नियति का उल्लंघन नहीं करते)। वे सूर्य जैसे ही महानुभाव होते हैं। ऐसा मुनि दूसरों के द्वारा खिलाए जाने पर ही अपने मुख से आहार ग्रहण करता है, तब सभी प्राणियों के प्रति उसका समान भाव हो जाता है और वह योगी मुक्ति का अधिकारी हो जाता है।

अनिन्द्यं वै व्रजेद् गेहं निन्द्यं गेहं तु वर्जयेत् ।
अनावृते विशेद् द्वारि गेहे नैवावृते व्रजेत् ॥39॥
पांसुना च प्रतिच्छन्नशून्यागारप्रतिश्रयः ।
वृक्षमूलनिकेतो वा त्यक्तसर्वप्रियाप्रियः ॥40॥
यत्रास्तमितशायी स्यान्निरग्निरनिकेतनः ।
यथालब्धोपजीवी स्यान्मुनिर्दान्तो जितेन्द्रियः ॥41॥
निष्क्रम्य वनमास्थाय ज्ञानयज्ञो जितेन्द्रियः ।
कालकांक्षी चरन्नेव ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥42॥

वह संन्यासी अनिन्द्य घर में ही भिक्षा के लिए जाता है, निन्द्य घर में कभी नहीं जाता। जिस घर का दरवाजा खुला होता है, वहीं जाता है, बन्द दरवाजे वाले मकान में वह नहीं जाता। जो घर धूल से आच्छन्न हो और निर्जन हो, ऐसे घर में उसे आश्रय करना चाहिए। अथवा किसी वृक्ष के मूल में उसे आश्रय लेना चाहिए। जहाँ पर सूर्य अस्त हो, वहाँ पर उसे रहना और सोना चाहिए, इसके सिवा उसका कोई घर नहीं। वह निरग्नि (अग्निहोत्र नहीं करने वाला) होता है। जो कुछ कहीं से मिल जाता है, उसी से वह अपना निर्वाह करता है। वह संयमी और जितेन्द्रिय होता है। जो मुनि काल की राह देखता हुआ हमेशा इस प्रकार विचरण करता है, वह ब्रह्मस्वरूप हो जाता है।

अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा चरति यो मुनिः ।
न तस्य सर्वभूतेभ्यो भयमुत्पद्यते क्वचित् ॥43॥
निर्मानश्चानहङ्कारो निर्द्वन्द्वश्छिन्नसंशयः ।
नैव क्रुध्यति न द्वेष्टि नानृतं भाषते गिरा ॥44॥

पुण्यायतनचारी च भूतानामविहिंसकः ।
काले काले भवेद् भैक्षं कल्प्यते ब्रह्मभूयसे ॥45॥
वानप्रस्थगृहस्थाभ्यां न संसृज्येत कर्हिचित् ।
अज्ञातचर्यां लिप्सेत न चैनं हर्ष आविशेत् ।
अध्वा सूर्येण निर्दिष्टः कीटवद्विचरेन्महीम् ॥46॥

जो मुनि सब प्राणियों को अभय देकर ही घूमता रहता है उसको सभी प्राणियों से कहीं भी भय उत्पन्न नहीं हो सकता। मानरहित, अहंकाररहित, सुखदुःखादि द्वन्द्वरहित और संशयरहित यह मुनि कभी क्रोध नहीं करता, कभी किसी का द्वेष नहीं करता और वाणी से कभी झूठ नहीं बोलता। वह हमेशा पवित्र स्थानों में घूमता रहता है। वह कभी प्राणियों की हिंसा नहीं करता। और इस प्रकार यथा-समय भिक्षा लेता है, वह ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है। वह वानप्रस्थियों और गृहस्थों से किसी प्रकार का संसर्ग नहीं रखता। वह चाहता है कि उसकी दैनंदिन जीवनचर्या सभी से अज्ञात ही रहे। उसको हर्ष का कभी उद्वेग नहीं आता। सूर्य के द्वारा दिखलाए जाने वाले मार्ग पर वह कीड़े की भाँति धरती पर घूमता रहता है, अर्थात् वह रात्रि में भ्रमण नहीं करता।

आशीर्युक्तानि कर्माणि हिंसायुक्तानि यानि च ।
लोकसंग्रहयुक्तानि नैव कुर्यान्न कारयेत् ॥47॥
नासच्छास्त्रेषु सज्जेत नोपजीवेत जीविकाम् ।
अतिवादांस्त्यजेत्तर्कान् पक्षं कञ्चन नाश्रयेत् ॥48॥
न शिष्याननुबध्नीत ग्रन्थान्नैवाभ्यसेद् बहून् ।
न व्याख्यामुपयुञ्जीत नारम्भानारभेत्क्वचित् ॥49॥
अव्यक्तलिङ्गोऽव्यक्तार्थो मुनिरुत्तमबालवत् ।
कविर्मूकवदात्मानं तद्दृष्ट्या दर्शयेन्नृणाम् ॥50॥

कामनाओं से युक्त और हिंसायुक्त जो-जो कार्य हैं, तथा जो लोकसंग्रह के लिए कार्य हैं, उन्हें यह संन्यासी करता भी नहीं है और करवाता भी नहीं है। वह असत् शास्त्रों में आसक्ति नहीं रखता और उनके द्वारा अपनी आजीविका भी नहीं चलाता। अतिवादों को छोड़ देता है और किसी भी पक्ष में वह स्वयं नहीं जुड़ता है। उसे शिष्यमण्डल नहीं खड़ा करना चाहिए। और बहुत से ग्रन्थों को भी वह नहीं पढ़ता। अपने पक्ष की सफलता के लिए किसी भी ग्रन्थ के ऊपर अपनी व्याख्या नहीं करता। उसे किसी यज्ञादि कार्य का आरंभ ही नहीं करना चाहिए। अपना विशिष्ट चिह्न भी उसे धारण नहीं करना चाहिए। उसे अपनी ख्याति फैलानी नहीं चाहिए। उस ऋषि को दूसरों के सामने अपने आपको पागल और बालक की तरह या गूँगे की तरह प्रकट करना चाहिए। और जिस आदमी की जैसी दृष्टि हो, उसी तरह अपने आपको दिखाना चाहिए।

न कुर्यान्न वदेत्किञ्चिन्न ध्यायेत्साध्वसाधु वा ।
आत्मारामोऽनया वृत्या विचरेज्जडवन्मुनिः ॥51॥
एकश्चरेन्महीमेतां निःसङ्गः संयतेन्द्रियः ।
आत्मक्रीड आत्मरतिरात्मवान्समदर्शनः ॥52॥
बुधो बालकवत्क्रीडेत् कुशलो जडवच्चरेत् ।
वदेदुन्मत्तवद्विद्वान् गोचर्यां नैगमश्चरेत् ॥53॥

क्षिप्तोऽवमानितोऽसद्भिः प्रलब्धोऽसूयितोऽपि वा।
ताडितो सन्निरुद्धो वा वृत्त्या वा परितापितः ॥54॥
विष्ठितो मूत्रितो वाऽज्ञैर्बहुधैवं प्रकल्पितः।
श्रेयस्कामः कृच्छ्रगत आत्मनात्मानमुद्धरेत् ॥55॥

वह न कुछ करता है, न कुछ बोलता है, न ही अच्छी-बुरी बातों का विचार ही करता है। वह तो केवल अपने आत्मा में ही रमण करता रहता है और इसी वृत्ति से वह यति जड़ की तरह विचरण करता है। इस पृथ्वी पर वह अकेला, किसी को बिना साथ लिए और अपनी इन्द्रियों को संयम में रखते हुए भ्रमण करता है। वह अपने आत्मा में ही रमण करता रहता है, आत्मा ही में उसका प्रेम होता है। वह स्वयं चैतन्यमय होता है और सबमें भी इसी प्रकार के चैतन्य का समान दर्शन करने वाला होता है। वास्तव में स्वयं ज्ञानी होते हुए भी बच्चे की तरह खेलता है। वास्तव में स्वयं कुशल होने पर भी जड़ की तरह आचरण करता है। स्वयं विद्वान् होते हुए भी पागल की तरह बकवास करता है। स्वयं शास्त्रज्ञ होते हुए भी गो की तरह सहज रहता है। असत् पुरुषों द्वारा आक्षेप किए जाने अथवा अपमानित किए जाने पर भी वह सब-कुछ सहन कर लेता है। दुष्टों के द्वारा यदि वह प्रताड़ित किया जाए, उससे ईर्ष्या की जाए, उसे मारा-पीटा जाए, उसे काम करने से रोका जाए, अथवा उनकी किसी वृत्ति से उसे पीड़ा पहुँचायी जाए अथवा कुछ दुष्ट जन उन पर थूकें, मल-मूत्र का त्याग करें, तो भी अनेक प्रकार की परेशानियाँ झेलकर भी वह श्रेयार्थी यति दुःखों को सहन करते हुए अपनी आत्मा से ही आत्मा का उद्धार करता है।

सम्माननं परां हानिं योगर्द्धेः कुरुते यतः।
जनेनावमतो योगी योगसिद्धिं च विन्दति ॥56॥
तथा चरेत वै योगी सतां धर्ममदूषयन्।
जना यथावमन्येरन् गच्छेयुर्नैव सङ्गतिम् ॥57॥
जरायुजाण्डजादीनां वाङ्मनःकायकर्मभिः।
युक्तः कुर्वीत न द्रोहं सर्वसङ्गांश्च वर्जयेत् ॥58॥
कामक्रोधौ तथा दर्पलोभमोहादयश्च ये।
तांस्तु दोषान्परित्यज्य परिव्राड् भयवर्जितः ॥59॥
भैक्षाशनं च मौनित्वं तपो ध्यानं विशेषतः।
सम्यग्ज्ञानं च वैराग्यं धर्मोऽयं भिक्षुके मतः ॥60॥

मानसम्मानादि तो योग की ऋद्धि को बड़ी हानि पहुँचाने वाले होते हैं, किन्तु यह योगी अपमान प्राप्त करके भी योग की सिद्धि प्राप्त करता है। सत्पुरुषों के धर्म कहीं दूषित न हों, ऐसी वाणी यह यति बोलता है जिससे कि मनुष्य उसका अपमान ही करते रहें और उसके संग में आएँ ही नहीं। जरायुज और अण्डज प्राणियों के प्रति वह योगी मन, वाणी, काया और कर्म से द्रोह नहीं करता और अपने योग-साधना में ही वह जुटा रहता है और अन्य के साथ मिलने से वह बचता रहता है। काम, क्रोध, दर्प, लोभ, मोह आदि दोषों को छोड़कर यह परिव्राजक भय से मुक्त हो जाता है। भिक्षावृत्ति द्वारा प्राप्त अन्न को खाना, मौन रहना, निरन्तर ध्यान करना, सम्यग्ज्ञान और वैराग्य—ये भिक्षु के निश्चित धर्म माने गए हैं।

काषायवासाः सततं ध्यानयोगपरायणः ।
ग्रामान्ते वृक्षमूले वा वसेद् देवालयेऽपि वा ।
भैक्षेण वर्तयेन्नित्यं नैकान्नाशी भवेत्क्वचित् ॥61॥
चित्तशुद्धिर्भवेद्यावत् तावन्नित्यं चरेत्सुधीः ।
ततः प्रव्रज्य शुद्धात्मा सञ्चरेद्यत्र कुत्रचित् ॥62॥
बहिरन्तश्च सर्वत्र सम्पश्यन्हि जनार्दनम् ।
सर्वत्र विचरेन्मौनी वायुवद्वीतकल्मषः ॥63॥
समदुःखसुखः क्षान्तो हस्तप्राप्तं च भक्षयेत् ।
निर्वैरेण समं पश्यन् द्विजगोऽश्वमृगादिषु ॥64॥

गेरुआ वस्त्र धारण करने वाला वह यति सदैव ध्यानमग्न रहता है । वह गाँव के बाहर, वृक्ष के मूल में या देवालय में रहता है, भिक्षा में मिला अन्न खाता है । एक ही घर का वह कभी नहीं खाता है । जहाँ तक चित्त की शुद्धि हो जाए, वहाँ तक वह इस प्रकार निवास करता रहता है । इसके बाद जब अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, तब परिव्राजक होकर इधर-उधर भ्रमण करता है । बाहर-भीतर सब जगह जनार्दन को ही देखता हुआ वह मौन रखकर सभी जगहों में पापरहित होकर वायु की तरह ही घूमा करता है । उसके लिए सुख और दुःख दोनों समान होते हैं । क्षमाशील-सहनशील वह योगी जो अनायास हाथ में आ जाता है, वह खा लेता है । वैररहित होकर वह सबमें जैसे ब्राह्मण, गाय, घोडा, हिरन आदि में समानभाव की दृष्टि रखता है ।

भावयन्मनसा विष्णुं परमात्मानमीश्वरम् ।
चिन्मयं परमानन्दं ब्रह्मैवाहमिति स्मरन् ॥65॥
ज्ञात्वैवं मनोदण्डं धृत्वा आशानिवृत्तो भूत्वा आशाम्बरधरो भूत्वा सर्वदा मनोवाक्कायकर्मभिः सर्वसंसारमुत्सृज्य प्रपञ्चावाङ्मुखः स्वरूपानुसन्धानेन भ्रमरकीटन्यायेन मुक्तो भवतीत्युपनिषत् ॥66॥

इति पञ्चमोपदेशः ।

मन में वह यति विष्णु की, परमात्मा की, ईश्वर की, चिन्मय की परमानन्द की 'मैं ही ब्रह्म हूँ'— ऐसी भावना करते हुए इस प्रकार जानकर, मनरूपी दण्ड को धारण करके, सभी आशाओं से निवृत्त होकर, दिशाओंरूपी वस्त्रों को धारण करता हुआ, सदैव मन, वाणी, काया और कर्म से सम्पूर्ण संसार को छोड़कर स्वरूपानुसन्धानपूर्वक भ्रमरकीटन्याय[1] से युक्त हो जाता है, यही उपदेश है ।

यहाँ पंचमोपदेश पूरा हुआ ।

❋

1. भ्रमर-कीटन्याय—एक खास प्रकार का कीड़ा किसी दूसरे कीड़े को पकड़कर अपने बिल में ले जाता है, वहाँ वह अपनी गुंजार से उसे इतना प्रभावित कर देता है कि वह पकड़ा गया कीड़ा उसी पकड़ने वाले कीड़े के रूप में बदल जाता है । यति का ब्रह्मचिन्तन-सातत्य उसे ब्रह्मरूप में बदल देता है, यह कथनार्थ है ।

षष्ठोपदेशः

अथ नारदः पितामहमुवाच। भगवन् तदभ्यासवशात् भ्रमरकीटन्यायवत् तदभ्यासः कथमिति। तमाह पितामहः। सत्यवाग्ज्ञानवैराग्याभ्यां विशिष्टदेहावशिष्टो वसेत् ॥1॥

अब नारद ने पितामह ब्रह्माजी से पूछा—'हे भगवन्! उसके अभ्यास के कारण भ्रमरकीटन्याय की तरह वह अभ्यास कैसे होता है?' पितामह ने उनसे कहा—सत्य वाणी को धारण करके ज्ञान और वैराग्य से इस शरीर की आसक्ति को पहले दूर करना चाहिए। आसक्तिरहित जो शेष बचा हुआ अतिश्रेष्ठ शरीर होता है, उसी में अवस्थित होकर रहना चाहिए।

ज्ञानं शरीरं वैराग्यं जीवनं विद्धि शान्तिदान्ती नेत्रे मनो मुखं बुद्धिः कला पञ्चविंशतितत्त्वान्यवयवा अवस्था पञ्चमहाभूतानि कर्मभक्तिज्ञानवैराग्यं शाखा जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुरीयाश्चतुर्दशकरणानि पङ्कस्तम्भाकाराणीति। एवमपि नावमतिपङ्कं कर्णधार इव यन्तेव गजं स्वबुद्ध्या वशीकृत्य स्वव्यतिरिक्तं सर्वं कृतकं नश्वरमिति मत्वा विरक्तः पुरुषः सर्वदा ब्रह्माहमिति व्यवहरेन्नान्यत्किञ्चिद्वेदितव्यं स्वव्यतिरेकेण। जीवन्मुक्तो वसेत्कृतकृत्यो भवति। न नाहं ब्रह्मेति व्यवहरेत् किन्तु ब्रह्माहमस्मीत्यजस्त्रं जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु। तुरीयावस्थां प्राप्य तुरीयातीतत्वं व्रजेत् ॥2॥

ज्ञान ही वह बचा हुआ श्रेष्ठ शरीर है, वैराग्य ही उसका प्राण है, शान्ति और दान्ति उसके दो नेत्र हैं—ऐसा जानो। शुद्ध मन ही मुख है, बुद्धि कला है, पचीस तत्त्व इस शरीर के अवयव हैं (पचीस तत्त्व—5 ज्ञानेन्द्रिय + 5 कर्मेन्द्रिय + 5 प्राण 5 विषय + 4 अंत:करण + 1 प्रकृति = 25), पाँच महाभूत पाँच अवस्थाएँ हैं, कर्म, भक्ति, ज्ञान और वैराग्य इसकी भुजाएँ (शाखाएँ) हैं अथवा जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय—ये अवस्थाएँ उसकी शाखाएँ (भुजाएँ) हैं। पहले कहे गए चौदह करण, पङ्क में विद्यमान जीर्ण खम्भों की तरह है। इस तरह की स्थिति में भी जिस प्रकार कीचड़ में फँसी नाव को भी कुशल नाविक ठीक रास्ते पर ला ही देता है, उसी तरह संसार के कीचड़ में फँसी जीवननैया को श्रेष्ठ बुद्धि के द्वारा उसी प्रकार पार लगाएँ जैसे महावत हाथी को अपने वश में रखकर उससे यात्रा करता है। शरीरस्थ पुरुष अपने सिवा सब कुछ को कृतक और नाशवान मानकर वह विरक्त पुरुष सदैव 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा व्यवहार करते हुए आत्मा के अतिरिक्त और कुछ जानने लायक है ही नहीं—ऐसा सोचता है। इस तरह वह जीवन्मुक्त होकर रहता है। वह तब धन्य-धन्य (कृतार्थ) हो जाता है। 'मैं ब्रह्म नहीं हूँ'—ऐसा तो कभी व्यवहार ही नहीं करना चाहिए। परन्तु 'मैं ब्रह्म ही हूँ'—ऐसा ही निरन्तर जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति में ध्यान करना चाहिए। बाद में तुरीयावस्था को प्राप्त करके इससे भी परे तुरीयातीत अवस्था में जाना चाहिए।

दिवा जाग्रन्नक्तं स्वप्नं सुषुप्तमर्धरात्रं गतमित्येकावस्थायां चतस्रोऽवस्थास्त्वेकैककरणाधीनानां चतुर्दशकरणानां व्यापारश्चक्षुरादीनाम्। चक्षुषो रूपग्रहणं श्रोत्रयोः शब्दग्रहणं जिह्वाया रसास्वादनं घ्राणस्य गन्धग्रहणं वचसो वाग्व्यापारः पाणेरादानं पादयोः सञ्चारः पायोरुत्सर्ग

उपस्थस्यानन्दग्रहणं त्वचः स्पर्शग्रहणम्। तदधीना च विषयग्रहण-बुद्धिः। बुद्ध्या बुद्ध्यति चित्तेन चेतयत्यहङ्कारेणाहङ्करोति। विसृज्य जीव एतान् देहाभिमानेन जीवो भवति। गृहाभिमानेन गृहस्थ इव शरीरे जीवः सञ्चरति। प्राग्दले पुण्यावृत्तिराग्नेय्यां निद्रालस्यौ दक्षिणायां क्रौर्यबुद्धिर्नैर्ऋत्यां पापबुद्धिः पश्चिमे क्रीडारतिर्वायव्यां गमने बुद्धिरुत्तरे शान्तिरीशान्ये ज्ञानं कर्णिकायां वैराग्यं केसरेष्वात्मचिन्ता इत्येवं वक्त्रं ज्ञात्वा ॥3॥

दिन जाग्रदवस्था है, रात्रि स्वप्नावस्था है, अर्धरात्रि सुषुप्तावस्था है—इस प्रकार एक तुरीयावस्था में तीनों अवस्थाएँ हैं और वह तुरीयावस्था तुरीयातीत में प्रतिष्ठित है। इस तरह एक ही अवस्था में चार अवस्थाएँ निहित हैं। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार ऐसे चार अन्तःकरणों में से प्रत्येक के अधीन जो चौदह करण पहले बताए जा चुके हैं, उन चक्षु आदि करणों का व्यापार इस प्रकार है; यथा—आँखों का रूपग्रहण, श्रोत्रों (कानों) का शब्दग्रहण, जिह्वा का रसास्वादन, नाक का गन्धग्रहण, वाक् का बोलना, हाथ का लेन-देन, पैर का चलना, गुदा का उत्सर्ग, उपस्थ का आनन्दग्रहण, त्वक् का स्पर्शग्रहण। इन सभी के अधीन विषयग्रहण की बुद्धि है। बुद्धि से मनुष्य जानता है, चित्त से चैतन्यता की प्राप्ति करता है, अहंकार से अहंकार का अनुभव करता है। इन सबकी सृष्टि करके इनके समूहरूप देह में आत्माभिमान करने से चैतन्य जीव हो जाता है। गृह के अभिमान से जैसे गृहस्थ होता है, इसी तरह शरीर में जीव का संचार होता है। शरीर में अन्तःकरण में एक आठ दलवाला कमल है। उसमें प्रतिष्ठित जीव उक्त कमल के पूर्व दल की ओर जाता है तो पुण्य की आवृत्ति होती है। जब अग्निकोण की ओर जाता है, तब निद्रा और आलस्य बन जाते हैं। वह जब दक्षिण की ओर मुड़ता है तो क्रूर बुद्धि उत्पन्न हो जाती है। वह जब नैर्ऋत्य की ओर झुकता है तब पाप बुद्धि बढ़ती है। वह जब पश्चिम की ओर जाता है तो क्रीड़ाओं की ओर रुचि बढ़ती है। वह वायव्य की ओर जाता है, तो बुद्धि बढ़ती है और जब उत्तर में जाता है, तो शान्ति मिलती है। ईशान की ओर जाता है तो ज्ञान बढ़ता है। और जब वह जीव कमल की कर्णिका में ही रहता है, तब वैराग्य भाव बढ़ता है। उसके कमल के केसरों में रहने से आत्मचिन्ता जाग्रत् होती है। इस तरह जिसमें चैतन्य तत्त्व ही प्रधान (मुख्य) है, ऐसे आत्मस्वरूप को समझकर परिव्राजक तुरीयातीत ब्रह्म के रूप में प्रतिष्ठित होता है।

जीवदवस्थां प्रथमं जाग्रद् द्वितीयं स्वप्नं तृतीयं सुषुप्तं चतुर्थं तुरीयं चतुर्भिर्विरहितं तुरीयातीतम्। विश्वतैजसप्राज्ञतटस्थभेदैरेक एव एको देवः साक्षी निर्गुणश्च तद् ब्रह्माहमिति व्याहरेत्। नो चेज्जाग्रदवस्थायां जाग्रदादि चतस्रोऽवस्थाः। स्वप्ने स्वप्नादि चतस्रोऽवस्थाः। सुषुप्ते सुषुप्त्यादि चतस्रोऽवस्थाः। तुरीये तुरीयादि चतस्रोऽवस्थाः। न त्वेवं तुरीयातीतस्य निर्गुणस्य। स्थूलसूक्ष्मकारणरूपैर्विश्वतैजसप्राज्ञैश्वरैः सर्वावस्थासु साक्षी त्वेक एवावतिष्ठते। उत तटस्थो द्रष्टा तटस्थो न द्रष्टा द्रष्टृत्वान्न द्रष्टैव कर्तृत्वभोक्तृत्वाहङ्कारादिभिः स्पृष्टो जीवः। जीवेतरो न स्पृष्टः। जीवोऽपि न स्पृष्ट इति चेन्न। जीवाभिमानेन क्षेत्राभिमानः। शरीराभिमानेन जीवत्वम्। जीवत्वं घटाकाशमहाकाशवद् व्यवधानो-ऽस्ति। व्यवधानवशादेव हंसः सोऽहमिति मन्त्रेणोच्छ्वासनिःश्वास-

व्यपदेशेनानुसन्धानं करोति। एवं विज्ञाय शरीराभिमानं त्यजेन्न शरीराभिमानी भवति। स एव ब्रह्मेत्युच्यते ॥4॥

जीव की चार अवस्थाएँ हैं—प्रथम जाग्रत्, द्वितीय स्वप्न, तृतीय सुषुप्ति और चौथी तुरीय। और इन चारों अवस्थाओं से रहित जो है, यह तुरीयातीत है। विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तटस्थ (साक्षी) इन चार भेदों में एक ही देव दीख रहा है। वह एक ही देव निर्गुण है, वह ब्रह्म मैं हूँ, ऐसा बोलना चाहिए। यदि ऐसा एक अनुस्यूत ब्रह्म न माना जाए तब तो जाग्रत् अवस्था में जाग्रदादि चार अवस्थाएँ, स्वप्न में भी स्वप्नादि चार अवस्थाएँ, सुषुप्ति में भी सुषुप्त्यादि चार अवस्थाएँ होंगी; वैसे तुरीय में भी तुरीयादि चार अवस्थाएँ होंगी पर ऐसा तुर्यातीत निर्गुण के लिए तो है नहीं। स्थूल, सूक्ष्म और कारण रूप विश्व, तैजस और प्राज्ञ के साथ एक ही साक्षी रहता है। किन्तु 'तटस्थ' ईश्वर द्रष्टा नहीं है क्योंकि 'तटस्थ' मायाधारी ईश्वर होता है। किन्तु इसका कोई 'द्रष्टा' नहीं है, अतः तटस्थ द्रष्टा न होने के कारण वह द्रष्टा नहीं है। मायाधारी द्रष्टा को मान लें तब तो जीव भी द्रष्टा हो जाएगा, पर ऐसा नहीं है; जीव द्रष्टा नहीं है क्योंकि जीव कर्तृत्व, भोक्तृत्व, अहंकार आदि से स्पृष्ट होता है और वह साक्षी कर्तृत्वादि से स्पृष्ट नहीं है। जीव भी तो कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि से स्पृष्ट नहीं है, ऐसा मान लिया जाए तो यह ठीक नहीं, क्योंकि देहरूपी क्षेत्र में उसका अभिमान होता है। और शरीर के अभिमान के कारण उसमें अहम् है। परमात्मा और जीव में व्यवधान ऐसा है, जैसा महाकाश और घटाकाश में है। यही कारण है कि जीव सर्वदा श्वासोच्छ्वास में 'सोऽहम्' अर्थात् 'मैं वह हूँ' इस प्रकार अपने मूलस्वरूप का अनुसन्धान करता रहता है—श्वास के बहाने से आत्मस्वरूप का स्मरण करता रहता है। ऐसा सोचकर जो मनुष्य शरीर के अभिमान को छोड़ देता है, वह शरीराभिमान से मुक्त हो जाता है। वही ब्रह्म हो जाता है, ऐसा कहा गया है।

त्यक्तसङ्गो जितक्रोधो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः।
पिधाय बुद्ध्या द्वाराणि मनो ध्याने निवेशयेत् ॥5॥
शून्येष्वेवावकाशेषु गुहासु च वनेषु च।
नित्ययुक्तः सदा योगी ध्यानं सम्यगुपक्रमेत् ॥6॥
आतिथ्यश्राद्धयज्ञेषु देवयात्रोत्सवेषु च।
महाजनेषु सिद्ध्यर्थी न गच्छेद्योगवित्क्वचित् ॥7॥
यथैनमवमन्यन्ते जनाः परिभवन्ति च।
तथा युक्तश्चरेद्योगी सतां वर्त्म न दूषयेत् ॥8॥

वह योगी सभी संगों को छोड़ देता है, वह क्रोध को नियन्त्रित रखता है, मिताहार करता है, इन्द्रियों को संयम में रखता है। बुद्धि के सभी द्वारों को – सभी इन्द्रियों को बाह्य विषयों से बन्द करके अपने मन को वह ध्यान में लगा देता है। शून्य में (अवकाश में) या गुफाओं में अथवा जंगलों में वह सदा संयमी योगी अच्छी तरह से अपना ध्यान शुरू कर देता है। वह योग जानने वाला सिद्धि का – परमात्मप्राप्ति का – आकांक्षी कभी भी आतिथ्यसत्कार में, श्राद्ध में, यज्ञों में या देवयात्रा के उत्सवों में या बड़े लोगों में नहीं जाता अर्थात् उनसे हिलता-मिलता नहीं है। वह योगी ऐसा वर्तन करता है कि लोग उसका अपमान ही करें, लोग उससे दूर ही भागें। वह योगी ऐसे रहता है जिससे कि सत्पुरुषों के मार्ग को कोई बाधा न पहुँचे।

वाग्दण्डः कर्मदण्डश्च मनोदण्डश्च ते त्रयः।
यस्यैते नियता दण्डाः स त्रिदण्डी महायतिः ॥9॥

विधूमे च प्रशान्ताग्नौ यस्तु माधुकरीं चरेत् ।
गृहे च विप्रमुख्यानां यतिः सर्वोत्तमः स्मृतः ॥10॥
दण्डभिक्षां च यः कुर्यात् स्वधर्मे व्यसनं विना ।
यस्तिष्ठति न वैराग्यं याति नीचयतिर्हि सः ॥11॥
यस्मिन्गृहे विशेषेण लभेद् भिक्षां च वासनात् ।
तत्र नो याति यो भूयः स यतिर्नेतरः स्मृतः ॥12॥

वाणी का दण्ड, कर्म का दण्ड और मन का दण्ड—ये तीन दण्ड जिसके वश में हैं वही सही त्रिदण्डी महामति है। धूमरहित, शान्त हो चुकी अग्नि वाले घर में जो भिक्षा के लिए उत्तम ब्राह्मणों के घरों में ही जाता है, वह सर्वोत्तम योगी कहा जाता है। परन्तु जो पुरुष संन्यास के स्वधर्म के बिना ही, किसी प्रकार का नियम न पालते हुए केवल हाथ में दण्ड लेकर भीख माँगने लगता है, वह 'नीचयति' कहा जाता है। जिस घर में विशिष्ट रूप से अच्छी भिक्षा मिलती हो, वहाँ मोहवश जो योगी पुनः नहीं जाता वही सच्चा योगी कहलाता है, अन्य नहीं।

यः शरीरेन्द्रियादिभ्यो विहीनं सर्वसाक्षिणम् ।
पारमार्थिकविज्ञानं सुखात्मानं स्वयंप्रभम् ॥13॥
परतत्त्वं विजानाति सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत् ।
वर्णाश्रमादयो देहे मायया परिकल्पिताः ॥14॥
नात्मनो बोधरूपस्य मम ते सन्ति सर्वदा ।
इति यो वेद वेदान्ती सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत् ॥15॥
यस्य वर्णाश्रमाचारो गलितः स्वात्मदर्शनात् ।
स वर्णानाश्रमान्सर्वानतीत्य स्वात्मनि स्थितः ॥16॥

जो योगी सभी इन्द्रियों से रहित होकर उन सभी के साक्षी को, जो पारमार्थिक रूप में ज्ञानस्वरूप ही है, जो सुखात्मक है, जो स्वयंप्रकाश है उसे परमतत्त्व के रूप में जानता है, वह 'अतिवर्णाश्रमी' हो जाता है। वर्ण आश्रम आदि तो इस देह में माया के द्वारा ही कल्पित किए गए हैं। मुझ बोधस्वरूप आत्मा के लिए तो वे कभी हैं ही नहीं—जो वेदान्ती ऐसा समझ गया होता है, वह अतिवर्णाश्रमी हो जाता है। आत्मदर्शन के द्वारा जिसका वर्णाश्रमाचार निर्गलित हो चुका हो, वह सभी वर्णों और आश्रमों के धर्मों का अतिक्रमण करके अपने आत्मा में ही स्थित रहता है।

योऽतीत्य स्वाश्रमान्वर्णानात्मन्येव स्थितः पुमान् ।
सोऽतिवर्णाश्रमी प्रोक्तः सर्ववेदार्थवेदिभिः ॥17॥
तस्मादन्यगता वर्णा आश्रमा अपि नारद ।
आत्मन्यारोपिताः सर्वे भ्रान्त्या तेऽनात्मवेदिना ॥18॥
न विधिर्न निषेधश्च न वर्ज्यावर्ज्यकल्पना ।
ब्रह्मविज्ञानिनामस्ति तथा नान्यच्च नारद ॥19॥
विरज्य सर्वभूतेभ्य आविरिञ्चिपदादपि ।
घृणां विपाट्य सर्वस्मिन्पुत्रवित्तादि केष्वपि ॥20॥

जो योगी अपने आश्रमों और वर्णों को लाँघकर अपने आत्मा में ही स्थित (स्थिर) रहता हो, वह अतिवर्णाश्रमी है, ऐसा सभी वेद के अर्थ जानने वाले कहते हैं। इसलिए हे नारद ! आश्रम और वर्ण

तो अन्य (देहादि) में रहे हुए धर्म हैं, और आत्मा को नहीं जानने वालों ने ही भ्रम से आत्मा में उनका आरोपण कर दिया है। जो ब्रह्म को जानने वाले हैं, उनके लिए तो न कोई निषेध है, न कोई विधि है, न कुछ ज्याज्य है, न कुछ भी अत्याज्य ही है। इसलिए हे नारद ! सभी प्राणियों से विरक्त होकर – ब्रह्मा के पद से भी वैराग्य प्राप्तकर सभी में तुच्छभाव रखकर पुत्र-धनादि से विरक्त होकर ही रहना चाहिए।

श्रद्धालुर्मुक्तिमार्गेषु वेदान्तज्ञानलिप्सया।
उपायनकरो भूत्वा गुरुं ब्रह्मविदं व्रजेत् ॥21॥
सेवाभिः परितोष्यैनं चिरकालं समाहितः।
सदा वेदान्तवाक्यार्थं शृणुयात्सुसमाहितः ॥22॥
निर्ममो निरहङ्कारः सर्वसङ्गविवर्जितः।
सदा शान्त्यादियुक्तः सन्नात्मन्यात्मानमीक्षते ॥23॥
संसारदोषदृष्ट्यैव विरक्तिर्जायते सदा।
विरक्तस्य तु संसारात्संन्यासः स्यान्न संशयः ॥24॥

ऐसे विरक्त, श्रद्धा और मुक्ति के मार्ग में श्रद्धालु योगी को वेदान्त के ज्ञान के लाभ की इच्छा-पूर्ति हेतु ब्रह्मज्ञानी गुरु के पास जाना चाहिए। वहाँ लम्बे अरसे तक सेवा करके गुरु को प्रसन्न करके सावधान होकर सदैव वेदान्त वाक्यों के अर्थों का ध्यानपूर्वक श्रवण करना चाहिए। ममतारहित, अहंकाररहित, सभी संग से रहित, सर्वदा शान्ति आदि गुणों के साथ स्थिर वह योगी अपने आत्मा में ही आत्मा को देखता रहता है। संसार के प्रति दोष की दृष्टि रखने से वैराग्य उत्पन्न होता है और ऐसे वैरागी योगी को तो संसार से सन्यास हो ही जाएगा, इसमें कोई संशय नहीं है।

मुमुक्षुः परहंसाख्यः साक्षान्मोक्षैकसाधनम्।
अभ्यसेद् ब्रह्मविज्ञानं वेदान्तश्रवणादिना ॥25॥
ब्रह्मविज्ञानलाभाय परहंससमाह्वयः।
शान्तिदान्त्यादिभिः सर्वैः साधनैः सहितो भवेत् ॥26॥
वेदान्ताभ्यासनिरतः शान्तो दान्तो जितेन्द्रियः।
निर्भयो निर्ममो नित्यो निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः ॥27॥
जीर्णकौपीनवासाः स्यान्मुण्डी नग्नोऽथवा भवेत्।
प्राज्ञो वेदान्तविद् योगी निर्ममो निरहंकृतिः ॥28॥

परमहंस नामक वह मुमुक्षु योगी ब्रह्मविज्ञान को ही साक्षात् मोक्ष का एकमात्र साधन समझकर वेदान्तश्रवण आदि से उसका अभ्यास करता है। इस ब्रह्मविज्ञान की प्राप्ति के लिए वह परमहंस नाम का योगी शम-दमादि षट् साधनसम्पत्ति से युक्त होता है। वह शान्त, दान्त और जितेन्द्रिय होकर वेदान्त के अभ्यास में तल्लीन हो जाता है। ऐसा योगी निर्भय होता है, आसक्तिरहित होता है, सुख-दुःखादि द्वन्द्वों से रहित होता है। वह अपरिग्रही होता है, जीर्ण-शीर्ण कौपीन ही पहनता है, सिर का मुण्डन करवाता है, नग्न भी रह सकता है। वह प्रज्ञाशील योगी वेदान्तविद् होता है। वह आसक्ति और अहंकार से रहित होता है।

मित्रादिषु समो मैत्रः समस्तेष्वेव जन्तुषु।
एको ज्ञानी प्रशान्तात्मा स संतरति नेतरः ॥29॥

गुरूणां च हिते युक्तस्तत्र संवत्सरं वसेत् ।
नियमेष्वप्रमत्तस्तु यमेषु च सदा भवेत् ॥30॥
प्राप्य चान्ते ततश्चैव ज्ञानयोगमनुत्तमम् ।
अविरोधेन धर्मस्य सञ्चरेत्पृथिवीमिमाम् ॥31॥
ततः संवत्सरस्यान्ते ज्ञानयोगमनुत्तमम् ।
आश्रमत्रयमुत्सृज्य प्राप्तश्च परमाश्रमम् ॥32॥
अनुज्ञाप्य गुरूंश्चैव चरेद्धि पृथिवीमिमाम् ।
त्यक्तसङ्गो जितक्रोधो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः ॥33॥

वह योगी मित्र, शत्रु आदि में समान भाव वाला, सभी प्राणियों में मैत्री भाव वाला, एकाकी, ज्ञानी, शान्त मन वाला होता है और वही इस संसार को पार कर जाता है, अन्य लोग नहीं। गुरुजनों का हित चाहने वाला वह गुरुगृह में एक साल तक रहता है और वहाँ नियमों का पालन करता हुआ हमेशा संयम में सावधान रहता है। वहाँ से वह उत्तम ज्ञान वैराग्य को प्राप्त करके धर्मानुसार इस पृथ्वी पर भ्रमण करता है। बाद में जब एक वर्ष पूरा होने पर उत्तम ज्ञानयोग को (ऐसे आश्रय को) प्राप्त करके, ब्रह्मचर्यादि तीनों आश्रमों का अतिक्रमण करके गुरुजनों की अनुज्ञा लेकर निःसंग होकर, क्रोधरहित होकर, जितेन्द्रिय रहकर, मिताहार करता हुआ पृथ्वी पर भ्रमण करता है।

द्वाविमौ न विरज्येते विपरीतेन कर्मणा ।
निरारम्भो गृहस्थश्च कार्यवांश्चैव भिक्षुकः ॥34॥
माद्यति प्रमदां दृष्ट्वा सुरां पीत्वा च माद्यति ।
तस्माद् दृष्टिविषां नारीं दूरतः परिवर्जयेत् ॥35॥
सम्भाषणं सह स्त्रीभिरालापः प्रेक्षणं तथा ।
नृत्तं गानं सहासं च परिवादांश्च वर्जयेत् ॥36॥
न स्नानं न जपः पूजा न होमो नैव साधनम् ।
नाग्निकार्यादिकार्यं च नैतस्यास्तीह नारद ॥37॥

यदि गृहस्थ धर्मविधियों से रहित हो और संन्यासी विधिपूर्वक कार्य में मग्न हों तो वे दोनों कभी शोभास्पद नहीं हो सकते, क्योंकि दोनों के लिए ये विपरीत कार्य हैं। मनुष्य मदिरा पीकर तो पागल होता ही है, किन्तु रूपवती नारी के तो दर्शनमात्र से ही वह उन्मत्त हो जाता है, अतः दर्शनमात्र से ही विषवत् प्रभाव डालने वाली नारी को दूर से ही त्याग देना चाहिए। स्त्री के साथ बातचीत, वार्तालाप, देखना, गाना, हँसना, बोल-चाल—सब छोड़ ही देना चाहिए। हे नारद ! ऐसे परमहंस के लिए यहाँ पर किसी जप, तप, पूजा, अर्चन, अग्निहोत्र, स्नान, होम आदि किसी भी साधन की कोई आवश्यकता नहीं है।

नार्चनं पितृकार्यं च तीर्थयात्रा व्रतानि च ।
धर्माधर्मादिकं नास्ति न विधिर्लौकिकी क्रिया ॥38॥
सन्त्यजेत्सर्वकर्माणि लोकाचारं च सर्वशः ।
कृमिकीटपतङ्गांश्च तथा योगी वनस्पतीन् ॥39॥
न नाशयेद् बुधो जीवान्परमार्थमतिर्यतिः ।
नित्यमन्तर्मुखः स्वच्छः प्रशान्तात्मा स्वपूर्णधीः ॥40॥

अन्तःसङ्गपरित्यागी लोके विहर नारद ।
नाराजके जनपदे चरत्येकचरो मुनिः ॥41॥
निःस्तुतिर्निर्नमस्कारो निःस्वधाकार एव च ।
चलाचलनिकेतश्च यतिर्यादृच्छिको भवेत् ॥42॥ इत्युपनिषद् ।

इति षष्ठोपदेशः।

योगी के लिए पूजादि, पितृतर्पणादि अथवा तीर्थयात्रा या व्रत, धर्म-अधर्म आदि और लौकिक व्यवहार आदि कुछ भी उचित नहीं है। योगी तो सभी कर्मों को और लोकाचारों को छोड़ ही देता है। योगी कीड़े, जन्तु, पतंगे और वनस्पति को भी कष्ट नहीं देता, क्योंकि वह ज्ञानी है और परमार्थ की मतिवाला यति होता है। वह हमेशा अन्तर्मुख रहता है, बाहर-भीतर स्वच्छ रहता है, शान्त मनवाला तथा अपने में ही पूर्ण होता है। भीतर के संग का परित्याग करने वाले बनकर हे नारद ! तुम भी उसी तरह इस लोक में भ्रमण किया करो। यति, जहाँ अराजकता (अव्यवस्था) फैली हो वहाँ नहीं जाता है, वह अकेला ही रहता है। स्तुतिरहित, नमस्काररहित, तर्पणादि क्रियारहित होकर किसी चल या अचल-पर्वतादि में निवास करता हुआ वह योगी यादृच्छिक (स्वेच्छानुसार) व्यवहार करने वाला होता है। ऐसा उपदेश है।

यहाँ षष्ठ उपदेश पूरा हुआ।

❋

सप्तमोपदेशः

अथ यतेर्नियमः कथमिति पृष्टो नारदं पितामहः पुरस्कृत्य विरक्तः सन्यो वर्षासु ध्रुवशीलोऽष्टौ मास्येकाकी चरन्नैकत्र निवसेद् भिक्षुर्भयात्सारङ्ग-वदेकत्र न तिष्ठेत्स्वगमननिरोधग्रहणं न कुर्याद्धस्ताभ्यां नद्युत्तरणं न कुर्यान्न वृक्षारोहणमपि न देवोत्सवदर्शनं कुर्यान्नैकत्राशी न बाह्यदेवार्चनं कुर्यात्स्वव्यतिरिक्तं सर्वं त्यक्त्वा मधुकरवृत्त्याहारमाहरन्कृशो भूत्वा मेदोवृद्धिमकुर्वन्नाज्यं रुधिरमिव त्यजेदेकत्रान्नं पललमिव गन्धलेपनम-शुद्धिलेपनमिव क्षारमन्त्यजमिव वस्त्रमुच्छिष्टपात्रमिवाभ्यङ्गं स्त्रीसङ्गमिव मित्राह्लादकं मूत्रमिव स्पृहां गोमांसमिव ज्ञातचरप्रदेशं चाण्डालवाटिका-मिव स्त्रियमहिमिव सुवर्णं कालकूटमिव सभास्थलं श्मशानस्थलमिव राजधानीं कुम्भीपाकमिव शवपिण्डवदेकत्रान्नं न देहान्तरदर्शनं प्रपञ्चवृत्तिं परित्यज्य स्वदेशमुत्सृज्य ज्ञातचरप्रदेशं विहाय विस्मृतपदार्थं पुनः प्राप्तहर्ष इव स्वमानन्दमनुस्मरन्स्वशरीराभिमानदेशविस्मरणं मत्वा स्वशरीरं शवमिव हेयमुपगम्य कारागृहविनिर्मुक्तचोरवत्पुत्राप्तबन्धुभव-स्थलं विहाय दूरतो वसेत्। अयत्नेन प्राप्तमाहरन् ब्रह्मप्रणवध्यानानु-सन्धानपरो भूत्वा सर्वकर्मविनिर्मुक्तः कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्या-दिकं दग्ध्वा त्रिगुणातीतः षडूर्मिरहितः षड्भावविकारशून्यः सत्यवाक् शुचिरद्रोही ग्रामैकरात्रं पत्तने पञ्चरात्रं क्षेत्रे पञ्चरात्रं तीर्थे पञ्चरात्र-

मनिकेतः स्थिरमतिः नानृतवादी गिरिकन्दरेषु वसेदेक एव द्वौ वा चरेद् ग्रामं त्रिभिर्नगरं चतुर्भिर्ग्राममित्येकश्चरेत्। भिक्षुश्चतुर्दशकरणानां न तत्रावकाशं दद्यादविच्छिन्नज्ञानाद्वैराग्यसम्पत्तिमनुभूय मत्तो न कश्चिन्नान्यो व्यतिरिक्त इत्यात्मन्यालोच्य सर्वतः स्वरूपमेव पश्यञ्जीवन्मुक्तिमवाप्य प्रारब्धप्रतिभासनाशपर्यन्तं चतुर्विधं स्वरूपं ज्ञात्वा देहपतनपर्यन्तं स्वरूपानुसन्धानेन वसेत् ॥1॥

इसके बाद, 'संन्यासी के नियम कौन-कौन से हैं ?' इस प्रकार नारद के पूछने पर पितामह ने उस प्रश्न को सामने रखकर कहा—वह विरक्त संन्यासी वर्षा के दिनों में एक स्थान पर रहकर शेष के आठ मास घूमता हुआ अकेला ही रहता है। डरे हुए हिरण की तरह वह एक जगह पर नहीं रहता। अपने अन्यत्र गमन में वह रुकावट नहीं करता अर्थात् किसी के आग्रह या विरोध करने पर भी वह नहीं रुकता। वह तैर कर नदी पार नहीं करता, वृक्ष पर कभी नहीं चढ़ता, वह देवोत्सव का दर्शन भी नहीं करता, वह कभी एक घर का नहीं खाता है। आत्मा के अतिरिक्त वह बाहर के देव को नहीं पूजता है। अपने को छोड़कर सबका त्याग करके माधुकरी-वृत्ति से भिक्षा लाकर, दुबला-पतला होकर, चरबी की वृद्धि न करता हुआ, घी को लहू का-सा मानकर छोड़ देता है। एक ही परिजन वाले घर के अन्न को मांस जैसा, इत्र आदि गन्ध के लेपन को अपवित्र लेपन जैसा, क्षार (साबुन-सोडा) आदि को चाण्डाल की भाँति अस्पृश्य, वस्त्र को उच्छिष्ट पात्र जैसा, अभ्यंग (इत्र-तेल आदि) को स्त्री के आलिंगन जैसा, मित्रों के आनन्ददायक मिलन को मूत्र जैसा, स्पृहा (इच्छा शक्ति) को गोमांस जैसा, परिचित प्रदेश को चाण्डाल के बगीचे जैसा, स्त्री को साँप के समान, सोने को कालकूट जैसा, सभास्थल को श्मशान-भूमि जैसा, राजधानी को कुम्भीपाक नरक जैसा, एक घर के अन्न को मृत व्यक्ति के लिए दिए हुए पिण्ड जैसा जानकर (इन सबों को) छोड़ ही देना चाहिए। आत्मा को शरीर से पृथक् देखना तथा प्रपंचवृत्ति में फँसना भी छोड़ देना चाहिए। अपने देश का त्याग करके तथा परिचित देश (स्थलों) से सदैव दूर रहने का प्रयत्न करना चाहिए। जैसे विस्मृत हुए पदार्थ की पुनः प्राप्ति से जो हर्ष का अनुभव होता है, उसी प्रकार अपने आनन्दमय स्वरूप का पुनः स्मरण करते हुए प्रसन्नता की अनुभूति करनी चाहिए। तथा जहाँ पर जाने से आत्माभिमान जागृत हो ऐसे अभिमानजनक देश को भूल जाना चाहिए। अपने शरीर को शव के समान त्याज्य समझकर उसमें उसी प्रकार आसक्त नहीं होना चाहिए। जिस प्रकार किसी जेल से मुक्त हुआ कैदी लज्जावश अपने देश का त्यागकर अन्यत्र कहीं दूर जा बसता है, उसी प्रकार परिव्राजक को जहाँ उसके आप्तजन या बन्धुवर्ग रहते हैं उसे त्यागकर सर्वदा के लिए कहीं दूर जाकर रहना चाहिए। अनायास प्राप्त आहार को ग्रहण कर वह प्रणव के ध्यान का अनुसन्धान-परायण रहता है। तथा सर्व कर्मों से छुटकारा पाकर काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य आदि को जलाकर, त्रिगुणातीत, षड्रिपुरहित, षड्भावविकाररहित, सत्यभाषी, पवित्र, अद्रोही रहकर वह योगी गाँव में एक रात, नगर में पाँच रात, किसी धार्मिक स्थल में पाँच रात और तीर्थ में पाँच रात से ज्यादा नहीं ठहरता। वह कहीं भी अपना घर नहीं बनाता। अपनी बुद्धि को वह परमात्मा में स्थिर करता रहता है। वह कभी झूठ नहीं बोलता। पर्वत की गुफाओं में ही अपना वास बनाता है। हमेशा अकेला ही रहता है। परिव्राजक वर्षा के चातुर्मास्य में ही अपने साथ दूसरा व्यक्ति रख सकता है। जब तीन व्यक्ति एक साथ होते हैं, तब तो ग्राम जैसा ही हो जाता है और चार व्यक्ति एक स्थल पर रहने से तो नगर जैसा ही हो जाता है। इसलिए उसे अकेला ही रहना चाहिए। चौदह करणों (इन्द्रियों) को उन-उनके विषयों के ध्यान के लिए अवकाश नहीं देना चाहिए, इसलिए वह ज्ञान-वैराग्य की

अविच्छिन्न संपति का अनुभव करते हुए, 'मुझसे अलग कुछ है ही नहीं'—ऐसा अपनी आत्मा में अनुभव कर चारों ओर अपने ही स्वरूप को देखता हुआ, जीवन्मुक्ति को प्राप्त करके प्रारब्धकर्मों के प्रतिभास के नाश होने तक अपनी चारों अवस्था वाले स्वरूप को जानकर देह के नाश होने तक स्वरूपानुसन्धान करता रहता है।

त्रिषवणस्नानं कुटीचकस्य बहूदकस्य द्विवारं हंसस्यैकवारं परमहंसस्य मानसस्नानं तुरीयातीतस्य भस्मस्नानमवधूतस्य वायव्यस्नानम् ॥2॥
ऊर्ध्वपुण्ड्रं कुटीचकस्य त्रिपुण्ड्रं बहूदकस्य ऊर्ध्वपुण्ड्रं त्रिपुण्ड्रं हंसस्य भस्मोद्धूलनं परमहंसस्य तुरीयातीतस्य तिलकपुण्ड्रमवधूतस्य न किञ्चित्। तुरयातीतावधूतयोः ॥3॥

कुटीचक संन्यासी के लिए प्रातः-मध्याह्न-सायं, तीनों समय के स्नान का विधान है। बहूदक के लिए दो बार, हंस के लिए एक बार, परमहंस के लिए मानसस्नान और तुरीयातीत के लिए भस्मस्नान तथा अवधूत के लिए वायुस्नान है। कुटीचक के लिए ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करने का, बहूदक के लिए त्रिपुण्ड्र, हंस के लिए ऊर्ध्वपुण्ड्र और त्रिपुण्ड्र, परमहंस के लिए केवल भस्म, तुरीयातीत के लिए तिलक और पुण्ड्र धारण करने का विधान और अवधूत के लिए कुछ भी धारण न करने का विधान है। तथा तुरीयातीत और अवधूत के लिए किसी भी चिह्न को धारण करने का विधान नहीं है।

ऋतुक्षौरं कुटीचकस्य ऋतुद्वयक्षौरं बहूदकस्य न क्षौरं हंसस्य परमहंसस्य च न क्षौरम्। अस्ति चेदयनक्षौरम्। तुरीयातीतावधूतयोर्न क्षौरम् ॥4॥
कुटीचकस्यैकान्नं माधुकरं बहूदकस्य हंसपरमहंसयोः करपात्रं तुरीयातीतस्य गोमुखं अवधूतस्याजगरवृत्तिः ॥5॥

कुटीचक को दो मास में एक बार क्षौरकर्म कराना चाहिए। बहूदक को चार-चार मास में कराना चाहिए। हंस और परमहंस के लिए क्षौरकर्म विहित नहीं है, फिर भी यदि वह चाहे तो छः मास में एक बार करा सकता है। तुरीयातीत और अवधूत के लिए तो क्षौरकर्म है ही नहीं। कुटीचक के लिए एक ही जगह से भिक्षा लेने का विधान है। बहूदक के लिए हाथ के पात्र से भिक्षा लेने का विधान है। तुरीयातीत के लिए यदृच्छा-प्राप्त (गोमुखवृत्ति से अर्थात् अन्य कोई उसके मुँह में जो कुछ दे जाए उसी) से निर्वाह करने का विधान है और अवधूत के लिए अजगरवृत्ति से (ईश्वरेच्छा से) निर्वाह करने का विधान है।

शाटीद्वयं कुटीचकस्य बहूदकस्यैकशाटी हंसस्य खण्डं दिगम्बरं परमहंसस्य एककौपीनं वा तुरीयातीतावधूतयोः जातरूपधरत्वं हंसपरमहंसयोरजिनं न त्वन्येषाम् ॥6॥
कुटीचकबहूदकयोर्देवार्चनं हंसपरमहंसयोर्मानसार्चनं तुरीयातीतावधूयोः सोऽहंभावना ॥7॥

कुटीचक अपने पास दो वस्त्र रख सकता है, बहूदक एक वस्त्र, हंस एक वस्त्र का टुकड़ा ही रख सकता है और परमहंस की तो दिशाएँ ही वस्त्र होती हैं, या फिर वह एक कौपीन रख सकता है। तुरीयातीत और अवधूत तो जन्म से नग्न ही रहते हैं, हंस और परमहंस अपने पास मृगचर्म रखते हैं, दूसरे यह नहीं रख सकते। कुटीचक और बहूदक देवपूजा करते हैं, हंस और परमहंस मानसी पूजा करते हैं और तुरीयातीत तथा अवधूत को 'सोऽहम्' की भावना करनी चाहिए।

कुटीचकबहूदकयोर्मन्त्रजपाधिकारो हंसपरमहंसयोर्ध्यानाधिकारस्तुरीयातीतावधूतयोर्न त्वन्याधिकारस्तुरीयातीतावधूतयोर्महावाक्योपदेशाधिकारः परमहंसस्यापि। कुटीचकबहूदकहंसानां नान्यस्योपदेशाधिकारः ॥8॥

कुटीचक और बहूदक को मंत्र जप का अधिकार है। हंस और परमहंस को ध्यान का अधिकार है। तुरीयातीत और अवधूत को स्वरूपानुसन्धान के सिवा अन्य कोई अधिकार नहीं है। तुरीयातीत और अवधूत को महावाक्यों का उपदेश प्रदान करने का अधिकार है। परमहंस को भी यह अधिकार है। कुटीचक, बहूदक और हंस—तीनों को दूसरों को उपदेश देने का अधिकार नहीं है।

कुटीचकबहूदकयोर्मानुषप्रणवः हंसपरमहंसयोरान्तरप्रणवः तुरीयातीतावधूतयोर्ब्रह्मप्रणवः ॥9॥

कुटीचकबहूदकयोः श्रवणं हंसपरमहंसयोर्मननं तुरीयातीतावधूतयोर्निदिध्यासः। सर्वेषामात्मानुसन्धानं विधिरिति ॥10॥

कुटीचक और बहूदक के लिए मानुष (साधारण) प्रणव (ॐकार) का, हंस और परमहंस के लिए मानसिक प्रणव का तथा तुरीयातीत और अवधूत के लिए ब्रह्मप्रणव का विधान है। कुटीचक और बहूदक के लिए श्रवण, हंस और परमहंस के लिए मनन तथा तुरीयातीत और अवधूत के लिए निदिध्यासन का विधान है। इन सभी के लिए आत्मानुसन्धान की विधि तो है ही।

एवं मुमुक्षुः सर्वदा संसारतारकं तारकमनुस्मरञ्जीवन्मुक्तो वसेदधिकारविशेषेण कैवल्यप्राप्त्युपायमन्विष्येद्यतिरित्युपनिषत् ॥11॥

इति सप्तमोपदेशः।

इस प्रकार योगी को सर्वदा संसार को पार कराने वाले तारक मंत्र (ॐकार) का चिन्तन करते हुए जीवन्मुक्त होकर विचरण करना चाहिए। योगी को अपने-अपने अधिकारविशेष के अनुसार कैवल्यप्राप्ति का उपाय खोजना चाहिए। यही उपदेश है।

यहाँ सातवाँ उपदेश पूरा हुआ।

❋

अष्टमोपदेशः

अथ हैनं भगवन्तं परमेष्ठिनं नारदः पप्रच्छ संसारतारकं प्रसन्नो ब्रूहीति। तथेति परमेष्ठी वक्तुमुपचक्रमे ओमिति ब्रह्मेति व्यष्टिसमष्टिप्रकारेण। का व्यष्टिः का समष्टिः संहारप्रणवः सृष्टिप्रणवश्चान्तर्बहिश्चोभयात्मकत्वात् त्रिविधो ब्रह्मप्रणवः। अन्तःप्रणवो व्यावहारिकप्रणवः। बाह्यप्रणव आर्षप्रणवः। उभयात्मको विराट् प्रणवः। संहारप्रणवो ब्रह्मप्रणवोऽर्धमात्राप्रणवः ॥1॥

अब परमेष्ठी ब्रह्माजी से नारद ने पूछा—'संसारतारक मंत्र को आप प्रसन्न होकर मुझसे कहिए।'

तब ब्रह्माजी ने 'अच्छा' ऐसा कहकर कहना शुरू किया—वह संसारतारक मंत्र ॐकार है, वही ब्रह्म है। उसको समष्टि और व्यष्टि—दोनों तरह से समझना चाहिए।' नारद ने पूछा—यह व्यष्टि और समष्टि क्या है ? ब्रह्माजी ने कहा—संहारप्रणव और सृष्टिप्रलय, ये प्रणव के दो अवयव हैं। एक ही प्रणव अन्तः, बहिः और उभय—ऐसे तीन भागों में बँटा है। प्रथम संहारप्रणव, द्वितीय सृष्टिप्रलय और तृतीय उभयात्मक। इनमें अन्तःप्रणव को व्यावहारिक प्रणव नाम दिया गया है, बाह्यप्रणव को आर्षप्रणव कहा जाता है और उभयात्मकप्रणव को विराट्प्रणव कहते हैं। और संहारप्रणव को ब्रह्म प्रणव भी कहते हैं। और स्थूलादि भेद से परिपूर्ण अकारादि चारमात्रा वाले प्रणव को अर्धमात्राप्रणव भी कहते हैं।

ओमिति ब्रह्म। ओमित्येकाक्षरमन्तःप्रणवं विद्धि। स चाष्टधा भिद्यते। अकारोकारमकारार्धमात्रानादबिन्दुकलाशक्तिश्चेति। तत्र चत्वार अकार-श्चायुतावयवान्वित उकारः सहस्रावयवान्वितो मकारः शतावयवोपेतो-ऽर्धमात्राप्रणवोऽनन्तावयवाकारः। सगुणो विराट् प्रणवः संहारो निर्गुण-प्रणव उभयात्मकोत्पत्तिप्रणवो यथाप्लुतो विराट् प्लुतः प्लुतसंहारः ॥2॥

वह ॐ ही ब्रह्म है। इस अन्तःप्रणव को ही एकाक्षरमंत्र जानो। इसके आठ प्रकार हैं। यह प्रणव केवल चार-चार मात्राओं से ही संयुक्त नहीं है। इसके अकार, उकार, मकार, अर्धमात्रा, नाद, बिन्दु, कला, और शक्ति—ये आठ भेदों के रूप हैं। ॐकार की चारों मात्राओं में एक-एक के भी कई भेद हैं। केवल अकार ही दस सहस्र अवयव वाला है। उकार के एक हजार और मकार के एक सौ अवयव हैं। अर्धमात्राप्रणव भी अनन्त अवयवों वाला है। विराट्प्रणव को 'सगुणप्रणव' और संहारप्रणव को 'निर्गुणप्रणव' माना गया है। और सृष्टिप्रणव तो सगुण-निर्गुण दोनों से सम्बद्ध है। विराट्प्रणव यथाप्लुत (चारों मात्राओं की समष्टि) है और संहारप्रलय प्लुतप्लुत (अर्थात् चतुर्थमात्रा से युक्त) अर्धमात्रास्वरूप है।

विराट् प्रणवः षोडशमात्रात्मकः षट्त्रिंशत्तत्त्वातीतः। षोडशमात्रात्म-कत्वं कथमित्युच्यते। अकारः प्रथमोकारो द्वितीया मकारस्तृतीयाऽर्ध-मात्राचतुर्थी नादः पञ्चमी बिन्दुः षष्ठी कला सप्तमी कलातीताष्टमी शान्तिर्नवमी शान्त्यतीता दशमी उन्मन्येकादशी मनोन्मनी द्वादशी पुरी त्रयोदशी मध्यमा चतुर्दशी पश्यन्ती पञ्चदशी परा षोडशी। पुनश्चतुः-षष्टिमात्रा प्रकृतिपुरुषद्वैविध्यमासाद्याष्टाविंशत्युत्तरभेदमात्रास्वरूपमा-साद्य सगुणनिर्गुणत्वमुपेत्यैकोऽपि ब्रह्मप्रणवः ॥3॥

विराट्प्रणव सोलह मात्राओं वाला होता है। इसे 36 तत्त्वों से परे कहा गया है। इस प्रणव की 'अ'कार प्रथम मात्रा है, 'उ'कार द्वितीय मात्रा, है 'म'कार तृतीय मात्रा है, अर्धमात्रा चौथी मात्रा है, नाद पंचमी मात्रा है, बिन्दु छठी मात्रा है, कला सप्तमी मात्रा है, कलातीत आठवीं मात्रा है, शान्ति नवमीं मात्रा है, शान्त्यतीत दशवीं मात्रा है, उन्मनी ग्यारहवीं मात्रा है, मनोन्मयी बारहवीं मात्रा है, पुरी तेरहवीं मात्रा है, मध्यमा चौदहवीं मात्रा है, पश्यन्ती पन्द्रहवीं मात्रा है और परा सोलहवीं मात्रा है। इस तरह सोलह मात्राओं वाला यह ब्रह्मप्रणव ओत, अनुज्ञात, अनुज्ञा और अविकल्प रूप चतुर्विध तुरीय से अभिन्न होने के कारण फिर चौसठ कलाओं वाला हो जाता है। यही प्रणव पुनः पुरुष और प्रकृति के भेद से दो प्रकार का होकर एक सौ अट्ठाईस मात्रा वाला रूप धारण करता है। इस तरह एक होते हुए भी प्रणव दृष्टिभेद से अनेक प्रकार से साकार और निराकार रूप ग्रहण करता है।

कुटीचकबहूदकयोर्मन्त्रजपाधिकारो हंसपरमहंसयोर्ध्यानाधिकारस्तुरीयातीतावधूतयोर्न त्वन्याधिकारस्तुरीयातीतावधूतयोर्महावाक्योपदेशाधिकारः परमहंसस्यापि। कुटीचकबहूदकहंसानां नान्यस्योपदेशाधिकारः ॥8॥

कुटीचक और बहूदक को मंत्र जप का अधिकार है। हंस और परमहंस को ध्यान का अधिकार है। तुरीयातीत और अवधूत को स्वरूपानुसन्धान के सिवा अन्य कोई अधिकार नहीं है। तुरीयातीत और अवधूत को महावाक्यों का उपदेश प्रदान करने का अधिकार है। परमहंस को भी यह अधिकार है। कुटीचक, बहूदक और हंस—तीनों को दूसरों को उपदेश देने का अधिकार नहीं है।

कुटीचकबहूदकयोर्मानुषप्रणवः हंसपरमहंसयोरान्तरप्रणवः तुरीयातीतावधूतयोर्ब्रह्मप्रणवः ॥9॥
कुटीचकबहूदकयोः श्रवणं हंसपरमहंसयोर्मननं तुरीयातीतावधूतयोर्निदिध्यासः। सर्वेषामात्मानुसन्धानं विधिरिति ॥10॥

कुटीचक और बहूदक के लिए मानुष (साधारण) प्रणव (ॐकार) का, हंस और परमहंस के लिए मानसिक प्रणव का तथा तुरीयातीत और अवधूत के लिए ब्रह्मप्रणव का विधान है। कुटीचक और बहूदक के लिए श्रवण, हंस और परमहंस के लिए मनन तथा तुरीयातीत और अवधूत के लिए निदिध्यासन का विधान है! इन सभी के लिए आत्मानुसन्धान की विधि तो है ही।

एवं मुमुक्षुः सर्वदा संसारतारकं तारकमनुस्मरञ्जीवन्मुक्तो वसेदधिकारविशेषेण कैवल्यप्राप्त्युपायमन्विष्येद्यतिरित्युपनिषत् ॥11॥

इति सप्तमोपदेशः।

इस प्रकार योगी को सर्वदा संसार को पार कराने वाले तारक मंत्र (ॐकार) का चिन्तन करते हुए जीवन्मुक्त होकर विचरण करना चाहिए। योगी को अपने-अपने अधिकारविशेष के अनुसार कैवल्यप्राप्ति का उपाय खोजना चाहिए। यही उपदेश है।

यहाँ सातवाँ उपदेश पूरा हुआ।

❋

अष्टमोपदेशः

अथ हैनं भगवन्तं परमेष्ठिनं नारदः पप्रच्छ संसारतारकं प्रसन्नो ब्रूहीति। तथेति परमेष्ठी वक्तुमुपचक्रमे ओमिति ब्रह्मेति व्यष्टिसमष्टिप्रकारेण। का व्यष्टिः का समष्टिः संहारप्रणवः सृष्टिप्रणवश्चान्तर्बहिश्चोभयात्मकत्वात् त्रिविधो ब्रह्मप्रणवः। अन्तःप्रणवो व्यावहारिकप्रणवः। बाह्यप्रणव आर्षप्रणवः। उभयात्मको विराट् प्रणवः। संहारप्रणवो ब्रह्मप्रणवोऽर्धमात्राप्रणवः ॥1॥

अब परमेष्ठी ब्रह्माजी से नारद ने पूछा—'संसारतारक मंत्र को आप प्रसन्न होकर मुझसे कहिए।'

तब ब्रह्माजी ने 'अच्छा' ऐसा कहकर कहना शुरू किया—वह संसारतारक मंत्र ॐकार है, वही ब्रह्म है। उसको समष्टि और व्यष्टि—दोनों तरह से समझना चाहिए।' नारद ने पूछा—यह व्यष्टि और समष्टि क्या है ? ब्रह्माजी ने कहा—संहारप्रणव और सृष्टिप्रलय, ये प्रणव के दो अवयव हैं। एक ही प्रणव अन्तः, बहिः और उभय—ऐसे तीन भागों में बँटा है। प्रथम संहारप्रणव, द्वितीय सृष्टिप्रलय और तृतीय उभयात्मक। इनमें अन्तःप्रणव को व्यावहारिक प्रणव नाम दिया गया है, बाह्यप्रणव को आर्षप्रणव कहा जाता है और उभयात्मकप्रणव को विराट्प्रणव कहते हैं। और संहारप्रणव को ब्रह्म प्रणव भी कहते हैं। और स्थूलादि भेद से परिपूर्ण अकारादि चारमात्रा वाले प्रणव को अर्धमात्राप्रणव भी कहते हैं।

ओमिति ब्रह्म। ओमित्येकाक्षरमन्तःप्रणवं विद्धि। स चाष्टधा भिद्यते। अकारोकारमकारार्धमात्रानादबिन्दुकलाशक्तिश्चेति। तत्र चत्वार अकार-श्चायुतावयवान्वित उकारः सहस्रावयवान्वितो मकारः शतावयवोपेतो-ऽर्धमात्राप्रणवोऽनन्तावयवाकारः। सगुणो विराट् प्रणवः संहारो निर्गुण-प्रणव उभयात्मकोत्पत्तिप्रणवो यथाप्लुतो विराट् प्लुतः प्लुतसंहारः ॥2॥

वह ॐ ही ब्रह्म है। इस अन्तःप्रणव को ही एकाक्षरमंत्र जानो। इसके आठ प्रकार हैं। यह प्रणव केवल चार-चार मात्राओं से ही संयुक्त नहीं है। इसके अकार, उकार, मकार, अर्धमात्रा, नाद, बिन्दु, कला, और शक्ति—ये आठ भेदों के रूप हैं। ॐकार की चारों मात्राओं में एक-एक के भी कई भेद हैं। केवल अकार ही दस सहस्र अवयव वाला है। उकार के एक हजार और मकार के एक सौ अवयव हैं। अर्धमात्राप्रणव भी अनन्त अवयवों वाला है। विराट्प्रणव को 'सगुणप्रणव' और संहारप्रणव को 'निर्गुणप्रणव' माना गया है। और सृष्टिप्रणव तो सगुण-निर्गुण दोनों से सम्बद्ध है। विराट्प्रणव यथाप्लुत (चारों मात्राओं की समष्टि) है और संहारप्रलय प्लुतप्लुत (अर्थात् चतुर्थमात्रा से युक्त) अर्धमात्रास्वरूप है।

विराट् प्रणवः षोडशमात्रात्मकः षट्त्रिंशत्तत्त्वातीतः। षोडशमात्रात्म-कत्वं कथमित्युच्यते। अकारः प्रथमोकारो द्वितीया मकारस्तृतीयाऽर्ध-मात्राचतुर्था नादः पञ्चमी बिन्दुः षष्ठी कला सप्तमी कलातीताष्टमी शान्तिर्नवमी शान्त्यतीता दशमी उन्मन्येकादशी मनोन्मनी द्वादशी पुरी त्रयोदशी मध्यमा चतुर्दशी पश्यन्ती पञ्चदशी परा षोडशी। पुनश्चतुः-षष्टिमात्रा प्रकृतिपुरुषद्वैविध्यमासाद्याष्टाविंशत्युत्तरभेदमात्रास्वरूपमा-साद्य सगुणनिर्गुणत्वमुपेत्यैकोऽपि ब्रह्मप्रणवः ॥3॥

विराट्प्रणव सोलह मात्राओं वाला होता है। इसे 36 तत्त्वों से परे कहा गया है। इस प्रणव की 'अ'कार प्रथम मात्रा है, 'उ'कार द्वितीय मात्रा, है 'म'कार तृतीय मात्रा है, अर्धमात्रा चौथी मात्रा है, नाद पंचमी मात्रा है, बिन्दु छठी मात्रा है, कला सप्तमी मात्रा है, कलातीत आठवीं मात्रा है, शान्ति नवमीं मात्रा है, शान्त्यतीत दशवीं मात्रा है, उन्मनी ग्यारहवीं मात्रा है, मनोन्मयी बारहवीं मात्रा है, पुरी तेरहवीं मात्रा है, मध्यमा चौदहवीं मात्रा है, पश्यन्ती पन्द्रहवीं मात्रा है और परा सोलहवीं मात्रा है। इस तरह सोलह मात्राओं वाला यह ब्रह्मप्रणव ओत, अनुज्ञात, अनुज्ञा और अविकल्प रूप चतुर्विध तुरीय से अभिन्न होने के कारण फिर चौसठ कलाओं वाला हो जाता है। यही प्रणव पुनः पुरुष और प्रकृति के भेद से दो प्रकार का होकर एक सौ अट्ठाईस मात्रा वाला रूप धारण करता है। इस तरह एक होते हुए भी प्रणव दृष्टिभेद से अनेक प्रकार से साकार और निराकार रूप ग्रहण करता है।

सर्वाधारः परंज्योतिरेष सर्वेश्वरो विभुः ।
सर्वदेवमयः सर्वप्रपञ्चाधारगर्भितः ॥4॥
सर्वाक्षरमयः कालः सर्वागममयः शिवः ।
सर्वश्रुत्युत्तमो मृग्यः सकलोपनिषन्मयः ॥5॥
भूतं भव्यं भविष्यद्यत् त्रिकालोदितमव्ययम् ।
तदप्योङ्कारमेवायं विद्धि मोक्षप्रदायकम् ॥6॥
तमेवात्मानमित्येतद् ब्रह्मशब्देन वर्णितम् ।
तदेकममृतमजरमनुभूय तथोमिति ॥7॥
सशरीरं समारोप्य तन्मयत्वं तथोमिति ।
त्रिशरीरं तमात्मानं परंब्रह्म विनिश्चितु ॥8॥

वह ओंकारूप प्रणवब्रह्म अविनाशी परमात्मतत्त्व सर्वाधारभूत है, प्रकाशस्वरूप है, यह ॐकार सर्व प्राणियों का ईश्वर और सर्वव्यापक है। सभी देवसमूह इसी के प्रतिरूप हैं। सर्वप्रपंचाधार प्रवृत्ति भी इसी के गर्भ में है। यह सर्वाक्षर स्वरूप है, यही कालरूप है, यही सर्वशास्त्रमय है, मंगलकारी है, सभी वेदों में उत्तम है, यही खोजने लायक है, यही सभी उपनिषदों का स्वरूप है। भूतकाल, वर्तमान काल और भविष्यत्काल—तीनों कालों से परे और तीनों भुवनों से भी परे जो एक अव्ययतत्त्व है, वह इस ओंकार का ही स्वरूप है। तुम इसी को मोक्ष देने वाला जानो। इस ॐकार का आशय आत्मा और ब्रह्म शब्द से वर्णित किया गया है। इस ब्रह्म और आत्मा को एक ही तत्त्व के रूप में अनुभव करके यही एकमात्र अनुपम, अद्वितीय, अजर, अमर है—ऐसा अनुभव करना चाहिए। ऐसे अनुभव के बाद स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीरों का भी उसी ॐकार में आरोपण कर देना चाहिए। इस ॐकार में तीनों शरीरयुक्त आत्मारूप परब्रह्म है—ऐसा निश्चय करना चाहिए।

परंब्रह्मानुसन्दध्याद् विश्वादीनां क्रमः क्रमात् ।
स्थूलत्वात्स्थूलभुक्त्वाच्च सूक्ष्मत्वात्सूक्ष्मभुक् परम् ॥9॥
ऐक्यत्वानन्दभोगाच्च सोऽयमात्मा चतुर्विधः ।
चतुष्पाज्जागरितः स्थूलः स्थूलप्रज्ञो हि विश्वभुक् ॥10॥
एकोनविंशतिमुखः साष्टाङ्गः सर्वगः प्रभुः ।
स्थूलभुक् चतुरात्माथ वैश्वो विश्वानरः पुमान् ॥11॥
विश्वजित्प्रथमः पादः स्वप्नस्थानगतः प्रभुः ।
सूक्ष्मप्रज्ञः स्वतोऽष्टाङ्गः एको नान्यः परंतप ॥12॥

हे परन्तप नारद ! परब्रह्म का अनुसन्धान करने के लिए जो विश्व आदि का क्रम है, वह क्रम इस प्रकार है—(1) स्थूल (विराट्) जगत् और उसका भोक्ता तथा (2) सूक्ष्म जगत्रूप तथा उसका भोक्ता होने के कारण, (3) एकमात्र आनन्दस्वरूप तथा आनन्दमात्र के उपभोक्ता होने के कारण; इन तीनों की अपेक्षा भी विशेष लक्षण वाला होने के कारण यह आत्मा चार भेदों वाला होता है। वह चार पाद वाला है। यह चार पाद ही इसके चार भेद हैं। इन चार पादों में जो स्थूल पदार्थों का अनुभव करता है, विश्वव्यापक स्थूलशरीरधारी (विराट्) है, वह 'वैश्वानर' कहा जाता है, यह प्रथमपाद है। और जो दूसरा स्वप्नस्थान में अवस्थित आत्मा है, वह सूक्ष्म पदार्थों का अनुभव करता है। भूः, भुवः आदि आठ लोकों से युक्त है, वह भी कोई अन्य नहीं है।

सूक्ष्मभुक् चतुरात्माथ तैजसो भूतराडयम्।
हिरण्यगर्भः स्थूलोऽन्तर्द्वितीयः पाद उच्यते ॥13॥
कामं कामयते यावद् यत्र सुप्तो न कञ्चन।
स्वप्नं पश्यति नैवात्र तत्सुषुप्तमपि स्फुटम् ॥14॥
एकीभूतः सुषुप्तस्थः प्रज्ञानघनवान्सुखी।
नित्यानन्दमयोऽप्यात्मा सर्वजीवान्तरस्थितः ॥15॥
तथाप्यानन्दभुक् चेतोमुखः सर्वगतोऽव्ययः।
चतुरात्मेश्वरः प्राज्ञस्तृतीयः पादसंज्ञितः ॥16॥

वह स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म पदार्थों का अनुभव करता है। चतुर्विध आत्मा का यह स्वरूप तैजस कहलाता है। यह भी पूर्वोक्त आठ अंगों से युक्त होता है। वह स्वप्नलोक में एकाकी ही है। इसके भी पूर्वोक्त प्रकार से चार भेद हो सकते हैं, उसे 'तैजस' पुरुष कहा जाता है। वह सभी प्राणियों का स्वामी हिरण्यगर्भ है। पूर्वोक्त वैश्वानर तो स्थूल है, पर यह अन्त:स्थ होने से सूक्ष्म है। उसे परमात्मा का दूसरा पाद कहा गया है। जब सोया हुआ पुरुष किसी भी प्रकार की कामना नहीं करते हुए कोई स्वप्न तक भी नहीं देखता, उसको सुषुप्तावस्था कहा जाता है। इस अवस्था में अवस्थित सुषुप्तात्मा स्पष्ट रूप से ही प्रलयावस्था का (एकीभाव का) अनुभव करता है। वह घनीभूत प्रज्ञान में लीन हो जाता है, आनन्दमय है, नित्यानन्दमय है, समस्त प्राणियों के अन्तस् में विद्यमान है, अन्तर्यामी आत्मा है, जो चिन्मय प्रकाश वाले मुखवाला है। वह ज्ञातृ-अनुज्ञातृ-अनुज्ञा-अविकल्प रूप चतुरात्मा है, वह प्राज्ञ कहलाता है, वह परमात्मा का तृतीयपाद है।

एष सर्वेश्वरश्चैष सर्वज्ञः सूक्ष्मभावनः।
एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ ॥17॥
भूतानां त्रयमप्येतत्सर्वोपरमबाधकम्।
तत्सुषुप्तं हि यत्स्वप्नं मायामात्रं प्रकीर्तितम् ॥18॥
चतुर्थश्चतुरात्मापि सच्चिदेकरसो ह्ययम्।
तुरीयावसितत्वाच्च एकैकत्वानुसारतः ॥19॥
ओत्रानुज्ञात्रननुज्ञाविकल्पज्ञानसाधनम्।
विकल्पत्रयमत्रापि सुषुप्तं स्वप्नमान्तरम्।
मायामात्रं विदित्वैवं सच्चिदेकरसो ह्यथ ॥20॥

यह परब्रह्म ही सबका स्वामी है, यही सर्वज्ञ है, सूक्ष्मता से चिन्तन करने योग्य है, यही अन्तर्यामी है, यही सभी का उद्भवस्थान है, यही सबके जन्म और सबके नाश का कारण है। तीन लोक भी यही है (अथवा उत्पत्ति, स्थिति और विनाश भी यही है)। सभी का उपरम (विलय) भी इसी में होता है। सभी प्रकार के उपरम (शान्ति) का बाधक भी तो यही है। जो त्रिविध जगत् है, वही स्वप्न है, क्योंकि वह विपरीतदर्शन ही है। यह मायामय ही है। परन्तु त्रिपादों से अतिरिक्त एक चतुर्थ पाद—तुरीयपाद भी है। तुरीय के भेद तुरीय में अवसित हो जाते हैं। वह सच्चिदानन्दमय है। तुरीय के चारों भेद तुरीय में अवसित हो जाने के कारण सभी तुरीय ही कहे जाते हैं। (ये चारों भेद ओता, अनुज्ञाता, अनुज्ञा और अविकल्प हैं)। तुरीय को इन चार भेदों में भी ओता, अनुज्ञाता और अनुज्ञा, विकल्प के साधनरूप हैं। अत: इन विकल्पों को भी पहले की ही तरह सुषुप्त, मनोमय, स्वप्नवत् मायामय ही जानना चाहिए। और इन भेदों से परे निर्विकल्परूप तुरीयतुरीय परब्रह्म सच्चिदानन्द को ही लक्ष्य करना चाहिए।

विभक्तो ह्ययमादेशो न स्थूलप्रज्ञमन्वहम् ।
न सूक्ष्मप्रज्ञमत्यन्तं न प्रज्ञं न क्वचिन्मुने ॥21॥
नैवाप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञमान्तरम् ।
नाप्रज्ञमपि न प्रज्ञाघनं चादृष्टमेव च ॥22॥
तदलक्षणमग्राह्यं यद्व्यवहार्यमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शिवं शान्तमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते । स ब्रह्मप्रणवः । स विज्ञेयो नापरस्तुरीयः सर्वत्र भानुवन्मुमुक्षूणामाधारः स्वयंज्योतिर्ब्रह्माकाशः सर्वदा विराजते परब्रह्मत्वादित्युपनिषत् ॥23॥

इत्यष्टमोपदेशः ।

बाद में ब्रह्मा बोले कि श्रुति का यह स्पष्ट आदेश है कि जो सदैव न तो स्थूल का ज्ञाता है, न सूक्ष्मज्ञ है, न ही दोनों का ज्ञाता है, न सर्वाधिक ज्ञाता है, न केवल ज्ञाता है, न अन्त:प्रज्ञ है, न बहि:प्रज्ञ है, जो अदृश्य (अरूप) है, जो पकड़ में नहीं लाया जा सकता, जिसके साथ कोई व्यवहार नहीं किया जा सकता, जो अचिन्त्य है, जो अपरिभाष्य है, एकात्मसत्ता ही जिसकी प्रतीति का सार है, जिसमें माया का अभाव है । हे मुनि ! ऐसा परमकल्याणकारी, शान्त, अद्वितीय, परमतत्त्व ही उस पूर्ण परब्रह्म का चौथा पाद है, ऐसा ज्ञानीजन मानते हैं । यह ब्रह्मप्रणव ही जानने (समझने) योग्य है, अन्य नहीं । सर्वप्रकाशक सूर्य के समान यह मुमुक्षुओं का आधार है । स्वयंप्रकाश परब्रह्म आकाशरूप है और सर्वदा वह विराजित ही रहता है, क्योंकि वह परब्रह्म है । यही उपनिषद् उपदेश है ।

यहाँ अष्टमोपदेश पूरा हुआ ।

नवमोपदेशः

अथ ब्रह्मस्वरूपं कथमिति नारदः पप्रच्छ । तं होवाच पितामहः किं ब्रह्मस्वरूपमिति । अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति ये विदुस्ते पशवो न स्वभावपशवस्तमेवं ज्ञात्वा । विद्वान्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥1॥

अब नारद ने पूछा—'ब्रह्मस्वरूप कैसा है ?' तब पितामह ने कहा—ब्रह्मस्वरूप और क्या है ! निजस्वरूप ही तो ब्रह्म है । 'यह अलग है, मैं अलग हूँ'—ऐसा जो जानते हैं, वे पशु ही हैं । स्वभाव (पारमार्थिक) रूप से तो वे पशु नहीं हैं पर भेददृष्टि से पशु जैसे हो गए हैं । उस परमात्मा को ऐसे अभेद स्वरूप से जान कर विद्वान् मृत्यु के मुख से छूट जाता है । इसके सिवा (बिना जाने) मोक्ष का अन्य उपाय ही नहीं है ।

कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम् ।
संयोग एषां नत्वात्मभावादात्मा ह्यनीशः सुखदुःखहेतोः ॥2॥
ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् ।
यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ॥3॥
तमेकस्मिंस्त्रिवृतं षोडशान्तं शतार्धारं विंशतिप्रत्यराभिः ।

अष्टकैः षड्भिर्विश्वरूपैकपाशं त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोहम् ॥4॥
पञ्चस्त्रोतोम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्त्रां पञ्चप्राणोर्मिं पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम् ।
पञ्चावर्ता पञ्चदुःखौघवेगां पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीमः ॥5॥

(कुछ जिज्ञासु लोग कहते हैं कि) इस जगत् का कारण क्या है ? क्या काल है ? स्वभाव है ? नियति है ? क्या कोई आकस्मिक घटना है ? पाँच महाभूत हैं ? अथवा जीवात्मा है ? इन सबका संयोग तो इस जगत् का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि ये सब तो आत्मा के आश्रित हैं । और जीवात्मा भी तो इस जगत् का कारण नहीं हो सकता क्योंकि वह भी सुख-दुःख के हेतुभूत प्रारब्धकर्मों का आश्रित है । इस विषय में ऋषिमुनियों ने ध्यानावस्था में प्रतिष्ठित होकर अपने गुणों से आवृत परब्रह्म की उस अचिन्त्य शक्ति को देखा (जगत् के कारणरूप में पहचाना) । वह परब्रह्म अकेले ही काल से लेकर आत्मा तक पूर्वोक्त वृत्तों को सभी कारणों पर शासन करता है । उस एक नेमि वाले (एक प्रकृति वाले), सत्त्व-रजस्-तमस् रूप तीन (आवरणों) से युक्त, सोलह कलाओं युक्त, सोलह सिरों से युक्त, विपर्यय-तुष्टि-अशक्ति आदि 50 प्रत्ययरूप पचास अरों वाले तथा बीस सहायक अरों वाले (10 इन्द्रियाँ + 5 विषय + 5 प्राण = 20) इस विश्वरूपी चक्र को जिज्ञासु जनों ने देख लिया है । छः अष्टकों के (इस मंत्र में कहे गए छः अष्टक कौन से हैं, वह स्पष्ट नहीं होता) आठ-आठ भेद कहे गए हैं । यह सब मोहरूपी नाभिक को केन्द्र मानकर घूम रहे हैं । अब ऋषि यहाँ विश्व के प्रवाह को नदी का रूपक देते हुए कहते हैं कि (पूर्व में महिमा का रूप – विश्वचक्र का रूप दिया था । अब नदी का रूपक देते हैं—) पाँच स्रोतों से प्रवाहित होने वाले विषयजल से भरे हुए पाँच स्थानों से आविर्भूत होकर भय प्रदान करने वाली और अपनी कुटिल (वक्र) चाल से गमन करने वाली, पाँच दुःखप्रवाहों के वेग से युक्त, पाँच पर्वो वाली तथा पचास भेदों वाली नदी को हम सब लोग जानते हैं । (इसकी विशद व्याख्या शंकराचार्यजी के भाष्य में देखी जा सकती है) ।

सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते तस्मिन्हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे ।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति ॥6॥
उद्गीथमेतत्परमं तु ब्रह्म तस्मिंस्त्रियं स्वप्रतिष्ठाक्षरं च ।
अत्रान्तरं वेदविदो विदित्वा लीना परे ब्रह्मणि तत्परायणाः ॥7॥
संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः ।
अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावाज्ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपापैः ॥8॥
ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजा ह्येका भोक्तृभोगार्थयुक्ता ।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्म ह्येतत् ॥9॥
क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः ।
तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ॥10॥

सकल प्राणियों के आश्रयभूत और संजीवनीस्वरूप इस विशाल ब्रह्मचक्र में जीवात्मा को भ्रमण कराया जा रहा है । वह जीवात्मा स्वयं अपने आपको उस परमात्मा से अलग समझ लेता है । परमात्मा तो सभी का प्रेरणास्रोत है, फिर बाद में वह जीव परमात्मा द्वारा स्वीकृत होकर अमृतभाव को प्राप्त कर लेता है । वेदप्रतिपादित यह परमात्मा ही श्रेष्ठ आश्रयस्थान और शाश्वत एवं अविनाशी है । इसी परमात्मा में तीनों लोक आए हुए हैं । वेद को जानने वाले ऋषिलोग यहीं (इस हृदय में ही) इस परमात्मा को प्रतिष्ठित जानकर उसमें निष्ठा रखकर इसी हृदयस्थ परब्रह्म में लीन हो जाते हैं । क्षर (सतत विनाशशील जडतत्त्व) और अक्षर (अविनाशी जीवात्मा) से मिले-जुले इस जगत् का, अथवा

यों कहें कि व्यक्त और अव्यक्त के मिले-जुले रूप जैसे जगत् का भरणपोषण वह ईश (परमात्मा परब्रह्म) ही करता है। और जो जीव है, वह तो जगत् के विषयभोगों का भोक्ता होने के कारण प्रकृति के वश में आकर बन्धन में पड़ जाता है और उस परमदेव को जानकर ही सभी पापों से मुक्त हो सकता है। ज्ञानी और अज्ञानी (समर्थ और असमर्थ) ये दो ही अजन्मा अविनाशी हैं (जीवात्मा और परमात्मा ही अविनाशी हैं) और इन दोनों के अतिरिक्त भोक्ता ऐसे जीवात्मा के लिए भोग्य सामग्री वाली अनादि प्रकृति एक तीसरी शक्ति भी है। जो परमात्मदेव है, वह तो अनन्त और सम्पूर्ण रूपों से युक्त है, वह कर्तृत्व के अभिमान से रहित है। जब मनुष्य इस तरह परमात्मा, जीव और प्रकृति—इन तीनों के रूप को ब्रह्म के रूप में ग्रहण करता है, तब वह सभी तरह के बन्धनों से मुक्त हो जाता है। प्रकृति तो विनाशशील है, पर उसका भोक्ता जीवात्मा अविनाशी ही है और अमृतमय है। इन दोनों – विनाशी जडतत्त्व प्रकृति और चेतन आत्मा – को एक ही ईश्वर अपने नियामकत्व में रखते हैं। इस तरह एक ही परमेश्वर का सदैव चिन्तन करते रहने से अर्थात् उसमें तल्लीन हो जाने से मनुष्य अन्त में उसे पा ही लेता है। इसके बाद सभी प्रकार के प्रपंच की (माया की) निवृत्ति हो जाती है।

ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः।
तस्याभिध्यानात् तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः ॥11॥
एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित्।
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म ह्येतत् ॥12॥
आत्मविद्यातपोमूलं तद्ब्रह्मोपनिषत्परम् ॥13॥

ऐसे परमात्मदेव को जानकर मनुष्य सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्त हो जाता है। और जब उसके बन्धनजन्य क्लेश नष्ट हो जाते हैं, तब जन्ममरण से भी मुक्ति हो जाती है अर्थात् उसके जन्ममरण नहीं होते। जब इसके ध्यान से तीनों प्रकार के देह-भेद नष्ट हो जाते हैं अर्थात् स्थूल-सूक्ष्म-कारण देह नष्ट हो जाते हैं, तब वह सर्वथा विशुद्ध और आप्तकाम हो जाता है। तब वह त्रितय (स्वर्ग का ऐश्वर्य) भी छोड़ देता है। यही जो हमेशा अपने आत्मा में ही अवस्थित है, वही जानने योग्य है इससे अतिरिक्त और कुछ जानने योग्य है ही नहीं। भोक्ता (जीव), भोग्य (विषय) और उन दोनों का प्रेरक (परमात्मा) इन तीनों को सही स्वरूप में जान लेने से मनुष्य सब कुछ जान लेता है। तात्पर्य यह है कि इस प्रकार तीन भेदों में वर्णित सब कुछ ब्रह्ममय ही है। इस ब्रह्ममयता की प्राप्ति के लिए आत्मविद्या और तप ही उपाय हैं (स्रोत हैं, साधन हैं)। उपनिषद्वर्णित परमश्रेष्ठ तत्त्व यही परमेश्वर है। (भावार्थ यह है कि यह एक ही ब्रह्म केवल दृष्टि के भेद की वजह से ही द्वितय या त्रितय कहा जाता है, पर यह दृष्टिभेद तो अज्ञानजनित भ्रम ही है। अतएव वह एक ही परमतत्त्व है।

य एवं विदित्वा स्वरूपमेवानुचिन्तयंस्तत्र को मोहः कः शोकः एकत्व-मनुपश्यतः। तस्माद्विराड्भूतं भव्यं भविष्यद्भवत्यनश्वरस्वरूपम् ॥14॥
अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम् ॥15॥
अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥16॥
अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥17॥

सर्वस्य धातारमचिन्त्यशक्तिं सर्वागमान्तार्थविशेषवेद्यम्।
परात्परं परमं वेदितव्यं सर्वावसानेऽन्तकृद्वेदितव्यम् ॥18॥

जो मनुष्य ऐसा जानकर अपने स्वरूप का ही चिन्तन करता रहता है, वहाँ जब वह एकत्व को ही देखता है तब शोक कैसा ? मोह कैसा ? इसलिए भूत, भविष्य और वर्तमान—इन तीनों कालों में आविर्भूत यह विराट् संसार ही अनश्वर ब्रह्ममय ही है। यह ब्रह्म सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व से भी सूक्ष्म परिमाण वाला है और साथ ही साथ महत् परिमाण से भी महत् परिमाण वाला भी है। वह मनुष्य की हृदयरूपी गुफा में रहता है। ऐसे संकल्परहित परमात्मा को और उसकी महिमा को मनुष्य उसी की विशेष अनुकम्पा से शोकरहित होकर जान सकता है। उस परमेश्वर के हाथ-पैर नहीं हैं, फिर भी वह वेग से गमन कर सकता है और सब कुछ ग्रहण कर सकता है। उसके नेत्र नहीं हैं, फिर भी वह सब कुछ देख सकता है। उसके कान भी नहीं हैं, फिर भी वह सब कुछ सुन सकता है। जो कुछ जानने योग्य (विषयभूत) है, उसे वह जानता है, पर उसे कोई भी नहीं जान सकता। विद्वान् मनुष्य उसे ही प्राचीन और महान् कहते हैं। वह परमात्मा इन नाशवन्त शरीरों में अविनाशी होकर रहता है, उस सर्वव्यापक महान् परमेश्वर को जान लेने पर धैर्यशील मनुष्य कभी शोकाकुल नहीं होता। वह परमात्मा सभी प्राणियों का भरणपोषण करने वाला है, उसकी शक्ति कल्पनातीत है, सभी वेदान्तों के अर्थों में विशेषतः जानने योग्य है। वह परे से भी परे है, वही एकमात्र पहचानने योग्य है, और सम्पूर्ण विश्व के अवसान (प्रलय) होने पर प्रलयकर्ता के रूप में वही जानने (पहचानने) योग्य है।

कविं पुराणं पुरुषोत्तमोत्तमं सर्वेश्वरं सर्वदेवैरुपास्यम्।
अनादिमध्यान्तमनन्तमव्ययं शिवाच्युताम्भोरुहगर्भभूधरम् ॥19॥
स्वेनावृतं सर्वमिदं प्रपञ्चं पञ्चात्मकं पञ्चसु वर्तमानम्।
पञ्चीकृतानन्तभवप्रपञ्चं पञ्चीकृतस्वावयवैरसंवृतम्।
परात्परं यो महतो महान्तं स्वरूपतेजोमयशाश्वतं शिवम् ॥20॥
नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमनसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥21॥
नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं न स्थूलं नास्थूलं न ज्ञानं नाज्ञानं नोभयतः-प्रज्ञमग्राह्यमव्यवहार्यं स्वान्तःस्थितः स्वयमेवेति य एवं वेद स मुक्तो भवति स मुक्तो भवतीत्याह भगवान् पितामहः ॥22॥

वह त्रिकालज्ञ कवि, पुरातन पुरुष, पुरुषोत्तम, सर्व के ईश्वर, सभी देवों के लिए उपासना करने योग्य हैं, जिसका कोई आदि, मध्य और अन्त नहीं है, जो अविनाशी है, वही शिव, विष्णु और कमलोत्पन्न ब्रह्माजी को अपने गर्भ में रखने वाले पर्वत के समान है। पंचमहाभूतात्मक और पाँच इन्द्रियों में विषयरूप से रहने वाले इस प्रपंच (जगत्) को उसने अपने द्वारा अन्तर्यामी रूप से आवृत कर रखा है। इस प्रपञ्च ने (जगत् ने) अनेक जन्मों की परंपरा बढ़ा दी है, ऐसे जगत् को परमात्मा ने पंचीकृत पंचभूतात्मक रूप में पैदा तो किया, परन्तु स्वयं उससे आवृत नहीं हुए। वह तो परे से भी परे, बड़े से भी बड़े, स्वतःस्वरूप, कल्याणमय सनातन बने ही रहे। जो मनुष्य दुष्ट चारित्र्य से (दुष्ट कामों से) अभी निवृत्त नहीं हुआ है, जो शान्त नहीं है, जिसकी बुद्धि स्थिर नहीं है, जिसका मन भी शान्त नहीं हुआ है, ऐसा मनुष्य इस परमात्मतत्त्व को विशुद्ध ज्ञान के द्वारा प्राप्त नहीं कर सकता। यह परात्पर पूर्ण पुरुषोत्तम तत्त्व न तो अन्तःप्रज्ञ है, न बाह्यप्रज्ञ है, वह स्थूल भी नहीं है, सूक्ष्म भी नहीं है, उसे ज्ञानरूप भी नहीं कहा जा सकता और अज्ञानरूप भी नहीं कहा जा सकता। वह अन्तर्बाह्य-

उभयरूप भी तो नहीं है। वह मनुष्य की पकड़ में आने वाला नहीं है। वह व्यवहार का विषय ही नहीं बनता। वह अपने अन्दर स्वयं विद्यमान (सत्तारूप) है। जो मनुष्य उसे इस प्रकार जान लेता है वह मुक्त होता है, वह मुक्त हो जाता है—ऐसा भगवान् पितामह ने नारद से कहा।

स्वस्वरूपज्ञः परिव्राट् परिव्राडेकाकी चरति भयत्रस्तसारङ्गवत्तिष्ठति। गमनविरोधं न करोति स्वशरीरव्यतिरिक्तं सर्वं त्यक्त्वा षट्पदवृत्त्या स्थित्वा स्वरूपानुसन्धानं कुर्वन्सर्वमनन्यबुद्ध्या स्वस्मिन्नेव मुक्तो भवति। स परिव्राट् सर्वक्रियाकारकनिवर्तको गुरुशिष्यशास्त्रादिविनिर्मुक्तः सर्वसंसारं विसृज्य चामोहितः परिव्राट् कथं निर्धनिकः सुखी धनवान् ज्ञानाज्ञानोभयातीतः सुखदुःखातीतः स्वयंज्योतिःप्रकाशः सर्ववेद्यः सर्वज्ञः सर्वसिद्धिदः सर्वेश्वरः सोऽहमिति। तद्विष्णोः परमं पदम्। यत्र गत्वा न निवर्तन्ते योगिनः। सूर्यो न तत्र भाति न शशाङ्कोऽपि न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तते तत्कैवल्यमित्युपनिषत्॥23॥

इति नवमोपदेशः।

इति नारदपरिव्राजकोपनिषत्समाप्ता।

अपने सही स्वरूप को पहचानने वाला परिव्राट् अकेला ही परिभ्रमण करता रहता है। वह यति डरे हुए हिरण की भाँति कभी एक जगह पर नहीं ठहरता। यहाँ-वहाँ जाने का यदि कोई विरोध करता है, तो वह उसे कभी भी नहीं मानता। अपने शरीर को छोड़कर बाकी सब वस्तुओं का त्याग करके भ्रमर की भाँति भ्रमण करते हुए स्वरूपानुसन्धान करते हुए भिक्षा से निर्वाह करता रहता है। उसकी बुद्धि सबके प्रति अनन्य-सी हो जाती है। वह समस्त प्राणियों को अपना आत्मस्वरूप ही समझने लगता है, तथा इस तरह से वह परिव्राट् स्वयं में ही प्रतिष्ठित होकर सभी प्रकार के क्रिया-कारकादि बन्धनों से छुटकारा पा लेता है। गुरु, शिष्य और शास्त्र की त्रिपुटी से भी वह मुक्त हो जाता है। वह सारे संसार को छोड़कर, मोहरहित हुआ परिव्राजक कैसा होता है? (तो सुनिए—) वह धनहीन होने पर भी हमेशा सुखी ही रहता है। क्योंकि वह ब्रह्मात्मज्ञानरूपी धनवाला होता है। वह ज्ञान और अज्ञान—दोनों से परे होता है। सुख और दुःख से भी परे होता है, वह स्वयंज्योति है, प्रकाशात्मक है, सभी के लिए जाननेयोग्य है, वह सब कुछ जानने वाला है, सर्व सिद्धियों का वह देने वाला है, सर्व का ईश्वर (स्वामी) है। 'वह मैं ही हूँ'—इस ज्ञान से इसकी सर्वत्र सहज उपस्थिति है। वही विष्णु का परमपद है, जहाँ जाकर वह यति फिर से यहाँ (मर्त्यलोक में) कभी नहीं आता, कभी नहीं आता। यही कैवल्य पद है, और यही यह उपनिषद् का उपदेश है।

यहाँ नारदपरिव्राजकोपनिषद् पूर्ण हुई।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः·········देवहितं यदायुः। (पूर्ववत्)

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

(45) त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

शुक्लयजुर्वेद से सम्बद्ध इस उपनिषद् में ब्रह्मप्राप्ति के उपायभूत अष्टांगयोग का विशेष निरूपण किया गया है। त्रिशिखी नाम के ब्राह्मण और भगवान् आदित्य के बीच आत्मा और ब्रह्म विषयक प्रश्नोत्तर से इसका प्रारंभ होता है। अन्य विषयों में शिवतत्त्व की सर्वव्यापकता, ब्रह्म का जगत्कारणत्व, एक का बहुधा होना, ब्रह्म से लेकर पञ्चीकरण तक की सृष्टि का वर्णन, चार अवस्थाएँ, दक्षिण-उत्तर पथ, ज्ञान द्वारा सद्योमुक्ति, ज्ञानोपायरूप योग, कर्मयोग-ज्ञानयोग-अष्टांगयोग, यम-नियमादि, हठयोग, आसन, नाडीशोधन, प्राणायाम की विधियाँ, अग्निमण्डल, नाडीचक्र में जीव का भ्रमण, कुण्डलिनी-स्थान-क्रियाव्यापार, नाडीकेन्द्र की स्थिति, नाडीविचरण, योगाभ्यास का स्थान और विधि, षण्मुखी मुद्रा, मनोजय, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और उनके भेदोपभेद आदि अनेकानेक विषयों का विशद वर्णन किया गया है। यह दो भागों में विभक्त है—एक ब्राह्मण भाग और दूसरा मन्त्र भाग।

शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं ...... पूर्णमेवावशिष्यते। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (जाबालोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

ब्राह्मणभागः (1)

त्रिशिखी ब्राह्मण आदित्यलोकं जगाम। तं गत्वोवाच। भगवन्! किं देहः किं प्राणः किं कारणं किमात्मा ॥1॥
स होवाच सर्वमिदं शिव एव विजानीहि। किन्तु नित्यः शुद्धो निरञ्जनो विभुरद्वयानन्दः शिव एकः स्वेन भासेदं सर्वं दृष्ट्वा तप्तायः पिण्डवदेकं भिन्नवदवभासते। तद्भासकं किमिति चेदुच्यते। सच्छब्दवाच्यमविद्या-शबलं ब्रह्म ॥2॥

त्रिशिखी नाम का एक ब्राह्मण एक बार आदित्यलोक में गया। वहाँ जाकर उसने आदित्य से पूछा—'हे भगवन्! यह देह क्या है? ये प्राण क्या हैं? इस सारे जगत् का कारण क्या है? और आत्मा क्या है?'

तब आदित्य ने कहा—'हे ब्राह्मण! यह सब कुछ शिव ही है, ऐसा जानो। परन्तु, वही एक नित्य, शुद्ध, निरंजन, विभु, अद्वैत, आनन्दरूप शिव अपने तेज से सभी पदार्थों को देखने के बाद, आग से तपे हुए लाल लोहपिण्ड के समान स्वयं एक होते हुए भी अनेक रूपों में अपने आपको प्रकट करते हैं। अगर पूछा जाए कि प्रकाश देने वाला कौन है? तो कहते हैं कि वह है अविद्याशबलित ब्रह्म। अर्थात् 'सत्' शब्द से कहा जाने वाला वह मायोपहित अपर ब्रह्म है, विश्वब्रह्माण्ड में संव्याप्त अपर ब्रह्म ही वह भासक है।

ब्रह्मणोऽव्यक्तम्। अव्यक्तान्महत्। महतोऽहङ्कारः। अहङ्कारात्पञ्च-तन्मात्राणि। पञ्चतन्मात्रेभ्यः पञ्चमहाभूतानि। पञ्चमहाभूतेभ्योऽखिलं जगत् ॥3॥

ब्रह्म से अव्यक्त, अव्यक्त से महत्, महत् से अहंकार, अहंकार से पंच तन्मात्राएँ, पंच तन्मात्राओं से पंचमहाभूत, पंचमहाभूतों से यह सारा जगत् उत्पन्न होता है।

तदखिलं किमिति। भूतविकारविभागादिरिति। एकस्मिन्पिण्डे कथं भूतविकारविभाग इति। तत्तत्कार्यकारणभेदरूपेणांशतत्त्ववाचक-वाच्यस्थानभेदविषयदेवताकोशभेदविभागा भवन्ति ॥4॥

यदि पूछा जाए कि यह अखिल विश्व क्या है ? तो कहते हैं कि इन पाँच भूतों के विकार द्वारा उत्पन्न विभाग ही वह अखिल जगत् है। इसमें भी यदि पूछा जाए कि भूतों के ये विकार एक ही पिण्ड से कैसे हो जाते हैं ? तो उत्तर यह है कि उन अलग-अलग भूतों के कार्य तथा कारण के भेद के द्वारा अंशतत्त्व, वाच्यवाचक भेद, स्थानभेद, विषय, देवता तथा कोश के भेद आदि के आधार पर विभाग कहे गए हैं (जो अगले मन्त्रों में स्पष्ट किए गए हैं)।

अथाकाशोऽन्तःकरणमनोबुद्धिचित्ताहङ्काराः। वायुः समानोदानव्याना-पानप्राणाः। वह्निः श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानि। आपः शब्दस्पर्शरूप-रसगन्धाः। पृथिवी वाक्पाणिपादपायूपस्थाः ॥5॥

आकाश के पाँच भेद हैं—अन्तःकरण, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। वायु के पाँच भेद हैं—समान, उदान, व्यान, अपान और प्राण। अग्नि के पाँच भेद हैं—श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा और घ्राण (ये ज्ञानेन्द्रियाँ अग्नि से उत्पन्न होती हैं)। जल से ये पाँच तन्मात्राएँ प्रादुर्भूत होती हैं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। और पृथ्वी से वाणी, हाथ, पैर, गुदा और उपस्थ—ये कर्मेन्द्रियाँ प्रादुर्भूत होती हैं।

ज्ञानसङ्कल्पनिश्चयानुसन्धानाभिमाना आकाशकार्यान्तःकरणविषयाः। समीकरणोन्नयनग्रहणश्रवणोच्छ्वासा वायुकार्यप्राणादिविषयाः। शब्द-स्पर्शरूपरसगन्धा अग्निकार्यज्ञानेन्द्रियविषया अबाश्रिताः। वचनादान-गमनविसर्गानन्दाः पृथिवीकार्यकर्मेन्द्रियविषयाः। कर्मज्ञानेन्द्रियविषयेषु प्राणतन्मात्रविषया अन्तर्भूताः। मनोबुद्ध्योश्चित्ताहङ्कारौ चान्तर्भूतौ ॥6॥

इनमें आकाश का कार्य जो अन्तःकरण है, उसके विषय ज्ञान, संकल्प, निश्चय, अनुसन्धान (स्मृति) और अहंकार हैं। और वायु तत्त्व के कार्य एवं प्राणादि के विषय—सन्तुलन, ऊर्ध्वगमन, ग्रहण, श्रवण और श्वासोच्छ्वास हैं। तथा अग्नि तत्त्व के कार्य एवं ज्ञानेन्द्रियों के विषय—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध हैं। ये विषय जलाश्रित हैं। एवं पृथ्वी तत्त्व के कार्य एवं कर्मेन्द्रियों के विषय—बोलना, लेना-देना, आना-जाना, उत्सर्ग और आनन्द हैं। कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों के विषयों में प्राण और तन्मात्राओं के विषय अन्तर्भूत हैं। मन और बुद्धि में ही चित्त और अहंकार अन्तर्भूत हैं।

अवकाशविधूतदर्शनपिण्डीकरणधारणाः सूक्ष्मतमा जैवतन्मात्र-विषयाः ॥7॥

एवं द्वादशाङ्गानि आध्यात्मिकान्याधिभौतिकान्याधिदैविकानि। अत्र निशाकरचतुर्मुखदिग्वातार्कवरुणाश्व्यग्नीन्द्रोपेन्द्रप्रजापतियमा इत्यक्षा-

धिदेवतारूपैर्द्वादशनाड्यन्तःप्रवृत्ताः प्राणा एवाङ्गानि अङ्गज्ञानं तदेव ज्ञातेति ॥8॥

अवकाश, गतिशीलता, दर्शन, पिण्डीकरण और धारणा—ये सभी क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी से सम्बद्ध सूक्ष्मातिसूक्ष्म तन्मात्राओं के विषय हैं।

इस प्रकार बारह अंगों का उल्लेख मिलता है। जो आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक इन तीनों भागों में प्रतिपादित किए गए हैं। इनमें चन्द्रमा, ब्रह्मा, दिशाएँ, वायु, सूर्य, वरुण, अश्विनी-कुमार, अग्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, प्रजापति और यम—ये सभी बारह इन्द्रियों के अधिदेवतारूप से बारह नाड़ियों में अवस्थित रहते हैं। ये ही प्राण के अंग कहे जाते हैं। इन अंगों को जानने वाला ही ज्ञाता कहा गया है।

अथ व्योमानिलानलजलान्नानां पञ्चीकरणमिति। ज्ञातृत्वं समानयोगेन श्रोत्रद्वारा शब्दगुणो वागधिष्ठित आकाशे तिष्ठति आकाशस्तिष्ठति। मनोव्यानयोगेन त्वग्द्वारा स्पर्शगुणः पाण्यधिष्ठितो वायौ तिष्ठति वायुस्तिष्ठिति। बुद्धिरुदानयोगेन चक्षुर्द्वारा रूपगुणः पादाधिष्ठितोऽग्नौ तिष्ठत्यग्निस्तिष्ठति। चित्तमपानयोगेन जिह्वाद्वारा रसगुण उपस्थाधिष्ठितोऽप्सु तिष्ठत्यापस्तिष्ठन्ति। अहङ्कारः प्राणयोगेन घ्राणद्वारा गन्धगुणो गुदाधिष्ठितः पृथिव्यां तिष्ठति पृथिवी तिष्ठति य एवं वेद ॥9॥

अब आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी का पंचीकरण कहा जाता है। समानवायु के योग से श्रोत्र के द्वारा शब्द नामक गुण वाणी के द्वारा अधिष्ठित होकर आकाश में रहता है, वहाँ ज्ञातृत्व है, वह आकाश में रहता है, और आकाश उसमें रहता है। व्यानवायु के योग से त्वगिन्द्रिय द्वारा स्पर्श नामक गुण हाथ में अधिष्ठित होकर जो वायु में रहता है, और वायु उसमें रहता है, वहाँ मन होता है। बुद्धि वहाँ है जहाँ उदान के योग से चक्षु के द्वारा रूप नामक गुण पैरों पर अधिष्ठित होकर अग्नि में रहता है, और अग्नि उसमें रहता है। अपान के योग से जिह्वा के द्वारा रस नामक गुण उपस्थ के द्वारा अधिष्ठित होकर जल में रहता है, और जल उसमें रहता है, वहाँ चित्त है। और प्राण के योग से नासिका द्वारा गन्ध नामक गुण गुदा से अधिष्ठित होकर पृथ्वी में रहता है और पृथ्वी उसमें रहती है, वहाँ अहंकार भी है।

मन्त्रभागः (2)

अत्रैते श्लोका भवन्ति—
पृथग्भूते षोडश कलाः स्वार्धभागान्परान्क्रमात्।
अन्तःकरणव्यानाक्षिरसपायुनभः क्रमात् ॥1॥
मुख्यात्पूर्वोत्तरैर्भागैर्भूते भूते चतुश्चतुः।
पूर्वमाकाशमाश्रित्य पृथिव्यादिषु संस्थिताः ॥2॥
मुख्या ऊर्ध्वं परा ज्ञेया न परानुत्तरान्विदुः।
एवमंशो ह्यभूत्तस्मात् तेभ्यश्चांशो ह्यभूत्तदा ॥3॥
तस्मादन्योन्यमाश्रित्य ह्योतं प्रोतमनुक्रमात्।
पञ्चभूतमयी भूमिः सा चेतनसमन्विता ॥4॥

इस विषय में ये श्लोक कहे गए हैं—प्रत्येक सूक्ष्मतत्त्व के आधे भाग से तथा अन्तःकरण (आकाश), व्यान (वायु), अक्षि (अग्नि), रस (जल), पायु (पृथ्वी) आदि से सोलह कला वाले स्थूल आकाशादि बनते हैं। अर्धभाग वाले मुख्य आकाशादि तत्त्व से लेकर पृथ्वी तक पाँचों में बाकी के भूतों के चौथाई-चौथाई भागों की पाँचों भूतों में अवस्थिति रहती है। (हरएक स्थूल तत्त्व में आधा भाग मूल सूक्ष्मतत्त्व का और बाकी के आधे भाग में चारों अन्य तत्त्वों का $^1/_8$ भाग रहता है अर्थात् मुख्य मूल सूक्ष्मतत्त्व की 8 कलाएँ और अन्य सूक्ष्म तत्त्वों की 8 कलाएँ मिलकर 16 कलाएँ होती हैं। वह स्थूल तत्त्व होता है)। इस ऊपर वाले आधे मुख्य भाग को सूक्ष्मभूत समझना चाहिए तथा इसमें मिले हुए बाद के भागों को गौण मानना चाहिए, मुख्य नहीं मानना चाहिए। इसलिए एक मुख्य कहे जाने वाले सूक्ष्मतत्त्व में अन्यों का अंश भी मिला-जुला ही रहता है। इस तरह ये समस्त (स्थूल-व्यवहार में आने वाले) भूत एक-दूसरे का आश्रय करके ही आपस में मिलकर यहाँ अवस्थित रहते हैं। सभी एक-दूसरे में ओतप्रोत ही हैं। वह भूमि भी इसी तरह पाँच तत्त्वों से युक्त तथा चेतनामय है।

तत ओषधयोऽन्नं च ततः पिण्डाश्चतुर्विधाः।
रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि धातवः ॥5॥
केचित्तद्योगतः पिण्डाः भूतेभ्यः सम्भवः क्वचित्।
तस्मिन्नन्नमयः पिण्डो नाभिमण्डलसंस्थितः ॥6॥
अस्य मध्येऽस्ति हृदयं सनालं पद्मकोशवत्।
सत्त्वान्तर्वर्तिनो देवाः कर्त्रहङ्कारचेतनाः ॥7॥
अस्य बीजं तमःपिण्डं मोहरूपं जडं घनम्।
वर्तते कण्ठमाश्रित्य मिश्रीभूतमिदं जगत् ॥8॥

तब उस भूमि से औषधियाँ, अन्न, चार प्रकार के पिण्ड = शरीर (जरायुज, स्वेदज, उद्भिज्ज, अण्डज) तथा रस, रक्त, मांस, मेद, मज्जा, अस्थि एवं शुक्र—ये सात धातुएँ उत्पन्न हुईं। इन धातुओं के योग से कई भूतपिण्डों की रचना संभव हो जाती है। उनमें से एक अन्नमय पिण्ड नाभिमण्डल के बीच स्थित है। उसके बीच में नालसहित कमल जैसा हृदय है। और उस हृदय के भीतर में देव (जीवात्मा) रहते हैं, जो कि कर्त्तापन के अहंकारयुक्त चेतनावाले होते हैं। इसका बीज तमः का पिण्ड है, वह गाढ़ा (जड) है, और अज्ञानमय मन कण्ठ का आश्रय लिए रहता है, और सारे जगत् में व्याप्त है।

प्रत्यगानन्दरूपात्मा मूर्ध्नि स्थाने परे पदे।
अनन्तशक्तिसंयुक्तो जगद्रूपेण भासते ॥9॥
सर्वत्र वर्तते जाग्रत्स्वप्नं जाग्रति वर्तते।
सुषुप्तं च तुरीयं च नान्यावस्थासु कुत्रचित् ॥10॥
सर्वदेशेष्वनुस्यूतश्चतूरूपः शिवात्मकः।
यथा महाफले सर्वे रसाः सर्वप्रवर्तकाः ॥11॥
यथैवान्नमये कोशे कोशास्तिष्ठन्ति चान्तरे।
यथा कोशास्तथा जीवो यथा जीवस्तथा शिवः ॥12॥

जो प्रत्यगानन्दमय आत्मा है, वह परमश्रेष्ठ मूर्धा – मस्तिष्क के उच्च स्थान में है और वह अनन्त शक्तियों से युक्त होने से सारे जगत् के रूप में भासमान होता है। जाग्रत् अवस्था सर्वत्र विद्यमान है और उसी में स्वप्न तथा सुषुप्तावस्था तथा तुरीयावस्था रहती है, जैसे कि अन्नमय कोश के भीतर

ही प्राणमय और मनोमय कोश रहते हैं। और कोई अवस्था ऐसी नहीं है, जिसमें अन्य तीन अवस्थाओं का समावेश हो। जिस प्रकार श्रेष्ठ सुन्दर फल में रस चारों ओर संव्याप्त होकर रहता है, उसी प्रकार समस्त देह-देशों में वह चार रूपों वाला शिवात्मक आत्मा संव्याप्त है। जिस प्रकार एक अन्नमय कोश के भीतर प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय आदि कोश रहते हैं ठीक उसी प्रकार जीव शरीर में रहता है, और जैसा जीव का स्वरूप है, वैसा ही शिव का स्वरूप है अर्थात् दोनों एक ही हैं।

सविकारस्तथा जीवो निर्विकारस्तथा शिवः।
कोशास्तस्य विकारास्ते ह्यवस्थासु प्रवर्तकाः ॥13॥
यथा रसाशये फेनं मथनादेव जायते।
मनोनिर्मथनादेव विकल्पा बहवस्तथा ॥14॥
कर्मणा वर्तते कर्मी तत्त्यागाच्छान्तिमाप्नुयात्।
अयने दक्षिणे प्राप्ते प्रपञ्चाभिमुखं गतः ॥15॥
अहङ्काराभिमानेन जीवः स्याद्धि सदाशिवः।
स चाविवेकप्रकृतिसङ्गत्या तत्र मुह्यते ॥16॥

परन्तु, दोनों में अन्तर मात्र इतना ही है कि जीव विकारवाला है और शिव विकाररहित है। ये कोश ही जीव के विकार हैं, जो सभी अवस्थाओं में जीव का प्रवर्तन करते हैं। जैसे दूध आदि को मथने से फेन पैदा होता है, वैसे ही मन को मथने से विकल्प पैदा होते हैं। कर्म द्वारा ही कर्मा (जीव) का अस्तित्व कहा गया है। कर्मों के त्याग से ही शान्ति मिलती है। दक्षिणायन में आने से—सूर्य के दक्षिण गति में आने से उसे माया के जाल में गिरना पड़ता है। सदाशिव ही अहंकार के अभिमान से जीव बनते हैं, क्योंकि वहाँ पर आकर वह अविवेकरूपी प्रकृति के संग में मोहित हो जाता है।

नानायोनिशतं गत्वा शेतेऽसौ वासनावशात्।
विमोक्षात्सञ्चरत्येव मत्स्यः कूलद्वयं यथा ॥17॥
ततः कालवशादेव ह्यात्मज्ञानविवेकतः।
उत्तराभिमुखो भूत्वा स्थानात्स्थानान्तरं क्रमात् ॥18॥
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणान् योगाभ्यासं स्थितश्चरन्।
योगात्सञ्जायते ज्ञानं ज्ञानाद्योगः प्रवर्तते ॥19॥
योगज्ञानपरो नित्यं स योगी न प्रणश्यति।
विकारस्थं शिवं पश्येद् विकारश्च शिवे न तु ॥20॥

वासनावश वह सैकड़ों योनियों में जाकर अज्ञान की निद्रा में सोया रहता है। वह वासनाओं से मुक्त हो जाने पर मछली की भाँति दोनों किनारों पर भ्रमण करता रहता है। इसके बाद समय आने पर जब उसमें आत्मज्ञान का विवेक उदित होता है, तब उत्तराभिमुख होकर (उत्तरायण के समय में) एक स्तर से अन्य स्तर पर आता है। बाद में वह अपने प्राणतत्त्व को मूर्धा स्थान में (मस्तिष्क में) स्थिर रखकर योगाभ्यास में परायण हो जाता है। योग द्वारा ज्ञान की और ज्ञान द्वारा योग की प्रवृत्ति हुआ करती है। सदैव योगज्ञान में परायण योगी को कभी नष्ट नहीं होता। वह विकारों में अवस्थित शिव के दर्शन तो निरन्तर करता रहता है, किन्तु शिव में किसी भी प्रकार के विकार का दर्शन वह नहीं करता।

योगप्रकाशकं योगैर्ध्यायेच्चानन्यभावनः।
योगज्ञाने न विद्येते तस्य भावो न सिद्ध्यति ॥21॥

तस्मादभ्यासयोगेन मनःप्राणान्निरोधयेत् ।
योगी निशितधारेण क्षुरेणैव निकृन्तयेत् ॥22॥
शिखा ज्ञानमयी वृत्तिर्यमाद्यष्टाङ्गसाधनैः ।
ज्ञानयोगः कर्मयोग इति योगी द्विधा मतः ॥23॥
क्रियायोगमथेदानीं शृणु ब्राह्मणसत्तम ।
अव्याकुलस्य चित्तस्य बन्धनं विषये क्वचित् ॥24॥

वह योगी पूर्वकथित श्रवणादि द्वारा योग को प्रकाशित करने वाले परब्रह्म को अनन्य भाव से सभी विकारों से शून्य होकर चिन्तन (ध्यान) करे । क्योंकि यदि योग और ज्ञान नहीं होते तो वह अनन्य भाव नहीं आ सकता । इसलिए अभ्यासयोग से प्राणों के द्वारा मन का निरोध करना चाहिए । योगी को छुरी की धार जैसी पैनी धार वाले निश्चय से मन का निरोध करना चाहिए । योग के यम-नियमादि अष्टांग साधनों से ज्ञानमयी शिखा का आविर्भाव होता है । योग के दो मार्ग बतलाए गए हैं, जिनमें एक है ज्ञानयोग और दूसरा है कर्मयोग । इस तरह से योगी दो प्रकार के होते हैं । उन दोनों में से पहले तुम क्रियायोग को (कर्मयोग को) सुनो ! हे ब्राह्मणोत्तम ! अव्याकुल चित्तवाले कर्मयोगी के लिए कहीं शास्त्रोक्त विषय में बन्धन 'यह कर्तव्य कर्म ही है' ऐसा मानसिक लगाव होता है ।

यत्संयोगो द्विजश्रेष्ठ स च द्वैविध्यमश्नुते ।
कर्म कर्तव्यमित्येव विहितेष्वेव कर्मसु ॥25॥
बन्धनं मनसो नित्यं कर्मयोगः स उच्यते ।
यत्तु चित्तस्य सततमर्थे श्रेयसि बन्धनम् ॥26॥
ज्ञानयोगः स विज्ञेयः सर्वसिद्धिकरः शिवः ।
यस्योक्तलक्षणे योगे द्विविधेऽप्यव्ययं मनः ॥27॥
स याति परमं श्रेयो मोक्षलक्षणमञ्जसा ।
देहेन्द्रियेषु वैराग्यं यम इत्युच्यते बुधैः ॥28॥

हे द्विजोत्तम ! संयोग भी दो प्रकार के होते हैं । शास्त्रविहित कर्मों में 'यह कर्तव्य कर्म ही है'— ऐसा जो मन का निरन्तर बन्धन रहता हो, इसको 'कर्मयोग' कहा जाता है । और चित्त के कल्याणकारी आत्मिक उत्थान के लिए ही लगाव रहता है (बन्धन रहता है) उसे ज्ञानयोग कहा जाता है (दोनों योगों में चित्त का तत्तदनुकूल बन्धन = लगाव सतत रहता ही है) । यह ज्ञानयोग सर्वसिद्धियों को देने वाला है, मंगलकारी है । जिस योगी का मन दोनों प्रकार से बताए गए लक्षणयुक्त इस योग में अव्यय (अविकारी) होकर साधना करता है, वह योगी तेज से परम श्रेय को प्राप्त करता है । वह श्रेय मोक्षलक्षण (मोक्ष ही) है । अब ज्ञानी लोग 'यम' को कहते हैं कि शरीर और इन्द्रियों में जो वैराग्य भावना होती है, वह यम है ।

अनुरक्तिः परे तत्त्वे सततं नियमः स्मृतः ।
सर्ववस्तुन्युदासीनभावमासनमुत्तमम् ॥29॥
जगत्सर्वमिदं मिथ्याप्रतीतिः प्राणसंयमः ।
चित्तस्यान्तर्मुखीभावः प्रत्याहारस्तु सत्तम ॥30॥
चित्तस्य निश्चलीभावो धारणा धारणं विदुः ।
सोऽहं चिन्मात्रमेवेति चिन्तनं ध्यानमुच्यते ॥31॥

परमतत्त्व में सतत अनुराग रखना ही नियम है। सभी वस्तुओं में उदासीन भाव ही उत्तम आसन है। यह सारा जगत् मिथ्या है ऐसी प्रतीति प्राणसंयम कहलाती है। चित्त का अन्तर्मुख होना ही प्रत्याहार है। चित्त की अचलता ही धारणा कही जाती है और 'मैं वही चिदात्मा हूँ' ऐसा चिन्तन ही ध्यान कहा जाता है।

ध्यानस्य विस्मृतिः सम्यक्समाधिरभिधीयते।
अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयार्जवम् ॥32॥
क्षमा धृतिर्मिताहारः शौचं चेति यमा दश।
तपःसन्तुष्टिरास्तिक्यं दानमाराधनं हरेः ॥33॥
वेदान्तश्रवणं चैव ह्रीर्मतिश्च जपो व्रतम्। इति।
आसनानि तदङ्गानि स्वस्तिकादीनि वै द्विज ॥34॥
वर्ण्यन्ते स्वस्तिकं पादतलयोरुभयोरपि।
पूर्वोत्तरे जानुनी द्वे कृत्वासनमुदीरितम् ॥35॥

ध्यान की पूर्णतः विस्मृति होना ही समाधि है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य, दया, सरलता, क्षमा, धैर्य, मिताहार और आन्तर्बाह्य पवित्रता—ये दश 'यम' कहे जाते हैं। और तप, सन्तोष, गुरु-शास्त्रों में श्रद्धा, दान, ईश्वराराधन, वेदान्तश्रवण, लज्जा-मर्यादा, बुद्धि, जप, व्रत—ये सब नियम हैं। और जो स्वस्तिक आदि आसन हैं, वे उन यम-नियमों के अंग हैं। अब इन आसनों का वर्णन किया जा रहा है। उनमें स्वस्तिक आसन का वर्णन करते हैं—दोनों पैरों के तलों को दोनों घुटनों के मध्य में करके बैठना ही स्वस्तिकासन है।

सव्ये दक्षिणगुल्फं तु पृष्ठपार्श्वे नियोजयेत्।
दक्षिणेऽपि तथा सव्यं गोमुखे गोमुखं यथा ॥36॥
एकं चरणमन्यस्मिन्नुरावारोप्य निश्चलः।
आस्ते यदिदमेनोघ्नं वीरासनमुदाहृतम् ॥37॥
गुदं नियम्य गुल्फाभ्यां व्युत्क्रमेण समाहितः।
योगासनं भवेदेतदिति योगविदो विदुः ॥38॥
ऊर्वोरुपरि वै धत्ते यदा पादतले उभे।
पद्मासनं भवेदेतत्सर्वव्याधिविषापहम् ॥39॥
पद्मासनं सुसंस्थाप्य तदङ्गुष्ठद्वयं पुनः।
व्युत्क्रमेणैव हस्ताभ्यां बद्धपद्मासनं भवेत् ॥40॥

पीठ के बाँये भाग की ओर दाहिनी एँड़ी की गाँठ को तथा पीठ के दाहिने भाग की ओर बाँयी एँड़ी की गाँठ को नियोजित करने से गोमुख जैसा 'गोमुख' नाम का आसन होता है। एक चरण को अन्य जांघ पर आरोपित करके अर्थात् दाहिने चरण को बाँयी और बाँये चरण को दाहिनी जाँघ पर आरोपित करके निश्चल होकर बैठने से सर्वपापहर ऐसा वीरासन कहा जाता है। दाहिनी एड़ी को गुदा की बाँयी ओर तथा बाँयी एड़ी को गुदा की दाहिनी ओर लगाकर बैठने से यह योगासन बनता है, ऐसा योग को जानने वाले कहते हैं। दोनों जाँघों के ऊपर जब दोनों पादतल विपरीत क्रम में रखे जाते हैं, तब सर्वरोगनाशक 'पद्मासन' बनता है। और उसी पद्मासन को अच्छी तरह करके फिर विपरीत क्रम में दोनों अंगुष्ठों को दोनों हाथों से पकड़ने पर 'बद्धपद्मासन' नाम का आसन बनता है।

पद्मासनं सुसंस्थाप्य जानूर्वोरन्तरे करौ ।
निवेश्य भूमावातिष्ठेद् व्योमस्थः कुक्कुटासनः ॥41॥
कुक्कुटासनबन्धस्थो दोर्भ्यां सम्बध्य कन्धरम् ।
शेते कूर्मवदुत्तान तदुत्तानकूर्मकम् ॥42॥
पादाङ्गुष्ठौ तु पाणिभ्यां गृहीत्वा श्रवणावधि ।
धनुराकर्षकाकृष्टं धनुरासनमीरितम् ॥43॥
सीवनीं गुल्फदेशाभ्यां निपीड्य व्युत्क्रमेण तु ।
प्रसार्य जानुनोर्हस्तावासनं सिंहरूपकम् ॥44॥

अच्छी तरह से पद्मासन करके दोनों हाथों से घुटनों और जंघाओं के बीच से निकालकर भूमि पर लगाकर शरीर को आकाश की ओर अधर पर रखने से कुक्कुट आसन होता है । और उसी कुक्कुटासन लगाने के बाद दोनों हाथों को दोनों कन्धों के साथ आबद्ध कर कच्छप के समान सीध में लाने से उत्तान कूर्मासन बनता है । दोनों पैरों के अँगूठों को हाथ से पकड़कर कानों तक धनुष के आकार की तरह खींचने से धनुरासन बनता है, ऐसा कहते हैं । गुल्फ प्रदेश (दोनों एड़ियों) के द्वारा सीवनीप्रदेश को विपरीत क्रम से दबाकर दोनों हाथों और घुटनों को फैलाने से सिंहरूपकासन बनता है ।

गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्युभयपार्श्वयोः ।
निवेश्य पादौ हस्ताभ्यां बद्ध्वा भद्रासनं भवेत् ॥45॥
सीवनीपार्श्वमुभयं गुल्फाभ्यां व्युत्क्रमेण तु ।
निपीड्यासनमेतच्च मुक्तासनमुदीरितम् ॥46॥

अण्डकोश के नीचे सीवनी के प्रदेश के दोनों ओर दोनों गुल्फों को (टखनों को) स्थिर करके पैरों को हाथों से बाँधकर भद्रासन किया जाता है । सीवनी प्रदेश के दोनों पार्श्वों को विपरीत क्रम से दोनों गुल्फों के द्वारा दबाकर स्थिर रहना ही मुक्तासन कहा गया है ।

अवष्टभ्य धरां सम्यक् तलाभ्यां हस्तयोर्द्वयोः ।
कूर्परौ नाभिपार्श्वे तु स्थापयित्वा मयूरवत् ॥47॥
समुन्नतशिरःपादं मयूरासनमिष्यते ।
वामोरुमूले दक्षांघ्रिं जान्वोर्वेष्टितपाणिना ॥48॥
वामेन वामाङ्गुष्ठं तु गृहीतं मत्स्यपीठकम् ।
योनिं वामेन सम्पीड्य मेढ्रादुपरि दक्षिणम् ॥49॥
ऋजुकायः समासीनः सिद्धासनमुदीरितम् ।
प्रसार्य भुवि पादौ तु दोर्भ्यामङ्गुष्ठमादरात् ॥50॥
जानूपरि ललाटं तु पश्चिमं तानमुच्यते ।
येन केन प्रकारेण सुखं धार्यं च जायते ॥51॥
तत्सुखासनमित्युक्तमशक्तस्तत्समाचरेत् ।
आसनं विजितं येन जितं तेन जगत्त्रयम् ॥52॥

दोनों हथेलियों को जमीन स्थिर करके दोनों कोहनियों को नाभि के दोनों ओर लगाकर फिर मोर की भाँति सिर और पैर ऊँचा रखने से मयूरासन होता है । बाँयी जाँघ के मूल में दाहिने पैर के अँगूठे को पकड़ने से मत्स्यपीठक आसन होता है । बाँयें पैर की एड़ी को सीवन पर स्थिर करके दाहिने पैर

को उपस्थ के ऊपर के भाग में रखकर सीधा बैठने से सिद्धासन नाम का आसन बनता है। जमीन पर दोनों पैरों को फैलाकर दोनों हाथों से पैरों के अँगूठों को पकड़ लेने से तथा घुटनों पर ललाट को स्थिर रहने से बनने वाला आसन पश्चिमोत्तान आसन कहलाता है। जिस किसी प्रकार से बैठने से सुख और स्थिरता प्राप्त हो सके उसे सुखासन कहा जाता है। जो मनुष्य अन्य आसनों को करने में अशक्त हो, उसे यह सुखासन लगाना चाहिए। जिस मनुष्य ने आसन जीत लिया है, उसने तीनों जगत् को (भुवनों को) जीत लिया है, ऐसा समझना चाहिए।

यमैश्च नियमैश्चैव आसनैश्च सुसंयतः।
नाडीशुद्धिं च कृत्वादौ प्राणायामं समाचरेत् ॥53॥
देहमानं स्वाङ्गुलिभिः षण्णवत्यङ्गुलायतम्।
प्राणः शरीरादधिको द्वादशाङ्गुलमानतः ॥54॥
देहस्थमनिलं देहसमुद्भूतेन वह्निना।
न्यूनं समं वा योगेन कुर्वन्ब्रह्मविदिष्यते ॥55॥

संयमी साधक यम, नियम और आसन से आरम्भ में नाडीशुद्धि करके प्राणायाम का परिशीलन करे। मानवदेह का प्रमाण (कद) अपनी छियानवें अँगुलियों के माप का है। और जो प्राण है, वह शरीर से बारह अंगुल से अधिक प्रमाण वाला माना गया है। शरीर में स्थित वायु को प्राणायाम के द्वारा उत्पन्न किए गए अग्नि द्वारा योग प्रकिंया से कम या ज्यादा करके ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया जा सकता है—अथवा ब्रह्मज्ञ उस वायु को कम या ज्यादा कर सकता है।

देहमध्ये शिखिस्थानं तप्तजाम्बूनदप्रभम्।
त्रिकोणं द्विपदामन्यच्चतुरस्रं चतुष्पदम् ॥56॥
वृत्तं विहङ्गमानां तु षडस्रं सर्वजन्मनाम्।
अष्टास्रं स्वेदजानां तु तस्मिन्दीपवदुज्ज्वलम् ॥57॥
कन्दस्थानं मनुष्याणां देहमध्यं नवाङ्गुलम्।
चतुरङ्गुलमुत्सेधं चतुरङ्गुलमायतम् ॥58॥

शरीर में तपे हुए सुवर्ण जैसे तेज वाला एक अग्नि का स्थान होता है। यह मनुष्यों में त्रिकोणाकार होता है, पशुओं में चार कोने वाला होता है, पक्षियों में गोलाकार होता है, साँप आदि जातियों में वह षट्कोणाकार होता है, स्वेदज जीवों में वह अष्टकोणाकार होता है। उस स्थान में दीप जैसा तेजस्वी कन्द का निवास मनुष्यों के देह के मध्य में होता है। वह नौ अंगुल के प्रमाण का, चार अंगुल ऊँचा और चार अंगुल चौड़ा है।

अण्डाकृति तिरश्चां च द्विजानां च चतुष्पदाम्।
तुन्दमध्यं तदिष्टं वै तन्मध्यं नाभिरिष्यते ॥59॥
तत्र चक्रं द्वादशारं तेषु विष्ण्वादिमूर्तयः।
अहं तत्र स्थितश्चक्रं भ्रामयामि स्वमायया ॥60॥
अरेषु भ्रमते जीवः क्रमेण द्विजसत्तम।
तन्तुपञ्जरमध्यस्था यथा भ्रमति लूतिका ॥61॥
प्राणाविरूढश्चरति जीवस्तेन विना नहि।
तस्योर्ध्वे कुण्डलीस्थानं नाभेस्तिर्यगथोर्ध्वतः ॥62॥

वह कन्द छोटे जन्तुओं, पक्षियों और पशुओं में अण्डाकार होता है। उदर में स्थित नाभि उसका मध्य स्थान कहा गया है। उसमें बारह अरों वाला चक्र है। उस चक्र में विष्णु आदि देवताओं की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हैं। इस चक्र को मैं (ब्रह्म) अपनी माया से घुमाता रहता हूँ। इन बारह अरों में जीव, जैसे मकड़ी अपने जाल में घुमा करती है, वैसे ही घूमता रहता है। यह जीव प्राणतत्त्व में आरूढ होकर ही वहाँ चल-फिर सकता है। प्राण के बिना तो वह ऐसा नहीं कर सकता। उसके ऊपर में कुण्डलिनी महाशक्ति का ऊँचा और वक्र स्थान है।

अष्टप्रकृतिरूपा सा चाष्टधा कुण्डलीकृता।
यथावद्वायुसारं च जलान्नादि च नित्यशः ॥63॥
परितः कन्दपार्श्वे तु निरुध्यैव सदा स्थिता।
मुखेनैव समावेष्ट्य ब्रह्मरन्ध्रमुखं तथा ॥64॥
योगकालेन मरुता साग्निना बोधिता सती।
स्फुरिता हृदयाकाशे नागरूपा महोज्ज्वला ॥65॥
अपानाद्द्व्यङ्गुलादूर्ध्वमधो मेढ्रस्य तावता।
देहमध्यं मनुष्याणां हृन्मध्यं तु चतुष्पदाम् ॥66॥

वह कुण्डलिनी शक्ति अष्ट प्रकृतिरूप है, वह आठ तरह से कुण्डली करके वायु और अन्न-जल को यथायोग्य रूप से रोकती रहती है। वह कन्द को चारों ओर से घेरकर उसके पार्श्व में स्थित है। वह अपने मुख के द्वारा ब्रह्मरन्ध्र के मुख को लपेट कर अवस्थित है। योग के अभ्यास द्वारा कालान्तर में वह कुण्डलिनी महाशक्ति, जैसे वायु से आग जाग उठती है, वैसे हृदयरूपी आकाश में नागिन के रूपवाली सी वह अत्यन्त शुभ्र प्रकाश से स्फुरित होती रहती है। अपान से दो अंगुल ऊर्ध्व की ओर तथा मेढ्र (मूत्रेन्द्रिय) से नीचे मनुष्य के शरीर का मध्यभाग माना जाता है और पशुओं के शरीर का मध्यभाग हृदय के बीच माना गया है।

इतरेषां तुन्दमध्ये नानानाडीसमावृतम्।
चतुष्प्रकारद्व्ययुते देहमध्ये सुषुम्नया ॥67॥
कन्दमध्ये स्थिता नाडी सुषुम्ना सुप्रतिष्ठिता।
पद्मसूत्रप्रतीकाशा ऋजुरूर्ध्वप्रवर्तिनी ॥68॥
ब्रह्मणो विवरं यावद् विद्युदाभासनालकम्।
वैष्णवी ब्रह्मनाडी च निर्वाणप्राप्तिपद्धतिः ॥69॥

अन्य प्राणियों का मध्यभाग उदर के बीच नाभि का मध्यक्षेत्र है। वह विविध नाड़ियों से आवृत्त है। प्राण और अपान—दोनों से युक्त देह के मध्य भाग में यह सुषुम्ना चार प्रकार से प्रकाशित होती है। जो सुषुम्ना नाडी कन्द में अवस्थित है, वह पद्मसूत्र के समान अतिसूक्ष्म है, वह सीधी और ऊर्ध्वभाग की ओर जाने वाली बन गई है। ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँचने वाली वह 'वैष्णवी ब्रह्मनाडी' विद्युत् के आभास वाली और मोक्ष की प्राप्ति के मार्ग वाली ही है।

इडा च पिङ्गला चैव तस्याः सव्येतरे स्थिते।
इडा समुत्थिता कन्दाद् वामनासापुटावधिः ॥70॥
पिङ्गला चोत्थिता तस्माद् दक्षनासापुटावधिः।
गान्धारी हस्तजिह्वा च द्वे चान्ये नाडिके स्थिते ॥71॥

पुरतः पृष्ठतस्तस्य वामेतरदृशौ प्रति ।
पूषायशस्विनीनाड्यौ तस्मादेव समुत्थिते ॥72॥
सव्येतरश्रुत्यवधि पायुमूलादलम्बुसा ।
अधोगता शुभा नाडी मेढ्रान्तावधिरायता ॥73॥

उस सुषुम्ना नाडी की बाँयी-दाँयी ओर (अगल-बगल में) इडा और पिंगला नाम की दो नाडियाँ स्थित हैं। इडा नाडी कन्द से निकलकर बाँये नासापुट तक गई है और पिंगला भी कन्द से निकलकर दाहिने नासापुट तक गई है। गान्धारी तथा हस्तिजिह्वा नाम की दो नाडियाँ भी वहाँ विद्यमान हैं। ये दोनों नाडियाँ भी उनके आगे-पीछे बाँयी और दाहिनी आँख तक गई हुई हैं। पूषा और यशस्विनी नाम की दो नाड़ियाँ उसी कन्द से निकलकर बाँये और दाहिने कान में जाती हैं। अलम्बुसा नाम की नाडी गुदा के मूल से निकलकर मेढ़ के (मूत्रेन्द्रिय के) एक छोर तक विस्तृत होती है।

पादाङ्गुष्ठावधिः कन्दादधोयाता च कौशिकी ।
दशप्रकारभूतास्ताः कथिताः कन्दसम्भवाः ॥74॥
तन्मूला बहवो नाड्यः स्थूलसूक्ष्माश्च नाडिकाः ।
द्वासप्ततिसहस्राणि स्थूलाः सूक्ष्माश्च नाडयः ॥75॥
संख्यातुं नैव शक्यन्ते स्थूलमूलाः पृथग्विधाः ।
यथाश्वत्थदले सूक्ष्माः स्थूलाश्च विततास्तथा ॥76॥

कन्द के नीचे की ओर पैर के अँगूठे तक गई हुई नाडी का नाम 'कौशिकी' है। यह उपर्युक्त दस नाड़ियाँ कन्द से निकली हुई कही गई है। और उन नाडियों के मूल से स्थूल और सूक्ष्म अनेकानेक नाडियाँ निकलती हैं। ये सूक्ष्म और स्थूल सब नाडियाँ मिलकर बहत्तर हजार बताई जाती हैं। इनमें स्थूल और सूक्ष्म नाडियों को पृथक्-पृथक् गिनना तो संभव नहीं है। यह तो पिप्पल के पत्ते की स्थूल और सूक्ष्म नसों को गिनने की भाँति ही अशक्य है।

प्राणापानौ समानश्च उदानो व्यान एव च ।
नागः कूर्मश्च कृकरो देवदत्तो धनञ्जयः ॥77॥
चरन्ति दशनाडीषु दश प्राणादिवायवः ।
प्राणादिपञ्चकं तेषु प्रधानं तत्र च द्वयम् ॥78॥
प्राण एवाऽथवा ज्येष्ठो जीवात्मानं बिभर्ति यः ।
आस्यनासिकयोर्मध्यं हृदयं नाभिमण्डलम् ॥79॥
पादाङ्गुष्ठमिति प्राणस्थानानि द्विजसत्तम ।
अपानश्चरति ब्रह्मन् ! गुदमेढ्रोरुजानुषु ॥80॥

प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनंजय—ये दश प्राण भी दस नाडियों में विचरण करते रहते हैं। उनमें पहले पाँच प्राणवायु मुख्य हैं और उनमें भी पहले दो—प्राण और अपान प्रधान हैं। अथवा प्राण ही सबसे प्रधान है, जो जीवात्मा को धारण करता है। हे द्विजश्रेष्ठ ! उस महान् प्राण के पाँच निवासस्थान बताए गए हैं। वे हैं—मुख, नासिका का मध्यभाग, हृदय, नाभिमण्डल और पैर का अँगूठा। हे ब्रह्मन् ! अब अपानवायु जो है, वह गुदा, मेढ़, जंघा एवं घुटनों में विचरता है।

समानः सर्वगात्रेषु सर्वव्यापी व्यवस्थितः ।
उदानः सर्वसन्धिस्थः पादयोर्हस्तयोरपि ॥81॥
व्यानः श्रोत्रोरुकट्यां च गुल्फस्कन्धगलेषु च ।
नागादिवायवः पञ्च त्वगस्थ्यादिषु संस्थिताः ॥82॥
तुन्दस्थजलमन्नं च रसादीनि समीकृतम् ।
तुन्दमध्यगतः प्राणस्तानि कुर्यात्पृथक्पृथक् ॥83॥
इत्यादिचेष्टनं प्राणः करोति च पृथक् स्थितम् ।
अपानवायुर्मूत्रादेः करोति च विसर्जनम् ॥84॥

समानवायु शरीर के सभी अवयवों में सर्वव्यापी होकर विद्यमान है। उदानवायु हाथों, पैरों और शरीर के सभी सन्धिस्थलों में रहता है। व्यानवायु कान, जंघाएँ और कटि प्रदेश में रहता है तथा एडी, कन्धों और गले में भी वह रहता है। नाग आदि पाँच उपप्राण त्वगिन्द्रिय एवं अस्थि आदि में रहते हैं। प्राणवायु आमाशयस्थ जल, अन्न, रस आदि का पहले समीकरण (मिश्रण) करता है और बाद में उसका पृथक्करण करता है। प्राणवायु इन सभी कार्यों को स्वयं पृथक् रहकर करता है। और जो अपानवायु है, वह मल-मूत्रादि का विसर्जन करता है।

प्राणापानादिचेष्टादि क्रियते व्यानवायुना ।
उज्जीर्यते शरीरस्थमुदानेन नभस्वता ॥85॥
पोषणादिशरीरस्य समानः कुरुते सदा ।
उद्गारादिक्रियो नागः कूर्मोऽक्षादिनिमीलनः ॥86॥
कृकरः क्षुतयोः कर्त्ता दत्तो निद्रादिकर्मकृत् ।
मृतगात्रस्य शोभादेर्धनञ्जय उदाहृतः ॥87॥
नाडीभेदं मरुद्भेदं मरुतां स्थानमेव च ।
चेष्टाश्च विविधास्तेषां ज्ञात्वैव द्विजसत्तम ॥88॥

प्राण और अपान आदि वायुओं की चेष्टाएँ व्यानवायु के संयोग से ही सम्पन्न होती हैं। और शरीरस्थ उदान वायु से नभोगामी (ऊँचे उठने की क्रिया) की जा सकती है। शरीर की पोषण आदि क्रियाएँ समानवायु करता है। नागवायु द्वारा डकार आदि क्रियाएँ होती है। आँख की पलकों का मीलनोन्मीलन कूर्मवायु करता है। कृकरवायु का कार्य भूख लगाना है और देवदत्तवायु निद्रा आदि कार्य करता है। मृत व्यक्ति के देह की थोड़ी देर तक शोभा ज्यों-की-त्यों रखने का काम धनंजय वायु करता है, ऐसा कहा गया है। हे द्विजश्रेष्ठ ! इस प्रकार नाड़ी, वायु आदि के स्थान तथा उनके प्रकार और उनके विविध कार्यों को जानने का प्रयत्न चाहिए।

शुद्धौ यतेत नाडीनां पूर्वोक्तज्ञानसंयुतः ।
विविक्तदेशमासाद्य सर्वसम्बन्धवर्जितः ॥89॥
योगाङ्गद्रव्यसम्पूर्णं तत्र दारुमये शुभे ।
आसने कल्पिते दर्भकुशकृष्णाजिनादिभिः ॥90॥
तावदासनमुत्सेधे तावद् द्वयसमायते ।
उपविश्यासनं सम्यक् स्वस्तिकादि यथारुचि ॥91॥

उपर्युक्त ज्ञानविधि से नाडीशोधन कर लेना चाहिए। बाद में सभी सम्बन्धों को छोड़कर किसी एकान्त स्थान में रहते हुए योगांग के लिए सभी सामग्री एकत्रित करके, दर्भ, कुश अथवा काले हिरन

के चर्म आदि का दारुमय आसन बनाकर जब तक दोनों ओर के अंग समान न हो जाएँ, तब तक आसन की साधना करते रहना चाहिए। इसके लिए आसन-स्थान पर बैठकर अपनी-अपनी रुचि के अनुसार स्वस्तिक आदि किसी आसन का अभ्यास करते रहना चाहिए।

बद्ध्वा प्रागासनं विप्र ऋजुकायः समाहितः।
नासाग्रन्यस्तनयनो दन्तैर्दन्तानसंस्पृशन् ॥92॥
रसनां तालुनि न्यस्य स्वस्थचित्तो निरामयः।
आकुञ्चितशिरः किञ्चिन्निबध्नन्योगमुद्रया ॥93॥
हस्तौ यथोक्तविधिना प्राणायामं समाचरेत्।
रेचनं पूरणं वायोः शोधनं रेचनं तथा ॥94॥

पहले तो आसन लगाकर सीधे बैठना चाहिए। हे ब्रह्मन्! बाद में नाक के अग्र भाग पर दृष्टि रखनी चाहिए। फिर दाँतों को दाँतों से स्पर्श किए बिना ही जीभ को तालु में लगाकर चित्त को स्वस्थ करके निरामय भाव से सिर को थोड़ा आगे झुकाकर, हाथों को एक-दूसरे से जोड़कर योगमुद्रा में प्राणायाम का परिशीलन करना चाहिए। रेचक-पूरक-कुम्भक के द्वारा वायु का शोधन करके बारी-बारी से रेचन की क्रिया करनी चाहिए।

चतुर्भिः क्लेशनं वायोः प्राणायाम उदीर्यते।
हस्तेन दक्षिणेनैव पीडयेन्नासिकापुटम् ॥95॥
शनैः शनैरथ बहिः प्रक्षिपेत्पिङ्गलानिलम्।
इडया वायुमापूर्य ब्रह्मन् षोडशमात्रया ॥96॥
पूरितं कुम्भयेत्पश्चाच्चतुःषष्ट्या तु मात्रया।
द्वात्रिंशन्मात्रया सम्यग्रेचयेत्पिङ्गलानिलम् ॥97॥

इस तरह चार प्रक्रियाओं से वायु का क्लेशन (गतिमान) करने की विधि को प्राणायाम कहा जाता है। दाहिने हाथ से नासापुट को दबाकर पिंगला से (दायीं नासिका से) वायु को पहले बाहर निकालना चाहिए। बाद में सोलह मात्रा से इडा (बाँयी नासिका) से वायु को भीतर की ओर खींचना चाहिए। और चौंसठ मात्रा से कुम्भक करना चाहिए। तथा बत्तीस मात्रा से उस वायु को पिंगला (दायीं नासिका) से बाहर कर देना चाहिए।

एवं पुनः पुनः कार्यं व्युत्क्रमानुक्रमेण तु।
सम्पूर्णकुम्भवद्देहं कुम्भयेन्मातरिश्वना ॥98॥
पूरणान्नाडयः सर्वाः पूर्यन्ते मातरिश्वना।
एवं कृते सति ब्रह्मंश्चरन्ति दश वायवः ॥99॥
हृदयाम्भोरुहं चापि व्याकोचं भवति स्फुटम्।
तत्र पश्येत्परात्मानं वासुदेवमकल्मषम् ॥100॥
प्रातर्माध्यन्दिने सायमर्धरात्रे च कुम्भकान्।
शनैरशीतिपर्यन्तं चतुर्वारं समभ्यसेत् ॥101॥

इस प्रकार बार-बार परिवर्तित क्रम से सर्वदा अभ्यास करते रहना चाहिए और शरीर के भीतर भरी हुई वायु को घड़े की भाँति स्थिर करके रोकते रहना चाहिए। इस क्रिया में हे ब्रह्मन्! सभी नाडियाँ वायु से भर जाती हैं। उन नाडियों में दसों वायु ठीक तरह से चलते रहते हैं। इसके बाद हृदयरूपी

कमल स्वच्छ, विकसित एवं स्पष्ट हो जाता है। और उस स्थान पर परमात्मरूप निष्कलंक वासुदेव के स्पष्टरूप से दर्शन होने लगते हैं। इस तरह के अभ्यास से प्रात:काल, मध्याह्नकाल, सायंकाल तथा अर्धरात्रि में चार बार कुम्भक करना चाहिए और धीरे-धीरे क्रमशः उसे अस्सी मात्रा तक बढ़ाना चाहिए।

एकाहमात्रं कुर्वाणः सर्वपापैः प्रमुच्यते।
संवत्सरत्रयादूर्ध्वं प्राणायामपरो नरः ॥102॥
योगसिद्धो भवेद्योगी वायुजिद्विजितेन्द्रियः।
अल्पाशी स्वल्पनिद्रश्च तेजस्वी बलवान्भवेत् ॥103॥
अपमृत्युमतिक्रम्य दीर्घमायुरवाप्नुयात्।
प्रस्वेदजननं यस्य प्राणायामस्तु सोऽधमः ॥104॥
कम्पनं वपुषो यस्य प्राणायामेषु मध्यमः।
उत्थानं वपुषो यस्य स उत्तम उदाहृतः ॥105॥

जो मनुष्य केवल एक दिन ऐसा प्राणायाम करता है, वह सभी पापों से छुटकारा पाता है। जो लगातार तीन साल तक इस प्रकार प्राणायामपरायण रहता है, वह मनुष्य योगसिद्ध योगी बन जाता है। इस वायु को जीतने वाला इन्द्रियों को वश में रखने वाला, कम खाने वाला, कम निद्रा लेने वाला, तेजस्वी और बलवान होता है। वह अपमृत्यु को पार करके लम्बी आयु को प्राप्त करता है। जिसे प्राणायाम में पसीना होता है, उसका प्राणायाम अधम है। जिस प्राणायाम से शरीर में कँपकँपी आती है, वह मध्यम प्राणायाम होता है, और जिसका शरीर प्राणायाम से ऊपर उठता है, वह उत्तम प्राणायाम कहा जाता है।

अधमे व्याधिपापानां नाशः स्यान्मध्यमे पुनः।
पापरोगमहाव्याधिनाशः स्यादुत्तमे पुनः ॥106॥
अल्पमूत्रोऽल्पविष्टश्च लघुदेहो मिताशनः।
पट्विन्द्रियः पटुमतिः कालत्रयविदात्मवान् ॥107॥
रेचकं पूरकं मुक्त्वा कुम्भीकरणमेव यः।
करोति त्रिषु कालेषु नैव तस्यास्ति दुर्लभम् ॥108॥
नाभिकन्दे च नासाग्रे पादाङ्गुष्ठे च यत्नवान्।
धारयेन्मनसा प्राणान् सन्ध्याकालेषु वा सदा ॥109॥
सर्वरोगैर्विनिर्मुक्तो जीवेद्योगी गतक्लमः।
कुक्षिरोगविनाशः स्यान्नाभिकन्देषु धारणात् ॥110॥

अधम कोटि के प्राणायाम से आधि-व्याधि और संपूर्ण पाप नष्ट हो जाते हैं। मध्यम कोटि के प्राणायाम से पापों का, महारोगों का और पीड़ाओं का नाश होता है। और उत्तम कोटि के प्राणायाम से तो वह सचेत योगी अल्प मूत्रवाला अल्प बिष्टावाला, लघुदेहवाला, कम खाने वाला, तेजस्वी इन्द्रिय शक्तियों वाला, तेजस्वी बुद्धिवाला तथा तीनों काल को जानने वाला हो जाता है। जो योगी रेचक और पूरक को छोड़कर केवल कुम्भक को ही करने के लिए तत्पर रहता है, उसके लिए तीनों काल में कुछ भी दुर्लभ नहीं होता। योग में सतत प्रयत्नशील योगी को सन्ध्यावन्दन के समय में नाभिकन्द में (मूल में), नासिका के अग्रभाग में तथा दोनों पैरों के अँगूठों में अपने मन से प्राणतत्त्व की धारणा करनी चाहिए। इस प्रकार की धारणा करने से योगी सभी रोगों से मुक्त होकर आनन्दपूर्वक जीवन गुजारता है। नाभिकन्द में प्राणों को धारण करने से कुक्षि (पेट) के सभी रोग नष्ट हो जाते हैं।

नासाग्रे धारणाद्दीर्घमायुः स्याद्देहलाघवम् ।
ब्राह्मे मुहूर्ते सम्प्राप्ते वायुमाकृष्य जिह्वया ॥111॥
पिबतस्त्रिषु मासेषु वाक्सिद्धिर्महती भवेत् ।
अभ्यासतश्च षण्मासान्महारोगविनाशनम् ॥112॥
यत्र यत्र धृतो वायुरङ्गे रोगादिदूषिते ।
धारणादेव मरुतस्तत्तदारोग्यमश्नुते ॥113॥
मनसो धारणादेव पवनो धारितो भवेत् ।
मनसः स्थापने हेतुरुच्यते द्विजपुङ्गव ॥114॥

नासिका के अग्रभाग में प्राण को धारण करने से लम्बी आयु और देह का लाघव होता है। ब्राह्ममुहूर्त में जीभ से वायु को भीतर खींचकर तीन महीनों तक पीने से वाणी की महान् सिद्ध प्राप्त होती है और छः मास के ऐसे अभ्यास से महारोग भी नष्ट हो जाते हैं। रोग आदि से दूषित शरीर में जहाँ-जहाँ वायु धारण किया जाता है, वहाँ वायु के धारण से ही उस-उस रोग का नाश हो जाता है। हे द्विजश्रेष्ठ ! मन की धारणा से ही वायु की धारणा उत्पन्न होने लगती है। मन को स्थापन (एकाग्र) करने के लिए प्राण की साधना (प्राणायाम का परिशीलन) अनिवार्य हेतु (कारण) कहा गया है।

करणानि समाहृत्य विषयेभ्यः समाहितः ।
अपानमूर्ध्वमाकृष्येदुदरोपरि धारयेत् ॥115॥
बध्नन्कराभ्यां श्रोत्रादिकरणानि यथातथम् ।
युञ्जानस्य यथोक्तेन वर्त्मना स्ववशं मनः ॥116॥

इन्द्रियों को विषयों से हटाकर, सावधान होकर, अपानवायु को ऊर्ध्व में अर्थात् पेट के ऊपर धारण करना चाहिए और दोनों हाथों की अँगुलियों से दोनों कानों को बन्द कर लेना चाहिए। इस क्रिया से मन को वश में लाया जा सकता है। (इसको षण्मुखी मुद्रा कहा जाता है। इसमें दोनों हाथों की अँगुलियों से आँख, कान, नाक, मुख आदि छिद्रों को बन्द करके मन को वश में लाने का प्रयत्न किया जाता है)।

मनोवशात्प्राणवायुः स्ववशे स्थाप्यते सदा ।
नासिकापुटयोः प्राणः पर्यायेण प्रवर्तते ॥117॥
तिस्रश्च नाडिकास्तासु स यावन्तं चरत्ययम् ।
शङ्खिनीविवरे याम्ये प्राणः प्राणभृतां सताम् ॥118॥
तावन्तं च पुनः कालं सौम्ये चरति सन्ततम् ।
इत्थं क्रमेण चरता वायुना वायुजिन्नरः ॥119॥
अहश्च रात्रिश्च पक्षं च मासमृत्वयनादिकम् ।
अन्तर्मुखो विजानीयात्कालभेदं समाहितः ॥120॥

इस प्रकार मनोजय प्राप्त कर लेने के बाद, प्राणवायु नियमित हो जाता है अर्थात् सदैव अपने वश में आ जाता है और दोनों नथुनों से उसका आना-जाना व्यवस्थित रूप में होने लगता है। इडा आदि तीन नाडियाँ हैं। इन इडादि तीन नाडियों में जितने काल तक यह प्राणियों का प्राणवायु याम्य में (शंखिनीविवर में अर्थात् पिंगला नाम से प्रख्यात दाहिने नथुने में) घूमता है उतने ही काल तक योगियों के सौम्य में (सुषुम्ना में) सतत घूमा करता है। इस तरह जिस योगी का प्राण समान समय में

दोनों में घूमता है इससे वह 'वायुजित्' (वायु को जीतने वाला) हो जाता है और वह दिवस, रात, पक्ष, मास, ऋतु, अयन आदि के कालभेद को अन्तर्मुखी होकर सावधानतया पहचान लेता है।

अङ्गुष्ठादिस्वावयवस्फुरणादर्शनैरपि ।
अरिष्टैर्जीवितस्यापि जानीयात्क्षयमात्मनः ॥121॥
ज्ञात्वा यतेत कैवल्यप्राप्तये योगवित्तमः ।
पादाङ्गुष्ठे कराङ्गुष्ठे स्फुरणं यस्य न श्रुतिः ॥122॥
तस्य संवत्सरादूर्ध्वं जीवितस्य क्षयो भवेत् ।
मणिबन्धे तथा गुल्फे स्फुरणं यस्य नश्यति ॥123॥
षण्मासावधिरेतस्य जीवितस्य स्थितिर्भवेत् ।
कूर्परे स्फुरणं यस्य तस्य त्रैमासिकी स्थितिः ॥124॥

अपने अंगुष्ठ आदि अंगों का फड़कना रुक जाने पर अपने जीवन की समाप्ति जल्द से जल्द समझ लेनी चाहिए। उन अरिष्टों को जानकर श्रेष्ठ योगी को कैवल्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए। जिसके पैरों के और हाथों के अंगुष्ठों में धडकन (स्फुरण) बन्द हो जाए तो उसका एक वर्ष के बाद जीवन का अन्त होगा, ऐसा जानना चाहिए। जिसके मणिबन्ध में (कलाई में) और गुल्फ में (टखने में) स्फुरण नष्ट हो जाए तो उसके जीवन की अवधि छः मास की होगी, ऐसा समझना चाहिए। और जिसकी कोहनी में स्फुरण बन्द हो जाए उसका जीवन तीन मास ही रहेगा, ऐसा समझना चाहिए।

कुक्षिमेहनपार्श्वे च स्फुरणानुपलम्भने ।
मासावधिर्जीवितस्य तदर्धस्य तु दर्शने ॥125॥
आश्रिते जठरद्वारे दिनानि दश जीवितम् ।
ज्योतिः खद्योतवद्यस्य तदर्धं तस्य जीवितम् ॥126॥
जिह्वाग्रादर्शने त्रीणि दिनानि स्थितिरात्मनः ।
ज्वालाया दर्शने मृत्युर्द्विदिने भवति ध्रुवम् ॥127॥
एवमादीन्यरिष्टानि दृष्टायुःक्षयकारणम् ।
निःश्रेयसाय युञ्जीत जपध्यानपरायणः ॥128॥

कुक्षि, उपस्थ और पार्श्व भाग में स्फुरण न हो तो केवल एक मास तक जीवन रहेगा और आँख में स्फुरण के अभाव में सिर्फ पंद्रह दिन तक जीवन रह सकता है। जठर के मुँह पर यदि स्फुरण नहीं होता, तो जीवन दस दिन तक रहता है और सूर्य-चन्द्र की ज्योति जब पतंगे की भाँति दिखाई दे, तब पाँच दिन ही जीवन टिक सकता है। जीभ के अग्र भाग में यदि स्फुरण का अभाव हो, तब आत्मा की स्थिति तीन दिन तक रहती है और यदि ज्वाला का दर्शन होने लगे, तब दो ही दिनों में मृत्यु अवश्य आ जाती है। ये सब अरिष्ट (अनिष्टकारक तत्त्व) आयु को क्षीण करने के कारणरूप हैं। इन सभी को जानने वाले साधक को अर्थात् अपनी आयु को पहचानने वाले योगी को अपने कल्याण के लिए स्वयं को जप, तप, ध्यानपरायण होकर कल्याण में प्रवृत्त होना चाहिए।

मनसा परमात्मानं ध्यात्वा तद्रूपतामियात् ।
यद्यष्टादशभेदेषु मर्मस्थानेषु धारणम् ॥129॥
स्थानात्स्थानं समाकृष्य प्रत्याहारः स उच्यते ।
पादाङ्गुष्ठं तथा गुल्फं जङ्घामध्यं तथैव च ॥130॥

मध्यमूर्वोश्च मूलं च पायुर्हृदयमेव च।
मेहनं देहमध्यं च नाभिं च गलकूर्परम् ॥131॥
तालुमूलं च मूलं च घ्राणस्याक्ष्णोश्च मण्डलम्।
भ्रुवोर्मध्यं ललाटं च मूलमूर्ध्वं च जानुनी ॥132॥
मूलं च करयोर्मूलं महान्त्येतानि वै द्विज।
पञ्चभूतमये देहे भूतेष्वेतेषु पञ्चसु ॥133॥

मन के द्वारा परमात्मा का ध्यान करके तद्रूप बनने का प्रयत्न करना चाहिए। उसकी चेतना को शरीर के अठारहों मर्मस्थानों में धारण करना चाहिए। एक स्थान से दूसरे स्थान में खींचने की प्रक्रिया को प्रत्याहार कहा जाता है। पूर्वोक्त अठारह मर्मस्थान ये हैं—पैर का अँगूठा, एड़ी, जाँघ का मध्यभाग, ऊरु का मध्यभाग, गुदा का मध्यभाग, हृदय, उपस्थ, देह का मध्यभाग, नाभि, गला, कोहनी, तालु का मूल, नासिका का मूल, नेत्रमण्डल, भौंहों के बीच का भाग, ललाट, मस्तक का मूल भाग, दोनों घुटने तथा हाथों का मूलभाग—ये सभी स्थल, हे द्विज! पाँचों भूतों से युक्त इस पाँचभौतिक शरीर में महान् (मर्मस्थान) कहे जाते हैं।

मनसो धारणं यत्तद्युक्तस्य च यमादिभिः।
धारणा सा च संसारसागरोत्तारकारणम् ॥134॥
आजानुपादपर्यन्तं पृथिवीस्थानमिष्यते।
पित्तला चतुरस्रा च वसुधा वज्रलाञ्छिता ॥135॥
स्मर्तव्या पञ्चघटिकास्तत्रारोप्य प्रभञ्जनम्।
आजानुकटिपर्यन्तमपां स्थानं प्रकीर्तितम् ॥136॥
अर्धचन्द्रसमाकारं श्वेतमर्जुनलाञ्छितम्।
स्मर्तव्यमम्भःश्वसनमारोप्य दशनाडिकाः ॥137॥

यम आदि से युक्त मन की एकाग्रता को ही धारणा कहा जाता है। ऐसी धारणा संसाररूपी सागर को पार करने का कारण मानी जाती है। घुटनों से लेकर पैरों तक का स्थान पृथ्वीस्थान माना जाता है। पीले रंग की और चार कोणों से युक्त पृथ्वी वज्र से जड़ी हुई है। उस पृथ्वी में वायु को रोककर उसका पाँच घटिकापर्यन्त (दो घण्टों तक) स्मरण (चिन्तन) करना चाहिए। अब घुटने से लेकर ऊपर का कमर तक का भाग जल का स्थान माना जाता है। वह अर्धचन्द्रकार है, और श्वेतवर्ण का है तथा चाँदी से जड़ा हुआ है। उसका भी श्वास को रोककर (उसी में तन्मय होकर) दश घटिका तक (चार घण्टों तक) चिन्तन करना चाहिए।

आदेहमध्यकट्यन्तमग्निस्थानमुदाहृतम्।
तत्र सिन्दूरवर्णोऽग्निर्ज्वलनं दश पञ्च च ॥138॥
स्मर्तव्या नाडिकाः प्राणं कृत्वा कुम्भे तथेरितम्।
नाभेरुपरि नासान्तं वायुस्थानं तु तत्र वै ॥139॥
वेदिकाकारवद् धूम्रो बलवान्भूतमारुतः।
स्मर्तव्यः कुम्भकेनैव प्राणमारोप्य मारुतम् ॥140॥
घटिकाविंशतिस्तस्माद् घ्राणाद् ब्रह्मबिलावधि।
व्योमस्थानं नभस्तत्र भिन्नाञ्जनसमप्रभम् ॥141॥

शरीर में कटि प्रदेश के मध्य का भाग अग्नि का स्थान कहा गया है। वहाँ सिन्दूरवर्णी अग्नि ज्वालारूप है। उसका पंद्रह घटिका (छः घण्टे) तक प्राण को कुंभक में रोककर चिन्तन करना चाहिए। नाभि से लेकर तक नासिका तक वायु का स्थान है। उसका आकार वेदी के मुख जैसा होता है। धूम्र जैसा उसका स्वरूप होता है जो कि बड़ा शक्तिशाली होता है। वहाँ प्राणवायु को कुम्भक के द्वारा रोककर उसका बीस घटिका तक (आठ घण्टे तक) चिन्तन करना चाहिए। और नासिका से ब्रह्मरन्ध्र तक का स्थान आकाशतत्त्व का कहा गया है। इसकी आभा नीले रंग की कही गई है।

व्योम्नि मारुतमारोप्य कुम्भकेनैव यत्नवान्।
पृथिव्यंशे तु देहस्य चतुर्बाहुं किरीटिनम् ॥142॥
अनिरुद्धं हरिं योगी यतेत भवमुक्तये।
अबंशे पूरयेद्योगी नारायणमुदग्रधीः ॥143॥
प्रद्युम्नमग्नौ वाय्वंशे सङ्कर्षणमतः परम्।
व्योमांशे परमात्मानं वासुदेवं सदा स्मरेत् ॥144॥

प्रयत्नशील योगी कुंभक के द्वारा ही आकाश के क्षेत्र में आरोपण करता है और बाद में देह के पृथ्वी क्षेत्र के भाग में चतुर्भुज, मुकुटधारी, अनिरुद्ध हरि का चिन्तन करता है (करना चाहिए)। यह संसार से मुक्त होने के लिए किया जाता है। फिर देह के जल क्षेत्र वाले भाग में तेजस्वी बुद्धिवाला वह योगी नारायण का चिन्तन करता है और अग्निवाले स्थान में प्रद्युम्न का चिन्तन करता है। बाद में उस योगी को वायु के क्षेत्र में संकर्षण का और आकाश वाले अंश में वासुदेव का चिन्तन निरन्तर करते ही रहना चाहिए।

अचिरादेव तत्प्राप्तिर्युञ्जानस्य न संशयः।
बद्ध्वा योगासनं पूर्वं हृद्देशे हृदयाञ्जलिः ॥145॥
नासाग्रन्यस्तनयनो जिह्वां कृत्वा च तालुनि।
दन्तैर्दन्तानसंस्पृश्य ऊर्ध्वकायः समाहितः ॥146॥
संयमेच्चेन्द्रियग्राममात्मबुद्ध्या विशुद्धया।
चिन्तनं वासुदेवस्य परस्य परमात्मनः ॥147॥

जो साधक योगी ऐसे अभ्यास को नियमपूर्वक निरन्तर किया करता है, वह जल्द से जल्द परब्रह्म परमात्मा वासुदेव की प्राप्ति कर लेता है, इसमें कोई शंका नहीं है। सबसे पहले तो योगासन लगाकर हृदय प्रदेश में हृदयरूपी अंजलियुक्त होकर, नाक के अग्र भाग में नेत्रों को (दृष्टि को) रखते हुए, जीभ को तालुस्थान में लगाकर, दाँतों को दाँतों से स्पर्श नहीं करना चाहिए। शरीर को सीधा एवं स्थिर रखकर, सावधान होकर, इन्द्रियों का संयम करना चाहिए और बाद में परब्रह्म वासुदेव का अपनी निर्मल बुद्धि से चिन्तन करना चाहिए।

स्वरूपव्याप्तरूपस्य ध्यानं कैवल्यसिद्धिदम्।
य ममात्रं वासुदेवं चिन्तयेत्कुम्भकेन यः ॥148॥
र [illegible] जन्मार्जितं पापं तस्य नश्यति योगिनः।
नाभिकन्दात्समारभ्य यावद्धृदयगोचरम् ॥149॥
जाग्रद्वृत्तिं विजानीयात्कण्ठस्थं स्वप्नवर्तनम्।
सुषुप्तं तालुमध्यस्थं तुर्यं भ्रूमध्यसंस्थितम् ॥150॥

अपने स्वरूप से व्याप्त रूपवाले परमात्मा का ध्यान कैवल्य की सिद्धि कराने वाला है। जो साधक कुम्भक के द्वारा एक प्रहरमात्र भी वासुदेव का चिन्तन करता है, उस योगी के सात जन्मों में किए हुए पापों का नाश हो जाता है। नाभिकेन्द्र से लेकर हृदय तक का क्षेत्र जाग्रदवस्था का क्षेत्र है, ऐसा जानना चाहिए। स्वप्नावस्था का केन्द्र कण्ठ है और सुषुप्तावस्था का केन्द्र तालुस्थान है और तुर्य का क्षेत्र भौहों के मध्यस्थान का क्षेत्र माना गया है।

तुर्यातीतं परंब्रह्म ब्रह्मरन्ध्रे तु लक्षयेत्।
जाग्रद्वृत्तिं समारभ्य यावद् ब्रह्मबिलान्तरम् ॥151॥
तत्रात्मायं तुरीयस्य तुर्यान्ते विष्णुरुच्यते।
ध्यानेनैव समायुक्तो व्योम्नि चात्यन्तनिर्मले ॥152॥
सूर्यकोटिद्युतिधरं नित्योदितमधोक्षजम्।
हृदयाम्बुरुहासीनं ध्यायेद्वा विष्णुरूपिणम् ॥153॥

तुर्यातीत परब्रह्म का क्षेत्र ब्रह्मरन्ध्र में परब्रह्म को लक्ष्य करके अवस्थित है। जाग्रदवस्था से शुरू होकर ब्रह्मरन्ध्र तक तुर्यात्मा का तत्त्व प्रतिष्ठित रहता है। और उसके अन्त में वह विष्णु कहा गया है। इसके बाद साधक योगी को चाहिए कि वह ध्यान में परायण होकर अत्यन्त निर्मल आकाश में (हृदयरूपी आकाश में) करोड़ों सूर्य जैसे तेज को धारण किए हुए, हृदयरूपी कमल पर बैठे हुए, विश्वरूपधारी, नित्योदित भगवान् विष्णु का निरन्तर चिन्तन-मनन करता रहे।

अनेकाकारखचितमनेकवदनान्वितम्।
अनेकभुजसंयुक्तमनेकायुधमण्डितम् ॥154॥
नानावर्णधरं देवं शान्तमुग्रमुदायुधम्।
अनेकनयनाकीर्णं सूर्यकोटिसमप्रभम् ॥155॥
ध्यायतो योगिनः सर्वमनोवृत्तिर्विनश्यति।
हृत्पुण्डरीकमध्यस्थं चैतन्यज्योतिरव्ययम् ॥156॥
कदम्बगोलकाकारं तुर्यातीतं परात्परम्।
अनन्तमानन्दमयं चिन्मयं भास्करं विभुम् ॥157॥
निवातदीपसदृशमकृत्रिममणिप्रभम्।
ध्यायतो योगिनस्तस्य मुक्तिः करतले स्थिता ॥158॥

ऐसे अनेक आकार-प्रकारवाले, अनेक मुखों वाले, अनेक हाथों वाले, अनेक आयुध धारण किए हुए, विविध वर्ण धारण करने वाले, देवस्वरूप, शान्त, अस्त्र धारण किये हुए, असंख्य आँखों वाले, करोड़ों-करोडों सूर्यों की आभावाले, विश्वस्वरूप भगवान् विष्णु का चिन्तन-मनन करने से योगी की सभी मनोवृत्तियाँ समाप्त हो जाती हैं। हृदयरूपी कमल के मध्य प्रदेश में स्थित चैतन्यरूप ज्योतिर्मय, अव्यय (शाश्वत), कदम्ब के समान गोलाकार, तुर्यातीत, परे से भी परे, अनन्त, आनन्दमय, चैतन्यमय, व्यापक प्रकाशरूप, वायुरहित स्थान में स्थित दीपक की भाँति अचल, सच्चे मणि के जैसे तेजोमय, तुर्यातीत का ध्यान करने से मुक्ति तो योगी के हाथ में ही रहती है।

विश्वरूपस्य देवस्य रूपं यत्किञ्चिदेव हि।
स्थवीयः सूक्ष्ममन्यद्वा पश्यन्हृदयपङ्कजे ॥159॥
ध्यायतो योगिनो यस्तु साक्षादेव प्रकाशते।
अणिमादिफलं चैव सुखेनैवोपजायते ॥160॥

जीवात्मनः परस्यापि यद्येवमुभयोरपि ।
अहमेव परंब्रह्म ब्रह्माहमिति संस्थितिः ॥161॥
समाधिः स तु विज्ञेयः सर्ववृत्तिविवर्जितः ।
ब्रह्म सम्पद्यते योगी न भूयः संसृतिं व्रजेत् ॥162॥

इस विश्वरूप देव का जो कोई भी स्थूल, सूक्ष्म अथवा और कोई भी रूप है, उसका अपने हृदयरूपी कमल में ध्यान करते हुए योगी के सामने साक्षात् वह उस रूप में प्रकट होता है । अथवा ध्यान करने वाला योगी ही स्वयं ध्येय के रूपवाला हो जाता है । उस योगी को बिना किसी परिश्रम के (सुखपूर्वक) अणिमा, लघिमा आदि का फल प्राप्त हो जाता है । जीवात्मा तथा परमात्मा—दोनों के पारमार्थिक स्वरूप का ज्ञान हो जाने से जब 'मैं ही परब्रह्म हूँ'—ऐसी अवस्था आ जाती है, उसे ही 'समाधि' कहा जाता है । समाधि में मन की सभी वृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं । ऐसा समाधिप्राप्त योगी ब्रह्म को प्राप्त करता है और वह फिर कभी इस नश्वर जगत् में नहीं आता है ।

एवं विशोध्य तत्त्वानि योगी निःस्पृहचेतसा ।
यथा निरिन्धनो वह्निः स्वयमेव प्रशाम्यति ॥163॥
ग्राह्याभावे मनःप्राणो निश्चयज्ञानसंयुतः ।
शुद्धसत्त्वे परे लीनो जीवः सैन्धवपिण्डवत् ॥164॥
मोहजालकसङ्घातं विश्वं पश्यति स्वप्नवत् ।
सुषुप्तिवद्यश्चरति स्वभावपरिनिश्चलः ।
निर्वाणपदमाश्रित्य योगी कैवल्यमश्नुतः ॥165॥ इत्युपनिषत् ।

इति त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषत्समाप्ता ।

वह साधक योगी इस तरह से योगतत्त्वों का शोधन करके स्पृहारहित मन से ईंधनरहित अग्नि की तरह स्वयं ही शान्त हो जाता है । तब ऐसे योगी के लिए कुछ भी स्वीकार्य नहीं होता अर्थात् उसके लिए कोई ग्राह्य वस्तु नहीं होती, क्योंकि तब उसके मन और प्राण निश्चयात्मक – पारमार्थिक ज्ञान से युक्त हो जाते हैं और उसका जीवात्मा परमशुद्ध तत्त्व में (ब्रह्म में) जल में नमक के पिण्ड की भाँति विलीन हो जाता है । उस योगी को यह मोह के जाल जैसा विश्व स्वप्न की तरह ही दीखता है और वह संपूर्णतः अचल (स्थिर) होकर सहजभाव से सुषुप्ति जैसी अवस्था में रहने लगता है । ऐसा उत्तम योगी (साधक) निर्वाणपद पर आसीन होकर कैवल्यावस्था को प्राप्त होता है ।

यहाँ त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् पूरी हुई ।

शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं .... पूर्णमेवावशिष्यते । (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(46) सीतोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

यह अथर्ववेदीय उपनिषद् है। इसमें कहा गया है कि सीता ही मूल प्रकृति है। श्रीराम के समीप रहकर वह जगत् को आनन्द देने वाली है। वही मूल प्रकृति इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश का मूल कारण है। इसी को महामाया कहा जाता है। इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति तथा आद्याशक्ति भी यही है। लक्ष्मीस्वरूप भी वही है, पृथ्वीस्वरूप भी वही है, वही भगवान् की साक्षात् शक्ति है। इस तरह सीता का मूल प्रकृतित्व, अक्षरार्थ, व्यक्ताव्यक्तस्वरूप, ब्रह्मरूपत्व, शक्तित्रयत्व आदि बताया गया है।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः......देवहितं यदायुः। (पूर्ववत्)

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (अथर्वशिर उपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्का सीता किं रूपमिति ॥1॥

स होवाच प्रजापतिः सा सीतेति।

मूलप्रकृतिरूपत्वात्सा सीता प्रकृतिः स्मृता।

प्रणवप्रकृतिरूपत्वात्सा सीता प्रकृतिरुच्यते ॥2॥

एक समय देवताओं ने प्रजापति से पूछा—'सीता का स्वरूप क्या है ?' सीता कौन है ?' तब प्रजापति ने कहा—वह सीता तो मूल प्रकृति है इसलिए वह जगत् का मूल कारण है। जो मूलप्रकृतित्व से प्रणव कहा गया है, उसी रूप की होने से सीता को प्रकृति कहा गया है।

सीता इति त्रिवर्णात्मा साक्षान्मायामयी भवेत्।

विष्णुः प्रपञ्चबीजं च मया ईकार उच्यते ॥3॥

सकारः सत्यममृतं प्राप्तिः सोमश्च कीर्त्यते।

तकारस्तारलक्ष्म्या च वैराजः प्रस्तरः स्मृतः ॥4॥

त्रिवर्णात्मक यह 'सीता' नाम साक्षात् योगमाया का स्वरूप है। भगवान् विष्णु सम्पूर्ण जगत् (प्रपंच) के बीजस्वरूप हैं, तो भगवान् विष्णु की माया 'ई'कारस्वरूप है। इसमें जो 'स'कार है, वह सत्य, अमृत, प्राप्ति और चन्द्र का वाचक है। और इसमें जो दीर्घ आकारमात्रा सहित 'त'कार है, उसे महालक्ष्मी का फैलने वाला प्रकाशमय रूप कहा गया है।

ईकाररूपिणी सोमाऽमृतावयवदिव्यालङ्कारस्रङ्मौक्तिकाद्याभरणालङ्कृता महामायाऽव्यक्तरूपिणी व्यक्ता भवति ॥5॥

प्रथमा शब्दब्रह्ममयी स्वाध्यायकाले प्रसन्ना। उद्भावनकरी सात्मिका

द्वितीया भूतले हलाग्रे समुत्पन्ना। तृतीया ईकाररूपिणी अव्यक्तस्वरूपां भवतीति सीतेत्युदाहरन्ति शौनकीये ॥6॥

'ई'काररूपिणी सीताजी यों तो अव्यक्त महामाया है, फिर भी श्रीराम के संकल्पवश सोम जैसी प्रियदर्शना वह अपने अमृतसमान अवयवों और माला – मोती आदि दिव्य आभूषणों से अलंकृत होकर व्यक्तरूप धारण करती है। महामाया भगवती सीताजी के तीन स्वरूप हैं—पहले शब्दब्रह्ममयी होकर स्वाध्याय-स्वरूप बुद्धि के रूप में प्रकट होती है। दूसरे रूप में वह महाराज जनक के यहाँ हल के अग्र भाग से उत्पन्न हुई। वह यों तो भगवद्भाव को प्राप्त हुए लोगों के हृदय में निरावृत्त सुखरूप से सदैव उद्भूत हैं ही। और तीसरे ईकार के रूप में वे अव्यक्त रहती हैं। शौनकीय तंत्र में सीता के ये ही तीन रूप बताए गए हैं।

श्रीरामसान्निध्यवशांज्जगदानन्दकारिणी।
उत्पत्तिस्थितिसंहारकारिणी सर्वदेहिनाम् ॥7॥
सीता भगवती ज्ञेया मूलप्रकृतिसंज्ञिता।
प्रणवत्वात्प्रकृतिरिति वदन्ति ब्रह्मवादिन इति ॥8॥
अथातो ब्रह्मजिज्ञासेति च ॥9॥

श्री सीताजी को राम का नित्य सान्निध्य प्राप्त है, इसलिए वे जगत् को आनन्द देने वाली हैं। वे सभी प्राणियों की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करने वाली हैं। भगवती सीता को मूल प्रकृतिरूप जानना चाहिए। उनके प्रणवस्वरूप होने के कारण ब्रह्मवादी लोग उन्हें प्रकृति कहते हैं। ब्रह्मसूत्रों के 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस सूत्र में उन्हीं के व्यक्त तथा अव्यक्त स्वरूपों का प्रतिपादन किया गया है।

सा सर्ववेदमयी सर्वदेवमयी सर्वलोकमयी सर्वकीर्तिमयी सर्वधर्ममयी सर्वाधारकार्यकारणमयी महालक्ष्मीर्देवेशस्य भिन्नाभिन्नरूपा चेतनाचेतनात्मिका ब्रह्मस्थावरात्मा तद्गुणकर्मविभागभेदाच्छरीररूपा देवर्षिमनुष्यगन्धर्वरूपा असुरराक्षसभूतप्रेतपिशाचभूतादिभूतशरीररूपाभूतेन्द्रियमनः प्राणरूपेति च विज्ञायते ॥10॥

वह सीताजी सभी वेदों का स्वरूप हैं, सभी देवों का भी स्वरूप हैं, वह सर्वलोकों में व्याप्त हैं, सर्वधर्मस्वरूप हैं, वह यशस्विनी सभी का आधार हैं, सभी कार्य और कारण रूप हैं, वह महालक्ष्मी, महानारायण भगवान् से भिन्न होते हुए भी अभिन्न हैं। चेतन और अचेतन—दोनों उन्हीं (सीताजी) के रूप में हैं। ब्रह्मा से लेकर स्थावरपर्यन्त वह व्याप्त हैं। सभी प्राणियों के गुण और कर्मों के विभाग के भेद से सर्वशरीरस्वरूपा वह मनुष्य, देव, ऋषि और गन्धर्वों की स्वरूपभूत हैं तथा असुर, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच और भूतादि की शरीररूपिणी हैं। इन पाँच भूतों, इन्द्रियों, मन तथा प्राण के स्वरूपवाली भी जानी जाती है।

सा देवी त्रिविधा भवति शक्त्यासना इच्छाशक्तिः क्रियाशक्तिः साक्षाच्छक्तिरिति ॥11॥
इच्छाशक्तिस्त्रिविधा भवति। श्रीभूमिनीलात्मिका भद्ररूपिणी प्रभावरूपिणी सोमसूर्याग्निरूपा भवति ॥12॥
सोमात्मिका ओषधीनां प्रभवति कल्पवृक्षपुष्पफललतागुल्मात्मिका

औषधभेषजात्मिका अमृतरूपा देवानां महस्तोमफलप्रदा अमृतेन तृप्तिं जनयन्ती देवानामन्नेन पशूनां तृणेन तत्तज्जीवानाम् ॥13॥

वह शक्तिस्वरूपा देवी एक होते हुए भी परिच्छिन्न दृष्टिवालों के लिए तीन रूपवाली हैं—इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति। इनमें इच्छाशक्ति तीन प्रकार की होती है—श्री, भू और नीला। इन तीनों रूपों को धारण करके वह देवी अपने प्रभाव से सभी का कल्याण करने वाली है और चन्द्र, सूर्य और अग्नि का रूप धारण करती हैं। चन्द्रस्वरूपिणी होकर वे औषधियों का पोषण करती हैं। कल्पवृक्ष, फल, मूल, लता, पौधेरूपी औषधियों एवं अमृतरूप अन्य औषधियों का रूप भी उन्हींने धारण किया हुआ है। वह देवी उसी चन्द्र के रूप में देवताओं को 'महास्तोम' यज्ञ का फल देती हैं। अमृत, अन्न और तृग (घास) के द्वारा क्रमशः देवता, मानव और अन्य जीवों को तृप्त करती है।

सूर्यादिसकलभुवनप्रकाशिनी दिवा च रात्रिः कालकलानिमेषमारभ्य घटिकाष्टयामदिवस(वार)रात्रिभेदेन पक्षमासर्त्वयनसंवत्सरभेदेन मनुष्याणां शतायुःकल्पनया प्रकाशमाना चिरक्षिप्रव्यपदेशेन निमेषमारभ्य परार्धपर्यन्तं कालचक्रं जगच्चक्रमित्यादिप्रकारेण चक्रवत्परिवर्तमानाः सर्वस्यैतस्यैव कालस्य विभागविशेषाः प्रकाशरूपाः कालरूपा भवन्ति ॥14॥

वे सीताजी सूर्य आदि सकल भुवनों को भी प्रकाशित करने वाली हैं। वही देवी निमेष, घड़ी, आठ प्रहरवाले दिन-रात्रि, मास, पक्ष, ऋतु, अयन, संवत्सर आदि काल की कलाओं के भेद से मनुष्य की शत वर्षों की आयुष्य की कल्पना को पूरा करती हुई प्रकाशमान होती है। शीघ्र और विलम्ब के भेद से, निमिष से लेकर परार्ध तक के कालचक्र को ही संसार कहा जाता है। उसके सभी अंगप्रत्यंग विशेषरूप से प्रकाशमान और कालरूप इसलिए ही हैं कि ये सब चक्र की तरह परिवर्तनशील जो काल है, वही सीताजी का रूप है, और उसी कालरूप सीताजी के ही रूप हैं।

अग्निरूपा अन्नपानादिप्राणिनां क्षुत्तृष्णात्मिका देवानां मुखरूपा वनौषधीनां शीतोष्णरूपा काष्ठेष्वन्तर्बहिश्च नित्यानित्यरूपा भवति ॥15॥
श्रीदेवी त्रिविधं रूपं कृत्वा भगवत्सङ्कल्पानुगुण्येन लोकरक्षणार्थं रूपं धारयति। श्रीरिति लक्ष्मीरिति लक्ष्यमाणा भवतीति विज्ञायते ॥16॥

वह देवी प्राणियों के भीतर अग्नि के रूप में अवस्थित होकर अन्न-जल के खाने-पीने के लिए भूख और प्यास के रूप में उपस्थित रहती है। वही अग्निस्वरूपिणी देवी देवताओं के मुख के रूप में भी विद्यमान होती है और वही देवी वनौषधियों के लिए शीतोष्णरूप होती है तथा काष्ठों के लिए भीतर-बाहर नित्यानित्यस्वरूप बनती है। वे सीताजी श्रीदेवी के तीन रूप धारण करती हैं, और भगवान् के संकल्पानुसार सर्व लोगों का रक्षण करने के लिए महालक्ष्मी के रूप में प्रकट होती हैं, और श्री, लक्ष्मी आदि के द्वारा लक्षित होती हैं, ऐसा जाना जाता है।

भूदेवी ससागराम्भः सप्तद्वीपा वसुन्धरा भूरादिचतुर्दशभुवनानामाधाराधेया प्रणवात्मिका भवति ॥17॥
नीला च मुखविद्युन्मालिनी सर्वौषधीनां सर्वप्राणिनां पोषणार्थं सर्वरूपा भवति ॥18॥

प्रणवात्मिका माता सीता सात द्वीपों वाली, सागरों से युक्त, पृथ्वी के रूप में प्रकट होती हैं, उसे भूदेवी कहा जाता है। वह देवी पृथिव्यादि चौदहों भुवनों को आश्रय देने वाली हैं। वह आधार होने पर भी आधेय के रूप में प्रकट होती हैं। और विद्युन्माता के समान मुखवाली होकर सब औषधियों और प्राणियों के पोषण के लिए जब सर्वरूप होकर प्रकट होती है, तब वह नीला कही जाती हैं।

समस्तभुवनस्याधोभागे जलाकारात्मिका मण्डूकमयेति भुवनाधारेति विज्ञायते ॥19॥
क्रियाशक्तिस्वरूपं हरेर्मुखान्नादः। तन्नादाद्बिन्दुः। बिन्दोरोङ्कारः। ओङ्कारात्परतो रामवैखानसपर्वतः। तत्पर्वते कर्मज्ञानमयीभिर्बहुशाखा भवन्ति ॥20॥

जो देवी सभी भुवनों के नीचे के भाग में जलरूप मण्डूकमया होकर सभी भुवनों को आश्रय (आधार) देती है, वह भुवनाधारा भी आद्याशक्ति सीताजी ही हैं, ऐसा जाना जाता है। परमात्मा की क्रियाशक्तिरूप सीताजी का स्वरूप पहले भगवान् श्रीहरि के मुख से नाद के रूप में प्रकट हुआ। उस नाद से बिन्दु और बिन्दु से ओंकार प्रकट हुआ। ॐकार से परे रामरूपी वैखानस पर्वत है। उस पर्वत में ज्ञान और कर्मरूपी अनेक शाखाएँ आर्द्र हुई हैं।

तत्र त्रयीमयं शास्त्रमाद्यं सर्वार्थदर्शनम्।
ऋग्यजुःसामरूपत्वात्त्रयीति परिकीर्तिता ॥21॥
(हेतुना) कार्यसिद्धेन चतुर्धा परिकीर्तिता।
ऋचो यजूंषि सामानि अथर्वाङ्गिरसस्तथा ॥22॥
चातुर्होत्रप्रधानत्वाल्लिङ्गादित्रितयं त्रयी।
अथर्वाङ्गिरसं रूपं सामऋग्यजुरात्मकम् ॥23॥

उस पर्वत पर त्रयी नाम का एक आदिशास्त्र है, वह सभी अर्थों को प्रकट करने वाला है। ऋक् (पद्य), यजुस् (गद्य) और साम (गीति) रूप होने से त्रयी नाम दिया गया है। उसी वेदत्रयी को कार्य की सिद्धि के लिए (कार्य की सिद्धि की सुविधा के कारण से) चार नामों से अभिहित किया गया है। ये नाम ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद हैं। ये चारों यों तो यज्ञप्रधान ही हैं फिर भी अपने स्वरूप के आधार पर उन वेदों की गणना तीन में ही होती है। चौथा जो अथर्वांगिरस वेद है, वह साम, यजुस् और ऋक् का ही स्वरूप है।

तथा दिशन्त्याभिचारसामान्येन पृथक्पृथक्।
एकविंशतिशाखायामृग्वेदः परिकीर्तितः ॥24॥
शतं च नवशाखासु यजुषामेव जन्मनाम्।
साम्नः सहस्रशाखाः स्युः पञ्चशाखा अथर्वणः ॥25॥

आभिचारादिक क्रियाओं की वजह से ही यह पृथक् पृथक् (त्रयी और चतुर्वेद) गणना की गई है। (अब प्रत्येक वेद की शाखाओं की बात करते हैं कि—) ऋग्वेद की इक्कीस शाखाएँ हैं, यजुर्वेद की एक सौ नौ शाखाएँ हैं, सामवेद की एक हजार शाखाएँ हैं, तथा अथर्ववेद की पाँच शाखाएँ कही गई हैं।

वैखानसमतस्तस्मिन्नादौ प्रत्यक्षदर्शनम्।
स्मर्यते मुनिभिर्नित्यं वैखानसमतः परम् ॥26॥

कल्पो व्याकरणं शिक्षा निरुक्तं ज्योतिषं छन्द एतानि षडङ्गानि ॥27॥
उपाङ्गमयनं चैव मीमांसान्यायविस्तरः ।
धर्मज्ञसेवितार्थं च वेदवेदोऽधिकं तथा ॥28॥

वेदों में पहले वैखानसमत को (श्रीराम के मत को) प्रत्यक्षदर्शन माना गया है। इसीलिए सभी ऋषिलोग परमवैखानस श्रीराम का स्मरण करते हैं। ऋषियों ने वेदों को कल्प, व्याकरण, शिक्षा, निरुक्त, ज्योतिष और छन्द—इन छः अंगों वाला तथा अयन (वेदान्त), मीमांसा और न्याय—इन तीन उपांगों वाला माना है। धर्म को जानने वाला मनुष्य वेदों के साथ उसके अंगों तथा उपांगों का अध्ययन करना अधिक अच्छा समझते हैं।

निबन्धाः सर्वशाखा च समयाचारसङ्गतिः ।
धर्मशास्त्रं महर्षीणामन्तःकरणसम्भृतम् ।
इतिहासपुराणाख्यमुपाङ्गं च प्रकीर्तितम् ॥29॥
वास्तुवेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्च तथा मुने ।
आयुर्वेदश्च पञ्चैते उपवेदाः प्रकीर्तिताः ॥30॥
दण्डो नीतिश्च वार्ता च विद्या वायुजयः परः ।
एकविंशतिभेदोऽयं स्वप्रकाशः प्रकीर्तितः ॥31॥

वेद की सभी शाखाओं में समय-समय पर मनुष्य अपने आचरण को शास्त्रसम्मत बनाने के लिए धर्मशास्त्रीय निबन्धों की रचना करते रहे हैं। ऋषियों ने धर्मशास्त्रों – आचार, व्यवहार और प्रायश्चित्तों – को अपने दिव्य ज्ञान से पुष्ट किया है और शास्त्रानुकूल बनाया है। और उन्हीं जैसे ऋषियों के द्वारा इतिहास, पुराण, वास्तुविद्या, धनुर्वेद, गंधर्ववेद और आयुर्वेद—ऐसे पाँच उपवेदों को भी प्रकट किया है। हे मुनि ! इन सभी के साथ ही दण्डनीति, व्यवहार-व्यापार, विद्या और प्राणजय (योगविद्या) का तथा परमतत्त्व में स्थिति आदि जो इक्कीस भेद हैं, वह सब स्वयंप्रकाशित शास्त्र हैं।

वैखानसऋषेः पूर्वं विष्णोर्वाणी समुद्भवेत् ।
त्रयीरूपेण सङ्कल्प्य इत्थं देही विजृम्भते ॥32॥
संख्यारूपेण सङ्कल्प्य वैखानसऋषेः पुरा ।
उदितो यादृशः पूर्वं तादृशं शृणु मेऽखिलम् ।
शश्वद्ब्रह्ममयं रूपं क्रियाशक्तिरुदाहृता ॥33॥

प्राचीन समय में विष्णु की वाणी वैखानस ऋषि के हृदय में वेदत्रयी के रूप में आविर्भूत हुई। वह वाणी वैखानस के संकल्प से जिस संख्यादिरूप में हुई, वह सब सुनो। हरि की जो यह क्रियाशक्ति है, वह साक्षात् ब्रह्मस्वरूपिणी है। (अर्थात् पहले हरिमुख से उदित नाद ही संपूर्ण वेदशास्त्रकृति होकर बाद में ब्रह्मभाव को प्राप्त करके ब्रह्म ही होता है। यहाँ वैखानस का अर्थ विष्णु है। विष्णुमुखोत्पन्न नादवाणी त्रयीरूप से चार वेद और अनेक शाखाओं की संख्या के भेद से विजृंभित=गर्जित प्रसिद्ध है)। वही वेदशास्त्ररूप से विजृंभित वाणी प्रणवरूप से विलीन होती है। बिन्दु नादात्मरूप में, नाद विष्णु के रूप में, विष्णु ब्रह्ममय रूप में जिस गणना से विलीन होते हैं, उसी को क्रियाशक्ति कहा जाता है।

साक्षाच्छक्तिर्भगवतः स्मरणमात्ररूपाविर्भावप्रादुर्भावात्मिका निग्रहानु-ग्रहरूपा शान्तितेजोरूपा व्यक्ताव्यक्तकारणचरणसमग्रावयवमुखवर्ण-

भेदाभेदरूपा भगवत्सहचारिणी अनपायिनी अनवरतसहाश्रयिणी उदितानुदिताकारा निमेषोन्मेषसृष्टिस्थितिसंहारतिरोधानानुग्रहादिसर्व-शक्तिसामर्थ्यात्साक्षाच्छक्तिरिति गीयते ॥34॥

वह क्रियाशक्ति भगवान् की साक्षात् शक्ति है। वह भगवान् के संकल्पमात्र से ही संसार के विविध रूपों का आविर्भाव-तिरोभाव करती है। वह निग्रह (संयम) स्वरूप है और अनुग्रहरूपिणी भी है। वह शान्ति और तेजस्वरूप भी है, वह व्यक्त-अव्यक्त कारणरूप है, चरणादि समस्त अवयवरूप है, वह समस्त मुख और समस्त वर्णों के भेद और अभेद स्वरूपवाली, भगवान् के संकल्प का अनुसरण करने वाली, अविनाशी, सदैव उनका आश्रय करके रहने वाली कथनीय और अकथनीय—दोनों प्रकार के रूपों को धारण करने वाली, निमेष और उन्मेष के साथ इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय, सृष्टि का संहार और सृष्टि का तिरोधान करने वाली, अनुग्रह आदि सभी प्रकार का सामर्थ्य होने से वह क्रियाशक्तिरूपा सीताजी भगवान् की साक्षात् शक्ति कही जाती हैं।

इच्छाशक्तिस्त्रिविधा प्रलयावस्थायां विश्रमणार्थं भगवतो दक्षिणवक्षः-स्थले श्रीवत्साकृतिर्भूत्वा विश्राम्यतीति सा योगशक्तिः ॥35॥

भगवान् की इच्छाशक्तिरूप सीताजी के तीन रूप हैं—जब प्रलयकाल आता है, तब थकान उतारने के लिए भगवान् की छाती के दाहिने भाग पर अवस्थित श्रीवत्स का रूप वह धारण करती है, और विश्राम करती है, तब वह 'योगमाया' अथवा 'योगशक्ति' कहलाती है।

भोगशक्तिर्भोगरूपा कल्पवृक्षकामधेनुचिन्तामणिशङ्खपद्मनिध्यादिनव-निधिसमाश्रिता भगवदुपासकानां कामनयाऽकामनया वा भक्तियुक्ता नरं नित्यनैमित्तिककर्मभिरग्निहोत्रादिभिर्वा यमनियमासनप्राणायाम-प्रत्याहारधारणाध्यानसमाधिभिर्वालमनण्वपि गोपुरप्राकारादिभिर्वि-मानादिभिः सह भगवद्विग्रहार्चापूजोपकरणैरर्चनैः स्नानादिभिर्वा पितृ-पूजादिभिरन्नपानादिभिर्वा भगवत्प्रीत्यर्थमुक्त्वा सर्वं क्रियते ॥36॥

दूसरा रूप भोगशक्ति है। वह भोगरूप है। वह भोगरूपा सीताजी कल्पवृक्ष, कामधेनु, चिन्तामणि, शंख, पद्म, निधि आदि नवनिधि का रूप धारण किए हुए हैं। भगवान् के जो भक्त भगवान् की नित्य, नैमित्तिक, अग्निहोत्र और यज्ञादि कर्मों द्वारा अथवा यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि द्वारा उपासना करते हैं, उनकी इच्छा हो या न भी हो, तो भी उनके उपभोग के लिए वे तरह-तरह के भोग्य पदार्थ प्रदान करती हैं। वही गोपुर (स्वर्ग) प्राकार किले आदि को भी प्रदान करती हैं। वही शक्तिरूपा सीताजी भगवान् के श्रीविग्रह की पूजा-अर्चना की सामग्रियों के रूप में होती हैं, वही पितृपूजा और तीर्थस्नानादि के रूप में भी होती हैं। अन्न और रसादि के रूप में भी वही होती हैं। पर यह सब वह सिर्फ भगवान् को प्रसन्न करने के उद्देश्य से ही सम्पादित करती है।

अथातो वीरशक्तिश्चतुर्भुजाऽभयवरदपद्मधरा किरीटाभरणयुता सर्वदेवैः परिवृता कल्पतरुमूले चतुर्भिर्गजै रत्नघटैरमृतजलैरभिषिच्यमाना सर्वदैवतैर्ब्रह्मादिभिर्वन्द्यमाना अणिमाद्यष्टैश्वर्ययुता सम्मुखे कामधेनुना स्तूयमाना वेदशास्त्रादिभिः स्तूयमाना जयाद्यप्सरस्त्रीभिः परिचर्यमाणा

आदित्यसोमाभ्यां दीपाभ्यां प्रकाश्यमाना तुम्बुरुनारदादिभिर्गीयमाना राकासिनीवालीभ्यां छत्रेण ह्लादिनीमायाभ्यां चामरेण स्वाहास्वधाभ्यां व्यजनेन भृगुपुण्यादिभिरभ्यर्च्यमाना देवी दिव्यसिंहासने पद्मासनारूढा सकलकारणकार्यकरी लक्ष्मीर्देवस्य पृथग्भवनकल्पना। अलङ्कार स्थिरा प्रसन्नलोचना सर्वदेवतैः पूज्यमाना वीरलक्ष्मीरिति विज्ञायत इत्युपनिषत् ॥37॥

इति सीतोपनिषत्समाप्ता ।

अब तीसरा सीताजी का जो वीरशक्तिरूप है, वह चार भुजाओं वाला है और अभय तथा वरदान देने वाले पद्म को धारण किए हुए हैं। वह मुकुट और आभूषणों को धारण की हुई हैं। उनके चारों ओर से देवलोग उन्हें घेरे हुए हैं। वह कल्पतरु के मूल में खड़ी हैं। चार हाथी सोने के घड़ों से उन पर अमृत का अभिषेक कर रहे हैं। ब्रह्मा आदि सभी देव उनका वन्दन कर रहे हैं। वे अणिमा, लघिमा आदि आठ सिद्धियों से युक्त हैं। उनके सन्मुख कामधेनु उनकी स्तुति कर रही हैं। वेद और शास्त्रों में उन्हीं की स्तुति की गई है। जया आदि अप्सराएँ उनकी सेवा कर रही हैं। सूर्य और चन्द्ररूपी दो दीप उन्हें प्रकाशित कर रहे हैं। तुम्बुरु और नारद आदि उनके गीत गा रहे हैं। राका एवं सीनीवाली नाम की दो देवियाँ छत्र लेकर खड़ी हैं। वे स्वाहा और स्वधा के द्वारा पंखा से हवा की जा रही हैं। ह्लादिनी और मायाशक्तियाँ इन्हें चामर डुला रही हैं। भृगु और पुण्य आदि ऋषि इनकी पूजा कर रहे हैं। वह दिव्य सिंहासन पर पद्मासन लगाकर बैठी हैं। वह सकल कार्यों और कारणों को करने वाली हैं। वह महालक्ष्मीरूपा भगवती सीताजी स्वयं स्थिर होते हुए भी तरह-तरह के अलग-अलग भवनों (रूपों) के द्वारा मानो देव का शृंगार कर रही हों, ऐसी हैं। उनकी आँखें प्रसन्न हैं। सभी देवताओं के द्वारा वे पूजित हैं। ऐसी देवी को (देवी के ऐसे रूप को) वीरशक्ति के रूप में जाना जाता है।

इस प्रकार यह उपनिषद् यहाँ पूरी होती है।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः······देवहितं यदायुः। (पूर्ववत्)

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

❈

(47) योगचूडामण्युपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

इस सामवेदीय उपनिषद् में योग-साधना से आत्मशक्ति जगाने की प्रक्रिया बताई गई है। पहले योग के आसनादि छः अंगों को बताकर योगसिद्धि के आवश्यक देहतत्त्वज्ञान, मूलाधारादिचक्रज्ञान, कुण्डलिनी में परमज्योतिदर्शन, नाडीचक्र, नाडीस्थान, नाडीसंचरित प्राणवायु और उसकी क्रियाएँ, प्राणसह जीव की गतिमयता, अजपागायत्री अनुसन्धान, कुण्डलिनी द्वारा मोक्षद्वार-भेदन, तीन बन्ध, खेचरी मुद्रा, वज्रोली आदि के लक्षण, महामुद्रास्वरूप, प्रणवजप की विशेष प्रक्रिया, प्रणव-ब्रह्म का ऐक्य, प्रणवावयवों का अर्थ, तुरीयोंकार से अक्षरब्रह्मसाधना, प्रणव-हंस साधना, आत्मज्ञानबोधक प्रणवजाप, प्राणजय की आवश्यकता और इसी प्रकार से अनेकानेक योगविषय और उनके फल बताए गए हैं। सचमुच ही इसका 'योगचूडामणि' नाम अन्वर्थक है, क्योंकि इसमें योग के अनेक विषय दिए हुए हैं और इसका उपासक योग का चूडामणि (मुकुट) बन सकता है।

शान्तिपाठः

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि.......ते मयि सन्तु। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (आरुण्युपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

योगचूडामणिं वक्ष्ये योगिनां हितकाम्यया।
कैवल्यसिद्धिदं गूढं सेवितं योगवित्तमैः ॥1॥
आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा।
ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि भवन्ति षट् ॥2॥
एकं सिद्धासनं प्रोक्तं द्वितीयं कमलासनम्।
षट्चक्रं षोडशाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम् ॥3॥
स्वदेहे यो न जानाति तस्य सिद्धिः कथं भवेत्।
चतुर्दलं स्यादाधारं स्वाधिष्ठानं च षड्दलम् ॥4॥
नाभौ दशदलं पद्मं हृदये द्वादशारकम्।
षोडशारं विशुद्धाख्यं भ्रूमध्ये द्विदलं तथा ॥5॥

योगियों के कल्याण की कामना से मैं योगचूडामणि नामक उपनिषद् को कहूँगा। यह उपनिषद् कैवल्य की सिद्धि कराने वाली है और श्रेष्ठ योगियों के द्वारा परिशीलन की गई एवं रहस्यमय है। आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—इन छः अंगों से युक्त को **'योग'** कहा गया है। यहाँ आसन के दो प्रकार बताए गए हैं—एक सिद्धासन और दूसरा पद्मासन। जो साधक अपनी देह के भीतर छः चक्रों को, सोलह आधारों को, तीन लक्ष्यों को और पाँच आकाशों को नहीं पहचान पाता, उसे सिद्धि भला कहाँ से मिल सकती है ? शरीर में स्थित छः चक्रों में जो आधार चक्र

(मूलाधारचक्र) है, वह चार दलों (पंखुडियों) वाला है, और जो स्वाधिष्ठानचक्र है, उसमें छ: दल हैं। नाभि में स्थित पद्म दश दलों वाला है और हृदय में अवस्थित पद्मचक्र बारह दलों वाला है। जो विशुद्धचक्र है, वह सोलह दल वाला है और भ्रूमध्य में जो आज्ञाचक्र (पद्म) है, वह दो दलों वाला है।

सहस्रदलसंख्यातं ब्रह्मरन्ध्रे महापथि।
आधारं प्रथमं चक्रं स्वाधिष्ठानं द्वितीयकम् ॥6॥
योनिस्थानं द्वयोर्मध्ये कामरूपं निगद्यते।
कामाख्यं तु गुदस्थाने पङ्कजं तु चतुर्दलम् ॥7॥
तन्मध्ये प्रोच्यते योनिः कामाख्या सिद्धवन्दिता।
तस्य मध्ये महालिङ्गं पश्चिमाभिमुखं स्थितम् ॥8॥

ब्रह्मरन्ध्र के महापथ में आया हुआ पद्मचक्र हजार दलवाला है। मूलाधार प्रथम चक्र है और स्वाधिष्ठान दूसरा चक्र है। उन दोनों के बीच में योनिस्थान (कुण्डलिनी) है। वह जगत् की उत्पत्ति का कारण है, इसलिए उसे 'कामरूप' कहा गया है। गुदा स्थल में चार दलवाला कमल स्थित है, उसे 'काम' कहा गया है। उसी काम नामक कमल के बीच में सिद्ध पुरुषों के द्वारा वन्दित पश्चिम की ओर मुँह किया हुआ महालिंग स्थित है।

नाभौ तु मणिवद्बिम्बं यो जानाति स योगवित्।
तप्तमाचीकराभासं तडिल्लेखेव विस्फुरत् ॥9॥
त्रिकोणं तत्पुरं वह्नेरधोमेढ्रात्प्रतिष्ठितम्।
समाधौ परमं ज्योतिरनन्तं विश्वतोमुखम् ॥10॥

नाभि-स्थल में मणि के आकारवाले मणिपूर नामक चक्र को जानने वाला जो योगी है, वही सही रूप में योग को जानने वाला है। वह तपाए गए स्वर्ण जैसी कान्तिवाला, विद्युत् की तरह चमकने वाला त्रिकोणाकार होता है और वह अग्निरूप मेढ्र में प्रतिष्ठित रहता है। समाधि की अवस्था में इस स्थान पर अनन्त विश्वतोमुख (चारों ओर) परमज्योति के दर्शन होते हैं।

तस्मिन्दृष्टे महायोगे यातायातो न विद्यते।
स्वशब्देन भवेत्प्राणः स्वाधिष्ठानं तदाश्रयः ॥11॥
स्वाधिष्ठानाश्रयादस्मान् मेढ्रमेवाभिधीयते।
तन्तुना मणिवत्प्रोतो योऽत्र कन्दः सुषुम्नया ॥12॥

यदि महान् योगाभ्यास से इस महाअग्नि को (अग्निमयी ज्वाला को) देख लिया जाए, तो फिर यहाँ आने-जाने से मुक्ति मिल जाएगी। स्वाधिष्ठानचक्र को स्व = प्राण का अधिष्ठान = निवासस्थान कहा जाता है। स्व के अधिष्ठान में रहने के कारण से ही उसे 'मेढ्र' भी कहा जाता है। जिस प्रकार मोती में धागा पिरोया जाता है, वैसे ही कन्द (नाडी समूह) सुषुम्ना से युक्त होता है।

तन्नाभिमण्डले चक्रं प्रोच्यते मणिपूरकम्।
द्वादशारे महाचक्रे पुण्यपापविवर्जिते ॥13॥
तावज्जीवो भ्रमत्येवं यावत्तत्त्वं न विन्दति।
ऊर्ध्वं मेढ्रादधो नाभेः कन्दे योनिः खगाण्डवत् ॥14॥

तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्त्राणां द्विसप्ततिः ।
तेषु नाडीसहस्त्रेषु द्विसप्ततिरुदाहृता ॥15॥
प्रधानाः प्राणवाहिन्यो भूयस्तासु दश स्मृताः ।
इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्ना च तृतीयगा ॥16॥
गान्धारी हस्तिजिह्वा च पूषा चैव यशस्विनी ।
अलम्बुसा कुहूश्चैव शङ्खिनी दशमी स्मृता ॥17॥

नाभिमण्डल में स्थित बारह दलों वाला मणिपूरचक्र पाप और पुण्य से रहित है । जब तक जीव इस चक्र के रहस्य को नहीं समझता, तब तक वह इस संसार में ही चक्कर लगाया करता है । पक्षी के अण्डे के आकारवाली योनि (कुण्डलिनी) मेढ्र और नाभि के बीच में स्थित है और वहीं से बहत्तर हजार नाडियों का जाल सारे शरीर में फैला हुआ है । इन बहत्तर हजार में बहत्तर नाडियाँ मुख्य हैं । इन बहत्तर में भी दस नाडियाँ मुख्य मानी गई हैं । ये दस प्रमुख नाड़ियाँ हैं—1. इडा, 2. पिंगला, 3. सुषुम्ना, 4. गान्धारी, 5. हस्तिजिह्वा, 6. पूषा, 7. यशस्विनी, 8. अलम्बुसा, 9. कुहू और 10. शंखिनी ।

एतन्नाडीमहाचक्रं ज्ञातव्यं योगिभिः सदा ।
इडा वामे स्थिता भागे दक्षिणे पिङ्गला स्थिता ॥18॥
सुषुम्ना मध्यदेशे तु गान्धारी वामचक्षुषि ।
दक्षिणे हस्तिजिह्वा च पूषा कर्णे च दक्षिणे ॥19॥
यशस्विनी वामकर्णे चानने चाप्यलम्बुसा ।
कुहूश्च लिङ्गदेशे तु मूलस्थाने तु शङ्खिनी ॥20॥

योगियों को इस नाड़ीचक्र का ज्ञान होना ही चाहिए । हमारे शरीर में इडा नाडी नासिका की बाँयीं ओर तथा पिंगला नाडी नासिका की दाहिनी ओर होती है । और इन इडा और पिंगला नाड़ियों के बीच सुषुम्ना रहती है । दक्षिण नेत्र में हस्तिजिह्वा तथा वाम नेत्र में गान्धारी का निवास है । इसी तरह पूषा दाहिने कान में और यशस्विनी बाँये कान में वास करती है । मुँह में अलम्बुसा तथा लिंगप्रदेश में कुहू तथा मूलस्थान में शंखिनी नाडी का वास है ।

एवं द्वारं समाश्रित्य तिष्ठन्ते नाडयः क्रमात् ।
इडापिङ्गलासौषुम्नाः प्राणमार्गे च संस्थिताः ॥21॥
सततं प्राणवाहिन्यः सोमसूर्याग्निदेवताः ।
प्राणापानसमानाख्या व्यानोदानौ च वायवः ॥22॥
नागः कूर्मोऽथ कृकरो देवदत्तो धनञ्जयः ।
हृदि प्राणः स्थितो नित्यमपानो गुदमण्डले ॥23॥
समानो नाभिदेशे तु उदानः कण्ठमध्यगः ।
व्यानः सर्वशरीरे तु प्रधानाः पञ्च वायवः ॥24॥

संपूर्ण शरीर के भीतर एक-एक द्वार पर एक-एक नाडी रहती है और प्राणमार्ग में इडा, पिंगला और सुषुम्ना रहती है । सोम, सूर्य और अग्निदेवता प्राणों के वाहक हैं । प्राण, अपान, उदान, समान

और व्यान—ये पाँच प्राणवायु माने गए हैं। नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय—ये पाँचों उपप्राणवायु माने गए हैं। शरीर के भीतर हृदय में मुख्य प्राणवायु रहता है, गुदास्थान में अपान, नाभिस्थान में समान, कण्ठ में उदान तथा संपूर्ण शरीर में व्यानवायु अवस्थित रहता है। ये पाँचों प्रधान प्राणवायु शरीर के पाँच स्थानों में निवास कर रहे हैं।

उद्गारे नाग आख्यातः कूर्म उन्मीलने तथा।
कृकरः क्षुत्करो ज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे ॥25॥
न जहाति मृतं वापि सर्वव्यापी धनञ्जयः।
एते नाडीषु सर्वासु भ्रमन्ते जीवजन्तवः ॥26॥

ऊर्ध्ववायु में (डकार में) नाग नामक उपप्राण की स्थिति है। आँखों की पलक की झपक में कूर्मवायु की तथा छींकने में कृकर की एवं जम्भाई में देवदत्तवायु की स्थिति रहती है। धनंजय उपप्राण तो शरीर में इस तरह व्याप्त है कि वह मरण के बाद भी शरीर को नहीं छोड़ता है। जीव इन्हीं नाडियों में घूमता रहता है।

आक्षिप्तो भुजदण्डेन यथा चलति कन्दुकः।
प्राणापानसमाक्षिप्तस्तथा जीवो न तिष्ठति ॥27॥
प्राणापानवशो जीवो ह्यधश्चोर्ध्वं च गच्छति।
वामदक्षिणमार्गाभ्यां चञ्चलत्वान्न दृश्यते ॥28॥
रज्जुबद्धो यथा श्येनो गतोऽप्याकृष्यते पुनः।
गुणबद्धस्तथा जीवः प्राणापानेन कर्षति ॥29॥
प्राणापानवशो जीवो ह्यधश्चोर्ध्वं च गच्छति।
अपानः कर्षति प्राणं प्राणोऽपानं च कर्षति।
ऊर्ध्वाधःसंस्थितावेतौ यो जानाति स योगवित् ॥30॥

हाथ से फेंके गए कन्दुक की भाँति जीव प्राण और अपानादि वायुओं से फेंका गया होने से स्थिर नहीं रहता अर्थात् इधर-उधर उछलता रहता है। यह जीव प्राणापान आदि वायुओं के वश में रहकर ऊपर-नीचे आया-जाया करता है। वह दाहिने-बाँयें मार्ग पर भी आवागमन करता रहता है। उसका वह गमनचक्र तीव्रता से चलता है इसलिए वह दिखाई नहीं पड़ता। रस्सी से बाँधा हुआ बाजपक्षी ऊपर उड़ता हुआ भी जैसे खींच लिया जाता है, वैसे ही गुणों से बँधा हुआ यह जीव भी प्राण और अपान वायु के द्वारा खींचा जाता है। प्राणवायु अपानवायु को खींचता है और अपानवायु प्राणवायु को खींचता रहता है। प्राण-अपान की इस क्रिया के द्वारा जीव भी ऊपर-नीचे आया-जाया ही करता रहता है। प्राण और जीव की इस ऊपर-नीचे आने-जाने की क्रिया को जो जानता है, वही योग को सही रूप से जानता है।

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः।
हंसहंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ॥31॥
षट्शतानि दिवारात्रौ सहस्राण्येकविंशतिः।
एतत्संख्यान्वितं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ॥32॥
अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदा सदा।
अस्याः सङ्कल्पमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥33॥

अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः ।
अनया सदृशं ज्ञानं न भूतं न भविष्यति ॥34॥

हमारी साँस 'हकार' से बाहर निकलती है और 'सकार' से भीतर आती है । इस तरह यह जीव सदैव 'हंस हंस' इस तरह हंसमन्त्र का जाप करता ही रहता है । इस तरह दिन-रात मन्त्र का जाप करते रहने से यह जीव प्रतिदिन इक्कीस हजार छः सौ मन्त्र जपता है । यही अजपा गायत्री योगियों के लिए मुक्ति देने वाली है । इसके संकल्प मात्र से सर्वपापों से मुक्ति मिल जाती है । इसके समान कोई विद्या, कोई जप, कोई ज्ञान अभी तक न हुआ है और भविष्य में होगा भी नहीं ।

कुण्डलिन्या समुद्भूता गायत्री प्राणधारिणी ।
प्राणविद्या महाविद्या यस्तां वेत्ति स वेदवित् ॥35॥
कन्दोर्ध्वे कुण्डलीशक्तिरष्टधा कुण्डलाकृतिः ।
ब्रह्मद्वारमुखं नित्यं मुखेनाच्छाद्य तिष्ठति ॥36॥
येन द्वारेण गन्तव्यं ब्रह्मद्वारं मनोमयम् ।
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ॥37॥
प्रबुद्धा वह्नियोगेन मनसा मरुता सह ।
सूचीवद्गात्रमादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्नया ॥38॥
उद्घाटयेत्कवाटं तु यथा कुञ्जिकया गृहम् ।
कुण्डलिन्यां तथा योगी मोक्षद्वारं प्रभेदयेत् ॥39॥

यह गायत्री कुण्डलिनी से उत्पन्न हुई है, यह प्राणों को धारण करने वाली है, यह प्राणविद्या और महाविद्या है—इस प्रकार जो जान लेता है, वही वेद को सही रूप से जानता है । कुण्डलिनीशक्ति कन्द के ऊर्ध्वभाग में आठ कुण्डलों के आकार में व्याप्त होकर सुषुम्ना नामक ब्रह्मद्वार के मुख को अपने मुख से ढँककर ही रहती है । जिस मनोमय ब्रह्मद्वार – सुषुम्ना में प्रवेश किया जाता है, उसी द्वार को अपने मुख से ढँककर वह परमेश्वरी शक्ति (कुण्डिलिनी) सोई रहती है । वह्नियोग (अग्नियोग) के द्वारा वह जाग्रत् होती है और फिर प्रकाश के रूप में मन और प्राणवायु के साथ सुषुम्ना नाडी के भीतर सुई की तरह ऊपर की ओर गति करती है । जिस तरह चाभी से घर का किवाड़ (ताला) खोला जाता है, वैसे ही कुण्डलिनी शक्ति के द्वारा योगीजन मुक्ति का द्वार खोल लेते हैं ।

कृत्वा सम्पुटितौ करौ दृढतरं बध्वा तु पद्मासनं
गाढं वक्षसि सन्निधाय चुबुकं ध्यानं च तच्चेष्टितम् ।
वारंवारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोच्चारयेत्पूरितं
मुञ्चन्प्राणमुपैति बोधमतुलं शक्तिप्रभावान्नरः ॥40॥

पहले दृढता से पद्मासन लगाकर, हाथों का संपुट करके (ऊपर-नीचे करके) गोदी में रखना चाहिए । बाद में सिर को नीचा करके ठोड़ी को छाती पर लगाना चाहिए । फिर, ब्रह्म में एकाग्रता करनी चाहिए और बार-बार श्वास को भीतर खींचते रहना और बाहर निकालते रहना चाहिए । अर्थात् प्राणवायु को भीतर खींचते रहना चाहिए और अपानवायु को बाहर निकालते रहना चाहिए । इस तरह से प्राणायाम करते रहने से मनुष्य को अतुल शक्ति की अनुभूति होती है ।

अङ्गानां मर्दनं कृत्वा श्रमसञ्जातवारिणा ।
कट्वम्ललवणत्यागी क्षीरभोजनमाचरेत् ॥41॥

ब्रह्मचारी मिताहारी योगी योगपरायणः ।
अब्दादूर्ध्वं भवेत्सिद्धो नात्र कार्या विचारणा ॥42॥
सुस्निग्धमधुराहारश्चतुर्थांशविवर्जितः ।
भुञ्जते शिवसम्प्रीत्या मिताहारी स उच्यते ॥43॥
कन्दोर्ध्वे कुण्डलीशक्तिरष्टधा कुण्डलाकृतिः ।
बन्धनाय च मूढानां योगिनां मोक्षदा सदा ॥44॥

इस विधि के अनुसार प्राणायाम के परिशीलन से शरीर में जो पसीना उत्पन्न होगा, उसको शरीर में ही मर्दन कर लेना चाहिए तथा तीखे, खट्टे तथा नमकीन पदार्थों का त्याग करके दूध का ही आहार करना चाहिए। ब्रह्मचारी और मिताहारी वह योगी यदि योगाभ्यास में सदैव तत्पर रहे, तो उसे एक वर्ष में ही योग की सिद्धि मिल जाती है, इसमें किसी शंका का स्थान नहीं है। योग-साधक को स्निग्ध और मधुर पदार्थ ही खाने चाहिए। उसे (कुक्षि का) एक चतुर्थांश भाग खाली रखकर ही खाना चाहिए (ऊनोदरी रहना चाहिए अर्थात् एक द्वितीयांश अन्न, एक चतुर्थांश जल और एक चतुर्थांश खाली—इस तरह भोजन करना चाहिए)। आठ कुण्डलों वाली कुन्द के ऊपर के भाग में जो कुण्डलिनीशक्ति है, वह योगियों के लिए मोक्ष देने वाली है, तथा अज्ञानियों के लिए बन्धनकारक भी कही गई है।

महामुद्रा नभोमुद्रा ओड्याणं च जलन्धरम् ।
मूलबन्धं च यो वेत्ति स योगी मुक्तिभाजनम् ॥45॥
पार्ष्णिघातेन सम्पीड्य योनिमाकुञ्चयेद्दृढम् ।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धो विधीयते ॥46॥
अपानप्राणयोरैक्यं क्षयान्मूत्रपुरीषयोः ।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ॥47॥
ओड्याणं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः ।
ओड्डियाणं तदेव स्यान्मृत्युमातङ्गकेसरी ॥48॥

महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डियाणबन्ध, जालन्धरबन्ध और मूलबन्ध को जो जानता है, वह योगी मोक्ष प्राप्त करता है। एड़ी से योनि (सीवनी स्थल) को दबाकर दृढ़ता से उसे संकुचित करके अपानवायु को ऊपर की ओर खींचने की जो क्रिया होती है उसे मूलबन्ध कहा जाता है। मूलबन्ध में इस प्रकार प्राण और अपान को एक में मिलाया जाता है। इससे मल-मूत्र कम हो जाता है और इस मूलबन्ध का अभ्यास करने से बूढ़ा भी जवान हो जाता है। गिद्ध आदि बड़े पक्षी जैसे बिना थके ही आकाश में ऊँचे उड़ते हैं, उसी प्रकार 'उड्डियाणबन्ध' का अभ्यास किया जाता है। वह बन्ध मृत्युरूपी हाथी को पछाड़ने के लिए सिंह के समान होता है। (कहा जाता है कि बड़े पक्षियों को उड़ने से थकान नहीं, अपितु नयी शक्ति आ जाती है। इसी प्रकार इस उड्डियाणबन्ध के अभ्यास से थकान नहीं, अपितु साधक में नयी शक्ति का संचार होता है)।

उदरात्पश्चिमं ताणमधोनाभेर्निगद्यते ।
ओड्याणमुदरे बन्धस्तत्र बन्धो विधीयते ॥49॥
बध्नाति हि शिरोजातमधोगामि नभोजलम् ।
ततो जालन्धरो बन्धः कष्टदुःखौघनाशनः ॥50॥
जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसङ्कोचलक्षणे ।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रधावति ॥51॥

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥52॥

पेट को नाभि के नीचे सामने खींचने को पश्चिमोत्तान कहा जाता है। और उसी जगह पेट में ही यह उड्डियाणबन्ध भी किया जाता है। जो साधक शरीर में नीचे की ओर बहते हुए खेचरी मुद्रा के द्वारा क्षरित होने वाले आकाशजल को अपने मस्तक में रोकता है, उसकी उस क्रिया को 'जालन्धरबन्ध' कहा जाता है। वह बन्ध कष्टों और दुःखों के समूह को नष्ट कर देता है। इस जालन्धरबन्ध में सामने की ओर मस्तक को झुकाकर, गले से नीचे ठोढ़ी को हृदय से स्पर्श कराना होता है। इससे अमृत वायु की ओर या अग्नि की ओर न जाकर स्थिर रहता है। दृष्टि को दोनों भौहों के बीच स्थिर करके जीभ को गले की ओर पीछे खींचकर गले के मध्य तालु में (कपालकुहर में) प्रवेश कराया जाय, तब वह खेचरी मुद्रा कही जाती है।

न रोगो मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा ।
न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥53॥
पीड्यते न च रोगेण लिप्यते न स कर्मभिः ।
बाध्यते न च केनापि यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥54॥
चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे यतः ।
तेनेयं खेचरी मुद्रा सर्वसिद्धनमस्कृता ॥55॥
बिन्दुमूलशरीराणि शिरास्तत्र प्रतिष्ठिताः ।
भावयन्ती शरीराणि आपादतलमस्तकम् ॥56॥

जो साधक खेचरी मुद्रा को जान लेता है और साधना करता है, उसे रोग, भय, भूख, प्यास और मूर्च्छा आदि से छुटकारा मिल जाता है। खेचरी मुद्रा जानने वाले को किसी रोग से कोई पीड़ा नहीं होती और कर्मों में भी वह लिप्त नहीं होता और कोई विघ्न भी उसके पास नहीं फटकता। खेचरी मुद्रा की साधना करने से चित्त और जीभ आकाश में विचरण करते हैं। इसलिए ऐसी खेचरी मुद्रा की सभी सिद्ध लोग वन्दना करते हैं। मस्तक से लेकर चरणों तक के शरीर के सभी अंगों का जिन शिराओं के द्वारा पोषण होता है, उन सभी शिराओं का मूलबिन्दु खेचरी मुद्रा ही है।

खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः ।
न तस्य क्षीयते बिन्दुः कामिन्यालिङ्गितस्य च ॥57॥
यावद्बिन्दुः स्थितो देहे तावन्मृत्युभयं कुतः ।
यावद्बद्धा नभोमुद्रा तावद्बिन्दुर्न गच्छति ॥58॥
ज्वलितोऽपि यथा बिन्दुः सम्प्राप्तश्च हुताशनम् ।
व्रजत्यूर्ध्वं गतः शक्त्या निरुद्धो योनिमुद्रया ॥59॥
स पुनर्द्विविधो बिन्दुः पाण्डरो लोहितस्तथा ।
पाण्डरं शुक्लमित्याहुर्लोहिताख्यं महारजः ॥60॥

जिस साधक ने खेचरी मुद्रा के द्वारा अपनी जीभ के ऊपर कपालकुहर को आच्छादित कर लिया है, उस साधक का किसी कामिनी के आलिंगन करने पर भी बिन्दुस्खलन नहीं होता। जब तक वह साधक खेचरी मुद्रा को बाँधकर रहता है, तब तक बिन्दुपात नहीं होता। और जब तक बिन्दुपात नहीं होता अर्थात् जब तक बिन्दु शरीर में रहता है, तब तक मृत्यु से क्या भय है ? यदि प्रज्वलित अग्नि

में बिन्दुपात हो भी जाए तो उसे योनिमुद्रा के द्वारा बलपूर्वक रोका जा सकता है, और ऊर्ध्वगामी बनाया जा सकता है। वह बिन्दु सफेद और लाल—दो रंग का होता है। श्वेत बिन्दु को शुक्र (वीर्य) नाम दिया गया है और लाल बिन्दु को 'महारज' नाम दिया गया है।

सिन्दूरव्रातसङ्काशं रविस्थानस्थितं रजः।
शशिस्थानस्थितं शुक्लं तयोरैक्यं सुदुर्लभम् ॥61॥
बिन्दुर्ब्रह्मा रजः शक्तिर्बिन्दुरिन्दू रजो रविः।
उभयोः सङ्गमादेव प्राप्यते परमं पदम् ॥62॥
वायुना शक्तिचालेन प्रेरितं च यथा रजः।
याति बिन्दुः सदैकत्वं भवेद्दिव्यवपुस्तदा ॥63॥
शुक्लं चन्द्रेण संयुक्तं रजः सूर्येण सङ्गतम्।
तयोः समरसैकत्वं यो जानाति स योगवित् ॥64॥

सिन्दूर के ढेर के समान प्रकाशित रविस्थान में वह रज (महारज) अवस्थित है। तथा चन्द्रस्थान में शुक्ल (शुक्र) स्थित है। शुक्ल और रज का संयोग बड़ा कठिन होता है। बिन्दु ब्रह्मारूप है तथा रज शक्तिस्वरूप है। बिन्दु चन्द्ररूप है और रज सूर्यरूप है। इन दोनों का योग (मिलन) होने से ही परमपद की प्राप्ति होती है। जब वायु से (प्राणायाम से) शक्तिचालिनी मुद्रा के जरिए गतिशील बने हुए 'रज' बिन्दु के साथ एकाकार हो जाता है, तब शरीर दिव्य हो जाता है। जिस प्रकार रज का संयोग सूर्य में और शुक्ल (शुक्र) का संयोग चन्द्र में होता है, उस विषय को और दोनों के एकाकार होने को जो साधक जानता है, वह योग को जानने वाला है।

शोधनं नाडिजालस्य चालनं चन्द्रसूर्ययोः।
रसानां शोषणं चैव महामुद्राभिधीयते ॥65॥
वक्षोन्यस्तहनुः प्रपीड्य सुचिरं योनिं च वामाङ्घ्रिणा
हस्ताभ्यामनुधारयन्प्रसरितं पादं तथा दक्षिणम्।
आपूर्य श्वसनेन कुक्षियुगलं बध्वा शनै रेचये-
त्सेयं व्याधिविनाशिनी सुमहती मुद्रा नृणां कथ्यते ॥66॥
चन्द्रांशेन समभ्यस्य सूर्यांशेनाभ्यसेत्पुनः।
या तुल्या तु भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥67॥
नहि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः।
अतिभुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यते ॥68॥

जिस साधना से नाडीसमूह का शोधन किया जा सकता है, जिससे सूर्य-चन्द्र को चलाया जा सकता है तथा जिससे रस का शोषण किया जा सकता है, उस साधना को 'महामुद्रा' कहा जाता है। बाँये पैर से योनिस्थान पर दबाव डालकर ठोढी को छाती पर लगाना चाहिए और फिर दाहिना पैर सीधा फैलाकर दोनों हाथों से अँगुलियों सहित उस दाहिने पैर को पकड़कर दोनों कुक्षियों में अर्थात् पेट में पूरा श्वास भरकर धीरे-धीरे बाहर निकालना चाहिए। ऐसी यह महामुद्रा की क्रिया है। यह क्रिया सभी प्रकार की व्याधियों को नष्ट कर देती है। अभ्यास के क्रम में सबसे पहले तो बाँयीं नासिका से (चन्द्र अंश से) श्वास को खींचकर बाद में रेचन करते हुए अभ्यास करना चाहिए। फिर उसी तरह दायीं नासिका से (सूर्य अंश से) श्वास को खींचकर बाद में रेचन का अभ्यास करना चाहिए। इस महामुद्रा

के करने से पथ्य या अपथ्य—सभी प्रकार का नीरस भोजन भी सरस हो जाता है। भोजन ज्यादा कर लेने पर या विष खा लेने पर भी वह अमृत के समान पच ही जाता है।

क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः।
तस्य रोगाः क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत् ॥69॥
कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरी नृणाम्।
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ॥70॥
पद्मासनं समारुह्य समकायशिरोधरः।
नासाग्रदृष्टिरेकान्ते जपेदोङ्कारमव्ययम् ॥71॥

इस महामुद्रा की साधना करने वाले योगी को इसके प्रभाव से क्षय, कोढ़, भगन्दर, गुल्म, अजीर्ण आदि नहीं होते और भविष्य में भी वह रोगों से मुक्त ही रहता है। यह महामुद्रा साधकों को बड़ी सिद्धियाँ प्रदान करती है। इस मुद्रा को हर किसी को (अनधिकारी) को नहीं बताना चाहिए। इसे प्रयत्नपूर्वक गोपनीय रखना चाहिए। किसी एकान्त स्थल में पद्मासन लगाकर कमर से मस्तक तक शरीर को सीधा रखकर नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि रखते हुए अव्यय प्रणवमन्त्र का – ओंकार का जाप करना चाहिए।

ॐ नित्यं शुद्धं बुद्धं निर्विकल्पं निरञ्जनं निराख्यातमनादिनिधनमेकं तुरीयं यद्भूतं भवद्भविष्यत् परिवर्तमानं सर्वदाऽनवच्छिन्नं परं ब्रह्म। तस्माज्जाता परा शक्तिः स्वयंज्योतिरात्मिका। आत्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। एतेषां पञ्चभूतानां पतयः पञ्च सदाशिवेश्वररुद्रविष्णुब्रह्माणश्चेति। तेषां ब्रह्मविष्णुरुद्राश्चोत्पत्तिस्थितिलयकर्तारः। राजसो ब्रह्मा सात्त्विको विष्णुस्तामसो रुद्र इति एते त्रयो गुणयुक्ताः। ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव। धाता च सृष्टौ विष्णुश्च स्थितौ रुद्रश्च नाशे भोगाय चेन्द्रः प्रथमजा बभूवुः। एतेषां ब्रह्मणो लोका देवतिर्यङ्नरस्थावराश्च जायन्ते। तेषां मनुष्यादीनां पञ्चभूतसमवायः शरीरम्। ज्ञानकर्मेन्द्रियैर्ज्ञानविषयैः प्राणादिपञ्चवायुमनोबुद्धिचित्ताहङ्कारैः स्थूलकल्पितैः सोऽपि स्थूलप्रकृतिरित्युच्यते। ज्ञानकर्मेन्द्रियैर्ज्ञानविषयैः प्राणादिपञ्चवायुमनोबुद्धिभिश्च सूक्ष्मस्थोऽपि लिङ्गमेवेत्युच्यते। गुणत्रययुक्तं कारणम्। सर्वेषामेवं त्रीणि शरीराणि वर्तन्ते। जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुरीयाश्चेत्यवस्थाश्चतस्रः तासामवस्थानामधिपतयश्चत्वारः पुरुषा विश्वतैजसप्राज्ञात्मानश्चेति।
विश्वो हि स्थूलभुङ्नित्यं तैजसः प्रविविक्तभुक्।
आनन्दभुक्तथा प्राज्ञः सर्वसाक्षीत्यतः परः ॥72॥
प्रणवः सर्वदा तिष्ठेत्सर्वजीवेषु भोगतः।
अभिरामस्तु सर्वासु ह्यवस्थासु ह्यधोमुखः ॥73॥
अकार उकारो मकारश्चेति त्रयो वर्णास्त्रयो वेदास्त्रयो लोकास्त्रयो गुणास्त्रीण्यक्षराणि त्रयः स्वरा एवं प्रणवः प्रकाशते।
अकारो जाग्रति नेत्रे वर्तते सर्वजन्तुषु।
उकारः कण्ठतः स्वप्ने मकारो हृदि सुप्तितः ॥74॥

ॐ निरंजन, निर्विकल्प, नामरहित, शुद्ध, बुद्ध, नित्य, आदि-अन्तरहित, एक, तुरीय, भूत-भविष्य-वर्तमान में एकरस रहने वाले परब्रह्म से स्वयंप्रकाश पराशक्ति उत्पन्न हुई। परमात्मा से पहले आकाश प्रकट हुआ। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी प्रकट हुई। सदाशिव, ईश्वर, रुद्र, विष्णु और ब्रह्मा—ये पाँच देवता इन पाँच भूतों के पाँच स्वामी हैं। उनमें ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र क्रमशः इस विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और लय करने वाले हैं। ब्रह्मा राजसी हैं, विष्णु सात्त्विक हैं और रुद्र तामस हैं, ऐसे ये तीन देव तीन गुणों से युक्त हैं। ब्रह्मा सब देवों से पहले उत्पन्न हुए। सृष्टि को उत्पन्न करने के लिए ब्रह्मा, सृष्टि के पालन के लिए विष्णु, सृष्टि का संहार करने के लिए रुद्र, भोग के लिए इन्द्र—ये देव पहले उत्पन्न हुए। लोक, देव, तिर्यक्, मनुष्य और स्थावर—इन सबकी उत्पत्ति ब्रह्मा के द्वारा हुई है। इनमें मनुष्य आदि का शरीर पाँच महाभूतों के संयोग से बनता है। ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण, ज्ञान के विषय, पाँच वायु, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार—अन्यों की तुलना में स्थूल होने से इनके कारण को स्थूल प्रकृति कहते हैं। इसी प्रकार ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, प्राण, ज्ञानविषय, पाँच वायु, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार को सूक्ष्म शरीर अथवा लिंगशरीर कहा जाता है। कारण-शरीर तीन गुणों से युक्त होता है। सभी प्राणियों के स्थूल, सूक्ष्म और कारण—ये तीन शरीर होते हैं। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय—ये चार अवस्थाएँ हैं। इन सभी अवस्थाओं के अधिपति पुरुष क्रमशः विश्व, तैजस, प्राज्ञ और आत्मा होते हैं। 'विश्व' स्थूल का नित्य भोग करने वाला है, 'तैजस' एकान्त का भोग करने वाला है और 'प्राज्ञ' आनन्द का भोगने वाला है। और सबका साक्षी आत्मा इन सबसे परे है। सर्वव्यापी प्रणवरूप परमात्मा जीवों के इन अवस्थाओं के भोगने के समय में स्वयं अधोमुख (विमुख=उदासीन) ही रहता है। प्रणव (ओंकार) में स्थित तीन वर्ग—'अकार', 'उकार' और 'मकार' जो हैं, वे तीन वेद, तीन गुण, तीन लोक, तीन अक्षर और तीन स्वर के रूप में एक प्रणव ही प्रकाशित हो रहा है। 'अकार' सभी प्राणियों की जाग्रत् अवस्था में आँखों में स्थित है। 'उकार' सभी प्राणियों की स्वप्नावस्था में कण्ठ में स्थित है। और 'मकार' सभी प्राणियों की सुषुप्त अवस्था में हृदय में रहता है।

विराड्विश्वः स्थूलश्चाकारः। हिरण्यगर्भस्तैजसः सूक्ष्मश्च उकारः।
कारणाव्याकृतप्राज्ञश्च मकारः।
अकारो राजसो रक्तो ब्रह्मा चेतन उच्यते।
उकारः सात्त्विकः शुक्लो विष्णुरित्यभिधीयते ॥75॥
मकारस्तामसः कृष्णो रुद्रश्चेति तथोच्यते।
प्रणवात्प्रभवो ब्रह्मा प्रणवात्प्रभवो हरिः ॥76॥
प्रणवात्प्रभवो रुद्रः प्रणवो हि परो भवेत्।
अकारे लीयते ब्रह्मा ह्युकारे लीयते हरिः ॥77॥
मकारे लीयते रुद्रः प्रणवो हि प्रकाशते।
ज्ञानिनामूर्ध्वगो भूयादज्ञाने स्यादधोमुखः ॥78॥
एवं वै प्रणवस्तिष्ठेद्यस्तं वेद स वेदवित्।
अनाहतस्वरूपेण ज्ञानिनामूर्ध्वगो भवेत् ॥79॥

वह 'अकार' स्थूल विराट् – विश्व ही है। और 'उकार' तेजस्वी सूक्ष्म हिरण्यगर्भ के रूप में कहा जाता है। 'मकार' अव्यक्त (अप्रकट) कारणरूप 'प्राज्ञ' कहा जाता है। 'अकार' राजस प्रकृति का,

लाल वर्ण का चेतन रूप में सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा का रूप है। 'उकार' सात्त्विक प्रकृति का, श्वेतवर्णी और विष्णु कहा जाता है। और 'मकार' तामस प्रकृति का कृष्ण वर्ण वाला रुद्र कहा जाता है। प्रणव से ही ब्रह्मा उत्पन्न हुए हैं, प्रणव से ही विष्णु उत्पन्न हुए हैं, प्रणव से ही रुद्र उत्पन्न हुए हैं, प्रणव ही सबसे परे है। प्रणव के अकार में ब्रह्मा का लय होता है, उकार में विष्णु (हरि) का लय होता है और मकार में रुद्र का लय होता है। अन्त में केवल प्रणव ही प्रकाशित रहता है। यह प्रणव ज्ञानियों के लिए ऊर्ध्व-मुख और अज्ञानियों के लिए अधोमुख कहा गया है। इस तरह सर्वत्र समान रूप से प्रणव ही सर्वत्र प्रतिष्ठित है। जो इस प्रणव को इस तरह जानता है, वह वेद को जानने वाला है। ज्ञानी साधकों में यह प्रणव अनाहत रूप से ऊर्ध्वगामी ही होता है।

तैलधारामिवाच्छिन्नं दीर्घघण्टानिनादवत्।
प्रणवस्य ध्वनिस्तद्वत्तदग्रं ब्रह्म चोच्यते ॥80॥
ज्योतिर्मयं तदग्रं स्यादवाच्यं बुद्धिसूक्ष्मतः।
ददृशुर्ये महात्मानो यस्तं वेद स वेदवित् ॥81॥
जाग्रन्नेत्रद्वयोर्मध्ये हंस एव प्रकाशते।
सकारः खेचरी प्रोक्तस्त्वंपदं चेति निश्चितम् ॥82॥
हकारः परमेशः स्यात्तत्पदं चेति निश्चितम्।
सकारो ध्यायते जन्तुर्हकारो हि भवेद् ध्रुवम् ॥83॥

वह अनाहत तेल की धारा की भाँति अविच्छिन्न और घण्टाध्वनि जैसा मधुर होता है। उस अनाहतनाद (प्रणवध्वनि) का मूल ब्रह्म माना जाता है। प्रणव का वह अग्रभाग – मूलरूप वह ध्वनि महापुरुषों के द्वारा सूक्ष्म बुद्धि से जानने योग्य है, और वाणी से परे है। इसको जानने वाला महात्मा ही वेद को जानने वाला है। दोनों नेत्रों के मध्य में जाग्रदवस्था में हंस प्रकाशमान रहता है। 'हंस' का 'स'कार खेचरी के रूप में कहा गया है। वह 'त्वं' का ही स्वरूप है। और 'ह'कार निश्चित रूप से परमात्मा का द्योतक है। वह निश्चित रूप से 'तत्' पद का द्योतक है। जो भी प्राणी 'स'कार का ध्यान करता है, वह अवश्य ही 'ह'काररूप हो जाता है। 'सोऽहम्' और 'तत्त्वमसि' की वही साधना है।

इन्द्रियैर्बध्यते जीव आत्मा चैव न बध्यते।
ममत्वेन भवेज्जीवो निर्ममत्वेन केवलः ॥84॥
भूर्भुवः स्वरिमे लोकाः सोमसूर्याग्निदेवताः।
यस्य मात्रासु तिष्ठन्ति तत्परं ज्योतिरोमिति ॥85॥
क्रिया इच्छा तथा ज्ञानं ब्राह्मी रौद्री च वैष्णवी।
त्रिधा मात्रास्थितिर्यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति ॥86॥
वचसा तज्जपेन्नित्यं वपुषा तत्समभ्यसेत्।
मनसा तज्जपेन्नित्यं तत्परं ज्योतिरोमिति ॥87॥

इन्द्रियाँ जीव को तो बन्धन में डालती हैं, पर आत्मा को वे बन्धन में नहीं डाल सकतीं। जब तक ममता होती है, तब तक वह जीव रहता है, पर ममता का बन्धन छूट जाने से वह कैवल्यरूप ही हो जाता है। जिस ओंकार की तीन मात्राओं में भूः, भुवः और स्वः—ये तीन लोक तथा सूर्य, चन्द्र और अग्नि—ये तीन देव निवास करते हैं, वह त्रिमात्रिक ओंकार परम प्रकाशक है। इसी परम प्रकाशमान तीनों मात्राओं में क्रिया, इच्छा और ज्ञान तथा ब्राह्मी, रौद्री और वैष्णवी—ये तीन शक्तियाँ

भी विद्यमान हैं। उस ओंकार का सर्वदा वाणी से जप करना चाहिए और शरीर से उसी के प्रति आचरण करना चाहिए और मन से भी उसी का जप करना चाहिए तथा जाप करते-करते उसी परमप्रकाशरूप ओंकार में स्थिर हो जाना चाहिए।

शुचिर्वाप्यशुचिर्वापि यो जपेत्प्रणवं सदा।
न स लिप्यति पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥88॥
चले वाते चलो बिन्दुर्निश्चले निश्चलो भवेत्।
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरुन्धयेत् ॥89॥
यावद्वायुः स्थितो देहे तावज्जीवो न मुञ्चति।
मरणं तस्य निष्क्रान्तिस्ततो वायुं निरुन्धयेत् ॥90॥
यावद्बद्धो मरुद् देहे तावज्जीवो न मुञ्चति।
यावद् दृष्टिभ्रुवोर्मध्ये तावत्कालभयं कुतः ॥91॥

यद्यपि पवित्र हो या अपवित्र—किसी भी स्थिति में ओंकार का जप करने वाला पाप के कीचड़ में नहीं फँसता। वह जल से अलिप्त पद्मपत्र की भाँति संसार से अलिप्त रहता है। जब तक वायु चलती रहेगी तब तक बिन्दु भी चलित होगा। वायु के स्थिर हो जाने पर योगी अचलता प्राप्त करता है। इसलिए वायु की स्थिरता का (प्राणायाम का) अभ्यास करना चाहिए। शरीर में जबतक वायु का अस्तित्व है, तब तक ही शरीर में जीव स्थिर रहता है। शरीर से वायु का निकल जाना ही मृत्यु है। इसलिए वायु का निरोध (वायु को रोकना – प्राणायाम) करना चाहिए। जीव शरीर से तब तक नहीं निकल सकता, जब तक कि शरीर में वायु टिका हुआ रहता है। जो मनुष्य दोनों भौहों के मध्य में अपनी दृष्टि को स्थिर करता है, वह काल को जीत लेता है। फिर उसको काल का भय कैसा ?

अल्पकालभयाद्ब्रह्मा प्राणायामपरो भवेत्।
योगिनो मुनयश्चैव ततः प्राणान्निरोधयेत् ॥92॥
षड्विंशदङ्गुलिर्हंसः प्रयाणं कुरुते बहिः।
वामदक्षिणमार्गेण प्राणायामो विधीयते ॥93॥
शुद्धिमेति यदा सर्वं नाडीचक्रं मलाकुलम्।
तदैव जायते योगी प्राणसंग्रहणक्षमः ॥94॥
बद्धपद्मासनो योगी प्राणं चन्द्रेण पूरयेत्।
धारयेद्वा यथाशक्त्या भूयः सूर्येण रेचयेत् ॥95॥

ब्रह्मा भी अल्प काल के (अल्प आयुष्य के) भय से प्राणायाम करते हैं। इसलिए योगियों को और मुनियों को भी प्राण का निरोध करने के लिए प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। यह प्राण हंसरूप है। वह श्वास के द्वारा छब्बीस अंगुल बाहर निकलता है। प्राणायाम नासिका के दोनों नथुनों से परिवर्तित क्रम से (दाहिने-बाँयें दोनों मार्ग से) करते रहना चाहिए। जब नाडीचक्र सभी प्रकार के मलों से शुद्ध हो जाए, तब योगी प्राणों का निरोध करने में अर्थात् प्राणायाम को सिद्ध करने में समर्थ होता है। पहले बद्धपद्मासन लगाकर योगी को चन्द्रनाडी के द्वारा (बाँये नासिकाछिद्र द्वारा) वायु को भीतर खींचना चाहिए (पूरक करना चाहिए)। और बाद में कुछ समय तक उसे भीतर ही रोकना चाहिए (कुम्भक करना चाहिए)। फिर सूर्यनाड़ी से (दाहिने नासिकाछिद्र से) रेचन करना चाहिए (अर्थात् बाहर निकालना चाहिए)।

अमृतोदधिसङ्काशं गोक्षीरधवलोपमम् ।
ध्यात्वा चन्द्रमसं बिम्बं प्राणायामे सुखी भवेत् ॥96॥
स्फुरत्प्रज्वलसञ्ज्वालापूज्यमादित्यमण्डलम् ।
ध्यात्वा हृदि स्थितं योगी प्राणायामे सुखी भवेत् ॥97॥

प्राणायाम काल में सुधासागर से निकले हुए, गाय के दूध के समान धवलवर्ण चन्द्रबिम्ब का ध्यान करने से साधक सुखी होता है । और हृदयकमलस्थित प्रज्वलित ज्वाला समान सूर्य भगवान् के ध्यान के साथ प्राणायाम करने से योगी को सुख मिलता है ।

प्राणं चेदिडया पिबेन्नियमितं भूयोऽन्यथा रेचयेत्
पीत्वा पिङ्गलया समीरणमथो बद्ध्वा त्यजेद्वामया ।
सूर्याचन्द्रमसोरनेन विधिना बिन्दुद्वयं ध्यायतः
शुद्धा नाडिगणा भवन्ति यमिनो मासद्वयादूर्ध्वतः ॥98॥
यथेष्टधारणं वायोरनलस्य प्रदीपनम् ।
नादाभिव्यक्तिरारोग्यं जायते नाडिशोधनात् ॥99॥

प्राणायाम में सबसे पहले इडा नाडी (बाँयें नासिकाछिद्र) से श्वास खींचकर पूरक करना चाहिए । फिर पिंगला नाडी (दाहिने नासिका छिद्र) से श्वास का रेचन करना चाहिए । पुनः इसे विपरीत क्रम से करना चाहिए । इस प्रकार परिवर्तित क्रम में प्राणायाम करते समय चन्द्र और सूर्य का पहले कहे गए अनुसार ध्यान का परिशीलन करने पर केवल दो महीनों में नाडीशोधन हो जाता है । ऐसे 'नाडीशोधन प्राणायाम' करने से जब नाडी शुद्ध हो जाती है, तब वायु को इच्छानुसार धारण करने की क्षमता प्राप्त हो जाती है, तथा आरोग्य और जठराग्नि की प्रबलता भी बढ़ती है, और दिव्य नाद भी सुनाई पड़ता है ।

प्राणो देहस्थितो यावदपानं तु निरुन्धयेत् ।
एकश्वासमयी मात्रा ऊर्ध्वाधो गगने गतिः ॥100॥
रेचकः पूरकश्चैव कुम्भकः प्रणवात्मकः ।
प्राणायामो भवेदेवं मात्राद्वादशसंयुतः ॥101॥
मात्राद्वादशसंयुक्तौ दिवाकरनिशाकरौ ।
दोषजालमबध्नन्तौ ज्ञातव्यौ योगिभिः सदा ॥102॥
पूरकं द्वादशं कुर्यात्कुम्भकं षोडशं भवेत् ।
रेचकं दश चोङ्कारः प्राणायामः स उच्यते ॥103॥

प्राणायाम में कुम्भक में जब तक वायु भीतर रहे, तब तक अपानवायु को भी रोके रहना चाहिए । इस प्रकार हृदयरूपी आकाश में एक श्वास की मात्रा ऊपर-नीचे गतिशील रहती है । 'प्राणायाम की पूरक, रेचक और कुम्भक ये तीनों क्रियाएँ साक्षात् प्रणव का ही स्वरूप हैं ।'—ऐसे चिन्तन-मनन के साथ बारह मात्राओं से युक्त प्राणायाम करना चाहिए । सूर्य और चन्द्र का यह द्वादशमात्रावाला प्राणायाम साधक के सभी दोषों को समाप्त कर देता है, ऐसा योगियों को जानना चाहिए । पूरक में बारह मात्रा, कुंभक में सोलह मात्रा तथा रेचक में दस मात्रा के प्राणायाम को 'ओंकार प्राणायाम'—ऐसा नाम दिया गया है ।

अधमे द्वादश मात्रा मध्यमे द्विगुणा मता ।
उत्तमे त्रिगुणा प्रोक्ता प्राणायामस्य निर्णयः ॥104॥

अधमे स्वेदजननं कम्पो भवति मध्यमे ।
उत्तमे स्थानमाप्नोति ततो वायुं निरुन्धयेत् ॥105॥
बद्धपद्मासनो योगी नमस्कृत्य गुरुं शिवम् ।
नासाग्रदृष्टिरेकाकी प्राणायामं समभ्यसेत् ॥106॥
द्वाराणां नव सन्निरुध्य मरुतं बध्वा दृढां धारणां
नीत्वा कालमपानवह्निसहितं शक्त्या समं चालितम् ।
आत्मध्यानयुतस्त्वनेन विधिना विन्यस्य मूर्ध्नि स्थिरं
यावत्तिष्ठति तावदेव महतां सङ्गो न संस्तूयते ॥107॥

यह पूर्वोक्त 'ओंकार प्राणायाम' जब बारहमात्रा वाला किया जाता है, तब वह सामान्य कोटि का माना जाता है, जब वह दुगुनी अर्थात् चौबीस मात्रा वाला किया जाता है, तब वह मध्यम कोटि का माना जाता है, जब वह तिगुनी अर्थात् छत्तीस मात्रा वाला किया जाता है, तब वह उत्तम कोटि का माना जाता है। सामान्य (अधम) प्राणायाम पसीना लाने वाला होता है, मध्यम प्राणायाम में शरीर में कँपकँपी उत्पन्न होती है और उत्तम कोटि के प्राणायाम में शरीर आसन से ऊपर उठने लगता है। इसलिए प्राणायाम इसी तरह करना चाहिए। योग के अभ्यास के लिए एकान्त में 'बद्धपद्मासन' नामक आसन लगाकर बैठना चाहिए और शिवस्वरूप गुरुदेव को नमस्कार करके नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि स्थिर करके प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। जिन नवद्वारों से वायु का आवागमन हुआ करता है, उनका निरोध करके वायु को रोकना चाहिए और अपानवायु को अग्नि से संयुक्त कर, ऊर्ध्वगामी बनाकर, शक्तिचालिनी मुद्रा से कुण्डलिनी के मार्ग से दृढ़तापूर्वक मस्तिष्क में आत्मा के ध्यान के साथ स्थापित करना चाहिए। जब तक वह स्थिर रहे, तब तक वह महापुरुष की संगति नहीं चाहता, अर्थात् वह स्वयं सर्वश्रेष्ठ हो जाता है।

प्राणायामो भवेदेवं पातकेन्धनपावकः ।
भवोदधिमहासेतुः प्रोच्यते योगिभिः सदा ॥108॥
आसनेन रुजं हन्ति प्राणायामेन पातकम् ।
विकारं मानसं योगी प्रत्याहारेण मुञ्चति ॥109॥
धारणाभिर्मनोधैर्यं याति चैतन्यमद्भुतम् ।
समाधौ मोक्षमाप्नोति त्यक्त्वा कर्म शुभाशुभम् ॥110॥

संसारसागर से मुक्ति पाने के लिए यह प्राणायाम सेतु के समान हैं, और पापरूपी ईधन को जलाने के लिए अग्नि के समान है। योगी लोग बहुधा ऐसा ही कहते आए हैं। योगासनों से शारीरिक रोगों का नाश होता है, और प्राणायाम से पापों का नाश होता है तथा प्रत्याहार से मनोविकारों (मनोरोगों) का नाश होता है। धारणा से योगी का मन धैर्यवान होता है और समाधि से जीव के शुभाशुभ कर्मों का नाश हो जाता है तथा उसे मुक्ति प्राप्त हो जाती है।

प्राणायामद्विषट्केन प्रत्याहारः प्रकीर्तितः ।
प्रत्याहारद्विषट्केन जायते धारणा शुभा ॥111॥
धारणा द्वादश प्रोक्तं ध्यानं योगविशारदैः ।
ध्यानद्वादशकेनैव समाधिरभिधीयते ॥112॥
यत्समाधौ परंज्योतिरनन्तं विश्वतोमुखम् ।
तस्मिन्दृष्टे क्रियाकर्म यातायातो न विद्यते ॥113॥

बारह बार प्राणायाम करने से प्रत्याहार की सिद्धि होती है, इसी तरह बारह बार प्रत्याहार करने से धारणा की सिद्धि होती है, जब धारणा का आवर्तन बारह बार किया जाता है, तब ध्यान बनता है, और बारह बार ध्यान करने से समाधि बन जाती है, ऐसा योग के विशारदों का अभिप्राय है। समाधि की स्थिति में साधक परमज्योतिस्वरूप और अनन्त, विश्वतोमुख सर्वतो समभाव प्राप्त करने वाला हो जाता है। इस स्थिति को प्राप्त करने के बाद कुछ भी कर्म करना शेष नहीं रहता। पूर्वकृत कर्म भी उसे बन्धन में नहीं डालते। इससे संसार में आवागमन से मुक्ति मिल जाती है।

सम्बद्धासनमेढ्रमङ्घ्रियुगलं कर्णाक्षिनासापुट-
द्वाराद्यङ्गुलिभिर्नियम्य पवनं वक्त्रेण वा पूरितम्।
बध्वा वक्षसि बह्वपानसहितं मूर्ध्नि स्थिरं धारये-
देवं याति विशेषतत्त्वसमतां योगीश्वरास्तन्मनाः ॥114॥
गगनं पवने प्राप्ते ध्वनिरुत्पद्यते महान्।
घण्टादीनां प्रवाद्यानां नादसिद्धिरुदीरिता ॥115॥
प्राणायामेन युक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत्।
प्राणायामवियुक्तेभ्यः सर्वरोगसमुद्भवः ॥116॥
हिक्का कासस्तथा श्वासः शिरःकर्णाक्षिवेदनाः।
भवन्ति विविधा रोगाः पवनव्यत्ययक्रमात् ॥117॥

दोनों पैरों की एडियों को मेढ्र (सीवन स्थान) में लगाकर दृढ़तापूर्वक आसन में बैठना चाहिए। इसके बाद आँखों, कानों और नाक को अँगुलियों से बन्द कर मुँह से वायु को खींचना चाहिए। फिर नीचे से अपानवायु को ऊर्ध्वगामी बनाना चाहिए। और दोनों वायुओं को हृदयप्रदेश में रोकना चाहिए। और फिर ऊपर ले जाकर मस्तिष्क में स्थिर करके उसमें मन लगाना चाहिए। ऐसी क्रिया से योगियों को विशेष समत्वभाव प्राप्त होता है। ऊपर-नीचे दोनों ओर गतिशील वायु जब हृदयप्रदेशरूपी आकाशमण्डल में स्थिर हो जाता है, तब साधक को महान् ध्वनि सुनाई पड़ती है जो कि घण्टा आदि वाद्यों जैसी होती है। उस समय 'नादयोग' की सिद्धि होती है। विधि अनुसार प्राणायाम की साधना करने से सभी तरह के रोगों से छुटकारा हो जाता है और प्राणायाम न करने से यह शरीर सभी रोगों का जन्मस्थान बन जाता है। वायु के विकृत होने से ही तो खाँसी, श्वास, हिचकी और सिर-कान-आँख आदि की पीड़ा होती है और तरह-तरह के रोग पैदा होते रहते हैं।

यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद्वश्यः शनैः शनैः।
तथैव सेवितो वायुरन्यथा हन्ति साधकम् ॥118॥
युक्तंयुक्तं त्यजेद्वायुं युक्तंयुक्तं प्रपूरयेत्।
युक्तंयुक्तं प्रबध्नीयादेवं सिद्धिमवाप्नुयात् ॥119॥
चरतां चक्षुरादीनां विषयेषु यथाक्रमम्।
तत्प्रत्याहरणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते ॥120॥
यथा तृतीयकाले तु रविः प्रत्याहरेत्प्रभाम्।
तृतीयाङ्गस्थितो योगी विकारं मानसं हरेत् ॥ इत्युपनिषत् ॥121॥

इति योगचूडामण्युपनिषत्समाप्ता।

हाथी, बाघ, सिंह जैसे हिंसक और जंगली पशु जिस प्रकार धीरे-धीरे अभ्यास से वश में आ जाते हैं, ठीक इसी तरह से प्राणवायु भी धीरे अभ्यास के द्वारा वश में आ जाता है। योगी को इस तरह उसे वश में लाना चाहिए। यदि साधक ऐसा कर नहीं सकता, तो उसका विनाश ही हो जाता है। सुयोग्य रीति से प्राणवायु को भीतर खींचना चाहिए और सुयोग्य रीति से ही प्राणवायु को बाहर निकालना चाहिए। सुयोग्य रीति से प्राणवायु को रोकने पर ही सिद्धि प्राप्त हो सकती है। नेत्र आदि इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों की ओर भागती-दौड़ती हैं। इनको वहाँ से (ऐसा करने से) रोकना और इष्ट की साधना में लगाना 'प्रत्याहार' कहा जाता है। जैसे-जैसे तीसरा प्रहर अर्थात् सायंकाल होता जाता है, वैसे-वैसे सूर्य अपने प्रकाश को समेटता जाता है और पूर्ण सायंकाल के आ जाने पर वह अपने प्रकाश को पूरी तरह से समेट लेता है, वैसे ही योगीजन अपनी साधना का स्तर बढ़ाते हुए अर्थात् जीव अवस्था, तीन अवस्था, तीन गुण, तीन शरीर आदि से आगे बढ़ते हुए जब अपने तृतीयांश में – उच्च योग के तृतीयांश समाधि में – स्थित हो जाता है, तब वह अपने मन के सभी विकारों का शमन कर लेता है। यही उपनिषद् का रहस्य (विद्या) है।

यहाँ उपनिषद् पूरी होती है।

शान्तिपाठः

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि ...... ते मयि सन्तु। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

❈

(48) निर्वाणोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

ऋग्वेद से सम्बद्ध इस उपनिषद् में जीवन के परमलक्ष्य तथा मुक्ति-निर्वाण का विशद प्रतिपादन है। इस उपनिषद् की निरूपणशैली सूत्रात्मक है। साठ-एकसठ सूत्रों में इसमें परमहंस संन्यासी के रहस्यमय सिद्धान्तों को बताया गया है। परमहंस संन्यासी का परिचय, दीक्षा, देवदर्शन, क्रीडा, गोष्ठी, भिक्षा, आचरण आदि स्वरूप का निरूपण किया गया है। बाद में संन्यासी परमहंस के लिए मठ, ज्ञान, ध्येय, कन्था, आसन, पटुता, तारक, उपदेश, नियम, अनियामकत्व, यज्ञोपवीत, शिखा, तथा मोक्ष इत्यादि की सही स्थिति कैसी होनी चाहिए, इसका निरूपण किया गया है। तथा निर्वाण का तत्त्वदर्शन बताया गया है। यह तत्त्वदर्शन जो शिष्य श्रद्धावान हो या समर्पित हो अथवा ऐसे ही गुणवाला पुत्र हो, उसे ही बताना चाहिए—ऐसा कहा गया है, क्योंकि सामान्य व्यक्ति को ऐसा तत्त्वज्ञान बताने से किसी भी प्रकार का लाभ नहीं हो सकता।

शान्तिपाठः

ॐ वाङ्मे मनसि.......वक्तारमवतु वक्तारम्। (पूर्ववत्)

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद्) में द्रष्टव्य है।

अथ निर्वाणोपनिषदं व्याख्यास्यामः ॥1॥ परमहंसः सोऽहम् ॥2॥ परिव्राजकाः पश्चिमलिङ्गाः ॥3॥ मन्मथक्षेत्रपालाः ॥4॥ गगनसिद्धान्तः ॥5॥ अमृतकल्लोलनदी ॥6॥ अक्षयं निरञ्जनम् ॥7॥ निःसंशयः ऋषिः ॥8॥ निर्वाणो देवता ॥9॥ निष्कुलप्रवृत्तिः ॥10॥ निष्केवलज्ञानम् ॥11॥

अब हम निर्वाण उपनिषद् का व्याख्यान कर रहे हैं। मैं परमहंस (परब्रह्म) हूँ। जो परिव्राजक हैं, वे अन्तिम स्थितिवाले (अन्तिम स्थिति रूप चिह्नवाले) होते हैं। कामदेव को रोकने में वे क्षेत्रपाल जैसे होते हैं। उनका सिद्धान्त आकाश जैसा निर्मल होता है। अमृत की तरंगों वाली आत्मरूप उनकी नदी होती है। उनका स्वरूप अक्षय और निर्लेप होता है। संशयरहित आत्मा ही उनका ऋषि या गुरु होता है। निर्वाण (मोक्ष) ही उनका देवता है। उनकी प्रवृत्ति कुलरहित होती है (अर्थात् वे कुल-गोत्र को अतिक्रमण किए हुए होते हैं)। उनका ज्ञान सभी उपाधियों से मुक्त होता है।

ऊर्ध्वाम्नायः ॥12॥ निरालम्बपीठः ॥13॥ संयोगदीक्षा ॥14॥ वियोगोपदेशः ॥15॥ दीक्षासन्तोषपावनं च ॥16॥ द्वादशादित्यावलोकनम् ॥17॥ विवेकरक्षा ॥18॥ करुणैव केलिः ॥19॥ आनन्द-

माला ॥20॥ एकान्तगुहायां मुक्तासनसुखगोष्ठी ॥21॥ अकल्पित-भिक्षाशी ॥22॥ हंसाचारः ॥23॥ सर्वभूतान्तर्वर्ती हंस इति प्रति-पादनम् ॥24॥

उनका अभ्यास उच्च स्थिति के लिए होता है। आश्रयरहित होना ही उनका आसन है। ईश्वर के साथ संयोग होना ही उनकी दीक्षा है। संसार से छूटना ही उनका उपदेश है। दीक्षा लेकर संतोष पाना ही उनका पेय पदार्थ है। वे बारहों सूर्यों का दर्शन करते हैं। वे विवेक की रक्षा करते हैं। दया ही उनकी क्रीडा (खेल) है। आनन्द उनकी माला है। एकान्त में गुफा में मुक्त आसन का सुख लेना ही उनकी गोष्ठी है। अपने लिए पकाया न हो ऐसा अन्न ही उनकी भिक्षा होती है। हंस जैसा उनका आचार होता है। 'सभी प्राणियों के भीतर अवस्थित आत्मा ही हंस है'—ऐसा वे प्रतिपादित करते हैं।

धैर्यकन्था। उदासीनकौपीनम्। विचारदण्डः। ब्रह्मावलोकयोगपट्टः। श्रियां पादुका। परेच्छाचरणम्। कुण्डलिनीबन्धः। परापवादमुक्तो जीवन्मुक्तः। शिवयोगनिद्रा च। खेचरीमुद्रा च। परमानन्दी ॥25॥ निर्गुणगुणत्रयम् ॥26॥ विवेकलभ्यम्। मनोवागगोचरम् ॥27॥ अनित्यं जगद्यज्जनितं स्वप्नजगदभ्रगजादितुल्यम्। तथा देहादिसङ्घातं मोहगुणजालकलितं तद्रज्जुसर्पवत्कल्पितम् ॥28॥ विष्णुविध्यादिशताभिधानलक्ष्यम् ॥29॥ अङ्कुशो मार्गः ॥30॥ शून्यं न सङ्केतः ॥31॥ परमेश्वरसत्ता ॥32॥ सत्यसिद्धयोगो मठः ॥33॥ अमरपदं न तत्स्व-रूपम् ॥34॥ आदिब्रह्मस्वसंवित् ॥35॥ अजपा गायत्री। विकारदण्डो ध्येयः ॥36॥

धैर्य उनकी कन्था (गुदडी) है। औदासीन्य उनकी लंगोटी है। विचार उनका दण्ड है। ब्रह्मदर्शन उनका योगपट्ट है। पादुका ही उनकी संपत्ति है, अर्थात् संपत्ति को वे पादुका के नीचे कुचल कर (तुच्छ मानकर) ही चलते हैं। परमात्मा की इच्छा ही उनका आचरण होता है। कुण्डलिनी उनका बन्ध है। दूसरों की निन्दा नहीं करने वाला ऐसा वह जीवन्मुक्त होता है। मंगलस्वरूप परमतत्त्व के साथ योग होना ही उसकी निद्रा होती है। वह खेचरी मुद्रा करता है और परम आनन्द में रहता है। ब्रह्म तीन गुणों से रहित है, एवं विवेक से वह प्राप्त होता है। वह मन, वाणी का विषय नहीं है। जगत् अनित्य है, उसमें जो उत्पन्न होता है, वह सब स्वप्न में देखे गए हाथी आदि जैसा भ्रान्तिमूलक ही है। और देह आदि समुदाय मोह के गुणों के जाल से रज्जु में साँप की तरह कल्पित है। विष्णु, ब्रह्मा आदि सैंकड़ों नामधारी एक ब्रह्म ही लक्ष्य है। अंकुश (संयम) उनका मार्ग है। शून्य कोई संकेत नहीं है (अर्थात् अभाव कोई अस्तित्व नहीं रहता)। परमेश्वर की सत्ता है। सही रूप से सिद्ध हुआ योग ही उसका मठ है। अमरपद (स्वर्ग का स्थान) कोई ब्रह्म का स्वरूप नहीं है। आदि ब्रह्म स्वसंवित् (स्वप्रकाशित) ही है, ज्ञानस्वरूप है। उक्त भाव का अजपा जप ही गायत्री (हंसमन्त्र) है। विकारों पर नियन्त्रण पाना ही उसका ध्येय है।

मनोनिरोधिनी कन्था ॥37॥ योगेन सदानन्दस्वरूपदर्शनम् ॥38॥ आनन्दभिक्षाशी ॥39॥ महाश्मशानेऽप्यानन्दवने वासः ॥40॥ एकान्तस्थानम् आनन्दमठम् ॥41॥ उन्मन्यवस्था शारदा चेष्टा ॥42॥ उन्मती गतिः ॥43॥ निर्मलगात्रं निरालम्बपीठम् ॥44॥ अमृत-

कल्लोलानन्दक्रियाः ॥45। पाण्डरगगनं महासिद्धान्तः ॥45॥ शमदमादिदिव्यशक्त्याचरणे क्षेत्रपात्रपटुता। परावरसंयोगः तारकोपदेशः ॥47॥ अद्वैतसदानन्दो देवता ॥48॥

मन का निरोध करने वाली वृत्ति ही उसकी कन्था (गुदड़ी) है। वह योग से सदैव आनन्दस्वरूप का दर्शन करता है। आनन्दरूपी भिक्षा ही उसका आहार होता है। महाश्मशान में भी उसका वास आनन्दवन में ही रहता है। उसका एकान्त ही स्थान होता है। आनन्द ही उसका मठ होता है। उसकी उन्मनी (मनोरहित – निर्विकल्प) अवस्था होती है और शारदा (उज्ज्वल सुखदात्री) चेष्टा होती है। उसकी गति भी उन्मनी (विकल्पशून्य) होती है। उसका शरीर निर्मल और आसन आश्रयरहित होता है। अमृतरूपी महासागर की तरंगों में आनन्दित रहना ही उसकी क्रिया है। चिदाकाश ही उसका बड़ा सिद्धान्त है। शम, दम आदि दिव्य शक्तियों के आचरण में क्षेत्र और पात्र का ध्यान रखना ही उनका कौशल है। परे से भी परे ब्रह्मतत्व के साथ संयोग ही उनका तारक उपदेश है। सदानन्दरूप अद्वैत ही उसकी देवता है।

नियमः स्वान्तरिन्द्रियनिग्रहः ॥49॥ भयमोहशोकक्रोधत्यागस्त्यागः ॥50॥ परावरैक्यरसास्वादनम् ॥51॥ अनियामकत्वनिर्मलशक्तिः ॥52॥ स्वप्रकाशब्रह्मतत्त्वे शिवशक्तिसम्पुटितप्रपञ्चच्छेदनम्। तथा पत्राक्षाक्षिकमण्डलभावाभावदहनम् ॥53॥ बिभ्रत्याकाशाधारम् ॥54॥ शिवं तुरीयं यज्ञोपवीतम् तन्मया शिखा ॥55॥ चिन्मयं चोत्सृष्टिदण्डं सन्ततोक्षिकमण्डलम् ॥56॥ कर्मनिर्मूलनं कथा। मायाममताहङ्कारदहनं श्मशाने ॥57॥ अनाहताङ्गी ॥58॥ निस्त्रैगुण्यस्वरूपानुसन्धानं समयम् भ्रान्तिहननम्। कामादिवृत्तिदहनम्। काठिन्यदृढकौपीनम्। चिराजिनवासः। अनाहतमन्त्रं अक्रिययैव जुष्टम्। स्वेच्छाचारस्वस्वभावो मोक्षः ॥59॥ परं ब्रह्म प्लववदाचरणम्। ब्रह्मचर्यशान्तिसंग्रहणम्। ब्रह्मचर्याश्रमेऽधीत्य वानप्रस्थाश्रमेऽधीत्य स सर्वसंविन्न्यासं संन्यासम्। अन्ते ब्रह्माखण्डाकारम्। नित्यं सर्वसन्देहनाशनम् ॥60॥

अन्तरिन्द्रिय का निग्रह ही उसका नियम है। भय, मोह, शोक और क्रोध का त्याग ही उसका त्याग है। परमात्मा के साथ ऐक्य के रस का वह आस्वादन करता है। अनियामकता – किसी को अपने वश में न करने और किसी का तिरस्कार न करने की वृत्ति – ही उसकी निर्मल शक्ति होती है। स्वयंप्रकाशित ब्रह्मतत्त्व में शिव-शक्ति से संपुटित विश्वप्रपंच को वह काट देता है। वह पत्र – कारणशरीर, अक्ष – सूक्ष्मशरीर और अक्षिक – स्थूलशरीर के मंडल के भाव और अभाव को जला देने वाला होता है। आकाश ही उसका आधार होता है। तुरीय ब्रह्म ही उसका यज्ञोपवीत होता है। ब्रह्ममय ही उसकी शिखा होती है। चैतन्यमय संसारत्याग ही उसका दण्ड है। ब्रह्म का नित्यदर्शन ही उसका कमण्डलु है। कर्मों को उखाड़ डालना ही उसकी कथा होती है। माया-ममता-अहंकार को जला देना, खुले शरीर से श्मशान में घूमते रहना, त्रिगुणातीत ब्रह्म के अनुसन्धान में ही समय बिताना, भ्रान्ति को हटाए रखना, काम आदि वृत्तियों को जला देना, कठिन और दृढ लंगोटी पहनना, चीथड़ों और

मृगचर्मरूपी वस्त्र पहनना, अनाहतनादरूप प्रणवमन्त्र का जाप करते रहना, नैष्कर्म्य का ही सेवन करना, स्वेच्छाचाररूप आचरण ही उसका मोक्ष होना, नौका समान आचरण उनका परब्रह्म होना, ब्रह्मचर्य के द्वारा शान्ति ग्रहण करना, ब्रह्मचर्य में अध्ययन करके वानप्रस्थाश्रम में भी उसका परिशीलन करते हुए सम्पूर्ण ज्ञानयुक्त होकर संन्यास ग्रहण करना—यही संन्यास है। इसके बाद अखण्डाकार ब्रह्म में लीन हुआ जाता है। वह हमेशा सर्वसंदेह का नाश करने वाला है।

एतन्निर्वाणदर्शनं शिष्यं पुत्रं विना न देयमित्युपनिषत् ॥61॥

इति निर्वाणोपनिषत्समाप्ता ।

यह निर्वाणदर्शन पुत्र या शिष्य को छोड़कर अन्य किसी को नहीं देना चाहिए, यही उपनिषद् है।

यहाँ निर्वाणोपनिषद् पूरी हुई।

शान्तिपाठः

ॐ वाङ्मे मनसि.....वक्तारमवतु वक्तारम् । (पूर्ववत्)

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(49) मण्डलब्राह्मणोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

शुक्लयजुर्वेद से सम्बद्ध इस उपनिषद् में पाँच ब्राह्मण हैं। इसमें याज्ञवल्क्य और सूर्यनारायण के प्रश्नोत्तर रूप में आत्मतत्त्व का विशद विवेचन किया गया है। पहले ब्राह्मण में तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए आवश्यक अष्टांग योग (यम, नियम, आसन, प्राणायामादि) का, देह के पाँच दोषों का, तारकदर्शन, लक्ष्यत्रयदर्शन, तारक और अमनस्क योग के दो भेदों का, आत्मनिष्ठ की ब्रह्मरूपता आदि का निरूपण किया गया है। दूसरे ब्राह्मण में सर्वसाधारण ज्योति का आत्मरूप में वर्णन है। आत्मज्ञान का फल, शांभवी मुद्रा, पूर्णिमादृष्टि, मुद्रासिद्धि, प्रणवरूप आत्मप्रकाशानुभूति, षण्मुखी मुद्रा से प्रणवसिद्धि, कर्मों की प्रणवज्ञ पर अप्रभावकता, उन्मनी अवस्था का परिणाम, ब्रह्मानुसन्धान का फल, ब्रह्मज्ञस्वरूप, सुषुप्ति-समाधि भेद, जाग्रदादि व्यवस्था, संसारातिक्रमण का मार्ग, बन्ध-मोक्ष का कारण, निर्विकल्प समाधि – अभ्यास और फल आदि कई विषयों का विशद वर्णन है। तीसरे ब्राह्मण में परमात्मसाक्षात्कार से उन्मनीभाव की प्राप्ति, संसार के बन्धन से मुक्ति, तारकमार्ग से मनोनाश, उन्मनी योगी का ब्रह्मभाव आदि विषयों का प्रतिपादन है। चौथे ब्राह्मण में व्योम पंचक का ज्ञान, उसका फल तथा राजयोग का सार दिया गया है। और पाँचवें ब्राह्मण में मन का परमात्मा में लय करने का अभ्यास, मनोनाश की अवस्था का परिशीलन करने से ब्रह्मप्राप्ति और ब्रह्मप्राप्त पुरुष की महिमा बताई गई है। इसमें पहले ब्राह्मण में चार खण्ड हैं, दूसरे ब्राह्मण में पाँच खण्ड हैं, तीसरे ब्राह्मण में दो खण्ड हैं तथा चौथे और पाँचवें ब्राह्मणों के एक-एक खण्ड है।

शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं.......पूर्णमेवावशिष्यते। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (जाबालोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

प्रथमं ब्राह्मणम्

प्रथमः खण्डः

याज्ञवल्क्यो ह वै महामुनिरादित्यलोकं जगाम।
तमादित्यं नत्वा भो भगवन्नादित्यात्मतत्त्वमनुब्रूहीति ॥1॥

एक बार महामुनि याज्ञवल्क्य आदित्यलोक में गए और वहाँ भगवान् आदित्य को प्रणाम करके बोले—'हे भगवन्! हे आदित्य! आप मुझे आत्मतत्त्व का उपदेश दीजिए।'

स होवाच नारायणः। ज्ञानयुक्तयमाद्यष्टाङ्गयोग उच्यते ॥2॥
शीतोष्णाहारनिद्राविजयः सर्वदा शान्तिर्निश्चलत्वं विषयेन्द्रियनिग्रहश्चैते यमाः ॥3॥

गुरुभक्तिः सत्यमार्गानुरक्तिः सुखागतवस्त्वनुभवश्च तद्वस्त्वनुभवेन। तुष्टिर्निःसङ्गता एकान्तवासो मनोनिवृत्तिः फलानभिलाषो वैराग्यभावश्च नियमाः ॥4॥

तब सूर्यनारायण ने कहा कि अब तत्त्वज्ञान के उपरान्त यम-नियमादि को अष्टांगयोग कहा जा रहा है (अर्थात् तत्त्वज्ञान सहित अष्टांग योग मेरे द्वारा कहा जा रहा है—) शीत-उष्ण आदि पर तथा आहार एवं निद्रा पर विजय प्राप्त करना, सर्वदा शान्त रहना और अविचलित होकर इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना—ये सभी पाँच यम कहलाते हैं। तथा गुरु की भक्ति, सत्यमार्ग पर अनुराग, जो कुछ भी मिले उसमें संतोष, एकान्त में रहना, आसक्ति न रखना, मनोनिवृत्ति, फल की इच्छा न करना और वैराग्यभाव रखना—ये सभी नियम हैं।

सुखासनवृत्तिश्चिरवासश्चैवमासननियमो भवति ॥5॥
पूरककुम्भकरेचकैः षोडशचतुःषष्टिद्वात्रिंशत्संख्यया यथाक्रमं प्राणायामः ॥6॥
विषयेभ्य इन्द्रियार्थेभ्यो मनोनिरोधनं प्रत्याहारः ॥7॥
विषयव्यावर्तनपूर्वकं चैतन्ये चेतःस्थापनं धारणं भवति ॥8॥

लम्बे समय तक एक ही वृत्ति में स्थित (स्थिर) रहना और बिना किसी प्रयास से लम्बे समय तक एक ही स्थिति में रहना—ये आसन के नियम हैं। और सोलह मात्राओं के द्वारा पूरक, चौसठ मात्राओं के द्वारा कुम्भक तथा बत्तीस मात्राओं के द्वारा रेचक करने की क्रिया को प्राणायाम कहते हैं। इन्द्रियों के विषयों से मन को रोकना (निरोध करना) ही प्रत्याहार है। और विषयों से रोके गए मन को चैतन्य की सत्ता में स्थिर (एकाग्र) करना धारणा कही जाती है।

सर्वशरीरेषु चैतन्यैकतानता ध्यानम् ॥9॥
ध्यानविस्मृतिः समाधिः ॥10॥
एवं सूक्ष्माङ्गानि। य एवं वेद स मुक्तिभाग् भवति ॥11॥

सभी प्राणियों के शरीरों में एक ही चैतन्यतत्त्व विद्यमान है। इस बात का निरन्तर चिन्तन (सातत्य) को ही ध्यान कहा गया है और ध्यान को भी विस्मृत कर देना समाधि कही जाती है। इस प्रकार ये सभी सूक्ष्म अंग हैं। जो मनुष्य इन्हें भली प्रकार से जान लेता है, वह मुक्ति का अधिकारी हो जाता है।

द्वितीयः खण्डः

देहस्य पञ्च दोषा भवन्ति कामक्रोधनिःश्वासभयनिद्राः ॥1॥
तन्निरासस्तु निःसङ्कल्पक्षमालघ्वाहाराप्रमादतातत्त्वसेवनम् ॥2॥
निद्राभयसरीसृपं हिंसादितरङ्गं तृष्णावर्तं दारपङ्कं संसारवार्धिं तर्तुं सूक्ष्ममार्गमवलम्ब्य सत्त्वादिगुणानतिक्रम्य तारकमवलोकयेत् ॥3॥
भ्रूमध्ये सच्चिदानन्दतेजःकूटरूपं तारकं ब्रह्म ॥4॥
तदुपायं लक्ष्यत्रयावलोकनम् ॥5॥

काम, क्रोध, निःश्वास (हाँफना), भय और निद्रा (अज्ञान)—ये पाँच शरीर के दोष माने गये हैं। इन दोषों को दूर करने के लिए संकल्पों का त्याग, क्षमा, मिताहार, निर्भयता और तत्त्वचिन्तन—ये उपाय हैं। इस संसाररूपी सागर में यह निद्रा दोष (अज्ञान) और भय हैं, वे साँप जैसे हैं। हिंसा उस सागर की

तरंगें हैं, तृष्णा भँवर है, स्त्री कीचड़ है। ऐसे संसाररूपी सागर को पार करने के लिए सूक्ष्ममार्ग का आधार लेकर, सत्त्व आदि गुणों से ऊपर उठकर तारक ब्रह्म का दर्शन करना चाहिए। (अर्थात् उसका ध्यान करना चाहिए)। दोनों भौहों के बीच में सच्चिदानन्दस्वरूप तेजोमय शिखर जैसे तारक ब्रह्म का वास है। उस तारक ब्रह्म की प्राप्ति के उपायों में लक्ष्य-त्रय का अवलोकन करना चाहिए।

मूलाधारादारभ्य ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं सुषुम्ना सूर्याभा। तन्मध्ये तडित्कोटि-समा मृणालतन्तुसूक्ष्मा कुण्डलिनी। तत्र तमोनिवृत्तिः। तद्दर्शनात्सर्व-पापनिवृत्तिः ॥6॥
तर्जन्यग्रोन्मीलितकर्णरन्ध्रद्वये फूत्कारशब्दो जायते।
तत्र स्थिते मनसि चक्षुर्मध्यनीलज्योतिः पश्यति। एवं हृदयेऽपि ॥7॥

मूलाधार से लेकर ब्रह्मरन्ध्र तक सूर्य के समान तेजस्विनी सुषुम्ना नामक एक नाडी है। इस नाडी के बीच में उससे कोटि गुनी सूक्ष्म मृणालतन्तु जैसी कुण्डलिनी शक्ति अवस्थित है। उसका ज्ञान होने से वहाँ तमोगुण की निवृत्ति हो जाती है। इसके दर्शन से सभी पापों का नाश होता है। तर्जनी अंगुलि के अग्रभाग से दोनों कानों को बन्द करने से साधक के कानों में फुत्कार शब्द उत्पन्न होता है। साधक जब उस शब्द में अपने मन को स्थिर करता है, तब उसकी आँखों के बीच में नीलवर्ण ज्योति के दर्शन होने लगते हैं। इस प्रकार हृदय में भी वही ज्योति दिखाई देने लगती है।

बहिर्लक्ष्यं तु नासाग्रे चतुःषडष्टदशद्वादशाङ्गुलीभिः क्रमान्नीलद्युति-श्यामत्वसदृग्रक्तभङ्गीस्फुरत्पीतवर्णद्वयोपेतं व्योमत्वं पश्यति स तु योगी ॥8॥
चलनदृष्ट्या व्योमभागवीक्षितुः पुरुषस्य दृष्ट्यग्रे ज्योतिर्मयूखा वर्तन्ते।
तद् दृष्टिः स्थिरा भवति ॥9॥
शीर्षोपरि द्वादशाङ्गुलिमानं ज्योतिः पश्यति तदाऽमृतत्वमेति ॥10॥

तीन लक्ष्यों में अन्तर्लक्ष्य की बात कहकर अब बाह्य लक्ष्य बताते हैं। बाह्य लक्ष्य वह है जिसमें साधक को नाक के अग्रभाग में चार, छः, आठ, दस, बारह अंगुल की दूरी पर क्रमशः नीलवर्ण, श्यामवर्ण, रक्तवर्ण, पीलावर्ण और दो रंगों से मिश्रित आकाश दिखाई पड़ता है, वह मनुष्य योगी बन जाता है। चंचल दृष्टि से आकाश के भाग को देखने वाले पुरुष की दृष्टि के आगे के प्रदेश में जो ज्योतियुक्त किरणें दिखाई पड़ती हैं, उससे दृष्टि में स्थिरत्व आ जाता है। मस्तक के ऊपर बारह अंगुल के अन्तर पर ज्योति दिखाई पड़ती है। उसको देखने वाले मनुष्य को अमरत्व की प्राप्ति हो जाती है।

मध्यलक्ष्यं तु प्रातश्चित्रादिवर्णसूर्यचन्द्रवह्निज्वालावलीवत्तद्विहीनान्त-रिक्षवत्पश्यति ॥11॥
तदाकाराकारी भवति ॥12॥
अभ्यासान्निर्विकारं गुणरहिताकाशं भवति। विस्फुरत्तारकाकारगाढ-तमोपमं पराकाशं भवति। कालानलसमं द्योतमानं महाकाशं भवति। सर्वोत्कृष्टपरमाद्वितीयप्रद्योतमानं तत्त्वाकाशं भवति। कोटिसूर्यप्रकाश-संकाशं सूर्याकाशं भवति ॥13॥
एवमभ्यासात्तन्मयो भवति य एवं वेद ॥14॥

अब तीसरा मध्यलक्ष्य इस प्रकार है—प्रातःकाल में सूर्य, चन्द्र और अग्नि की ज्वाला जैसा और [illegible] रहित अन्तरिक्ष जैसा दिखलाई देता है। बाद में उसके आकार की तरह ही आकारवाला होता है।

अभ्यास के द्वारा निर्विकार, गुणरहित आकाशरूप होता है। प्रकाशित (चमकते) तारकों जैसा और प्रगाढ अन्धकार के जैसा 'पराकाश' होता है। और 'महाकाश' प्रलयकालीन अग्नि जैसा प्रकाशित होता है। इन दोनों से उत्कृष्ट – परम अद्वितीय स्वरूप से प्रकाशित 'तत्त्वाकाश' होता है। और करोड़ों सूर्य जैसा प्रकाशित सूर्याकाश होता है—ऐसा जो जानता है, वह अभ्यासपूर्वक तन्मय होता है।

तृतीयः खण्डः

तद्योगं च द्विधा विद्धि पूर्वोत्तरविभागतः। पूर्वं तु तारकं विद्यादमनस्कं तदुत्तरमिति। तारकं द्विविधम्। मूर्तितारकममूर्तितारकमिति। यदिन्द्रियान्तं तन्मूर्तितारकम्। यद् भ्रूयुगातीतं तदमूर्तितारकमिति ॥1॥

इस योग के दो विभाग हैं—एक पूर्व और दूसरा उत्तर। पूर्व विभाग को तारकब्रह्म कहा जाता है और उत्तर विभाग को अन्यमनस्क कहते हैं। तारक ब्रह्म के भी दो प्रकार माने गए हैं। एक मूर्ति तारक कहा जाता है, और दूसरे को अमूर्तितारक कहते हैं। मूर्तितारक इन्द्रियों तक सीमित है। जो दोनों भौहों से परे=अतिक्रान्त (ऊपर उठा हुआ) है, वह अमूर्तितारक है।

उभयमपि मनोयुक्तमभ्यसेत्। मनोयुक्तान्तरदृष्टिस्तारकप्रकाशाय भवति ॥2॥

भ्रूयुगमध्यबिले तेजस आविर्भावः। एतत्पूर्वतारकम् ॥3॥

उत्तरं त्वमनस्कम्। तालुमूलोर्ध्वभागे महज्ज्योतिर्विद्यते। तद्दर्शनादणिमादिसिद्धिः ॥4॥

इन दोनों का (मूर्तितारक और अमूर्तितारक का) मन लगाकर अभ्यास करना चाहिए। क्योंकि मनोयोगपूर्वक की गई अन्तर्दृष्टि ही तारक ब्रह्म को प्रकट करने में समर्थ होती है। इसके बाद दोनों भौहों के बीच में अवस्थित छिद्र में तेज प्रकट होता है। वह पूर्वतारक ब्रह्म है। उत्तर विभाग तो अमनस्क (मनोरहित) होता है। तालुमूल के ऊपर के भाग में महाज्योति का निवास है। उसके दर्शन से अणिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

लक्ष्येऽन्तर्बाह्यायां दृष्टौ निमेषोन्मेषवर्जितायां चेयं शाम्भवी मुद्रा भवति। सर्वतन्त्रेषु गोप्यमहाविद्या भवति। तज्ज्ञानेन संसारनिवृत्तिः। तत्पूजनं मोक्षफलदम् ॥5॥

अन्तर्लक्ष्यं जलज्ज्योतिःस्वरूपं भवति। महर्षिवेद्यं अन्तर्बाह्येन्द्रियैरदृश्यम् ॥6॥

जब लक्ष्य के ऊपर भीतर और बाहर की दृष्टि अचल (स्थिर) हो जाती है, तब वह शांभवी मुद्रा होती है। सकलतन्त्रों में गोपनीय वह ब्रह्मविद्या है। उसके ज्ञान से संसार से निवृत्ति हो जाती है। इसका पूजन मोक्षरूपी फल को देने वाला है। अन्तर्लक्ष्य जाज्वल्यमान ज्योति के समान है। इसे तो केवल महर्षिगण ही पहचान सकते हैं। वह बाह्य और आन्तरिक इन्द्रियों का विषय बन नहीं सकता।

चतुर्थः खण्डः

सहस्रारे जलज्ज्योतिरन्तर्लक्ष्यम्। बुद्धिगुहायां सर्वाङ्गसुन्दरं पुरुषरूपमन्तर्लक्ष्यमित्यपरे। शीर्षान्तर्गतमण्डलमध्यगं पञ्चवक्त्रमुमासहायं

नीलकण्ठं प्रशान्तमन्तर्लक्ष्यमिति केचित् । अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तर्लक्ष्य-
मित्येके ॥1॥
उक्तविकल्पं सर्वमात्मैव । तल्लक्ष्यं शुद्धात्मदृष्ट्या वा यः पश्यति स एव ब्रह्मनिष्ठो भवति ॥2॥

सहस्रार पद्म में जाज्वल्यमान ज्योति जैसा अन्तर्लक्ष्य है । कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि बुद्धिरूपी गुफा में सर्वांगसुन्दर पुरुषरूप ही अन्तर्लक्ष्य है । और कई लोग ऐसा भी मानते हैं कि मस्तक के भीतर स्थित मंडल के बीच के प्रदेश में पाँच मुखवाले तथा उमा के साथ स्थित नीलकण्ठ भगवान् शंकर का प्रशान्त स्वरूप ही अन्तर्लक्ष्य है । और कुछ विद्वान् ऐसा भी मानते हैं कि अंगुष्ठमात्र पुरुष ही अन्तर्लक्ष्य है । उपर्युक्त सभी विकल्प आत्मा के ही हैं । जो मनुष्य उस अन्तर्लक्ष्य को शुद्ध बुद्धि से देखता है, वह ब्रह्मनिष्ठ हो जाता है ।

जीवः पञ्चविंशकः स्वकल्पितचतुर्विंशतितत्त्वं परित्यज्य षड्विंशः परमात्माहमिति निश्चयाज्जीवन्मुक्तो भवति ॥3॥
एवमन्तर्लक्ष्यदर्शनेन जीवन्मुक्तिदशायां स्वयमन्तर्लक्ष्यो भूत्वा परमा-
काशाखण्डमण्डलो भवति ॥4॥

इति प्रथमं ब्राह्मणम् ।

जीव पच्चीसवाँ तत्त्व है । वह स्वयं के द्वारा कल्पित चौबीस तत्त्वों को छोड़कर 'मैं छब्बीसवाँ परमात्मा हूँ'—ऐसा निश्चय करता है, इसलिए वह जीवन्मुक्त बनता है । इस प्रकार अन्तर्लक्ष्य के दर्शन से जब जीवन्मुक्त दशा प्राप्त होती है, तब स्वयं अन्तर्लक्ष्य स्वरूप होकर परमाकाशरूप अखण्डमण्डल वाला हो जाता है ।

यहाँ प्रथम ब्राह्मण पूरा हुआ ।

❋

द्वितीयं ब्राह्मणम्

प्रथमः खण्डः

अथ ह याज्ञवल्क्य आदित्यमण्डलपुरुषं पप्रच्छ । भगवन्नन्तर्लक्ष्यादिकं बहुधोक्तम् । मया तन्न जातम् । तद् ब्रूहि मह्यम् ॥1॥
तदु होवाच पञ्चभूतकारणं तडित्कूटाभं तद्वच्चतुःपीठम् । तन्मध्ये तत्त्वप्रकाशो भवति । सोऽतिगूढ अव्यक्तश्च ॥2॥

इसके बाद, याज्ञवल्क्य ने सूर्यमण्डल में स्थित पुरुष से पूछा—'हे भगवन् ! आपने अन्तर्लक्ष्य आदि विषय को अनेक प्रकार से कहा । परन्तु, वह मैं समझ नहीं पाया हूँ । अत: वह आप (फिर से) कहिए ।' तब उन नारायण ने कहा—'पाँच भूतों का कारण (मूलस्रोत) विद्युत् के पुंज जैसा है । उनसे युक्त वह चतुष्पीठ है । उसके बीच में तत्त्व का प्रकाश होता है । वह अतिगूढ और अव्यक्त है' ।

तज्ज्ञानप्लवाधिरूढेन ज्ञेयम् । तद्बाह्याभ्यन्तर्लक्ष्यम् ॥3॥
तन्मध्ये जगल्लीनम् । तन्नादबिन्दुकलातीतमखण्डमण्डलम् ।
तत्सगुणनिर्गुणस्वरूपम् । तद्वेत्ता विमुक्तः ॥4॥

उस अव्यक्त को ज्ञानरूपी नौका पर आरूढ़ मनुष्य पहचान सकता है। वह बाहर का और भीतर का लक्ष्य है। उसके बीच जगत् लीन होकर रहता है। वह नाद, बिन्दु, कला से परे अखण्ड मण्डल है। वह सगुण-निर्गुण स्वरूप है। उसको जानने वाला मुक्त हो जाता है।

आदावग्निमण्डलम्। तदुपरि सूर्यमण्डलम्। तन्मध्ये सुधाचन्द्रमण्डलम्। तन्मध्येऽखण्डब्रह्मतेजोमण्डलम्। तद्विद्युल्लेखावच्छुक्लभास्वरम्। तदेव शाम्भवीलक्षणम् ॥5॥

तद्दर्शने तिस्रो दृष्टयः अमा प्रतिपत् पूर्णिमा चेति। निमीलितदर्शनममादृष्टिः। अर्धोन्मीलितं प्रतिपत्। सर्वोन्मीलनं पूर्णिमा भवति। तासु पूर्णिमाभ्यासः कर्तव्यः ॥6॥

तल्लक्ष्यं नासाग्रम्। यदा तालुमूले गाढतमो दृश्यते। तदभ्यासादखण्डमण्डलाकारज्योतिर्दृश्यते। तदेव सच्चिदानन्दं ब्रह्म भवति ॥7॥

पहले अग्निमण्डल है, इसके ऊपर सूर्यमण्डल है, इसके बीच में अमृतरूप चन्द्रमण्डल है। उसके बीच में अखंड ब्रह्म का तेजोमण्डल है। वह विद्युत् की रेखा जैसा श्वेत और प्रकाशमान है। वही शांभवी मुद्रा का लक्षण है। उसके दर्शन से तीन मूर्ति रूप दृष्टिगत होते हैं—एक अमावस्या रूप, दूसरी प्रतिपदारूप और तीसरी पूर्णिमारूप। पलक बन्द होने वाली दृष्टि अमावस्या की दृष्टि है, आधी निमीलित दृष्टि प्रतिपदारूप दृष्टि है और पूर्ण रूप से खुली हुई दृष्टि पूर्णिमारूप दृष्टि है। इन दृष्टियों में से पूर्णिमा की दृष्टि का अभ्यास करना चाहिए। उसका लक्ष्य नासा का अग्रभाग है। जब तालु के मूल में गाढ अन्धकार दिखाई देता है, तब इसके अभ्यास से अखण्डमण्डलाकार ज्योति दिखाई देती है। वही सच्चिदानन्द ब्रह्म है।

एवं सहजानन्दे यदा मनो लीयते तदा शाम्भवी भवति। तामेव खेचरीमाहुः ॥8॥

तदभ्यासान्मनःस्थैर्यम्। ततो बुद्धिस्थैर्यम् ॥9॥

तच्चिह्नानि। आदौ तारकवद् दृश्यते। ततो वज्रदर्पणम्। तत उपरि पूर्णचन्द्रमण्डलम्। ततो नवरत्नप्रभामण्डलम्। ततो मध्याह्नार्कमण्डलम्। ततो वह्निशिखामण्डलं क्रमाद् दृश्यते ॥10॥

इस प्रकार मन जब सहजानन्द में लीन हो जाता है, तब प्राणी शान्त हो जाता है। इसी को 'खेचरी मुद्रा' कहा जाता है। इसके अभ्यास से मन स्थिर हो जाता है। इसके बाद वायु स्थिर हो जाता है। इसके चिह्न इस प्रकार हैं—पहले तारा जैसा दिखाई देता है, इसके बाद वज्रदर्पण (हीरे का आयना)-जैसा दिखाई पड़ता है। उसके ऊपर पूर्ण चन्द्रमण्डल दीखता है। इसके बाद नवरत्नों की प्रभा वाला मण्डल दिखाई देता है। इसके बाद मध्याह्न के सूर्य वाला मण्डल दीखता है। इसके बाद क्रमशः अग्नि शिखाओं का मण्डल दीखता है।

द्वितीयः खण्डः

तदा पश्चिमाभिमुखप्रकाशः स्फटिकधूम्रबिन्दुनादकलानक्षत्रखद्योतदीपनेत्रसवर्णनवरत्नादिप्रभा दृश्यन्ते। तदेव प्रणवस्वरूपम् ॥1॥

प्राणापानयोरैक्यं कृत्वा घृतकुम्भको नासाग्रदर्शनदृढभावनया द्विकराङ्गुलिभिः षण्मुखीकरणेन प्रणवध्वनिं निशम्य मनस्तत्र लीनं भवति ॥2॥

उस समय पश्चिम की ओर से (आन्तरिक) प्रकाश देखने में आता है। इसकी आभा धूम्र (धूसर) वर्ण की, स्फटिक मणि जैसी तथा बिन्दु (मनस्तत्त्व), नाद (बुद्धितत्त्व), कला (महत्तत्त्व), नक्षत्र, जुगनू, दीपक, नयन, सुवर्ण और नवरत्न जैसी होती है। यही प्रणव का स्वरूप है। प्राण और अपानवायु को एक करके पहले कुम्भक को धारण करना चाहिए। इसके बाद नासा के अग्रभाग पर दृष्टि को एकाग्र करके दृढ भावना से दोनों हाथों की अँगुलियों से षण्मुखी मुद्रा धारण करके प्रणवनाद का (ओम् का) श्रवण करना चाहिए। तब इसमें मन लीन हो जाता है।

तस्य न कर्मलेपः। रवेरुदयास्तमययोः किल कर्म कर्तव्यम्। एवं-विधश्चिदादित्यस्योदयास्तमयाभावात्सर्वकर्माभावः ॥3॥
शब्दकाललयेन दिवारात्र्यतीतो भूत्वा सर्वपरिपूर्णज्ञानेनोन्मन्यवस्था-वशेन ब्रह्मैक्यं भवति। उन्मन्या अमनस्कं भवति ॥4॥

इस प्रकार अभ्यास करने वाला कर्म से लिप्त नहीं होता। कर्म तो सूर्य के उदयकाल और अस्तकाल में करने होते हैं, परन्तु चैतन्यरूपी सूर्य का तो कभी उदय या अस्त होता ही नहीं है। इसलिए उसे जानने वाले अर्थात् साक्षात्कार करने वाले के लिए तो कोई कर्म है ही नहीं – कर्माभाव ही है। शब्द और काल के लय हो जाने से मनुष्य दिन और रात्रि से ऊपर उठकर सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेता है। इसके द्वारा उसको उन्मनी अवस्था प्राप्त होती है और ब्रह्म के साथ उसका एकत्व हो जाता है। उन्मनी अवस्था से व्यक्ति अमनस्क (मनोरहित) हो जाता है।

तस्य निश्चिन्ता ध्यानम्। सर्वकर्मनिराकरणमावाहनम्। निश्चयज्ञानमा-सनम्। उन्मनीभावः पाद्यम्। सदाऽमनस्कमर्घ्यम्। सदादीप्तिरपारामृत-वृत्तिः स्नानम्। सर्वत्र भावना गन्धः। दृक्स्वरूपावस्थानमक्षताः। चिदाप्तिः पुष्पम्। चिदग्निस्वरूपं धूपः। चिदादित्यस्वरूपं दीपः। परिपूर्णचन्द्रामृतरसस्यैकीकरणं नैवेद्यम्। निश्चलत्वं प्रदक्षिणम्। सोऽहंभावो नमस्कारः। मौनं स्तुतिः। सर्वसन्तोषो विसर्जनमिति य एवं वेद ॥5॥

निश्चित अवस्था ही उसका ध्यान है। समस्त कर्मों का निरस्तीकरण (दूर करना) ही उसका आवाहन है। निश्चयज्ञान ही उसका आसन है। मनोरहित होना ही पाद्य है। नित्य अमनस्कता ही अर्घ्य है। नित्य का प्रकाश और अपार अमृतमय वृत्ति ही स्नान है। ब्रह्मभावना ही चन्दन है। दर्शनरूप स्थिति ही अक्षत है। चैतन्यप्राप्ति ही पुरुष है। चैतन्यस्वरूप अग्नि का रूप ही धूप है। चैतन्यस्वरूप सूर्य का रूप ही दीपक है। परिपूर्ण चन्द्र के अमृतरस का एकीकरण ही नैवेद्य है। निश्चलता ही प्रदक्षिणा है। 'वह मैं हूँ' ऐसा भाव ही नमस्कार है। मौन ही स्तुति है। सर्व प्रकार से परितोष ही उसका विसर्जन है। ऐसा जो जानता है, वह ब्रह्मरूप हो जाता है।

तृतीयः खण्डः

एवं त्रिपुट्यां निरस्तायां निस्तरङ्गसमुद्रवन्निवातस्थितदीपवदचलसम्पूर्ण-भावाभावविहीनकैवल्यज्योतिर्भवति ॥1॥
जाग्रन्निदान्तःपरिज्ञानेन ब्रह्मविद्भवति ॥2॥
सुषुप्तिसमाध्योर्मनोलयाविशेषेऽपि महदस्त्युभयोर्भेदस्तमसि लीनत्वा-न्मुक्तिहेतुत्वाभावाच्च ॥3॥

समाधौ मृदिततमोविकारस्य तदाकाराकारिताखण्डाकारवृत्त्यात्मक-साक्षिचैतन्ये प्रपञ्चलयः सम्पद्यते प्रपञ्चस्य मनःकल्पितत्वात् ॥4॥

इस प्रकार जब ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान की त्रिपुटी निरस्त हो जाती है, तब योगी तरंगविहीन सागर जैसा और वायुरहित दीपक जैसा निश्चल, भावाभावरहित, केवल ज्योतिरूप हो जाता है। जाग्रत् में और निद्रा में भी ज्ञान के रहने से वह ब्रह्मवेत्ता हो जाता है। यद्यपि सुषुप्ति में और समाधि में मन का लय तो समान ही होता है, परन्तु फिर भी दोनों में बड़ा भेद है, क्योंकि सुषुप्ति में तो मन का लय अज्ञान में होता है, इसलिए मुक्ति का कारण नहीं होता, जब कि समाधि में तो तमोगुण के विकार नष्ट हो जाने से तदाकार और अखण्डाकार बनी हुई वृत्ति रूप बने हुए साक्षी चैतन्य में प्रपंच का विलय हो जाता है। क्योंकि प्रपंच तो मन:कल्पित होता है।

ततो भेदाभावात् कदाचिद्बहिर्गतेऽपि मिथ्यात्वभानात्। सकृद्विभात-सदानन्दानुभवैकगोचरो ब्रह्मवित्तदेव भवति ॥5॥

यस्य सङ्कल्पनाशः स्यात्तस्य मुक्तिः करे स्थिता। तस्माद्भावाभावौ परित्यज्य परमात्मध्यानेन मुक्तो भवति ॥6॥

पुनः पुनः सर्वावस्थासु ज्ञानज्ञेयौ ध्यानध्येयौ लक्ष्यालक्ष्ये दृश्यादृश्ये चोहापोहादि परित्यज्य जीवन्मुक्तो भवेत्। य एवं वेद ॥7॥

लेकिन उस अवस्था के बाद कोई भेद नहीं रहता। इसलिए योगी कदाचित् समाधि में से बाहर निकला हो, तब भी उसे प्रपंच मिथ्या ही मालूम पड़ता है। जब एक बार सदानन्द प्रकाशित हो गया तब वही एकमात्र विषय बनता है और तभी मनुष्य ब्रह्मवेत्ता होता है। जिसके संकल्पों का नाश हुआ होता है, उसी के हाथ में मुक्ति होती है। इसलिए भाव और अभाव, दोनों का त्याग करके परमात्मा का ध्यान करने से मुक्ति मिलती है। बार-बार, प्रत्येक अवस्था में, ज्ञान-ज्ञेय का, ध्यान-ध्येय का, लक्ष्य-अलक्ष्य का और ऊह-अपोह का त्याग करके मनुष्य जीवन्मुक्त हो जाता है। जो इस प्रकार जानता है, वह ब्रह्म को पाता है।

चतुर्थः खण्डः

पञ्चावस्थाः जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुरीयतुरीयातीताः ॥1॥

जाग्रति प्रवृत्तो जीवः प्रवृत्तिमार्गासक्तः। पापफलनरकादिमांस्तु शुभ-कर्मफलस्वर्गमस्त्विति काङ्क्षते ॥2॥

एवं स एव स्वीकृतवैराग्यात्कर्मफलजन्माऽलं संसारबन्धनमलमिति विमुक्त्यभिमुखो निवृत्तिमार्गप्रवृत्तो भवति ॥3॥

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय और तुरीयातीत—ऐसी पाँच अवस्थाएँ हैं। उनमें से जाग्रत् अवस्था में रहा हुआ जीव प्रवृत्तिमार्ग में आसक्त होता है। पापों के फलों के रूप में वह नरक आदि को प्राप्त करता है। 'मुझे शुभ कर्मों का फल प्राप्त हो'—ऐसा वह चाहता है। और वही जीव यदि वैराग्य को स्वीकार करता है, तो इससे, 'अब कर्म के फलरूप जन्म एवं संसार के बन्धन से ऊब गया हूँ'—ऐसी वृत्तिवाला होकर मुक्ति की ओर प्रवृत्त है और निवृत्तिमार्ग पर चलने के लिए अग्रसर हो जाता है।

स एव संसारतारणाय गुरुमाश्रित्य कामादि त्यक्त्वा विहितकर्माचर-न्साधनचतुष्टयसम्पन्नो हृदयकमलमध्ये भगवत्सत्तामात्रान्तर्लक्ष्यरूपमा-

साद्य सुषुप्त्यवस्थाया मुक्तब्रह्मानन्दस्मृतिं लब्ध्वा एक एवाहमद्वितीयः कञ्चित्कालमज्ञानवृत्त्या विस्मृतजाग्रद्वासनानुफलेन तैजसोऽस्मीति तदुभयनिवृत्त्या प्राज्ञ इदानीमस्मीत्यहमेक एव स्थानभेदादवस्थाभेदस्य परन्तु नहि मदन्यदिति जातविवेकः शुद्धाद्वैतब्रह्माहमिति भिदागन्धं निरस्य स्वान्तर्विजृम्भितभानुमण्डलध्यानतदाकाराकारितपरंब्रह्मा-कारितमुक्तिमार्गमारूढः परिपक्वो भवति ।।4।।

इसके बाद वही जीव संसार को पार करने के लिए गुरु का आश्रय लेकर काम आदि का त्याग कर देता है और वेदविहित कर्म करते हुए साधन-चतुष्टय (विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व) से युक्त होता है। इससे वह हृदयकमल के बीच केवल भगवत्सत्तारूप अन्तर्लक्ष्य को प्राप्त करता है। और सुषुप्ति अवस्था से रहित ब्रह्मानन्द की स्मृति प्राप्त करके, 'मैं एक ही अद्वितीय हूँ', परन्तु कुछ काल तक अज्ञान की वृत्ति की वजह से मैं अपने आत्मस्वरूप को भूल गया था और जाग्रत् अवस्था की वासना के फल के परिणामस्वरूप मैं 'तैजस' हूँ, ऐसा मान रहा था। और भी जाग्रत् और स्वप्न की अवस्थाएँ जब नहीं होती थीं, तब सुषुप्ति अवस्था में मैं 'प्राज्ञ' हूँ ऐसा मान रहा था, परन्तु अब मैं अनुभव कर रहा हूँ कि 'मैं तो एक ही हूँ'। वे पहले के अनुभव तो केवल स्थानभेद से अलग-अलग अवस्थाएँ मात्र थीं पर सही रूप में 'मुझसे अलग कुछ है ही नहीं।' ऐसा उसका विवेक होता है। और 'मैं शुद्ध ब्रह्म ही हूँ'—इस प्रकार के अनुभव से भेदभाव की सभी वासनाएँ दूर करके अपने भीतर प्रकाशित तेजोमण्डल के ध्यान से तद्रूप होकर, परब्रह्म के स्वरूप को प्राप्त कर मुक्तिमार्ग पर आरूढ हो जाता है और परिपक्व हो जाता है।

सङ्कल्पादिकं मनो बन्धहेतुः। तद्वियुक्तं मनो मोक्षाय भवति ।।5।। तद्वांश्चक्षुरादिबाह्यप्रपञ्चोपरतो विगतप्रपञ्चगन्धः सर्वजगदात्मत्वेन पश्यं-स्त्यक्ताहङ्कारो ब्रह्माहमस्मीति चिन्तयन्निदं सर्वं यदयमात्मेति भावयन् कृतकृत्यो भवति ।।6।।

संकल्प आदि को प्राप्त हुआ मन बन्धन का कारण बनता है और संकल्पों से मुक्त मन मोक्ष का कारण बनता है। जीवित अवस्था में मोक्ष प्राप्त किया हुआ मनुष्य (जीवन्मुक्त) चक्षु आदि बाह्य प्रपंच से उपरत हो जाता है, उसमें प्रपंच का गन्धमात्र भी शेष नहीं रहता। वह संपूर्ण जगत् को आत्मस्वरूप ही देखता है। और उसमें अहंकार न होने पर (क्योंकि अहंकार का उसने त्याग किया होता है फिर भी) 'अहं ब्रह्मास्मि' 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार का चिन्तन करता हुआ वह 'यह सब कुछ आत्मा ही है'—ऐसी भावना करता हुआ कृतकृत्य होता है।

पञ्चमः खण्डः

सर्वपरिपूर्णतुरीयातीतब्रह्मभूतो योगी भवति। तं ब्रह्मेति स्तुवन्ति ।।1।। सर्वलोकस्तुतिपात्रः सर्वदेशसञ्चारशीलः परमात्मगगने बिन्दुं निक्षिप्य शुद्धाद्वैताजाड्यसहजामनस्कयोगनिद्राखण्डानन्दपदानुवृत्त्या जीवन्मुक्तो भवति ।।2।।

सब प्रकार से परिपूर्ण होकर वह तुरीयातीत योगी ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है। लोग इसी प्रकार उसकी स्तुति करते हैं कि—'वह ब्रह्म है।' वह सभी लोगों की स्तुति का पात्र बनता है। वह सभी लोकों में संचरण करने वाला हो जाता है, और परमात्मारूपी आकाश में बिन्दु स्थापित करके अर्थात्

चिदाकाश में मन का विलीनीकरण करके शुद्ध, अद्वैत, अजड, सहज और अमनस्क अवस्थारूपी योगनिद्रा में अखण्डानन्द का अनुसरण करते हुए जीवन्मुक्त हो जाता है।

तच्चानन्दसमुद्रमग्ना योगिनो भवन्ति ॥3॥
तदपेक्षया इन्द्रादयः स्वल्पानन्दाः। एवं प्राप्तानन्दः परमयोगी भवतीत्युपनिषत् ॥4॥

इति द्वितीयं ब्राह्मणम्।

उस आनन्दसागर में मग्न रहने वाले योगी को 'सिद्ध' कहा जाता है। उन योगियों की तुलना में इन्द्र आदि देवसमूह भी अत्यल्प आनन्द को प्राप्त करने वाले होते हैं। इस प्रकार परमानन्द को प्राप्त करने वाला तो योगी ही होता है। यह अद्‌भुत रहस्य है।

यहाँ दूसरा ब्राह्मण पूरा हुआ।

❈

तृतीयं ब्राह्मणम्

प्रथमः खण्डः

याज्ञवल्क्यो महामुनिर्मण्डलपुरुषं पप्रच्छ स्वामिन्नमनस्कलक्षणमुक्तमपि विस्मृतं पुनस्तल्लक्षणं ब्रूहीति ॥1॥
तथेति मण्डलपुरुषोऽब्रवीत्। इदममनस्कमतिरहस्यम्। यज्ज्ञानेन कृतार्थो भवति तन्नित्यं शाम्भवीमुद्रान्वितम् ॥2॥

महामुनि याज्ञवल्क्य ने सूर्यमण्डलस्थित पुरुष से पूछा—'हे स्वामिन्! आपने अमनस्क अवस्था का लक्षण तो कहा, परन्तु वह तो मैं भूल गया हूँ, तो फिर से आप उसका लक्षण बताइए।' मण्डलस्थ पुरुष ने कहा—'ठीक है।' ऐसा कहकर आगे कहा—यह अमनस्क अवस्था का स्वरूप बड़ा रहस्यमय है। इसके ज्ञान से मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है। वह सदैव शांभवी मुद्रा से युक्त होता है।

परमात्मदृष्ट्या तत्प्रत्ययलक्ष्याणि दृष्ट्वा तदनु सर्वेशमप्रमेयमजं शिवं परमाकाशं निरालम्बमद्वयं ब्रह्मविष्णुरुद्रादीनामेकलक्ष्यं सर्वकारणं परंब्रह्मात्मन्येव पश्यमानो गुहाविहरणमेव निश्चयेन ज्ञात्वा भावाभावादिद्वन्द्वातीतः संविदितमनोन्मन्यनुभवस्तदनन्तरमखिलेन्द्रियक्षयवशादमनस्कसुखब्रह्मानन्दसमुद्रे मनःप्रवाहयोगरूपनिवातस्थितदीपवदचलं परंब्रह्म प्राप्नोति ॥3॥

परमात्म दृष्टि से परमात्मानुभव कराने वाले लक्ष्य को देखने के बाद, वह सर्वेश्वर, सर्वप्रमाणातीत, शिव, परमाकाश, निराश्रय, अद्वैत, ब्रह्मा-विष्णु-रुद्र आदि के भी एकलक्ष्यरूप, सर्वकारणभूत परब्रह्म को अपने आत्मा में ही देखता है, और ऐसा पुरुष अपनी हृदयरूपी गुफा में ही उनके (परमात्मा के) विहार को निश्चित रूप से जानकर भाव-अभाव आदि द्वन्द्वों से रहित होकर मन की उन्मनी अवस्था का अनुभव करता है। इसके बाद सभी इन्द्रियों के नष्ट हो जाने के कारण अमनस्क

अवस्था के सुखरूप ब्रह्मानन्दसागर में ही उसके मन का प्रवाह बहने लगता है, जिसके योग से वह निर्वात स्थल में स्थित दीपक की तरह अचल ब्रह्म को प्राप्त करता है।

ततः शुष्कवृक्षवन्मूर्च्छानिद्रामयनिःश्वासोच्छ्वासाभावान्नष्टद्वन्द्वः सदाऽचञ्चलगात्रः परमशान्तिं स्वीकृत्य मनःप्रचारशून्यं परमात्मनि लीनं भवति ॥4॥
पयःस्त्रावानन्तरं धेनुस्तनक्षीरमिव सर्वेन्द्रियवर्गे परिनष्टे मनोनाशो भवति तदेवामनस्कम् ॥5॥
तदनु नित्यशुद्धः परमात्महमेवेति तत्त्वमसीत्युपदेशेन त्वमेवाहमहमेव त्वमिति तारकयोगमार्गेणाखण्डानन्दपूर्णः कृतार्थो भवति ॥6॥

बाद में सूखे पेड़ की तरह मूर्च्छा और निद्रामय स्थिति में उसके श्वासोच्छ्वास भी नहीं रहते। इससे सुख-दुःखादि द्वन्द्व नष्ट हो जाते हैं, और वह सदा स्थिरगात्रवाला हो जाता है। इस तरह परम शान्ति प्राप्त कर मन को प्रचारशून्य बनाकर परमात्मा में लीन हो जाता है। जिस प्रकार दूध दुह लेने के बाद गाय के स्तन में वह दूध नहीं रहता, उसी प्रकार सभी इन्द्रियसमूह के नष्ट हो जाने के बाद मन का भी नाश हो जाता है। वही अमनस्क स्थिति है। तदुपरान्त, 'मैं ही शुद्ध परमात्मा हूँ'—इस प्रकार, 'तत्त्वमसि' का उपदेश प्राप्त हो जाने पर, 'तुम ही मैं हूँ'—'मैं ही तुम हो'—इस तारक योग मार्ग से अखण्डानन्द प्राप्त करके साधक सम्पूर्णतया कृतकृत्य हो जाता है।

द्वितीयः खण्डः

परिपूर्णपराकाशमग्नमनाः प्राप्तोन्मन्यवस्थः संन्यस्तसर्वेन्द्रियवर्गोऽनेकजन्मार्जितपुण्यपुञ्जपक्वकैवल्यफलोऽखण्डानन्दनिरस्तसर्वक्लेशकश्मलो ब्रह्माहमस्मीति कृतकृत्यो भवति ॥1॥
त्वमेवाहं न भेदोऽस्ति पूर्णत्वात्परमात्मनः। इत्युच्चरन्त्समालिङ्ग्य शिष्यं ज्ञप्तिमनीनयत् ॥2॥

इति तृतीयं ब्राह्मणम्।

जिसका मन परमाकाश में पूर्णरूप से मग्न हो गया हो वह उन्मनी अवस्था को प्राप्त करता है। उससे सारा इन्द्रियसमूह छूट जाता है। जन्मजन्मान्तर से प्राप्त पुण्यपुंज से उसका कैवल्यप्राप्तिरूप फल परिपक्व होता है। और अखण्ड आनन्द के अनुभव से सभी क्लेशरूप पाप विनष्ट हो जाते हैं। बाद में 'मैं ब्रह्म हूँ'—इस भाव में वह निरन्तर रत होकर कृतकृत्य हो जाता है। परमात्मा पूर्ण है, इसलिए, 'जो तू है वही मैं हूँ'—ऐसा उच्चारण करते हुए गुरु (मण्डलपुरुष) ने शिष्य (याज्ञवल्क्य) का आलिंगन करते हुए यह ज्ञान दिया था।

यहाँ तीसरा ब्राह्मण पूरा हुआ।

❋

चतुर्थं ब्राह्मणम्

प्रथमः खण्डः

अथ ह याज्ञवल्क्यो मण्डलपुरुषं पप्रच्छ व्योमपञ्चकलक्षणं विस्तरेणानुब्रूहीति ॥1॥

स होवाचाकाशं पराकाशं महाकाशं सूर्याकाशं परमाकाशमिति पञ्च भवन्ति ॥2॥

सबाह्याभ्यन्तरमन्धकारमयमाकाशम्। स बाह्यस्याभ्यन्तरे कालानल-सदृशं पराकाशम्। सबाह्याभ्यन्तरेऽपरिमितद्युतिनिभं तत्त्वं महाकाशम्। सबाह्याभ्यन्तरे सूर्यनिभं सूर्याकाशम्। अनिर्वचनीयज्योतिः सर्वव्यापकं निरतिशयानन्दलक्षणं परमाकाशम् ॥3॥

एवं तत्तल्लक्ष्यदर्शनात्तत्तद्रूपो भवति ॥4॥

फिर याज्ञवल्क्य ने सूर्यमण्डल स्थित पुरुष से पूछा—'पाँच आकाश का वर्णन आप विस्तार से कहिए।' तब उसने कहा—'आकाश, पराकाश, महाकाश, सूर्यकाश और परमाकाश—इस तरह पाँच आकाश हैं। उनमें जो आकाश बाहर और भीतर – दोनों ओर से अन्धकारमय है वह 'आकाश' कहलाता है। जो बाहर-भीतर कालाग्नि जैसा है, वह 'पराकाश' कहा जाता है। जो बाहर-भीतर अपरिमित कान्ति जैसा है वह 'महाकाश' तत्त्व है। जो बाहर-भीतर सूर्य जैसा है, वह सूर्याकाश है, और जो अनिर्वचनीय ज्योतियुक्त सर्वव्यापक और अत्यन्त आनन्द के लक्षण से युक्त है, वह परमाकाश है। इस प्रकार मनुष्य जिस-जिस लक्ष्य का दर्शन करता है, वह उसी-उसी की तरह हो जाता है।

नवचक्रं षडाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम्।
सम्यगेतन्न जानाति स योगी नामतो भवेत् ॥5॥

इति चतुर्थं ब्राह्मणम्।

योगी कहलाने वाला जो मनुष्य नव चक्रों (छः चक्रों के साथ तालु, आकाश और भूचक्र मिलकर नव चक्र माने गए हैं) को, छः आधारों को (मूलाधार आदि आधारों को), तीन लक्ष्यों को (अन्तर, बहिः और मध्य को), उपर्युक्त पाँच आकाशों को अच्छी तरह से नहीं पहचानता है, वह केवल कहने मात्र का ही योगी है। वह वास्तविक योगी नहीं है।

यहाँ चतुर्थ ब्राह्मण पूरा हुआ।

पञ्चमं ब्राह्मणम्

प्रथमः खण्डः

सविषयं मनो बन्धाय निर्विषयं मुक्तये भवति ॥1॥

अतः सर्वं जगच्चित्तगोचरम्। तदेव चित्तं निराश्रयं मनोन्मन्यवस्था-परिपक्वं लययोग्यं भवति ॥2॥

तल्लयं परिपूर्णे मयि समभ्यसेत्। मनोलयकारणमहमेव ॥3॥

अनाहतस्य शब्दस्य तस्य शब्दस्य यो ध्वनिः। ध्वनेरन्तर्गतं ज्योतिर्ज्योति-रन्तर्गत मनः ॥4॥

यन्मनस्त्रिजगत्सृष्टिस्थितिव्यसनकर्मकृत्। तन्मनो विलयं याति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥5॥

विषययुक्त मन बन्धन का और निर्विषय मन मुक्ति का कारण होता है। अतः समस्त जगत् मन का विषय है। यही चित्त यदि आश्रयरहित हो ज़ाए, तो मन उन्मनी अवस्था में परिपक्व होकर ईश्वर में लय होने योग्य बन जाता है। इस लय का परिपूर्ण 'मैं' में अभ्यास करना चाहिए, क्योंकि मन के लय का कारण 'मैं' ही है। अनाहतनाद और उस शब्द के भीतर जो ध्वनि होती है, उस ध्वनि के भीतर ज्योति रहती है और ज्योति के भीतर मन रहता है। जो मन तीनों जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय के कार्य का सम्पादन करता है, वह मन भी जिसमें विलय होता है, वह विष्णु का परमपद है।

तल्लयाच्छुद्धाद्वैतसिद्धिर्भेदाभावात्। एतदेव परमतत्त्वम् ॥6॥
स तज्ज्ञो बालोन्मत्तपिशाचवज्जडवृत्त्या लोकमाचरेत् ॥7॥
एवममनस्काभ्यासेनैव नित्यतृप्तिरल्पमूत्रपुरीषमितभोजनदृढाङ्गाजाड्य-निद्रादृग्वायुचलनाभावब्रह्मदर्शनाज्ज्ञातसुखस्वरूपसिद्धिर्भवति ॥8॥

विष्णु के परमपद में लय होने से शुद्ध (निर्मल) अद्वैततत्त्व की सिद्धि होती है। क्योंकि इसके बाद तो कोई भेद रहता ही नहीं है। वही परमतत्त्व है। उसको जानने वाला मनुष्य बालक, पागल, या पिशाच की तरह लोगों में आचरण करता है। इस प्रकार की अमनस्क अवस्था का अभ्यास करने से नित्यतृप्ति (स्थायी तृप्ति) होती है। मल-मूत्र कम हो जाते हैं, आहार का प्रमाण कम हो जाता है, शरीर दृढ़ हो जाता है, जड़ता समाप्त हो जाती है। निद्रा और नेत्र एवं वायु की गति समाप्त हो जाती है, और ब्रह्मदर्शन होने के कारण अनुभूत्यात्मक सुखमय स्वरूप की सिद्धि होती है।

एवं चिरसमाधिजनितब्रह्मामृतपानपरायणोऽसौ संन्यासी परमहंस अवधूतो भवति। तद्दर्शनेन सकलं जगत्पवित्रं भवति। तत्सेवा-परोऽज्ञोऽपि मुक्तो भवति। तत्कुलमेकोत्तरशतं तारयति। तन्मातृपितृ-जायापत्यवर्गं च मुक्तं भवतीत्युपनिषत् ॥9॥

इति मण्डलब्राह्मणोपनिषत्समाप्ता।

इस प्रकार लम्बे समय तक समाधि की स्थिति के बार-बार करते रहने से उत्पन्न होने वाले ब्रह्मामृत का पान करने में परायण रहने वाला संन्यासी 'अवधूत' हो जाता है। उसके दर्शन से सम्पूर्ण जगत् पावन हो जाता है। उसकी सेवा में तत्पर रहनेवाला अज्ञानी भी मुक्त हो जाता है, और अपनी एक सौ एक पीढ़ियों तक के कुल को संसार के पार उतारता है। उसके माता-पिता-सन्तानें आदि सभी मुक्त हो जाते हैं। ऐसी यह उपनिषद् है। उपनिषद् पूरी हुई।

यहाँ मण्डलब्राह्मणोपनिषद् पूरी होती है।

शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं......पूर्णमेवावशिष्यते। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(50) दक्षिणामूर्त्युपनिषद्

(उपनिषत्परिचय)

यह उपनिषद् कृष्णयजुर्वेदीय परम्परा की मानी गई है। शौनक आदि ऋषियों ने मार्कण्डेय को उनकी चिरंजीवता के बारे में और उनके सदैव आनन्द में रहने के रहस्य के बारे में पूछने पर उन्होंने यह कहा कि 'परमरहस्यरूप शिवतत्त्व के ज्ञान से समग्र सृष्टि के प्रलय काल में स्वयं में ही सबका समावेश करके जो मनुष्य आत्मानन्द का अनुभव लेता है, वह शिव यानी परमात्मा है। श्रीदक्षिणामूर्ति मन्त्रों द्वारा उनका ध्यान आदि करने से ऐसी अवस्था प्राप्त होती है। वैराग्यरूपी तेल से भरे हुए तथा भक्तिरूपी बत्ती से युक्त ज्ञानरूपी दीपक का ध्यान करना चाहिए। ऐसा करने से मोहरूपी अन्धकार में स्वयं दक्षिणामूर्तिरूप शिव आप ही प्रकट हो जाते हैं।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु.......मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (ब्रह्मोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

ब्रह्मावर्ते महाभाण्डीरवटमूले महासत्राय समेता महर्षयः शौनकादयस्ते ह समित्पाणयस्तत्त्वजिज्ञासवो मार्कण्डेयं चिरंजीविनमुपसमेत्य पप्रच्छुः केन त्वं चिरं जीवसि केन वानन्दमनुभवसीति ॥1॥

परमरहस्यशिवतत्त्वज्ञानेनेति स होवाच ॥2॥

एक बार ब्रह्मावर्त प्रदेश में महाभांडीर नामक वट-वृक्ष के नीचे बड़े ज्ञानसत्र के लिए एकत्र हुए शौनक आदि महर्षियों ने समित्पाणि होकर रहस्य जानने की इच्छा से लम्बी आयुवाले मार्कण्डेयजी के पास जाकर पूछा—'हे महर्षे ! आप किस तरह इतनी लम्बी आयु को धारण कर सके हैं ? और इतने आनन्द का अनुभव कैसे कर रहे हैं ?' तब उन्होंने कहा कि 'मेरे चिरंजीवी होने का कारण परम गोपनीय शिवतत्त्व का ज्ञान है।'

किं तत्परमरहस्यशिवतत्त्वज्ञानम्। तत्र को देवः। के मन्त्राः। को जपः। का मुद्रा। का निष्ठा। किं तज्ज्ञानसाधनम्। कः परिकरः। को बलिः। कः कालः। किं तत्स्थानमिति ॥3॥

तब ऋषियों ने पूछा—'वह परम रहस्यमय शिवतत्त्व का ज्ञान क्या है ? उसका देवता कौन है ? उस ज्ञान के मन्त्र कौन-कौन से हैं ? उसका जपमन्त्र कौन-सा है ? उसके लिए कौन-सी मुद्रा करनी चाहिए ? उसकी निष्ठा क्या है ? उस ज्ञान के साधन कौन-कौन से हैं ? उसके परिकर क्या हैं ? उसमें बलि क्या है ? उसका समय कौन-सा है ? उसका स्थान क्या है ?

स होवाच । येन दक्षिणामुखः शिवोऽपरोक्षीकृतो भवति तत्परमरहस्य-
शिवतत्त्वज्ञानम् ॥4॥
यः सर्वोपरमे काले सर्वानात्मन्युपसंहृत्य स्वात्मानन्दसुखे मोदते प्रकाशते
वा स देवः ॥5॥

तब उन मार्कण्डेय ऋषि ने कहा कि जिसके द्वारा दक्षिण मुख वाले शिव का प्राकट्य होता है, वही परमरहस्यमय शिवतत्त्व का ज्ञान कहा जाता है। और जो परम प्रलय के काल में समग्र विश्व को अपने भीतर समेट कर अपने आत्मा के सुख में ही आनन्दित रहते हैं, और प्रकाशित रहते हैं, वे ही इस ज्ञान के देवता हैं।

अत्रैते मन्त्ररहस्यश्लोका भवन्ति। मेधा दक्षिणामूर्तिमन्त्रस्य ब्रह्मा
ऋषिः। गायत्री छन्दः। देवता दक्षिणास्यः। मन्त्रेणाङ्गन्यासः ॥6॥
ॐ आदौ नम उच्चार्य ततो भगवते पदम्।
दक्षिणेति पदं पश्चान्मूर्तये पदमुद्धरेत्।
अस्मच्छब्दं चतुर्थ्यन्तं मेधां प्रज्ञां पदं वदेत्।
प्रमुच्चार्य ततो वायुबीजं च्छं च ततः पठेत्।
अग्निजायां ततस्त्वेष चतुर्विंशाक्षरो मनुः ॥7॥
ध्यानम्
स्फटिकरजतवर्णं मौक्तिकीमक्षमाला-
ममृतकलशविद्यां ज्ञानमुद्रां कराग्रे।
दधतमुरगकक्ष्यं चन्द्रचूडं त्रिनेत्रं
विधृतविविधभूषं दक्षिणामूर्तिमीडे ॥8॥

सर्वप्रथम, 'ॐ नमः' शब्द उच्चरित करके फिर 'भगवते' पद का उच्चारण करना चाहिए। फिर 'दक्षिणा' शब्द बोलना चाहिए। फिर 'मूर्तये' ऐसा कहना चाहिए। बाद में 'अस्मद्' शब्द का चतुर्थी एकवचन यानी 'मह्यम्' पद बोलना चाहिए। बाद में 'मेधां', 'प्रज्ञां'—इन पदों का उच्चारण करना चाहिए। तत्पश्चात् 'प्र' का उच्चारण करके, फिर वायुबीज 'य' का उच्चारण करने के बाद 'च्छ' पद कहना चाहिए। और सबके अन्त में अग्निपत्नी का—'स्वाहा' का उच्चारण करना चाहिए। इस प्रकार कुल चौबीस अक्षरों का यह मनुमन्त्र है। (पूरा मन्त्र इस तरह बनेगा—ॐ नमो भगवते दक्षिणामूर्तये मह्यं मेधां प्रज्ञां प्रयच्छ स्वाहा)। फिर ध्यान करना चाहिए (ध्यान मन्त्र—) 'मैं स्फटिक तथा रजत जैसे वर्णवाले भगवान् दक्षिणामूर्ति (शिव) की स्तुति करता हूँ। उनके हाथ में क्रमशः ज्ञानमुद्रा, अमृतत्वदायिनी विद्या और अक्षमाला है। वे तीन नेत्रों वाले हैं, उनके उन्नत भाल पर चन्द्र है, उनकी कमर पर साँप लिपटे हैं। वे विविधवेशधारी हैं।' इस तरह ध्यान करना चाहिए।

मन्त्रेण न्यासः
आदौ वेदादिमुच्चार्य स्वराद्यं सविसर्गकम्।
पञ्चार्णं तत उद्धृत्य अतरं सविसर्गकम्।
अन्ते समुद्धरेत्तारं मनुरेष नवाक्षरः ॥9॥
मुद्रां भद्रार्थदात्रीं स परशुहरिणं बाहुभिर्बाहुमेकं
जान्वासक्तं दधानो भुजगवरसमाबद्धकक्ष्यो वटाधः।

आसीनश्चन्द्रखण्डप्रतिघटितजटाक्षीरगौरस्त्रिनेत्रो
दद्यादाद्यः शुकाद्यैर्मुनिभिरभिवृतो भावशुद्धिं भवो नः ॥10॥

नवाक्षर मनुमन्त्र से न्यास इस प्रकार है—सर्वप्रथम ॐ का उच्चारण करके स्वर के आदि अक्षर को विसर्ग के साथ बोलना चाहिए। बाद में 'पंचाणं' अर्थात् 'दक्षिणामूर्ति' पद का उच्चारण करना चाहिए। इसके बाद विसर्ग के साथ 'अतर' शब्द का उच्चारण करना चाहिए। और अन्त में तार का अर्थात् ॐकार का उच्चारण करना चाहिए—इसको 'नवाक्षरी मनुमन्त्र' कहते हैं। (पूरा मन्त्र होगा—'ॐ दक्षिणामूर्तिरतरों') फिर ध्यान करना चाहिए। इसका ध्यान मन्त्र यह है—'जो एक हाथ में अभयमुद्रा और दो हाथों में क्रमशः परशु तथा हिरण – मृगीमुद्रा लिए हुए तथा एक हाथ को अपनी जंघा पर रखे हुए वटवृक्ष के नीचे विराजमान हैं, और जिन्होंने कमर पर नागराज लिपटा रखा है, जिनकी जटाओं में द्वितीया का चाँद शोभित है, ऐसे दुग्धसमान श्वेतवर्ण और त्रिनेत्रधारी शुकादि मुनियों से घिरे हुए भगवान् शंकर का हम ध्यान करते हैं। वे हमारी भावनाओं को शुद्ध करके हमें सद्‌बुद्धि दें।'

मन्त्रेण न्यासः (ब्रह्मर्षिन्यासः)
तारं ब्लूं नम उच्चार्य मायां वाग्भवमेव च।
दक्षिणापदमुच्चार्य ततः स्यान्मूर्तये पदम् ॥11॥
ज्ञानं देहि पदं पश्चाद्वह्निजायां ततो न्यसेत्।
मनुरष्टादशार्णोऽयं सर्वमन्त्रेषु गोपितः ॥12॥
भस्मव्यापाण्डुराङ्गः शशिशकलधरो ज्ञानमुद्राक्षमाला-
वीणापुस्तैर्विराजत्करकमलधरो योगपट्टाभिरामः।
व्याख्यापीठे निषण्णो मुनिवरनिकरैः सेव्यमानः प्रसन्नः
सव्यालः कृत्तिवासाः सततमवतु नो दक्षिणामूर्तिरीशः ॥13॥

नवाक्षर मनुमंत्र का न्यास—ध्यानादि बताने के बाद अब अष्टादशाक्षर मनुमन्त्र के विषय में कहा जा रहा है। इसमें सबसे पहले तार अर्थात् ॐकार का उच्चारण करना चाहिए। बाद में 'ब्लूं नमः' कहकर मायाबीज का अर्थात् 'ह्रीं' का उच्चारण करना चाहिए। बाद में वाग्बीज का अर्थात् 'ऐं' का उच्चारण करना चाहिए। फिर बाद में 'दक्षिणा' तथा फिर 'मूर्तये' पदों का उच्चारण करना चाहिए। ऐसा कहकर फिर 'ज्ञानं देहि' बोलना चाहिए। अन्त में अग्निपत्नी का यानी 'स्वाहा' का नाम बोलना चाहिए। यह अठारह अक्षर का मनुमन्त्र है, इसका जप करना चाहिए। वह अष्टादशाक्षर मनुमन्त्र सभी मन्त्रों में अति गोपनीय मन्त्र है (पूरा मन्त्र इस प्रकार होगा—'ॐ ब्लूं नमो ह्रीं ऐं दक्षिणामूर्तये ज्ञानं देहि स्वाहा)। इसका ध्यान मन्त्र 'भस्मव्या' आदि है। मन्त्रार्थ यह है—'भस्मलेपन से जिनका पूरा शरीर श्वेतवर्ण हो गया है, ऐसे और चन्द्रकला को मस्तक पर धारण किए हुए, करकमलों में रुद्राक्षमाला, वीणा, पुस्तक, ज्ञानमुद्रा धारण करने वाले, योगियों के पास रहने वाले पट्ट से सुशोभित व्याघ्रचर्म-धारी भगवान् दक्षिणामूर्ति सदैव हमारी रक्षा करे।'

मन्त्रेण न्यासः (ब्रह्मर्षिन्यासः)
तारं परां रमाबीजं वदेत्साम्बशिवाय च।
तुभ्यं चानलजायां च मनुर्द्वादशवर्णकः ॥14॥

वीणां करैः पुस्तकमक्षमालां बिभ्राणमभ्राभगलं वराढ्यम् ।
फणीन्द्रकक्ष्यं मुनिभिः शुकाद्यैः सेव्यं वटाधः कृतनीडमीडे ॥15॥

अब द्वादशाक्षर मनुमन्त्र के विषय में कहते हैं—सबसे पहले 'ॐ', बाद में पराबीज 'ह्रीं', फिर रमाबीज 'श्रीं' बोलना चाहिए। इसके बाद 'साम्बशिवाय', बाद में 'तुभ्यं' और अन्त में 'स्वाहा' कहना चाहिए। इस प्रकार, यह बारह अक्षर वाला मनुमन्त्र होता है। (पूरा मन्त्र इस प्रकार है—'ॐ ह्रीं श्रीं साम्बशिवाय तुभ्यं स्वाहा') इसके बाद ध्यानमन्त्र से ध्यान करना चाहिए। ध्यानमन्त्र 'वीणां करैः' इत्यादि है। मन्त्रार्थ यह है—'जिन्होंने अपने हाथ में वीणा, पुस्तक और अक्षमाला धारण की है, जिनका एक हाथ अभयमुद्रा में है, जिनका कण्ठप्रदेश घनघोर श्याम बादलों-सा शोभित है, जो श्रेष्ठ में भी श्रेष्ठ हैं, जिनकी कमर पर नागराज शोभित हैं, ऐसे भगवान् शंकर की मैं प्रार्थना करता हूँ।'

विष्णु ऋषिरनुष्टुप् छन्दः । देवता दक्षिणास्यः । मन्त्रेण न्यासः ।
तारं नमो भगवते तुभ्यं वटपदं ततः ।
मूलेति पदमुच्चार्य वासने पदमुद्धरेत् ॥16॥
वागीशाय पदं पश्चान्महाज्ञानपदं ततः ।
दायिने पदमुच्चार्य मायिने नम उद्धरेत् ॥17॥
आनुष्टुभो मन्त्रराजः सर्वमन्त्रोत्तमोत्तमः ॥18॥
ध्यानम्
मुद्रापुस्तकवह्निनागविलसद्बाहुं प्रसन्नाननं
मुक्ताहारविभूषणं शशिकलाभास्वत्किरीटोज्ज्वलम् ।
अज्ञानापहमादिमादिमगिरामर्थं भवानीपतिं
न्यग्रोधान्तनिवासिनं परगुरुं ध्यायाम्यभीष्टाप्तये ॥19॥

इस मन्त्र के ऋषि विष्णु हैं, छन्द अनुष्टुप है, दक्षिणामूर्ति देवता हैं। इस मन्त्र से न्यास करना चाहिए। सबसे पहले 'तार—ॐ', बाद में 'नमो भगवते तुभ्यम्' इसके बाद 'वटमूल'—ऐसे शब्दों का उच्चारण करना चाहिए। फिर 'वासिने' कहकर 'वागीशाय' कहना चाहिए। इसके बाद, 'महाज्ञान' और इसके बाद 'दायिने मायिने' कहकर नमः बोलना चाहिए। (पूरा मन्त्र है—'ॐ नमो भगवते तुभ्यं वटमूलवासिने वागीशाय महाज्ञानदायिने मायिने नमः।' अनुष्टुभ् छन्दवाला यह मन्त्रराज श्रेष्ठ मन्त्रों में भी श्रेष्ठ है। अब इसका ध्यान मन्त्र 'मुद्रापुस्तक' आदि है। मन्त्रार्थ यह है—'जिनके हाथ अभयमुद्रा, पुस्तक तथा अग्नि जैसे महाभयंकर साँपों से सुशोभित हैं, चन्द्रकला से जिनका मुकुट अधिक शोभित है, जो अज्ञानान्धकार को समाप्त करने वाले हैं, जो वाणी से अज्ञेय (अगोचर) हैं, जो आदिपुरुष हैं, जो सबके हैं, ऐसे वटवृक्ष-निवासी भगवान् शंकर का वांछितलाभ के लिए हम ध्यान करते हैं।

मौनमुद्रा
सोऽहमिति यावदास्थितिः सा निष्ठा भवति ॥20॥
तदभेदेन मन्त्राम्रेडनं ज्ञानसाधनम् ॥21॥
चित्ते तदेकतानता परिकरः ॥22॥
अङ्गचेष्टार्पणं बलिः ॥23॥
त्रीणि धामानि कालः ॥24॥
द्वादशान्तपदं स्थानमिति ॥25॥

मौन मुद्रा—'वह परमात्मा मैं ही हूँ'—ऐसी भावना की स्थिरता मृत्युपर्यन्त रहे, वही निष्ठा है। इन उपर्युक्त मनुमन्त्रों को ब्रह्म से अभिन्न मानकर उनका बार-बार उच्चारण (जप) करना ही ज्ञान का साधन है। उस परमात्मा में चित्त को एकाग्र करके ध्यान करना ही उपकरण सामग्री है। शरीरावयवों को (इन्द्रियों को) बार-बार बाहर के विषयों से रोककर भगवत्कार्यों में जोड़ना ही बलि है। तीन धाम (स्वाविद्या, सूक्ष्म, स्थूल) ही काल हैं और यह द्वादशान्त पद (हृदय या सहस्रार) ही स्थान है (क्योंकि वह परमात्मप्राप्ति का स्थान है)।

ते ह पुनः श्रद्दधानास्तं प्रत्यूचुः। कथं वाऽस्योदयः। किं स्वरूपम्। को वाऽस्योपासक इति ॥26॥

स होवाच

वैराग्यतैलसम्पूर्णे भक्तिवर्तिसमन्विते।
प्रबोधपूर्णपात्रे तु ज्ञप्तिदीपं विलोकयेत् ॥27॥

श्रद्धायुक्त उन ऋषियों ने मार्कण्डेय मुनि से पुनः पूछा—'इसका उदय कैसे होता है ? इसका स्वरूप कैसा है ? और इसका उपासक कौन होता है ?' तब उन्होंने कहा—वैराग्यरूपी तेल से पूर्णतः भरे हुए और भक्तिरूपी बाती से युक्त ज्ञानरूपी पात्र में ज्ञप्ति (ज्ञानविषय) सर्वव्याप्त समभावयुक्त परमात्मसत्ता का अपनी आत्मा के रूप में दर्शन होता है। अर्थात् ऐसे ही ज्ञप्तिदीप का उदय होता है।

मोहान्धकारे निःसारे उदेति स्वयमेव हि।
वैराग्यमरणिं कृत्वा ज्ञानं कृत्वा तु चित्रगुम् ॥28॥
गाढतामिस्त्रसंशान्त्यै गूढमर्थं निवेदयेत्।
मोहभानुजसंक्रान्तं विवेकाख्यं मृकण्डुजम् ॥29॥
तत्त्वाविचारपाशेन बद्धं द्वैतभयातुरम्।
उज्जीवयन्निजानन्दे स्वस्वरूपेण संस्थितः ॥30॥

भगवान् के दर्शन के लिए ज्ञान, भक्ति और वैराग्य की आवश्यकता होती है। इनके आने से तुरन्त अज्ञानरूपी अन्धकार नष्ट हो जाता है और आत्मदीपक स्वयं प्रकाशित हो उठता है। अपने ज्ञानदण्ड से वैराग्यरूपी अरणी में मन्थन (चिन्तन-मनन) करके अज्ञानरूपी अन्धकार का नाश करने के लिए रहस्यमय अर्थ को (परमात्म तत्त्व को) जानने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। उस परमतत्त्व का दर्शन, अविरत ज्ञान-वैराग्य के परिपालन और चिन्तन-मनन से ही संभव है। परमतत्त्व के विषय में चिन्तन न करना ही पाश है। उस पाश में बँधे हुए द्वैतवाद से भयभीत और मोहरूपी शनि (मृत्यु) के मुख में गए हुए विवेकरूपी मार्कण्डेय को वह परमतत्त्व का चिन्तन फिर से जीवन देते हुए अर्थात् आत्मतत्त्व का बोध कराते हुए परमात्मा के परमानन्द में (स्वरूपानन्द में) ही स्थिर कर देता है।

शेमुषी दक्षिणा प्रोक्ता सा यस्याभीक्षणे मुखम्।
दक्षिणाभिमुखः प्रोक्तः शिवोऽसौ ब्रह्मवादिभिः ॥31॥
सर्गादिकाले भगवान्विरिञ्चिरुपास्यैनं सर्गसामर्थ्यमाप्य। तुतोष चित्ते वाञ्छितार्थांश्च लब्ध्वा धन्यः सोऽस्योपासको भवति धांता ॥32॥

य इमां परमरहस्यशिवतत्त्वविद्यामधीते स सर्वपापेभ्यो मुक्तो भवति । य एवं वेद स कैवल्यमनुभवतीत्युपनिषत् ॥33॥

इति दक्षिणामूर्त्युपनिषत्समाप्ता ।

ब्रह्मप्रकाशक तत्त्वज्ञानरूपी बुद्धि को ही 'दक्षिणा' कहा जाता है । वही ब्रह्मसाक्षात्कार का मुख (द्वार) है । इसीलिए ब्रह्मज्ञानियों ने इसी को दक्षिणामुख शिव (दक्षिणामूर्ति शिव) कहा है । सृष्टि के प्रारंभ में प्रजापति ब्रह्माजी ने इन्हीं की उपासना की थी और इसी से शक्ति प्राप्त करके सृष्टि की रचना रूप अपने मनोरथ को पूरा किया था और प्रसन्न हुए थे । इसीलिए प्रजापति ब्रह्मा उनके उपासक हैं । शिवतत्त्व रूप इस गोपनीय विद्या को जो पढ़ता रहता है, वह सभी पापों से मुक्त हो जाता है । और इसको ठीक तरह से पहचानने वाला एवं चिन्तनमनन करने वाला मनुष्य मोक्ष को प्राप्त होता है, ऐसी यह उपनिषद् है ।

यहाँ दक्षिणामूत्युपनिषद् पूरी होती है ।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु । सह नौ⋯⋯मा विद्विषावहै । (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

❋

(51) शरभोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

यह अथर्ववेदीय उपनिषद् है । पिप्पलाद मुनि ने एक बार ब्रह्मा से पूछा कि 'हे भगवन् । आप जो ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीन देव हैं, उनमें बड़ा कौन है ?' तब ब्रह्मा नें उत्तर दिया कि 'अनेक पुण्यों को करने वाला ही परमेश्वर को जान सकता है । उसी परमेश्वर ने पहले मेरा सर्जन करके मुझे सारा जगत् उत्पन्न करने की प्रेरणा दी है । वह परमेश्वर विष्णु के भी पिता हैं । और वही परमेश्वर प्रलयकाल में रुद्र के रूप से सभी प्राणियों का संहार करते हैं । वह परमेश्वर ही सबसे श्रेष्ठ हैं । वही परमेश्वर 'शरभ' नाम के अति बलशाली प्राणी का देह धारण करते हैं और वही शरभ रुद्र का रूप धारण करके हालाहल विष भी पी जाते हैं, और दक्ष के यज्ञ का नाश करते हैं । वह 'शरभ' देहधारी ब्रह्म ही है । 'शर' जीव को कहते हैं और 'भ' का अर्थ 'भासमान' होता है । शर ÷ भ = अर्थात् जीव जिसमें भासमान होता है, वह ब्रह्म । वही परमेश्वर है ।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः''''''देवहितं यदायुः । (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (अथर्वशिर उपनिषद् में) द्रष्टव्य है ।

अथ हैनं पैप्पलादो ब्रह्माणमुवाच भो भगवन् ब्रह्मविष्णुरुद्राणां मध्ये को वाऽधिकतरो ध्येयः स्यात्तत्त्वमेव नो ब्रूहीति ॥1॥

एक बार पैप्पलाद ऋषि ने प्रजापति ब्रह्माजी से पूछा—'हे भगवन् ! ब्रह्मा, विष्णु और महेश में से कौन देव सर्वश्रेष्ठ और पूजनीय है' ?

तस्मै स होवाच पितामहश्च हे पैप्पलाद शृणु वाक्यमेतत् ॥2॥
बहूनि पुण्यानि कृतानि येन तेनैव लभ्यः परमेश्वरोऽसौ ।
यस्याङ्गजोऽहं हरिरिन्द्रमुख्या मोहान्न जानन्ति सुरेन्द्रमुख्याः ॥3॥
प्रभुं वरेण्यं पितरं महेशं यो ब्रह्माणं विदधाति तस्मै ।
वेदांश्च सर्वान्प्रहिणोति चाग्र्यं तं वै प्रभुं पितरं देवतानाम् ॥4॥
ममापि विष्णोर्जनकं देवमीड्यं योऽन्तकाले सर्वलोकान् संजहार । स एकः श्रेष्ठश्च सर्वशास्ता स एव वरिष्ठश्च ॥5॥

तब प्रजापति बोले—हे पैप्पलाद ! जो मैं कह रहा हूँ उसे सुनो । जिनके अंग से मैं भी उत्पन्न हुआ हूँ, ऐसे परमेश्वर को तो वही मनुष्य जान सकता है, जिसने बहुत पुण्य किये हों । उनको तो विष्णु और इन्द्र जैसे देव भी मोह के वश में आकर नहीं जान सकते । जिन परमात्मा ने सबसे पहले ब्रह्मा

को उत्पन्न किया उन्हीं को तुम वरण करने योग्य, प्रभु, पिता, श्रेष्ठ जानो। और वही वेदों के प्रेरक परमात्मा हैं। वे ही सबके प्रभु और देवताओं के भी प्रभु हैं। वे प्रभु मेरे और विष्णु के भी पिता हैं। वे ही अन्तिम काल में (प्रलय काल में) समग्र विश्व का विनाश करते हैं। उन देव को नमस्कार है। वे ही देव एकमात्र समग्र विश्व के नियामक, श्रेष्ठ और वरिष्ठ हैं।

यो घोरं वेषमास्थाय शरभाख्यं महेश्वरः ।
नृसिंहं लोकहन्तारं सञ्जघान महाबलः ॥6॥
हरिं हरन्तं पादाभ्यामनुयान्ति सुरेश्वराः ।
मा वधीः पुरुषं विष्णुं विक्रमस्व महानसि ॥7॥
कृपया भगवान्विष्णुं विददार नखैः खरैः ।
चर्माम्बरो महावीरो वीरभद्रो बभूव ह ॥8॥
स एको रुद्रो ध्येयः सर्वेषां सर्वसिद्धये ।
यो ब्रह्मणः पञ्चमवक्त्रहन्ता तस्मै रुद्राय नमो अस्तु ॥9॥

ऐसे महाबलिष्ठ महेश्वर ने शरभ का भयंकर वेश धारण करके नृसिंह को मार दिया (सृष्टि का सर्जन करने वाले परमेश्वर के शक्तिप्रवाह को नृसिंहतापनी उपनिषद् में 'नृसिंह' कहा गया है और इसी से जीवों को उत्पन्न करने वाले नृसिंह हुए और बाद में उसी नृसिंह को 'शर' कहा गया है और उन 'शर' को मुक्ति देने वाले 'शरभ' ऐसा अर्थ होता है)। सर्वेश्वर भगवान् रुद्र ने जब पैरों को पकड़कर हरण किया, तब सभी देवों ने उनसे प्रार्थना की थी कि हे भगवन्! विष्णु पुरुष का वध न कीजिए। आप महान् हैं। आपकी जय हो। तब देवों के ऊपर मानो कृपा करते हों, इस तरह उन्होंने अपने तीक्ष्ण नखों के द्वारा विष्णु को चीर डाला। और तब वह चर्मवस्त्रधारी महावीर रुद्र 'वीरभद्र' कहलाने लगे। इस प्रकार वह अकेले रुद्र भगवान् ही सभी प्राणियों के लिए सभी प्रकार की सिद्धियों को प्राप्त करने के लिए ध्यान करने योग्य हैं, जिन्होंने ब्रह्मा के पाँचवें मुख का नाश कर दिया था। उनको नमस्कार है।

यो विस्फुलिङ्गेन ललाटजेन सर्वं जगद्भस्मसात्सङ्करोति ।
पुनश्च सृष्ट्वा पुनरप्यरक्षदेवं स्वतन्त्रं प्रकटीकरोति ।
तस्मै रुद्राय नमो अस्तु ॥10॥
यो वामपादेन जघान कालं घोरं पपेऽथो हालाहलं दहन्तम् ।
तस्मै रुद्राय नमो अस्तु ॥11॥
यो वामपादार्चितविष्णुनेत्रस्तस्मै ददौ चक्रमतीव हृष्टः ।
तस्मै रुद्राय नमो अस्तु ॥12॥
यो दक्षयज्ञे सुरसङ्घान्विजित्य विष्णुं बबन्धोरगपाशेन वीरः ।
तस्मै रुद्राय नमो अस्तु ॥13॥

जो अपने ललाट से उत्पन्न अंगारे से समस्त जगत् को जला देने वाले हैं और फिर से उसका सर्जन करके पालन-पोषण भी करते हैं, ऐसे रुद्र भगवान् को नमस्कार हो। जो अपने बाँये पैर से भयंकर काल को मार देते हैं, जिन्होंने धधकते हुए हालाहल विष को भी पी लिया था ऐसे भगवान् रुद्र को नमस्कार हो। जिनके बाँये पैर पर विष्णु ने अपने नेत्र भी समर्पित कर दिए थे, और उससे प्रसन्न होकर जिन्होंने उन विष्णु भगवान् को चक्र दिया था, ऐसे भगवान् रुद्र को नमस्कार हो। जिन्होंने दक्ष के यज्ञ में सभी देवताओं को हरा दिया था और विष्णु को अपने नागपाश में भी बाँध रखा था, ऐसे महाबलशाली भगवान् रुद्र को नमस्कार हो।

यो लीलयैव त्रिपुरं ददाह विष्णुं कविं सोमसूर्याग्निनेत्रः।
सर्वे देवाः पशुतामवापुः स्वयं तस्मात्पशुपतिर्बभूव।
तस्मै रुद्राय नमो अस्तु ॥14॥
यो मत्स्यकूर्मादिवराहसिंहान्विष्णुं क्रमन्तं वामनमादिविष्णुम्।
विविक्लवं पीड्यमानं सुरेशं भस्मीचकार मन्मथं यमं च॥
तस्मै रुद्राय नमो अस्तु ॥15॥

जिन्होंने खेल-खेल में ही (बाँये हाथ के खेल की तरह) त्रिपुरासुर को खत्म कर दिया था, जिनके सूर्य-चन्द्र-अग्नि—ये तीन नेत्र हैं, सभी देवता जिनके सामने पशु समान वशवर्ती बन गये हैं और इसी से जो पशुपति कहलाने लगे हैं, ऐसे भगवान् रुद्र को नमस्कार हो। भगवान् विष्णु के मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन आदि अवतारों के जो प्रवर्तक हैं, जिन्होंने इन्द्र को भी थकाकर पीड़ित कर दिया था, जिन्होंने कामदेव और यमराज को जलाकर भस्म कर दिया, ऐसे भगवान् रुद्र को नमस्कार हो।

एवं प्रकारेण बहुधा प्रतुष्ट्वा क्षमापयामासुर्नीलकण्ठं महेश्वरम् ॥16॥
तापत्रयसमुद्भूतजन्ममृत्युजरादिभिः।
नानाविधानि दुःखानि जहार परमेश्वरः ॥17॥
एवमङ्गीकरोच्छिवः प्रार्थनं सर्वदेवानाम्।
शङ्करो भगवानाद्यो ररक्ष सकलाः प्रजाः ॥18॥
यत्पादाम्भोरुहद्वन्द्वं मृग्यते विष्णुना सह।
स्तुत्वा स्तुत्यं महेशानमवाङ्मनसगोचरम्।
भक्त्या नम्रतनोर्विष्णोः प्रसादमकरोद्विभुः ॥19॥

इस प्रकार से अनेक विधि से देवताओं ने प्रार्थना करके भगवान् नीलकण्ठ महेश्वर से क्षमा-याचना की थी, तब उन परमेश्वर ने तीनों तरह के ताप (आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक) तथा जन्म-मृत्यु-जरा आदि अनेक प्रकार के कष्टों का विनाश कर दिया था। इस तरह देवताओं की अनेकानेक प्रकार की स्तुतियाँ सुनकर, उनको स्वीकार करके आदिदेव भगवान् शंकर प्रसन्न हो गए और उन्होंने सभी प्रजाओं का रक्षण किया। जो परमेश्वर सभी प्रकार की प्रार्थनाओं के लिए योग्य हैं, फिर भी जो मन और वाणी से परे ही हैं, भगवान् विष्णु भी जिनके चरणकमलों को प्राप्त करने की इच्छा करते हैं, ऐसे भगवान् महेश्वर, विष्णु की भक्तिपूर्वक की गई वन्दना से प्रसन्न हो गए।

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कदाचनेति ॥20॥
अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम् ॥21॥

जिस ब्रह्म से (ब्रह्मानुभूति से) मन के साथ वाणी भी उसे प्राप्त किए बिना वापिस लौट जाती है, उस आनन्दस्वरूप ब्रह्म का बोध (अनुभूति) करने वाला विद्वान् कभी किसी से डरता नहीं है। परमात्मचैतन्य इस जीवात्मा की हृदयगुफा में, अणु से भी अणु (अतिसूक्ष्म) और महान् से भी महान् रूप में विराजमान है। उसको तो कोई निष्काम कर्म करने वाले और शोकरहित विरल मनुष्य ही विधाता (परमात्मा) के अनुग्रह से देख पाते हैं।

वसिष्ठवैयासकिवामदेवविरिञ्चिमुख्यैर्हृदि भाव्यमानः ।
सनत्सुजातादिसनातनाद्यैरीड्यो महेशो भगवानादिदेवः ॥22॥
सत्यो नित्यः सर्वसाक्षी महेशो नित्यानन्दो निर्विकल्पो निराख्यः ।
अचिन्त्यशक्तिर्भगवान्गिरीशः स्वाविद्यया कल्पितमानभूमिः ॥23॥
अतिमोहकरी माया मम विष्णोश्च सुव्रत ।
तस्य पादाम्बुजध्यानाद्दुस्तरा सुतरा भवेत् ॥24॥

वसिष्ठ, वामदेव, विरञ्चि (ब्रह्मा) और शुकदेव जैसे ऋषि जिन भगवान् का अविरत ध्यान किया करते हैं और सनत्सुजात, सनातन आदि ऋषि जिन भगवान् की स्तुति किया करते हैं, ऐसे भगवान् महेश्वर ही आदिदेव हैं। उन भगवान् गिरीश की शक्ति के विषय में कोई भी कुछ जान नहीं सकता। ये प्रभु ही सत्य हैं, नित्य हैं, सर्व के साक्षी हैं, महेश्वर हैं, विकल्परहित हैं, नित्यानन्दस्वरूप हैं, अकथनीय हैं। वे ही अपनी अविद्या के द्वारा तरह-तरह से बार-बार कल्पित किये जाते हैं। हे सुव्रत मुनि ! उनकी माया मुझ ब्रह्मा को तथा विष्णु को भी बहुत मोह में डालने वाली है। इससे निकल पाना बहुत ही मुश्किल है। परन्तु उनके चरणकमलों के ध्यान से वह दुस्तर माया भी सरलता से पार की जा सकती है।

विष्णुर्विश्वजगद्योनिः स्वांशभूतैः स्वकैः सह ।
ममांशसम्भवो भूत्वा पालयत्यखिलं जगत् ॥25॥
विनाशं कालतो याति ततोऽन्यत्सकलं मृषा ।
ॐ तस्मै महाग्रासाय महादेवाय शूलिने ।
महेश्वराय मृडाय तस्मै रुद्राय नमो अस्तु ॥26॥
एको विष्णुर्महद्भूतं पृथग्भूतान्यनेकशः ।
त्रींल्लोकान्व्याप्य भूतात्म भुङ्क्ते विश्वभुगव्ययः ॥27॥

इस समग्र जगत् को उत्पन्न करने वाले भगवान् विष्णु हैं। वे विष्णु अपने ही अंशभूत सकल प्राणियों के साथ, स्वयं मेरे (ब्रह्मा के) अंश में उद्भूत होकर समग्र जगत् का पालन-पोषण करते हैं। और कालक्रमानुसार सब कुछ विनष्ट हो जाता है (यह नियम है) और इसीलिए यह सब कुछ मिथ्या ही है। अतः उन सभी को 'महाग्रास' बनाने वाले शूलधारी महादेव को, कृपा करने वाले महेश्वर को, रुद्र को नमस्कार हो। एकमात्र भगवान् विष्णु ही अनेक भूतमय सृष्टि में सबसे अलग, महान् और अद्भुत हैं। वे यद्यपि सभी भूतों और प्राणियों में परिव्याप्त होकर भाँति-भाँति के भोगों का उपभोग करते हैं, फिर भी वे अव्यय ही हैं – निर्लेप और अक्षय ही हैं।

चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च द्वाभ्यां पञ्चभिरेव च ।
हूयते च पुनर्द्वाभ्यां स मे विष्णुः प्रसीदतु ॥28॥
ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥29॥
शरा जीवास्तदङ्गेषु भाति नित्यं हरिः स्वयम् ।
ब्रह्मैव शरभः साक्षान्मोक्षदोऽयं महामुने ॥30॥

उन भगवान् विष्णु को चार-चार, दो-दो और पाँच-पाँच तथा फिर से दो-दो आहुतियाँ अर्पण की जाती हैं, वे भगवान् विष्णु मुझ पर प्रसन्न हों। ब्रह्म को अर्पित किया हुआ हवि भी ब्रह्मरूप ही है,

अर्पण क्रिया भी ब्रह्मरूप ही है, जिसमें वह डाली जाती है, वह अग्नि भी ब्रह्मरूप ही है और होम करने वाला भी ब्रह्मरूप ही है। और गन्तव्य (प्राप्तव्य-लक्ष्यस्थान) भी तो ब्रह्म ही है। इसलिए समाधिस्थ उन ब्रह्मरूप कर्मों में संयतचित्त मनुष्य के द्वारा ब्रह्म ही प्राप्त होता है। (अर्थात् स्रुव, घी, अग्नि, यज्ञकर्ता और यज्ञक्रिया क्रमशः सभी ब्रह्मरूप हैं)। हे मुनिश्रेष्ठ ! जिस जीव के अंगों में साक्षात् भगवान् हरि नियत (अनवरत) प्रकाशमान हो रहे हैं, वह जीव ही 'शर' कहा जाता है, और भगवान् की भासमानता के कारण ही वह 'शरभ' (शरान् भासयति इति शरभः) कहलाता है।

मायावशादेव देवा मोहिता ममतादिभिः।
तस्य माहात्म्यलेशांशं वक्तुं केनाप्यशक्यते ॥31॥
परात्परतरं ब्रह्म यत्परात्परतो हरिः।
परात्परतरो हीशस्तस्मात्तुल्योऽधिको न हि ॥32॥
एक एव शिवो नित्यस्ततोऽन्यत्सकलं मृषा।
तस्मात्सर्वान्परित्यज्य ध्येयान्विष्ण्वादिकान्सुरान् ॥33॥
शिव एव सदा ध्येयः सर्वसंसारमोचकः।
तस्मै महाग्रासाय महेश्वराय नमः ॥34॥

जिनकी माया से देवगण भी विमोहित हो जाते हैं, उनकी महिमा के विषय में थोड़ा-सा भी कहने के लिए भला कौन समर्थ हो सकता है ? जो पर से भी परब्रह्म है उससे परे हरि हैं, और हरि से भी जो परे हैं, वे 'ईश' हैं। इसलिए कोई भी उनके समान नहीं है और उनसे बड़ा भी कोई नहीं है। (जगत् नश्वर है उससे परे ईश्वर=अनश्वर को पूर्ण कहते हैं, उससे परे ब्रह्म—विस्तार 'पूर्ण' कहा गया है और इससे परे 'हरि' को पूर्ण कहा गया है इसलिए हरि को यहाँ 'परात्पर' कहा है)। शिव ही एकमात्र नित्य हैं। शिवेतर सब कुछ मिथ्या है। इसलिए विष्णु आदि सभी देवताओं का त्याग करके संसारूपी बन्धन से मुक्त करने वाले एकमात्र शिव भगवान् का ही ध्यान (चिन्तनमनन) करते रहना चाहिए। ऐसे संसाररूपी बन्धन से छुटकारा देने वाले और सभी को अपना ग्रास बनाने वाले अर्थात् प्रलयकाल में अपने में समा लेने वाले उन भगवान् महेश्वर को हमारा नमस्कार हो।

पैप्पलादं महाशास्त्रं न देयं यस्य कस्यचित्।
नास्तिकाय कृतघ्नाय दुर्वृत्ताय दुरात्मने ॥35॥
दाम्भिकाय नृशंसाय शठायानृतभाषिणे।
सुव्रताय सुभक्ताय सुवृत्ताय सुशीलिने ॥36॥
गुरुभक्ताय दान्ताय शान्ताय ऋजुचेतसे।
शिवभक्ताय दातव्यं ब्रह्मकर्मोक्तधीमते ॥37॥
स्वभक्तायैव दातव्यमकृतघ्नाय सुव्रत।
न दातव्यं सदा गोप्यं यत्नेनैव द्विजोत्तम ॥38॥

ऋषि पैप्पलाद द्वारा प्राप्त किया गया यह महाशास्त्र किसी अपरीक्षित मनुष्य को नहीं देना चाहिए। जो कृतघ्न, नास्तिक, दुराचारी, नीच वृत्तिवाला, दम्भी, असत्यभाषी, शठ और नृशंस हो उसको कभी भी नहीं देना चाहिए। परन्तु, जो सच्चा भक्त हो, शुद्ध वृत्ति वाला हो, सुशील, गुरुभक्त, शुभसंकल्पयुक्त, संयमी, धार्मिक बुद्धिवाला हो, शिवभक्त हो, ब्रह्मकर्म में मन लगाने वाला हो, जो स्वयं में भक्ति रखने वाला हो, जो कृतघ्न न हो, ऐसे साधक को इसका उपदेश करना चाहिए। हे

द्विजोत्तम ! यदि ऐसा साधक न मिले तो हे सुव्रत ! यह सदा ही अपने पास गोपनीय रखना चाहिए और किसी को नहीं देना चाहिए।

एतत्पैप्पलादं महाशास्त्रं योऽधीते श्रावयेद्द्विजः । स जन्ममरणेभ्यो मुक्तो भवति । यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति । गर्भवासाद्विमुक्तो भवति । सुरापानात्पूतो भवति । स्वर्णस्तेयात्पूतो भवति । ब्रह्महत्यात्पूतो भवति । गुरुतल्पगमनात्पूतो भवति । स सर्वान् वेदानधीतो भवति । स सर्वान् देवान् ध्यातो भवति । स समस्तमहापातकोपपातकात्पूतो भवति । तस्मादविमुक्तमाश्रितो भवति । स सततं शिवप्रियो भवति । स शिवसायुज्यमेति । न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तते । ब्रह्मैव भवति । इत्याह भगवान् ब्रह्मेत्युपनिषत् ।।39।।

इति शरभोपनिषत्समाप्ता ।

इस पैप्पलाद महाशास्त्र को जो मनुष्य स्वयं पढ़ता रहता है और अन्य द्विजों को सुनाता रहता है, वह जन्ममरण के फेरों से बच जाता (छूट जाता) है। इसको जानने वाला अमृतत्व को प्राप्त होता है और गर्भवास से मुक्ति प्राप्त कर लेता है। वह सुरापान से उत्पन्न पाप से छूटकर पवित्र हो जाता है। वह सुवर्ण की चोरी के पाप से भी मुक्त (पवित्र) हो जाता है। वह ब्रह्महत्या, गुरुस्त्रीगमन जैसे महापातकों से मुक्त होकर पवित्र हो जाता है। वह सभी वेदों के अध्ययन का फल प्राप्त कर लेता है। वह सभी महापातक और उपपातकों से मुक्त होकर निर्मल हो जाता है। वह सभी पापों से छूटकर शिव का आश्रित हो जाता है। वह शिव के लिए सदैव सतत प्रिय रहता है। वह शिवसायुज्य प्राप्त कर लेता है। वह यहाँ पुनर्जन्म धारण नहीं करता। वह ब्रह्मरूप हो जाता है। इस तरह ब्रह्माजी द्वारा कही गई यह उपनिषद् है।

यहाँ शरभोपनिषत् पूरी हुई ।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः......देवहितं यदायुः । (पूर्ववत्)

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।।

❋

(52) स्कन्दोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

यह उपनिषद् कृष्णयजुर्वेद की परम्परा की है। मात्र 15 मन्त्रों वाली इस उपनिषत् में विष्णु तथा शिव तथा शिव और जीव में एकता बताई गई है। शरीर को शिवमन्दिर का रूप देकर उसकी उपेक्षा नहीं करने को कहा गया है और मन्दिर की ही तरह शरीर को साफ-सुथरा तथा सुन्दर रखने का निर्देश किया गया है। उपनिषत् कहती है कि भेदहीन दृष्टि ही ज्ञान है, मन की निर्विषयता ही ध्यान है, मन की निर्मलता ही स्नान है, इन्द्रियनिग्रह ही शौच है। ऐसा कहकर आध्यात्मदर्शन को व्यावहारिक रूप देने का यहाँ ऋषि ने प्रयत्न किया है। एक दिशा बताई है। अन्त में इस उपनिषद् के उपदेश को आत्मसात् करने का महत्त्व बताया है।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ...... मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (ब्रह्मोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

अच्युतोऽस्मि महादेव तव कारुण्यलेशतः।
विज्ञानघन एवास्मि शिवोऽस्मि किमतः परम्॥1॥

हे महादेव! आपकी लवमात्र कृपा प्राप्त करने पर ही जब मैं अच्युत (अपवित्र – अविचलित) तथा विज्ञानघन (विशिष्टज्ञानपुंज) और शिवस्वरूप (कल्याणमय) बन गया हूँ तब इससे अधिक और भला क्या चाहिए? (अर्थात् कुछ नहीं चाहिए)।

न निजं निजवद्भात्यन्तःकरणजृम्भणात्।
अन्तःकरणनाशेन संविन्मात्रस्थितो हरिः॥2॥

जब साधक अपने अन्तःकरण का विकास करके सभी को अपने समान प्रकाशमान मानने लगता है, तब उसका अन्तःकरण (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार) नष्ट हो जाता है और वहाँ एकमात्र परमेश्वर का ही अस्तित्व शेष रह जाता है।

संविन्मात्रस्थितश्चाहमजोऽस्मि किमतः परम्।
व्यतिरिक्तं जडं सर्वं स्वप्नवच्च विनश्यति॥3॥

'मैं सविन्मात्र आत्मरूप अकेला ही हूँ। और मैं अजन्मा हूँ'—इस अनुभव से परे और कौन-सा अनुभव हो सकता है? आत्मा के अतिरिक्त जगत् तो जड है, स्वप्न जैसा है और विनाशशील ही है।

चिज्जडानां तु यो द्रष्टा सोऽच्युतो ज्ञानविग्रहः।
स एव हि महादेवः स एव हि महाहरिः॥4॥

जो जड-चेतन सबका द्रष्टा (साक्षी) है, वही अच्युत (अटल – शाश्वत) और ज्ञानस्वरूप है। वही महादेव है और वही महाहरि है (महापाप का हरण करने वाला है)।

स एव ज्योतिषां ज्योतिः स एव परमेश्वरः ।
स एव हि परं ब्रह्म तद्ब्रह्माहं न संशयः ॥5॥

वही ज्योतियों का भी ज्योति है (मूल ज्योति है)। वही परब्रह्म है, वही परमात्मा है। और मैं वही परब्रह्म-परमात्मा हूँ, इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है।

जीवः शिवः शिवो जीवः स जीवः केवलः शिवः ।
तुषेण बद्धो व्रीहिः स्यात् तुषाभावेन तण्डुलः ॥6॥
एवं बद्धस्तथा जीवः कर्मनाशे सदाशिवः ।
पाशबद्धस्तथा जीवः पाशमुक्तः सदाशिवः ॥7॥

जीव ही शिव है और शिव ही जीव है। यह जीव विशुद्ध शिव ही है। जैसे धान पर छिलका लगा रहने पर वह 'व्रीहि' कहा जाता है और छिलका उतर जाने पर वही चावल कहलाता है, ठीक उसी प्रकार यह जीव और शिव का स्वरूप है। (जीव पर अज्ञान का छिलका=आवरण लगा हुआ है, शिव पर वह नहीं है)। इस प्रकार बन्धन में बँधा हुआ चैतन्यतत्त्व जीव होता है और जब प्रारब्ध कर्म नष्ट हो जाते हैं, तब वही सदाशिव हो जाता है। अथवा अन्य शब्दों में कहें तो पाश से बँधा हुआ चैतन्य जीव कहलाता है, जब कि पाशमुक्त हो जाने से वही सदाशिव हो जाता है।

शिवाय विष्णुरूपाय शिवरूपाय विष्णवे ।
शिवस्य हृदयं विष्णुर्विष्णोश्च हृदयं शिवः ॥8॥
यथा शिवमयो विष्णुरेवं विष्णुमयः शिवः ।
यथाऽन्तरं न पश्यामि तथा मे स्वस्तिरायुषि ।
यथाऽन्तरं न भेदाः स्युः शिवकेशवयोस्तथा ॥9॥

भगवान् शिव ही भगवान् विष्णुरूप हैं और भगवान् विष्णु ही भगवान् शिवस्वरूप हैं। शिव का हृदय विष्णु है और विष्णु का हृदय शिव है। (शिव के हृदय में विष्णु का और विष्णु के हृदय में शिव का वास है)। जिस प्रकार विष्णुदेव शिवमय (शिवरूप) है, उसी प्रकार शिवदेव विष्णुमय (विष्णस्वरूप) ही हैं। जब मुझे इन दोनों में कुछ अन्तर ही नहीं दिखाई पड़ता, तब मैं इस शरीर में ही कल्याणरूप हो जाता हूँ। शिव और केशव में कुछ भी भेद है ही नहीं।

देहो देवालयः प्रोक्तः स जीवः केवलः शिवः ।
त्यजेदज्ञाननिर्माल्यं सोऽहंभावेन पूजयेत् ॥10॥
अभेददर्शनं ज्ञानं ध्यानं निर्विषयं मनः ।
स्नानं मनोमलत्यागः शौचमिन्द्रियनिग्रहः ॥11॥
ब्रह्मामृतं पिबेद्भैक्षमाचरेद्देहरक्षणे ।
वसेदेकान्तिको भूत्वा चैकान्ते द्वैतवर्जिते ॥
इत्येवमाचरेद्धीमान् स एवं मुक्तिमाप्नुयात् ॥12॥

तत्त्वज्ञानियों के द्वारा इस देह को ही देवालय कहा गया है और उसमें स्थित जीव केवल शिवस्वरूप ही है। मनुष्य जब अपने अज्ञानरूपी निर्माल्य को छोड़ देता है तब उसे 'सोऽहं' भाव से

उन शिव का पूजन करना चाहिए। सभी प्राणियों में ब्रह्म का अभिन्न भाव से ही साक्षात्कार करना ही यथार्थ (पारमार्थिक) ज्ञान कहलाता है ! और मन का विषयों के लगाव से रहित होना ही सही ध्यान कहलाता है। मन के विकारों का त्याग करना ही सच्चा स्नान कहलाता है। और इन्द्रियों को अपने वश में रखना ही सच्चा शौच कहलाता है। ब्रह्मज्ञानरूपी अमृत का पान करना चाहिए। केवल शरीरयात्रा के लिए ही उपार्जन (भोजन) करना चाहिए। एक परमात्मा में ही तल्लीन होकर द्वैतभाव से त्यागपूर्वक एकान्त में रहना चाहिए। जो धीर पुरुष इस प्रकार का आचरण करता है, वही मुक्ति को प्राप्त कर सकता है।

श्रीपरमधाम्ने स्वस्ति चिरायुष्योन्नम इति। विरिञ्चिनारायणशङ्करात्मकं नृसिंह देवेश तव प्रसादतः। अचिन्त्यमव्यक्तमनन्तमव्ययं वेदात्मकं ब्रह्म निजं विजानते ॥13॥
तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम् ॥14॥
तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते। विष्णोर्यत् परमं पदम्।
इत्येतन्निर्वाणानुशासनमिति वेदानुशासनमित्युपनिषत् ॥15॥

इति स्कन्दोपनिषत्समाप्ता।

श्रीपरमधामस्वरूप – ब्रह्मा, विष्णु और शिव को नमस्कार हो। हमारा कल्याण हो। हमें लम्बी आयु की प्राप्ति हो, हे विरंचि-नारायण-शंकररूप नृसिंह देव ! आपके अनुग्रह से उस अचिन्त्य, अनन्त, अव्यक्त, अविनाशी, वेदस्वरूप ब्रह्म को हम स्वयं की आत्मा में ही अब जानने लगे हैं। ऐसे ब्रह्मज्ञ मनुष्य भगवान् विष्णु के उस परमपद को हमेशा ही ध्यानमग्न होकर देखा करते हैं। वे लोग अपनी.आँखों में उस दिव्यता को अवस्थित कर देते हैं। ऐसे विद्वान् लोग भगवान् विष्णु का जो परमपद है, उसको प्राप्त करके उसमें तल्लीन हो जाते हैं। यह निर्वाणपद का अनुशासन है। यही वेद का अनुशासन है। इस प्रकार यह रहस्य ज्ञान है।

यहाँ स्कन्दोपनिषद् पूरी हुई।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ······मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(53) त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

यह अथर्ववेदीय उपनिषद् है। इसके आठ अध्याय हैं। इसका दूसरा नाम महानारायणोपनिषद् भी कहा जाता है। परमतत्त्व के जिज्ञासु ब्रह्मा ने विष्णु से उसके बारे में पूछा। तब विष्णु ने किसी पूर्व गुरु द्वारा अपने शिष्य को दिए हुए उपदेश का स्मरण करते हुए कहा कि—'ब्रह्म त्रिकालाबाधित, आदिमध्यरहित, सगुणनिर्गुण, अनन्त, अप्रमेय, अखंड, सर्वव्यापक, परिपूर्ण, सच्चिदानन्द, स्वयंप्रकाश, अवाङ्मनसगोचर एवं चैतन्य हैं। उसके अविद्या, विद्या, आनन्द और तुरीय—ये चार पाद हैं। पहला पाद जगदाकार है। वह अशुद्ध है। शेष के तीन पाद शुद्ध हैं। जगदाकार अविद्यापाद की अशुद्धियों का वर्णन इस उपनिषद् में अच्छी तरह बताकर के शुद्ध पादों की ओर प्रयाण करने का मार्ग भी बताया है। उत्कृष्ट पुण्यों के परिपाक से सत्पुरुषों का समागम, बाद में विवेक, फिर सदाचरण-प्रवृत्ति, पापक्षय, चित्तशुद्धि, सद्गुरु की प्राप्ति, अनुग्रह, उपदेश, श्रवण-मनन-निदिध्यासन, श्रद्धा, ग्रन्थिनाश, तृष्णानाश और हृदय में परमतत्त्व का आविर्भाव—इस क्रम से मनुष्य (साधक) ज्ञान-भक्ति-वैराग्य से परिपक्व होकर जीवन्मुक्त हो जाता है—यह यहाँ भलीभाँति बताया गया है। बाद में गुरु के प्रति शिष्य की कृतज्ञता और आदर को बताया है। ब्रह्माजी भी विष्णु के दिए हुए इस ज्ञान से प्रसन्न हुए।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः.........देवहितं यदायुः। (पूर्ववत्)

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (अथर्वशिर उपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

प्रथमोऽध्यायः

अथ परमतत्त्वरहस्यं जिज्ञासुः परमेष्ठी देवमानेन सहस्रसंवत्सरं तपश्चचार। सहस्रवर्षेऽतीतेऽत्युग्रतीव्रतपसा प्रसन्नं भगवन्तं महाविष्णुं ब्रह्मा परिपृच्छति भगवन् परमतत्त्वरहस्यं मे ब्रूहीति। परमतत्त्वरहस्यवक्ता त्वमेव नान्यः कश्चिदस्ति। तत् कथमिति। तदेवोच्यते। त्वमेव सर्वज्ञः। त्वमेव सर्वशक्तिः। त्वमेव सर्वाधारः। त्वमेव सर्वस्वरूपः। त्वमेव सर्वेश्वरः। त्वमेव सर्वप्रवर्तकः। त्वमेव सर्वपालकः। त्वमेव सर्वनिवर्तकः। त्वमेव सदसदात्मकः। त्वमेव सदसद्विलक्षणः। त्वमेवान्तर्बहिर्व्यापकः। त्वमेवातिसूक्ष्मतरः। त्वमेवातिमहतो महीयान्। त्वमेव महामूलाविद्याविरहः। त्वमेव महामूलाविद्याविवर्तकः। त्वमेव सर्वमूलाविद्यानिवर्तकः।

त्वमेवाविद्याविहारः। त्वमेवाविद्याधारकः। त्वमेव विद्यावेद्यः। त्वमेव विद्यास्वरूपः। त्वमेव विद्याऽतीतः। त्वमेव सर्वकारणहेतुः। त्वमेव सर्वकारणसमष्टिः। त्वमेव सर्वकारणव्यष्टिः। त्वमेवाखण्डानन्दः। त्वमेव परिपूर्णानन्दः। त्वमेव निरतिशयानन्दः। त्वमेव तुरीयतुरीयः। त्वमेव तुरीयातीतः। त्वमेवानन्तोपनिषद्विमृग्यः। त्वमेवाखिलशास्त्रैर्विमृग्यः। त्वमेव ब्रह्मेशानपुरन्दरपुरोगमैरखिलामरैरखिलागमैर्विमृग्यः। त्वमेव सर्वमुमुक्षुभिर्विमृग्यः। त्वमेवामृतमयैर्विमृग्यः। त्वमेवामृतमयस्त्वमेवा-मृतमयस्त्वमेवामृतमयः। त्वमेव सर्वं त्वमेव सर्वं त्वमेव सर्वम्। त्वमेव मोक्षस्त्वमेव मोक्षदस्त्वमेवाखिलमोक्षसाधनम्। न किञ्चिदस्ति त्वद्व्य-तिरिक्तम्। त्वद्व्यतिरिक्तं यत् किञ्चित् प्रतीयते तत्सर्वं बाधितमिति निश्चितम्। तस्मात्त्वमेव वक्ता त्वमेव गुरुस्त्वमेव पिता त्वमेव सर्वनियन्ता त्वमेव सर्वं त्वमेव सदा ध्येय इति सुनिश्चितः॥1॥

परमतत्त्व के रहस्य को जानने की इच्छावाले ब्रह्माजी ने देवों के एक हजार वर्ष तक तपश्चर्या की। जब हजार वर्ष बीत चुके, तब उस उग्र और तीव्र तपश्चर्या से प्रसन्न होकर महाविष्णु उनके समक्ष प्रकट हुए। ब्रह्माजी ने उनसे पूछा—'हे भगवन्! मुझे परम तत्त्व (के बारे में) कहिए, क्योंकि परमतत्त्व का रहस्य कहने वाले तो आप ही हैं, अन्य कोई नहीं है। ऐसा क्यों है ? वह मैं कहता हूँ (मुझसे कहा जाता है कि—) आप ही सर्वज्ञ हैं, आप ही सर्वशक्तिमान हैं, आप सबके आधार, आप ही सबके ईश्वर हैं। आप ही सबको प्रवृत्ति और निवृत्ति में जोड़ने वाले हैं। आप ही सबके पालक हैं। आप ही बड़े-छोटे—सबके निवर्तक हैं, आप ही सत् और असत् रूप तथा सत्-असत् से पृथक् भी आप ही हैं। भीतर भी आप हैं, बाहर भी आप हैं, आप व्यापक हैं। सूक्ष्म से सूक्ष्मतर भी आप हैं और महान् से भी महान् आप ही हैं। सबकी मूला अविद्या को दूर करने वाले भी आप हैं और अविद्या में विहार करने वाले भी तो आप ही हैं। अविद्या को धारण करने वाले आप ही हैं। आप विद्या से जानने योग्य हैं। आप विद्यारूप ही हैं और फिर भी आप विद्या से परे ही हैं। आप सभी कारणों के भी कारण हैं, आप कारणसमष्टि हैं। आपका कारण व्यष्टि भी है। आप ही अखण्ड आनन्द – पूर्ण आनन्दरूप हैं। आप ही निरतिशय आनन्द, तुरीय के भी तुरीय, आप ही तुरीय से भी परे, आप ही अनन्त, उपनिषदों के द्वारा ज्ञेय (अन्वेष्टव्य) हैं। आप ही शास्त्रों के द्वारा खोजने योग्य हैं। आप ही ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र आदि सभी देवताओं के द्वारा खोजे जा रहे हैं। सभी मुमुक्षुओं के द्वारा खोजने योग्य भी तो आप ही हैं। अमृतमयों के द्वारा अन्वेषणीय आप ही हैं। आप अमृतमय हैं, अमृतमय ही हैं, अवश्य अमृतमय हैं। आप सब कुछ हैं, सब कुछ आप ही हैं, आप अवश्य सब कुछ हैं। आप मोक्षरूप हैं, मोक्षदाता हैं और सबके मोक्षसाधन भी हैं। आपसे अलग कुछ नहीं है। आपके अतिरिक्त जो कुछ दिखाई पड़ता है, वह सब मिथ्या ही है, यह तो निश्चित ही है। इसीलिए आप ही वक्ता, आप ही गुरु, आप ही पिता, आप ही सबके नियामक, आप ही सर्वरूप, आप ही सदा ध्यान करने योग्य हैं—ऐसा अच्छी तरह से निश्चय किया गया है।'

परमतत्त्वज्ञस्तमुवाच महाविष्णुरतिप्रसन्नो भूत्वा साधुसाध्विति साधु-प्रशंसापूर्वकं सर्वं परमतत्त्वरहस्यं ते कथयामि। सावधानेन शृणु। ब्रह्मन् देवदर्शीत्याख्याथर्वणशाखायां परमतत्त्वरहस्याख्याथर्वणमहानारायणो-

पनिषदि गुरुशिष्यसंवादः पुरातनः प्रसिद्धतया जागर्ति। पुरा तत्स्व-रूपज्ञानेन महान्तः सर्वे ब्रह्मभावं गताः, यस्य श्रवणेन सर्वबन्धाः प्रविनश्यन्ति यस्य ज्ञानेन सर्वरहस्यं विदितं भवति ॥2॥

यह सुनकर परमतत्त्व को जानने वाले महाविष्णु बहुत प्रसन्न हुए और कहने लगे—'बहुत अच्छा !' 'बहुत अच्छा' ऐसी प्रशंसा करके आगे कहा—हाँ, उस परमतत्त्व का सब रहस्य मैं आपको कहूँगा। सावधान होकर सुनिए, हे ब्रह्मा ! अथर्ववेद की देवदर्शी नाम की शाखा में 'परमतत्त्वरहस्य' नाम की एक अथर्ववेदीय उपनिषद् है। उसमें गुरुशिष्य का एक प्राचीन संवाद प्रसिद्ध है। प्राचीन समय में उसका स्वरूप जानकर बड़े-बड़े पुरुष ब्रह्मभाव को प्राप्त हुए हैं। उसको सुनने से सभी बन्धन नष्ट हो जाते हैं और उसको जान लेने से सब रहस्य जाना जा सकता है।

तत्स्वरूपं कथमिति ॥3॥
शान्तो दान्तोऽतिविरक्तः सुशुद्धो गुरुभक्तस्तपोनिष्ठः शिष्यो ब्रह्मनिष्ठं गुरुमासाद्य प्रदक्षिणपूर्वकं दण्डवत् प्रणम्य प्राञ्जलिर्भूत्वा विनयेनोप-सङ्गम्य भगवन् गुरो मे परमतत्त्वरहस्यं विविच्य वक्तव्यमिति ॥4॥

यदि आप पूछते हो कि उस संवाद का स्वरूप कैसा है ? तो मैं बताता हूँ कि प्राचीन काल में एक शमगुणयुक्त और दमगुणयुक्त, अतिवैराग्यशील, परमशुद्ध, गुरुभक्त और तपोनिष्ठ ऐसा एक शिष्य था। वह किसी ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास गया और प्रदक्षिणापूर्वक गुरु को दण्डवत् प्रणाम करके दोनों हाथ जोड़कर सविनय गुरु के समीप जाकर पूछने लगा कि 'हे भगवन् ! हे गुरुदेव ! परमतत्त्व के रहस्य आप मुझे विवेचन करके कहिए।'

अत्यादरपूर्वकमतिहर्षेण शिष्यं बहूकृत्य गुरुर्वदति। परमतत्त्वरहस्योप-निषत्क्रमः कथ्यते। सावधानेन श्रूयताम्। कथं ब्रह्म। कालत्रयाबाधितं ब्रह्म। सर्वकालाबाधितं ब्रह्म। सगुणनिर्गुणस्वरूपं ब्रह्म। आदि-मध्यान्तशून्यं ब्रह्म। सर्वं खल्विदं ब्रह्म। मायातीतगुणातीतं ब्रह्म। अनन्तमप्रमेयाखण्डपरिपूर्णं ब्रह्म। अद्वितीयपरमानन्दशुद्धबुद्धमुक्त-सत्यस्वरूपव्यापकाभिन्नापरिच्छिन्नं ब्रह्म। सच्चिदानन्दस्वप्रकाशं ब्रह्म। मनोवाचामगोचरं ब्रह्म। अखिलप्रमाणागोचरं ब्रह्म। अमितवेदान्तवेद्यं ब्रह्म। देशतः कालतो वस्तुतः परिच्छेदरहितं ब्रह्म। सर्वपरिपूर्णं ब्रह्म। तुरीयं निराकारमेकं ब्रह्म। अद्वैतमनिर्वाच्यं ब्रह्म। प्रणवात्मकं ब्रह्म। प्रणवात्मकत्वेनोक्तं ब्रह्म। प्रणवाद्यखिलमन्त्रात्मकं ब्रह्म। पाद-चतुष्टयात्मकं ब्रह्म ॥5॥

तब अत्यन्त आदरपूर्वक और हर्षपूर्वक शिष्य की प्रशंसा करके गुरु ने कहा—'परमतत्त्वरहस्य' नाम की उपनिषद् का जो क्रम है, वह मैं कह रहा हूँ। तुम सावधान होकर सुनो। 'ब्रह्म कैसा है ?' —इस प्रश्न का उत्तर यह है कि ब्रह्म तीनों कालों में अबाधित है। ब्रह्म सभी कालों में अबाधित है। ब्रह्म सगुण और निर्गुण स्वरूपवाला है। ब्रह्म आदि, मध्य और अन्त से रहित है। यह जो सब कुछ है, वह ब्रह्म ही है। ब्रह्म माया से परे और गुणों से परे है। ब्रह्म अनन्त है। प्रमाणों से वह जाना नहीं जा सकता। वह अखंड और परिपूर्ण है। ब्रह्म अद्वितीय, परम आनन्दरूप, शुद्ध, ज्ञानयुक्त (ज्ञानरूप), मुक्त, सत्यस्वरूप, व्यापक, भेदरहित और अप्रमेय है। ब्रह्म मन और वाणी का विषय नहीं बन सकता। ब्रह्म सच्चिदानन्द और स्वयंप्रकाशित है। वह सभी प्रमाणों का विषय नहीं है। ब्रह्म असंख्य

वेदान्तों के द्वारा जाना जा सकता है। देश, काल और वस्तु से ब्रह्म नापा नहीं जा सकता। ब्रह्म सब प्रकार से परिपूर्ण है। तुरीय और निराकार ब्रह्म एक ही है। ब्रह्म ऐसा है कि जिसका द्वैत के साथ वर्णन नहीं किया जा सकता। ब्रह्म प्रणवरूप – ॐकार स्वरूप है। ब्रह्म प्रणवरूप से कहा जाता है। ब्रह्म प्रणव आदि सभी मन्त्ररूप है। वह ब्रह्म चार पादवाला है।

किं तत्पादचतुष्टयं भवति ॥6॥
अविद्यापादः सुविद्यापादश्चानन्दपादस्तुरीयपादश्चेति। तुरीयपादस्तुरीय-तुरीयं तुरीयातीतं च ॥7॥
कथं पादचतुष्टयस्य भेदः ॥8॥
अविद्यापादः प्रथमः पादो विद्यापादो द्वितीयः आनन्दपादस्तृतीयस्तुरीय-पादस्तुरीय इति। मूलाविद्या प्रथमपादे नान्यत्र। विद्याऽऽनन्दतुरीयांशाः सर्वेषु पादेषु व्याप्य तिष्ठन्ति ॥9॥

'वे चार पाद कौन-कौन से हैं' ? वे हैं—अविद्यापाद, सुविद्यापाद, आनंदपाद और तुरीयपाद। उनमें से जो तुरीयपाद है, वह तुरीयतुरीय और तुरीयातीत है। उन चारों पादों के भेद कौन-कौन से हैं ? प्रथम पाद अविद्यापाद है, दूसरा पाद विद्यापाद है, तीसरा पाद आनन्दपाद है और चौथा पाद तुरीयपाद है। मूला अविद्या तो प्रथम पाद में ही है, अन्य पादों में वह नहीं है। अन्य पादों में विद्यापाद, आनंदपाद और तुर्यपाद के अंश सन्निहित हैं।

एवं तर्हि विद्याऽऽदीनां भेदः कथमिति ॥10॥
तत्तत्प्राधान्येन तत्तद्व्यपदेशः। वस्तुतस्त्वभेद एव। तत्राधस्तनमेकं पादमविद्याशबलं भवति। उपरितनपादत्रयं शुद्धबोधानन्दलक्षणममृतं भवति। तच्चालौकिकपरमानन्दलक्षणाखण्डामिततेजोराशिर्ज्वलति। तच्चानिर्वाच्यमनिर्देश्यमखण्डानन्दैकरसात्मकं भवति। तत्र मध्यम-पादमध्यप्रदेशेऽमिततेजःप्रवाहाकारतया नित्यवैकुण्ठं विभाति। तच्च निरतिशयानन्दाखण्डब्रह्मानन्दनिजमूर्त्याकारेण ज्वलति। अपरिच्छिन्न-मण्डलानि यथा दृश्यन्ते तद्वदखण्डानन्दामितवैष्णवदिव्यतेजोराश्यन्त-र्गतविलसन्महाविष्णोः परमं पदं विराजते। दुग्धोदधिमध्यस्थितामृता-मृतकलशवद्वैष्णवं धाम परमं सन्दृश्यते। सुदर्शनदिव्यतेजोऽन्तर्गतः सुदर्शनपुरुषो यथा सूर्यमण्डलान्तर्गतः सूर्यनारायणोऽमितापरिच्छिन्ना-द्वैतपरमानन्दलक्षणतेजोराश्यन्तर्गत आदिनारायणस्तथा सन्दृश्यते। स एव तुरीयं ब्रह्म स एव तुरीयातीतः स एव विष्णुः स एव समस्तब्रह्म-वाचकवाच्यः स एव परंज्योतिः स एव मायातीतः स एव गुणातीतः स एव कालातीतः स एवाखिलकर्मातीतः स एव सत्योपाधिरहितः स एव परमेश्वरः स एव चिरन्तनः पुरुषः प्रणवाद्यखिलमन्त्रवाचकवाच्य आद्यन्तशून्य आदिदेशकालवस्तुतुरीयसंज्ञानित्यपरिपूर्णः पूर्णः सत्य-सङ्कल्प आत्मारामः कालत्रयाबाधितनिजस्वरूपः स्वयंज्योतिः स्वयं-प्रकाशमयः स्वसमानाधिकरणंशून्यः स्वसमानाधिकशून्यो न दिवारात्रि-विभागो न संवत्सरादिकालविभागः स्वानन्दमयानन्ताचिन्त्यविभव विभागो न संवत्सरादिकालविभागः स्वानन्दमयानन्ताचिन्त्यविभव आत्माऽन्तरात्मा परमात्मा ज्ञानात्मा तुरीयात्मेत्यादिवाचकवाच्योऽद्वैत-

परमानन्दो विभुर्नित्यो निष्कलङ्को निर्विकल्पो निरञ्जनो निराख्यातः
शुद्धो देव एको नारायणो न द्वितीयोऽस्ति कश्चिदिति ।।11।।
य एवं वेद स पुरुषस्तदीयोपासनया तस्य सायुज्यमेतीत्यसंशयमित्यु-
पनिषत् ।।12।।

इत्याथर्वणमहानारायणोपनिषदि पादचतुष्टय-
स्वरूपनिरूपणं नाम प्रथमोऽध्यायः ।

जब अन्य पादों में भी अन्यान्य के अंश रहे हैं, तब उनके विद्यापाद आदि अनेक नामों से भेद क्यों किए गए हैं ? इसका उत्तर यह है कि जिसमें जिसकी-जिसकी मुख्यता है, उस-उस नाम से उनका व्यवहार किया जाता है। वास्तविक रूप से तो उन पादों में कुछ भेद है ही नहीं। उन पादों में निम्न का एक ही पाद अविद्या से मिश्रित है, ऊपर के तीन पाद तो शुद्ध ज्ञान और आनन्दरूप लक्षण वाले अमृतस्वरूप ही हैं। वह ब्रह्म अलौकिक परमानन्द लक्षणयुक्त है। वह अखण्ड – अमेय तेजोराशि के रूप में प्रकाशित हो रहा है। उसका वर्णन करना या उसको बताना तो असंभव ही है। वह एकमात्र अखण्ड आनन्दस्वरूप और रसस्वरूप है। वहाँ मध्यपाद के मध्य प्रदेश में अमेय तेजप्रवाह के आकार में नित्य वैकुण्ठधाम विराजित है। वह धाम निरतिशय आनन्दरूप अखण्ड ब्रह्मानन्द की अपनी मूर्ति के आकार में प्रकाशित है। जिस तरह बिना टूटे हुए (अखण्ड) मण्डल दिखाई देते हों, उसी तरह से अखण्ड आनन्दमय और अमेय ऐसा विष्णु भगवान् के तेज का समूह है और उसके भीतर विलास करते हुए महाविष्णु का वह परमपद विराजमान है। विष्णु का वह परमधाम मानो क्षीर-समुद्र के बीच अवस्थित अमृत का अविनाशी कुम्भ हो, ऐसा दिखाई पड़ता है। जिस तरह सूर्यमण्डल के भीतर स्थित सुन्दर दृश्य-युक्त तेज के बीच प्रविष्ट हुए सुदर्शन सूर्यनारायण ही हों, उसी प्रकार वे आदिनारायण भी अमित-अमेय-परमानन्दस्वरूप तेजोराशि के भीतर स्थित दिखाई पड़ते हैं। वही तुरीय ब्रह्म है, वही तुरीय से परे है, वही विष्णु है, वही ब्रह्म के समस्त नामों के अर्थ हैं, वही परमज्योति हैं, वही माया से परे हैं, वही गुणरहित हैं, वही काल से परे हैं, वही सर्वकर्मों से रहित हैं, वही सत्य हैं, वही सर्व उपाधियों से रहित हैं, वही परमेश्वर हैं और वही प्राचीनतम पुरुष हैं। प्रणव आदि सभी मन्त्र वाचकों का वही वाच्य है ' वह आदि-अन्त से रहित है। आदि-देश-काल-तुरीय ऐसी संज्ञा वाला वही है। वह नित्य और पूर्ण (परिपूर्ण) है। वह सत्यसंकल्प है, वह आत्माराम (स्वयं में रममाण) है। उसका आत्मस्वरूप तीनों काल में अबाधित रहता है। वह स्वयंज्योति है, स्वयंप्रकाशमय है, उसके जैसा अन्य कोई अवलम्बन (आधार - अधिकरण) है ही नहीं है। इसके समान कोई नहीं है, उससे अधिक कोई नहीं है। दिन-रात आदि विभागों से वह रहित है। वर्ष आदि कालविभागों से भी वह रहित है। वह स्वानन्दमय-अचिन्त्य-अनन्त वैभवशाली है। वह आत्मा का भी अन्तरात्मा है। वह परमात्मा, ज्ञानस्वरूप है, और तुरीय आदि शब्दों का अर्थरूप है। वह अद्वैत, परमानन्दस्वरूप, व्यापक, नित्य, निष्कलंक, निर्विकल्प, निरंजन, संज्ञारहित, शुद्ध, देवनारायण, वह एक ही है, दूसरा कोई है ही नहीं"—इस प्रका जो जानता है वह पुरुष उसकी उपासना से उस परमतत्त्व के सायुज्य को प्राप्त हो जाता है। इसमें .े.सी प्रकार का संशय नहीं है।

इस प्रकार आथर्वण-महानारायण उपनिषद् में 'पादचतुष्टयस्वरूपनिरूपण'
नामक प्रथम अध्याय समाप्त होता है।

❋

द्वितीयोऽध्याय:

अथेति होवाच छात्रो गुरुं भगवन्तम्। भगवन् वैकुण्ठस्य नारायणस्य च नित्यत्वमुक्तम्। स एव तुरीयमित्युक्तमेव। वैकुण्ठः साकारो नारायणः साकारश्च। तुरीयं तु निराकारम्। साकारः सावयवो निरवयवं निराकारम्। तस्मात्साकारमनित्यं नित्यं निराकारमिति श्रुतेः। यद्यत् सावयवं तत्तदनित्यमित्यनुमानाच्चेति प्रत्यक्षेण दृष्टत्वाच्च। अतस्तयोरनित्यत्वमेव वक्तुमुचितं भवति। कथमुक्तं नित्यत्वमिति। तुरीयमक्षरमिति श्रुतेः। स्तुरीयस्य नित्यत्वं प्रसिद्धम्। नित्यत्वानित्यत्वे परस्परविरुद्धधर्मौ। तयोरेकस्मिन् ब्रह्मण्यत्यन्तविरुद्धं भवति। तस्माद्वैकुण्ठस्य च नारायणस्य चानित्यत्वमेव वक्तुमुचितं भवति ॥1॥

बाद में शिष्य ने गुरु भगवान् से पूछा—'हे भगवन्! वैकुण्ठ और नारायण नित्य हैं, ऐसा आपने कहा और वही तुरीय है, ऐसा भी कहा। वैकुण्ठ साकार है और नारायण भी साकार हैं। परन्तु तुरीय तो निराकार है ! जो साकार होता है, वह तो अवयवों वाला होता है, और जो निराकार होता है, उसके अवयव नहीं होते। इसलिए 'साकार अनित्य है और निराकार नित्य है।' ऐसा श्रुति कहती है। 'जो-जो अवयव वाला होता है वह अनित्य होता है।' ऐसे अनुमान से और प्रत्यक्ष में भी देखा गया है। इसलिए उन दोनों का – वैकुण्ठ का और नारायण का अनित्यत्व कहना ही उचित है। फिर भी आप उन्हें नित्य क्यों कहते हैं ? और श्रुति कहती है कि तुरीय तो अविनाशी है। इसके आधार पर तुरीय का तो नित्यत्व ही प्रसिद्ध है और नित्यत्व एवं अनित्यत्व ये दोनों धर्म तो परस्पर विरोधी ही हैं। अत: ये दोनों एक ही ब्रह्म में हों, यह तो अत्यन्त विरुद्ध बात है। इसलिए वैकुण्ठ को और नारायण को— दोनों को अनित्य कहना ही उचित है।

सत्यमेव भवतीति देशिकं परिहरति। साकारस्तु द्विविधः। सोपाधिको निरुपाधिकश्च ॥2॥

तत्र सोपाधिकसाकारः कथमिति ॥3॥

आविद्यकमखिलकार्यकारणजालमविद्यापाद एव नान्यत्र। तस्मात् समस्ताविद्योपाधिः साकारः सावयव एव। सावयवत्वादनित्यं भवत्येव ॥4॥

तब शिष्य की शंका का निवारण करते हुए गुरु ने कहा—'वह बात ठीक है, पर साकार दो प्रकार के हैं—एक सोपाधिक और दूसरा निरुपाधिक। उनमें सोपाधिक साकार कैसा होता है ? वह सुनो—अविद्या से बने हुए सभी कार्य और कारण ब्रह्म के अविद्यापाद में ही हैं। अन्य पादों में तो नहीं हैं। इसलिए समग्र अविद्या की उपाधिवाला जो पाद है, वह तो साकार और अवयवों वाला ही है। और अवयवों वाला होने से अनित्य है ही।

सोपाधिकसाकारो वर्णितः। तर्हि निरुपाधिकसाकारः कथमिति ॥5॥

निरुपाधिकसाकारस्त्रिविधः। ब्रह्मविद्यासाकारश्चानन्दसाकार उभयात्मकसाकारश्चेति। त्रिविधसाकारोऽपि पुनर्द्विविधो भवति। नित्यसाकारो मुक्तसाकारश्चेति। नित्यसाकारस्त्वाद्यन्तशून्यः शाश्वतः।

उपासनया ये मुक्तिं गतास्तेषां साकारो मुक्तसाकारः। तस्याखण्ड-ज्ञानेनाविर्भावो भवति। सोऽपि शाश्वतः ॥6॥

ठीक है, इस प्रकार सोपाधिक साकार का वर्णन तो हुआ। अब निरुपाधिक साकार कैसा है? यह बताते हैं—निरुपाधिक साकार तीन प्रकार का है—एक ब्रह्मविद्यासाकार, दूसरा आनन्दसाकार और तीसरा उभयात्मकसाकार। यह त्रिविध साकार भी अन्य विधि से दो प्रकार का है—एक नित्य साकार है और दूसरा मुक्त साकार है। उनमें नित्य साकार के तो आदि और अन्त नहीं हैं। जिन लोगों ने उपासना से मुक्ति प्राप्त की होती है, उनका साकार मुक्त साकार कहा जाता है। उसका आविर्भाव अखंड ज्ञान से होता है। वह भी शाश्वत है।

मुक्तसाकारस्त्वैच्छिक इत्यन्ये वदन्ति। शाश्वतत्वं कथमिति ॥7॥
अद्वैताखण्डपरिपूर्णनिरतिशयपरमानन्दशुद्धबुद्धमुक्तसत्यात्मकब्रह्मचैतन्य-साकारत्वान्निरुपाधिकसाकारस्य नित्यत्वं सिद्धमेव। तस्मादेव निरुपा-धिकसाकारस्य निरवयवत्वात् स्वाधिकमपि दूरतो निरस्तमेव। निरव-यवं ब्रह्मचैतन्यमिति सर्वोपनिषत्सु सर्वशास्त्रसिद्धान्तेषु श्रूयते ॥8॥

मुक्त साकार तो ऐच्छिक है, ऐसा अन्य लोग कहते हैं। तो फिर उसका शाश्वतत्व (नित्यत्व) कैसे हो सकता है? अद्वैत, अखण्ड, परिपूर्ण, निरतिशय, परमानन्द, शुद्ध, ज्ञानमय, मुक्त और सत्यस्वरूप ब्रह्म चैतन्यरूप से ही साकार है। इसलिए उस निरुपाधिक साकार का नित्यत्व तो सिद्ध ही है। और इसीलिए वह निरुपाधिक साकार अवयवरहित ही सिद्ध होता है। इसीलिए उससे अपने से किसी के अधिक होने की बात तो दूर से ही खण्डित हो जाती है। ब्रह्मचैतन्य अवयवरहित है, यह बात तो उपनिषदों और सर्व शास्त्रों में सुनाई ही पड़ती है।

अथ च विद्याऽऽनन्दतुरीयाणामभेद एव श्रूयते। सर्वत्र विद्यादिसाकार-भेदः कथमिति ॥9॥
सत्यमेवोक्तमिति देशिकः परिहरति। विद्याप्राधान्येन विद्यासाकारः। आनन्दप्राधान्येनानन्दसाकारः। उभयप्राधान्येनोभयात्मकसाकारो भवति। प्राधान्येनात्र भेद एव। स भेदो वस्तुतस्त्वभेद एव ॥10॥

और भी, विद्या, आनन्द और तुरीय का भी तो अभेद ही सुनाई देता है। तो फिर सभी जगह पर साकार का भेद क्यों कहा जाता है? जब शिष्य ने ऐसी शंका की, तब गुरु ने उसका समाधान करते हुए कहा—'तुमने सत्य कहा। परन्तु, विद्या की मुख्यता से विद्यासाकार, आनन्द की मुख्यता से आनन्दसाकार और उभय की मुख्यता से मिश्र साकार (उभयसाकार)—इस प्रकार एक-एक की मुख्यता से उनमें भेद हैं, परन्तु वास्तविक रूप से तो अभेद ही हैं।'

भगवन्नखण्डाद्वैतपरमानन्दलक्षणपरब्रह्मणः साकारनिराकारौ विरुद्ध-धर्मौ। विरुद्धोभयात्मकत्वं कथमिति ॥11॥
सत्यमेवेति गुरुः परिहरति। यथा सर्वगतस्य निराकारस्य महावायोश्च तदात्मकस्य त्वक्पतित्वेन प्रसिद्धस्य साकारस्य महावायुदेवस्य चाभेद एव श्रूयते सर्वत्र। यथा पृथिव्यादीनां व्यापकशरीराणां देवशेषाणां च तद्विलक्षणतदभिन्नव्यापकापरिच्छिन्ननिजमूर्त्याकारदेवताः श्रूयन्ते सर्वत्र

तद्वत् परब्रह्मणः सर्वात्मकस्य साकारनिराकारभेदविरोधो नास्त्येव। विविधविचित्रानन्तशक्तेः परब्रह्मणः स्वरूपज्ञानेन विरोधो न विद्यते। तदभावे सत्यनन्तविरोधो विभाति ॥12॥

यह सुनकर शिष्य ने शंका की—'हे भगवन्! अखण्ड, अद्वैत और परमानन्दरूप लक्षण वाले परब्रह्म के साकार और निराकार धर्म तो परस्पर-विरोधी ही माने जाने चाहिए। और ऐसे एक-दूसरे के विरोधी धर्म एक ब्रह्म में कैसे रह सकते हैं? परस्परविरुद्ध धर्मवाला एक ब्रह्म कैसे हो सकता है?' इस शंका का परिहार करते हुए गुरु ने कहा—'यह तो ठीक है परन्तु जैसे सर्वव्यापक और निराकार महावायु का और त्वगिन्द्रिय के स्वामी के रूप में (शास्त्रों में) वर्णित साकार वायुदेव का सभी जगह अभेद ही सुना जाता है, और भी जैसे व्यापक शरीर वाले पृथिव्यादि के तथा विशिष्ट देवताओं के भी उनसे विलक्षण फिर भी उनसे अभिन्न—ऐसे व्यापक तथा परिमित (परिच्छिन्न) अपनी-अपनी मूर्तिवाले—दोनों प्रकार के स्वरूप सभी श्रुतियों में सुनाई ही पड़ते हैं। उसी प्रकार सर्वस्वरूप परब्रह्म के साकार और निराकार—ऐसा भेद होने पर भी किसी प्रकार का विरोध नहीं है। क्योंकि परब्रह्म तो अनेक प्रकार की शक्तियुक्त हैं। और विरोध के न होने पर भी सिर्फ ऐसा विरोध दिखाई ही देता है।

अथ च रामकृष्णाद्यवतारेष्वप्यद्वैतपरमानन्दलक्षणपरब्रह्मणः परमतत्त्व-परमविभवानुसन्धानं स्वीयत्वेन श्रूयते सर्वत्र। सर्वपरिपूर्णस्याद्वैतपरमानन्दलक्षणपरब्रह्मणस्तु किं वक्तव्यम्। अन्यथा सर्वपरिपूर्णस्य परब्रह्मणः परमार्थतः साकारं विना केवलनिराकारत्वं यद्यभिमतं तर्हि केवलनिराकारस्य गगनस्येव परब्रह्मणोऽपि जडत्वमापाद्यते। तस्मात्परंब्रह्मणः परमार्थतः साकारनिराकारौ स्वभावसिद्धौ ॥13॥

राम, कृष्ण आदि अवतारों में भी अद्वैत परमानन्दस्वरूप परब्रह्म के ही परमतत्त्व और परम वैभव का अनुसन्धान उनके अपने ही स्वरूपतत्त्व के रूप में भी सभी जगह पर सुनाई दे रहा है। अगर ऐसा न माना जाए और सर्व प्रकार से परिपूर्ण परमानन्दस्वरूप अद्वैत परब्रह्म के वास्तविक साकार स्वरूप को बिना माने ही यदि केवल निराकारस्वरूप ही मान लें, तो जैसा केवल निराकारस्वरूप आकाश का है, और जडत्व है, वैसा ही जडत्व परब्रह्म में भी आ जायेगा। इसलिए परब्रह्म का साकार और निराकार भेद है, वे स्वभावसिद्ध ही हैं।

तथाविधस्याद्वैतपरमानन्दलक्षणस्यादिनारायणस्योन्मेषनिमेषाभ्यां मूलाविद्योदयस्थितिलया जायन्ते। कदाचिदात्मारामस्याखिलपरिपूर्णस्यादिनारायणस्य स्वेच्छानुसारेणोन्मेषो जायते। तस्मात्परब्रह्मणोऽधस्तनपादे सर्वकारणे मूलकारणाव्यक्ताविर्भावो भवति। अव्यक्तान्मूलाऽऽविर्भावो मूलाविद्याऽऽविर्भावश्च। तस्मादेव सच्छब्दवाच्यं ब्रह्माविद्याशबलं भवति। ततो महत्। महतोऽहङ्कारः। अहङ्कारात् पञ्चतन्मात्राणि। पञ्चतन्मात्रेभ्यः पञ्चमहाभूतानि। पञ्चमहाभूतेभ्यो ब्रह्मैकपादं व्याप्तमेकमविद्याऽण्डं जायते ॥14॥

इस प्रकार के अद्वैत परमानंदस्वरूप लक्षणयुक्त आदिनारायण के नेत्र के मिलन-उन्मीलन से (पलक से) मूला अविद्या की उत्पत्ति, स्थिति और लय हुआ करते हैं। आत्माराम एवं सर्वांशपरिपूर्ण उन आदिनारायण के नेत्र का कभी-कभी उनकी इच्छानुसार खुलना होता है। और इससे परब्रह्म के

सर्वकारणरूप निम्नपाद में मूल कारण अव्यक्त का आविर्भाव होता है। और उस अव्यक्त में से मूल का तथा मूला अविद्या का आविर्भाव होता है। फिर उसी में से, 'सत्' शब्द द्वारा कहा जाने वाला अविद्याशबल (मिश्र) ब्रह्म होता है। उसी में से फिर महतत्त्व, महतत्त्व से अहंकार, अहंकार में से पाँच तन्मात्राएँ, पाँच तन्मात्राओं से पाँच महाभूत और उन पाँच महाभूतों में से ब्रह्म के एक पाद से व्याप्त ऐसा एक अविद्या का अण्ड जन्म लेता है।

तत्र तत्त्वतो गुणातीतशुद्धसत्त्वमयो लीलागृहीतनिरतिशयानन्दलक्षणो मायोपाधिको नारायण आसीत्। स एव नित्यपरिपूर्णः पादविभूतिवैकुण्ठनारायणः। स चानन्तकोटिब्रह्माण्डानामुदयस्थितिलयाद्यखिलकार्यकारणजालपरमकारणभूतो महामायाऽतीतस्तुरीयः परमेश्वरो जयति। तस्मात् स्थूलविराट्स्वरूपो जायते। स सर्वकारणमूलं विराट्स्वरूपो भवति। स चानन्तशीर्षा पुरुष अनन्ताक्षिपाणिपादो भवति। अनन्तश्रवणः सर्वमावृत्य तिष्ठति। सर्वव्यापको भवति। सगुणनिर्गुणस्वरूपो भवति। ज्ञानबलैश्वर्यशक्तितेजःस्वरूपो भवति। विविधविचित्रानन्तजगदाकारो भवति। निरतिशयानन्दमयानन्तपरमविभूतिसमष्ट्या विश्वाकारो भवति। निरतिशयनिरङ्कुशसर्वज्ञसर्वशक्तिसर्वनियन्तृत्वाद्यनन्तकल्याणगुणाकारो भवति। वाचामगोचरानन्तदिव्यतेजोराश्याकारो भवति। समस्ताविद्याऽण्डव्यापको भवति। स चानन्तमहामायाविलासानामधिष्ठानविशेषनिरतिशयाद्वैतपरमानन्दलक्षणपरब्रह्मविलासविग्रहो भवति ॥15॥

उसमें तात्त्विक दृष्टि से तो गुणों से परे, शुद्ध सत्त्वमय, लीला से ही स्वीकृत रूपवाले निरतिशय आनन्दस्वरूप और माया की उपाधिवाले नारायण ही होते हैं। वे ही नित्य परिपूर्णपादस्वरूप, विभूतियुक्त वैकुण्ठनारायण हैं। और वे अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों के सर्जन, स्थिति और लय आदि सभी कार्यों तथा कारणों के समूह का भी जो परमकारण है, उसके भी कारणभूत हैं। और महामाया से परे ऐसे वे तुरीय परमेश्वर जय प्राप्त करते हैं। उन्हीं में से स्थूल (विराट्) स्वरूप उत्पन्न होता है। वह विराट्स्वरूप सभी कारणों का मूल है। वह विराट् पुरुष अनन्त मस्तकवाले तथा अनन्त आँखों, हाथों और पैरों वाले हैं। अनन्त कानों वाले वे सबको व्याप्त कर रहे हैं (सबको ढँककर स्थित हैं)। वे सर्वव्यापक तथा सगुण-निर्गुण स्वरूप वाले हैं। ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, शक्ति और तेजस्वरूप हैं। विविध और विचित्र जगत् के आकार वाले हैं। निरतिशय आनन्दमय और अनन्त एवं परमविभूतिरूप वे समष्टि के द्वारा विश्वाकार होते हैं। निरतिशय, निरंकुश, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और सर्वनियन्ता आदि अनन्त कल्याणकारी गुणमय विशिष्ट आकारों से युक्त हैं। वाणी के अविषय, अनन्त दिव्य तेज के राशिरूप आकार वाले हैं। वे अविद्या के समस्त अण्ड में व्याप्त होकर स्थित हैं, और अनन्त महामाया के विलासों के विशेष अधिष्ठानरूप ऐसे निरतिशय परमानन्दस्वरूप लक्षणवाले परब्रह्म के विलास शरीर रूप हैं।

अस्यैकैकरोमकूपान्तरेष्वनन्तकोटिब्रह्माण्डानि स्थावराणि च जायन्ते। तेष्वण्डेषु सर्वेष्वेकैकनारायणावतारो जायते। नारायणाद्धिरण्यगर्भो जायते। नारायणादण्डविराट्स्वरूपो जायते। नारायणादखिललोक-

स्त्रष्टृप्रजापतयो जायन्ते। नारायणादेकादशरुद्राश्च जायन्ते। नारायणादखिललोकाश्च जायन्ते। नारायणादिन्द्रो जायते। नारायणात् सर्वे देवाश्च जायन्ते। नारायणाद्द्वादशादित्याः सर्वे वसवः सर्वे ऋषयः सर्वाणि भूतानि सर्वाणि छन्दांसि नारायणादेव समुत्पद्यन्ते। नारायणात् प्रवर्तन्ते। नारायणे प्रलीयन्ते। अथ नित्योऽक्षरः परमः स्वराट्। ब्रह्मा नारायणः। शिवश्च नारायणः। शक्रश्च नारायणः। दिशश्च नारायणः। विदिशश्च नारायणः। कालश्च नारायणः। कर्माखिलं च नारायणः। मूर्तामूर्ते च नारायणः। कारणात्मकं सर्वं कार्यात्मकं सकलं नारायणः। तदुभयविलक्षणो नारायणः। परंज्योतिः स्वप्रकाशमयो ब्रह्मानन्दमयो नित्यो निर्विकल्पो निरञ्जनो निराख्यातः शुद्धो देव एको नारायणो न द्वितीयोऽस्ति कश्चित्। न समो नाधिक इत्यसंशयम् ॥16॥

उनके एक-एक रोमछिद्र में अनन्तकोटि स्थावरों और ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति होती है और उन सभी ब्रह्माण्डों में एक-एक नारायण का अवतार होता है। उन नारायण से हिरण्यगर्भ उत्पन्न होते हैं। नारायण से अण्ड विराट्स्वरूप होता है। नारायण से ही सब लोकों का सर्जन करने वाले प्रजापति उत्पन्न होते हैं। नारायण से ग्यारह रुद्रों का जन्म होता है। नारायण से सभी लोक उत्पन्न होते हैं। नारायण से इन्द्र उत्पन्न होते हैं। नारायण से सभी देव उत्पन्न होते हैं। बारह आदित्य, सभी (आठ) वसु, सभी ऋषि, सभी भूत और सभी वेद नारायण से ही उत्पन्न होते हैं। नारायण से ही वे सब प्रवृत्ति करते हैं, और नारायण में ही लीन होते हैं। वे ही नित्य, अक्षर, परम और स्वयंप्रकाशित हैं। ब्रह्मा नारायण हैं, शिव नारायण हैं, इन्द्र नारायण हैं, दिशाएँ नारायण हैं, विदिशाएँ नारायण हैं, काल नारायण हैं, सर्वकर्म नारायण है, मूर्त और अमूर्त नारायण है। कारणरूप और कार्यरूप सब नारायण है। और उन दोनों से विलक्षण भी नारायण है। परमज्योति, स्वप्रकाशमय, ब्रह्मानन्दमय, नित्य, निर्विकल्प, निरंजन, अवर्णनीय, शुद्ध देव, एक नारायण ही हैं, अन्य कोई नहीं है। वह किसी के समान नहीं है, कोई इससे अधिक नहीं है, इसमें कोई भी सन्देह नहीं है।

परमार्थतो य एवं वेद सकलबन्धांश्छित्त्वा मृत्युं तीर्त्वा स मुक्तो भवति स मुक्तो भवति। य एवं विदित्वा सदा तमुपास्ते पुरुषः स नारायणो भवति स नारायणो भवतीत्युपनिषत् ॥17॥

इत्याथर्वणमहानारायणोपनिषदि परब्रह्मणः साकारनिराकारस्वरूपनिरूपणं नाम द्वितीयोऽध्यायः।

उनको पारमार्थिक रूप से जो साधक ऐसा जानता है, वह संसार के समस्त बन्धनों को काटकर मृत्यु का अतिक्रमण करके मुक्त हो जाता है। जो पुरुष इस प्रकार जानकर उनकी उपासना करता है, वह स्वयं नारायण ही हो जाता है, नारायण ही हो जाता है, ऐसा यह उपनिषद् कहती है।

इस प्रकार आथर्वण-महानारायण उपनिषद् में 'साकारनिराकारनिरूपण' नामक द्वितीय अध्याय समाप्त होता है।

❋

तृतीयोध्यायः

अथ छात्रस्तथेति होवाच—भगवन् देशिक परमतत्त्वज्ञ सविलासमहामूलाऽविद्योदयक्रमः कथितः। तदु प्रपञ्चोत्पत्तिक्रमः कीदृशो भवति विशेषेण कथनीयः। तस्य तत्त्वं वेदितुमिच्छामि ॥1॥

शिष्य ने 'ठीक है' ऐसा कहकर फिर पूछा—'हे भगवन्! हे गुरो! हे परमतत्त्व के ज्ञाता! आपने विलाससहित महामूला अविद्या के उदय का क्रम तो कहा। अब प्रपंच की उत्पत्ति का क्रम किस तरह होता है, वह आप कहिए। मैं उसका तत्त्व जानना चाहता हूँ।'

तथेत्युक्त्वा गुरुरित्युवाच—यथाऽनादिसर्वप्रपञ्चो दृश्यते। नित्योऽनित्यो वेति संशयते। प्रपञ्चोऽपि द्विविधः। विद्याप्रपञ्चश्चाविद्याप्रपञ्चश्चेति। विद्याप्रपञ्चस्य नित्यत्वं सिद्धमेव नित्यानन्दचिद्विलासात्मकत्वात् अथ च शुद्धबुद्धमुक्तसत्यानन्दस्वरूपत्वाच्च। अविद्याप्रपञ्चस्य नित्यत्वमनित्यत्वं वा कथमिति। प्रवाहतानित्यत्वं वदन्ति केचन। प्रलयादिकं [कस्य] श्रूयमाणत्वादनित्यत्वं वदन्त्यन्ये। उभयं न भवति। पुनः कथमिति। सङ्कोचविकासात्मकमहामायाविलासात्मक एव सर्वोऽप्यविद्याप्रपञ्चः। परमार्थतो न किञ्चिदस्ति क्षणशून्यानादिमूलाऽविद्याविलासत्वात्। तत्कथमिति। एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म। नेह नानाऽस्ति किञ्चन। तस्माद् ब्रह्मव्यतिरिक्तं सर्वं बाधितमेव। सत्यमेव परब्रह्म सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति ॥2॥

तब गुरु ने 'अच्छा' ऐसा कहकर आगे कहा—'यह जो अनादि काल का प्रपंच दिखाई दे रहा है, वह नित्य है या अनित्य ? ऐसा संशय होता है। और यह प्रपंच भी दो प्रकार का है। एक है विद्याप्रपंच और दूसरा है अविद्याप्रपंच। उनमें से विद्याप्रपंच तो नित्यरूप से सिद्ध ही है, क्योंकि वह नित्यानन्दस्वरूप चैतन्य का विलासरूप ही है। और भी शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्य तथा आनन्दस्वरूप ही है। अब अविद्याप्रपंच नित्य या अनित्य किस तरह से है ? कुछ लोग इस अविद्याप्रपंच को प्रवाहरूप से नित्य (परिणामी नित्य) मानते हैं। और कुछ लोग उसे अनित्य भी कहते हैं क्योंकि श्रुतियों में उसका प्रलय आदि सुना जाता है। परन्तु, वास्तव में देखा जाए तो वह नित्य या अनित्य—दोनों नहीं है। कारण यह है कि संकोच और विकास करने वाली महामाया का विलासरूप ही यह सारा अविद्याप्रपंच है। वह इसलिए कि ब्रह्म तो एक और अद्वितीय ही है। उसके अतिरिक्त तो और कुछ है ही नहीं। इसलिए ब्रह्म के अतिरिक्त तो सब कुछ बाधित ही है। केवल परब्रह्म ही सत्य है। ब्रह्म सत्यज्ञानरूप तथा अनन्त है।'

ततः सविलासमूलाऽविद्योपसंहारक्रमः कथमिति ॥3॥

अत्यादरपूर्वकमतिहर्षेण देशिक उपदिशति। चतुर्युगसहस्राणि ब्रह्मणो दिवा भवति। तावता कालेन पुनस्तस्य रात्रिर्भवति। द्वे अहोरात्रे एकं दिनं भवति। तस्मिन्नेकस्मिन् दिने आसत्यलोकानामुदयस्थितिलया जायन्ते। पञ्चदशदिनानि पक्षो भवति। पक्षद्वयं मासो भवति। मासद्वयमृतुर्भवति। ऋतुत्रयमयनं भवति। अयनद्वयं वत्सरो भवति। वत्सरशतं ब्रह्ममानेन ब्रह्मणः परमायुःप्रमाणम्। तावत्कालस्तस्य स्थितिरुच्यते।

स्थित्यन्तेऽण्डविराट्पुरुषः स्वांशं हिरण्यगर्भमभ्येति। हिरण्यगर्भः स्वकारणं परमात्मानमण्डपरिपालकनारायणमभ्येति। पुनर्वत्सरशतं तस्य प्रलयो भवति। तथा जीवाः सर्वे प्रकृतौ प्रलीयन्ते। प्रलये सर्वशून्यं भवति ॥4॥

तब शिष्य ने पुनः पूछा—'तो फिर विलाससहित मूल अविद्या के उपसंहार का क्रम कौन-सा होता है ?' तब उसके विषय में गुरु अति आदरपूर्वक और बड़े हर्ष से उपदेश करने लगे—'चार हजार युगों से ब्रह्मा का एक दिन बनता है। उतने ही समय की उनकी एक रात्रि होती है। वह रात और दिन मिलकर ब्रह्मा का एक पूरा दिवस होता है। उस एक दिवस में सत्यलोक तक के लोकों की उत्पत्ति, स्थिति और नाश हो जाते हैं। पंद्रह दिन का एक पक्ष होता है। दो पक्षों का एक महीना होता है। दो महीनों की एक ऋतु होती है। तीन ऋतुओं का एक अयन होता है। दो अयनों का एक वर्ष होता है। सौ वर्ष का ब्रह्मा का अन्तिम आयुष्य-प्रमाण है। और वह उनके अपने ही काल के मानदण्ड से होता है। उतने ही समय तक उनकी स्थिति कही जाती है। उस स्थिति के अन्त में अण्डविराट् पुरुष अपने अंशरूप हिरण्यगर्भ को प्राप्त होते हैं। उस हिरण्यगर्भ का जो कारण है वह अण्डपरिपालक नारायण परमात्मा की ओर जाता है और फिर से सौ वर्षो के बाद प्रलय होता है। उस समय सभी जीव प्रकृति में लय हो जाते हैं, और प्रलयकाल में सब कुछ शून्य ही हो जाता है।

तस्य ब्रह्मणः स्थितिप्रलयावादिनारायणस्यांशेनावतीर्णस्याण्डपरिपालकस्य महाविष्णोरहोरात्रिसंज्ञिकौ। ते अहोरात्रे एकं दिनं भवति। एवं दिनपक्षमाससंवत्सरादिभेदाच्च तदीयमानेन शतकोटिवत्सरकालस्तस्य स्थितिरुच्यते। स्थित्यन्ते स्वांशं महाविराट्पुरुषमभ्येति। ततः सावरणं ब्रह्माण्डं विनाशमेति। ब्रह्माण्डावरणं विनश्यति तद्धि विष्णोः स्वरूपम्। तस्य तावत्प्रलयो भवति। प्रलये सर्वशून्यं भवति ॥5॥

ब्रह्मा की स्थिति और प्रलय का जो कालमान है, वह आदित्यनारायण के अंश से उत्पन्न महाविष्णु के एक दिन-रात होते हैं। उनके भी वे दोनों दिन-रात मिलकर एक पूरा दिवस होता है और उसी प्रकार दिन, पक्ष, महीना, ऋतु, अयन, वर्ष आदि भेद का अनुसरण करके उनके काल – मान के अनुसार पुरुष के सौ करोड़ वर्ष तक के कालपर्यन्त उनकी स्थिति कही जाती है। उस स्थिति के अन्त में वे महाविष्णु अपने अंशरूप महापुरुष में मिल जाते हैं (महाविराट् में मिल जाते हैं)। इसके बाद आवरणसहित ब्रह्माण्ड का नाश हो जाता है। यही विष्णु का स्वरूप है। उसका प्रथम प्रलय होता है और बाद में, और उस प्रलय में सब शून्य हो जाता है।

अण्डपरिपालकमहाविष्णोः स्थितिप्रलयावादिविराट्पुरुषस्याहोरात्रिसंज्ञिकौ। ते अहोरात्रे एकं दिनं भवति। एवं दिनपक्षमाससंवत्सरादिभेदाच्च तदीयमानेन शतकोटिवत्सरकालस्तस्य स्थितिरुच्यते। स्थित्यन्ते आदिविराट्पुरुषः स्वांशं मायोपाधिकनारायणमभ्येति। तस्य विराट्पुरुषस्य यावत्स्थितिकालस्तावत्प्रलयो भवति। प्रलये सर्वशून्यं भवति ॥6॥

अण्डपरिपालक विष्णु की वह स्थिति और प्रलय का जो कालमान है, वही आदि विराट् पुरुष के दिन-रात होते हैं। वे दिन-रात दोनों मिलकर एक पूरा दिवस होता है। इस प्रकार दिन, पक्ष, महीना, ऋतु, अयन, वर्ष आदि के भेद से उनके कालमान के आधार पर सौ करोड़ वर्ष तक के काल-

पर्यन्त उनकी स्थिति कही जाती है। उस स्थिति के अन्त में आदि विराट् पुरुष अपने अंशरूप मायोपाधिक नारायण में मिल जाते हैं। उस विराट् पुरुष की स्थिति का जितना काल होता है, उतना ही काल प्रलय होता है। प्रलय में सब शून्य हो जाता है।

विराट्स्थितिप्रलयौ मूलाविद्याऽण्डपरिपालकस्यादिनारायणस्याहोरात्रिसंज्ञिकौ। ते अहोरात्रे एकं दिनं भवति। एवं दिनपक्षमाससंवत्सरादिभेदाच्च तदीयमानेन शतकोटिवत्सरकालस्तस्य स्थितिरुच्यते। स्थित्यन्ते त्रिपाद्विभूतिनारायणस्येच्छावशान्निमेषो जायते। तस्मान्मूलाविद्याऽण्डस्य सावरणस्य विलयो भवति। ततः सविलासा मूलाविद्या सर्वकार्योपाधिसमन्विता सदसद्विलक्षणाऽनिर्वाच्या लक्षणशून्याविर्भावतिरोभावात्मिकाऽनाद्यखिलकारणकारणाऽनन्तमहामायाविशेषणविशेषिता परमसूक्ष्ममूलकारणमव्यक्तं विशति। अव्यक्तं विशेद्ब्रह्मणि निरिन्धनो वैश्वानरो यथा। तस्मान्मायोपाधिक आदिनारायणस्तथा स्वस्वरूपं भजति। सर्वे जीवाश्च स्वस्वरूपं भजन्ते। यथा जपाकुसुमसान्निध्याद्रक्तस्फटिकप्रतीतिस्तदभावे शुद्धस्फटिकप्रतीतिः। ब्रह्मणोऽपि मायोपाधिवशात् सगुणपरिच्छिन्नादिप्रतीतिरुपाधिविलयान्निर्गुणनिरवयवादिप्रतीतिरित्युपनिषत् ॥7॥

इत्याथर्वणमहानारायणोपनिषदि मूलाविद्याप्रलयस्वरूपणं नाम तृतीयोऽध्यायः।

विराट् के जो ये स्थिति और प्रलय हैं, वे मूला अविद्या के अण्ड का परिपालन करने वाले आदि नारायण के दिन और रात होते हैं। वे दोनों – रात और दिन – मिलकर पूरा एक दिवस होता है। इस प्रकार दिन, पक्ष, महीना, ऋतु, अयन, वर्ष आदि के भेद से उनके कालमान के अनुसार सौ करोड़ वर्षों के काल तक उनकी स्थिति कही जाती है। उस स्थिति के अन्त में त्रिपाद्विभूतिनारायण की आँख की उन्हीं की इच्छा से एक पलक होती है। इससे मूल अविद्या के अण्ड का आवरणसहित प्रलय हो जाता है। इसके बाद विलासों के साथ वह मूला अविद्या सर्वकार्यरूप उपाधि समेत, परमसूक्ष्म मूलकारण अविद्या में प्रवेश करती है। वह मूल अविद्या सत् और असत् से अथवा सत्-असत् से विलक्षण रूप से बताना (लक्षित करना) असंभव है। वह लक्षणशून्य है। वह आविर्भाव-तिरोभावरूप है। वह अनादि है, सभी कारणों का वह कारण है। वह 'अनन्त महामाया'—ऐसे विशेषण से युक्त है। बाद में कालहीन अग्नि जैसा वह अव्यक्त ब्रह्म में प्रवेश करता है। इससे मायोपाधिक आदिनारायण उस प्रकार के अपने स्वरूप को प्राप्त होते हैं। और सभी जीव अपने स्वरूप को प्राप्त होते हैं। जैसे जपाकुसुम के पास रखने से स्फटिक मणि लाल दिखाई देती है और उसे हटा लेने से स्फटिक मणि शुद्ध दिखाई देती है, वैसे ही ब्रह्म भी मायारूप उपाधि के कारण सगुण, प्रमेयरूप आदि रूपों में दिखाई देता है परन्तु उपाधि के लय होने से निर्गुण, अवयवरहित आदि रूप में दिखाई देता है। ऐसा यह उपनिषद् कहती है।

इस प्रकार आथर्वण-महानारायणोपनिषद् में 'मूलाविद्यास्वरूपनिरूपण' नामक तृतीय अध्याय समाप्त होता है।

❋

चतुर्थोऽध्यायः

ॐ ततस्तस्मान्निर्विशेषमतिनिर्मलं भवति। अविद्यापादमतिशुद्धं भवति। शुद्धबोधानन्दलक्षणकैवल्यं भवति। ब्रह्मणः पादचतुष्टयं निर्विशेषं भवति। अखण्डलक्षणाखण्डपरिपूर्णसच्चिदानन्दस्वप्रकाशं भवति। अद्वितीयमनीश्वरं भवति। अखिलकार्यकारणस्वरूपमखण्ड-चिद्घनानन्दस्वरूपमतिदिव्यमङ्गलाकारं निरतिशयानन्दतेजोराशिविशेषं सर्वपरिपूर्णानन्तचिन्मयस्तम्भाकारं शुद्धबोधानन्दविशेषाकारमनन्त-चिद्विलासविभूतिसमष्ट्याकारमद्भुतानन्दाश्चर्यविभूतिविशेषाकारमनन्त-परिपूर्णानन्ददिव्यसौदामिनीनिचयाकारम्। एवमाकारमद्वितीयाखण्डा-नन्दब्रह्मस्वरूपं निरूपितम् ॥1॥

ॐ इस कारण से ब्रह्म निर्विशेष और निर्मल है। अविद्या का पाद बहुत ही शुद्ध है। शुद्ध बोध और आनन्द का लक्षण युक्त कैवल्यपद है। ब्रह्म के चारों पद निर्विशेष हैं। ब्रह्म स्वयं अखण्ड लक्षणयुक्त अखण्डपरिपूर्ण सच्चिदानन्दस्वरूप और स्वयंप्रकाशित है। और भी, वह अद्वितीय और स्वयं के सिवा अन्य ईश्वररहित है। वह समग्र कार्य-कारण स्वरूप, अखण्डचैतन्य से घिरा हुआ है। वह अत्यन्त दिव्य और मंगल स्वरूपवाला है। निरतिशय आनन्द और तेज के राशि जैसा है। वह सर्वथा परिपूर्ण और अनन्त चैतन्य के स्तम्भ जैसा, शुद्ध बोध और विशिष्ट आनन्द का स्वरूप है। वह अनन्त चैतन्य विलासों की विभूतिरूप, समष्टि आकार रूप, अद्भुत आनन्द और आश्चर्य की विशिष्ट विभूतिरूप और अनन्त आनन्दरूप दिव्य विद्युत् के समूह जैसे रूप वाला है। ऐसे आकारवाला अद्वितीय अखण्ड आनन्दरूप ब्रह्म का स्वरूप वर्णित है।

अथ छात्रो वदति। भगवन् पादभेदादिकं कथं कथमद्वैतस्वरूपमिति निरूपितम् ॥2॥

देशिकः परिहरति। विरोधो न विद्यते। ब्रह्माद्वितीयमेव सत्यम्। तथैवोक्तं च। ब्रह्मभेदो न कथितो ब्रह्मव्यतिरिक्तं न किञ्चिदस्ति। पादभेदादिकथनं तु ब्रह्मस्वरूपकथनमेव। तदेवोच्यते। पादचतुष्ट-यात्मकं ब्रह्म तत्रैकमविद्यापादं पादत्रयममृतं भवति। शाखाऽन्तरो-पनिषत्स्वरूपमेव निरूपितम् ॥3॥

यह सुनकर शिष्य पूछता है—'हे भगवन्! अलग-अलग पाद-भेद होने पर भी ब्रह्म को अद्वैतस्वरूप से क्यों प्रतिपादित किया गया है ?' तब गुरु उसकी शंका का समाधान करते हैं—'इसमें कोई विरोध नहीं है। पारमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म तो अद्वितीय ही है। इसी अभिप्राय से कहा गया है कि ब्रह्म में कुछ भी भेद नहीं है। ब्रह्म से अलग कुछ है ही नहीं। जो पाद आदि भेद कहे गए हैं, वे तो ब्रह्म का स्वरूप ही कहा गया है। वही बताया जाता है कि ब्रह्म चार पादों वाला है। उनमें एक अविद्यापाद है, और तीन पाद अमृत हैं। अन्य शाखाओं की उपनिषदों में भी इसी स्वरूप का निरूपण किया गया है।

तमसस्तु परं ज्योतिः परमानन्दलक्षणम्।
पादत्रयात्मकं ब्रह्म कैवल्यं शाश्वतं परम् ॥4॥

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेवं विद्वानमृत इह भवति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥5॥
सर्वेषां ज्योतिषां ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं परंज्योतिस्तमस उपरि विभाति ॥6॥

तमस से (अविद्या से) परे परमज्योति है। वह परमानन्दरूप लक्षणयुक्त है। तीन पादात्मक ब्रह्म, कैवल्य, सनातन और सबसे परे हैं। मैं उस महान् पुरुष को जानता हूँ, जो आदित्य (सूर्य) जैसे वर्ण (तेज) वाला है और जो तमस से ऊपर उठा है (परे है)। उसी को जानकर मनुष्य मृत्यु का अतिक्रमण कर सकता है। मोक्ष के लिए (शाश्वत स्थान के लिए) अन्य कोई भी मार्ग नहीं है। वह सभी ज्योतियों का भी ज्योति है और तमस् से परे है। वह सर्व का विधाता है, उसका स्वरूप अचिन्त्य है, सूर्य जैसे तेज वाला है, जो तमस् से ऊपर उठकर (तमस् को लांघकर) प्रकाशित हो रहा है।

यदेकमव्यक्तमनन्तरूपं विश्वं पुराणं तमसः परस्तात् ।
तदेवर्तं तदु सत्यमाहुस्तदेव सत्यं तदेव ब्रह्म परमं विशुद्धम् ॥7॥
कथ्यते तमश्शब्देनाविद्या ॥8॥
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ।
त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवात् पुनः ।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनाऽनशने अभि ॥9॥
विद्याऽऽनन्दतुरीयाख्यपादत्रयममृतं भवति ।
अवशिष्टमविद्याश्रयमिति ॥10॥

जो एक, अव्यक्त, अनन्तरूपधारी, सर्वस्वरूप पुराण (अत्यन्त पुरातन) और तमस् से परे है, उसी को ऋत और सत्य कहा जाता है। और वही सत्य तथा वही विशुद्ध परब्रह्म कहा जाता है। यहाँ 'तमस्' शब्द से अविद्या कही गई है। ये जो सभी भूत हैं, वे ब्रह्म का एक पाद है। ब्रह्म के जो शेष के तीन पाद हैं, वे अमृतस्वरूप हैं और दिव्यलोक में हैं। तीन पादों वाले वे पुरुष ऊर्ध्वस्थान में उदित हुए हैं, इस लोक में उनका एक पाद था। फिर वह एक पाद चारों ओर विशेष गतिमान हुआ। यह जो चारों ओर अन्नयुक्त और अन्नरहित जो कुछ भी दिखाई दे रहा है, वह उसी का रूप है। विद्या, आनन्द और तुरीय नामक तीन पाद अमृत हैं। शेष एक पाद अमृत के आश्रयवाला है।

आत्मारामस्यादिनारायणस्य कीदृशावुन्मेषनिमेषौ तयोः स्वरूपं कथमिति ॥11॥
गुरुर्वदति। पराग्दृष्टिरुन्मेषः। प्रत्यग्दृष्टिर्निमेषः। प्रत्यग्दृष्ट्या स्वस्वरूपचिन्तनमेव निमेषः। पराग्दृष्ट्या स्वस्वरूपचिन्तमेवोन्मेषः। यावदुन्मेषकालस्तावन्निमेषकालो भवति। अविद्यायाः स्थितिरुन्मेषकाले निमेषकाले तस्याः प्रलयो भवति। यथा उन्मेषो जायते तथा चिरन्तनातिसूक्ष्मवासनाबलात् पुनरविद्याया उदयो भवति। यथापूर्वमविद्याकार्याणि जायन्ते। कार्यकारणोपाधिभेदाज्जीवेश्वरभेदोऽपि दृश्यते।
कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः ।
ईश्वरस्य महामाया तदाज्ञावशवर्तिनी ॥12॥

शिष्य ने पुनः पूछा—'आत्माराम आदित्यनारायण के नेत्रों का मिलन और उन्मीलन कैसा है ? (उनके उन्मेष-निमेष का स्वरूप क्या है ?) तब गुरु ने कहा—'बाहर की भेददृष्टि ही उनके नेत्रों का उन्मेष (खुलना) है। और भीतर की अभेददृष्टि नेत्रों का निमेष (बन्द होना) है। प्रत्यक् दृष्टि से –भीतर की अभेददृष्टि से स्वरूप का चिन्तन करना ही निमेष है और पराक् दृष्टि से – बाहर की भेददृष्टि से स्वस्वरूप का चिन्तन करना ही उन्मेष है। जितना उन्मेष काल होता है, उतना ही निमेष काल भी होता है। उन्मेष काल में अविद्या की स्थिति होती है और निमेषकाल में उस स्थिति का प्रलय हो जाता है। जिस प्रकार से उन्मेष होता है, उसी प्रकार से पुरानी अतिसूक्ष्म वासनाओं के बल से फिर से अविद्या का उदय होता है। इसलिए उस समय में पहले की ही तरह से अविद्या के कार्य उत्पन्न होते हैं। कार्य और कारणरूप उपाधि के भेद से जीव और ईश्वर—ऐसा भेद भी दिखाई देता है। कार्य की उपाधिवाला जीव है, और कारण की उपाधिवाला ईश्वर है। ईश्वर की महामाया उनकी आज्ञा के वश में रहने वाली अर्थात् ईश्वर की इच्छानुसार वर्तन करने वाली है।

तत्सङ्कल्पानुसारिणी विविधानन्तमहामायाशक्तिसुसेविता अनन्तमहामायाजालजननमन्दिरा महाविष्णोः क्रीडाशरीररूपिणी ब्रह्मादीनामगोचरा। एतां महामायां तरन्त्येव ये विष्णुमेव भजन्ति। नान्ये तरन्ति कदाचन विविधोपायैरपि ॥13॥

उनके संकल्पों का अनुसरण करने वाली एवं महामाया की (अपनी) विविध और अनन्त शक्तियों से सम्पन्न ऐसी वह अनन्त महामाया अनेक प्रपंचों को उत्पन्न करने का स्थान है। वह महाविष्णु के क्रीडाशरीर का स्वरूप है। वह ब्रह्मादिकों को भी अगम्य है। जो लोग विष्णु को भजते हैं, वे ही इस महामाया को पार कर सकते हैं। अन्य लोग तो कभी इस महामाया को तैर नहीं सकते। विविध प्रकार के उपायों से भी इसे पार नहीं कर सकते।

अविद्याकार्याण्यन्तःकरणान्यतीत्य कालान्यनन्तानि जायन्ते। ब्रह्मचैतन्यं तेषु प्रतिबिम्बितं भवति। प्रतिबिम्बा एव जीवा इति कथ्यन्ते। अन्तःकरणोपाधिकाः सर्वे जीवा इत्येवं वदन्ति। महाभूतोत्थसूक्ष्माङ्गोपाधिकाः सर्वे जीवा इत्येके वदन्ति। बुद्धिप्रतिबिम्बितचैतन्यं जीवा इत्यपरे मन्यन्ते। एतेषामुपाधीनामत्यन्तभेदो न विद्यते। सर्वपरिपूर्णो नारायणस्त्वनया निजया क्रीडति स्वेच्छया सदा। तद्वदविद्यमानफल्गुविषयसुखाशयाः सर्वे जीवाः प्रधावन्त्यसारसंसारचक्रे। एवमनादिपरम्परा वर्ततेऽनादिसंसारविपरीतभ्रमादित्युपनिषत् ॥14॥

इत्याथर्वणमहानारायणोपनिषदि महामायाऽतीताखण्डाद्वैतपरमानन्दलक्षणपरब्रह्मणः परमतत्त्वस्वनिरूपणं नाम चतुर्थोऽध्यायः।

पूर्वकाण्डः समाप्तः।

क्योंकि वे विविध उपायों से अविद्याकार्यरूप अन्तःकरणों को चाहे पार कर भी लें, तो भी एक निश्चित काल के बाद फिर से वे अन्तःकरणों में जन्म लेते हैं, अर्थात् उन अन्तःकरणों में चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है। जीव ब्रह्म के प्रतिबिम्ब ही कहे जाते हैं। सभी जीव अन्तःकरण की उपाधि वाले

हैं, ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि वे सब जीव महाभूतों से उत्पन्न हुए सूक्ष्मशरीररूप उपाधिवाले हैं। और कुछ अन्य लोग ऐसा भी मानते हैं कि बुद्धि में प्रतिबिम्बित हुआ चैतन्य ही जीव है। परन्तु इन उपाधियों में कोई अत्यन्त भेद नहीं है। परिपूर्ण नारायण जिस प्रकार अपनी इच्छा से सभी प्रकार से क्रीडा करते हैं, उसी प्रकार वास्तव में असत्य और क्षुद्र विषयसुख की इच्छावाले सभी जीव इस असार संसारचक्र में दौड़ा ही करते हैं। इस प्रकार अनादि ससार रूप भ्रम होने के कारण यह अनादि परंपरा चलती ही रहती है। क्योंकि यह अनादि संसार रूप भ्रम बना हुआ है, ऐसा यह उपनिषद् कहती है।

इस प्रकार आथर्वण-महानारायणोपनिषद् में परमतत्त्वस्वनिरूपण
नामक चतुर्थ अध्याय समाप्त हुआ।

❋

पञ्चमोऽध्यायः

अथ शिष्यो वदति गुरुं भगवन्तं नमस्कृत्य भगवन् सर्वात्मना नष्टाया अविद्यायाः पुनरुदयः कथम् ॥1॥
सत्यमेवेति गुरुरिति होवाच। प्रावृट्कालप्रारम्भे यथा मण्डूकादीनां प्रादुर्भावस्तद्वत् सर्वात्मना नष्टाया अविद्याया उन्मेषकाले पुनरुदयो भवति ॥2॥

शिष्य ने पुनः गुरु भगवान् को नमस्कार करके पूछा—'हे भगवन्! सब प्रकार से यदि एक बार अविद्या नष्ट हो गई हो, तो भी उसका फिर से उदय क्यों होता है?' तब गुरु ने कहा—'यह बात ठीक है, परन्तु, जैसे वर्षाकाल के आरंभ होते ही मेंढ़कों की उत्पत्ति हो जाती है, वैसे ही सब प्रकार से नष्ट हुई अविद्या का फिर से उदय हो जाता है'।

भगवन् कथं जीवानामनादिसंसारभ्रमः। तन्निवृत्तिर्वा कथमिति। कथं मोक्षमार्गस्वरूपं च। मोक्षसाधनं कथमिति। को वा मोक्षोपायः। कीदृशं मोक्षस्वरूपम्। का वा सायुज्यमुक्तिः। एतत् सर्वं तत्त्वतः कथनीयमिति ॥3॥

इसके बाद शिष्य ने फिर पूछा—'हे भगवन्! जीवों को अनादि संसार का जो भ्रम हुआ है, वह दूर कैसे हो सकता है? मोक्षमार्ग का स्वरूप कैसा है? मोक्ष का साधन क्या है? मोक्ष का उपाय क्या है? मोक्ष का स्वरूप कैसा है? सायुज्य मुक्ति कौन-सी है? यह सब मुझे तत्त्वतः (सही स्वरूप में) कहिए।'

अत्यादरपूर्वकमतिहर्षेण शिष्यं बहूकृत्य गुरुर्वदति—श्रूयतां सावधानेन। कुत्सितानन्तजन्माभ्यस्तात्यन्तोत्कृष्टविविधविचित्रानन्तदुष्कर्मवासनाजालविशेषैर्देहात्मविवेको न जायते। तस्मादेव दृढतरदेहात्मभ्रमो भवति। अहमज्ञः किंचिज्ज्ञोऽहमहं जीवोऽहमत्यन्तदुःखाकारोऽहमनादिसंसारीति भ्रमवासनाबलात् संसार एव प्रवृत्तिः। तन्निवृत्त्युपायः कदाऽपि न विद्यते। मिथ्याभूतान् स्वप्नतुल्यान् विषयभोगाननुभूय विविधानसंख्यानतिदुर्लभान् मनोरथाननवरतमाशास्यमान अतृप्तः सदा

परिधावति। विविधविचित्रस्थूलसूक्ष्मोत्कृष्टनिकृष्टानन्तदेहान् परिगृह्य तत्तद्देहविहितविविधविचित्रानेकशुभाशुभप्रारब्धकर्माण्यनुभूय तत्तत् कर्मफलवासनाजालवासितान्तःकरणानां पुनःपुनस्तत्तत्कर्मफलविषय-प्रवृत्तिरेव जायते। संसारनिवृत्तिमार्गप्रवृत्तिरपि न जायते। तस्माद-निष्टमेवेष्टमिव भाति। इष्टमेवानिष्टमिव भात्यनादिसंसारविपरीतभ्रमात्। तस्मात् सर्वेषां जीवानामिष्टविषये बुद्धिः सुखबुद्धिर्दुःखबुद्धिर्भवति। परमार्थतस्त्वबाधितब्रह्मसुखविषये प्रवृत्तिरेव न जायते तत्स्वरूप-ज्ञानाभावात्। तत्किमिति न विद्यते। कथं बन्धः कथं मोक्ष इति विचाराभावाच्च। तत्कथमिति। अज्ञानप्राबल्यात्। कस्मादज्ञान-प्राबल्यमिति। भक्तिज्ञानवैराग्यवासनाऽभावाच्च। तदभावः कथमिति। अत्यन्तान्तःकरणमालिन्यविशेषात् ॥4॥

यह सुनकर अति आदरपूर्वक अतिहर्ष से शिष्य की प्रशंसा करते हुए गुरु बोले—'सावधान होकर सुनो। निन्दनीय और जन्मजन्मान्तर से परिशीलित ऐसी अत्युत्कृष्ट तथा अतिनिन्दनीय विविध, विचित्र, अनन्त दुष्ट कर्मों की तरह-तरह की वासनाओं के कारण देह और आत्मा का विवेक ज्ञान नहीं हो सकता। इसीलिए तो देह के ऊपर आत्मा की मान्यता का अतिदृढ भ्रम उत्पन्न होता है। 'मैं अज्ञानी हूँ', 'मैं अल्पज्ञ हूँ', 'मैं जीव हूँ', 'मैं दुःखों की बड़ी निधि हूँ', 'मैं अनादि संसारी हूँ'—ऐसी-ऐसी भ्रामक वासनाओं के बल से संसार में ही प्रवृत्ति हुआ करती है। इससे इसकी निवृत्ति का उपाय कभी भी देखा (जाना) नहीं जा सकता। स्वप्न जैसे मिथ्या विषयभोगों का अनुभव करके भाँति-भाँति के असंख्य और अतिदुर्लभ मनोरथों की निरन्तर आशा करता हुआ अतृप्त जीव सदैव दौड़ा ही करता है। तरह-तरह के विचित्र स्थूल-सूक्ष्म-उत्तम-अधम-अनन्त देहों को स्वीकार करके उस-उस देह के द्वारा किए गए विविध-विचित्र-अनेक-शुभाशुभ प्रारब्ध कर्मों का अनुभव करके, उन-उन कार्यों के फलों की अनेक वासनाओं से जिनके अन्तःकरण वासित हो गए हों, उन लोगों की प्रवृत्ति घूम-घूम कर फिर से वहीं – उन कर्मफलों के विषयों में ही – होती रहती है। परन्तु उनकी प्रवृत्ति कभी भी संसार की निवृत्ति के मार्ग में नहीं होती। इससे उनको अनिष्ट भी इष्ट जैसा मालूम होता है और इष्ट भी अनिष्ट जैसा मालूम होता है। क्योंकि उन्हें अनादिसंसार का विपरीत भ्रम हुआ करता है। इसका कारण यह है कि उन्हें उसके स्वरूप का सच्चा ज्ञान ही नहीं है। और वह क्या है, यह भी वे नहीं जानते। और बन्धन क्यों होता है, और मोक्ष किस प्रकार मिल सकता है, ऐसा विचार तक उन लोगों को नहीं आता। क्योंकि उनमें तो अज्ञान की ही प्रबलता होती है। ऐसे अज्ञान की प्रबलता भी इसलिए होती है कि उनमें भक्ति और ज्ञान की वासना नहीं होती। भक्ति-ज्ञान-वैराग्य की वासना का अभाव भी इसलिए होता है कि उनमें अन्तःकरण की बहुत मलिनता होती है।

अतः संसारतरणोपायः कथमिति ॥5॥

देशिकस्तमेव कथयति। सकलवेदशास्त्रसिद्धान्तरहस्यजन्मजन्माभ्य-स्तात्यन्तोत्कृष्टसुकृतपरिपाकवशात् सद्भिः सङ्गो जायते। तस्माद्विधि-निषेधविवेको भवति। ततः सदाचारप्रवृत्तिर्जायते। सदाचारादखिल-दुरितक्षयो भवति। तस्मादन्तःकरणमतिविमलं भवति ॥6॥

शिष्य ने पूछा—'तब संसार को पार करने का क्या उपाय है ?' तब गुरु कहते हैं—'समग्र

वेदशास्त्रों के सिद्धान्तों के रहस्य से यह समझा जा सकता है कि जन्मजन्मान्तर में आचरण किए गए अतिउत्कृष्ट पुण्य के परिपाक से ही सज्जनों का संग होता है। इससे विधि-निषेध का विवेक होता है। उससे सदाचार में प्रवृत्ति होती है। सदाचार से सभी पापों का नाश होता है और उससे अन्तःकरण अति निर्मल हो जाता है।

ततः सद्गुरुकटाक्षमन्तःकरणमाकाङ्क्षति। तस्मात् सद्गुरुकटाक्षलेश-विशेषेण सर्वसिद्धयः सिद्ध्यन्ति। सर्वबन्धाः प्रविनश्यन्ति। श्रेयोविघ्नाः सर्वे प्रलयं यान्ति। सर्वाणि श्रेयांसि स्वयमेवायान्ति। यथा जात्यन्धस्य रूपज्ञानं न विद्यते तथा गुरूपदेशेन विना कल्पकोटिभिस्तत्त्वज्ञानं न विद्यते। तस्मात् सद्गुरुकटाक्षलेशविशेषेणाचिरादेव तत्त्वज्ञानं भवति ॥7॥

इसके बाद, वह अन्तःकरण सद्गुरु के कृपा-भरे कटाक्ष को चाहता है। सद्गुरु के कृपाकटाक्ष के लेशमात्र से भी सभी सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं, सब बन्धन नष्ट हो जाते हैं, कल्याण के मार्ग में आने वाले सभी विघ्न नष्ट हो जाते हैं, सभी कल्याण अपने आप ही प्राप्त हो जाते हैं। जैसे जन्मान्ध मनुष्य को रंग का ज्ञान नहीं होता, वैसे ही गुरु के उपदेश के बिना करोड़ों कल्पों में भी तत्त्वज्ञान नहीं हो सकता। परन्तु सद्गुरु के कृपाकटाक्ष के लेशमात्र से भी तुरंत तत्त्वज्ञान हो जाता है।

यदा सद्गुरुकटाक्षो भवति तदा भगवत्कथाश्रवणध्यानादौ श्रद्धा जायते। तस्माद्धृदयस्थिताऽनादिदुर्वासनाग्रन्थिविनाशो भवति। ततो हृदय-स्थिताः कामाः सर्वे विनश्यन्ति। तस्माद्धृदयपुण्डरीककर्णिकायां परमात्माविर्भावो भवति ॥8॥

जिस समय गुरु का कृपा-कटाक्ष होता है, उस समय भगवान् की कथा के श्रवण, ध्यान, आदि में श्रद्धा उत्पन्न होती है। इसके बाद हृदय में स्थित अनादि दुष्ट वासनाओं की ग्रन्थियाँ नष्ट हो जाती हैं। इससे हृदयस्थित सभी कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं। इसके बाद हृदयकमल की कली में परमात्मा का प्राकट्य होता है।

ततो दृढतरा वैष्णवी भक्तिर्जायते। ततो वैराग्यमुदेति। वैराग्याद्बुद्धि-विज्ञानाविर्भावो भवति। अभ्यासात्तज्ज्ञानं क्रमेण परिपक्वं भवति ॥9॥

इसके बाद, अतिशय दृढ विष्णु-भक्ति उत्पन्न होती है। इसके बाद वैराग्य होता है। वैराग्य से बुद्धि में विज्ञान का आविर्भाव होता है। बाद में परिशीलन करते रहने से वह विज्ञान परिपक्व हो जाता है।

पक्वविज्ञानाज्जीवन्मुक्तो भवति। ततः शुभाशुभकर्माणि सर्वाणि सवासनानि नश्यन्ति। ततो दृढतरशुद्धसात्त्विकवासनया भक्त्यतिशयो भवति। भक्त्यतिशयेन नारायणः सर्वमयः सर्वावस्थासु प्रविभाति। सर्वाणि जगन्ति नारायणमयानि प्रविभान्ति। नारायणव्यतिरिक्तं न किञ्चिदस्ति। इत्येतद्बुद्ध्या विहरत्युपासकः सर्वत्र ॥10॥
निरन्तरसमाधिपरंपराभिर्जगदीश्वराकाराः सर्वत्र सर्वावस्थासु प्रविभान्ति। अस्य महापुरुषस्य क्वचित्क्वचिदीश्वरसाक्षात्कारो भवति ॥11॥

परिपक्व ज्ञान से जीवन्मुक्त होता है। इसके बाद वासनाओं के साथ सभी शुभ-अशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं। और उसके बाद अति दृढ और शुद्ध सात्त्विक वासना से भक्ति की अतिशयता प्रकट होती है और भक्ति की अतिशयता से सभी अवस्थाओं में सर्वमय श्रीनारायण प्रकाशित हो उठते हैं। तब यह सारा जगत् श्रीनारायणमय ही दिखाई देता है। और 'नारायण से कुछ भी अलग नहीं है'—ऐसा अनुभव कर वह उपासक सर्वत्र विहार करता है। निरन्तर समाधि की अवस्थाएँ बढ़ती रहने से सभी जगह, सभी अवस्थाओं में जगदीश्वर का स्वरूप दिखाई देता है। उस महापुरुष को कभी-कभी ईश्वर का साक्षात्कार भी होता है।

अस्य देहत्यागेच्छा यदा भवति तदा वैकुण्ठपार्षदाः सर्वे समायान्ति। ततो भगवद्ध्यानपूर्वकं हृदयकमले व्यवस्थितमात्मानं स्वमन्तरात्मानं सञ्चिन्त्य सम्यगुपचारैरभ्यर्च्य हंसमन्त्रमुच्चरन् सर्वाणि द्वाराणि संयम्य सम्यङ् मनो निरुध्य चोर्ध्वगेन वायुना सह प्रणवेन प्रणवानुसंधानपूर्वकं शनैः शनैराब्रह्मरन्ध्राद्विनिर्गत्य सोऽहमिति मन्त्रेण द्वादशान्तस्थित-परमात्मानमेकीकृत्य पञ्चोपचारैरभ्यर्च्य पुनः सोऽहमिति मन्त्रेण षोडशान्तस्थितज्ञानात्मानमेकीकृत्य सम्यगुपचारैरभ्यर्च्य प्राकृतपूर्वदेहं परित्यज्य पुरःकल्पितमन्त्रमयशुद्धब्रह्मतेजोमयनिरतिशयानन्दमयमहा-विष्णुसारूप्यविग्रहं परिगृह्य सूर्यमण्डलान्तर्गतानन्तदिव्यचरणारविन्दा-ङ्गुष्ठनिर्गतनिरतिशयानन्दमयामरनदीप्रवाहमाकृष्य भावनयाऽत्र स्नात्वा वस्त्राभरणाद्युपचारैरात्मपूजां विधाय साक्षान्नारायणो भूत्वा ततो गुरु-नमस्कारपूर्वकं प्रणवगरुडं ध्यात्वा ध्यानेनाविर्भूतमहाप्रणवगरुडं पञ्चो-पचारैराराध्य गुर्वनुज्ञया प्रदक्षिणनमस्कारपूर्वकं प्रणवगरुडमारुह्य महाविष्णोः समस्तासाधारणचिह्नचिह्नितो महाविष्णोः समस्तासाधारण-दिव्यभूषणैर्भूषितः सुदर्शनपुरुषं पुरस्कृत्य विष्वक्सेनपरिपालितो वैकुण्ठपार्षदैः परिवेष्टितो नभोमार्गमाविश्य पार्श्वद्वयस्थितानेकपुण्य-लोकानतिक्रम्य तत्रत्यैः पुण्यपुरुषैरभिपूजितः सत्यलोकमाविश्य ब्रह्माणमभ्यर्च्य ब्रह्मणा च सत्यलोकवासिभिः सर्वैरभिपूजितः शैवमीशानकैवल्यमासाद्य शिवं ध्यात्वा शिवमभ्यर्च्य शिवगणैः सर्वैः शिवेन चाभिपूजितो महर्षिमण्डलानतिक्रम्य सूर्यसोममण्डले भित्त्वा कीलकनारायणं ध्यात्वा ध्रुवमण्डलस्य दर्शनं कृत्वा भगवन्तं ध्रुवमभि-पूज्य ततः शिंशुमारचक्रं विभिद्य शिंशुमारप्रजापतिमभ्यर्च्य चक्रमध्यगतं सर्वाधारं सनातनं महाविष्णुमाराध्य तेन पूजितस्तत उपर्युपरि गत्वा परमानन्दं प्राप्य प्रकाशते ॥12॥

जब उसको शरीर के त्याग की इच्छा होती है, तब वैकुण्ठ के सभी पार्षद उसके स्वागत के लिए सामने आते हैं। तब वह भगवान् का ध्यान करके अपने हृदयस्थ अन्तरात्मा का चिन्तन करता है, और बाद में सुचारु रीति से उपचारों के द्वारा उनका पूजन करता है। हंसमन्त्र का उच्चारण करता हुआ वह सभी इन्द्रियरूपी द्वारों को बन्द कर देता है। मन को ठीक तरह से वश में लाता है। बाद में ऊर्ध्वगतिवाले प्राणवायु के साथ प्रणवमन्त्र के अनुसन्धानपूर्वक धीरे-धीरे ब्रह्मरन्ध्र से बाहर

निकलता है। बाद में 'सोऽहं' इस मन्त्र से बारह इन्द्रियों की पश्चाद् भू में अवस्थित परमात्मा के साथ, अपने आत्मा को एक करके पंचोपचार से उनकी पूजा करता है, और बाद में पुन: 'सोऽहं' इस मन्त्र से सोलह इन्द्रियों के पीछे अवस्थित ज्ञानात्मा को अपने आत्मा के साथ एकीकृत करके यथोचित उपचारों से उनकी पूजा करके प्राकृत पूर्वदेह का त्याग करता है। बाद में कल्पित मन्त्रमय और शुद्ध ब्रह्म के तेजोमय-निरतिशय-आनन्दमय महाविष्णु के समान रूपवाले शरीर को स्वीकार करता है। इसके बाद, सूर्यमण्डल के भीतर अवस्थित अनन्त भगवान् के दिव्य चरणकमल के अंगुष्ठ से निकली हुई निरतिशय आनन्दमय अलौकिक नदी के प्रवाह को आकर्षित करके भावनापूर्वक उसमें स्नान करता है। इसके बाद वस्त्रालंकार आदि उपचारों से अपने आत्मा की पूजा करके साक्षात् नारायणस्वरूप हो जाता है। बाद में गुरु-नमस्कारपूर्वक प्रणवरूप गरुड का ध्यान करता है। ऐसा ध्यान करने से प्रणवरूप गरुड वहाँ प्रकट होते हैं। अत: पंच उपचारों से प्रणवगरुड की पूजा करके गुरु की अनुज्ञा से उसकी प्रदक्षिणा, नमस्कार आदि करके उसपर सवार होता है। बाद में महाविष्णु के सभी असाधारण चिह्नों से युक्त होकर वह महाविष्णु के सभी असाधारण भूषणों से भूषित होता है। उसके बाद, सुदर्शन पुरुष को आगे करके वह विष्वक्सेन भगवान् से रक्षित होते हुए और वैकुण्ठ के पार्षदों से आवृत होकर आकाशमार्ग में प्रवेश करता है। वहाँ अपने दोनों ओर स्थित अनेक पवित्र लोकों का अतिक्रमण करके, वहाँ के पवित्र पुरुषों के द्वारा पूजित होकर सत्यलोक में प्रवेश करता है। वहाँ वह ब्रह्मा की पूजा करता है। इसलिए ब्रह्मा और सत्यलोकवासी लोग उसकी भी पूजा सामने से करते हैं। इसके बाद शिव के ईशान कैवल्यधाम में वह पहुँचता है। वहाँ शिव का ध्यान करके वह शिव की पूजा करता है। इसलिए सामने से शिव स्वयं और शिव के सभी गण भी उसकी प्रतिपूजा करते हैं। इसके बाद वह सभी महर्षियों के मण्डलों का अतिक्रमण करके सूर्यमण्डल और चन्द्रमण्डल से भी आगे जाकर कीलकनारायण (सभी के केन्द्र अर्थात् मध्य में स्थित खूँटा या आधार) का ध्यान करके ध्रुवमण्डल के दर्शन करता है। फिर भगवान् ध्रुव की पूजा करके वहाँ से शिंशुमार चक्र में प्रवेश करता है। वहाँ वह शिंशुमार प्रजापति की पूजा करके उस चक्र के बीच में स्थित सर्वाधार सनातन महाविष्णु की आराधना करता है। इससे उन महाविष्णु के द्वारा भी सामने से प्रतिपूजित होकर वह ऊपर से भी ऊपर जाते हुए परमानन्द को प्राप्त करके प्रकाशित होता है।

ततो वैकुण्ठवासिनः सर्वे समायान्ति। तान् सर्वान् सुसम्पूज्य तैः सर्वैरभिपूजितश्चोपर्युपरि गत्वा विरजानदीं प्राप्य तत्र स्नात्वा भगवद्ध्यानपूर्वकं पुनर्निमज्ज्य तत्रापञ्चीकृतभूतोत्थसूक्ष्माङ्गं भोगसाधनं सूक्ष्मशरीरमुत्सृज्य केवलमन्त्रमयदिव्यतेजोमयनिरतिशयानन्दमयमहाविष्णुसारूप्यविग्रहं परिगृह्य तत उन्मज्ज्यात्मपूजां विधाय प्रदक्षिणनमस्कारपूर्वकं ब्रह्ममयवैकुण्ठमाविश्य तत्रत्यान् विशेषेण सम्पूज्य तन्मध्ये च ब्रह्मानन्दमयानन्तप्राकारप्रासादतोरणविमानोपवनावलिभिर्ज्वलच्छिखरैरुपलक्षितो निरुपमनित्यनिरवद्यनिरतिशयनिरवधिकब्रह्मानन्दाचलो विराजते ॥13॥

इसके बाद सब वैकुण्ठवासी उसके सामने स्वागत करने के लिए आते हैं। इसलिए वह उन सभी की अच्छी तरह से पूजा करता है। तब वे सब भी उसकी प्रतिपूजा करते हैं। फिर वहाँ से ऊपर ही ऊपर जाते हुए वह विरजा नाम की नदी पर पहुँचता है। उसमें स्नान करने के बाद भगवान् का नाम

लेकर फिर से उसमें एक डुबकी लगाकर अपंचीकृत भूतों से उत्पन्न हुए सूक्ष्म अंगभोग के साधनरूप सूक्ष्म शरीर का उसमें त्याग कर देता है। बाद में केवलमन्त्रमय, दिव्यतेजोमय और निरतिशय आनन्दमय महाविष्णु के समान स्वरूपवाले शरीर को स्वीकार करके उस नदी में से बाहर निकलकर आत्मा की पूजा करने के बाद ब्रह्ममय वैकुण्ठधाम में प्रदक्षिणा और नमस्कार करके प्रवेश करता है। फिर वहाँ के निवासियों की पूजा करता है। उस धाम के बीच ब्रह्मानन्दमय नाम का एक पर्वत शोभित हो रहा है, जो ब्रह्मानन्दमय, अनेक किलों वाला है, अनेक महलों, तोरणों, विमानों तथा बाग-बगीचों की पंक्तियों से प्रकाशित शिखरों वाला है। वह पर्वत नित्य, निर्दोष, निरतिशय और निरवधि रूप से विराजमान है।

तदुपरि ज्वलति निरतिशयानन्ददिव्यतेजोराशिः। तदभ्यन्तरसंस्थाने शुद्धबोधानन्दलक्षणं विभाति। तदन्तराले चिन्मयवेदिका आनन्द-वेदिका आनन्दवनविभूषिता। तदभ्यन्तरे अमिततेजोराशिस्तदुपरि ज्वलति। परममङ्गलासनं विराजते। तत्पद्मकर्णिकायां शुद्धशेषो भोगासनं विराजते। तस्योपरि समासीनमानन्दपरिपालकमादिनारायणं ध्यात्वा तमीश्वरं विविधोपचारैराराध्य प्रदक्षिणनमस्कारान् विधाय तदनुज्ञातश्चोपर्युपरि गत्वा पञ्चवैकुण्ठानतीत्याण्डविराट्कैवल्यं प्राप्य तं समाराध्योपासकः परमानन्दं प्रापेत्युपनिषत् ॥14॥

इत्याथर्वणमहानारायणोपनिषदि संसारतरणोपायकथनद्वारा
परममोक्षमार्गस्वरूपनिरूपणं नाम पञ्चमोऽध्यायः।

उसके ऊपर निरतिशय आनन्दस्वरूप दिव्य तेजोराशि प्रकाशित हो रहा है। उसके बीच के स्थान में शुद्ध ज्ञान तथा आनन्द का लक्षण प्रकाशित है। और उसके बीच चैतन्यमय वेदिका है। वह आनन्दमय पीठिका और आनन्दमय वन से सुशोभित है। उसके ऊपर मध्य भाग में अमित तेजोराशि प्रकाशित हो रहा है, उस पर मंगलमय आसन शोभित है। उस आसनरूप कमल की कली में शुद्ध शेष भगवान् के शरीररूपी आसन विराजित है। उस आसन पर आनन्दपरिपालक आदिनारायण बैठे हुए हैं। उस ईश्वर का ध्यान करके उपासक विविध उपचारों से उनका आराधन करता है। बाद में उनकी प्रदक्षिणा और नमस्कार करके उनकी अनुमति प्राप्त करके ऊपर ही ऊपर जाते हुए पाँच वैकुण्ठधामों का अतिक्रमण करके अण्डविराट् नाम के कैवल्यपद को प्राप्त करता है। वहाँ उनका आराधन करके उपासक परमानंद को प्राप्त करता है, ऐसा यह उपनिषद् कहती है।

इस प्रकार आथर्वण-महानारायणोपनिषद् में परमतत्त्वस्वनिरूपण
नामक पञ्चम अध्याय समाप्त हुआ।

❈

षष्ठोऽध्यायः

तत उपासकः परमानन्दं प्राप। सावरणं ब्रह्माण्डं च भित्त्वा परितः समवलोक्य ब्रह्माण्डस्वरूपं निरीक्ष्य परमार्थतस्तत्स्वरूपं ब्रह्मज्ञानेनाव-बुध्य समस्तवेदशास्त्रेतिहासपुराणानि समस्तविद्याजालानि ब्रह्मादयः

सुराः सर्वे समस्ताः परमर्षयश्चाण्डाभ्यन्तरप्रपञ्चैकदेशमेव वर्णयन्ति। अण्डस्वरूपं न जानन्ति। ब्रह्माण्डाद्बहिः प्रपञ्चज्ञानं न जानन्त्येव। कुतोऽण्डान्तरान्तर्बहिः प्रपञ्चज्ञानं दूरतो मोक्षप्रपञ्चज्ञानमविद्याप्रपञ्चज्ञानं चेति ॥1॥

कथं ब्रह्माण्डस्वरूपमिति ॥2॥

अब जहाँ वह उपासक परमानन्द को प्राप्त हुआ होता है, वहाँ वह आवरणसहित ब्रह्माण्ड को भेदकर उसके चारों ओर देखकर वह ब्रह्माण्ड के स्वरूप का निरीक्षण करता है। इससे पारमार्थिक रूप से वह ब्रह्मज्ञान के द्वारा उसके स्वरूप को समझ सकता है। सभी वेद, शास्त्र, पुराण, इतिहास, सभी विद्याओं के समूह, ब्रह्मादि देव और सब महर्षि—ये सब तो ब्रह्माण्ड के भीतर स्थित प्रपंच के केवल एक भाग का ही (एक प्रदेश विशेष का ही) वर्णन करते हैं। पूरे ब्रह्माण्ड का वर्णन वे जानते नहीं है। क्योंकि ब्रह्माण्ड के बाहर के प्रपंच का ज्ञान तो उन्हें है ही नहीं। क्योंकि ब्रह्माण्ड के बीच, भीतर और बाहर का जो प्रपंचज्ञान है, और उससे भी दूर मोक्षप्रपंचज्ञान और अविद्याप्रपंचज्ञान है। इसलिए ब्रह्माण्ड के पूरे स्वरूप को तो वे भला कैसे पहचान पाएँगे ?

कुक्कुटाण्डाकारं महदादिसमष्ट्याकारमण्डं तपनीयमयं तप्तजाम्बूनद-प्रभमुद्यत्कोटिदिवाकराभं चतुर्विधसृष्ट्युपलक्षितं महाभूतैः पञ्चभिरावृतं महदहंकृतितमोभिश्च मूलप्रकृत्या परिवेष्टितम् ॥3॥

अण्डभित्तिविशालं सपादकोटियोजनप्रमाणम्। एकैकावरणं तथैव ॥4॥

अण्डप्रमाणं परितोऽयुतद्वयकोटियोजनप्रमाणं महामण्डूकाद्यनन्तशक्ति-भिरधिष्ठितं नारायणक्रीडाकन्तुकं परमाणुवद्विष्णुलोकसुसंलग्नमदृष्टा-श्रुतविविधविचित्रानन्तविशेषैरुपलक्षितम् ॥5॥

यह ब्रह्माण्ड मुर्गी के अण्डे के आकार जैसा है। महत्तत्त्व आदि समष्टि के आकारवाला है। सुवर्णमय है, तपाए हुए सोने जैसी कान्तिवाला है, उदीयमान करोड़ों सूर्य जैसे प्रकाशवाला है, चार प्रकार की सृष्टि से युक्त है, पाँच महाभूतों से आवृत है, तथा चारों ओर महत्तत्त्व, अज्ञान, अहंकार और मूल प्रकृति से घिरा हुआ है। इस ब्रह्माण्ड की दीवार की विशालता सवा करोड़ योजन के प्रमाण की है, एवं उसका एक-एक आवरण भी उतने ही प्रमाण का है। पूरे ब्रह्माण्ड का प्रमाण चारों ओर से दो करोड़ योजन के प्रमाण में है। महामण्डूक आदि अनेक अनन्त शक्तियों से वह आश्रित है। नारायण को खेलने की गेंद की तरह वह है। परमाणु की तरह वह विष्णुलोक से संलग्न (लगा हुआ) है, और किसी के द्वारा अनदेखी और अनसुनी अनेक तरह की विशेषताओं से वह युक्त है।

अस्य ब्रह्माण्डस्य समन्ततः स्थितान्येतादृशान्यनन्तकोटिब्रह्माण्डानि सावरणानि ज्वलन्ति ॥6॥

चतुर्मुखपञ्चमुखषण्मुखसप्तमुखाष्टमुखादिसंख्याक्रमेण सहस्रावधि-मुखान्तैर्नारायणांशैः रजोगुणप्रधानैरेकैकसृष्टिकर्तृभिरधिष्ठितानि विष्णु-महेश्वराख्यैर्नारायणांशैः सत्त्वतमोगुणप्रधानैरेकैकस्थितिसंहारकर्तृभिर-धिष्ठितानि महाजलौघमत्स्यबुद्बुदानन्तसङ्घवद् भ्रमन्ति ॥7॥

क्रीडासक्तजालककरतलामलकवृन्दवन्महाविष्णोः करतले विलसन्त्य-नन्तकोटिब्रह्माण्डानि ॥8॥

जलयन्त्रस्थघटमालिकाजालवन्महाविष्णोरेकैकरोमकूपान्तरेष्वनन्तकोटि-ब्रह्माण्डानि सावरणानि भ्रमन्ति ॥9॥

इस ब्रह्मांड के चारों ओर ऐसे अनन्त करोड़ों ब्रह्माण्ड आवरणसहित प्रकाशित हो रहे हैं। उनमें चतुर्मुखी, पंचमुखी, षण्मुखी, सप्तमुखी, अष्टमुखी आदि संख्यात्मक मुखवाले से लेकर सहस्रमुखी नारायण के अंश प्रतिष्ठित हैं। उनमें रजोगुण मुख्य होता है। वे सब एक-एक सृष्टि को रचने वाले हैं और उनमें विष्णु तथा महेश्वर नाम के नारायण के अंश भी स्थित हैं। वे अंश सत्त्वगुण तथा तमोगुण की प्रधानता वाले होते हैं, तथा एक-एक स्थिति तथा एक-एक संहार के करने वाले होते हैं। वे अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड बड़े जलप्रवाह में रहते हुए मत्स्यों और बुद्बुदों की तरह भ्रमण किया करते हैं। और क्रीडा में तल्लीन किसी बालक की हथेली में रखे हुए आँवला के फलों की तरह महाविष्णु की हथेली में शोभित होते हैं। और पानी खींचने के यन्त्र (रेंहट) में लगी हुई घटमाल की तरह से अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड महाविष्णु के प्रत्येक रोम में (प्रत्येक रोमछिद्र में) आवरणों के साथ घूमते रहते हैं।

समस्तब्रह्माण्डान्तर्बहिः प्रपञ्चरहस्यं ब्रह्मज्ञानेनावबुध्य विविधविचित्रानन्तपरमविभूतिसमष्टिविशेषान् समवलोक्यात्याश्चर्यामृतसागरे निमज्ज्य निरतिशयानन्दपारावारो भूत्त्वा समस्तब्रह्माण्डजालानि समुल्लङ्घ्यामितापरिच्छिन्नानन्ततमःसागरमुत्तीर्य मूलाविद्यापुरं दृष्ट्वा विविधविचित्रानन्तमहामायाविशेषैः परिवेष्टिताम् अनन्तमहामायाशक्तिसमष्ट्याकाराम् अनन्तदिव्यतेजोज्वालाजालैरलंकृताम् अनन्तमहामायाविलासानां परमाधिष्ठानविशेषाकारां शश्वदमितानन्दाचलोपरि विहारिणीं मूलप्रकृतिजननीम् अविद्यालक्ष्मीमेवं ध्यात्वा विविधोपचारैराराध्य समस्तब्रह्माण्डसमष्टिजननीं वैष्णवीं महामायां नमस्कृत्य तया चानुज्ञातश्चोपर्युपरि गत्वा महाविराट्पदं प्राप ॥10॥

उन समस्त ब्रह्माण्डों के भीतर और बाहर के प्रपंचों का मर्म ब्रह्मज्ञान के द्वारा जानकर वह उपासक विविध प्रकार की विचित्र और अनन्तश्रेष्ठ विभूतियों के समष्टिविशेषों को देखकर अति आश्चर्यकारक आनन्दसागर में अवगाहित होता है (मग्न हो जाता है) और बाद में निरतिशय आनन्द का स्वरूप बनकर सभी ब्रह्माण्डों के समूहों का अतिक्रमण करके अमाप-अनन्त-अगाध अज्ञानसागर से परे (पार करके ऊपर) सामने वाले तीर पर पहुँचकर मूल अविद्यानगर के दर्शन करता है। बाद में, वहाँ अनेक प्रकार से अद्भुत तथा अनेक भाँति की महामायाओं से आवृत, अनेक महामायाओं की शक्तिसमष्टि रूप आकारवाली, अनन्त दिव्य तेज की ज्वालाओं के समूहों से शोभित, अनन्त महामायाओं के विलासों के परम अधिष्ठानरूप, विशिष्ट आकृतिवाली, सनातनकालीन अप्रमेय आनन्दरूप पर्वत पर विहार करने वाली, प्रकृति की माता ऐसी श्रीअविद्यालक्ष्मी का चिन्तन करके, विविध उपचारों से उनकी पूजा करके समस्त ब्रह्माण्डों की समष्टि-जननी वैष्णवी महामाया को नमस्कार करता है। बाद में वह उनकी अनुमति लेकर वहाँ से भी ऊपर ही ऊपर जाते हुए महाविराट् के स्थान में पहुँचता है।

महाविराट्स्वरूपं कथमिति ॥11॥

समस्ताविद्यापादको विराट् ॥12॥

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोहस्त उत विश्वतस्पात् ।
सं बाहुभ्यां नमति सं पतत्रैर्द्यावापृथिवी जनयन् देव एकः ॥13॥
न सन्दृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ।
हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तो य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥14॥
मनोवाचामगोचरमादिविराट्स्वरूपं ध्यात्वा विविधोपचारैराराध्य तदनुज्ञातश्चोपर्युपरि गत्वा विविधविचित्रानन्तमूलाविद्याविलासानवलोक्योपासकः परमकौतुकं प्राप ॥15॥

'उस महाविराट् का स्वरूप कैसा है' ?—समस्त अविद्याओं का पाद ही विराट् है। चारों ओर आँखों वाला, चारों ओर मुख वाला, चारों ओर हाथों वाला और चारों ओर पैरों वाला वह देव है। वह विराट् देव मनुष्यों को दो हाथों से युक्त बनाता है, और पक्षियों को दो पंखों से युक्त बनाता है। स्वर्ग और पृथ्वी को भी वही उत्पन्न करता है। उस विराट्देव का स्वरूप दृष्टि का विषय नहीं बनता। इसलिए नेत्रों से वह देखा नहीं जा सकता ऐसे उन महान् देव की कल्पना हृदय से, मन से और बुद्धि से की गई है। जो लोग इस प्रकार जानते हैं, वे अमर हो जाते हैं। इस प्रकार मन और वाणी के अविषय ऐसे उन आदि विराट् के स्वरूप का ध्यान करके, विविध उपचारों से उनकी पूजा करने के बाद, उनकी अनुमति लेकर साधक वहाँ से भी ऊपर (आगे) बढ़ता है और वहाँ अनेक प्रकार से अद्भुत और अनन्त ऐसी मूल अविद्या के विलासों को देखकर वह साधक परम आश्चर्य को प्राप्त करता है।

अखण्डपरिपूर्णपरमानन्दलक्षणपरब्रह्मणः समस्तस्वरूपविरोधकारिणी अपरिच्छिन्नतिरस्करिण्याकारा वैष्णवी महायोगमाया मूर्तिमद्भिरनन्तमहामायाजालविशेषैः परिषेविता। तस्याः पुरमतिकौतुकमत्याश्चर्यसागरानन्दलक्षणममृतं भवति। अविद्यासागरप्रतिबिम्बितनित्यवैकुण्ठप्रतिवैकुण्ठमिव विभाति ॥16॥

क्योंकि वह वैष्णवी महायोगमाया अखण्ड परिपूर्ण परमानन्दस्वरूप लक्षणवाले, परब्रह्म के समस्त स्वरूप का विरोध करने वाली है। वह अपरिच्छिन्न (अमेय) पर्दे जैसे आकारवाली है। मूर्तिधारिणी और अनेक विविध महामायाएँ चारों ओर उसकी सेवा कर रही होती हैं। उसका नगर बड़ा ही कौतुक उत्पन्न करने वाला है और वह अनन्त आश्चर्य के सागर जैसा आनन्दमय लक्षणयुक्त है इसलिए अमर है। वह अविद्यारूपी सागर में प्रतिबिम्बित हुए नित्य वैकुण्ठ के सामने मानों दूसरा वैकुण्ठ खडा हुआ हो, ऐसा मालूम पड़ता है।

उपासकस्तत्पुरं प्राप्य योगलक्ष्मीमङ्गमायां ध्यात्वा विविधोपचारैराराध्य तया सम्पूजितश्चानुज्ञातश्चोपर्युपरि गत्वा अनन्तयोगमायाविलासानवलोक्योपासकः परमकौतुकं प्राप ॥17॥

उपासक उस नगर में पहुँचकर अंगमाया योगलक्ष्मी का ध्यान करता है। और विविध उपचारों से उनकी पूजा करता है। बाद में उनकी अनुमति लेकर वहाँ से भी ऊपर ही ऊपर जाता है। वहाँ अनन्त माया के विलासों को देखकर उपासक को बड़ा कौतुक प्राप्त होता है।

तत उपरि पादविभूतिवैकुण्ठपुरमाभाति। अत्याश्चर्यानन्तविभूति-समष्ट्याकारम् आनन्दरसप्रवाहैरलङ्कृतम् अमिततरङ्गिण्याः प्रवाहैरति-मङ्गलं ब्रह्मतेजोविशेषाकारैरनन्तब्रह्मवनैरभितस्ततम् अनन्तनित्य-मुक्तैरभिव्याप्तम् अनन्तचिन्मयप्रासादजालसङ्कुलम् अनादिपाद-विभूतिवैकुण्ठमेवमाभाति। तन्मध्ये च चिदानन्दाचलो विभाति ॥18॥

बाद में उसके ऊपर पादविभूति नाम का वैकुण्ठ शोभित है। वह अत्यन्त आश्चर्यमय अनन्त समष्टि विभूतियों के आकारवाला है। आनन्दरस के प्रवाहों से वह अलंकृत है। उसके चारों ओर उस आनन्दमयी नदी के प्रवाहों के कारण वह अति मंगलमय है। ब्रह्मतेज के विशेष आकाररूप अनन्त ब्रह्मवनों से वह चारों ओर से व्याप्त है। अनन्त नित्यमुक्तों से वह चारों ओर से घिरा हुआ है। अनन्त चैतन्यमय महलों के कारण वह संकुल (सिकुड़ा) हुआ-सा है। ऐसा वह अनादिपाद विभूति वैकुण्ठनगर शोभित हो रहा है। उसके बीच एक चिदानन्द नाम का पर्वत प्रकाशित है।

तदुपरि ज्वलति निरतिशयानन्ददिव्यतेजोराशिः। तदभ्यन्तरे परमानन्द-विमानं विभाति। तदभ्यन्तरसंस्थाने चिन्मयासनं विराजते। तत्पद्म-कर्णिकायां निरतिशयदिव्यतेजोराश्यन्तरसमासीनम् आदिनारायणं ध्यात्वा विविधोपचारैस्तं समाराध्य तेनाभिपूजितस्तदनुज्ञातश्चोपर्युपरि गत्वा सावरणमविद्याऽण्डं च भित्त्वाऽविद्यापादमुल्लङ्घ्य विद्या-ऽविद्ययोः सन्धौ विष्वक्सेनवैकुण्ठपुरमाभाति ॥19॥

उस पर्वत के ऊपर निरतिशय आनन्दस्वरूप दिव्य तेज की एक राशि प्रज्वलित हो रही है। उसके भीतर परमानन्द नाम का एक विमान है। उसके भीतर के उत्तम स्थान में एक चैतन्यमय आसन शोभित हो रहा है। उस आसनरूपी कमल की कली में निरतिशय दिव्य तेज की राशि के बीच श्रीआदिनारायण बैठे हुए हैं। उनका ध्यान करके विविध उपचारों से साधक उनकी पूजा करता है। भगवान् भी सामने से उसकी पूजा करते हैं। और बाद में वह उपासक उनकी भी अनुमति लेकर वहाँ से भी ऊपर ही ऊपर अविद्या वाले ब्रह्माण्ड को आवरण के साथ ही भेदकर अविद्या के पद को भी अतिक्रान्त कर देता है। वहाँ विद्या और अविद्या की सन्धि में विश्वक्सेन नाम का वैकुण्ठ शोभायमान है।

अनन्तदिव्यतेजोज्वालाजालैरभितोऽनिशं प्रज्वलन्तम् अनन्तबोधानन्द-व्यूहैरभितस्ततं शुद्धबोधविमानावलिभिर्विराजितम् अनन्तानन्दपर्वतैः परमकौतुकमाभाति। तन्मध्ये च कल्याणाचलोपरि शुद्धानन्दविमानं विभाति। तदभ्यन्तरे दिव्यमङ्गलासनं विराजते। तत्पद्मकर्णिकायां ब्रह्मतेजोराश्यभ्यन्तरसमासीनं भगवदनन्तविभूतिविधिनिषेधपरिपालकं सर्वप्रवृत्तिसर्वहेतुनिमित्तकं निरतिशयानन्दलक्षणमहाविष्णुस्वरूपम् अखिलापवर्गपरिपालकम् अमितविक्रमम् एवंविधं विष्वक्सेनं ध्यात्वा प्रदक्षिणनमस्कारान् विधाय विविधोपचारैराराध्य तदनुज्ञातश्चोपर्युपरि गत्वा विद्याविभूतिं प्राप्य विद्यामयान् अनन्तवैकुण्ठान् परितोऽव-स्थितान् ब्रह्मतेजोमयानवलोक्योपासकः परमानन्दं प्राप ॥20॥

वह नगर अनन्त दिव्य तेज की ज्वालाओं से चारों ओर व्याप्त होकर प्रकाशित हो रहा है। अनन्त ज्ञान के भी भीतर के ज्ञान (रहस्य-मर्म) के आनन्द के व्यूहों से वह व्याप्त है। शुद्ध ज्ञानमय विमानों की पंक्तियों से वह शोभित है, और अनन्त आनन्दमय पर्वतों से परम कौतुकरूप में वह देदीप्यमान है। उसके बीच में कल्याण नाम का एक पर्वत स्थित है। उसके ऊपर शुद्ध आनन्द नाम का विमान शोभायमान है। उसके भीतर एक दिव्य मंगलमय आसन सुशोभित है। उस आसनरूपी कमल की कली में ब्रह्मतेज की राशि है। उसके भीतर निरतिशय लक्षणयुक्त महाविष्णु का स्वरूप प्रतिष्ठित है। वह स्वरूप भगवान् की अनन्तविभूतिरूप विधिनिषेध का सर्व प्रकार से पालन करता है। सभी प्रवृत्तियों के सभी हेतुओं का वह स्वरूप निमित्त है। वे महाविष्णु संपूर्ण मोक्ष के परिपालक हैं और अप्रमेय पराक्रमशाली हैं। इस प्रकार के उन विश्वक्सेन का ध्यान करके, प्रदक्षिणा और नमस्कार करके और उनकी पूजा करके उनकी अनुमति लेकर उपासक वहाँ से और भी ऊपर ही ऊपर जाता है और अविद्याविभूति में पहुँचता है। वहाँ विद्यामय और वैकुण्ठों के चारों ओर फैले हुए ब्रह्मतेजोमय स्वरूप को देखकर वह उपासक परम आनन्द को प्राप्त करता है।

विद्यामयान् अनन्तसमुद्रान् अतिक्रम्य ब्रह्मविद्यातरङ्गिणीमासाद्य तत्र स्नात्वा भगवद्ध्यानपूर्वकं पुनर्निमज्ज्य मन्त्रमयशरीरमुत्सृज्य विद्या-ऽऽनन्दमयामृतदिव्यशरीरं परिगृह्य नारायणसारूप्यं प्राप्य आत्मपूजां विधाय ब्रह्ममयवैकुण्ठवासिभिः सर्वैर्नित्यमुक्तैः सुपूजितस्ततो ब्रह्म-विद्याप्रवाहैरानन्दरसनिर्भरैः क्रीडानन्तपर्वतैरनन्तैरभिव्याप्तं ब्रह्मविद्या-मयैः सहस्त्रं प्राकारैरानन्दामृतमयैर्दिव्यगन्धस्वभावैश्चिन्मयैरनन्तब्रह्म-वनैरतिशोभितमुपासकस्त्वेवंविधं ब्रह्मविद्यावैकुण्ठमाविश्य तदभ्य-न्तरस्थितात्यन्तोन्नतबोधानन्दप्रासादाग्रस्थितप्रणवविमानोपरिस्थिताम् अपारब्रह्मविद्यासाम्राज्याधिदेवताम् अमोघनिजमन्दकटाक्षेणाऽनादि-मूलाविद्याप्रलयकरीम् अद्वितीयाम् एकाम् अनन्तमोक्षसाम्राज्यलक्ष्मीमेवं ध्यात्वा प्रदक्षिणनमस्कारान् विधाय विविधोपचारैराराध्य पुष्पाञ्जलिं समर्प्य स्तुत्वा स्तोत्रविशेषैस्तयाऽभिपूजितस्तदनुज्ञातश्चोपर्युपरि गत्वा ब्रह्मविद्यातीरे गत्वा बोधानन्दमयाननन्तवैकुण्ठानवलोक्य निरतिशया-नन्दं प्राप्य बोधानन्दमयाननन्तसमुद्रानतिक्रम्य गत्वागत्वा ब्रह्मवनेषु परममङ्गलाचलश्रेणिषु ततो बोधानन्दविमानपरम्परासूपासकः परमानन्दं प्राप ॥21॥

तत्पश्चात् विद्यामय अनन्त समुद्रों को लाँघकर 'ब्रह्मविद्या' नाम की नदी पर जाकर उसमें स्नान करता है। फिर भगवान् का ध्यान करते हुए फिर से उसमें डुबकी लगाकर मन्त्रमय शरीर का त्याग करके विद्या के आनन्दमय अमर दिव्य शरीर को स्वीकार करता है। और बाद में नारायण के समान स्वरूप को प्राप्त करता है और आत्मा की पूजा करता है। इसके बाद, ब्रह्ममय वैकुण्ठ में बसने वाले सभी नित्यमुक्त लोग उसकी अच्छी तरह से पूजा करते हैं। फिर आनन्दरस से परिपूर्ण, ब्रह्मविद्या के प्रवाहों से तथा क्रीडायोग्य असंख्य पर्वतों से व्याप्त तथा ब्रह्मविद्यामय हजारों किलों से युक्त, आनन्दमय, अमृतमय दिव्य गन्ध के सहजगुण वाले, चैतन्यमय अनन्त ब्रह्म भवनों से अतिशोभायमान ऐसे 'ब्रह्मविद्या' नाम के वैकुण्ठधाम में साधक प्रवेश करता है। और उसके भीतर प्रतिष्ठित अनन्त

मोक्षसाम्राज्य की लक्ष्मी का इस प्रकार ध्यान करता है। और बाद में प्रदक्षिणा, नमस्कारादि करके, विविध उपचारों से उनकी पूजा करके पुष्पों की अंजलि देता है, और विविध स्तोत्रों से उनकी स्तुति करता है। इसलिए वह देवी भी उस साधक की प्रतिपूजा करती हैं और उसका अनुसरण करती हैं। फिर वहाँ से भी ऊपर ही ऊपर जाते हुए वह ब्रह्मविद्या के तीर पर पहुँचता है। और वहाँ ज्ञानमय तथा आनन्दमय अनंत वैकुण्ठों के दर्शन करता है। फिर निरतिशय आनन्द को प्राप्त करके ज्ञान तथा आनन्दमय अनेक समुद्रों को पार करके परममंगल नाम के पर्वत के बीच के भागों में जो ब्रह्मवन आए हुए हैं, वहाँ जाता है। और वहाँ ज्ञान तथा आनन्दमय विमानों की परंपरा में वह उपासक परम आनन्द प्राप्त करता है।

ततः श्रीतुलसीवैकुण्ठपुरमाभाति परमकल्याणम् अनन्तविभवम् अमिततेजोराश्याकारम् अनन्तब्रह्मतेजोराशिसमष्ट्याकारं चिदानन्दमयानेकप्राकारविशेषैः परिवेष्टितम् अमितबोधानन्दाचलोपरिस्थितं बोधानन्दतरङ्गिण्याः प्रवाहैरतिमङ्गलं निरतिशयानन्दैरनन्तवृन्दावनैरतिशोभितम् अखिलपवित्राणां परमपवित्रं चिद्रूपैरनन्तनित्यमुक्तैरत्यभिव्याप्तम् आनन्दमयानन्तविमानजालैरलंकृतम् अमिततेजोराश्यन्तर्गतदिव्यतेजोराशिविशेषम् ॥22॥

उपासकस्त्वेवमाकारं तुलसीवैकुण्ठं प्रविश्य तदन्तर्गतदिव्यविमानो-परिस्थितां सर्वपरिपूर्णस्य महाविष्णोः सर्वाङ्गेषु विहारिणीं निरतिशयसौन्दर्यलावण्याधिदेवतां बोधानन्दमयैरनन्तनित्यपरिजनैः परिषेवितां श्रीसखीं तुलसीमेवं लक्ष्मीं ध्यात्वा प्रदक्षिणनमस्कारान् विधाय विविधोपचारैराराध्य स्तुत्वा स्तोत्रविशेषैस्तयाऽभिपूजितस्तत्रत्यैश्चाभिपूजितस्तदनुज्ञातश्चोपर्युपरि गत्वा परमानन्दतरङ्गिण्यास्तीरे गत्वा तत्र परितोऽवस्थितान् शुद्धबोधानन्दमयान् अनन्तवैकुण्ठानवलोक्य निरतिशयानन्दं प्राप्य तत्रत्यैश्चिद्रूपैः पुराणपुरुषैश्चाभिपूजितस्ततो गत्वागत्वा ब्रह्मवनेषु दिव्यगन्धानन्दपुष्पवृष्टिभिः समन्वितेषु दिव्यमङ्गलालयेषु निरतिशयानन्दामृतसागरेष्वमिततेजोराश्याकारेषु कल्लोलवनसंकुलेषु ततोऽनन्तशुद्धबोधविमानजालसङ्कुलानन्दाचलश्रेणिषूपासकस्तत उपर्युपरि गत्वा विमानपरम्परास्वनन्ततेजःपर्वतराजिष्वेवं क्रमेण प्राप्य विद्याऽऽनन्दमययोः सन्धिं तत्राऽऽनन्दतरङ्गिण्याः प्रवाहेषु स्नात्वा बोधानन्दवनं प्राप्य शुद्धबोधपरमानन्दाकारवनं सन्ततामृतपुष्पवृष्टिभिः परिवेष्टितं परमानन्दप्रवाहैरभिव्याप्तं मूर्तिमद्भिः परममङ्गलैः परमकौतुकम् अपरिच्छिन्नानन्दसागराकारं क्रीडाऽऽनन्दपर्वतैरभिशोभितं तन्मध्ये च शुद्धबोधानन्दवैकुण्ठं यदेव ब्रह्मविद्यापादवैकुण्ठं सहस्रानन्दप्राकारैः समुज्ज्वलति। अनन्तानन्दविमानजालसंकुलम् अनन्तबोधसौधविशेषैरभितोऽनिशं प्रज्वलन्तं क्रीडाऽनन्तमण्डपविशेषैर्विशेषितं बोधानन्दमयानन्तपरमच्छत्रध्वजचामरवितानतोरणैरलंकृतं परमानन्दव्यूहैर्नित्यमुक्तैरभितस्ततम् अनन्तदिव्यतेजः पर्वतसमष्ट्याकरम् अपरिच्छिन्नानन्तशुद्धबोधानन्दमण्डलं वाचामगोचरानन्दब्रह्मतेजोराशि-

मण्डलम् अखण्डतेजोमण्डलविशेषं शुद्धानन्दविशेषसमष्टिमण्डल-विशेषम् अखण्डचिद्घनानन्दविशेषम् ॥23॥

बाद में श्रीतुलसीवैकुण्ठ नामक नगर शोभित होता है। वह नगर परमकल्याणरूप तथा अनन्त वैभवशाली, अमित तेजोराशिरूप आकारवाला, अनन्त ब्रह्मतेज के समष्टि समूहस्वरूप, चैतन्यमय और आनन्दमय, तरह-तरह के अनेक दुर्गों से घिरा हुआ 'अमित बोधानन्द' नाम के पर्वत पर बसा हुआ, 'ज्ञानानन्द' नाम की नदी के प्रवाहों से अत्यन्त मंगल-अनन्त-निरतिशय-आनन्दयुक्त वृन्दावनों से बहुत ही शोभायमान, सभी पवित्रों से भी पवित्र चैतन्यरूप अनन्त नित्यमुक्तों से चारों ओर व्याप्त, आनन्दमय अनन्त विमानों से अलंकृत, और अमित तेजोराशि में विद्यमान दिव्य तेज के विशिष्ट ओजस्वी है। इस प्रकार के स्वरूप वाले तुलसीवैकुण्ठ में प्रविष्ट होकर, उसके भीतर अवस्थित दिव्य विमान के ऊपर बैठी हुई, सर्वथा परिपूर्ण, श्रीमहाविष्णु के सभी अंगों में विहार करने वाली, निरतिशय सौन्दर्य और लावण्य की अधिष्टात्री देवी, ज्ञानमय एवं आनन्दमय अनन्त नित्य सेवकों के द्वारा सर्वप्रकार से सेवित और श्रीदेवी की सखी ऐसी श्रीतुलसीलक्ष्मी का इस प्रकार से ध्यान करके, नमस्कार तथा प्रदक्षिणा करके विविध उपचारों से उनका आराधन करता है। और तरह-तरह के स्तोत्रों से उनकी पूजा करता है। इसलिए तुलसी भी उसकी प्रतिपूजा करती हैं। और वहाँ के लोग भी सामने से उसकी पूजा करते हैं। तुलसी की अनुमति के बाद, वह साधक वहाँ से भी ऊपर-ही-ऊपर जाकर परमानन्द नामक नदी के तीर पर पहुँचता है। और वहाँ चारों ओर से व्याप्त शुद्ध ज्ञानमय तथा आनन्दमय अनन्त वैकुण्ठों के दर्शन करके निरतिशय आनन्द को प्राप्त करता है। फिर वहाँ के निवासी चैतन्यमय पुराणपुरुष सामने से उसकी पूजा करते हैं। फिर वहाँ से निकल कर दिव्य गन्ध और आनन्दमय पुष्प-वृष्टियों से युक्त, दिव्य मंगलों के स्थानरूप, निरतिशय आनन्दमय अमृतसागर जैसे और अमित तेजोराशिरूप आकारवाले ब्रह्मवनों में जाता है। वहाँ से अनन्त शुद्ध ज्ञानरूप विमानों के समूहों से व्याप्त आनन्दमय पर्वतों के मध्यप्रदेश में से होते हुए साधक वहाँ से भी ऊपर जाता है। और विमानों की परंपराओं तथा अनन्त तेजोमय पर्वतों की पंक्तियों पर निष्क्रान्त होकर क्रमशः विद्या और आनन्दमय की सन्धि में जा पहुँचता है और वहाँ आनन्दनदी में स्नान करके बोधानन्द नाम के वन में प्रवेश करता है। वहाँ से वह शुद्धबोध और परमानन्द आकार वाले वन में जाता है। वह वन निरन्तर अमृतमय पुष्पवृष्टियों से युक्त परमानन्द के प्रवाहों से चारों ओर व्याप्त हुआ है। मूर्तिमय श्रेष्ठ मांगल्यों से वह कौतुकमय है। अमित आनंदसागराकार और क्रीडानन्द नाम के पर्वतों से अलंकृत है। उसके बीच शुद्ध बोधानन्द नाम का एक वैकुण्ठधाम है। वही ब्रह्मविद्या का पादरूप वैकुण्ठ है। और वह हजारों आनन्दमय दुर्गों से प्रकाशित हो रहा है और वह अनन्त आनन्दमय विमानों के समूहों से भी व्याप्त है। अनन्त ज्ञानरूप अनेक महलों से चारों ओर से निरंतर प्रकाशित है। क्रीडा करने के लिए अनेकविध मण्डलों से वह युक्त है। बोधानन्दमय अनंत श्रेष्ठ छत्रों, ध्वजों, चामरों, उल्लोचों और तोरणों से वह अलंकृत किया गया है। परमानन्द के व्यूह जैसे नित्यमुक्तों से वह चारों ओर व्याप्त है। अनन्त दिव्य तेज के पर्वतों की समष्टिरूप आकारवाला है और अमित-अनन्त-शुद्ध बोध के अनन्त मण्डल वाला है। वाणी के अगोचर आनन्दमय ब्रह्मतेज की राशियों का मण्डल है। मानों कोई इन्द्र हो, ऐसा लगता है। और शुद्ध आनन्द समष्टियों का विशिष्ट मण्डल तथा अखण्ड चैतन्यघन आनन्द का विशेष हो, ऐसा मालूम पड़ता है।

एवंविधं बोधानन्दवैकुण्ठमुपासकः प्रविश्य तत्रत्यैः सर्वैरभिपूजितः। परमानन्दाचलोपर्यखण्डबोधविमानं प्रज्वलति। तदभ्यन्तरे चिन्मयासनं विराजते ॥24॥

तदुपरि विभात्यखण्डानन्दतेजोमण्डलम्। तदभ्यन्तरसमासीनमादिनारायणं ध्यात्वा प्रदक्षिणनमस्कारान् विधाय विविधोपचारैः सुसम्पूज्य पुष्पाञ्जलिं समर्प्य स्तुत्वा स्तोत्रविशेषैः स्वरूपेणावस्थितमुपासकमवलोक्य तमुपासकमादिनारायणः स्वसिंहासने सुसंस्थाप्य तद्वैकुण्ठवासिभिः सर्वैः समन्वितः समस्तमोक्षसाम्राज्यपट्टाभिषेकमुद्दिश्य मन्त्रपूतैरुपासकमानन्दकलशैरभिषिच्य दिव्यमङ्गलमहावाद्यपुरःसरं विविधोपचारैरभ्यर्च्य मूर्तिमद्भिः सर्वैः स्वचिह्नैरलङ्कृत्य प्रदक्षिणनमस्कारान् विधाय त्वं ब्रह्मासि अहं ब्रह्मास्मि आवयोरन्तरं न विद्यते त्वमेवाहम् अहमेव त्वम् इत्यभिधाय इत्युक्त्वा आदिनारायणस्तिरोदधे तदेत्युपनिषत् ॥25॥

इत्याथर्वणमहानारायणोपनिषदि परममोक्षमार्गस्वरूपनिरूपणं नाम षष्ठोऽध्यायः।

ऐसे तेजोमण्डल समान बोधानन्द नाम के वैकुण्ठ में उपासक प्रवेश करता है। इसलिए वहाँ के सभी लोग सामने से उसकी पूजा करते हैं। वहाँ परमानन्द नाम के पर्वत के ऊपर अखण्डबोध नामक विमान प्रकाशित हो रहा है। उसके भीतर एक चैतन्यमय आसन विराजित है। उसके ऊपर अखण्ड तेजोमय आनन्द का मण्डल प्रकाशित हो रहा है। उसके ऊपर आदिनारायण बैठे हुए हैं। उनका ध्यान करके, प्रदक्षिणा और नमस्कार करके साधक विविध उपचारों से अच्छी तरह उनकी पूजा करता है। और पुष्पांजलि समर्पित करके अनेक प्रकार के स्तोत्रों से उनकी स्तुति करता है। फिर आदिनारायण सामने अपने ही स्वरूप में उपस्थित हुए उस साधक को अपने सिंहासन पर बिठाते हैं। और सभी वैकुण्ठवासी लोगों के साथ रहकर समस्त मोक्ष साम्राज्य के पट्टाभिषेक को उद्दिष्ट करके, मन्त्रों से पवित्र किए गए आनन्द-कलशों से वे उपासक के ऊपर अभिषेक करते हैं। बाद में दिव्य मंगलमय वाद्यों को बजाकर विविध उपचारों से उसकी पूजा करके अपने सभी मूर्त चिह्नों से उसे अलंकृत करते हैं। और उसकी प्रदक्षिणा और नमस्कार करके उससे कहते हैं कि—'तू ब्रह्म है, मैं ब्रह्म हूँ', 'हम दोनों में किसी भी प्रकार का अन्तर नहीं है।' 'तू ही मैं हूँ और मैं ही तू है।' इस प्रकार कहकर आदिनारायण उस समय अदृश्य हो जाते हैं, ऐसा यह उपनिषद् कहती है।

इस प्रकार आथर्वण-महानारायणोपनिषद् में 'परममोक्षमार्गस्वरूपनिरूपण' नामक षष्ठ अध्याय समाप्त हुआ।

सप्तमोऽध्यायः

अथोपासकस्तदाज्ञया नित्यं गरुडमारुह्य वैकुण्ठवासिभिः सर्वैः परिवेष्टितो महासुदर्शनं पुरस्कृत्य विष्वक्सेनपरिपालितश्चोपर्युपरि गत्वा

ब्रह्मानन्दविभूतिं प्राप्य सर्वत्रावस्थितान् ब्रह्मानन्दमयान् अनन्तवैकुण्ठा-नवलोक्य निरतिशयानन्दसागरो भूत्वा आत्मारामान् आनन्दविभूति-पुरुषानन्तानवलोक्य तान् सर्वानुपचारैः समभ्यर्च्य तैः सर्वैरभि-पूजितश्चोपासकस्तत उपर्युपरि गत्वा ब्रह्मानन्दविभूतिं प्राप्य अनन्त-दिव्यतेजःपर्वतैरलंकृतान् परमानन्दलहरीवनशोभितान् असंख्याकान् आनन्दसमुद्रान् अतिक्रम्य विविधविचित्रानन्तपरमतत्त्वविभूतिसमष्टि-विशेषान् परमकौतुकान् ब्रह्मानन्दविभूतिविशेषानतिक्रम्य उपासकः परमकौतुकं प्राप ॥1॥

बाद में उपासक उनकी आज्ञा से नित्य गरुड पर बैठकर वैकुण्ठवासियों से आवृत होकर महासुदर्शन को आगे करके विश्वक्सेन से परिलक्षित होते हुए ऊपर ही ऊपर उठकर ब्रह्मानन्द विभूति में पहुँच जाता है। वहाँ सभी जगहों में आए हुए ब्रह्मानन्दमय अनन्त वैकुण्ठों के दर्शन करके निरतिशय आनन्द का सागर बन जाता है। बाद में आत्माराम तथा आनन्दविभूति नाम के अनन्त पुरुषों का दर्शन करके उन सभी की उपचारों के साथ पूजा करता है। इसलिए वे भी सामने से उसकी पूजा करते हैं। फिर वह उपासक वहाँ से भी ऊपर-ही-ऊपर जाकर ब्रह्मानन्द विभूति में पहुँचता है। वहाँ से आगे अनन्त दिव्य तेजोमय पर्वतों से सुशोभित और परमानंद की लहरों वाले वनों से शोभित आनन्द के असंख्य समुद्रों को पार करके विविध-विचित्र-अनन्त परमतत्त्व की विभूतियों के विशेष समष्टि रूप होने से परमकौतुकमय ऐसी ब्रह्मानन्द की विशेष विभूतियों को अतिक्रान्त करते हुए वह उपासक परमकौतुक का अनुभव करता है।

ततः सुदर्शनवैकुण्ठपुरमाभाति नित्यमङ्गलम् अनन्तविभवं सहस्रानन्द-प्राकारपरिवेष्टितम् अयुतकुक्ष्युपलक्षितम् अनन्तोत्कटज्वलदरमण्डलं निरतिशयदिव्यतेजोमण्डलं वृन्दारकपरमानन्दं शुद्धबुद्धस्वरूपम् अनन्तानन्दसौदामिनीपरमविलासं निरतिशयपरमानन्दपारावारम् अनन्तैरानन्दपुरुषैश्चिद्रूपैरधिष्ठितम् ॥2॥

इसके बाद सुदर्शनवैकुण्ठ नामक नगर शोभित है। वह नित्य मंगलमय और अनन्त वैभवशाली है। वह एक हजार आनन्ददुर्गों से आवृत्त है। दस हजार केन्द्रप्रदेशों से युक्त, अनन्त-उत्कट-प्रकाशमय अरों के मण्डलों वाला, निरतिशय दिव्य तेज के मण्डलवाला, अतिश्रेष्ठ, परमानन्दमय, शुद्धज्ञानस्वरूप, विद्युत् के परम विलासों से युक्त, निरतिशय परमानन्द के सागर जैसा और चैतन्यरूप अनन्त आनन्दपुरुषों के द्वारा बसा हुआ है।

तन्मध्ये च सुदर्शनं महाचक्रम् ॥3॥
चरणं पवित्रं विततं पुराणं येन पूतस्तरति दुष्कृतानि।
तेन पवित्रेण शुद्धेन पूता अतिपाप्मानमरातिं तरेम ॥4॥
लोकस्य द्वारमर्चिमत् पवित्रं ज्योतिष्मद् भ्राजमानं महस्वत्।
अमृतस्य धारा बहुधा दोहमानं चरणं नो लोके सुधितां दधातु ॥5॥

उसके बीच सुदर्शन चक्र है। वह गतिशील, पवित्र, सर्वत्र फैला हुआ और पुरातन से भी पुरातन है। इससे पवित्र हुआ पुरुष सभी पापों से छूट जाता है। उस शुद्ध और पवित्र चक्र से पावन हुए हम बड़े पापरूपी शत्रु को पार कर जाते हैं। वह लोक के द्वाररूप है और ज्वालामय (तेजोमय) है। वह

प्रकाशमय है, तेजस्वी है, अनेक प्रकार की अमृतधाराओं को वह बहाता है। वह चक्र हमें इस लोक में उत्तम बनाए।

अयुतारज्वलन्तम् अयुतारसमष्ट्याकारं निरतिशयविक्रमविलासम् अनन्तदिव्यायुधदिव्यशक्तिसमष्टिरूपं महाविष्णोरनर्गलप्रतापविग्रहम् अयुतायुतकोटियोजनविशालम् अनन्तज्वालाजालैरलंकृतं समस्तदिव्य-मङ्गलनिदानम् अनन्तदिव्यतीर्थानां निजमन्दिरमेवं सुदर्शनं महाचक्रं प्रज्वलति ॥6॥

दस हजार अरों वाला, प्रज्वलित, दस हजार अरों की समष्टिरूप आकारवाला, निरतिशय पराक्रमों के विलासों से युक्त, अनन्त दिव्य आयुधों की दिव्यशक्ति की समष्टिस्वरूप, महाविष्णु के असीम प्रताप के मूर्तरूप जैसा, हजारों करोड़ योजन विशालतायुक्त, अनन्त ज्वालासमूहों से अलंकृत, समस्त दिव्यमंगल कारणों का मूलकारण, अनन्त दिव्य तीर्थों का स्वयंस्थान—ऐसा वह सुदर्शन महाचक्र प्रकाशित हो रहा है।

तस्य नाभिमण्डलसंस्थाने उपलक्ष्यते निरतिशयानन्ददिव्यतेजोराशिः। तन्मध्ये च सहस्रारचक्रं प्रज्वलति। तदखण्डदिव्यतेजोमण्डलाकारं परमानन्दसौदामिनीनिचयोज्ज्वलम् ॥7॥

तदभ्यन्तरसंस्थाने षट्शतारचक्रं प्रज्वलति। तस्यामितपरमतेजः-परमविहारसंस्थानविशेषं विज्ञानघनस्वरूपम् ॥8॥

तदन्तराले त्रिशतारचक्रं विभाति। तच्च परमकल्याणविलासविशेषम् अनन्तचिदादित्यसमष्ट्याकारम् ॥9॥

तदभ्यन्तरे शतारचक्रमाभाति। तच्च परमतेजोमण्डलविशेषम् ॥10॥

तन्मध्ये षष्ट्यरचक्रमाभाति। तच्च ब्रह्मतेजःपरमविलासविशेषम् ॥11॥

तदभ्यन्तरसंस्थाने षट्कोणचक्रं प्रज्वलति। तच्चापरिच्छिन्नानन्तदिव्य-तेजोराश्याकारम् ॥12॥

उसके नाभिमण्डल के स्थान में निरतिशय आनंद की दिव्य तेजोराशि दिखाई पड़ती है। उसके बीच एक हजार अर वाला चक्र प्रकाशित हो रहा है। वह अखण्ड दिव्यतेज के मण्डल जैसे आकारवाला और परमानन्द के विद्युत्समूह जैसा उज्ज्वल है। उसके बीच के स्थान में छः सौ अरों वाला एक चक्र प्रकाशित है। उसका तेज असीम है। और वह श्रेष्ठ विहार के विशिष्ट स्थान जैसा होने से विज्ञानघन स्वरूप है। उसके भी भीतर तीन सौ अरों वाला चक्र प्रकाशित है। वह परमकल्याण के विशेष विलासरूप एवं अनन्त चैतन्यरूप सूर्य के समष्टि के आकारवाला है। और उसके भी बीच में सौ अरों वाला चक्र प्रकाशित है। वह परमतेज के विशेष जैसा है। उसके बीच आठ अरों वाला चक्र प्रकाशित है। वह ब्रह्मतेज का परमविशेष विलासरूप है। और उसके भी बीच के स्थान में छः कोणों वाला चक्र प्रकाशित है। वह असीम-अमित-अनन्त तेज के राशि जैसे आकारवाला है।

तदभ्यन्तरे महानन्दपदं विभाति। तत्कर्णिकायां सूर्येन्दुवह्निमण्डलानि चिन्मयानि ज्वलन्ति। तत्रोपलक्ष्यते निरतिशयदिव्यतेजोराशिः ॥13॥

तदभ्यन्तरसंस्थाने युगपदुदितानन्तकोटिरविप्रकाशः सुदर्शनपुरुषो विराजते। सुदर्शनपुरुषो महाविष्णुरेव ॥14॥

महाविष्णोः समस्तासाधारणचिह्नचिह्नित एवमुपासकः सुदर्शनपुरुषं ध्यात्वा विविधोपचारैराराध्य प्रदक्षिणनमस्कारान् विधायोपासकस्तेनाभिपूजितस्तदनुज्ञातश्च उपर्युपरि गत्वा परमानन्दमयान् अनन्तवैकुण्ठान् अवलोक्य उपासकः परमानन्दं प्राप ॥15॥

इसके बीच महानन्द नामक स्थान प्रकाशित है। उसकी कली में सूर्य, चन्द्र और अग्नि के चैतन्यमय मंडल प्रकाशित हैं। इसमें निरतिशय तेज की राशि दिखाई पड़ती है। इसके बीच के स्थान में एक ही साथ उदित हुए करोड़ों सूर्य के जैसे तेजस्वी सुदर्शन पुरुष विराजमान हैं। वे सुदर्शन पुरुष महाविष्णु ही हैं। उन महाविष्णु के समस्त असाधारण चिह्नों से चिह्नित ऐसा ही वह उपासक उन सुदर्शन पुरुष का ध्यान करके विविध उपचारों से उनकी पूजा करके उनकी प्रदक्षिणा और नमस्कार करता है। सामने से वह सुदर्शन पुरुष भी उस उपासक की पूजा करते हैं। बाद में उनकी दी गई अनुज्ञा से वह उपासक वहाँ से और भी ऊपर-ही-ऊपर जाकर परमानन्दमय अनेकानेक वैकुण्ठों के दर्शन करके परमानन्द को प्राप्त करता है।

तत उपरि विविधविचित्रानन्तचिद्विलासविभूतिविशेषानतिक्रम्य अनन्तपरमानन्दविभूतिसमष्टिविशेषान् अनन्तनिरतिशयानन्दसमुद्रानतीत्य उपासकः क्रमेणाद्वैतसंस्थानं प्राप ॥16॥

कथमद्वैतसंस्थानम्। अखण्डानन्दस्वरूपम् अनिर्वाच्यम् अमितबोधसागरम् अमितानन्दसमुद्रं विजातीयविशेषविवर्जितं सजातीयविशेषविशेषितं निरवयवं निराधारं निर्विकारं निरञ्जनम् अनन्तब्रह्मानन्दसमष्टिकन्दं परमचिद्विलाससमष्ट्याकारं निर्मलं निरवद्यं निराश्रयम् अतिनिर्मलानन्तकोटिरविप्रकाशैकस्फुलिङ्गम् अनन्तोपनिषदर्थस्वरूपम् अखिलप्रमाणातीतं मनोवाचामगोचरं नित्यमुक्तस्वरूपम् अनाधारम् आदिमध्यान्तशून्यं कैवल्यं परमं शान्तं सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरं महतो महत्तरम् अमितानन्दविशेषं शुद्धबोधानन्दविभूतिविशेषम् अनन्तानन्दविभूतिविशेषसमष्टिरूपम् अक्षरम् अनिर्देश्यम् कूटस्थम् अचलं ध्रुवम् अदिग्देशकालम् अन्तर्बहिश्च तत् सर्वं व्याप्य परिपूर्णं परमयोगिभिर्विमृग्यं देशतः कालतो वस्तुतः परिच्छेदरहितं निरन्तराभिनवं नित्यपरिपूर्णम् अखण्डानन्दामृतविशेषं शाश्वतं परमं पदं निरतिशयानन्दानन्ततटित्पर्वताकारम् अद्वितीयं स्वयंप्रकाशम् अनिशं ज्वलति ॥17॥

वहाँ से ऊपर विविध, अद्भुत और अनन्त चैतन्य के विलासों की विशेष विभूतियों को पार करके, अनन्त परमानन्द की विभूतियों की विशेष समष्टिरूप और असीम निरतिशय अनन्त समुद्रों को पार करके वह उपासक क्रमशः अद्वैत संस्थान को प्राप्त हो जाता है। कैसा है वह अद्वैत स्थान ? (तो सुनो)—अखण्डानन्दस्वरूप, अवर्णनीय, असीमज्ञानसमुद्ररूप, अप्रमेयआनन्दसागरस्वरूप, विजातीय विशेषताओं से रहित, सजातीय विशेषताओं से युक्त, अवयवरहित, निरधिष्ठान, निर्विकार, निरंजन अनन्तब्रह्मानन्द की समष्टि का मूल, परम चैतन्य के विलासों की समष्टि का आकाररूप, निर्मल, निर्दोष, निरवलम्ब, अनन्त करोड़ विमल सूर्य के प्रकाश का मानो एक स्फुलिंग-सा हो, अनन्त उपनिषदों का अर्थस्वरूप, समग्र प्रमाणों से अतीत, मन और वाणी का अविषय, नित्यमुक्तस्वरूप,

आधाररहित, आदि-मध्य-अन्त-रहित, कैवल्यरूप, परमशान्त, अतिशय सूक्ष्म, महान् से भी अति महान्, अमेय, विशेष आनन्दरूप, शुद्ध ज्ञानानन्द की विशेष विभूतिरूप, अनन्त आनन्द की समष्टि की विशेष विभूतिरूप, अविनाशी, अनिर्देश्य, कूटस्थ, अचल, स्थिर, दिशा-देश-काल रहित, भीतर-बाहर चारों ओर से परिपूर्ण, बड़े बड़े योगियों के द्वारा अन्वेषणीय, देश-काल-वस्तु से नहीं नापा जाने वाला, निरन्तर अभिनव नित्य अखण्डानन्दस्वरूप, अमृतविशेष, शाश्वत, परमपद, निरतिशय आनन्दरूप विद्युतों और पर्वतों के-से आकार वाला वह अद्वितीय और स्वयंप्रकाश रूप से सदा प्रकाशित है।

परमानन्दलक्षणापरिच्छिन्नानन्तपरंज्योतिः शाश्वतं शश्वद्विभाति ॥18॥
तदभ्यन्तरसंस्थाने अमितानन्दचिद्रूपाचलम् अखण्डपरमानन्दविशेषं बोधानन्दमहोज्ज्वलं नित्यमङ्गलमन्दिरं चिन्मथनाविर्भूतचित्सारम् अनन्ताश्चर्यसागरम् अमिततेजोराश्यन्तर्गततेजोविशेषम् अनन्तानन्दप्रवाहैरलङ्कृतं निरतिशयानन्दपारावाराकारं निरुपमनित्यनिरवद्यनिरतिशयनिरवधिकतेजोराशिविशेषं निरतिशयानन्दसहस्त्रप्राकारैरलङ्कृतं शुद्धबोधसौधावलिविशेषैरलङ्कृतं चिदानन्दमयानन्तदिव्यारामैः सुशोभितं शश्वदमितपुष्पवृष्टिभिः समन्ततः सन्ततम् ॥19॥

परमानन्दरूप लक्षणवाला और अमेय-अनन्त परमज्योतिरूप वह स्थान निरंतर प्रकाशित हो रहा है। उसके बीच के स्थान में अमित, आनन्द, चैतन्यरूप, अचल, अखण्ड परमात्मरूप, ज्ञानानन्द से महा उज्ज्वल, नित्य, मांगल्यमंदिर, चैतन्यमंथन से प्राप्त, चैतन्य का सारतत्त्व, अनन्त आश्चर्यसागर, अमित, तेजसमूह के बीच अवस्थित विशेष तेजरूप, अनन्त आनंदप्रवाहों से अलंकृत, निरतिशय आनन्दसागर के जैसे आकारवाला, निरुपम, नित्य, निर्दोष, निरवधि, निरतिशय तेजोविशेषरूप के समूहरूप, निरतिशय आनंद के हजारों प्राकारों से सुशोभित, निरंतर असीम पुष्पवृष्टियों से चारों ओर फैला हुआ एक स्थान है।

तदेव त्रिपाद्विभूतिवैकुण्ठस्थानम्। तदेव परमकैवल्यम्। तदेवाबाधितपरमतत्त्वम्। तदेवानन्तोपनिषद्विमृग्यम्। तदेव परमयोगिभिर्मुमुक्षुभिः सर्वैराशास्यमानम्। तदेव सद्घनम्। तदेव चिद्घनम्। तदेवानन्दघनम्। तदेव शुद्धबोधघनविशेषम् अखण्डानन्दब्रह्मचैतन्याधिदेवतास्वरूपम्। सर्वाधिष्ठानम् अद्वयपरब्रह्मविहारमण्डलं निरतिशयानन्दतेजोमण्डलम् अद्वैतपरमानन्दलक्षणपरब्रह्मणः परमाधिष्ठानमण्डलं निरतिशयपरमानन्दपरममूर्तिविशेषमण्डलम् अनन्तपरममूर्तिसमष्टिमण्डलं निरतिशयपरमानन्दलक्षणपरब्रह्मणः परममूर्तिपरमतत्त्वविलासविशेषमण्डलं बोधानन्दमयानन्तपरमविलासविभूतिविशेषसमष्टिमण्डलम् अनन्तचिद्विलासविभूतिविशेषसमष्टिमण्डलम् अखण्डशुद्धचैतन्यनिजमूर्तिविशेषविग्रहं वाचामगोचरानन्तशुद्धबोधविशेषविग्रहम् अनन्तानन्दसमुद्रसमष्ट्याकारम् अनन्तबोधाचलैरनन्तबोधानन्दाचलैरधिष्ठितं निरतिशयानन्दपरममङ्गलविशेषसमष्ट्याकारं अखण्डाद्वैतपरमानन्दलक्षणपरब्रह्मणः परममूर्तिपरमतेजःपुञ्जपिण्डविशेषं चिद्रूपादित्यमण्डलं

द्वात्रिंशद्व्यूहभेदैरधिष्ठितम्। व्यूहभेदाश्च केशवादिचतुर्विंशतिः सुदर्शनादिन्यासमन्त्राः (सुदर्शनादियन्त्रोद्धारः)। अनन्तगरुडविष्वक्सेनाश्च निरतिशयानन्दश्च ॥20॥

वही स्थान त्रिपाद् विभूति वैकुण्ठस्थान है और वही कैवल्य है, वही अबाधित तत्त्व है, वही अनन्त उपनिषदों के द्वारा अन्वेषणीय है, वही परमयोगियों (मुमुमुक्षों) के द्वारा चाहने योग्य है, वही सत्यमय, वही चैतन्यमय, वही आनन्दमय, वही शुद्धज्ञानविषयमय और अखण्ड आनन्दमय ब्रह्मचैतन्य से अधिष्ठित देवतास्वरूप है। और भी, वह सर्व का आश्रयस्थान, अद्वैत परब्रह्म का विहार-मण्डल, निरतिशय आनन्द और तेज का मण्डल, अद्वैत परमानन्दस्वरूप परब्रह्म का परमाश्रयरूप मण्डल, निरतिशय परमानन्द की परममूर्ति का विशेष मण्डल, अनन्त परब्रह्म की परममूर्ति का समष्टिमंडल, परमतत्त्व के विलासों का विशेष मण्डल, ज्ञान तथा आनन्दमय अनन्त-परम विलासों की विभूतियों का विशेष समष्टिमण्डल, अनन्त चैतन्य के विलासों की विभूतियों का विशेष समष्टिमण्डल, अखण्ड शुद्ध चैतन्यरूप अपनी मूर्ति का विशेष शरीररूप, वाणी का अविषय, अनन्त शुद्ध ज्ञान-विशेष के विग्रह रूप, अनन्त आनन्दसागर का समष्टिआकाररूप, ज्ञानरूपी अनन्त पर्वतों से और बोधानन्दरूप अनन्त पर्वतों से युक्त, निरतिशय आनन्द और परममंगल के विशेष समष्टि आकाररूप, अखण्ड अद्वैत परमानन्दरूप लक्षण वाले परब्रह्म की परममूर्ति के तेज की जो राशि है, उसके बड़े पिण्ड जैसा, चैतन्यरूप सूर्य के मण्डलवाला और अलग-अलग बत्तीस व्यूहों से वह आश्रित है। और अन्य केशव आदि चौबीस व्यूह और सुदर्शनादि न्यासमन्त्र भी उसमें प्रतिष्ठित हैं। (यहाँ सुदर्शनादि यन्त्रोद्धार नताया गया है) और भी अनेक गरुडों के साथ अनेक विश्वक्सेन और निरतिशय आनन्दों का समूह इसमें है।

आनन्दव्यूहमध्ये सहस्रकोटियोजनायतोन्नतचिन्मयप्रासादं ब्रह्मानन्दमयविमानकोटिभिरतिमङ्गलम् अनन्तोपनिषदर्थारामजालसङ्कुलं सामहंसकूजितैरतिशोभितम् आनन्दमयानन्तशिखरैरलङ्कृतं चिदानन्दरसनिर्झरैरभिव्याप्तं अखण्डानन्दतेजोराश्यन्तरस्थितम् अनन्तानन्दाश्चर्यसागरम् ॥21॥

उस आनन्दव्यूह के बीच, हजारों करोड़ योजन लम्बा, चौडा और ऊँचा चैतन्यमय महल है। ब्रह्मानन्दमय करोड़ों विमानों से वह अतिमंगलमय है। अनन्त उपनिषदों के अर्थरूप उद्यानों से वह व्याप्त है। सामवेदरूपी हंस के शब्दों से वह अतिशोभित है। आनन्दमय अनन्त शिखरों से वह अलंकृत है। चिदानन्द के रसमय झरनों से वह व्याप्त है। अखण्ड आनन्द के तेज के बीच वह अवस्थित है। वह अनन्त आनन्दों का और आश्चर्य का सागर है।

तदभ्यन्तरसंस्थाने अनन्तकोटिरविप्रकाशातिशयप्राकारं निरतिशयानन्दलक्षणं प्रणवाख्यं विमानं विराजते। शतकोटिशिखरैरानन्दमयैः समुज्ज्वलति ॥22॥

तदन्तराले बोधानन्दाचलोपर्यष्टाक्षरीमण्डपो विभाति ॥23॥

तन्मध्ये च चिदानन्दमयवेदिका आनन्दवनविभूषिता ॥24॥

तदुपरि ज्वलति निरतिशयानन्दतेजोराशिः ॥25॥

तदभ्यन्तरसंस्थाने अष्टाक्षरीपद्मविभूषितं चिन्मयासनं विराजते ॥26॥

उसके भीतर के स्थान में अनन्त करोड़ सूर्य जैसे प्रकाशमय बड़े प्राकारवाला और निरतिशय लक्षणवाला प्रणव नाम का विमान विराजित है। वह सौ करोड़ आनन्दमय शिखरों से शोभित है। उसके बीच में बोधानन्द नाम का पर्वत है। उसके ऊपर अष्टाक्षरी नाम का मण्डप शोभायमान है। उसके बीच चिदानन्दमय वेदिका है। और वह आनन्दवन से अलंकृत की गई है। उसके ऊपर निरतिशय आनन्दरूप तेजोराशि प्रकाशित हो रही है और उसके बीच के स्थान में अष्टाक्षरी नाम का मण्डप शोभायमान है। उसके बीच चिदानन्दमय वेदिका है।

प्रणवकर्णिकायां सूर्येन्दुवह्निमण्डलानि चिन्मयानि ज्वलन्ति ॥27॥ तत्राखण्डानन्दतेजोराश्यन्तर्गतं परममङ्गलाकारमनन्तासनं विराजते ॥28॥

तस्योपरि च महायन्त्रं प्रज्वलति। निरतिशयब्रह्मानन्दपरममूर्तिमहायन्त्रं समस्तब्रह्मतेजोराशिसमष्टिरूपं चित्स्वरूपं निरञ्जनं परब्रह्मस्वरूपं परब्रह्मणः परमरहस्यकैवल्यं महायन्त्रमयपरमवैकुण्ठनारायणयन्त्रं विजयते ॥29॥

उस प्रणव की कली में सूर्य, चन्द्र तथा अग्नि के मण्डल चैतन्यमय होकर प्रकाशित हो रहे हैं। उनमें अखण्ड आनन्द तथा तेज की राशि के बीच स्थित परम मंगलकारी अनन्त का आसन विराजमान है। उसके ऊपर महान् यंत्र प्रकाशित हो रहा है। निरतिशय ब्रह्मानन्द की परममूर्ति रूप वह महामंत्र समस्त ब्रह्मतेज की राशि का समष्टिरूप है। चैतन्यरूप, ब्रह्मरूप, निरंजन का परमरहस्य कैवल्य रूप ही वह है। वह सभी यन्त्रों में महायन्त्र है। वह परम वैकुण्ठनारायणयंत्र विजयी होता है।

तत्स्वरूपं कथमिति। देशिकस्तथेति होवाच—

'उस महायंत्र का स्वरूप कैसा है' ? शिष्य के ऐसा पूछने पर गुरु ने 'ठीक है' ऐसा कहकर अब आगे उसका स्वरूप बता रहे हैं—

[आगे 30 से 48 कण्डिकामय मन्त्रों से नारायण मन्त्र का स्वरूप बताया जा रहा है। और उसमें स्थापित किए जाने वाले मन्त्र भी बताए गए हैं। ये मन्त्र और उनका वर्णन अत्यन्त गूढ और रहस्यमय पारिभाषिक संज्ञाओं से युक्त हैं। उनका वाच्यार्थ करने से भी कोई ऐसा तात्पर्य बोध नहीं होता। ऐसे गूढ (रहस्यमय) मन्त्रों का किसी अन्य भाषा में केवल अस्पष्ट वाच्यार्थ में अनुवाद करना हमें उचित भी मालूम नहीं होता। तात्पर्य बोध हो सके तो ऐसे मन्त्रों का अनुवाद करना कुछ हद तक ठीक भी है, पर ऐसे निगूढ और अत्यन्त गोपनीय मन्त्रों का अनुवाद करना ठीक नहीं है। जो लोग साधक हैं, उनको साधना के लिए किसी सिद्ध गुरु के पास जाकर महायंत्र का तथा इनका मर्म पहचान लेना चाहिए। यहाँ अनुवाद करना योग्य नहीं है, ऐसा समझकर केवल मन्त्र ही ज्यों-के-त्यों दिए जा रहे हैं और उनके साथ महायंत्र का मूल स्वरूप भी ज्यों-का-त्यों दिया जा रहा है—]

आदौ षट्कोणचक्रम्। तन्मध्ये षड्दलपद्मम्। तत्कर्णिकायां प्रणवं ॐ मिति। प्रणवमध्ये नारायणबीजमिति। तत्साध्यगर्भितं—मम सर्वाभीष्टसिद्धिं कुरुकुरु स्वाहेति। तत्पद्मदलेषु विष्णुनृसिंहषडक्षरमन्त्रौ—ॐ नमो विष्णवे, ऐं क्लीं श्रीं ह्रीं क्ष्म्यौंफट्। तद्दलकपोलेषु रामकृष्णषडक्षरमन्त्रौ—रां रामाय नमः, क्लीं कृष्णाय नमः। षट्कोणेषु

सुदर्शनषडक्षरमन्त्रः—सहस्त्रार हुं फडिति। षट्कोणकपोलेषु प्रणव-युक्तशिवपञ्चाक्षरमन्त्रः—ॐ नमः शिवायेति ॥30॥

तद्बहिः प्रणवमालायुक्तं वृत्तम्। वृत्ताद्बहिरष्टदलपद्मम्। तेषु दलेषु नारायणनृसिंहाष्टाक्षरमन्त्रौ—ॐ नमो नारायणाय, जयजय नरसिंह। तद्दलसन्धिषु रामकृष्णश्रीकराष्टाक्षरमन्त्राः—ॐ रामाय हुं फट् स्वाहा, क्लीं दामोदराय नमः, उत्तिष्ठ श्रीकर स्वाहा ॥31॥

तद्बहिः प्रणवमालायुक्तं वृत्तम्। वृत्ताद्बहिर्नवदलपद्मम्। तेषु दलेषु रामकृष्णहयग्रीवनवाक्षरमन्त्राः—ॐ रामचन्द्राय नमः ॐ क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय क्लीम्। 'ह्सौं हयग्रीवाय नमो ह्सौम्। तद्दलकपोलेषु दक्षिणामूर्तिनवाक्षरमन्त्रः—ॐ दक्षिणामूर्तिरितरोम् ॥32॥

तद्बहिर्नारायणबीजयुक्तं वृत्तम्। वृत्ताद्बहिर्दशदलपद्मम्। तेषु दलेषु रामकृष्णदशाक्षरमन्त्रौ—हुं जानकीवल्लभाय स्वाहा, गोपीजनवल्लभाय स्वाहा। तद्दलसन्धिषु नृसिंहमालामन्त्रः—ॐ नमो भगवते श्रीमहा-नृसिंहाय करालदंष्ट्रवदनाय मम विघ्नान् पचपच स्वाहा ॥33॥

तद्बहिर्नृसिंहैकाक्षरयुक्तं वृत्तम्—क्ष्म्रौं इत्येकाक्षरम्। वृत्ताद्बहिर्द्वा-दशदलपद्मम्। तेषु दलेषु नारायणवासुदेवद्वादशाक्षरमन्त्रौ—ॐ नमो भगवते नारायणाय, ॐ नमो भगवते वासुदेवाय। तद्दलकपोलेषु महा-विष्णुरामकृष्णद्वादशाक्षरमन्त्राश्च—ॐ नमो भगवते महाविष्णवे, ॐ ह्रीं भरताग्रज राम क्लीं स्वाहा, श्रीं ह्रीं क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय नमः ॥34॥

तद्बहिर्जगन्मोहनबीजयुक्तं वृत्तं—क्लीमिति। वृत्ताद्बहिश्चतुर्दशदल-पद्मम्। तेषु दलेषु लक्ष्मीनारायणहयग्रीवगोपालदधिवामनमन्त्राश्च—ॐ ह्रीं ह्रीं श्रीं श्रीं लक्ष्मीवासुदेवाय नमः, ॐ नमः सर्वकोटिसर्वविद्यारा-जाय, क्लीं कृष्णाय गोपालचूडामणये स्वाहा, ॐ नमो भगवते दधिवामनाय। तद्दलसन्धिष्वन्नपूर्णेश्वरीमन्त्रः—ह्रीं पद्मावत्यन्नपूर्णे माहेश्वरि स्वाहा ॥35॥

तद्बहिः प्रणवमालायुक्तं वृत्तम्। वृत्ताद्बहिः षोडशदलपद्मम्। तेषु दलेषु श्रीकृष्णसुदर्शनषोडशाक्षरमन्त्रौ च—ॐ नमो भगवते रुक्मिणीवल्ल-भाय स्वाहा, ॐ नमो भगवते महासुदर्शनाय हुं फट्। तद्दलसंधिषु स्वराः सुदर्शनमालामन्त्राः—अंआंइंईंउंऊंऋंॠंऌंॡंएंऐंओंऔंअंअः, सुदर्शन-महाचक्राय दीप्तरूपाय सर्वतो मां रक्षरक्ष सहस्त्रार हुं फट् स्वाहा ॥36॥

तद्बहिर्वराहबीजयुक्तं वृत्तं—तद्धुमिति। वृत्ताद्बहिरष्टादशदलपद्मम्। तेषु दलेषु श्रीकृष्णवामनाष्टादशाक्षरमन्त्रौ—क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा, ॐ नमो विष्णवे सुरपतये महाबलाय स्वाहा। तद्दलकपोलेषु गरुडपञ्चाक्षरीमन्त्रो गरुडमालामन्त्रश्च—क्षिप ॐ स्वाहा, ॐ नमः पक्षिराजाय सर्वविषभूतरक्षःकृत्याऽऽदिभेदनाय सर्वेष्टसाधकाय स्वाहा ॥37॥

तद्बहिर्मायाबीजयुक्तं वृत्तं—ह्रीमिति। वृत्ताद्बहिः पुनरष्टदलपद्मम्। तेषु दलेषु श्रीकृष्णवामनाष्टाक्षरमन्त्रौ—ॐ नमो दामोदराय, ॐ वामनाय नमः ॐ। तद्दलकपोलेषु नीलकण्ठत्र्यक्षरीगरुडपञ्चाक्षरीमन्त्रौ च—प्रें रीं ठः, नमोऽण्डजाय ॥38॥

तद्बहिर्मन्मथबीजयुक्तं वृत्तम्। वृत्ताद्बहिश्चतुर्विंशतिदलपद्मम्। तेषु दलेषु शरणागतनारायणमन्त्रौ नारायणहयग्रीवगायत्रीमन्त्रौ च—श्रीमन्नारायणचरणौ शरणं प्रपद्ये, श्रीमते नारायणाय नमः, नारायणाय विद्महे एवग्रीवाय धीमहि तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्। वागीश्वराय विद्महे हयग्रीवाय धीमहि तन्नो हंसः प्रचोदयात्। तद्दलकपोलेषु नृसिंहसुदर्शन-ब्रह्मगायत्रीमन्त्राश्च—वज्रनखाय विद्महे तीक्ष्णदंष्ट्राय धीमहि तन्नः सिंहः प्रचोदयात्, सुदर्शनाय विद्महे हेतिराजाय धीमहि तन्नश्चक्रः प्रचोदयात्, तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ॥39॥

तद्बहिर्हयग्रीवैकाक्षरयुक्तं वृत्तं—ह्सौमिति। वृत्ताद्बहिर्द्वात्रिंशद्दल-पद्मम्। तेषु दलेषु नृसिंहहयग्रीवानुष्टुभमन्त्रौ—

उग्रं वीरं महाविष्णुं ज्वलन्तं सर्वतोमुखम्।
नृसिंहं भीषणं भद्रं मृत्युमृत्युं नमाम्यहम्॥
ऋग्यजुःसामरूपाय वेदाहरणकर्मणे।
प्रणवोद्गीथवपुषे महाश्वशिरसे नमः॥

तद्दलकपोलेषु रामकृष्णानुष्टुभमन्त्रौ—

रामभद्र महेष्वास रघुवीर नृपोत्तम।
भो दशास्यान्तकास्माकं रक्षां देहि श्रियं च ते॥
देवकीसुत गोविन्द वासुदेव जगत्पते।
देहि मे तनयं कृष्ण त्वामहं शरणं गतः ॥40॥

तद्बहिः प्रणवसंपुटिताग्निबीजयुक्तं वृत्तम्—ॐ रं ॐ इति। वृत्ताद्बहिः षट्त्रिंशद्दलपद्मम्। तेषु दलेषु हयग्रीवषट्त्रिंशदक्षरमन्त्रः पुनरष्टत्रिंशदक्षरमन्त्रश्च—

हंसः—विश्वोत्तीर्णस्वरूपाय चिन्मयानन्दरूपिणे।
तुभ्यं नमो हयग्रीव विद्याराजाय विष्णवे—सोहम्॥

ह्सौं ॐ नमो भगवते हयग्रीवाय सर्ववागीश्वरेश्वराय सर्ववेदमयाय सर्वविद्यां मे देहि स्वाहा। तद्दलकपोलेषु प्रणवादिनमोऽन्ताश्चतुर्थ्यन्ताः केशवादिचतुर्विंशतिमन्त्राश्च। अवशिष्टद्वादशस्थानेषु रामकृष्णगायत्री-द्वयवर्णचतुष्टयमेकैकस्थले—ॐ केशवाय नमः ॐ नारायणाय नमः ॐ माधवाय नमः ॐ गोविन्दाय नमः ॐ विष्णवे नमः ॐ मधुसूदनाय नमः ॐ त्रिविक्रमाय नमः ॐ वामनाय नमः ॐ श्रीधराय नमः ॐ हृषीकेशाय नमः ॐ पद्मनाभाय नमः ॐ दामोदराय नमः ॐ सङ्कर्षणाय नमः ॐ वासुदेवाय नमः ॐ प्रद्युम्नाय नमः ॐ अनिरुद्धाय नमः ॐ

पुरुषोत्तमाय नमः ॐ अधोक्षजाय नमः ॐ नरसिंहाय नमः ॐ अच्युताय नमः ॐ जनार्दनाय नमः ॐ उपेन्द्राय नमः ॐ हरये नमः ॐ श्रीकृष्णाय नमः, दाशरथाय विद्महे सीतावल्लभाय धीमहि तन्नो रामः प्रचोदयात्, दामोदराय विद्महे वासुदेवाय धीमहि तन्नः कृष्णः प्रचोदयात् ॥41॥

तद्बहिः प्रणवसम्पुटिताङ्कुशबीजयुक्तं वृत्तम्—ॐ क्रों ॐ इति। तद्बहिः पुनर्वृत्तम्। तन्मध्ये द्वादशकुक्षिस्थानानि सान्तरालानि। तेषु कौस्तुभवनमालाश्रीवत्ससुदर्शनगरुडपद्मध्वजानन्तशार्ङ्गगदाशङ्खनन्दकमन्त्राः प्रणवादिनमोऽन्ताश्चतुर्थ्यन्ताः क्रमेण—ॐ कौस्तुभाय नमः ॐ वनमालायै नमः ॐ श्रीवत्साय नमः ॐ सुदर्शनाय नमः ॐ गरुडाय नमः ॐ पद्माय नमः ॐ ध्वजाय नमः ॐ अनन्ताय नमः ॐ शार्ङ्गाय नमः ॐ गदायै नमः ॐ शङ्खाय नमः ॐ नन्दकाय नमः। तदन्तरालेषु—ॐ विष्वक्सेनाय नमः ॐ आचक्राय स्वाहा ॐ विचक्राय स्वाहा ॐ सुचक्राय स्वाहा ॐ धीचक्राय स्वाहा ॐ संचक्राय स्वाहा ॐ ज्वालाचक्राय स्वाहा ॐ क्रुद्धोल्काय स्वाहा ॐ महोल्काय स्वाहा ॐ वीर्योल्काय स्वाहा ॐ विद्योल्काय स्वाहा ॐ सहस्त्रोल्काय स्वाहा इति प्रणवादिमन्त्राः ॥42॥

तद्बहिः प्रणवसम्पुटितगरुडपञ्चाक्षरयुक्तं वृत्तम्—ॐ क्षिप ॐ स्वाहा ॐ। तच्च द्वादशवज्रैः सान्तरालैरलंकृतम्। तेषु वज्रेषु—ॐ पद्मनिधये नमः ॐ महापद्मनिधये नमः ॐ गरुडनिधये नमः ॐ शङ्खनिधये नमः ॐ मकरनिधये नमः ॐ कच्छपनिधये नमः ॐ विद्यानिधये नमः ॐ परमानन्दनिधये नमः ॐ मोक्षनिधये नमः ॐ लक्ष्मीनिधये नमः ॐ ब्रह्मनिधये नमः ॐ श्रीमुकुन्दनिधये नमः ॐ वैकुण्ठनिधये नमः। तत्संधिस्थानेषु—ॐ विद्याकल्पकतरवे नमः ॐ आनन्दकल्पकतरवे नमः ॐ ब्रह्मकल्पकतरवे नमः ॐ भुक्तिकल्पकतरवे नमः ॐ अमृतकल्पकतरवे नमः ॐ बोधकल्पकतरवे नमः ॐ विभूतिकल्पकतरवे नमः ॐ वैकुण्ठकल्पकतरवे नमः ॐ वेदकल्पकतरवे नमः ॐ योगकल्पकतरवे नमः ॐ यज्ञकल्पकतरवे नमः ॐ पद्मकल्पकतरवे नमः। तच्च शिवगायत्रीपरब्रह्ममन्त्राणां वर्णैर्वृत्ताकारेण संवेष्ट्य—
तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि तन्नो रुद्रः प्रचोदयात्,
श्रीमन्नारायणो ज्योतिरात्मा नारायणः परः।
नारायणः परं ब्रह्म नारायणः नमोऽस्तु ते ॥43॥

तदबहिः प्रणवसम्पुटितश्रीबीजयुक्तं वृत्तम्—ॐ श्रीमोमिति। तद्बहिश्चत्वारिंशद्दलपद्मम्। तेषु दलेषु व्याहृतिशिरःसम्पुटितवेदगायत्रीपादचतुष्टयसूर्याष्टाक्षरीमन्त्रौ—ॐ भूः ॐ भुवः ॐ सुवः ॐ महः ॐ जनः ॐ तपः ॐ सत्यम् ॐ तत्सवितुर्वरेण्यम् ॐ भर्गो देवस्य धीमहि ॐ धियो यो नः प्रचोदयात् ॐ परोरजसे सावदोम् ॐ आपो

ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः सुवरोम्, ॐ घृणिः सूर्य आदित्यः। तद्दलसन्धिषु प्रणवश्रीबीजसम्पुटितनारायणबीजं सर्वत्र—ॐ श्रीमं श्रीमोम् ॥44॥

तद्बहिरष्टशूलाङ्कितभूचक्रम्। चक्रान्तश्चतुर्दिक्षु हंसःसोहंमन्त्रौ प्रणवसम्पुटितौ नारायणास्त्रमन्त्राश्च—ॐ हंसः सोहम्, ॐ नमो नारायणाय हुं फट् ॥45॥

तद्बहिः प्रणवमालासंयुक्तं वृत्तम्। वृत्ताद्बहिः पञ्चाशद्दलपद्मम्। तेषु दलेषु मातृकापञ्चाशदक्षरमाला लकारवर्ज्या। तद्दलसन्धिषु प्रणवश्री-बीजसम्पुटितरामकृष्णमालामन्त्रौ—ॐ श्रीमों नमो भगवते रघुनन्दनाय रक्षोघ्नविशदाय मधुरप्रसन्नवदनायामिततेजसे बलाय रामाय विष्णवे नमः श्रीमों, ॐ श्रीं ॐ नमः कृष्णाय देवकीपुत्राय वासुदेवाय निर्गलच्छेदनाय सर्वलोकाधिपतये सर्वजगन्मोहनाय विष्णवे कामितार्थदाय स्वाहा श्रीमोम् ॥46॥

तद्बहिरष्टशूलाङ्कितभूचक्रम्। तेषु प्रणवसम्पुटितमहानीलकण्ठमन्त्र-वर्णानि—ॐमों नमो नीलकण्ठाय ॐ। शूलाग्रेषु लोकपालमन्त्राः प्रणवादिनमोऽन्ताश्चतुर्थ्यन्ताः क्रमेण—ॐ इन्द्राय नमः ॐ अग्नये नमः ॐ यमाय नमः ॐ निर्ऋतये नमः ॐ वरुणाय नमः ॐ वायवे नमः ॐ सोमाय नमः ॐ ईशानाय नमः ॥47॥

तद्बहिः प्रणवमालायुक्तं वृत्तत्रयम्। तद्बहिर्भूपुरचतुष्टयं चतुर्द्वारयुतं चक्रकोणचतुष्टयमहावज्रविभूषितम्। तेषु वज्रेषु प्रणवश्रीबीज-सम्पुटितामृतबीजद्वयम्—ॐ श्रीं ठं वं श्रीमोमिति। बहिर्भूपुरवीथ्याम्—ॐ आधारशक्त्यै नमः ॐ मूलप्रकृत्यै नमः ॐ आदिकूर्माय नमः ॐ अनन्ताय नमः ॐ पृथिव्यै नमः। मध्यभूपुरवीथ्याम्—ॐ क्षीरसमुद्राय नमः ॐ रत्नद्वीपाय नमः ॐ रत्नमण्डपाय नमः ॐ श्वेतच्छत्राय नमः ॐ कल्पवृक्षाय नमः ॐ रत्नसिंहासनाय नमः। प्रथमभूपुरवीथ्यां धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्याधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्यसत्त्वरजस्तमोमायाविद्याऽनन्तपद्माः प्रणवादिनमोन्ताश्चतुर्थ्यन्ताः क्रमेण। बाह्यवृत्तवीथ्यां विमलोत्कर्षिणी ज्ञानाक्रियायोगाप्रह्वीसत्येशानाः प्रणवादिनमोऽन्ताश्चतुर्थ्यन्ताः क्रमेण। अन्तर्वृत्तवीथ्यां—ओमनुग्रहायै नमः, ॐ नमो भगवते विष्णवे सर्वभूतात्मने वासुदेवाय सर्वात्मसंयोगयोगपीठात्मने नमः।

वृत्तावकाशेषु—

बीजं प्राणं च शक्तिं च दृष्टिं वश्यादिकं तथा।
मन्त्रयन्त्राख्यगायत्रीप्राणस्थापनमेव च।
भूतदिक्पालबीजानि यन्त्रस्याङ्गानि वै दश॥
मूलमन्त्रमालामन्त्रकवचदिग्बन्धनमन्त्राश्च ॥48॥

इस प्रकार पहले 28 और 29 कण्डिकाओं के द्वारा अनन्त आसन के ऊपर स्थित समष्टिमहायंत्र को बताकर बाद में 30 से 48 कण्डिकाओं के द्वारा व्यष्टियंत्र का निगूढ स्वरूप और उसमें उपयुक्त

रहस्यमय मन्त्र बताए गए हैं। इसका स्वरूप और उसमें उपयुक्त मन्त्र दोनों रहस्यमय और गुरु से ही बोध्य हैं।

एवंविधमेतद्यन्त्रं महामन्त्रमयं योगधीरान्तैः परममन्त्रैरलङ्कृतं षोडशोपचारैरभ्यर्चितं जपहोमादिना साधितमेतद्यन्त्रं शुद्धब्रह्मतेजोमयं सर्वाभयङ्करं समस्तदुरितक्षयकरं सर्वाभीष्टसम्पादकं सायुज्यमुक्तिप्रद-मेतत् परमवैकुण्ठमहानारायणयन्त्रं प्रज्वलति ॥49॥

ऐसा यह यन्त्र महायन्त्रमय है। योगधीर तक के परममन्त्रों से यह शोभित है। यदि इसकी षोडशोपचार पूजा की जाए और जप-होम आदि विहित विधियों से उसको सिद्ध किया जाए, तो यह मन्त्र शुद्ध तेजोमय बनकर साधक को सब तरह से निर्भय बनाता है। समग्र पापों का नाश करता है। सभी इष्ट कामनाएँ पूरी करता है। सायुज्य मुक्ति प्रदान करता है। ऐसा यह परमवैकुण्ठ महायन्त्र प्रकाशित है।

तस्योपरि च निरतिशयानन्दतेजोराश्यभ्यन्तरसमासीनं वाचामगोचरा-नन्दतेजोराश्याकारं चित्साराविर्भूतानन्दविग्रहं बोधानन्दस्वरूपं निरति-शयसौन्दर्यपारावारं तुरीयस्वरूपं तुरीयातीतं चाद्वैतपरमानन्दं निरन्तरा-तितुरीयनिरतिशयसौन्दर्यानन्दपारावारं लावण्यवाहिनीकल्लोलतटिद्भा-सुरं दिव्यमङ्गलविग्रहं मूर्तिमद्भिः परममङ्गलैरुपसेव्यमानं चिदानन्दमयै-रनन्तकोटिरविप्रकाशैरनन्तभूषणैरलङ्कृतं सुदर्शनपाञ्चजन्यपद्मगदा-ऽसिशार्ङ्गमुसलपरिघाद्यैश्चिन्मयैरनेकायुधगणैर्मूर्तिमद्भिः सुसेवितं श्रीवत्स-कौस्तुभवनमालाऽङ्कितवक्षसं ब्रह्मकल्पवनामृतपुष्पवृष्टिभिः सन्तत-मानन्दं ब्रह्मानन्दरसनिर्भरैरसंख्यैरतिमङ्गलं शेषायुतफणाजालविपुल-च्छत्रशोभितं तत्फणामण्डलोदर्चिर्मणिद्योतितविग्रहं तदङ्गकान्तिनिर्झरै-स्ततं निरतिशयब्रह्मगन्धस्वरूपं निरतिशयानन्दब्रह्मगन्धविशेषाकारम् अनन्तब्रह्मगन्धाकारसमष्टिविशेषम् अनन्तानन्दतुलसीमाल्यैरभिनवं चिदानन्दमयानन्तपुष्पमाल्यैर्विराजमानं तेजःप्रवाहतरङ्गततपरम्परा-भिर्ज्वलन्तं निरतिशयानन्तकान्तिविशेषावर्तैरभितोऽनिशं प्रज्वलन्तं बोधानन्दमयानन्तधूपदीपावलिभिरतिशोभितं निरतिशयानन्दचामर-विशेषैः परिसेवितं निरन्तरनिरुपमनिरतिशयोत्कटज्ञानानन्दानन्तगुच्छ-फलैरलङ्कृतं चिन्मयानन्ददिव्यविमानच्छत्रध्वजराजिभिर्विराजमानं परममङ्गलानन्तदिव्यतेजोभिर्ज्वलन्तम् अनिशं वाचामगोचरानन्ततेजो-राश्यन्तर्गतम् अर्धमात्रात्मकं तुर्यं ध्वन्यात्मकं तुरीयातीतम् अवाच्यं नादबिन्दुकलाऽध्यात्मस्वरूपं चेत्याद्यनन्ताकारेणावस्थितं निर्गुणं निष्क्रियं निर्मलं निरवद्यं निरञ्जनं निराकारं निराश्रयं निरतिशयाद्वैत-परमानन्दलक्षणम् आदिनारायणं ध्यायेदित्युपनिषत् ॥50॥

इत्याथर्वणमहानारायणोपनिषदि परममोक्षस्वरूपनिरूपणद्वारा त्रिपाद्विभूति-परमवैकुण्ठमहानारायणयन्त्रस्वरूपनिरूपणं नाम सप्तमोऽध्यायः।

उसके ऊपर निरतिशय आनन्दमय तेजोराशि के बीच तुरीय और तुरीयातीय स्वरूप विराजित है। वह वाणी का अविषय है, आनन्द और तेजोराशि के आकारवाला है, वह बोध और आनंदस्वरूप निरतिशय आनन्द और सौन्दर्य के सागर जैसा, अद्वैत परमानन्द से व्याप्त, तुरीय से परे, निरतिशय आनन्द और सौन्दर्य के सागररूप, चैतन्य के सारतत्त्व से उत्पन्न आनन्दरूप शरीरधारी, बोध और आनन्द का स्वरूप, लावण्य की नदी के तरंगों से युक्त, विद्युत् जैसा प्रकाशित, दिव्यमंगल शरीरधारी, श्रेष्ठमूर्त मांगल्यों से सेवित, चिदानन्दमय अनन्त सूर्यों के प्रकाशों से तथा अनंत आभूषणों से शोभित है। सुदर्शन-पांचजन्य शंख-कमल-गदा-तलवार-शार्ङ्ग-धनुष-मुसल-परिघ आदि चैतन्यमय अनेक मूर्तिमान आयुधों के समूहों से अच्छी तरह सेवित है। और उस नारायणयन्त्र में श्रीवत्स, कौस्तुभ तथा वनमाला से युक्त वक्ष:स्थलवाले, ब्रह्मरूप, कल्पवन के अमर पुष्पों की वृष्टियों से व्याप्त, आनन्दस्वरूप, ब्रह्मानन्द के रस से भरे हुए असंख्य प्रवाहों से अतिमंगल शेषनाग के दस हजार फणों के समूहरूपी बड़े छत्र से शोभायमान, उन फणों के ऊपर के बहुत तेजस्वी मणियों से प्रकाशित शरीरवाले, अपने अंगों की कान्तिरूपी झरनों से व्याप्त, निरतिशय ब्रह्मरूप सुगन्ध से सुगन्धित, निरतिशय आनन्दयमय ब्रह्मगन्ध के विशेष आकार रूप, अनन्त ब्रह्मगन्ध की विशेष समष्टिरूप आकारवाले, आनन्दमय तुलसी की मालाओं से चारों ओर नवीन, चिदानन्दमय अनन्त पुष्पों की मालाओं से विराजमान, उनके प्रवाहों और उनकी तरंगों की परम्पराओं से प्रकाशित होते हुए निरतिशय आनन्दस्वरूप कान्ति की विशेषताओं के मण्डलों से निरन्तर प्रज्वलित हुए, बोधानन्दमय अनन्त धूपों और दीपकों की पंक्तियों से अत्यन्त शोभित और निरतिशय आनन्दमय अनेक चामरों से चारों ओर सुसेवित होते हुए, निरन्तर उपमारहित, निरतिशय उत्कट ज्ञानानन्दमय, अनन्त गुच्छों और फलों से अलंकृत, चैतन्यमय और आनन्दस्वरूप दिव्य विमानों, छत्रों और ध्वजों की पंक्तियों से विराजमान, परममंगलमय, अनन्त दिव्यतेज से प्रकाशमान, निरन्तर वाणी के अविषयरूप, अनन्त तेज की राशि की भीतर रहे हुए, अर्धमात्रारूप, तुरीयस्वरूप, नादस्वरूप, तुर्यातीत, अवर्णनीय, और नाद-बिन्दु-कला-अध्यात्मस्वरूप इत्यादि अनन्त आकार से अवस्थित, निर्गुण, क्रियाशून्य, निर्मल, निर्दोष, निरंजन, निराकार, आश्रयरहित और निरतिशय अद्वैत परमानन्दरूप लक्षण वाले श्रीआदिनारायण का ध्यान करना चाहिए। ऐसा यह उपनिषद् कहती है।

इस प्रकार आथर्वण-महानारायणोपनिषद् में परममोक्षस्वरूपनिरूपण द्वारा त्रिपाद्वि-भूतिपरमवैकुण्ठमहानारायणयन्त्रस्वरूपनिरूपण पूरा हुआ।

अष्टमोऽध्याय:

ततः पितामहः परिपृच्छति भगवन्तं महाविष्णुं—भगवन् शुद्धाद्वैतपरमानन्दलक्षणपरब्रह्मणस्तव कथं विरुद्धवैकुण्ठप्रासादप्राकारविमानाद्यनन्तवस्तुभेदः ॥1॥

सत्यमेवोक्तमिति भगवान् महाविष्णुः परिहरति। यथा शुद्धसुवर्णस्य कटकमुकुटाङ्गदादिभेदः। यथा समुद्रसलिलस्य स्थूलसूक्ष्मतरङ्गफेनबुद्बुदकरकलवणपाषाणाद्यनन्तवस्तुभेदः। यथा भूमेः पर्वतवृक्षतृणगुल्मलताद्यनन्तवस्तुभेदः। तथैवाद्वैतपरमानन्दलक्षणपरब्रह्मणो मम

सर्वाद्वैतमुपपन्नं भवत्येव। मत्स्वरूपमेव सर्वं मद्व्यतिरिक्तमणुमात्रं न विद्यते ॥2॥

पुनः पितामह ब्रह्मा ने भगवान् महाविष्णु से पूछा—'हे भगवन्! आप तो स्वयं शुद्ध, अद्वैत, परमानन्द, परब्रह्म के ही लक्षणवाले हैं। फिर भी इससे विरोधी ये वैकुण्ठधाम, वहाँ के महल, वहाँ के प्राकार, विमान आदि अनन्त वस्तुस्वरूप से आपका भेद किस तरह संभव हो सकता है? इस प्रश्न का उत्तर कहते हुए भगवान् महाविष्णु ब्रह्मा की शंका का निराकरण करते हुए कहने लगे कि आपने यह ठीक ही कहा है, परन्तु जिस तरह शुद्ध सोने के कड़े, मुकुट, कुण्डल, बाजूबन्द आदि भेद होते हैं, अथवा जैसे सागर के जल के छोटे-बड़े तरंग-फेन-बुद्बुद्-ओले, लवण और उसके ढेले आदि अनन्त वस्तुओं के रूप में भेद होते हैं, अथवा जिस प्रकार पृथ्वी के पर्वत, वृक्ष, घास, पौधे, बेल आदि अनन्त वस्तुओं के रूप में भेद होते हैं, ठीक उसी प्रकार से अद्वैत परमानन्दरूप लक्षणवाले परब्रह्म ऐसे मेरे स्वरूपों के केवल काल्पनिक भेद ही हैं, वास्तविक रूप से तो सब कुछ अद्वैत परब्रह्म ही है, ऐसा सिद्ध होता है। सब कुछ मेरा ही स्वरूप ही है, मुझसे अलग बिल्कुल नहीं है।

पुनः पितामहः परिपृच्छति—भगवन् परमवैकुण्ठ एव परममोक्षः। परममोक्षस्त्वेक एव श्रूयते सर्वत्र। कथमनन्तवैकुण्ठाश्च अनन्तानन्द-समुद्रादयश्च अनन्तमूर्तयः सन्तीति ॥3॥
तथेति होवाच भगवान् महाविष्णुः—एकस्मिन्नविद्यापादेऽनन्तकोटि-ब्रह्माण्डानि सावरणानि श्रूयन्ते। तस्मिन्नेकस्मिन्नण्डे बहवो लोकाश्च बहवो वैकुण्ठाश्चानन्तविभूतयश्च सन्त्येव। सर्वाण्डेष्वनन्तलोकाश्चा-नन्तवैकुण्ठाः सन्तीति सर्वेषां खल्वभिमतम्। पादत्रयेऽपि किं वक्तव्यम्। निरतिशयानन्दाविर्भावो मोक्ष इति मोक्षलक्षणं पादत्रये वर्तते। तस्मात् पादत्रयं परममोक्षः। पादत्रयं परमवैकुण्ठः। पादत्रयं परमकैवल्यमिति। ततः शुद्धचिदानन्दब्रह्मविलासानन्दाश्चानन्तरपरमा-नन्दविभूतयश्चानन्तवैकुण्ठाश्चानन्तपरमानन्दसमुद्रादयः सन्त्येव ॥4॥

इसके बाद पितामह ब्रह्मा ने पुनः पूछा—'हे भगवन्! परम वैकुण्ठ ही परममोक्ष है। किन्तु शास्त्रों में परम मोक्ष तो एक ही सुना जाता है। फिर भी अनन्त वैकुण्ठ, अनन्त आनन्दसागर और अनन्त मूर्तियाँ हैं, यह बात कैसे उचित ठहरता है।?' तब भगवान् विष्णु ने कहा—हाँ, वह उचित है, क्योंकि एक-एक ही अविद्यापाद अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड आवरणों के साथ स्थित हैं, ऐसा सुना जाता है। उस एक ही ब्रह्माण्ड में बहुत से लोग, बहुत से वैकुण्ठ और अनन्त विभूतियाँ भी तो हैं ही। और सब ब्रह्माण्डों में अनन्त लोग एवं अनन्त वैकुण्ठ हैं—यह बात तो सभी लोगों को मान्य है ही। अब बाकी के तीन पादों में क्या है, यह कहना चाहिए। निरतिशय आनन्द का आविर्भाव ही मोक्ष है—मोक्ष का ऐसा लक्षण अन्य तीनों पादों में है। इसलिए तीन पाद परममोक्ष हैं, एवं तीन पाद परम वैकुण्ठ है और तीन पाद परम कैवल्य है। इसलिए शुद्ध चैतन्य और आनन्दरूप ब्रह्म के विलासवाले आनन्द, परमानन्द की विभूतियाँ, अनन्त वैकुण्ठ, और अनन्त परमानन्द के समूह—ये सब हैं ही।

उपासकस्ततोऽभ्येत्यैवंविधं नारायणं ध्यात्वा प्रदक्षिणनमस्कारान् विधाय विविधोपचारैरभ्यर्च्य निरतिशयाद्वैतपरमानन्दलक्षणो भूत्वा

तदग्रे सावधानेनोपविश्य अद्वैतयोगमास्थाय सर्वाद्वैतपरमानन्दलक्षणाखण्डामिततेजोराश्याकारं विभाव्योपासकः स्वयं शुद्धबोधानन्दमयामृतनिरतिशयानन्दतेजोराश्याकारो भूत्वा महावाक्यार्थमनुस्मरन् ब्रह्माहमस्मि अहमस्मि ब्रह्माहमस्मि योऽहमस्मि ब्रह्माहमस्मि अहमेवाहं मां जुहोमि स्वाहा। अहं ब्रह्मेति भावनया यथा परमतेजोमहानदीप्रवाहः परमतेजःपारावारे प्रविशति। यथा परमतेजःपारावारतरङ्गाः परमतेजःपारावारे प्रविशन्ति। तथैव सच्चिदानन्दात्मोपासकः सर्वपरिपूर्णाद्वैतपरमानन्दलक्षणे परब्रह्मणि नारायणे मयि सच्चिदानन्दात्मकोऽहमजोऽहं परिपूर्णोऽहमस्मीति प्रविवेश। तत उपासको निस्तरङ्गाद्वैतापारनिरतिशयसच्चिदानन्दसमुद्रो बभूव ॥5॥

यस्त्वनेन मार्गेण सम्यगाचरति स नारायणो भवत्यसंशयमेव। अनेन मार्गेण सर्वे मुनयः सिद्धिं गताः। असंख्याताः परमयोगिनश्च सिद्धिं गताः ॥6॥

फिर उस प्रकार के नारायण को प्राप्त कर लेने के बाद उपासक उनका ध्यान करता है, प्रदक्षिणा और नमस्कार करता है, विविध उपचारों से उनकी पूजा करता है और निरतिशय परमानन्द युक्त होकर उनके सामने बैठता है। बाद में अद्वैत योग का आश्रय करके सम्पूर्ण अद्वैत परमानन्द के लक्षणयुक्त अखंड-अमित-तेजोराशि का जो आकार है, उनका चिन्तन करके उपासक स्वयं भी ज्ञानमय और आनन्दमय, अमर तथा निरतिशय आनन्दस्वरूप तेजोराशि का आकार ग्रहण कर लेता है, और महावाक्य के अर्थ का स्मरण करता है कि 'मैं ब्रह्म हूँ, मैं ब्रह्म हूँ, मैं जो हूँ, वही ब्रह्म है। मैं ही मेरा होम करता हूँ, स्वाहा' इस प्रकार, 'मैं ब्रह्म हूँ'—ऐसी भावना से, जिस तरह परमप्रेम की महानदी का प्रवाह वेग के सागर में प्रवेश करता है, उसी तरह और जैसे परमतेज के सागर की तरंगें परमतेज के सागर में प्रवेश करती हैं, उसी तरह वह सच्चिदानन्द स्वरूपधारी उपासक, 'सर्वांशपरिपूर्ण अद्वैत परमानन्दस्वरूप परब्रह्म नारायण मुझमें हैं,' 'मैं अब सच्चिदानन्द स्वरूप हूँ' 'अब मैं परिपूर्ण हूँ'—ऐसी भावना से प्रवेश करता है, और वह उपासक फिर निस्तरंग अद्वैत-अपार-निरतिशय-सच्चिदानन्द का सागर बन जाता है। जो मनुष्य इस मार्ग पर चलकर उत्तम आचरण करता है, वह अवश्य नारायण ही बन जाता है। इस मार्ग पर चलकर सब मुनियों ने सिद्धि प्राप्त की है तथा असंख्य श्रेष्ठ मुनिजन सिद्धि प्राप्त किए हुए हैं।

ततः शिष्यो गुरुं परिपृच्छति—भगवन् सालम्बनिरालम्बयोगौ कथमिति ॥7॥

सालम्बस्तु समस्तकर्मातिदूरतया करचरणादिमूर्तिविशिष्टं मण्डलाद्यालम्बनं सालम्बयोगः। निरालम्बस्तु समस्तनामरूपकर्मातिदूरतया सर्वकामाद्यन्तःकरणवृत्तिसाक्षितया तदालम्बनशून्यतया च भावनं निरालम्बयोगः ॥8॥

फिर शिष्य ने गुरु से पूछा—'हे भगवन्! सालम्ब और निरालम्ब योग कैसा होता है, यह मुझे कहिए।' तब गुरु ने कहा—सभी कर्मों को अत्यन्त दूर ढकेलकर, हाथ-पैर आदि अवयवों वाली मूर्ति का जिस योग में ध्यान किया जाता है, वह अथवा जिसमें मण्डल आदि का आलम्बन होता है वह

'सालम्ब-योग' कहा जाता है। तथा जिस योग में सब नामों तथा कर्मों को अत्यन्त दूर करके, सभी कामनाओं से मुक्त हुए अन्त:करण की वृत्ति के साक्षी रूप में, उसके आलम्बन से रहित होकर ही चिन्तन किया जाता है, उसे 'निरालम्ब योग' कहा जाता है।

अथ च निरालम्बयोगाधिकारी कीदृशो भवति ॥9॥
अमानित्वादिलक्षणोपलक्षितो यः पुरुषः स एव निरालम्बयोगाधिकारी ॥10॥
कार्यः कश्चिदस्ति। तस्मात् सर्वेषामधिकारिणामनधिकारिणां च भक्तियोग एव प्रशस्यते। भक्तियोगो निरुपद्रवः। भक्तियोगान्मुक्तिः। भक्तिमतामनायासेनाचिरादेव तत्त्वज्ञानं भवति ॥11॥
तत्कथमिति। भक्तवत्सलः स्वयमेव सर्वेभ्यो मोक्षविघ्नेभ्यो भक्तिनिष्ठान् सर्वान् परिपालयति सर्वाभीष्टान् प्रयच्छति मोक्षं दापयति चतुर्मुखादीनाम्। सर्वेषामपि विना विष्णुभक्त्या कल्पकोटिभिर्मोक्षो न विद्यते। कारणेन विना कार्यं नोदेति। भक्त्या विना ब्रह्मज्ञानं कदाऽपि न जायते। तस्मात्त्वमपि सर्वोपायान् परित्यज्य भक्तिमाश्रय। भक्तिनिष्ठो भव। भक्तिनिष्ठो भव। भक्त्या सर्वसिद्धयः सिध्यन्ति। भक्त्यसाध्यं न किञ्चिदस्ति ॥12॥

अब इस निरालम्ब योग का अधिकारी कैसा होता है ? तो कहते हैं—अभिमानराहित्य आदि लक्षणों से युक्त होता है, वही निरालम्बयोग का अधिकारी समझा जाता है। और वह तो कोई विरल पुरुष ही हो सकता है। इसलिए सभी अधिकारियों और अनधिकारियों के लिए भक्तियोग ही उत्तम है। क्योंकि भक्तियोग उपद्रवरहित है। भक्तियोग से मुक्ति मिलती है। जो भक्तिमान हैं, उन्हें अनायास ही तत्त्वज्ञान हो जाता है। ऐसा कैसे होता है ? तो उत्तर यह है कि भक्तवत्सल भगवान् स्वयं ही सभी भक्तिनिष्ठों का मोक्षावरोधक विघ्नों से रक्षण करते हैं। वे सभी इच्छित फल देते हैं, और मोक्ष प्रदान करते हैं। ब्रह्मा आदि करोड़ों देवों का भी विष्णुभक्ति के बिना करोड़ों वर्षों में भी मोक्ष नहीं हो सकता। कारण के बिना कार्य कभी उत्पन्न हो नहीं सकता। इसलिए तुम भी अन्य सभी उपायों को छोड़कर भक्ति का ही आश्रय कर लो। भक्तिनिष्ठ हो जाओ ! भक्तिपरायण हो जाओ ! भक्ति से सभी सिद्धियाँ प्राप्त की जा सकती हैं, भक्ति से असाध्य कुछ भी नहीं है।

एवंविधं गुरूपदेशमाकर्ण्य सर्वं परमतत्त्वरहस्यमवबुध्य सर्वसंशयान् विधूय क्षिप्रमेव मोक्षं साधयामीति निश्चित्य ततः शिष्यः समुत्थाय प्रदक्षिणनमस्कारं कृत्वा गुरुभ्यो गुरुपूजां विधाय गुर्वनुज्ञया क्रमेण भक्तिनिष्ठो भूत्वा भक्त्यतिशयेन पक्वविज्ञानं प्राप्य तस्मादनायासेन शिष्यः क्षिप्रमेव साक्षान्नारायणो बभूवेत्युपनिषत् ॥13॥

इस प्रकार से गुरु के उपदेश को सुनकर, 'मैं परमतत्त्व का सर्व रहस्य जानकर, सभी संशयों को छोड़कर मोक्ष को शीघ्र साध्य करूँगा'—इस प्रकार का निश्चय करके शिष्य उठा और गुरु की प्रदक्षिणा करके नमस्कार किया और फिर उनकी पूजा की। बाद में उनकी अनुमति लेकर भक्तिनिष्ठ बना। और क्रमशः भक्ति में वृद्धि होते-होते पक्व विज्ञान प्राप्त करके उसके द्वारा अनायास ही शीघ्र स्वयं नारायणरूप बन गया। ऐसा यह उपनिषद् कहती है।

ततः प्रोवाच भगवान् महाविष्णुः चतुर्मुखमवलोक्य—ब्रह्मन् परमतत्त्वरहस्यं ते सर्वं कथितम्। तत्स्मरणमात्रेण मोक्षो भवति। तदनुष्ठानेन सर्वमविदितं विदितं भवति। यत्स्वरूपज्ञानिनः सर्वमविदितं विदितं भवति तत्सर्वं परमरहस्यं कथितम् ॥14॥

बाद में भगवान् महाविष्णु ने ब्रह्मा को सामने देखकर कहा—हे ब्रह्मा ! परमतत्त्व का सर्व रहस्य मैंने आपसे कहा। उसका केवल स्मरण करने से ही मोक्ष मिल जाता है। और उसका आचरण करने से तो नहीं जाना हुआ भी सब कुछ जाना जा सकता है। उसका स्वरूप जानने वालों को सभी अज्ञात वस्तुएँ ज्ञात हो जाती है। यह सब परमरहस्य मैंने कहा है।

गुरुः क इति। गुरुः साक्षादादिनारायणः पुरुषः। स आदिनारायणोऽहमेव। तस्मान्मामेकं शरणं व्रज। मद्भक्तिनिष्ठो भव। मदीयोपासनां कुरु। मामेव प्राप्स्यसि। मद्व्यतिरिक्तं सर्वं बाधितम्। मद्व्यतिरिक्तमबाधितं न किञ्चिदस्ति। निरतिशयानन्दाद्वितीयोऽहमेव। सर्वपरिपूर्णोऽहमेव। सर्वाश्रयोऽहमेव। वाचामगोचरनिराकारपरब्रह्मस्वरूपोऽहमेव। मद्व्यतिरिक्तमणुमात्रं न विद्यते ॥15॥

अब, 'गुरु कौन है ?' यह कहा जाता है—साक्षात् आदिनारायण पुरुष स्वयं ही गुरु हैं। और मैं ही वह आदिनारायण हूँ। इसलिए तुम केवल मेरी ही शरण में आओ। मेरी ही भक्ति में निष्ठासम्पन्न हो जाओ। मेरी ही उपासना करो। इससे तुम मुझे ही प्राप्त करोगे। मेरे सिवा सब मिथ्या है। मेरे सिवा जो मिथ्या न हो, ऐसा कुछ है ही नहीं। मैं ही निरतिशय आनंद और मैं ही अद्वितीय हूँ। सब तरह से परिपूर्ण मैं ही हूँ। मैं ही सब का आश्रय हूँ। जो वाणी का अविषय है, ऐसे परब्रह्म का निराकारस्वरूप भी तो मैं ही हूँ। मुझसे अलग तो एक अणु भी नहीं है।

इत्येवं महाविष्णोः परममिममुपदेशं लब्ध्वा पितामहः परमानन्दं प्राप ॥16॥
विष्णोः कराभिमर्शनेन दिव्यज्ञानं प्राप्य पितामहस्ततः समुत्थाय प्रदक्षिणनमस्कारान् विधाय विविधोपचारैर्महाविष्णुं प्रपूज्य प्राञ्जलिर्भूत्वा विनयेनोपसङ्गम्य भगवन् भक्तिनिष्ठां मे प्रयच्छ। त्वदभिन्नं मां परिपालय कृपालय ॥17॥

इस प्रकार से श्रीमहाविष्णु का उत्तम उपदेश सुनकर ब्रह्माजी बहुत आनंदित हुए। उन्हें विष्णु के हाथ का स्पर्श होने से दिव्य ज्ञान प्राप्त हुआ। इसके बाद ब्रह्माजी ने खड़े होकर महाविष्णु की प्रदक्षिणा की और उन्हें नमस्कार किया। बाद में विविध उपचारों से उनका पूजन किया और दोनों हाथ जोड़कर उनके पास जाकर विनयपूर्वक कहने लगे—'हे कृपानिधान ! मुझे भक्तिनिष्ठा दीजिए।'

तथैव साधु साध्विति साधुप्रशंसापूर्वकं महाविष्णुः प्रोवाच—मदुपासकः सर्वोत्कृष्टः स भवति। मदुपासनया सर्वमङ्गलानि भवन्ति। मदुपासनया सर्वं जयति। मदुपासकः सर्ववन्द्यो भवति। मदीयोपासकस्यासाध्यं न किञ्चिदस्ति। सर्वबन्धाः प्रविनश्यन्ति। सद्वृत्तमिव सर्वे देवास्तं सेवन्ते। महाश्रेयांसि च सेवन्ते। मदुपासकस्तस्मान्निरतिशयाद्वैतपरमानन्द-

लक्षणपरब्रह्म भवति। यो वै मुमुक्षुरनेन मार्गेण सम्यगाचरति स परमानन्दलक्षणपरब्रह्म भवति ॥18॥

'बहुत अच्छा, बहुत अच्छा' इस तरह प्रशंसापूर्वक महाविष्णु ने कहकर आगे कहा—'मेरा उपासक सबसे उत्कृष्ट बनता है। मेरी उपासना से सब-कुछ मंगल होता है। मेरी उपासना से सब-कुछ विजयी होता है। मेरा उपासक सबके लिए वन्दनीय होता है। मेरे उपासक के लिए कुछ भी असाध्य नहीं होता। उसके सभी बन्धन नष्ट हो जाते हैं। सभी देव सदाचारी की तरह उसकी सेवा करते हैं। सभी कल्याण उसकी सेवा करते हैं। मेरा उपासक मेरी उपासना से निरतिशय परमानन्दस्वरूप परब्रह्म ही हो जाता है।

यस्तु परमतत्त्वरहस्याथर्वणमहानारायणोपनिषदमधीते स सर्वेभ्यः पापेभ्यो मुक्तो भवति। ज्ञानाज्ञानकृतेभ्यः पातकेभ्यो मुक्तो भवति। महापातकेभ्यः पूतो भवति। रहस्यकृतप्रकाशकृतचिरकालात्यन्त-कृतेभ्यः सर्वेभ्यः पापेभ्यो मुक्तो भवति। स सकललोकान् जयति। स सकलमन्त्रजपनिष्ठो भवति। स सकलवेदान्तरहस्याधिगतपरमार्थज्ञो भवति। स सकलभोगभुग्भवति। स सकलयोगविद्भवति। स सकल-जगत्परिपालको भवति। सोऽद्वैतपरमानन्दलक्षणपरब्रह्म भवति ॥19॥

जो कोई मनुष्य परमतत्त्व के रहस्यरूप इस अथर्ववेदीय महानारायण उपनिषद् को जानता है, वह सभी पापों से मुक्त हो जाता है। जाने-अनजाने किए गये पापों से छुटकारा पाता है। बड़े पापों से मुक्त होकर पवित्र हो जाता है। छिपकर किए हुए, खुले-आम किए गए, प्राचीन काल में किए हुए और अतिशय किए हुए—इन सभी पापों से मुक्त हो जाता है। वह सभी लोकों को जीत लेता है। वह सभी मन्त्रों के जाप में निष्ठावाला होता है। वह सभी वेदान्तों के रहस्य को जानकर परमार्थ को जानने वाला होता है। वह सब भोगों का भोगने वाला होता है। सब योगों को जानने वाला होता है। वह समग्र लोगों का पालन करने वाला हो जाता है। वह अद्वैत परमानन्द लक्षणवाला परब्रह्म ही हो जाता है।

इदं परमतत्त्वरहस्यं न वाच्यं गुरुभक्तिविहीनाय। न चाशुश्रूषवे वाच्यम्। न तपोविहीनाय नास्तिकाय। न दाम्भिकाय मद्भक्तिविहीनाय। मात्सर्याङ्किततनवे न वाच्यम्। न वाच्यं मदसूयापराय कृतघ्नाय ॥20॥
इदं परमरहस्यं यो मद्भक्तेष्वमिधास्यति मद्भक्तिनिष्ठो भूत्वा मामेव प्राप्स्यति ॥21॥
आवयोर्य इमं संवादमध्येष्यति। स नरो ब्रह्मनिष्ठो भवति ॥22॥
श्रद्धावाननसूयुः शृणुयात् पठति वा य इमं संवादमावयोः स पुरुषो मत्सायुज्यमेति ॥23॥
ततो महाविष्णुस्तिरोदधे। ततो ब्रह्मा स्वस्थानं जगामेत्युपनिषत् ॥24॥

इत्याथर्वणमहानारायणोपनिषदि परमसायुज्यमुक्ति-स्वरूपनिरूपणं नामाष्टमोऽध्यायः।

उत्तरकाण्डः समाप्तः।

इति त्रिपादविभूतिमहानारायणोपनिषत्समाप्ता।

परमतत्त्व का यह रहस्य गुरुभक्तिरहित को नहीं कहना चाहिए। जो सेवाभावी न हो, उसको भी नहीं कहना चाहिए। तपरहित और नास्तिक को भी नहीं कहना चाहिए। मेरी भक्ति से राहत किसी दाम्भिक को भी नहीं बताना चाहिए। जिसका शरीर (मन) द्वेष से कलंकित हुआ हो, उसको भी नहीं कहना चाहिए। मुझसे ईर्ष्या करने वाले कृतघ्न को भी नहीं कहना चाहिए। जो मनुष्य इस परमरहस्य को मेरे भक्तों को बताएगा, वह मेरी भक्ति में निष्ठावाला होकर मुझे ही प्राप्त करेगा। हम दोनों के इस संवाद को जो मनुष्य पढ़ेगा, वह मेरे सायुज्य को प्राप्त होगा।—ऐसा कहकर महाविष्णु अदृश्य हो गए और ब्रह्मा भी अपने स्थान पर चले गए। इस प्रकार यह उपनिषद् समाप्त होती है।

इस प्रकार आथर्वण-महानारायणोपनिषद् में परमसायुज्यमुक्ति-
स्वरूपनिरूपण नामक अष्टम अध्याय समाप्त हुआ।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः……देवहितं यदायुः। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

(54) अद्वयतारकोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

यह उपनिषत् शुक्लयजुर्वेद की परंपरा की है। गर्भ-जन्म-जरा-मरण-संसार के महान् भय से मनुष्यों को तारने वाला ब्रह्म है। इसीलिए वह 'तारक' है। जीव-ईश्वर को मायाकल्पित जानकर, नाम-रूपादि को 'नेति नेति' कहकर, छोड़ते हुए अवशिष्ट रहे हुए अद्वयब्रह्म की प्राप्ति के लिए, आन्तर-बाह्य-मध्य ऐसे तीन लक्ष्यों का अनुसन्धान करके, शरीर में मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र तक अवस्थित सुषुम्णा नाडी में जो सूक्ष्म और तेजोमय कुण्डलिनी शक्ति है, उसको मन द्वारा देखना चाहिए। इससे मनुष्य मुक्त होता है। और भी भालप्रदेश में तेजोदर्शन, कानों को बन्द करके भीतर के नाद का श्रवण, आँखों के कोनों में स्वर्णिम तेजोदर्शन, नासिका के अग्रभाग में चार-छ-आठ-दस अंगुलों तक प्रकाश को देखने के अभ्यास आदि से योगी अमर बनता है। तीसरा मध्य लक्ष्य ऐसा है जिसमें करोड़ों सूर्यों के प्रकाश जैसे—सूर्याकाश में अथवा परमाकाश, महाकाश, तत्त्वाकाश आदि पंचविध आकाश में दृष्टि स्थिर करने से अनेकविध सिद्धियाँ मिलती हैं। अन्तर्लक्ष्य और बहिर्लक्ष्य में जब आँख का मिलनोन्मीलन बिल्कुल बन्द हो जाता है, तब शांभवी मुद्रा होती है। गुरूपदेशानुसार इन लक्ष्यों का अनुसन्धान करना चाहिए। क्योंकि गुरु ही परमब्रह्म, परमगति, पराविद्या—सब कुछ है।

शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं ...... पूर्णमेवावशिष्यते। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (जाबालोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

अथातोऽद्वयतारकोपनिषदं व्याख्यास्यामो यतये जितेन्द्रियाय शमदमादिषड्गुणपूर्णाय ॥1॥

चित्स्वरूपोऽहमिति सदा भावयन् सम्यङ् निमीलिताक्षः किंचिदुन्मीलिताक्षो वान्तर्दृष्ट्या भ्रूदहरादुपरि सच्चिदानन्दतेजःकूटरूपं परं ब्रह्मावलोकयंस्तद्रूपो भवति ॥2॥

गर्भजन्मजरामरणसंसारमहद्भयात्संतारयति तस्मात्तारकमिति। जीवेश्वरौ मायिकौ विज्ञाय सर्वविशेषं नेति नेतीति विहाय यदवशिष्यते तदद्वयं ब्रह्म ॥3॥

तत्सिद्ध्यै लक्ष्यत्रयानुसन्धानः कर्तव्यः ॥4॥

योगियों, संन्यासियों, जितेन्द्रियों तथा शम-दमादि छः गुणों से युक्त साधकों के लिए हम अब अद्वयतारकोपनिषद् की व्याख्या कर रहे हैं। यह साधक आँखें बन्द या अधखुली रखकर, भौंहों के

ऊपरी भाग में 'मैं चित्स्वरूप हूँ'—इस प्रकार अन्तःदृष्टि से भावचिन्तन करते हुए सच्चिदानन्द के तेज से युक्त कूट – निश्चल ब्रह्म का दर्शन करता हुआ स्वयं ब्रह्मरूप हो जाता है। वह तेजस्वरूप परब्रह्म, गर्भ-जन्म-जरा-मरण-संसार इत्यादि पापों से तारने वाला है। इसीलिए उसे 'तारक' कहा जाता है। जीव और ईश्वर को मायिक जानकर बाकी सब कुछ को 'नेति नेति' अर्थात् यह नहीं, यह नहीं—ऐसा कहकर छोड़ते हुए जो कुछ शेष बचा रहता है, वही 'अद्वयब्रह्म' कहा गया है। उस तेजस्वरूप परब्रह्म की सिद्धि के लिए तीन लक्ष्यों का अनुसन्धान करना आवश्यक है।

देहमध्ये ब्रह्मनाडी सुषुम्ना सूर्यरूपिणी पूर्णचन्द्राभा वर्तते। सा तु मूलाधारादारभ्य ब्रह्मरन्ध्रगामिनी भवति। तन्मध्ये तडित्कोटिसमानकान्त्या मृणालसूत्रवत्सूक्ष्माङ्गी कुण्डलिनीति प्रसिद्धास्ति। तां दृष्ट्वा मनसैव नरः सर्वपापविनाशद्वारा मुक्तो भवति। फालोर्ध्वगललाटविशेषमण्डले निरन्तरं तेजस्तारकयोगविस्फुरणेन पश्यति चेत्सिद्धो भवति। तर्जन्यग्रोन्मीलितकर्णरन्ध्रद्वये तत्र फूत्कारशब्दो जायते। तत्र स्थिते मनसि चक्षुर्मध्यगतनीलज्योतिःस्थलं विलोक्यान्तर्दृष्ट्या निरतिशयसुखं प्राप्नोति। एवं हृदये पश्यति। एवमन्तर्लक्ष्यलक्षणं मुमुक्षुभिरुपास्यम् ॥5॥

उस साधक के देह के बीच में सुषुम्ना नामक ब्रह्मनाडी सूर्यरूपिणी है, वह पूर्णचन्द्र के तेजवाली है। वह मूलाधार चक्र से ब्रह्मरन्ध्र तक जाती है। उस नाडी (नलिका) के बीच में करोड़ों विद्युत् की कान्ति के समान तेजवाली और मृणाल के सूत्र जैसे सूक्ष्म आकार वाली कुण्डलिनी नामक एक प्रसिद्ध शक्ति है। उस शक्ति का मन से ही दर्शन मात्र करने से मनुष्य सभी पापों के विनाश से मुक्त हो जाता है। पापमुक्त होकर मोक्षाधिकारी हो जाता है। मस्तिष्क के ऊपर विशेष मण्डल में निरन्तर विद्यमान प्रकाश को जो तारक ब्रह्म के योग से देखता है वह सिद्ध हो जाता है। दोनों तर्जनियों के अग्रभाग से दोनों कर्ण-छिद्रों को बन्द करके जो आवाज सुनाई देती है, वह 'फुत्कार शब्द'—साँप के फुफकार जैसा शब्द—जो है, उसमें मन को केन्द्रित करके आँखों के बीच में अवस्थित नीली ज्योति को आन्तरिक दृष्टि से देखने पर वह अत्यन्त आनन्द प्राप्त करता है। ऐसा ही दर्शन हृदय में भी किया जाता है। ऐसे 'अन्तर्लक्ष्य' के लक्षणों की अर्थात् अन्तःकरण में ही देखे जाने योग्य लक्षणों की मुमुक्षुओं को उपासना करनी चाहिए।

अथ बहिर्लक्ष्यलक्षणं नासिकाग्रे चतुर्भिः षड्भिरष्टभिर्दशभिर्द्वादशभिः क्रमादङ्गुलान्ते नीलद्युतिश्यामत्वसदृग्रक्तभङ्गीस्फुरत्पीतशुक्लवर्णद्वयोपेतव्योम यदि पश्यति स तु योगी भवति। चलदृष्ट्या व्योमभागवीक्षितुः पुरुषस्य दृष्ट्यग्रे ज्योतिर्मयूखा वर्तन्ते। तद्दर्शनेन योगी भवति। तप्तकाञ्चनसङ्काशज्योतिर्मयूखा अपाङ्गान्ते भूमौ वा पश्यति तद्दृष्टिः स्थिरा भवति। शीर्षोपरि द्वादशाङ्गुलसमीक्षितुरमृतत्वं भवति। यत्र कुत्र स्थितस्य शिरसि व्योमज्योतिर्दृष्टं चेत्स तु योगी भवति ॥6॥

अब 'बहिर्लक्ष्य' के लक्षण कहे जा रहे हैं। नासिका के आगे के भाग में चार, छः, आठ, दस या बारह अंगुल की दूरी पर क्रमशः नील और श्याम जैसे रक्तवर्ण की आभावाला आकाश जो कि पीले

श्वेतवर्ण से युक्त है, ऐसे आकाशतत्त्व को जो निरन्तर देखता रहता है, उसी को वास्तव में सच्चा योगी कहा जा सकता है। उस चलित दृष्टि से आकाश को (अवकाश को) देखते रहने पर ज्योति की वे किरणें स्पष्टतया दिखाई देती हैं। उन किरणों को देखने वाला योगी कहलाता है। अथवा जब दोनों आँखों के कोनों पर भूमि पर तपाए हुए स्वर्ण सदृश ज्योति की किरणों के दर्शन होते हैं, तब जाकर उस साधक की दृष्टि एकाग्र होती है। मस्तिष्क के ऊपर के भाग में लगभग बारह अंगुल की दूरी पर ज्योति को देखने वाला योगी अमृतत्व को प्राप्त होता है। यदि कोई भी मनुष्य किसी भी स्थान पर रहकर मस्तक के ऊपर उस आकाशज्योति का दर्शन करता है, तो वही पूर्ण योगी कहा जाता है।

अथ मध्यलक्ष्यलक्षणं प्रातश्चित्रादिवर्णाखण्डसूर्यचक्रवद्वह्निज्वालावली-वत्तद्विहीनान्तरिक्षवत्पश्यति। तदाकाराकारितयावतिष्ठति। तद्भूयो-दर्शनेन गुणरहिताकाशं भवति। विस्फुरत्तारकाकारसन्दीप्यमानागाढ-तमोपमं परमाकाशं भवति। कालानलसमद्योतमानं महाकाशं भवति। सर्वोत्कृष्टपरमद्युतिप्रद्योतमानं तत्त्वाकाशं भवति। कोटिसूर्यप्रकाश-वैभवसङ्काशं सूर्याकाशं भवति। एवं बाह्याभ्यन्तरस्थव्योमपञ्चकं तारकलक्ष्यम्। तद्दर्शी विमुक्तफलस्तादृग्व्योमसमानो भवति। तस्मात् तारक एव लक्ष्यममनस्कफलप्रदं भवति ॥7॥

इसके बाद, अब 'मध्यलक्ष्य' का लक्षण कहा जा रहा है। जो साधक प्रात:काल में भाँति-भाँति के वर्णों से युक्त अखण्ड सूर्य का अग्नि की ज्वालाओं के चक्र की तरह और उससे रहित अन्तरिक्ष के समान देखता है, और उस आकार के समान होकर प्रतिष्ठित रहता है, फिर से उसके दर्शनमात्र से वह गुणविहीन **'आकाश'** की तरह हो जाता है। विस्फुरित (प्रकाशित) ताराओं के समूह से प्रकाशमान और प्रात:काल के आधे अँधेरे की तरह **'परमाकाश'** होता है। जो **'महाकाश'** होता है, वह कालाग्नि के समान प्रकाश वाला होता है। जो **'तत्त्वाकाश'** है, वह सर्वोत्कृष्ट प्रकाश और प्रखर ज्योति से युक्त होता है। जो **'सूर्याकाश'** है, वह करोड़ों सूर्यों के तेज वाला है। इस तरह बाह्य और अन्त: में प्रतिष्ठित ये 'पाँच आकाश' तारकब्रह्म के ही लक्ष्य हैं। उसका दर्शन करने वाला उसी की तरह समग्र बन्धनों को काटकर मुक्तिलाभ के अधिकार को प्राप्त करता है। तारक का लक्ष्य ही अमनस्कतारूप फल का दाता कहा गया है।

तत्तारकं द्विविधं पूर्वार्धतारकमुत्तरार्धममनस्कं चेति। तदेष श्लोको भवति।
तद्योगं च द्विधा विद्धि पूर्वोत्तरविधानतः।
पूर्वं तु तारकं विद्यादमनस्कं तदुत्तरमिति ॥8॥
अक्ष्यन्तस्तारयोश्चन्द्रसूर्यप्रतिफलनं भवति। तारकाभ्यां सूर्यचन्द्रमण्डल-दर्शनं ब्रह्माण्डमिव पिण्डाण्डशिरोमध्यस्थाकाशे रवीन्दुमण्डलद्वितय-मस्तीति निश्चित्य तारकाभ्यां तद्दर्शनमात्राण्युभयैक्यदृष्ट्या मनोयुक्तं ध्यायेत्। तद्योगाभावे इन्द्रियप्रवृत्तेरनवकाशात्। तस्मादन्तर्दृष्ट्या तारक एवानुसन्धेयः ॥9॥

वह तारकयोग दो प्रकार का बतलाया गया है—एक पूर्वार्ध और दूसरा उत्तरार्ध। इस विषय में

यह श्लोक द्रष्टव्य है—'यह तारक योग, पूर्वार्ध और उत्तरार्ध, दो प्रकार का है। पूर्व को 'तारक' और उत्तर को 'अमनस्क' (शून्यमनस्क) कहा जाता है।' हम अपनी आँखों की पुतलियों से सूर्य और चन्द्र का दर्शन करते हैं। हम जिस तरह से आँखों के तारकों से ब्रह्माण्ड के सूर्य और चन्द्र को देखते हैं, ठीक उसी तरह हमें अपने सिररूपी ब्रह्माण्ड के मध्य में अवस्थित सूर्य और चन्द्र का निर्धारण करके उसका सदैव दर्शन करना चाहिए और उन दोनों को एक ही रूप वाला मानकर, उसमें मन को एकाग्र करके उसका चिन्तन करना चाहिए। क्योंकि यदि मन को उसमें उस भाव से एकाग्र न किया जाय, तो सभी इन्द्रियाँ विषयों की ओर प्रवृत्त होने लगेंगी। इसलिए उस योगी (साधक) को अपने भीतर की (अन्तस् की) दृष्टि से तारक का अनवरत अनुसन्धान करते ही रहना चाहिए।

तत्तारकं द्विविधं मूर्तितारकममूर्तितारकं चेति। यदिन्द्रियान्तं तन्मूर्तिमत्। यद् भ्रूयुगातीतं तदमूर्तिमत्। सर्वत्रान्तःपदार्थविवेचने मनोयुक्ताभ्यास इष्यते तारकाभ्यां सदूर्ध्वस्थ सत्त्वदर्शनान्मनोयुक्तेनान्तरीक्षणेन सच्चिदानन्दस्वरूपं ब्रह्मैव। तस्माच्छुक्लतेजोमयं ब्रह्मेति सिद्धम्। तद् ब्रह्म मनःसहकारिचक्षुषान्तर्दृष्ट्या वेद्यं भवति। एवममूर्तितारकमपि मनोयुक्तेन चक्षुषैव दहरादिकं वेद्यं भवति रूपग्रहणप्रयोजनस्य मनश्चक्षुरधीनत्वाद्बाह्यवदान्तरेऽप्यात्ममनश्चक्षुःसंयोगेनैव रूपग्रहणकार्योदयात्। तस्मान्मनोयुक्तान्तर्दृष्टिस्तारकप्रकाशा भवति ॥10॥

यह 'तारक' दो प्रकार का है—एक मूर्त (मूर्तिवाला) और दूसरा अमूर्त (मूर्तिरहित)। जो इन्द्रियों के अन्त में अर्थात् मनरूपी चक्षु में है, वह 'मूर्त' है, और जो दोनों भौंहों से बाहर है, वह 'अमूर्त' तारक है। आन्तरिक पदार्थों के विवेचन के लिए सभी जगह मन को एकाग्र करके ही अभ्यास करते रहना चाहिए। सात्त्विक दर्शन से युक्त मन द्वारा अपने अन्तस् (अन्तःकरण) में लगातार निरीक्षण करते रहने से दोनों तारकों को (मूर्त और अमूर्त को) ऊर्ध्वभाग में सच्चिदानन्द रूप परब्रह्म की परमज्योति के दर्शन होते हैं। इससे यह जाना जा सकता है कि ब्रह्म शुभ्र तेजोमय है। ऐसे ब्रह्म को मनसहित नेत्रों की अन्तर्दृष्टि (भीतर की दृष्टि) से देखकर जान लेना चाहिए। इसी प्रकार से अमूर्त तारक को भी मनसहित चक्षुओं के द्वारा अवश्य जाना जा सकता है। रूपदर्शन के सम्बन्ध में मन नेत्रों के आश्रय में रहता है और बाहर की तरह अन्तस् में भी रूपग्रहण का कार्य इन दोनों के द्वारा ही होता है। इसलिए मन के साथ संलग्न हुए नेत्रों के द्वारा ही 'तारक' का प्रकाश होता है।

भ्रूयुगमध्यबिले दृष्टिं तद् द्वारोर्ध्वस्थिततेज आविर्भूतं तारकयोगो भवति। तेन सह मनोयुक्तं तारकं सुसंयोज्य प्रयत्नेन भ्रूयुग्मं सावधानतया किञ्चिदूर्ध्वमुत्क्षेपयेत्। इति पूर्वभागी तारकयोगः। उत्तरं त्वमूर्तिमदमनस्कमित्युच्यते। तालुमूलोर्ध्वभागे महान् ज्योतिर्मयूखो वर्तते। तद्योगिभिर्ध्येयम्। तस्मादणिमादिसिद्धिर्भवति ॥11॥

कोई भी साधक अपनी आन्तरिक दृष्टि के द्वारा, दोनों भौहों से थोड़े से ऊपरी भाग में स्थित तेजोमय प्रकाश को देखता है, वही 'तारकयोगी' होता है (अर्थात् वह दर्शन ही तारकयोग है)। उसके साथ मन लगाकर तारक का अनुसन्धान करते हुए प्रयत्नपूर्वक दोनों भ्रूकुटियों को थोड़ी सी ऊँचाई पर स्थिर करना चाहिए। इसी को 'तारक' का पूर्वार्ध योग कहा जाता है। दूसरे (उत्तरार्ध) भाग को 'अमूर्त'

कहा गया है। तालु-मूल के ऊर्ध्व भाग में ज्योतिकिरणों का एक महामण्डल विद्यमान है। उसी का ध्यान करना योगियों का ध्येय (लक्ष्य) होता है और इसी से अणिमादि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

अन्तर्बाह्यलक्ष्ये दृष्टौ निमेषोन्मेषवर्जितायां सत्यां शाम्भवी मुद्रा भवति। तन्मुद्रारूढज्ञानिनिवासाद्भूमिः पवित्रा भवति। तद् दृष्ट्वा सर्वे लोकाः पवित्रा भवन्ति। तादृशपरमयोगिपूजा यस्य लभ्यते सोऽपि मुक्तो भवति ॥12॥

उस योगी (साधक) की दृष्टि जब अन्तर्बाह्य—दोनों लक्ष्यों को देखने का सामर्थ्य प्राप्त करती है और स्थिरता प्राप्त करती है, तब वह स्थिति 'शांभवी मुद्रा' कहलाती है। इस मुद्रा में ओत-प्रोत हुए ज्ञानी का निवासस्थान बड़ा ही पवित्र माना जाता है। ऐसे मुद्रारूप पुरुष की दृष्टि पड़ने मात्र से सभी लोग पवित्र हो जाते हैं। कोई भी मनुष्य यदि ऐसे योगी की पूजा करता है, तो वह उसे पाकर मुक्ति का अधिकारी हो जाता है।

अन्तर्लक्ष्यजलज्योतिःस्वरूपं भवति। परमगुरूपदेशेन सहस्त्रारे जल-ज्योतिर्वा बुद्धिगुहानिहितज्योतिर्वा षोडशान्तस्थतुरीयचैतन्यं वान्तर्लक्ष्यं भवति। तद्दर्शनं सदाचार्यमूलम् ॥13॥

अन्तर्लक्ष्य का स्वरूप उज्ज्वल ज्योति जैसा हो जाता है। परमसद्गुरु का ज्ञान प्राप्त हो जाने पर सहस्रदल कमल में स्थित उज्ज्वल ज्योतिरूप, **अथवा** बृद्धिगुहास्थित ज्योतिरूप, **अथवा** फिर वह सोलह कला के भीतर अवस्थित तुरीय चैतन्य ही अन्तर्लक्ष्य हो जाता है। यही दर्शन सदाचार का मूल है।

**आचार्यो वेदसम्पन्नो विष्णुभक्तो विमत्सरः।
योगज्ञो योगनिष्ठश्च सदा योगात्मकः शुचिः ॥14॥
गुरुभक्तिसमायुक्तः पुरुषज्ञो विशेषतः।
एवं लक्षणसम्पन्नो गुरुरित्यभिधीयते ॥15॥
गुशब्दस्त्वन्धकारः स्याद्रुशब्दस्तन्निरोधकः।
अन्धकारनिरोधित्वाद् गुरुरित्यभिधीयते ॥16॥**

जो वेदज्ञान से सम्पन्न, श्रेष्ठ आचरणवाला, विष्णु का भक्त, मात्सर्य आदि विकारों से रहित, योग का ज्ञाता, योग में निष्ठावाला, योगात्मा, पवित्रतायुक्त, गुरुभक्त, परमात्मप्राप्ति में विशेष संलग्न रहता हो, ऐसे लक्षण वाला ही गुरु पद से कहा जाता है। 'गुरु' के 'गु' अक्षर का अर्थ 'अन्धकार' और 'रु' अक्षर का अर्थ 'अन्धकार को दूर करने में समर्थ'—ऐसा होता है। अतः अज्ञानरूपी अन्धकार को दूर कर देने वाला ही गुरु कहलाने योग्य है।

**गुरुरेव परं ब्रह्म गुरुरेव परा गतिः।
गुरुरेव परा विद्या गुरुरेव परायणम् ॥17॥
गुरुरेव परा काष्ठा गुरुरेव परं धनम्।
यस्मात्तदुपदेष्टासौ तस्माद् गुरुत्तरो गुरुरिति ॥18॥**

गुरु ही परब्रह्म परमात्मा है। गुरु ही परम गति है। गुरु ही पराविद्या है और गुरु ही परम आश्रय

है। गुरु ही परा काष्ठा है। गुरु ही परमश्रेष्ठ घन है। जो श्रेष्ठ उपदेश करता है, इसीलिए वह गुरु से भी गुरुतर अर्थात् उत्तम से भी उत्तम गुरु होता है—ऐसा मानना चाहिए।

यः सकृदुच्चारयति तस्य संसारमोचनं भवति। सर्वजन्मकृतं पापं तत्क्षणादेव नश्यति। सर्वान्कामानवाप्नोति। सर्वपुरुषार्थसिद्धिर्भवति। य एवं वेदेत्युपनिषत् ॥19॥

इति अद्वयतारकोपनिषत्समाप्ता।

जो मनुष्य एक बार भी गुरु का या इस उपनिषत् का उच्चारण (पाठ) करता है, वह इस संसारसागर से निवृत्त (मुक्त) हो जाता है। उसके जन्म-जन्मान्तर के सभी पाप तत्क्षण नष्ट हो जाते हैं। उसकी सभी इच्छाएँ (आकांक्षाएँ) पूर्ण हो जाती हैं। उसके सकल पुरुषार्थ सफल हो जाते हैं। जो यह जनता है, वही उपनिषत् का सच्चा ज्ञानी है। यही वह उपनिषत् है।

इस प्रकार यह उपनिषद् पूरी हुई।

शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं ...... पूर्णमेवावशिष्यते। (पूर्ववत्)

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्ति ॥

❋

(55) रामरहस्योपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

पाँच अध्यायों वाली यह उपनिषद् अथर्ववेद-परम्परा की है। इसमें सनकादि ऋषियों का हनुमान जी के साथ संवाद है। हनुमान जी के द्वारा रामोपासना का इसमें विस्तृत वर्णन किया गया है। राम ही परब्रह्म हैं, राम ही परम तप हैं, और राम ही परम तत्त्व हैं, ऐसा यहाँ निरूपण किया गया है। इसमें राम के अंगरूप में हनुमान, गणपति, सरस्वती, दुर्गा, क्षेत्रपाल, सूर्य, चन्द्र, नारायण, नरसिंह, वासुदेव, वराह, सीता, लक्ष्मण, शत्रुघ्न, भरत, विभीषण, सुग्रीव, अंगद, जाम्बवान और प्रणव आदि बताए गए हैं। राम नाम के तीन करोड़ जप करने से बड़े से बड़े पापों का छुटकारा हो जाता है। हनुमान जी ने षडक्षर मंत्र के साथ प्रणव को जोड़ने को कहा है, वह उपलक्षण है। अन्य सभी मन्त्रों के साथ प्रणव को जोड़ना चाहिए। इसमें एकाक्षर मन्त्र से लेकर इकत्तीस अक्षर वाले मन्त्र तक के जाप की बात कही है। पर मन्त्रराज तो 'ॐ रामाय नमः' यह षडक्षर ही है। इसी मन्त्र में अलग-अलग बीज जोड़ने से विविध मन्त्र बनते हैं। बीजाक्षरों की व्याख्या भी अन्त में दी गई है। यह उपासना-प्रधान उपनिषद् है।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः ...... देवहितं यदायुः। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (अथर्वशिर उपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

प्रथमोऽध्यायः

सनकाद्या योगिवर्या अन्ये च ऋषयस्तथा।
प्रह्लादाद्या विष्णुभक्ता हनूमन्तमथाब्रुवन् ॥1॥
वायुपुत्र महाबाहो किं तत्त्वं ब्रह्मवादिनाम्।
पुराणेष्वष्टादशसु स्मृतिष्वष्टादशस्वपि ॥2॥
चतुर्वेदेषु शास्त्रेषु विद्यास्वाध्यात्मिकेषु च।
सर्वेषु विद्यादानेषु विघ्नसूर्येशशक्तिषु ॥3॥
एतेषु मध्ये किं तत्त्वं कथय त्वं महाबल ॥4॥

सनकादि योगिश्रेष्ठ और अन्य ऋषियों ने तथा प्रह्लादादि विष्णुभक्तों ने हनुमान जी से कहा— 'हे वायुपुत्र ! हे महाबाहु ! अठारह पुराणों में, अठारह स्मृतियों में, चार वेदों में, अन्य सभी शास्त्रों में, सभी विद्याओं में, सभी आध्यात्मिक विद्यादानों में और विघ्नेश, सूर्य और शक्ति में—इन सभी में ब्रह्मवादियों के लिए कौन-सा तत्त्व (उपास्य) है। हे महाबल ! वह आप हमें बताइए।'

हनूमान् होवाच—
भो योगीन्द्राश्च ऋषयो विष्णुभक्तास्तथैव च।
शृणुध्वं मामकीं वाचं भवबन्धविनाशिनीम् ॥5॥
एतेषु चैव सर्वेषु तत्त्वं च ब्रह्म तारकम्।
राम एव परं ब्रह्म राम एव परं तपः।
राम एव परं तत्त्वं श्रीरामो ब्रह्म तारकम् ॥6॥

हनुमान ने कहा—'हे योगीन्द्रो !' हे ऋषियो ! हे विष्णुभक्तो ! आप सब मेरी संसार के बन्धनों को नाश करने वाली वाणी सुनिए। इन सभी में परमतत्त्व तो तारक ब्रह्म ही है। और वह परब्रह्म राम ही हैं। राम ही परम तप है। राम ही परम तत्त्व है। श्रीराम ही तारक ब्रह्म हैं।

वायुपुत्रेणोक्तास्ते योगीन्द्रा ऋषयो विष्णुभक्ता हनूमन्तं पप्रच्छुः—
रामस्याङ्गानि नो ब्रूहीति ॥7॥

वायुपुत्र के द्वारा इस प्रकार कहे गए वे योगीन्द्र, ऋषिलोग और विष्णुभक्त हनुमान जी से पूछने लगे—'हमें आप राम के अंग कहिए।'

हनूमान् होवाच—वायुपुत्रं विघ्नेशं वाणीं दुर्गां क्षेत्रपालकं सूर्यं चन्द्रं नारायणं नारसिंहं वायुदेवं वाराहं तत्सर्वान् मन्त्रान् सीतां लक्ष्मणं शत्रुघ्नं भरतं विभीषणं सुग्रीवमङ्गदं जाम्बवन्तं प्रणवमेतानि रामस्याङ्गानि जानीथाः। तान्यङ्गानि विना रामो विघ्नकरो भवति ॥8॥

तब हनुमान ने कहा—वायुपुत्र (हनुमान), गणपति, सरस्वती, दुर्गा, क्षेत्रपाल, सूर्य, चन्द्र, नारायण, नरसिंह, वासुदेव, वराह, सीता, लक्ष्मण, शत्रुघ्न, भरत, विभीषण, सुग्रीव, अंगद, जाम्बवान और प्रणव—इन सबको तुम राम के अंग के रूप में जानो। उन अंगों के जपादि किए बिना तो राम विघ्न करने वाले हो जाएँगे।

पुनर्वायुपुत्रेणोक्तास्ते हनूमन्तं पप्रच्छुः—आञ्जनेय महाबल विप्राणां गृहस्थानां प्रणवाधिकारः कथं स्यादिति ॥9॥
स होवाच—श्रीराम एवोवाचेति। येषामेव षडक्षराधिकारो वर्तते तेषां प्रणवाधिकारः स्यान्नान्येषाम्। केवलमकारोकारमकारार्धमात्रासहितं प्रणवमूह्य यो राममन्त्रं जपति तस्य शुभकरोऽहं स्याम्। तस्य प्रणवस्याकारस्योकारस्य मकारस्यार्धमात्रायाश्च ऋषिच्छन्दो देवता तत्तद्वर्णवर्णावस्थानं स्वरवेदाग्निगुणानुच्चार्यान्वहं प्रणवं मन्त्राद् द्विगुणं जप्त्वा पश्चाद्राममन्त्रं यो जपेत् स रामो भवतीति रामेणोक्तास्तस्माद्रामाङ्गं प्रणवः कथित इति ॥10॥

वायुपुत्र हनुमान के द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर वे फिर से हनुमान को पूछने लगे—'हे अंजनीपुत्र ! ब्राह्मणों को और गृहस्थों को प्रणव का अधिकार कैसे होता है ?' तब उन्होंने कहा—यह बात तो श्रीरामजी ने स्वयं बताई है। जिन लोगों को षडक्षरमन्त्र का अधिकार है, उनको प्रणवाधिकार है ही, यह षडक्षर मन्त्र अनधिकारियों के लिए नहीं है। प्रणव—अकार, उकार और मकार के साथ अर्धमात्रा वाले प्रणव (ॐ कार) के साथ (चार मात्रा तक) जो मनुष्य षडक्षर राममन्त्र को जपते हैं, उनके लिए मैं कल्याणकारक होता हूँ। उस प्रणव का—अकार, उकार और मकार तथा अर्ध मात्रा वाले

ओंकार का—ऋषि, छन्द, देवता, उन-उन वर्णों का अवस्थान, स्वर, वेद, अग्नि आदि का उच्चारण करके प्रतिदिन प्रणाम करते हुए मन्त्र से दुगुना जाप करके बाद में जो राममन्त्र का जप करता है, वह स्वयं राम हो जाता है—ऐसा राम ने कहा है। इसलिए प्रणव राम का अंग है।

विभीषण उवाच—
सिंहासने समासीनं रामं पौलस्त्यसूदनम्।
प्रणम्य दण्डवद्भूमौ पौलस्त्यो वाक्यमब्रवीत् ॥11॥
रघुनाथ महाबाहो केवलं कथितं त्वया।
अङ्गानां सुलभं चैव कथनीयं च सौलभम् ॥12॥
श्रीराम उवाच—अथ पञ्च दण्डकानि पितृघ्नो मातृघ्नो ब्रह्मघ्नो गुरुहननः कोटियतिघ्नोऽनेककृतपापो यो मम षण्णवतिकोटिनामानि जपति स तेभ्यः पापेभ्यः प्रमुच्यते। स्वयमेव सच्चिदानन्दस्वरूपो भवेन्न किम् ॥13॥

विभीषण ने कहा—सिंहासन पर बैठे हुए, रावणविनाशक भगवान् राम को भूमि पर दण्डवत् प्रणाम करके पौलत्स्य (विभीषण) इस प्रकार वाक्य कहने लगा—'हे रघुनाथ ! हे महाबाहो ! आपने तो केवल अंगों की सामान्य बात कही है। अब उसका सुफल भी तो कहना चाहिए।' तब श्रीराम ने कहा—पाँच बहुत बड़े अपराधी माने जाते हैं—पिता का हत्यारा, माता का हत्यारा, ब्राह्मण का हत्यारा, गुरु का हत्यारा और अनेकानेक यतियों का हत्यारा। ऐसे अनेक पाप करने वाला भी यदि मेरे छियानबे करोड़ नामों का जप करता है, तो उन सभी पापों से मुक्त हो जाता है। वह स्वयं ही सच्चिदानन्दस्वरूप हो जाता है। क्यों नहीं ?

पुनरुवाच विभीषणः—तत्राप्यशक्तोऽयं किं करोति ॥14॥
स होवाचेमम्—कैकसेय पुरश्चरणविधावशक्तो यो ममोपनिषदं मम गीतां मन्नामसहस्रं मद्विश्वरूपं मदष्टोत्तरशतं रामशताभिधानं नारदोक्तस्तवराजं हनूमत्प्रोक्तं मन्त्रराजात्मकस्तवं सीतास्तवं च रामषडक्षरीत्यादिभिर्मन्त्रैर्यो मां नित्यं स्तौति मत्सदृशो भवेन्न किं भवेन्न किम् ॥15॥

इति प्रथमोऽध्यायः।

तब विभीषण ने फिर से पूछा—'उसमें अर्थात् जप करने में यदि मनुष्य अशक्तिमान हो, तो वह क्या करता है ?' तब उन्होंने (हनुमान जी ने) कहा—'हे कैकसीपुत्र ! उस पूर्वोक्त पुरश्चरणविधि करने की जिसकी शक्ति नहीं है, यदि वह मनुष्य मेरे द्वारा कही गई उपनिषत् को, मेरे सहस्र नाम को, मेरे विश्वरूप एक सौ आठ रामनाम को, नारद के द्वारा कहे गए स्तवराज को, हनुमान द्वारा कहे गए मन्त्रराजात्मक स्तवराज को, सीताजी के स्तवन को अथवा तो रामषडक्षर इत्यादि मन्त्रों को पढ़ते हुए मेरी प्रतिदिन स्तुति करता है, वह मेरे समान ही हो जाता है। क्यों न होगा ?

यहाँ प्रथम अध्याय पूरा हुआ।

❋

द्वितीयोऽध्यायः

सनकाद्या मुनयो हनूमन्तं पप्रच्छुः—आञ्जनेय महाबल तारकब्रह्मणो रामचन्द्रस्य मन्त्रग्रामं नो ब्रूहीति।
हनूमान् होवाच—
वह्निस्थं शयनं विष्णोरर्धचन्द्रविभूषितम्।
एकाक्षरो मनुः प्रोक्तो मन्त्रराजः सुरद्रुमः ॥1॥

तब सनकादि मुनियों ने हनुमान से पूछा—'हे अंजनीपुत्र ! हे महाबलशाली ! तारक ब्रह्म ऐसे रामचन्द्र के एकाक्षरादि मन्त्रग्राम (मन्त्रसमूह) को हमें कहिए।' तब हनुमान ने एकाक्षर से लेकर बत्तीस अक्षर वाले मन्त्र तक के मन्त्रभेदों को अंगादिसहित बताते हुए पहले एकाक्षर मन्त्र को बताया कि विष्णु का शयनरूप वह्निस्वरूप जो शेष है, वह रेफ (**'र'** कार) है। वह विष्णु का शयनरूप होने से दीर्घ है अर्थात् **'रा'**कार है। उस पर अर्धचन्द्राकार बिन्दु लगा है। सब मिलकर **'राँ'** होता है। वही **'राँ'** एकाक्षर मन्त्र कहा गया है। वह कल्पवृक्ष के समान है। वह मन्त्रराज है।

ब्रह्मा मुनिः स्याद् गायत्रं छन्दो रामोऽस्य देवता।
दीर्घार्धेन्दुयुजाङ्गानि कुर्याद्वह्न्यात्मनो मनोः ॥2॥
बीजशक्त्यादिबीजेन इष्टार्थे विनियोजयेत्।
सरयूतीरमन्दारवेदिकापङ्कजासने ॥3॥
श्यामं वीरासनासीनं ज्ञानमुद्रोपशोभितम्।
वामोरुन्यस्ततद्धस्तं सीतालक्ष्मणसंयुतम् ॥4॥
अवेक्षमाणमात्मानमात्मन्यमिततेजसम्।
शुद्धस्फटिकसङ्कासं केवलं मोक्षकाङ्क्षया ॥5॥

इस एकाक्षर 'राँ' मन्त्र के ऋषि ब्रह्मा हैं, गायत्री छन्द है, देवता राम हैं। इस मन्त्र के दीर्घ रेफ के साथ अर्धेन्दु संयुक्त हुए रूप में, अर्थात् 'राँ' के रूप में करांगन्यास करना चाहिए। इसका ध्यान-मन्त्र यह है—'सरयू नदी के तीर पर मन्दारवृक्ष के नीचे बनी हुई वेदिका पर बिछाए गए कमलासन पर वीरासन में बैठे हुए, वामा की जांघ पर हाथ रखे हुए, सीता और लक्ष्मण के साथ में रहे हुए, स्वयं को देखते हुए, अपने में असीम तेजोयुक्त और शुद्ध स्फटिक जैसे वे हैं।' इस प्रकार मोक्ष की आकांक्षा से (ध्यान करके मन्त्रजाप करना चाहिए)—

चिन्तयन् परमात्मानं भानुलक्षं जपेन्मनुम्।
वह्निर्नारायणेनाढ्यो जाठरः केवलोऽपि च ॥6॥
द्व्यक्षरो मन्त्रराजोऽयं सर्वाभीष्टप्रदस्ततः।
एकाक्षरोक्तमृष्यादि स्यादाद्येन षडङ्गकम् ॥7॥
तारमायारमाऽनङ्गवाक्स्वबीजैश्च षड्विधः।
त्र्यक्षरो मन्त्रराजः स्यात् सर्वाभीष्टफलप्रदः ॥8॥
द्व्यक्षरश्चन्द्रभद्रान्तो द्विविधश्चतुरक्षरः।
ऋष्यादि पूर्ववज्ज्ञेयमेतयोश्च विचक्षणैः ॥9॥

पूर्वमन्त्र में वर्णित स्वरूप का ध्यान करते हुए मोक्ष की आकांक्षा से इसका एक लाख जप करना

चाहिए। (अब दो, तीन, चार अक्षर वाले मन्त्र कहे जाते हैं)। वह्निरूप शेषनाग रेफ है, उस 'र'कार को नारायणरूप 'अ'कार के साथ जोड़ने से 'रा' (दीर्घ) होता है। उस नारायणाढ्य 'र'कार अर्थात् 'रा' के साथ फिर जाठराग्निरूप 'म'कार को (केवल ह्रस्व मकार को) जोड़ने से दो अक्षरवाला 'राम' ऐसा मन्त्रराज बनता है। यह दो अक्षरवाला मन्त्रराज सभी इच्छित वस्तुओं का देने वाला है। इस दो अक्षर वाले मन्त्रराज के ऋषि-देवता-छन्द आदि तो एकाक्षर मन्त्र में बताए गए अनुसार ही हैं। इस मन्त्र को बोलते हुए षंडगन्यासादि करना चाहिए। (अब तीन अक्षर वाले मन्त्र के छः प्रकार कहे जाते हैं—) एक तार से (ॐकार से) युक्त दो अक्षर अर्थात् ॐ राम। फिर माया = ह्रीं से युक्त राम। फिर रमा = श्रीं से युक्त राम। फिर अनंग = क्लीं से युक्त राम। फिर वाक् = ऐं से युक्त राम। और फिर स्वबीज=रां से युक्त राम। इस प्रकार 'राम' इस द्विअक्षर मन्त्र के साथ पहले—ॐ, ह्रीं, श्रीं, क्लीं, ऐं और रां जोड़ने से छः प्रकार का तीन अक्षरवाला मन्त्र बनता है। यह छः प्रकार का त्र्यक्षर मन्त्र सर्व अभीष्ट फल को देने वाला है। इस त्र्यक्षरी मन्त्र के ऋष्यादि पूर्वोक्त प्रकार से ही हैं। अब चार अक्षरवाला मन्त्र भी दो प्रकार का है—एक है—रामचन्द्र और दूसरा है—रामभद्र। इस दो प्रकार के चार अक्षर वाले मन्त्र के ऋषि-देवतादि पूर्वोक्त प्रकार से ही हैं।

सप्रतिष्ठौ रमौ वायू हृत्पञ्चार्णो मनुर्मतः।
विश्वामित्रऋषिः प्रोक्तः पंक्तिश्छन्दोऽस्य देवता ॥10॥
रामभद्रो बीजशक्तिप्रथमार्णमितिक्रमात्।
भ्रूमध्ये हृदि नाभ्यूर्वोः पादयोर्विन्यसेन्मनुम् ॥11॥

दीर्घ ईकार और बिन्दु के साथ प्रतिष्ठित दो रम को—अर्थात् श्रीं श्रीं के साथ यं को जोड़ने से पाँच अक्षरों वाला मन्त्र बनता है। पूरा मन्त्र होगा—श्रीं श्रीं यं नमः। इस पंचाक्षरमन्त्र के ऋषि विश्वामित्र हैं। पंक्ति छन्द है, रामभद्र देवता हैं, बीजशक्ति प्रथमवर्ण को अनतिक्रम करके 'रां नमः' ऐसी है। तो इस प्रकार बोलते हुए भौंहों के बीच, हृदय पर, नाभि पर, दो जाँघों पर पूर्ववत् न्यास करना चाहिए।

षडङ्गं पूर्ववद्विद्वान् मन्त्रार्णैर्मनुनास्त्रकम्।
मध्ये वनं कल्पतरोर्मूले पुष्पलतासने ॥12॥
लक्ष्मणेन प्रगुणितमक्ष्णः कोणेन सायकम्।
अवेक्षमाणं जानक्या कृतव्यजनमीश्वरम् ॥13॥
जटाभारलसच्छीर्षं श्यामं मुनिगणावृतम्।
लक्ष्मणेन धृतच्छत्रमथवा पुष्पकोपरि ॥14॥
दशास्यमथनं शान्तं ससुग्रीवविभीषणम्।
एवं लब्ध्वा जयार्थी तु वर्णलक्षं जपेन्मनुम् ॥15॥

पहले की ही तरह विद्वान् साधक को मन्त्र के वर्णों को बोलते-बोलते न्यास करना चाहिए। फिर विजयार्थी साधक इस प्रकार से ध्यान करेगा—'वन के बीच में, कल्पतरु के मूल के नीचे, पुष्पलता के आसन पर, लक्ष्मण के साथ, आँख के कोने से धनुष्य को देखते हुए, जानकी के द्वारा पंखा किए जाने वाले ईश्वर का ध्यान करना चाहिए। जो ईश्वर जटा के भार से शोभित मस्तक वाले हैं, श्याम वर्ण वाले हैं, मुनियों के समूहों से घिरे हुए हैं, जिनके ऊपर लक्ष्मण ने छत्र धरा हुआ है, अथवा जो पुष्पक के (विमान के) ऊपर बैठे हैं, जो शन्त मुद्रा में सुग्रीव और विभीषणादि के साथ उपस्थित हैं, ऐसे रावणविनाशक रामचन्द्र जी का ध्यान करके जयार्थी साधक को इस मन्त्र का एक लाख बार जप करना चाहिए।

स्वकामशक्तिवाग्लक्ष्मीताराद्याः पञ्चवर्णकाः ।
षडक्षरः षड्विधः स्याच्चतुर्वर्गफलप्रदः ॥16॥
पञ्चाशन्मातृकामन्त्रवर्णप्रत्येकपूर्वकम् ।
लक्ष्मीवाङ्मन्मथादिश्च तारादिः स्यादनेकधा ॥17॥
श्रीमायामन्मथैकैकं बीजाद्यन्तर्गतो मनुः ।
चतुर्वर्णः स एव स्यात् षड्वर्णो वाञ्छितप्रदः ॥18॥
स्वाहाऽन्तो हुंफडन्तो वा नत्यन्तो वा भवेदयम् ।
अष्टाविंशत्युत्तरशतभेदः षड्वर्ण ईरितः ॥19॥

पहले जो पंचाक्षरमन्त्र (श्रीं श्रीं यं नमः) कहा जा चुका है, उसी के साथ स्वबीज = रां, काम = क्लीं, शक्ति = ह्रीं, वाक् = ऐं, लक्ष्मी = श्रीं और तार = ॐ को जोड़कर वह पूर्व का पंचाक्षर ही षडक्षर मन्त्र हो जाता है। इस प्रकार यह षडक्षर मन्त्र छः प्रकार का होता है। ऐसे छः प्रकार का यह षडक्षरमन्त्र चतुर्वर्ग की फलप्राप्ति कराता है। और भी वर्णमाला के प्रत्येक अक्षर के साथ जोड़ने से तो अनेक प्रकार का हो जाता है। तदुपरान्त लक्ष्मी = श्रीं; वाक् = ऐं इत्यादि बीजों के साथ जोड़ने से वह षडक्षरमन्त्र अब सात प्रकार का हो जाता है। षडक्षरमन्त्र का दूसरा विकल्प इस प्रकार है—'रां रामाय'—ये चार अक्षर, 'स्वाहा', 'हुं फट्' 'नमः' आदि के योग से भी षडक्षर मन्त्र हो जाते हैं। फिर विलोम पद्धति से क्षकार से लेकर अकार तक जोड़ने से इक्यावन होते हैं और आठ वर्ण और छः स्वर—कुल मिलाकर यह षडक्षरमन्त्र एक सौ अट्ठाईस भेद वाला हो जाता है।

ब्रह्मा सम्मोहनः शक्तिर्दक्षिणामूर्तिरेव च ।
अगस्त्यश्च शिवः प्रोक्ता मुनयोऽनुक्रमादिमे ॥20॥
छन्दो गायत्रसंज्ञं च श्रीरामश्चैव देवता ।
अथवा कामबीजादेर्विश्वामित्रो मुनिर्मनोः ॥21॥
छन्दो देव्यादिगायत्री रामभद्रोऽस्य देवता ।
बीजशक्ती यथापूर्वं षड्वर्णान् विन्यसेत्क्रमात् ॥22॥
ब्रह्मरन्ध्रे भ्रुवोर्मध्ये हृन्नाभ्यूरुषु पादयोः ।
बीजैः षड्दीर्घयुक्तैर्वा मन्त्रार्णैर्वा षडङ्गकम् ॥23॥

इस षडक्षरमन्त्र के इतने भेद होने से इसके ऋषि भी अनुक्रम से ब्रह्मा, कामदेव, शक्ति, दक्षिणामूर्ति, अगस्त्य और शिव—ये होते हैं। इसका छन्द गायत्री नाम का है। और श्रीराम इसके देवता हैं। अथवा इस मन्त्र के कामबीज आदि (क्लीं आदि) के ऋषि विश्वामित्र माने गए हैं। छन्द देव्यादि गायत्री है। रामभद्र इसके देवता हैं। बीजशक्ति पूर्व तरह ही है। इस मन्त्र के छः वर्णों का क्रमशः ब्रह्मरन्ध्र में, दोनों भौंहों के बीच में, हृदय पर, नाभि पर, दोनों जाँघों पर और दोनों पैरों पर न्यास करना चाहिए। इन छः अंगों पर न्यास या तो मन्त्रों के वर्णों को अथवा दीर्घ रकार युक्त छः पूर्वोक्त बीजों को बोलते हुए करना चाहिए।

कालाम्भोधरकान्तिकान्तमनिशं वीरासनाध्यासितं
मुद्रां ज्ञानमयीं दधानमपरं हस्ताम्बुजं जानुनि ।
सीतां पार्श्वगतां सरोरुहकरां विद्युन्निभां राघवं
पश्यन्तं मुकुटाङ्गदादिविविधाकल्पोज्ज्वलाङ्गं भजे ॥24॥

इसका ध्यानमन्त्र इस प्रकार है—वर्षा(प्रलय)कालीन बादलों के जैसी कान्ति से रमणीय, सदैव वीरासन में बैठे हुए, एक हाथ से ज्ञानमुद्रा करते हुए, दूसरा करकमल घुटनों पर रखे हुए, पास में स्थित कमल जैसे करों वाली और विद्युत् की-सी कान्ति वाली सीताजी को देखते हुए, मुकुट, अंगद आदि विविध आभूषणों से उज्ज्वल अंग वाले श्रीराघव को मैं भजता हूँ (उपासना करता हूँ)।

रामश्च चन्द्रभद्रान्तो ङेन्तो नतियुतो द्विधा।
सप्ताक्षरो मन्त्रराजः सर्वकामफलप्रदः ॥25॥

'राम' शब्द के साथ **'चन्द्र'** शब्द लगाकर उसमें चतुर्थी विभक्ति लगाकर बाद में **'नमः'** शब्द जोड़ने से सप्ताक्षर मन्त्र बनता है, यथा—'रामचन्द्राय नमः।' इसी तरह 'राम' शब्द के साथ 'भद्र' शब्द जोड़कर उसमें भी चतुर्थी विभक्ति लगाकर आगे 'नमः' शब्द जोड़ने से भी सप्ताक्षर मन्त्र बनता है, यथा—'रामभद्राय नमः'। इस प्रकार यह सप्ताक्षर मन्त्र दो प्रकार का होता है। यह सप्ताक्षर मन्त्रराज सभी कामनाओं का फल देने वाला है।

तारादिसहितः सोऽपि द्विविधोऽष्टाक्षरो मतः।
तारं रामश्चतुर्थ्यन्तं क्रोडास्त्रं वह्नितल्पगा ॥26॥

वही सप्ताक्षर मन्त्र, यदि पहले तार आदि बीजों को (ॐ, ह्रीं, श्रीं, क्लीं, ऐं, रां आदि) जोड़कर बोला जाए तो वह अष्टाक्षर मन्त्र बनेगा। इस प्रकार छः बीज रामचन्द्र की और छः बीज रामभद्र की चतुर्थी विभक्ति को लगाने से और बाद में दोनों में 'नमः' लगाने से वह अष्टाक्षर मन्त्र बारह प्रकार का होगा। यथा—'ॐ रामचन्द्राय नमः' आदि छः और 'ॐ रामभद्राय नमः' आदि छः मिलकर बारह होंगे। इस मन्त्र के ऋषि देवता आदि पहले की तरह ही हैं। और भी, अन्य रीति से यह अष्टाक्षर मन्त्र कहा जा सकता है। पहले तार=ॐ और बाद में चतुर्थ्यन्त राम और बाद में अस्त्राय फट् लगाने से, यथा—'ॐ रामाय अस्त्राय फट्' अथवा 'ॐ रामाय हुं फट् स्वाहा'।

अष्टार्णोऽयं परो मन्त्रो ऋष्यादिः स्यात्षडर्णवत्।
पुनरष्टाक्षरस्याथ राम एव ऋषिः स्मृतः ॥27॥
गायत्रं छन्द इत्यस्य देवता राम एव च।
तारं श्रीबीजयुग्मौ च बीजशक्त्यादयो मताः ॥28॥

यह पहला जो अष्टाक्षरी मन्त्र है वह परम उत्तम है। इस मन्त्र के ऋषि-देवतादि तो छः अक्षरवाले मन्त्र की तरह ही हैं। जो अन्य रीति से अष्टाक्षर मन्त्र ऊपर बताया गया है, उसके ऋषि तो राम ही हैं। गायत्री इसका छन्द है और देवता भी राम ही हैं। इसके अतिरिक्त रामाय के पहले तार को = ॐ को और दो श्री बीज को = श्री श्री को—जोड़कर भी अष्टाक्षर बनता है, यथा—'ॐ श्रीं श्रीं रामाय नमः।'

षडङ्गं च ततः कुर्यान्मन्त्रार्णैरेव बुद्धिमान्।
तारं श्रीबीजयुग्मं च रामाय नम उच्चरेत् ॥29॥
ग्लौमों बीजं वदेन्मायां हृद्रामाय पुनश्च ताम्।
शिवोमाराममन्त्रोऽयं वस्वर्णस्तु वसुप्रदः ॥30॥
ऋषिः सदाशिवः प्रोक्तो गायत्रं छन्द उच्यते।
शिवोमारामचन्द्रोऽत्र देवता परिकीर्तिताः ॥31॥

इस मन्त्र के अक्षरों को बोलते हुए ही बुद्धिमान को षडंगन्यास करना चाहिए। अर्थात् तार = ॐ और दो श्री बीज से युक्त रामाय नम:, इस प्रकार—'ॐ श्रीं श्रीं रामाय नम:'—यह बोलते हुए षडंगन्यास करना चाहिए, अथवा 'ग्लौं, ॐ, ह्रीं नमो रामाय'—इस प्रकार बोलते हुए षडंगन्यास करना चाहिए। फिर से उस माया = ह्रीं के उच्चारण—उमा महेश्वर बीज के योग से—यह शिव-उमा-राम का मन्त्र बन जाता है। यह मन्त्र तेजोमय और धन देने वाला है। इसके ऋषि सदाशिव कहे गये हैं। छन्द गायत्री कहा गया है। और देवता शिव-उमा-राम हैं।

दीर्घया मायया ऽङ्गानि तारपञ्चार्णयुक्तया।
रामं त्रिणेत्रं सोमार्धधारिणं शूलिनं परम्।
भस्मोद्धूलितसर्वाङ्गं कपर्दिनमुपास्महे ॥32॥
रामाभिरामां सौन्दर्यसीमां सोमावतंसिकाम्।
पाशाङ्कुशधनुर्बाणधरां ध्यायेत्त्रिलोचनाम् ॥33॥

तारसहित (ॐ सहित) पंचवर्णों ('रामाय नम:') के साथ दीर्घ माया ('ह्रां') का उच्चारण करते हुए, अर्थात् 'ह्रीं ॐ रामाय नम:'—आदि बोलते हुए इस प्रकार ध्यान करना चाहिए—'राम की और त्रिलोचन की शूलधारी, अर्धचन्द्र धारण करने वाले, परमदेव, भस्म से लिप्त अंगवाले, कपर्दी महादेव की हम उपासना करते हैं।' राम की प्रिय, सौन्दर्य की चरम सीमा रूप, अपने अवतंस में (मुकुट में) चन्द्र को धारण करने वाली, तथा पाश-अंकुश-धनुष-बाण को धारण करने वाली त्रिलोचना का ध्यान करना चाहिए (उपासना करनी चाहिए)।

ध्यायन्नेवं वर्णलक्षं जपतर्पणतत्परः।
बिल्वपत्रैः फलैः पुष्पैस्तिलाज्यैः पङ्कजैर्हुनेत् ॥34॥
स्वयमायान्ति निधयः सिद्धयश्च सुरेप्सिताः।
पुनरष्टाक्षरस्याथ ब्रह्मगायत्रराघवाः ॥35॥
ऋष्यादयस्तु विज्ञेयाः श्रीबीजं मम शक्तिकम्।
तत्प्रीत्यै विनियोगश्च मन्त्रार्णैरङ्गकल्पना ॥36॥

इस प्रकार साधक इस मन्त्र का एक लाख बिल्वपत्रों से, फलों से, पुष्पों से, कमलों से तथा घी-तेल से यदि जाप और पूजा-तर्पण आदि करने को तत्पर होता है, तब तो देवताओं के लिए भी चाही गई सिद्धियाँ और निधियाँ उसे आप-ही-आप आ मिलती हैं। इस अष्टाक्षर 'शिवोमाराम' मन्त्र के ब्रह्मा ऋषि हैं, गायत्री छन्द है और राम देवता हैं—ऐसा जानना चाहिए। और मेरी शक्तिरूप बीज 'श्रीं' बीज है। उसी की प्रीति के लिए इस मन्त्र का विनियोग है। और इस मन्त्र के अक्षरों के साथ अंग-विन्यास आदि करने की कल्पना की गई है।

केयूराङ्गदकङ्कणैर्मणिगणैर्विद्योतमानं सदा
रामं पार्वणचन्द्रकोटिसदृशच्छत्रेण वै राजितम्।
हेमस्तम्भसहस्रषोडशयुते मध्ये महामण्डपे
देवेशं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥37॥

अब यह ध्यानमन्त्र इस प्रकार है—'जो केयूर, अंगद, कंकणों से और मणियों से सदैव जगमगाते रहते हैं, और जो पूर्णिमा के करोड़ों चन्द्रों जैसे कान्ति वाले छत्र से शोभायमान हैं, जो सुवर्ण

के सोलह हजार स्तम्भों से युक्त महान् मण्डप के बीच विराजमान हैं, जो भरत आदि भाइयों से घिरे हुए हैं, ऐसे श्यामलकान्ति देवाधिदेव रामचन्द्रजी की मैं उपासना करता हूँ।'

किं मन्त्रैर्बहुभिर्विनश्वरफलैरायाससाध्यैर्वृथा
किञ्चिल्लोभवितानमात्रविफलैः संसारदुःखावहैः।
एकः सन्नपि सर्वमन्त्रफलदो लोभादिदोषोज्झितः
श्रीरामः शरणं ममेति सततं मन्त्रोऽयमष्टाक्षरः ॥38॥

उन बहुत से मन्त्रों से भला क्या लाभ है कि जिनके फल नश्वर ही हैं, जो बड़े परिश्रम से साध्य होने पर भी मिथ्या ही हैं, जो थोड़े से लोभ का विस्तार करके ही विफल हो जाते हैं, जो सांसारिक दुःखों को ही लाते हैं ? इसकी अपेक्षा तो यह मन्त्र एक होते हुए भी सभी मन्त्रों के फल को देने वाला है। यह लोभ आदि दोषों को हटा देने वाला है। इस अष्टाक्षर मन्त्र का स्वरूप है—'श्रीरामः शरणं मम।'

एवमष्टाक्षरः सम्यक् सप्तधा परिकीर्तितः।
रामसप्ताक्षरो मन्त्र आद्यन्ते तारसंयुतः ॥39॥
नवार्णो मन्त्रराजः स्याच्छेषं षड्वर्णवन्न्यसेत्।
जानकीवल्लभं ङेन्तं वह्नेर्जायाहुमादिकम् ॥40॥
दशाक्षरोऽयं मन्त्रः स्यात् सर्वाभीष्टफलप्रदः।
दशाक्षरस्य मन्त्रस्य वसिष्ठोऽस्य ऋषिर्विराट् ॥41॥

इस प्रकार अष्टाक्षर मन्त्र मुख्यतः सात प्रकार से वर्णित किया गया है। अब जो राम का सप्ताक्षरमन्त्र पहले दिया जा चुका है, उसके आगे और अन्त में तार = ॐ लगा देने से नव अक्षर का राममन्त्र बनता है, यथा—'ॐ रामचन्द्राय नमः ॐ'। यह एक ही प्रकार का है। इस मन्त्र के षडंगन्यासादि छः वर्ण वाले मन्त्र की तरह ही है। (अब दशाक्षर मन्त्र की बात कही जाती है—) 'जानकीवल्लभ' शब्द को चतुर्थी विभक्ति में लेकर अन्त में वह्नि की जाया = स्वाहा को जोड़कर आदि में 'हुम्' यह बीज लगाकर यह मन्त्र बनता है। मन्त्र ऐसा होगा—'हुं जानकीवल्लभाय स्वाहा।' यह दशाक्षर मन्त्र सभी अभीष्ट फलों का दाता है। इस दशाक्षर मन्त्र के ऋषि वसिष्ठ हैं और विराट् इसका छन्द है।

छन्दोऽस्य देवता रामः सीतापाणिपरिग्रहः।
आद्यो बीजं द्विठः शक्तिः कामेनाङ्गक्रिया मता ॥42॥
शिरोललाटभ्रूमध्ये तालुकर्णेषु हृद्यपि।
नाभ्यूरुजानुपादेषु दशार्णान् विन्यसेन्मनोः ॥43॥

पूर्वकथित विराट् इसका छन्द है। सीता का पाणिग्रहण करने वाले राम इस मन्त्र के देवता हैं। इस मन्त्र में जो आद्यक्षर है, वह बीज है और 'ठः ठः'—ऐसे दो ठकार को शक्ति समझना चाहिए तथा काम क्रिया क्लीं आदि है। इन बीज, शक्ति और काम को अर्थात् हुं, ठठ, और क्लीं को मन्त्र के साथ जोड़कर अंगन्यासदि करना चाहिए। मन्त्र के साथ इन तीनों का उच्चारण करते हुए अंगन्यासदि करना चाहिए। और वह अंगन्यास—मस्तक, ललाट, भौंहों के बीच के भाग, तालु, दोनों कान, हृदय, नाभि, दोनों जाँघें, दोनों घुटनें, दोनों पादों के ऊपर इस मन्त्र के दश अक्षरों के द्वारा करना चाहिए।

अयोध्यानगरे रत्नचित्रे सौवर्णमण्डपे ।
मन्दारपुष्पैराबद्धविताने तोरणाञ्चिते ॥44॥
सिंहासने समासीनं पुष्पकोपरि राघवम् ।
रक्षोभिर्हरिभिर्देवैर्दिव्ययानगतैः शुभैः ॥45॥
संस्तूयमानं मुनिभिः प्रह्वैश्च परिसेवितम् ।
सीताऽलंकृतवामाङ्गं लक्ष्मणेनोपसेवितम् ॥46॥
श्यामं प्रसन्नवदनं सर्वाभरणभूषितम् ।
ध्यायन्नेवं जपेन्मन्त्रं वर्णलक्षमनन्यधीः ॥47॥

इसका ध्यानमन्त्र इस प्रकार है—'अयोध्यानगर में रत्नों से जगमगाते हुए, सुवर्ण मण्डप में, मन्दार पुष्पों से खचित वितानवाले तोरणों से मण्डित, पुष्पक के ऊपर, सिंहासन पर बैठे हुए, दिव्य-वाहनों में स्थित शुभ राक्षसों, वानरों के द्वारा स्तुति किए जाने वाले, मुनियों और बुद्ध जनों के द्वारा परिसेवित, सीताजी के द्वारा जिनका वाम पार्श्व शोभित हुआ है ऐसे, श्यामवर्ण, प्रसन्नवदन, सर्व आभूषणों से भूषित राघव—रामचन्द्र का ध्यान करते हुए साधक को तीव्र बुद्धियुक्त होकर एक लाख बार इस मन्त्र का जाप करना चाहिए।

रामं ङेन्तं धनुष्पाणयेऽन्तः स्याद्वह्निसुन्दरी ।
दशाक्षरोऽयं मन्त्रः स्यान्मुनिर्ब्रह्मा विराट् स्मृतः ॥48॥
छन्दस्तु देवता प्रोक्तो रामो राक्षसमर्दनः ।
शेषं तु पूर्ववत् कुर्याच्चापबाणधरं स्मरेत् ॥49॥

अब अन्य रीति से दशाक्षर मन्त्र इस प्रकार है—चतुर्थ विभक्तियुक्त 'राम' शब्द को 'धनुष्पाणये' शब्द के साथ जोड़कर अन्त में वह्निपत्नी के साथ—'स्वाहा' शब्द जोड़ना चाहिए। तब भी दशाक्षर मन्त्र बनता है, यथा—'रामाय धनुष्पाणये स्वाहा।' इस मन्त्र के ऋषि ब्रह्मा हैं, छन्द विराट् है, और देवता राक्षसों का मर्दन करने वाले राम हैं। बाकी की सब बातें पूर्व की तरह ही हैं। यहाँ स्मरण (ध्यान) चाप और बाण को धारण करने वाले राम का करना चाहिए।

तारमायारमाऽनङ्गवाक्स्वबीजैश्च षड्विधः ।
दशार्णो मन्त्रराजः स्याद्रुद्रवर्णात्मको मनुः ॥50॥

इस दशाक्षर मन्त्र के पूर्व में तार = ॐ, माया = ह्रीं, रमा = श्रीं, अनंग = क्लीं, वाक् = ऐँ, और स्वबीज जोड़ने से एकादशाक्षर मन्त्र बनता है, यथा—'ॐ रामाय धनुष्पाणये नमः' इत्यादि। इस प्रकार से यह एकादशाक्षर मन्त्र छः प्रकार का बनता है।

शेषं षडर्णवज्ज्ञेयं न्यासध्यानादिकं बुधैः ।
द्वादशाक्षरमन्त्रस्य श्रीरामो ऋषिरुच्यते ॥51॥
जगती छन्द इत्युक्तं श्रीरामो देवता मतः ।
प्रणवो बीजमित्युक्तः क्लीं शक्तिर्ह्रीं च कीलकम् ॥52॥
मन्त्रेणाङ्गानि विन्यस्य शिष्टं पूर्ववदाचरेत् ।
तारं मायां समुच्चार्य भरताग्रज इत्यपि ॥53॥

इस एकादशाक्षर के शेष ऋषि-देवता आदि पहले की ही तरह हैं। अब यहाँ द्वादशाक्षर मन्त्र कहते हैं। इस मन्त्र के ऋषि श्रीराम हैं और देवता भी श्रीराम ही कहे गए हैं। जगती इसका छन्द और प्रणव उसका बीज है। क्लीं इसकी शक्ति और ह्रीं इसका कीलक है। इस मन्त्र के अक्षरों से भी अंगविन्यास करना चाहिए और शेष अन्य सभी क्रियाएँ करनी चाहिए। यह मन्त्र इस प्रकार है—तार को (ॐ को) और माया को (क्लीं को) बोलकर बाद में भरताग्रज बोलना चाहिए। बाद में—

रामक्लींवह्निजायाऽन्तं मन्त्रोऽयं द्वादशाक्षरः।
ॐ हृद्भगवते रामचन्द्रभद्रौ च ङेयुतौ ॥54॥
अर्कार्णो द्विविधोऽप्यस्य ऋषिध्यानादि पूर्ववत्।
छन्दस्तु जगती चैव मन्त्रार्णैरङ्गकल्पना ॥55॥

राम क्लीं और वह्निजाया (स्वाहा) जोड़ने से द्वादशाक्षरमन्त्र बनेगा। पूरा मन्त्र होगा—'ॐ ह्रीं भरताग्रज राम क्लीं स्वाहा।' अब दूसरे प्रकार का द्वादशाक्षरमन्त्र यह है जिसमें पहले 'ॐ' कहकर तब 'भगवते' कहकर, बाद में रामचन्द्र शब्द में चतुर्थी विभक्ति लगाकर मन्त्र पूरा होता है—'ॐ नमो भगवते रामचन्द्राय,' और रामभद्र में चतुर्थी विभक्ति लगाकर दूसरा मन्त्र होता है—'ॐ नमो भगवते रामभद्राय।' इस प्रकार यह द्वादशाक्षर मन्त्र तीन प्रकार का होता है। इस मन्त्र के ऋषि, ध्यान आदि पहले की तरह ही हैं। इसका छन्द जगती है। इस मन्त्र के अक्षरों से अंगन्यास करना चाहिए।

श्रीरामेति पदं चोक्त्वा जयराम पदं ततः।
जयद्वयं वदेत् प्राज्ञो रामेति मनुराजकः ॥56॥
त्रयोदशार्ण ऋष्यादि पूर्ववत्सर्वकामदः।
पदद्वयैर्द्विरावृत्तैरङ्गन्यासं दशार्णवत् ॥57॥
तारादिसहितः सोऽपि स चतुर्दशवर्णकः।
त्रयोदशार्णमुच्चार्य पश्चाद्रामेति योजयेत् ॥58॥

'श्रीराम' ऐसा शब्द बोलकर उसके बाद 'जय' शब्द बोलना चाहिए। इसके बाद, दो बार 'जय' शब्द बोलने से और बाद में 'राम' शब्द कहने से त्रयोदशाक्षर परमबुद्धिमय मन्त्रराज होता है। पूरा मन्त्र इस प्रकार होगा—'श्रीराम जय राम जय जय राम।' यह त्रयोदशाक्षर मन्त्रराज के ऋषि पहले की तरह ही हैं। यह मन्त्र सर्वकामनाओं की सिद्धि देने वाला है। दो बार आवृत्ति किए गए दोनों पदों से दशाक्षर मन्त्र की तरह यहाँ पर अंगन्यास करना चाहिए। इसी त्रयोदशाक्षर मन्त्र को तार = ॐ आदि पूर्वोक्त छः बीज आगे लगा देने से वह चतुर्दशाक्षर मन्त्र बन जाएगा। छहों बीज इसके आगे लगने से यह चतुर्दशाक्षर मन्त्र छः प्रकार का होगा। अब पूर्वोक्त त्रयोदशाक्षर मन्त्र के (त्रयोदशाक्षर मन्त्र का उच्चारण करके) पूर्व में राम शब्द जोड़ देने से—

स वै पञ्चदशार्णस्तु जपतां कल्पभूरुहः।
नमश्च सीतापतये रामायेति हनद्वयम् ॥59॥
ततस्तु कवचास्त्रान्तः षोडशाक्षर ईरितः।
तस्यागस्त्यऋषिश्छन्दो बृहती देवता च सः ॥60॥
रां बीजं शक्तिरस्त्रं च कीलकं हुमितीरितम्।
द्विपञ्चत्रिचतुर्वर्णैः सर्वैरङ्गं न्यसेत् क्रमात् ॥61॥

तारादिसहितः सोऽपि मन्त्रः सप्तदशाक्षरः ।
तारं नमो भगवते रामं ङेन्तं महा ततः ॥62॥

वह पञ्चदशाक्षर मन्त्र हो जाएगा। यह मन्त्र जप करने वालों के लिए कल्पद्रुम के समान है। अब षोडशाक्षर मन्त्र के लिए—**'नमः'** के बाद **'सीतापतये'** के बाद **'रामाय'** के बाद दो बार 'हन हन' ऐसा बोलना चाहिए। फिर उसके बाद 'हुं फट् स्वाहा' का उच्चारण करने से वह षोडशाक्षर मन्त्र बनेगा। (पूरा मन्त्र होगा—'नमः सीतापतये रामाय हन हन फट् स्वाहा'।) इस मन्त्र के ऋषि अगस्त्य हैं, छन्द बृहती है, देवता वही हैं, 'रां' उसका बीज हैं, अस्त्र-फट् उसकी शक्ति है, 'हुम्' इसका कीलक है। दो, चार, तीन, पाँच—इन सभी वर्णों से अंगों पर क्रमशः न्यास करना चाहिए। अब यही षोडशाक्षर मन्त्र जब तार = ॐ, माया = ह्रीं आदि छः बीजों को पहले लगाकर बोला जाता है, तो वह सप्तदशाक्षर मन्त्र हो जाता है। छः बीजों के लगाए जाने से यह सप्तदशाक्षर मन्त्र छः प्रकार का होता है। अब अष्टादशाक्षर मन्त्र के लिए—पहले तार = ॐ, बाद में 'भगवते', बाद में चतुर्थ्यन्त राम शब्द अर्थात् 'रामाय' और इसके बाद **'महा'** लगाकर—

पुरुषाय पदं पश्चाद्धृदन्तोऽष्टादशाक्षरः ।
विश्वामित्रो मुनिश्छन्दो गायत्री देवता च सः ॥63॥
कामादिसहितः सोऽपि मन्त्र एकोनविंशकः ।
तारं नमो भगवते रामायेति पदं वदे ॥64॥
सर्वशब्दं समुच्चार्य सौभाग्यं देहि मे वदेत् ।
वह्निजायां तथोच्चार्य मन्त्रो विंशार्णको मतः ॥65॥

फिर उसके बाद **'पुरुषाय'** पद जोड़कर अन्त में 'नमः' लगा देने से अष्टादशाक्षर मन्त्र बनेगा। पूरा मन्त्र होगा—'ॐ नमो भगवते रामाय महापुरुषाय नमः।' इस मन्त्र के ऋषि विश्वामित्र हैं, छन्द गायत्री है, देवता वही (राम) हैं। इसी अष्टादशाक्षर मन्त्र के पहले काम आदि बीज—क्लीं आदि छः बीज जोड़ देने से एकोनविंशाक्षर (उन्नीस अक्षरों वाला) मन्त्र बन जाएगा। ये बीज छः हैं इसलिए यह उन्नीस अक्षरों वाला मन्त्र भी छः प्रकार का होता है। अब विंशाक्षर मन्त्र की बात कही जाती है—जिसमें कि 'तार = ॐ नमः भगवते रामाय' ऐसे शब्द बोलकर बाद में 'सर्व' शब्द बोलकर 'सौभाग्यं देहि मे' ऐसा बोलना चाहिए। बाद में वह्निजाया का—'स्वाहा' का उच्चारण करने से विंशाक्षर (बीस वर्ण वाला) मन्त्र बनता है। पूरा मन्त्र होगा—'ॐ नमो भगवते रामाय सर्वसौभाग्यं देहि मे स्वाहा।'

तारं नमो भगवते रामाय सकलं वदेत् ।
आपन्निवारणायेति वह्निजायां ततो वदेत् ॥66॥
एकविंशार्णको मन्त्रः सर्वाभीष्टफलप्रदः ।
तारं रमां स्वबीजं च ततो दाशरथाय च ॥67॥
ततः सीतावल्लभाय सर्वाभीष्टपदं वदेत् ।
ततो दाय हृदन्तोऽयं मन्त्रो द्वाविंशदक्षरः ॥68॥

अब 'तार = ॐ नमो भगवते रामाय सकल'—इन शब्दों का उच्चारण करके बाद में 'आपन्निवारणाय' यह शब्द बोलकर, अन्त में वह्निजाया = स्वाहा बोलने से इक्कीस वर्णवाला मन्त्र बनता है। (ॐ नमो भगवते रामाय सकलापन्निवारणाय स्वाहा)। यह मन्त्र सकल अभीष्ट को देने वाला

है। अब बाईस अक्षरवाला मन्त्र इस प्रकार है—तार, रमा और स्वबीज को—अर्थात् **ॐ श्रीं** और **रां** को बोलकर, फिर 'दाशरथाय' फिर 'सीतावल्लभाय' फिर 'सर्वाभीष्ट' पद के बाद 'दाय' पद को बोलकर नमः शब्द का बाद में उच्चारण करने से बाईस अक्षर वाला मन्त्र बन जाता है। ('ॐ श्रीं रां दाशरथाय सीतावल्लभाय सर्वाभीष्टदाय नमः')।

तारं नमो भगवते वीररामाय संवदेत्।
कलशत्रून् हनद्वन्द्वं वह्निजायां ततो वदेत् ॥69॥
त्रयो विंशाक्षरो मन्त्रः सर्वशत्रुनिबर्हणः।
विश्वामित्रो मुनिः प्रोक्तो गायत्री छन्द उच्यते ॥70॥
देवता वीररामोऽसौ बीजाद्याः पूर्ववन्मताः।
मूलमन्त्रविभागेन न्यासान् कृत्वा विचक्षणः ॥71॥
शरं धनुषि सन्धाय तिष्ठन्तं रावणोन्मुखम्।
वज्रपाणिं रथारूढं रामं ध्यात्वा जपेन्मनुम् ॥72॥

अब त्रयोविंशाक्षर (तेईस अक्षर वाले) मन्त्र में—'तार (ॐ) नमो भगवते वीररामाय' ऐसा बोलना चाहिए। बाद में 'सकलशत्रून्' ऐसा कहकर दो बार 'हन हन' बोलना चाहिए। अन्त में वह्निजाया = स्वाहा को जोड़ देने से सभी शत्रुओं का विनाश करने वाला तेईस अक्षरों का मन्त्र बनता है। (ॐ नमो भगवते वीररामाय सकलशत्रून् हन हन स्वाहा)। इस मन्त्र के ऋषि विश्वामित्र हैं, छन्द गायत्री है, वीरराम देवता हैं। बीज आदि सब पहले के ही तरह हैं। विवेकी साधक को चाहिए कि वह मूलमन्त्र का विभाग करके अंगन्यास करे। न्यास करके ध्यान करे। ध्यान यह है—'रावण के सामने धनुष में बाण का सन्धान करके खड़े हुए वज्र जैसे हाथ वाले रथारूढ राम जी का ध्यान करना चाहिए और इस मन्त्र का जाप करना चाहिए।

तारं नमो भगवते श्रीरामाय पदं वदेत्।
तारकब्रह्मणे चोक्त्वा मां तारय पदं वदेत् ॥73॥
नमस्तारात्मको मन्त्रश्चतुर्विंशतिवर्णकः।
बीजादिकं यथापूर्वं सर्वं कुर्यात् षडर्णवत् ॥74॥

अब चौबीस अक्षरवाला मन्त्र कहा जाता है—तार (ॐ) के बाद 'नमो भगवते श्रीरामाय' शब्द बोलने चाहिए। बाद में 'तारक ब्रह्मणे'—ऐसा कहकर 'मां तारय' पद बोलना चाहिए। बाद में 'नमः' और फिर से तारक (ॐ) बोलने से चौबीस अक्षरों वाला मन्त्र बनता है। ('ॐ नमो भगवते श्रीरामाय तारकब्रह्मणे मां तारय नम ओम्')। इस मन्त्र के बीज आदि पहले की ही तरह हैं। शेष सब षडक्षर मन्त्र की भाँति करना चाहिए।

कामस्तारो नतिश्चैव ततो भगवतेपदम्।
रामचन्द्राय चोच्चार्य सकलेति पदं वदेत् ॥75॥
जनवश्यकरायेति स्वाहा कामात्मको मनुः।
सर्ववश्यकरो मन्त्रः पञ्चविंशतिवर्णकः ॥76॥
आदौ तारेण संयुक्तो मन्त्रः षड्विंशदक्षरः।
अन्तेऽपि तारसंयुक्तः सप्तविंशतिवर्णकः ॥77॥

अब पच्चीस वर्ण वाले मन्त्र की बात कहते हैं—पहले काम = क्लीं, तार = ॐ तथा 'नम:' को बोलकर, 'भगवते रामचन्द्राय' का उच्चारण करके 'सकल' पद बोलना चाहिए। बाद में 'जनवश्याय स्वाहा' कहने से सर्वकामनाओं को पूर्ण करने वाला और सबको वश में करने वाला पच्चीस वर्णों वाला मन्त्र बनता है। ('क्लीं ॐ नमो भगवते रामचन्द्राय सकलजनवश्यकराय स्वाहा')। इसी मन्त्र के आगे—क्लीं से पहले तार = ॐ को जोड़ देने से वही षड्विंशाक्षर (छब्बीस अक्षरों वाला) मन्त्र बन जाता है, और फिर अन्त में भी तार = ॐ को जोड़ देने से वही मन्त्र सप्तविंशाक्षार (सत्ताईस अक्षरों वाला) हो जाता है।

तारं नमो भगवते रक्षोघ्नविशदाय च।
सर्वविघ्नान् समुच्चार्य निवारय पदद्वयम् ॥78॥
स्वाहाऽन्तो मन्त्रराजोऽयमष्टाविंशतिवर्णकः।
अन्ते तारेण संयुक्त एकोनत्रिंशदक्षरः ॥79॥
आदौ स्वबीजसंयुक्तस्त्रिंशद्वर्णात्मको मनुः।
अन्तेऽपि तेन संयुक्त एकत्रिंशात्मकः स्मृतः ॥80॥

'तार (ॐ) नमो भगवते' और 'रक्षोघ्नविशदाय' एवं 'सर्वविघ्नान्'—इन शब्दों को बोलकर 'निवारय निवारय' ऐसा दो बार बोलकर अन्त में 'स्वाहा' बोलने से अट्ठाईस अक्षरों वाला मन्त्रराज बनता है। ('ॐ नमो भगवते रक्षोघ्नविशदाय सर्वविघ्नान् निवारय निवारय स्वाहा')। यही मन्त्र यदि अन्त में ॐ (तार) जोड़कर बोला जाए तो वह उनतीस अक्षरों वाला हो जाएगा। और उस उनतीस वर्ण वाले मन्त्र के प्रारंभ में स्वबीज का 'रां' और जोड़ दिया जाए तो वह तीस अक्षरों वाला मन्त्र बन जाएगा। और उस तीस अक्षरवाले मन्त्र के अन्त में भी वह स्वबीज 'रां' जोड़ दिया जाए तो वही इकत्तीस अक्षरों वाला भी हो जाता है।

रामभद्र महेष्वास रघुवीर नृपोत्तम।
भो दशास्यान्तकास्माकं श्रियं दापय देहि मे ॥81॥
आनुष्टुभ ऋषी रामश्छन्दोऽनुष्टुप्स देवता।
रां बीजमस्य यं शक्तिरिष्टार्थे विनियोजयेत् ॥82॥
पादं हृदि च त्रिन्यस्य पादं शिरसि विन्यसेत्।
शिखायां पञ्चभिर्न्यस्य त्रिवर्णैः कवचं न्यसेत् ॥83॥
नेत्रयोः पञ्चवर्णैश्च दापयेत्यस्त्रमुच्यते।
चापबाणधरं श्यामं ससुग्रीवविभीषणम् ॥84॥
हत्वा रावणमायान्तं कृतत्रैलोक्यरक्षणम्।
रामभद्रं हृदि ध्यात्वा दशलक्षं जपेन्मनुम् ॥85॥

अब राम का अनुष्टुप् कहा जा रहा है कि—'हे बड़े तूणीर वाले रघुवीर रामभद्र! हे राजश्रेष्ठ! हे रावणसंहारक! हमें सम्पत्ति दीजिए और दिलवाइए।' इस अनुष्टुप् छन्द वाले मन्त्र के ऋषि राम हैं, छन्द अनुष्टुप् है, राम ही देवता हैं, 'रां' बीज है, 'यं' शक्ति है, अभीष्ट अर्थ में इसका विनियोग है। इस अनुष्टुप् के एक पाद (चरण) से हृदय में न्यास करके दूसरे से भी हृदय में न्यास करना चाहिए। तीसरे पाद के पाँच वर्णों से शिखा में न्यास करना चाहिए और बाकी के तीन अक्षरों से छाती पर न्यास करना चाहिए। चौथे चरण के पाँच अक्षरों से दोनों नेत्रों पर न्यास करते हुए 'दापय मे' शब्द बोलकर

'अस्त्राय फट्' ऐसा बोलना चाहिए। इसका ध्यानमन्त्र यह है—'धनुष और बाण को धारण किए हुए, श्याम कान्तिवाले, सुग्रीव और विभीषण के साथ विराजित, रावण को मारकर आते हुए, तीनों लोकों का रक्षण करने वाले रामभद्र का ध्यान करके ऐसे दस लाख मन्त्रों का जाप करें।

वदेद्दाशरथायेति विद्महेति पदं ततः।
सीतापदं समुद्धृत्य वल्लभाय ततो वदेत् ॥86॥
धीमहीति वदेत्तन्नो रामश्चापि प्रचोदयात्।
तारादिरेषा गायत्री मुक्तिमेव प्रयच्छति ॥87॥
मायाऽऽदिरपि वैदुष्यं रामादिश्च श्रियःपदम्।
मदनेनापि संयुक्ता संमोहयति मेदिनीम् ॥88॥
पञ्च त्रीणि षडर्णैश्च त्रीणि चत्वारि वर्णकैः।
चत्वारि च चतुर्वर्णैरङ्गन्यासं प्रकल्पयेत् ॥89॥

पहले 'दाशरथाय' बोलकर बाद में 'विद्महे' पद बोलना चाहिए। इसके बाद 'सीता' पद को लेकर 'वल्लभाय' पद बोलना चाहिए। बाद में 'धीमहि' और तब 'तन्नो रामः' और 'प्रचोदयात्' बोलकर पहले तार = ॐ रखने से निबद्ध यह रामगायत्री मुक्ति ही देती है। ('ॐ दाशरथाय विद्महे सीतावल्लभाय धीमहि तन्नो रामः प्रचोदयात्')। इस रामगायत्रीमन्त्र के आगे यदि माया = ह्रीं रखकर बोला जाए तो वह विद्वत्ता देता है, यदि आदि में 'रां' रखकर बोला जाए, तो संपत्ति का स्थान मिलता है, यदि आदि में मदन = क्लीं रखकर बोला जाए तो समस्त मेदिनी को संमोहित किया जा सकता है। छः अक्षरवाले मन्त्र से पाँच अंगों पर और तीन अक्षर वाले मन्त्र से आठ अंगों पर तथा अन्य वर्णों से चार अंगों पर एवं चार वर्णों से चार अंगों पर न्यास करना चाहिए।

बीजध्यानादिकं सर्वं कुर्यात्षड्वर्णवत्क्रमात्।
तारं नमो भगवते चतुर्थ्या रघुनन्दनम् ॥90॥
रक्षोघ्नविशदं तद्वन्मधुरेति वदेत्ततः।
प्रसन्नवदनं ङेन्तं वदेदमिततेजसे ॥91॥
बलरामौ चतुर्थ्यन्तौ विष्णुं ङेन्तं नतिस्ततः।
प्रोक्तो मालामनुः सप्तचत्वारिंशद्भिरक्षरैः ॥92॥
ऋषिछन्दो देवतादि ब्रह्मानुष्टुभराघवाः।
सप्तर्तुसप्तदश षड्रुद्रसंख्यैः षडङ्गकम् ॥93॥

उपर्युक्त मन्त्र के बीज ध्यान आदि सब क्रमपूर्वक षड्वर्ण मन्त्र की तरह ही जानना चाहिए। अब राममालामन्त्र के विषय में कहते हैं—'(तार) ॐ नमो भगवते' बोलकर रघुनन्दन, रक्षौघ्नविशद शब्दों की चतुर्थी विभक्ति बोलनी चाहिए। इसके बाद क्रमशः मधुरप्रसन्नवदन, बल और राम शब्द तथा विष्णु शब्द में भी चतुर्थी विभक्ति लगाकर अन्त में 'नमः' शब्द रखने से राममालामन्त्र बनता है। उसके अक्षर सैंतालीस (47) होते हैं, यथा—'ॐ नमो भगवते रघुनन्दनाय रक्षोघ्नविशदाय मधुरप्रसन्नवदनाय अमिततेजसे बलाय श्रीरामाय विष्णवे नमः।' इस मन्त्र के ऋषि ब्रह्मा हैं, छन्द अनुष्टुप् हैं और देवता राघव हैं। और इसके सैंतालीस अक्षरों के द्वारा षडंगन्यास किया जाता है।

ध्यानं दशाक्षरं प्रोक्तं लक्षमेकं जपेन्मनुम्।
श्रियं सीता चतुर्थ्यन्तां स्वाहान्तोऽयं षडक्षरः ॥94॥
जनकोऽस्य ऋषिश्छन्दो गायत्री देवता मनोः।
सीता भगवती प्रोक्ता श्रीं बीजं नतिशक्तिकम् ॥95॥
कीलं सीता चतुर्थ्यन्तमिष्टार्थे विनियोजयेत्।
दीर्घस्वरयुजाऽऽद्येन षडङ्गानि प्रकल्पयेत् ॥96॥
स्वर्णाभामम्बुजकरां रामालोकनतत्पराम्।
ध्यायेत् षट्कोणमध्यस्थरामाङ्कोपरिसंस्थिताम् ॥97॥

उपर्युक्त मन्त्र का ध्यान दशाक्षर मन्त्र के अनुसार होता है। उस मन्त्र का एक लाख बार जप करना चाहिए। अब सीता का अंगमन्त्र कहा जा रहा है—यह मन्त्र श्रीपूर्वक सीता शब्द की चतुर्थी विभक्ति के बाद 'स्वाहा' बोलने से छः अक्षर वाला होता है, यथा—'श्रीसीतायै स्वाहा'। इस मन्त्र के ऋषि जनक हैं, देवता भगवती सीता हैं। नतिशक्तियुक्त बीज श्रीं है। इसका कील सीता है। इस चतुर्थ्यन्त मन्त्र का अभीष्ट अर्थ के लिए विनियोग करना चाहिए। और दीर्घस्वर से युक्त आद्य अक्षर से छः अंगों में अंगन्यास करना चाहिए। और सोने की-सी कान्तिवाली, हाथ में कमल धारण की हुई, राम के निरीक्षण में तल्लीन और षट्कोण के मध्य में प्रस्थापित रामचन्द्र जी के अंक में बैठी हुई सीता जी का ध्यान करना चाहिए।

लकारं तु समुद्धृत्य लक्ष्मणाय नमोऽन्तकः।
अगस्त्य ऋषिरस्याथ गायत्रं छन्द उच्यते ॥98॥
लक्ष्मणो देवता प्रोक्तो लं बीजं शक्तिरस्य हि।
नमस्तु विनियोगो हि पुरुषार्थचतुष्टये ॥99॥
दीर्घभाजा स्वबीजेन षडङ्गानि प्रकल्पयेत्।
द्विभुजं स्वर्णरुचिरतनुं पद्मनिभेक्षणम् ॥100॥
धनुर्बाणधरं वन्दे रामाराधनतत्परम्।
भकारं तु समुद्धृत्य भरताय नमोऽन्तकः ॥101॥

लकार को आगे रखकर अन्त में 'लक्ष्मणाय नमः' कहने से लक्ष्मण का अंगमन्त्र बनता है, यथा—'लं लक्ष्मणाय नमः।' इस मन्त्र के ऋषि अगस्त्य हैं, छन्द गायत्री है, लक्ष्मण इसके देवता कहे गए हैं, **'लं'** इसका बीज कहा गया है और नमः इसकी शक्ति है। चारों पुरुषार्थों के लिए इसका विनियोग है। इस मन्त्र के बीज को दीर्घ करके उसके द्वारा अंगन्यास करना चाहिए। दो हाथ वाले, सोने की-सी कान्तियुक्त देहवाले, और पद्म जैसी आँखों वाले और राम के आराधन में तत्पर लक्ष्मण को मैं नमस्कार करता हूँ। अब भरतमन्त्र में भकार को लेकर 'भरताय नमः' जोड़ने से 'भं भरताय नमः' ऐसा भरतमन्त्र बनता है।

अगस्त्य ऋषिरस्याथ शेषं पूर्ववदाचरेत्।
भरतं श्यामलं शान्तं रामसेवापरायणम् ॥102॥
धनुर्बाणधरं वीरं कैकेयीतनयं भजे।
शं बीजं तु समुद्धृत्य शत्रुघ्नाय नमोऽन्तकः।
ऋष्यादयो यथापूर्वं विनियोगोऽरिनिग्रहे ॥103॥

इस भरतमन्त्र के ऋषि अगस्त्य हैं, शेष सभी पहले की तरह ही है। श्यामवर्ण, शान्त और रामसेवापरायण, धनुर्धर वीर कैकेयीपुत्र को मैं भजता हूँ—यह ध्यान मन्त्र है। अब शत्रुघ्नमन्त्र में पहले 'शं' मन्त्रबीज को लेकर इसके बाद 'शत्रुघ्नाय नमः' जोड़ने से 'शं शत्रुघ्नाय नमः' यह मन्त्र बनता है, इसके ऋषि आदि भी पहले ही की तरह हैं। शत्रु का नाश करने के लिए इसका विनियोग है।

द्विभुजं स्वर्णवर्णाभं रामसेवापरायणम्।
लवणासुरहन्तारं सुमित्रातनयं भजे ॥104॥
हं हनूमांश्चतुर्थ्यन्तं हृदन्तो मन्त्रराजकः।
रामचन्द्र ऋषिः प्रोक्तो योजयेत्पूर्ववत्क्रमात् ॥105॥
द्विभुजं स्वर्णवर्णाभं रामसेवापरायणम्।
मौञ्जीकौपीनसहितं मां ध्यायेद्रामसेवकम् ॥ इति ॥106॥

इति द्वितीयोऽध्यायः।

शत्रुघ्न का ध्यानमन्त्र यह है—'दो भुजाओं वाले, सुवर्ण की-सी कान्तिवाले रामसेवा में तल्लीन, लवणासुर को मारने वाले सुमित्रा के पुत्र को मैं भजता हूँ। अब हनुमान का मन्त्र यह है—पहले 'हं' इस मन्त्रबीज को कहकर बाद में 'हनुमते नमः' (हनुमत् की चतुर्थी और हत् = नमः) बोलने से यह हनुमान का मन्त्रराज बनता है, यथा—'हं हनुमते नमः।' इसका ध्यानमन्त्र यह है—'दो हाथ वाले सुवर्ण की-सी कान्ति वाले, रामसेवा में परायण, मुंज की मेखला और कौपीन धारण किए हुए मुझ रामसेवक का ध्यान करना चाहिए।'

यहाँ दूसरा अध्याय पूरा हुआ।

तृतीयोऽध्यायः

सनकाद्या मुनयो हनूमन्तं पप्रच्छुः—आञ्जनेय महाबल पूर्वोक्तमन्त्राणां पूजापीठमनुब्रूहीति ॥1॥

सनकादि मुनियों ने हनुमान से पूछा—'हे अंजनिपुत्र ! हे महाबलशाली ! आप हमें पहले कहे गए मन्त्रों की पूजापीठ का प्रकार कहिए।''

हनूमान् होवाच—आदौ षट्कोणम्। तन्मध्ये रामबीजं सश्रीकम्। तदधोभागे द्वितीयान्तं साध्यम्। बीजोर्ध्वभागे षष्ठ्यन्तं साधकम्। पार्श्वे दृष्टिबीजे। तत्परितो जीवप्राणशक्तिवश्यबीजानि। तत्सर्वं सम्मुखोन्मुखाभ्यां प्रणवाभ्यां वेष्टनम्। अग्नीशासुरवायव्यपुरःपृष्ठेषु षट्कोणेषु दीर्घभाञ्जि हृदयादिमन्त्राः क्रमेण। रां रीं रूं रैं रौं रः इति दीर्घभाञ्जि तद्युक्तहृदयाद्यस्त्रान्तम्। षट्कोणपार्श्वे रमामायाबीजे। कोणाग्रे वराहं हुमिति। तद्बीजान्तराले कामबीजम्। परितो वाग्भवम्। ततो वृत्तत्रयं साष्टपत्रम्। तेषु दलेषु स्वरान् षड्वर्गान्। प्रतिदलं मालामनुवर्णषट्कम्। अन्ते पञ्चाक्षरम्। तद्दलकपोलेष्वष्टवर्गान्। पुनरष्टदलपद्मम्। तेषु दलेषु

नारायणाष्टाक्षरीमन्त्रः। तद्दलकपोलेषु श्रीबीजम्। ततो वृत्तम्। ततो द्वादशदलम्। तेषु दलेषु वासुदेवद्वादशाक्षरीमन्त्रः। तद्दलकपोलेष्वा-दिक्षान्तान्। ततो वृत्तम्। ततः षोडशदलम्। तेषु दलेषु हुं फट् नतिसहितरामद्वादशाक्षरम्। तद्दलकपोलेषु मायाबीजम्। सर्वत्र प्रति-कपोलं द्विरावृत्त्या हं स्त्रं भ्रं ब्रं भ्रमं, श्रुं, ज्रम्। ततो वृत्तम्। ततो द्वात्रिंशद्दलपद्मम्। तेषु दलेषु नृसिंहमन्त्रराजानुष्टुभमन्त्रः। तद्दलकपोले-ष्वष्टवस्वेकादशरुद्रद्वादशादित्यमन्त्राः प्रणवादिनमोऽन्ताश्चतुर्थ्यन्ताः क्रमेण। तद्बहिर्वषट्कारं परितः। ततो रेखात्रययुक्तं भूपुरम्। द्वादशदिक्षु राश्यादिभूषितम्। अष्टनागैरधिष्ठितम्। चतुर्दिक्षु नारसिंहबीजम्। विदिक्षु वाराहबीजम्। एतत् सर्वात्मकं यन्त्रं सर्वकामप्रदं मोक्षप्रदं च। एकाक्षरादिनवाक्षरान्तानामेतद्यन्त्रं भवति ॥2॥

(पहले एकाक्षर से लेकर नवाक्षर तक पूजायंत्र को बताते हुए) हनुमान ने कहा—सर्वप्रथम सभी यन्त्रों की तरह यहाँ भी षट्कोण आलिखित करना चाहिए। फिर उसके बीच में श्रीसहित रामबीज = **रां** लिखना चाहिए। उसके नीचे के भाग में द्वितीयान्त साध्य = **'सर्वाभीष्टसिद्धिदम्'** ऐसा लिखना चाहिए। और बीज के ऊपर के भाग में साधक का षष्ठी विभक्ति का रूप **'मम'** ऐसा लिखना चाहिए। उसके पार्श्वभाग में कुरुद्वयलेखपूर्वक **'इईं'** ऐसे दृष्टिबीज लिखने चाहिए। और उसके चारों ओर जीव बीज = **हंसः**, प्राणबीज = **'सोऽहम्'**, शक्तिबीज = **ह्रीं**, और वश्य बीज = **क्लीं** लिखने चाहिए। फिर सब के आमने-सामने **ॐ** लिखकर बाँध देना चाहिए। अग्नि, ईश, असुर, वायव्य आदि छः कोणों में दीर्घयुक्त हृदयादि मन्त्र क्रम से, अर्थात् रां नमः से लेकर रः अस्त्राय फट् तक के मन्त्र लिखने चाहिए। रां रीं रूं रैं रौं—ये दीर्घयुक्त हैं। छः कोणों के पार्श्वभाग में रमाबीज = श्रीं और मायाबीज = ह्रीं रखने चाहिए। कोण के अग्रभाग में वराहबीज 'हुं' रखना चाहिए। उस बीज के भीतर के भाग में कामबीज = **क्लीं** रखना चाहिए और उसके चारों ओर वाग्बीज = ऐं रखना चाहिए। बाद में आठ पत्रसहित तीन वर्तुल करने चाहिए। उन पत्रों (दलों) में षड्वर्ग स्वरों को लिखें। प्रत्येक दल में राममालामन्त्र के छः वर्ण लिखकर अन्तिम दल में पञ्चाक्षर लिखना चाहिए। (अर्थात् सात दलों में बयालीस अक्षर लिखकर आठवें अन्तिम दल में पाँच अक्षर लिखें)। उन दलों के कपोल भागों में आठ वर्गों को, फिर आठ दलवाले कमल को, उन दलों में नारायणीय अष्टाक्षर मन्त्र को तथा उन दलों के कपोल भागों में श्रीबीज को लिखें। और फिर एक वर्तुल बनाकर उसमें बारह दल वाला कमल बनायें और उन दलों में वासुदेव का द्वादशाक्षर मन्त्र लिखें। उन दलों के कपोल भागों में दिक्षान्त तक के वर्ण लिखें। फिर एक और वर्तुल बनाकर उसमें षोडशदल पद्म बनाकर उन दलों में 'हुं फट् नमः' के साथ राम का द्वादशाक्षर मन्त्र लिखें। उन दलों के कपोल भागों में मायाबीज = ह्रीं लिखें। और प्रत्येक कपोल में दो बार आवृत्ति करके हं, स्त्रं, भ्रं, ब्रं, भ्रमं, श्रुं, ज्रम् लिखें। और फिर एक और वर्तुल बनाकर उसमें बत्तीस दलवाला कमल बनाकर उन दलों में नृसिंह मन्त्रराज का अनुष्टुप् मन्त्र लिखें। उन दलों के कपोल भागों में एकादश रुद्रों, बारह आदित्यों के मन्त्र प्रणव से शुरू करके नमः अन्तवाले और चतुर्थ्यन्त क्रम से लिखें और बाहर चारों ओर वषट्कार लिखें। बाद में तीन रेखावाला भूपुर आलेखित करना चाहिए। वह भूपुर बारह दिशाओं में मेष आदि राशियों से विभूषित करना चाहिए और आठ नागों से अधिष्ठित करना चाहिए। उसकी चारों दिशाओं में नारसिंह बीज तथा विदिशाओं में वाराह बीज लिखें। यह सर्वात्मक यंत्र, सर्व कामनाओं की पूर्ति करने वाला एवं मोक्षदायक है। यह यन्त्र एकाक्षर मन्त्र से लेकर नवाक्षर तक का है।

तद्दशावरणात्मकं भवति। षट्कोणमध्ये साङ्गं राघवं यजेत्। षट्कोणेष्वङ्गैः प्रथमावृतिः। अष्टदलमूले आत्माद्यावरणम्। तदग्रे वासुदेवाद्यावरणम्। द्वितीयाष्टदलमूले घृष्ट्याद्यावरणम्। तदग्रे हनूमदाद्यावरणम्। द्वादशदलेषु वसिष्ठाद्यावरणम्। षोडशदलेषु नीलाद्यावरणम्। द्वात्रिंशद्दलेषु ध्रुवाद्यावरणम्। भूपुरान्तरिन्द्राद्यावरणम्। तद्बहिर्वज्राद्यावरणम्। एवमभ्यर्च्य मनुं जपेत् ॥3॥

वह यंत्र दस आवरणवाला होता है। षट्कोणों के बीच में राघव की सांग पूजा करनी चाहिए। उन षट्कोणों में हृदय आदि अंगों का प्रथम आवरण है। अष्टदल के मूल में आत्मादि का आवरण है। उसके आगे वासुदेव का आवरण है। दूसरे अष्टदल के मूल में धृष्टि आदि आवरण है। उसके आगे हनुमत् आवरण है। फिर द्वादश दलों में वसिष्ठावरण है, षोडश दलों में नीलादि आवरण है, बत्तीस दलों में ध्रुवादि आवरण है। भूपुर के बीच में इन्द्रियादि आवरण है, और उसके बाहर वज्र आदि आवरण हैं। इस प्रकार आवरणों की पूजा करके मन्त्र का जाप करना चाहिए।

अथ दशाक्षरादिद्वात्रिंशदक्षरान्तानां मन्त्राणां पूजापीठमुच्यते। आदौ षट्कोणम्। तन्मध्ये स्वबीजम्। तन्मध्ये साध्यनामानि। एवं कामबीजवेष्टनम्। तं शिष्टेन नवार्णेन वेष्टनम्। षट्कोणेषु षडङ्गान्यग्नीशासुरवायव्यपूर्वपृष्ठेषु। तत्कपोलेषु श्रीमाये। कोणाग्रे क्रोधम्। ततो वृत्तम्। ततोऽष्टदलम्। तेषु दलेषु षट्संख्यया मालामनुवर्णान्। तद्दलकपोलेषु षोडश स्वराः। ततो वृत्तम्। तत्परित आदिक्षान्तम्। तद्बहिर्भूपुरः साष्टशूलाग्रम्। दिक्षु विदिक्षु नारसिंहवाराहे। एतन्महायन्त्रम्। आधारशक्त्यादिवैष्णवपीठम् ॥4॥

पहले एकाक्षर से नवाक्षर मन्त्रपर्यन्त की पूजापीठ को बतलाकर अब दशाक्षर मन्त्र से लेकर बत्तीस अक्षरों वाले मन्त्र तक की पूजापीठ कही जा रही है। उसमें पहले तो सामान्य नियमानुसार षट्कोण बनाना चाहिए। उसके बीच में स्वबीज – रां (या 'हुं' ?) लिखें और मध्य में तो पहले की ही तरह साध्य – द्वितीयान्त – 'सर्वाभीष्टसिद्धिदम्' आदि अर्थात् साधक का षष्ठ्यन्त 'मम' आदि, यथा—'मम सर्वाभीष्टसिद्धिं कुरु कुरु नमः' लिखकर उसे कामबीज = क्लीं से वेष्टित करें। फिर उसे बाकी के नव वर्णों से वेष्टित करें। यन्त्र के अग्नि, ईश, असुर, वायव्य, पूर्व और पृष्ठ के छः कोणों में छः अंगों को, तथा उनके कपोल भागों में श्रीं तथा ह्रीं को (श्री और माया को), तथा कोणों के अग्र भाग में क्रोध = 'हुं' को लिखें। तदनन्तर एक और वर्तुल बनाएँ, उसमें अष्टदल पद्म बनाकर उन दलों में छः की संख्या वाला राममाला मन्त्र लिखें। उन दलों के कपोल भागों में सोलह स्वर लिखें। तदनन्तर एक और वर्तुल बनाकर उसके चारों ओर दीक्षान्तपर्यन्त मन्त्र लिखें। उसके बाहर आठ शूलाग्र सहित भूपुर बनाकर इसकी चार दिशाओं में नारसिंह बीज = 'क्ष्र्यों' और चार विदिशाओं (कोनों) में—वराह बीज = 'हुम्' लिखें। यह महामन्त्र है। आधारशक्ति आदि वैष्णवपीठ है।

अङ्गैः प्रथमावृत्तिः। मध्ये रामम्। वामभागे सीताम्। तत्पुरतः शार्ङ्गं शरं च। अष्टदलमूले हनूमदादि द्वितीयावरणम्। धृष्ट्यादि तृतीयावरणम्। इन्द्रादिभिश्चतुर्थी। वज्रादिभिः पञ्चमी। एतद्यन्त्राराधनपूर्वकं दशाक्षरादिमनून् जपेत् ॥5॥

इति तृतीयोऽध्यायः।

हृदय आदि अंगों से प्रथम आवरण होता है। बीच में राम को, वामभाग में सीता को, उनके आगे (सामने) शार्ङ्ग धनुष और बाण को यन्त्राराधनपूर्वक जपना चाहिए। अष्टादश पद्म के मूल में हनुमान आदि आवरण हैं। और धृष्ट्यादि तीसरा आवरण है। इन्द्रादियों के द्वारा चौथा आवरण होता है और वज्रादि से पाँचवीं आवृत्ति (आवरण) होती है। इस प्रकार से यन्त्र के आराधनपूर्वक शेष दशाक्षरादि सभी मन्त्रों का जप करना चाहिए।

यहाँ तीसरा अध्याय पूरा होता है।

❋

चतुर्थोऽध्याय:

सनकाद्या मुनयो हनूमन्तं पप्रच्छुः—श्रीराममन्त्राणां पुरश्चरणविधिमनुब्रूहीति।

हनूमान् होवाच—

नित्यं त्रिषवणस्नायी पयोमूलफलादिभुक्।
अथवा पायसाहारो हविष्यान्नाद एव वा ॥1॥
षड्रसैश्च परित्यक्तः स्वाश्रमोक्तविधिं चरन्।
वनिताऽऽदिषु वाक्कर्ममनोभिर्निःस्पृहः शुचिः ॥2॥
भूमिशायी ब्रह्मचारी निष्कामो गुरुभक्तिमान्।
स्नानपूजाजपध्यानहोमतर्पणतत्परः ॥3॥
गुरूपदिष्टमार्गेण ध्यायन् राममनन्यधीः।
सूर्येन्दुगुरुदीपादिगोब्राह्मणसमीपतः ॥4॥

सनकादि मुनियों ने हनुमान से पूछा—'श्रीराम के मन्त्रों की पुरश्चरणविधि कहिए।' तब हनुमान बोले कि जो मनुष्य तीनों सवनों (सन्ध्याओं) में स्नान करने वाला हो, जो दूध, कन्दमूल और फल ही खाता हो, अथवा केवल दूध या हविष्यान्न ही खाता हो, जिसने मधुरादि छः रसों से मुँह मोड़ लिया हो, जो अपने आश्रमधर्मों का यथावत् पालन करता हो, जो मन-कर्म-वचन से स्त्रियों आदि में स्पृहारहित हो, जो पवित्र हो, जो धरती पर ही सोता हो, जो गुरु पर भक्तिभावना रखता हो, जो ब्रह्मचारी और निष्काम हो, जो स्नान, पूजा, जप, ध्यान, होम और तर्पण में दत्तचित्त हो, गुरु-सूर्य-चन्द्र-दीप की साक्षी में और गाय के समीप गुरु के उपदेश के अनुसार जो तीव्र बुद्धिवाला साधक हो, वह राम के मन्त्र का ध्यान करते हुए—

श्रीरामसन्निधौ मौनी मन्त्रार्थमनुचिन्तयन्।
व्याघ्रचर्मासने स्थित्वा स्वस्तिकाद्यासनक्रमात् ॥5॥
तुलसीपारिजातश्रीवृक्षमूलादिकस्थले।
पद्माक्षतुलसीकाष्ठरुद्राक्षकृतमालया ॥6॥
मातृकामालया मन्त्री मनसैव मनुं जपन्।
अभ्यर्च्य वैष्णवे पीठे जपेदक्षरलक्षकम् ॥7॥

श्रीराम के समक्ष मौन रहकर, मन्त्र का मनन करके, व्याघ्रचर्म के ऊपर स्वस्तिकादि आसन पर ढंग से बैठकर तुलसी, पारिजात, श्रीवृक्ष आदि के मूल के स्थान में पद्माक्ष, तुलसी के काष्ठ या रुद्राक्ष

से बनी माला के द्वारा अथवा मातृकामाला द्वारा मन ही मन इस मन्त्र का जाप करते हुए वैष्णवी पीठ पर उनकी (राम की) पूजा करके एक लाख मन्त्र का जाप करना चाहिए।

तर्पयेत् तद्दशांशेन पयसा तद्दशांशतः।
जुहुयाद् गोघृतेनैव भोजयेत्तद्दशांशतः ॥8॥
ततः पुष्पाञ्जलिं मूलमन्त्रेण विधिवच्चरेत्।
ततः सिद्धमनुर्भूत्वा जीवन्मुक्तो भवेन्मुनिः ॥9॥

फिर जपे हुए मन्त्रों के दशांश का तर्पण दूध से करना चाहिए और उसके दशांश का घी से होम करना चाहिए और उसके भी दशांश की संख्या में भोजन करवाना चाहिए। इसके बाद मूलमन्त्र से विधिवत् पुष्पाञ्जलि देनी चाहिए। ऐसा करने से वह मुनि मन्त्रसिद्ध हो जाएगा और यही जीते-जी मुक्त हो जाता है।

अणिमादिर्भजत्येनं यूनं वरवधूरिव।
ऐहिकेषु च कार्येषु महापत्सु च सर्वदा ॥10॥
नैव योज्यो राममन्त्रः केवलं मोक्षसाधकः।
ऐहिके समनुप्राप्ते मां स्मरेद्रामसेवकम् ॥11॥
यो रामं संस्मरेन्नित्यं भक्त्या मनुपरायणः।
तस्याहमिष्टसंसिद्ध्यै दीक्षितोऽस्मि मुनीश्वराः ॥12॥
वाञ्छितार्थं प्रदास्यामि भक्तानां राघवस्य तु।
सर्वथा जागरूकोऽस्मि रामकार्यधुरन्धरः ॥13॥

इति चतुर्थोऽध्यायः।

जिस प्रकार युवान वर को उसकी पत्नी चाहती और सेवादि करती है, उसी प्रकार इस मन्त्रसिद्ध पुरुष की अणिमादि सिद्धियाँ सदा सेवा करती हैं। लेकिन इस राममन्त्र का विनियोग कभी भी ऐहिक कार्यों के लिए या आपत्तियों को हटाने के लिए नहीं करना चाहिए, क्योंकि यह मन्त्र तो केवल मोक्ष को ही देने वाला है। ऐहिक कार्यसिद्धि के लिए तो मेरा (रामसेवक का) ही स्मरण करना चाहिए। जो मनुष्य इस मन्त्र में परिनिष्ठित होकर श्रीराम का नित्य स्मरण करेगा उसकी अभीष्ट सिद्धि के लिए हे मुनिश्वरो! मैं दीक्षित (वचनबद्ध) हुआ हूँ। मै राघव (रामजी) के भक्तों को इच्छित पदार्थ प्रदान करूँगा। राम के कार्यों की जिम्मेदारी लिए हुए मैं अनवरत जाग्रत् ही हूँ।

यहाँ चौथा अध्याय पूरा होता है।

❋

पञ्चमोऽध्यायः

सनकाद्या मुनयो हनूमन्तं पप्रच्छुः—श्रीराममन्त्रार्थमनुब्रूहीति।
हनूमान् होवाच—
सर्वेषु राममन्त्रेषु मन्त्रराजः षडक्षरः।
एकधा द्विविधा त्रेधा चतुर्धा पञ्चधा तथा ॥1॥

षट्सप्तधाऽष्टधा चैव बहुधाऽयं व्यवस्थितः ।
षडक्षरस्य माहात्म्यं शिवो जानाति तत्त्वतः ॥2॥

सनकादि मुनियों ने हनुमान से पूछा—'श्रीराममन्त्र का अर्थ हमें बताइए।' तब हनुमान बोले—सभी राममन्त्रों में मन्त्रराज तो राम षड्क्षर मन्त्र ही है। वही मन्त्र सार आदि बीजों से युक्त होकर एक, दो, तीन, चार, पाँच, छः और सात आदि अनेक प्रकार का होता है। उस षडक्षर राममन्त्र का सही माहात्म्य तात्त्विक रूप से एक शिव ही जानते हैं।

श्रीराममन्त्रराजस्य सम्यगर्थोऽयमुच्यते ।
नारायणाष्टाक्षरे च शिवपञ्चाक्षरे तथा ॥3॥
सार्थकार्णद्वयं रामो रमन्ते यत्र योगिनः ।
रकारो वह्निवचनः प्रकाशः पर्यवस्यति ॥4॥

अब श्रीराम के षडक्षर मन्त्रराज का अच्छी तरह से (स्पष्ट रूप से) अर्थ कहा जाता है—नारायण के अष्टाक्षरमन्त्र में और शिव के पंचाक्षर मन्त्र में 'राम' नाम के ये दो वर्ण सार्थक होते हैं। इस षडक्षर राममन्त्रराज में देवता लोग रमण करते हैं। राम शब्द का 'र' कार व्यंजन वह्नि का वाचक है और उससे प्रकाश का ही अर्थ पर्यवसित (निश्चित) होता है।

सच्चिदानन्दरूपोऽस्य परमात्मार्थ उच्यते ।
व्यञ्जनं निष्कलं ब्रह्म प्राणो मायेति च स्वरः ॥5॥
व्यञ्जनैः स्वरसंयोगं विद्धि तत्प्राणयोजनम् ।
रेफे ज्योतिर्मये तस्मात् कृतमाकारयोजनम् ॥6॥
मकारोऽभ्युदयार्थत्वात् स मायेति च कीर्त्यते ।
सोऽयं बीजं स्वकं यस्मात्समायं ब्रह्म चोच्यते ॥7॥
सबिन्दुः सोऽपि पुरुषः शिवसूर्येन्दुरूपवान् ।
ज्योतिस्तस्य शिखारूपं नादः सप्रकृतिर्मतः ॥8॥

इस प्रकाशरूप व्यंजन का अर्थ सच्चिदानन्दरूप परमात्मा ही होता है। 'र' का व्यंजन भाग तो निष्कल ब्रह्मरूप ही है, और उसमें स्थित स्वरांश 'अ' का अर्थ प्राण होता है। इसी तरह व्यंजनों से स्वरों का संयोग होता है, ऐसा जानो। (अर्थात् चैतन्य से प्राण का संयोग होता है, ऐसा जानना चाहिए)। इसीलिए ज्योतिर्मय **रेफ** (रकार) में **आ**कार का योजन किया गया है। इसी तरह जो 'राम' होता है, उस पर 'म् = बिन्दु' लगाकर **'रां'** कर दिया जाता है क्योंकि बिन्दु का अर्थ 'अभ्युदय' होता है और वही माया कहलाता है। यही रां षडक्षरमन्त्र का बीज है और पूर्वोक्त रीति से इसका अर्थ माया-सहित ब्रह्म किया जा सकता है। जो बिन्दु (मन) के साथ रहता है वह 'सबिन्दु' जीव भी तो शिव और सूर्यचन्द्र जैसे रूपवाला है। (क्योंकि समष्टि बिन्दु के अधिकरण शिव-सूर्य-चन्द्र हैं)।

प्रकृतिः पुरुषश्चोभौ समायाद् ब्रह्मणः स्मृतौ ।
बिन्दुनादात्मकं बीजं वह्निसोमकलात्मकम् ॥9॥
अग्नीषोमात्मकं रूपं रामबीजे प्रतिष्ठितम् ।
यथैव वटबीजस्थः प्राकृतश्च महान् द्रुमः ॥10॥
तथैव रामबीजस्थं जगदेतच्चराचरम् ।
बीजोक्तमुभयार्थत्वं रामनामनि दृश्यते ॥11॥

बीजं मायाविनिर्मुक्तं परं ब्रह्मेति कीर्त्यते ।
मुक्तिदं साधकानां च मकारो मुक्तिदो मतः ॥12॥

ये जो प्रकृति और पुरुष दो तत्त्व कहलाते हैं, वे मायासहित एक ब्रह्म में ही कल्पित किए गए हैं। जो बिन्दुनादात्मक बीज है, अग्नि और सोम की कला से युक्त (तद्रूप) है। राम के बीज में वह अग्नि और सोम का रूप उसी प्रकार निहित है जिस प्रकार वटवृक्ष के बीज में प्राकृत रूप में बड़ा वटवृक्ष निहित होता है। इसी प्रकार यह स्थावर-जंगम जगत् भी इस रामबीज में समाया हुआ है। इस बीज से कहा गया उभयार्थत्व अर्थात् उपाधियोग से सविशेषत्व और वस्तुतः निर्विशेषत्व—ये दोनों अर्थ 'राम' नाम में दिखाई देते हैं। यह बीज माया से विनिर्मुक्त होने पर तो **परब्रह्म** ही शेष रहता है। वही परब्रह्म साधकों को मुक्ति देने वाला है। अब राम शब्द का दूसरा अक्षर जो 'म' है वह मुक्ति देने वाला है।

मारूपत्वादतो रामो भुक्तिमुक्तिफलप्रदः ।
आद्यो रा तत्पदार्थः स्यान्मकारस्त्वंपदार्थवान् ॥13॥
तयोः संयोजनमसीत्यर्थे तत्त्वविदो विदुः ।
नमस्त्वमर्थो विज्ञेयो रामस्तत्पदमुच्यते ॥14॥
असीत्यर्थे चतुर्थी स्यादेवं मन्त्रेषु योजयेत् ।
तत्त्वमस्यादिवाक्यं तु केवलं मुक्तिदं यतः ॥15॥

इस तरह राम शब्द में 'मा' रूप (म और आ दोनों होने से) कामी-अकामी दोनों के लिए वह मुक्ति और भुक्ति दोनों देने वाला है। राम शब्द का पहला अक्षर जो 'रा' है, वह तत्पदार्थ का वाचक है, और जो 'म' है, वह त्वं पदार्थ का वाचक है। और उन दोनों का संयोजन 'असि' शब्द से होता है—इस प्रकार यह 'तत्त्वमसि' महावाक्य बनता है, ऐसा तत्त्वज्ञानी लोग कहते हैं। 'रां रामाय नमः' इस षडक्षर मन्त्र में भी 'नमः' शब्द को त्वं पदवाची जानना चाहिए, राम को **'तत्पद'** मानना चाहिए और राम शब्द की चतुर्थी विभक्ति को 'असि' का वाचक मानकर इसके साथ जोड़ देना चाहिए। क्योंकि 'तत्त्वमसि' यह महावाक्य ही केवल मुक्ति देने वाला है।

भुक्तिमुक्तिप्रदं चैतत्तस्मादप्यतिरिच्यते ।
मनुष्वेतेषु सर्वेषामधिकारोऽस्ति देहिनाम् ॥16॥
मुमुक्षूणां विरक्तानां तथा चाश्रमवासिनाम् ।
प्रणवत्वात् सदा ध्येयो यतीनां च विशेषतः ॥
राममन्त्रार्थविज्ञानी जीवन्मुक्तो न संशयः ॥17॥

यह षडक्षर राममन्त्र मुक्ति और भुक्ति दोनों को देने वाला है। इसलिए वह सभी मन्त्रों से श्रेष्ठ माना जाता है। इन राममन्त्रों में सभी देहधारियों का, मुमुक्षुओं का, विरक्तों का और सभी आश्रमों में रहने वालों का अधिकार है। फिर भी यतियों के लिए विशेष करके प्रणवरूप से ही इसका ग्रहण करना चाहिए। इस तरह से राममन्त्र के अर्थ को जानने वाला जीवन्मुक्त हो जाता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

य इमामुपनिषदमधीते सोऽग्निपूतो भवति। स वायुपूतो भवति। सुरापानात् पूतो भवति। स्वर्णस्तेयात् पूतो भवति। ब्रह्महत्यायाः पूतो भवति। स राममन्त्राणां कृतपुरश्चरणो रामचन्द्रो भवति ॥18॥

जो मनुष्य इस उपनिषद् को पढ़ता है, वह अग्नि जैसा पवित्र हो जाता है। वह वायु जैसा निर्मल हो जाता है। वह मद्यपान की मलिनता से छूटकर पवित्र हो जाता है। वह सुवर्ण-चोरी के पाप से मुक्त होकर पवित्र हो जाता है। वह ब्रह्महत्या के पाप से मुक्त होकर पवित्र हो जाता है। राममन्त्रों का पुरश्चरण करने वाला वह स्वयं रामचन्द्र ही हो जाता है।

तदेतदृचाऽभ्युक्तम्—
सदा रामोऽहमस्मीति तत्त्वतः प्रवदन्ति ये।
न ते संसारिणो नूनं राम इव न संशयः॥
ॐ सत्यमित्युपनिषत्॥19॥

इति रामरहस्योपनिषत्समाप्ता।

यही बात एक ऋचा में भी कही गई है—जो लोग तात्त्विक रूप से 'मैं सदा राम ही हूँ'—ऐसा कहते हैं, वे संसारी नहीं हैं। वे राम ही हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है। ॐ सत्यम्—श्रीराम सदा सत्य तारकमन्त्र हैं। इस तरह यह उपनिषत् पूरी हुई।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः..........देवहितं यदायुः। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

(56) रामपूर्वतापिन्युपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

यह अथर्ववेदीय परंपरा की उपनिषद् है। इसके पूर्वतापनी और उत्तरतापिनी—नामक दो भेद हैं। कुछ विद्वानों ने इन्हें एक ही उपनिषद् माना है और कुछ ने दो अलग-अलग उपनिषदें कहा हैं। हमने उन दोनों को अलग-अलग मानकर ही यहाँ उनका निवेश किया है। इस पूर्वतापनी को पाँच खण्डों में बाँटा गया है जिन्हें 'उपनिषत्' क्रम से रखा गया है। इसमें कहा गया है कि जिस अनन्त, नित्यरूप और आनन्दमय चिदात्मा में योगी लोग रमण करते हैं उस परब्रह्म को ही 'राम' कहा जाता है। चिन्मय, अतुलनीय, अखण्ड और देहरहित ऐसे ब्रह्म के रूप की कल्पना तो केवल उपासकों के लिए ही की जाती है। और केवल उपासना के ही लिए उसमें स्त्री-पुरुष की, हाथ-पैर आदि अवयवों की, अलंकार-वाहन-सैन्य की कल्पना की जाती है। राममंत्र ब्रह्मा से लेकर समग्र जगत् का वाचक है। मंत्र का अर्थ है—मन् = मनन करना और त्र = त्राण अर्थात् रक्षण करना, अर्थात् जो मनन करने से रक्षण करता है, वह मंत्र है। मन्त्र-सिद्धि के लिए यंत्र आवश्यक है। जिस तरह एक वटबीज में विशाल वटवृक्ष निहित रहता है, उसी तरह राममंत्र में सारा चराचर जगत् निहित है।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः.......देवहितं यदायुः । (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्ति ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (अथर्वशिर उपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

प्रथमोपनिषत्

चिन्मयेऽस्मिन्महाविष्णौ जाते दशरथे हरौ ।
रघोः कुलेऽखिलं राति राजते यो महीस्थितः ॥1॥
स राम इति लोकेषु विद्वद्भिः प्रकटीकृतः ।
राक्षसा येन मरणं यान्ति स्वोद्रेकतोऽथवा ॥2॥

चिदानन्दस्वरूप महाविष्णु हरि ने दशरथ के यहाँ रघुकुल में जन्म लिया और धरती पर अवतरित वह परमात्मा सबको आनन्द देने लगे। विद्वानों ने उनको 'राम' ऐसा नाम देकर प्रसिद्ध किया, जिनके द्वारा राक्षस मरण-शरण हो जाते हैं। अथवा यह कहें कि वे अपने ही प्रभाव के कारण इस धरती पर राम नाम से प्रसिद्ध हुए।

रामनाम भुवि ख्यातमभिरामेण वा पुनः ।
राक्षसान्मर्त्यरूपेण राहुर्मनसिजं यथा ॥3॥
प्रभाहीनांस्तथा कृत्वा राज्यार्हाणां महीभृताम् ।
धर्ममार्गं चरित्रेण ज्ञानमार्गं च नामतः ॥4॥

तथा ध्यानेन वैराग्यमैश्वर्यं स्वस्य पूजनात् ।
तथा रात्यस्य रामाख्या भुवि स्यादथ तत्त्वतः ॥5॥
रमन्ते योगिनोऽनन्ते नित्यानन्दे चिदात्मनि ।
इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते ॥6॥

अथवा कुछ लोगों ने उन्हें इस पृथ्वी पर अभिरंजन करते हुए जानकर 'राम' ऐसा नाम दिया है। जैसे राहु मनसिज को (चन्द्रमा को) तेजोहीन बना देता है, वैसे ही उन्होंने मानवरूप में राक्षसों को तेजोहीन बना दिया है, इसलिए भी कुछ लोग इन्हें 'राम' शब्द से पुकारते हैं। कुछ लोगों के अभिप्राय से राज्य करने योग्य राजाओं को तेजोहीन बनाकर अपने आदर्श चरित्र से धर्म का, और अपने नाम से ज्ञान का मार्ग बताने से वे राम नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। जो ध्यान से वैराग्य प्रदान करते हैं और अपने पूजन से ऐश्वर्य को प्रदान करते हैं, इसीलिए इस धरती पर उनको राम नाम की ख्याति मिली होगी। परन्तु वास्तव में बात यह है कि इस अनन्त, नित्यानन्द, चिदात्मा में योगी लोग रमण करते हैं, सदा तल्लीन रहते हैं इसीलिए उन्हें 'राम' नाम से परब्रह्म ही कहा जाता है।

चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिणः ।
उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना ॥7॥

यद्यपि चित्स्वरूप परमात्मा अद्वितीय है, निष्कल (भेदरहित) है, अशरीरी है, फिर भी उपासकों के कार्य के लिए ऐसे ब्रह्म की भी रूपादि कल्पना की जाती है।

रूपस्थानां देवतानां पुंस्त्र्यङ्गास्त्रादिकल्पना ।
द्विचत्वारिषडष्टानां दश द्वादश षोडश ॥8॥
अष्टादशामी कथिता हस्ताः शङ्खादिभिर्युताः ।
सहस्रान्तास्तथा तासां वर्णवाहनकल्पना ॥9॥
शक्तिसेनाकल्पना च ब्रह्मण्येवं हि पञ्चधा ।
कल्पितस्य शरीरस्य तस्य सेनादिकल्पना ॥10॥

पूर्वोक्त स्वरूप वाले ब्रह्म में रूपवाले देवों की, पुरुष की, स्त्री की, हस्तपादादि अंगों की, बाणादि हथियारों की कल्पना की जाती है। परमात्मा के तरह-तरह के आकार वाले रूपों में दो, चार, छः, आठ, दस, बारह और सोलह हाथों की कल्पना की जाती है। अठारह हाथों की भी कल्पना की गई हैं। ये सभी हाथ शंख आदि से युक्त कहे गये हैं। परब्रह्म के विराट् रूप धारण करने पर तो वे हाथ हजारों की संख्या में हो जाते हैं। परमात्मा के इन सभी विग्रहों में (रूपों में) विविध वाहन, विविध वर्ण कल्पित किए गए हैं। तरह-तरह की सेनाओं और शक्तियों की भी कल्पना की जाती है। परब्रह्म में पाँच प्रकार के देवों की अर्थात् विष्णु, शिव, दुर्गा, सूर्य और गणेश की कल्पना के साथ उनकी अलग सेनादि की भी कल्पना की गई है।

ब्रह्मादीनां वाचकोऽयं मन्त्रोऽन्वर्थादिसंज्ञकः ।
जप्तव्यो मन्त्रिणा नैवं विना देवः प्रसीदति ॥11॥
क्रियाकर्मेज्याकर्तॄणामर्थं मन्त्रो वदत्यथ ।
मननात्त्राणनान्मन्त्रः सर्ववाच्यस्य वाचकः ॥12॥

ब्रह्मा से लेकर चराचर का वाचक यह राममन्त्र अन्वर्थक (सार्थक) ही है। इसलिए मन्त्री को

(मन्त्र में दीक्षित होकर) इसका जाप करना चाहिए। इसके बिना तो देव प्रसन्न नहीं होते। मन्त्र का विधिपूर्वक अनुष्ठान और हवनादि करने वाले साधक को मन्त्र अभीष्ट की सिद्धि प्रदान करता है। मनन करने से त्राण (रक्षण) करता है, इसलिए वह 'मन्त्र' नाम से कहा जाता है।

सोऽभयस्यास्य देवस्य विग्रहो यन्त्रकल्पना।
विना यन्त्रेण चेत्पूजा देवता न प्रसीदति ॥13॥

इति प्रथमोपनिषत्।

यह मन्त्र अभयदाता रामरूप परब्रह्म देव के विग्रह (यंत्र) का मन्त्र है। परन्तु यंत्र (विग्रह) के बिना केवल मन्त्र की ही उपासना की जाए तो देव प्रसन्न नहीं होते।

यहाँ प्रथमोपनिषत् पूरी हुई।

❋

द्वितीयोपनिषत्

स्वर्भूर्ज्योतिर्मयोऽनन्तरूपी स्वेनैव भासते।
जीवत्वेन समो यस्य सृष्टिस्थितिलयस्य च ॥1॥
कारणत्वेन चिच्छक्त्या रजःसत्त्वतमोगुणैः।
यथैव वटबीजस्थः प्राकृतश्च महान् द्रुमः ॥2॥
तथैव रामबीजस्थं जगदेतच्चराचरम्।
रेफारूढा मूर्तयः स्युः शक्तयस्तिस्र एव चेति ॥3॥

इति द्वितीयोपनिषत्।

परमात्मा स्वयंभू हैं अर्थात् अपने आप उत्पन्न होते हैं। वे स्वयं प्रकाशरूप हैं। वे अनन्त रूपवाले हैं और अपने आप प्रकाशित होते रहते हैं। अपनी व्यापक चैतन्य शक्ति से वे सभी में समान जीवरूप से स्थित हैं। और अपनी चित् शक्ति से इस जगत् के सर्जन, स्थिति और प्रलय में सत्त्व, रजस् और तमोगुण द्वारा निमित्त बनते हैं। जिस प्रकार वट के छोटे से बीज में विशाल वटवृक्ष विद्यमान रहता है, वैसे ही इस रामबीज में सचराचर संपूर्ण विश्व विद्यमान ही रहता है। ब्रह्मा, विष्णु और महेश की तीनों शक्तियाँ इस रकार (रेफ) के ऊपर (राम शब्द के रकार पर) अवस्थित हैं। सर्जन-पालन-संहार की तीनों शक्तियाँ 'र'कार में निहित हैं।

यहाँ द्वितीयोपनिषत् पूरी हुई।

❋

तृतीयोपनिषत्

सीतारामौ तन्मयावत्र पूज्यौ जातान्याभ्यां भुवनानि द्विसप्त।
स्थितानि च प्रहितान्येव तेषु ततो रामो मानवो माययाऽधात् ॥1॥

जगत्प्राणायात्मनेऽस्मै नमः स्यान्नमस्त्वैक्यं प्रवदेत्प्राग्गुणेनेति ॥2॥

इति तृतीयोपनिषत्।

इस 'राम' शब्द में पूजनीय राम और सीता—दोनों विद्यमान हैं। इन दोनों से ही ये चौदह भुवन उत्पन्न हुए हैं, इन दोनों के आधार पर ही वे सब अवस्थित रहे हैं और इन दोनों में ही वे सब विलीन होते हैं। इसलिए परब्रह्म ने ही (राम ने ही) माया-शक्ति से मानवदेह धारण किया है। जगत् के प्राणात्मा ऐसे विश्वात्मा राम को नमस्कार है। नमस्कार के बाद भी उनके साथ ऐक्यभाव को अर्थात् गुणों से परे होने वाले ऐक्यभाव को व्यक्त करना चाहिए (अर्थात् 'मैं ही राम हूँ)' ऐसा दृढतापूर्वक आवाहन करे)।

यहाँ तृतीय उपनिषत् पूरी हुई।

चतुर्थोपनिषत्

जीववाची नमो नाम चात्मा रामेति गीयते।
तदात्मिका या चतुर्थी तथा चायेति गीयते ॥1॥
मन्त्रोऽयं वाचको रामो वाच्यः स्याद्योग एतयोः।
फलदश्चैव सर्वेषां साधकानां च संशयः ॥2॥
यथा नामी वाचकेन नाम्नो योऽभिमुखो भवेत्।
तथा बीजात्मको मन्त्रो मन्त्रिणोऽभिमुखो भवेत् ॥3॥

'रामाय नमः' इस मन्त्र में जो 'नमः' शब्द है, वह जीववाची है, और 'राम' शब्द आत्मावाची है। उसमें जो 'आय' चतुर्थवाची है, वह दोनों को (जीव-आत्मा को) जोड़ने वाला है। दोनों एक हो जाते हैं। यह पूरा मन्त्र वाचक है और राम इसके वाच्य हैं। इन दोनों का योग (वाच्य-वाचक का योग – एकता) ही सभी साधकों को फलदायक होती है, इसमें कोई संशय नहीं है। जैसे नाम के वाचक से नामी उपस्थित होता है, इसी तरह मन्त्रजप करने वाले के सामने मन्त्र उपस्थित हो जाता है।

बीजशक्तिं न्यसेद्दक्षवामयोः स्तनयोरपि।
कीलो मध्ये विना भाव्यः स्ववाञ्छाविनियोगवान् ॥4॥
सर्वेषामेव मन्त्राणामेष साधारणः क्रमः।
अत्र रामोऽनन्तरूपस्तेजसा वह्निना समः ॥5॥
स त्वनुष्णगुविश्वश्चेदग्नीषोमात्मकं जगत्।
उत्पन्नः सीतया भाति चन्द्रश्चन्द्रिकया यथा ॥6॥

इस मन्त्र के बीज 'रां' और इसकी शक्ति 'मां' का क्रमशः दक्षिण और वाम स्तन पर न्यास करना चाहिए। और इस मन्त्र के कीलक 'यं' का हृदय पर न्यास करना चाहिए। अपनी मनोवांछित कामनाओं की पूर्ति के लिए इसका विनियोग करने वाले के लिए यह आवश्यक है। सभी मन्त्रों का यह एक सामान्य क्रम है। यहाँ, इस मन्त्र के ध्यान में श्रीराम अनन्तरूप वाले और तेज में अग्नि के समान हैं। वह राम जब अनुष्णगु (सौम्यप्रभा) के साथ विश्वरूप में (विराट् रूप में) संयुक्त होते हैं, तब

यह अग्नि-सोमात्मक (स्त्रीपुरुषात्मक) जगत् उत्पन्न होता है। ये रामजी, जैसे चन्द्र के साथ चन्द्रिका शोभित होती है, वैसे ही शोभित होते हैं।

प्रकृत्या सहितः श्यामः पीतवासा जटाधरः।
द्विभुजः कुण्डली रत्नमाली धीरो धनुर्धरः ॥7॥
प्रसन्नवदनो जेता धृष्ट्यष्टकविभूषितः।
प्रकृत्या परमेश्वर्या जगद्योन्याङ्किताङ्कभृत् ॥8॥

अपनी प्रकृति – सीताजी के साथ वे श्यामवर्ण, पीताम्बरधारी, जटाधारी, दो हाथ वाले, कुण्डल पहने हुए, रत्नमालाओं को धारण किए हुए धीर धनुष्यधारी भगवान् रामजी बड़े ही प्रसन्नवदन हैं, अणिमादि आठ सिद्धियों से युक्त हैं, विजयी हैं। वे अपनी परमेश्वरी प्रकृतिरूप जगदम्बा सीता के द्वारा शोभायमान अंकवाले हैं। ('धृष्टि आदि मंत्रियों से घिरे हुए'—ऐसा भी अर्थ लिया जा सकता है)।

हेमाभया द्विभुजया सर्वालङ्कृतया चिता।
श्लिष्टः कमलधारिण्या पुष्टः कोसलजात्मजः ॥9॥
दक्षिणे लक्ष्मणेनाथ सधनुष्पाणिना पुनः।
हेमाभेनानुजेनैव तथा कोणत्रयं भवेत् ॥10॥

सुवर्ण की-सी कान्तिवाली, दो हाथवाली, सर्वालंकारों से विभूषित, कमलधारिणी चितिशक्ति से और दक्षिण भाग में हाथ में धनुष-बाण लिए हुए और सुवर्ण जैसी कान्तिवाले छोटे भाई लक्ष्मण से संश्लिष्ट हांकर वे कौसल्यानन्दन श्रीराम एक त्रिकोण की-सी आकृति में शोभित होते हैं। (एक त्रिकोण की आकृति इस तरह बन जाती है)।

तथैव तस्य मन्त्रस्य यस्याणुश्च स्वङेन्तया।
एवं त्रिकोणरूपं स्यात्तं देवा ये समाययुः ॥11॥
स्तुतिं चक्रुश्च जगतः पतिं कल्पतरौ स्थितम्।
कामरूपाय रामाय नमो मायामयाय च ॥12॥
नमो वेदादिरूपाय ओङ्काराय नमो नमः।
रमाधराय रामाय श्रीरामायात्ममूर्तये ॥13॥
जानकीदेहभूषाय रक्षोघ्नाय शुभाङ्गिने।
भद्राय रघुवीराय दशास्यान्तकरूपिणे ॥14॥

जिस तरह राम-लक्ष्मण-सीता त्रिकोण की तरह स्थित हैं, उसी तरह इस मन्त्र में होते हैं। जैसे राम की अपेक्षा लक्ष्मण (छोटा होने से) अणुत्व है और जैसा राममन्त्र है, वही लक्ष्मणमन्त्र है। इसी प्रकार सीतामंत्र भी तो राममन्त्र ही है। इन तीनों का चतुर्थी विभक्ति में, रूप, मन्त्र और स्वाकार बीज जैसा ही होता है। इस प्रकार त्रिकोणाकृति बनाए हुए राम जी के पास एकबार देव लोग आए और कल्पतरु के नीचे बैठे हुए उन जगतपति की इस प्रकार स्तुति करने लगे—'यथेच्छ रूप धारण करने वाले मायायुक्त रामचन्द्र जी को नमस्कार है। वेदादिस्वरूप, प्रणवरूप को नमस्कार ही नमस्कार है। रमाधर-सीतापति आत्मरूप भगवान् श्रीराम को नमस्कार है। जानकी के देहरूपी आभूषणवाले, राक्षसों को मारने वाले, शोभायमान अंगों वाले, कल्याणकारी, दस मस्तक वाले रावण के कालस्वरूप भगवान् रघुवीर को नमस्कार है।'

रामभद्र महेष्वास रघुवीर नृपोत्तम ।
भो दशास्यान्तकास्माकं रक्षां देहि श्रियं च ते ॥15॥
त्वमैश्वर्यं दापयाथ सम्प्रत्याश्वरिमारणम् ।
कुर्विति स्तुत्य देवाद्यास्तेन सार्धं सुखं स्थिताः ॥16॥

हे रामभद्र ! हे महाधनुर्धर ! हे रघुवीर ! हे नरोत्तम ! हे रावणसंहारक ! आप हमारी रक्षा करें और अपने से जुड़ी सम्पदा हमें दें। आप हमें सम्पत्ति दिलाएँ। परन्तु अब तो पहले शीघ्र ही हमारे शत्रुओं का विनाश करें। इस प्रकार स्तुति करके देव आदि उनके साथ सुखपूर्वक रहे।

स्तुवन्त्येवं हि ऋषयस्तदा रावण आसुरः ।
रामपत्नीं वनस्थां यः स्वनिवृत्त्यर्थमाददे ॥17॥
स रावण इति ख्यातो यद्वा रावाच्च रावणः ।
तद्व्याजेनेक्षितुं सीतां रामो लक्ष्मण एव च ॥18॥
विचेरतुस्तदा भूमौ देवीं संदृश्य चासुरम् ।
हत्वा कबन्धं शबरीं गत्वा तस्याज्ञया तया ॥19॥
पूजितो वायुपुत्रेण भक्तेन च कपीश्वरम् ।
आहूय शंसतां सर्वमाद्यन्तं रामलक्ष्मणौ ॥20॥

देवों के समान ऋषियों ने भी इस प्रकार स्तुति की है—जब असुर कुलोत्पन्न रावण अपने विनाश के लिए वन में निवास करती हुई राम की पत्नी सीता को उठाकर ले गया था। रामपत्नी का 'रा' और 'वन' दोनों मिलकर 'रावण' होता है, अतएव उसका नाम रावण पड़ा। अथवा रावात् (रुलाने से) दूसरों को रुलाने से उसका नाम रावण पड़ा। (अथवा 'रावात्' बड़ा भारी रव (शोर) करने से उसका नाम रावण पड़ा)। अत: सीता की खोज के लिए जब राम और लक्ष्मण धरती पर घूमने लगे तब उन्होंने कबन्ध नाम के राक्षस का संहार किया। बाद में (मरते हुए) उस राक्षस के निर्देशानुसार वे दोनों देवी शबरी के पास गये। वहाँ वे शबरी के द्वारा पूजित हुए। बाद में वे आगे बढ़े, वायुपुत्र हनुमान जी ने उनकी पूजा की। फिर हनुमान ने कपीश्वर सुग्रीव को बुलाया तब राम-लक्ष्मण ने उनके समक्ष आदि से लेकर अन्ततक वृत्तांत सुनाया।

स तु रामे शङ्कितः सन्प्रत्ययार्थं च दुन्दुभेः ।
विग्रहं दर्शयामास यो रामस्तमचिक्षिपत् ॥21॥
सप्त सालान्विभिद्याशु मोदते राघवस्तदा ।
तेन हृष्टः कपीन्द्रोऽसौ सरामस्तस्य पत्तनम् ॥22॥
जगामागर्जदनुजो वालिनो वेगतो गृहात् ।
तदा वाली निर्जगाम तं वालिनमथाहवे ॥23॥

सुग्रीव ने राम की वीरता पर शंका करते हुए उस शंका के निवारण के लिए दुन्दुभि नाम के राक्षस का बड़ा भयंकर शरीर उन्हें दिखाया। राम ने उसे देखते-ही-देखते दूर फेंक दिया। उन्होंने अपने बाण से सात साल-वृक्षों को शीघ्र एक साथ भेद दिया। और कपिराज सुग्रीव भी प्रसन्न होकर राम के साथ बाली के नगर में गया। वहाँ जाकर बाली के उस छोटे भाई सुग्रीव ने बड़ी ललकार की। उनकी ललकार को सुनकर बाली अतिवेग से अपने घर से बाहर निकला और उसके बाद उस बाली को युद्ध में—

निहत्य राघवो राज्ये सुग्रीवं स्थापयेत्ततः ।
हरीनाहूय सुग्रीवस्त्वाह चाशाविदोऽधुना ॥24॥
आदाय मैथिलीमद्य ददताश्वाशु गच्छत ।
ततस्ततार हनुमानब्धिं लङ्कां समाययौ ॥25॥

—मारकर राघव श्रीराम ने सुग्रीव को राजसिंहासन पर बिठाया। इसके बाद तुरन्त सुग्रीव ने वानरों को बुलाकर कहा—'तुम सब सभी दिशाओं को जानने वाले हो अत: अभी तुरन्त प्रस्थान कर मैथिली को खोजकर श्रीराम को सौंप दो। जाओ।' इसके बाद हनुमान ने सागर को पार किया और वे लंका में पहुँचे।

सीतां दृष्ट्वाऽसुरान्हत्वा पुरं दग्ध्वा तथा स्वयम् ।
आगत्य रामेण सह न्यवेदयत तत्त्वतः ॥26॥
तदा रामः क्रोधरूपी तानाहूयाथ वानरान् ।
तैः सार्धमादायास्त्राणि पुरीं लङ्कां समाययौ ॥27॥

लंका में पहुँचकर हनुमान ने सीता को देखा। और राक्षसों को मारकर, लंका को जलाकर, स्वयं वापस आकर राम को पूरा वृत्तान्त अच्छी तरह से सुनाया। तब अत्यन्त क्रोधित होकर राम ने उन वानरों को बुलाकर उनके साथ शस्त्रास्त्रों को लेकर लंकापुरी के ऊपर आक्रमण कर दिया।

तां दृष्ट्वा तदधीशेन सार्धं युद्धमकारयत् ।
घटश्रोत्रसहस्राक्षजिद्भ्यां युक्तं तमाहवे ॥28॥
हत्वा विभीषणं तत्र स्थाप्याथ जनकात्मजाम् ।
आदायाङ्कस्थितां कृत्वा स्वपुरं तैर्जगाम सः ॥29॥

लंका की ठीक तरह से जाँच-पड़ताल करके श्रीराम ने लंकाधीश के साथ युद्ध शुरू कर दिया। इस युद्ध में रावण के भाई घटश्रोत्र (कुम्भकर्ण) और पुत्र सहस्राक्षजित् (मेघनाद) सहित रावण का उन्होंने संहार किया और विभीषण को लंका की राजगद्दी पर स्थापित करके और जनकात्मजा सीता को लाकर, अपने वामभाग में बिठाकर उन्होंने अपने नगर के के लिए प्रस्थान किया।

ततः सिंहासनस्थः सन् द्विभुजो रघुनन्दनः ।
धनुर्धरः प्रसन्नात्मा सर्वाभरणभूषितः ॥30॥
मुद्रां ज्ञानमयीं याम्ये वामे तेजःप्रकाशिनीम् ।
धृत्वा व्याख्याननिरतश्चिन्मयः परमेश्वरः ॥31॥

तदनन्तर दो हाथ वाले रघुनन्दन राम जी अयोध्या के राजसिंहासन बैठे। धनुर्धारी, प्रसन्नचित्त, सभी अलंकरणों से विभूषित दक्षिण हाथ से ज्ञानमुद्रा लिए हुए हैं, और वाम हाथ से तेज:-प्रकाशिनी धनुर्मुद्रा को लिए वह सच्चिदानन्द परमेश्वर व्याख्यानमुद्रा में विराजित हैं।

उदग्दक्षिणयोः स्वस्य शत्रुघ्नभरतौ ततः ।
हनू ा तं च श्रोतारमग्रतः स्यात्त्रिकोणगम् ॥32॥
भर त धस्तु सुग्रीवं शत्रुघ्नाधो विभीषणम् ।
पश्चिमे लक्ष्मणं तस्य धृतच्छत्रं सचामरम् ॥33॥
तदधस्तौ तालवृन्तकरौ त्र्यस्त्रं पुनर्भवेत् ।
एवं षट्कोणमादौ स्वदीर्घाङ्गैरेषु संयुतः ॥34॥

भगवान् श्री राम की बाँयीं और दायीं ओर क्रमशः शत्रुघ्न और भरत बैठे हुए हैं। इस तरह बने हुए त्रिकोण के बीच भक्त हनुमान हाथ जोड़कर श्रोता के रूप में विराजमान हैं। भरत के नीचे सुग्रीव और शत्रुघ्न के नीचे विभीषण बैठे हुए हैं। भगवान् श्रीराम के पीछे के भाग में हाथ में छत्र चामर लेकर लक्ष्मण जी खड़े हुए हैं। उनके नीचे तालवृक्ष के बनाए हुए पंखे लेकर भरत-शत्रुघ्न, दोनों भाई खड़े हैं। ऐसा होने पर भरत-लक्ष्मण-शत्रुघ्न से एक दूसरा भी त्रिकोण बन जाता है। (शत्रुघ्न-भरत-हनुमान का एक त्रिकोण और सुग्रीव-विभीषण-लक्ष्मण का दूसरा त्रिकोण)। इस तरह आरंभ में षट्कोण में यह रघुपति अपने दीर्घ अंगों से अर्थात् अपने बीज मन्त्र रूप दीर्घ अक्षरों के परिघ में आबद्ध हो जाते हैं।

द्वितीयं वासुदेवाद्यैराग्नेयादिषु संयुतः।
तृतीयं वायुसूनुं च सुग्रीवं भरतं तथा ॥35॥
विभीषणं लक्ष्मणं च अङ्गदं चारिमर्दनम्।
जाम्बवन्तं च तैर्युक्तस्ततो धृष्टिर्जयन्तकः ॥36॥
विजयश्च सुराष्ट्रश्च राष्ट्रवर्धन एव च।
अशोको धर्मपालश्च सुमन्त्रश्चैभिरावृतः ॥37॥

दूसरा आवरण आग्नेय आदि दिशाओं में वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध से युक्त है। तीसरे आवरण में हनुमान, सुग्रीव, भरत, विभीषण, लक्ष्मण, अंगद, शत्रुघ्न और जाम्बवान स्थित हैं। इसके अतिरिक्त धृष्टि, जयन्तक, विजय, सुराष्ट्र, राष्ट्रवर्धन, अशोक, धर्मपाल, सुमन्त्र—इन लोगों से घिरे होने पर भी यह तृतीय आवरण की स्थिति होती है।

ततः सहस्रदृग्वह्निर्धर्मज्ञो वरुणोऽनिलः।
इन्द्वीशधात्रनन्ताश्च दशभिश्चैभिरावृतः ॥38॥
बहिस्तदायुधैः पूज्यो नीलादिभिरलंकृतः।
वसिष्ठवामदेवादिमुनिभिः समुपासितः ॥39॥

चौथे आवरण की स्थिति तब बनती है जब हजार आँखों वाले इन्द्र, अग्नि, धर्मराज, वरुण, निर्ऋति, वायु, चन्द्रमा, ब्रह्मा, ईशान और अनन्त—इन दसों दिक्पालों से राम घिरे हुए हैं। इन दिक्पाल आदि के बाहर के भाग में उनके आयुध रखे हुए होते हैं और उन आयुधों से तथा नल आदि वानरों से घिरे हुए होने से वे पूजनीय श्रीराम जी शोभायमान मालूम पड़े रहे हैं। इसी के बाद वसिष्ठ, वामदेव और ऋषिगण भी श्री रामजी की उपासना में सम्मिलित हो रहे हैं।

एवमुद्देशतः प्रोक्तं निर्देशस्तस्य चाधुना।
त्रिरेखापुटमालिख्य मध्ये तारद्वयं लिखेत् ॥40॥
तन्मध्ये बीजमालिख्य तदधः साध्यमालिखेत्।
द्वितीयान्तं च तस्योर्ध्वं षष्ठ्यन्तं साधकं तथा ॥41॥

इस प्रकार संक्षेप में यहाँ पूजायंत्र का निर्देश किया गया। अब उसके पूरे रूप को बताया जा रहा है—सम रेखा वाले दो त्रिकोण बनाकर उनके बीच अलग-अलग दो प्रणवों को लिखना चाहिए। उन दोनों के बीच आद्यबीज 'रां' का उल्लेख करें। उसके नीचे साध्य किया जाने वाला कार्य लिखें। आद्यबीज के ऊपर के भाग में साधक का नाम षष्ठ्यन्त तथा इसके नीचे साध्य का द्वितीयान्त रूप में उल्लेख करें।

कुरु द्वयं च तत्पार्श्वे लिखेद्बीजान्तरे रमाम्।
तत्सर्वं प्रणवाभ्यां च वेष्टयेच्छुद्धबुद्धिमान् ॥42॥

दीर्घभाजि षडस्त्रे तु लिखेद्बीजं हृदादिभिः ।
कोणपार्श्वे रमामाये तदग्रेऽनङ्गमालिखेत् ॥43॥

फिर उसके दाहिने और बाँये पार्श्वभाग में 'कुरु' शब्द दो बार लिखें। बीज के मध्य में और साध्य के ऊपर की ओर श्री बीज (श्रीं) लिखें। बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि वह इन सभी को इस प्रकार लिखे जिससे कि यह सब दोनों प्रणवों से वेष्टित (आवृत) रहे। इसके बाद मूल बीज को छहों कोनों पर दीर्घस्वर में लिखें और इसके साथ ही एक-एक के साथ 'रां रामाय नमः' आदि (छहों बीजों के साथ) भी लिखें। कोणों के पार्श्वभागों में भी रमा = श्रीं, माया = ह्रीं, उसके आगे के भाग में अनंग = क्लीं लिखें।

क्रोधं कोणाग्रान्तरेषु लिख्य मन्त्र्यभितो गिरम् ।
वृत्तत्रयं साष्टपत्रं सरोजे विलिखेत्स्वरान् ॥44॥
केसरे चाष्टपत्रे च वर्गाष्टकमथालिखेत् ।
तेषु मालामनोर्वर्णान्विलिखेदूर्मिसंख्यया ॥45॥
अन्ते पञ्चाक्षराण्येवं पुनरष्टदलं लिखेत् ।
तेषु नारायणाष्टार्णांल्लिख्य तत्केसरे रमाम् ॥46॥
तद्बहिर्द्वादशदलं विलिखेद् द्वादशाक्षरम् ।
अथोंनमो भगवते वासुदेवाय इत्ययम् ॥47॥

कोणों के अगले और अन्दर के भागों में क्रोधबीज = हुं लिखें। उसकी दोनों तरफ सटकर गिरा का बीज = ऐं लिखें। फिर तीन गोलाकार रेखाएँ बनाएँ। इन वर्तुलों के साथ अष्टदल कमल बनाएँ। उस कमल के केसर पर दो-दो के क्रम से सभी स्वरवर्ण लिखें। आठों दलों के उन स्वरवर्णों के ऊपर पूर्वोक्त राममालामन्त्र के सैंतालीस (47) वर्णों को छः-छः के क्रम से लिखें, तो उससे अन्तिम दल में पाँच ही वर्ण रह जाएँगे। अब पहले की तरह फिर से एक अष्टदल कमल बनाएँ। उसकी पंखुड़ियों पर 'ॐ नमो नारायणाय' मन्त्र का एक-एक अक्षर प्रत्येक दल पर लिखें। और केसर पर रमाबीज = श्रीं लिखें। फिर उसके बाहर के भाग में बारह दलों वाला कमल बनाएँ। तथा उसके प्रत्येक दल पर 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' इस बारह अक्षर के मन्त्र का एक-एक अक्षर लिखें।

आदिक्षान्तान्केसरेषु वृत्ताकारेण संलिखेत् ।
तद्बहिः षोडशदलं लिख्य तत्केसरे ह्रियम् ॥48॥
वर्मास्त्रनतिसंयुक्तं दलेषु द्वादशाक्षरम् ।
तत्सन्धिष्विरजादीनां मन्त्रान्मन्त्री समालिखेत् ॥49॥
हं स्त्रं भ्रं व्रं लं अं श्रं ज्रं च लिखेत्सम्यक्ततो बहिः ।
द्वात्रिंशारं महापद्मं नादबिन्दुसमायुतम् ॥50॥

फिर उस बारह दलवाले कमल के केसरों में 'अ' से लेकर 'क्ष' तक के वर्णों—16 स्वरों और 35 व्यंजनों को गोलाकार में लिखें। (एक-एक केसर में चार-चार और अन्तिम केसर में सात वर्ण होंगे)। फिर उसके बाहर और एक सोलह दलवाला कमल बनायें। और उसके सोलहों दलों में एक-एक अक्षर के क्रम से द्वादशाक्षर राममन्त्र—'ॐ ह्रीं भरताग्रज राम क्लीं स्वाहा' और 'हुं फट् नमः' लिखें। तथा उन दलों के सन्धिभाग में हनुमान के बीज मन्त्र को और धृष्टि आदि बीजमन्त्रों को लिखें। वे धृष्टि आदि बीजमन्त्र इस प्रकार हैं—हं, स्रं, भ्रं, व्रं, ल्रं, अं, श्रं और ज्रं। यह मन्त्र लिखने के पश्चात्

इसके बाहर बत्तीस अरों वाला नादबिन्दु से युक्त महापद्म बनाएँ। अर्थात् उस पर (हर एक वर्ण पर) 'ॐ ग्रां' ऐसे दीर्घ बिन्दु से युक्त मन्त्रराज हो, इस तरह बत्तीस दलों में मन्त्रों के अक्षरों को लिखें।

विलिखेन्मन्त्रराजार्णांस्तेषु पत्रेषु यत्नतः।
ध्यायेदष्टवसूनेकादशरुद्रांश्च तत्र वै ॥51॥
द्वादशेनांश्च धातारं वषट्कारं च तद्बहिः।
भूगृहं वज्रशूलाढ्यं रेखात्रयसमन्वितम् ॥52॥
द्वारोपेतं च राश्यादिभूषितं फणिसंयुतम्।
अनन्तो वासुकिश्चैव तक्षः कर्कोटपद्मकः ॥53॥
महापद्मश्च शङ्खश्च गुलिकोऽष्टौ प्रकीर्तिताः।
एवं मण्डलमालिख्य तस्य दिक्षु विदिक्षु च ॥54॥

फिर उस महापद्म की पँखुड़ियों पर प्रयत्नपूर्वक नारसिंह मन्त्रराज का उल्लेख करें। वहाँ आठ वसुओं, एकादश रुद्रों, बारह आदित्यों तथा उन सबके धाता वषट्कार का न्यास तथा ध्यान करें। (ध्रुव-धर-सोम-आप-अनिल-अनल-प्रत्यूष-प्रकास—ये आठ वसु हैं। हर-बहुरूप-त्र्यम्बक-अपराजित-शम्भु-वृषाकपि-कपर्दी-दैवज्ञ-मृगव्याध-शर्व-कपाली—ये एकादश रुद्र हैं। धाता-अर्यमा-मित्र-वरुण-अंश-भग-इन्द्र-विवस्वान्-पूषा-पर्जन्य-त्वष्टा-विष्णु—ये बारह आदित्य हैं)। इस बत्तीस दल वाले कमल के बाहर के भाग में भूगृह मन्त्र लिखें। उस मन्त्र के चारों ओर वज्र तथा कोषों के शूल चिह्न बनाएँ। (वज्र से लेकर शूल तक के आठ दिक्पालों के आयुधों से युक्त करें अथवा हर एक द्वार पर वज्र और शूल का चिह्न अंकित करें)। उस भूगृह मन्त्र को तीन रेखाओं से भी युक्त करें। (ये रेखाएँ सत्त्व-रजस्-तमस् इन तीन गुणों की प्रेरक हैं)। मण्डप की तरह इसमें भी द्वार निर्मित करें, द्वार में भूगृह को राशि आदि से अलंकृत करें। उसे आठों दिशाओं और कोनों (विदिशाओं) में आठ नागों ने धारण किया हुआ है। ये नाग—अनन्त, वासुकि, तक्षक, कर्कोटक, पद्म, महापद्म, शंख तथा गुलिक हैं।

नारसिंहं च वाराहं लिखेन्मन्त्रद्वयं तथा।
कूटो रेफानुग्रहेन्दुनादशक्त्यादिभिर्युतः ॥55॥
यो नृसिंहः समाख्यातो ग्रहमारणकर्मणि।
अन्त्यार्धीशवियद्बिन्दुनादैर्बीजं च सौकरम् ॥56॥

भूगृह मन्त्र के चारों ओर नारसिंह बीजमन्त्र तथा कोणों में वाराह बीजमन्त्र लिखें। वह नारसिंह बीजमन्त्र—कूट (क्षकार), रेफ (रकार), अनुग्रह (औ), इन्दु (अनुस्वार), नाद (ध्वनि) और शक्ति (माया) से युक्त होना चाहिए। (वह 'क्ष्रौं' या 'क्ष्म्र्रौं' जैसा होगा)। यह मन्त्र ग्रहबाधा दूर करने या शत्रुमारण के लिए तथा अभिलषित को प्राप्त करने के लिए प्रयुक्त किया जाता है। अब जो (दूसरा) अन्त्यार्धीश···वराह का बीजमन्त्र 'हुं' है (अन्त्यवर्ण = ह् और अधीश = 'उ' वह अनुस्वार सहित = 'हुं' होता है) वह नाद और शक्ति से युक्त होकर वाराह बीजमन्त्र बनता है।

हुंकारं चात्र रामस्य मालामन्त्रोऽधुनेरितः।
तारो नतिश्च निद्रायाः स्मृतिर्मेदश्च कामिका ॥57॥
रुद्रेण संयुता वह्निर्मेधामरविभूषिता।
दीर्घा क्रूरयुता ह्लादिन्यथो दीर्घसमायुता ॥58॥

क्षुधा क्रोधिन्यमोघा च विश्वमप्यथ मेधया।
युक्ता दीर्घज्वालिनी च सुसूक्ष्मा मृत्युरूपिणी ॥59॥

इस यंत्र के कोणों पर 'हुं' भी लिखें। अब रामसम्बन्धी मालामन्त्र बताते हैं—इसमें तार = ॐ, नति = नमः शब्द, निद्रा = भ, स्मृति = ग, मेद = व, कामिका = त्, तथा रुद्र = ए आते हैं। फिर बाद में अग्नि = र, मेधा = घ्, अमर = उ के साथ दीर्घकाल चन्द्रमा = न के ऊपर अनुस्वार से युक्त किया जाता है। फिर ह्लादिनी = द के बाद दीर्घकाल = न और मानदा कला = आ होती है। इसके बाद क्षुधा = य है। (इन सबको मिलाकर—'ॐ नमो भगवते रघुनन्दनाय' इस मन्त्र की सिद्धि होती है)। अब इसके बाद क्रोधिनी = र, अमोघा = क्ष्, विश्व = ओ, मेधा = घ् से अलंकृत है। फिर दीर्घा = न, वह्निकला = व, और सूक्ष्मरुद्र = इ से युक्त होता है। फिर जो मृत्युरूपिणी कला = श् है, वह फिर—

सप्रतिष्ठा ह्लादिनी त्वक्क्ष्वेलप्रीतिश्च सामरा।
ज्योतिस्तीक्ष्णाग्निसंयुक्ता श्वेतानुस्वारसंयुता ॥60॥
कामिकापञ्चमूलान्तस्तान्तान्तो थान्त इत्यथ।
स सानन्तो दीर्घयुतो वायुः सूक्ष्मयुतो विषः ॥61॥
कामिका कामका रुद्रयुक्ताथोऽथ स्थिरातपा।
तापिनी दीर्घयुक्ता भूरनलोऽनन्तगोऽनिलः ॥62॥
नारायणात्मकः कालः प्राणाम्भो विद्यया युतः।
पीतारातिस्तथा लान्तो योन्या युक्तस्ततो नतिः ॥63॥

प्रतिष्ठा = 'अ'कार के साथ युक्त हो जाती है (अर्थात् पूरा 'श' हो जाता है)। अन्त में ह्लादिनी = दा और त्वक् = य है। (ये सब मिलकर 'रक्षोघ्नविशदाय' इतना मन्त्र भाग सिद्ध होता है)। अब क्ष्वेल = म, प्रीति = ध्, अमर = उ, ज्योति = र, तीक्ष्णा = प्, अग्नि = र, अनुस्वारयुक्त श्वेता = सं, फिर तवर्गीय पाँचवाँ वर्ण = न, लकार के बाद का वर्ण = व, तवर्गीय त् के आगे तीसरा वर्ण = द, और इसके भी बाद का वर्ण = न्, इसके बाद अनन्त = आ जोड़ा जाता है। फिर दीर्घस्वर = आ से वायु = य जोड़ा जाता है। फिर ह्रस्व इकार से जोड़ा हुआ विष = म् है। फिर कामिका = त, और बाद में रुद्र = ए से जोड़ा हुआ कामिका = त होता है। बाद में स्थिरा = ज, और बाद में ए मात्रा से युक्त 'स' कार है। (इन सब से 'मधुरप्रसन्नवदनायामिततेजसे'—यह मन्त्रभाग बनता है)। इसके बाद, तापिनी = ब, दीर्घ = ल, भू = आ और अनिल = य लगाने से 'बलाय' का मन्त्र-भाग सिद्ध होता है। फिर अनन्तग अनल = आकार के साथ रेफ = रकार आता है (रा आता है)। फिर नारायणात्मक आकार के साथ काल = 'म' को और प्राण = य को रखा जाता है। इन सबसे 'रामाय' बनता है। बाद में विद्यायुक्त अम्भस् = 'व'कार से जुड़ा हुआ 'इ' आता है। बाद में पीता = 'ष्', राति = 'ण' और ल के बाद का वर्ण = 'व' योनि = ए से जुड़ा हुआ आता है और अन्त में प्रणामवाचक नमः शब्द तथा प्रणव आता है।

सप्तचत्वारिंशद्वर्णगुणान्तः स्पृङ्मनुः स्वयम्।
राज्याभिषिक्तस्य तस्य रामस्योक्तक्रमाल्लिखेत् ॥64॥
इदं सर्वात्मकं यन्त्रं प्रागुक्तमृषिसेवितम्।
सेवकानां मोक्षकरमायुरारोग्यवर्धनम् ॥65॥

अपुत्राणां पुत्रदं च बहुना किमनेन वै ।
प्राप्नुवन्ति क्षणात्सम्यगत्र धर्मादिकानपि ॥66॥
इदं रहस्यं परममीश्वेरणापि दुर्गमम् ।
इदं यन्त्रं समाख्यातं न देयं प्राकृते जने ॥67॥

इति चतुर्थोपनिषद् ।

राम का यह मालामन्त्र सैंतालीस अक्षरों वाला है—'ॐ नमो भगवते रघुनन्दनाय रक्षोघ्न-विशदाय मधुरप्रसन्नवदनायामिततेजसे बलाय रामाय विष्णवे नमः ॐ'। यह मालामन्त्र राज्याभिषिक्त श्रीराम से सम्बन्ध रखता है। सगुण होते हुए भी यह मन्त्र साधकों को त्रिगुणात्मक माया के बन्धनों से मुक्त करा देने वाला है। इस मन्त्र को पूर्वोक्त क्रमानुसार ही लिखना चाहिए। ऊपर निरूपित यंत्र भी सर्वात्मक है। ऋषि-मुनियों ने इस यन्त्र की साधना की है। यह उपासकों को मोक्ष प्रदान करने वाला है तथा आरोग्य एवं आयु को बढ़ाने वाला है। यह निःसन्तानों को सन्तान देने वाला है तथा और अधिक क्या कहा जाए, इस मन्त्र का साधक जल्द से जल्द इन सभी पदार्थों को प्राप्त कर सकता है। इसका साधक धर्म-ज्ञान-वैराग्यादि अपनी सभी कामनाओं की पूर्ति कर सकता है। यह अतिरहस्यपूर्ण गोपनीय यंत्र दीक्षा लिए बिना तो परम विद्वान् के लिए भी संभव नहीं है। पात्रतारहित सामान्य (प्राकृत) जनों को तो इसका उपदेश कभी भी नहीं देना चाहिए।

यहाँ चतुर्थोपदेश पूरा होता है।

❈

पञ्चमोपनिषत्

ॐ भूतादिकं शोधयेद्द्वारपूजां कृत्वा पद्माद्यासनस्थः प्रसन्नः ।
अर्चाविधावस्य पीठाधरोर्ध्वपार्श्वार्चनं मध्यपद्मार्चनं च ॥1॥
कृत्वा मृदुश्लक्ष्णसुतूलिकायां रत्नासने देशिकमर्चयित्वा ।
शक्तिं चाधाराख्यकां कूर्मनागौ पृथिव्यब्जे स्वासनाधः प्रकल्प्य ॥2॥

साधक पद्मासन लगाकर बैठे और चित्त को प्रसन्न रखकर सभी तत्त्वों की शुद्धि (शोधन) करे। भगवान् श्रीराम की पूजाविधि में सिंहासन पीठ के नीचे के भाग की, ऊपर के भाग की और दोनों पार्श्व के भाग की पूजा करने का विधान किया गया है। पीठ के ऊपर के भाग में मध्य में अवस्थित आठ दल वाले कमल की भी साधक पूजा करे। रत्नजडित सिंहासन पर कोमल चिकनी तूलिका (रुईदार गुदगुदी गद्दी) बनाकर उसके ऊपर परमात्मस्वरूप आचार्य का पूजन करे। बाद में पीठ के नीचे वाले भाग में इष्टदेव के आसन के नीचे आधारशक्ति, कूर्म, नाग और पृथ्वीमय कमलद्वय की भावना करके उसकी पूजा करे।

विघ्नेशं दुर्गां क्षेत्रपालं च वाणीं बीजादिकांश्चाग्निदेशादिकांश्च ।
पीठस्याङ्घ्रिष्वेव धर्मादिकांश्च नत्वा पूर्वाद्यासु दिक्ष्वर्चयेच्च ॥3॥
मध्ये क्रमादर्कविध्वग्नितेजांस्युपर्युपर्यादिमैरर्चितानि ।
रजः सत्त्वं तम एतानि वृत्तत्रयं बीजाढ्यं क्रमाद्भावयेच्च ॥4॥

विघ्नेश्वर गणपति, क्षेत्रपाल, दुर्गा और वाणी के साथ आरम्भ में बीज लगाकर चतुर्थ्यन्त का प्रयोग करके आग्नेय आदि दिशाओं में पूजन-अर्जन करे। तदुपरान्त पीठ के पादों में अवस्थित धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का नमस्कारपूर्वक पूजन पूर्वादि दिशाओं में करे। (धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष के बदले कुछ लोग यहाँ धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य—ये चार भी लेते हैं) और पीठ के ऊपर के भाग के बीच में आदिम-पूज्य पुरुषों के द्वारा अर्जित ऐसे सूर्य, चन्द्र और अग्नि का पूजन करे। यन्त्र में प्रतिष्ठित सत्त्व, रजस् तथा तमस्—इन तीन गुणों के प्रतीक रूप तीन वृत्तों का भी बीजमन्त्रों के साथ पूजन एवं चिन्तन करे।

आशाव्याशास्वप्यथात्मानमन्तरात्मानं वा परमात्मानमन्तः।
ज्ञानात्मानं चार्चयेत्तस्य दिक्षु मायाविद्ये ये कलापारतत्त्वे ॥5॥
सम्पूजयेद्विमलादींश्च शक्तीरभ्यर्चयेद्देवमावाहयेच्च।
अङ्गव्यूहानिलजाद्यैश्च पूज्य धृष्ट्यादिकैर्लोकपालैस्तदस्त्रैः ॥6॥
वसिष्ठाद्यैर्मुनिभिर्नीलमुख्यैराराधयेद्राघवं चन्दनाद्यैः।
मुख्योपहारैर्विविधैश्च पूज्यैस्तस्मै जपादींश्च सम्यक्प्रकल्प्य ॥7॥

तदनन्तर कोणों और दिशाओं में बनाए गए अष्टदलों का पूजन करे। इनमें कोणस्थित दलों का आग्नेय से प्रारंभ करके क्रमशः आत्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा और ज्ञानात्मा के रूप में पूजन करे। मायातत्त्व, कलातत्त्व और परतत्त्व की क्रमशः पूर्वादि दिशाओं में पूजा करे। इसके बाद विमलादि शक्तियों का विधिपुरःसर अर्चन करे। प्रधान देवता के आवाहन-अर्चन के बाद जल से हृदय-मस्तकादि अंगव्यूहों की पूजा करे। धृष्टि आदि दश लोकपालों, इन्द्रादि गणों, उनके वज्रादि आयुधों, वसिष्ठादि ऋषिगणों तथा नीलादि वानरों के साथ उपस्थित भगवान् श्री रामचन्द्र जी की चन्दनादि विविध पूजा उपचारों के साथ तथा नानाविध उपहारों के साथ पूजा करे। उसी के साथ विधि-विधानपूर्वक आराधना-जप आदि भी उन्हें समर्पित करे।

एवंभूतं जगदाधारभूतं रामं वन्दे सच्चिदानन्दरूपम्।
गदारिशङ्खाब्जधरं भवारिं स यो ध्यायेन्मोक्षमाप्नोति सर्वः ॥8॥
विश्वव्यापी राघवो यस्तदानीमन्तर्दधे शङ्खचक्रे गदाब्जे।
धृत्वा रमासहितः सानुजश्च सपत्तनः सानुगः सर्वलोकी ॥9॥
तद्भक्ता ये लब्धकामाश्च भुक्त्वा तथा पदं परमं यान्ति ते च।
इमा ऋचः सर्वकामार्थदाश्च ये ते पठन्त्यमला यान्ति मोक्षम् ॥10॥

इति पञ्चमोपदेशः।

इति रामपूर्वतापिन्युपनिषत्समाप्ता।

श्रीरामचन्द्र जी, जो हाथों में गदा, शंख और कमल को धारण किए हुए हैं, जो जगत् के अवलम्बनरूप हैं, जो सच्चिदानन्दस्वरूप हैं, जो इस भवसागर के शत्रु से मुक्ति देने वाले हैं, उनका मैं वन्दन करता हूँ। उनका ध्यान करते हुए यह सभी जनगण मोक्ष को प्राप्त होते हैं। लीलाकाल में सम्पूर्ण संसार में व्याप्त भगवान् श्रीराम, जब उनका उपासक मोक्ष को प्राप्त हो जाता है, तब शरीर के साथ-साथ अपने शंख, चक्र, गदा और पद्म तथा अन्य आयुधों के साथ अन्तर्धान हो जाते हैं। अपने

स्वाभाविक (मूल) स्वरूप को धारण करके वे सीता के साथ परमधाम में प्रविष्ट हो जाते हैं। इसी के साथ उनके सभी परिवार, परिजन, सर्व बन्धुवर्ग, समग्र प्रजा तथा विभीषण आदि भी परमधाम में पहुँच गए। जो उनके भक्त हैं, वे इप्सित उपभोगों को प्राप्त करते हैं। वे भक्त उन्हें यहाँ भोगकर बाद में परमपद को प्राप्त करते हैं। सभी कामनाओं एवं सभी अर्थों की सिद्धि करने वाली इन ऋचाओं का पाठ करने वाले भक्तगण विशुद्ध अन्त:करण से युक्त होकर मोक्षपद को प्राप्त हो जाते हैं।

यहाँ पञ्चमोपनिषत् पूरी हुई।

यहाँ रामपूर्वातपिन्युपनिषत् पूर्ण हुई।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः.....देवहितं यदायुः। (पूर्ववत्)

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

❋

(57) रामोत्तरतापिन्युपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

अथर्ववेदीय परम्परा वाली इस उपनिषद् को कुछ लोग पूर्वतापनी का ही उत्तरभाग मान कर दोनों को एक उपनिषद् मानते हैं, और कुछ लोग दोनों को अलग-अलग उपनिषद् मानते हैं। हमने इनको पृथक् मानकर अलग-अलग प्रस्तुत किया है। इसमें सर्वप्रथम बृहस्पति और याज्ञवल्क्य का संवाद है, इसके बाद में भरद्वाज और याज्ञवल्क्य का, फिर अत्रि तथा याज्ञवल्क्य का और फिर भरद्वाज और याज्ञवल्क्य का संवाद है। उपनिषद् में कुल पाँच खण्ड हैं। इसमें कहा गया है कि यह शरीर ही कुरुक्षेत्र है, उसमें मुक्त जीवात्मा जहाँ रहता है, उसे ब्रह्म का अविमुक्त धाम कहा जाता है। जब मनुष्य का मरण होता है, तब उस धाम में ही रुद्र जीवात्मा को तारकब्रह्म का ज्ञान देते हैं, जिसे जानकर वह मुक्त होता है। गर्भवास जन्म-जरा-मरण और संसार का तारने वाला होने से वह तारक ब्रह्म कहलाता है। ॐ कार के 'अ' से लक्ष्मण, 'उ' से शत्रुघ्न, 'म्' से भरत और अर्धमात्रा से ब्रह्मानन्द राम उत्पन्न हुए। श्रीराम के सान्निध्य से इस समग्र स्थावर-जंगम की उत्पत्ति-स्थिति-लय करने वाली प्रकृति सीतारूप में हुई। 'मैं राम और ॐकार हूँ'—ऐसा कहने वाले संसारी नहीं हैं। उपर्युक्त अविमुक्त धाम वरणा और नासी में स्थित होने से उसे 'वाराणसी' कहते हैं। वरणा का अर्थ इन्द्रिय दोषों का वारण और 'नाशी' का अर्थ पापनाशिनी है। वह स्थान दोनों भौंहों के बीच में स्थित है। राम बोलते हुए मरने वाला मुक्त होता है। राम ही परमानंदरूप परब्रह्म हैं। अखण्डैकरस आत्मा हैं। विष्णुशिवदेव जीव का अंतरात्मा है। यह सचराचर सब राम ही है। एक कण भी रामहीन नहीं है।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः......शान्तिः (पूर्ववत्)

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (अथर्वशिर उपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

प्रथमः खण्डः

बृहस्पतिरुवाच याज्ञवल्क्यम्—यदनु कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम् ॥1॥

अविमुक्तं वै कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम्। तस्माद्यत्र क्वचन गच्छति तदेव मन्येतेतीदं वै कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम्। अत्र हि जन्तोः प्राणेषूत्क्रममाणेषु रुद्रस्तारकं ब्रह्म व्याचष्टे येनासावमृती भूत्वा मोक्षी भवति। तस्मादविमुक्तमेव निषेवेत। अविमुक्तं न विमुञ्चेत् ॥2॥

एवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥3॥

इति प्रथमः खण्डः।

बृहस्पति ने याज्ञवल्क्य से कहा—'कुरु का (प्राणों का) क्षेत्र (स्थान) क्या है ? देवों का—इन्द्रियों के देवयजन का क्या अर्थ होता है ? सभी प्राणियों का ब्रह्मसदन क्या है ?' तब याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—'अविमुक्त ही प्राणों का क्षेत्र है। उसे ही इन्द्रियों का देवयजन कहा गया है। और वही समस्त प्राणियों का ब्रह्मसदन है। इसलिए मनुष्य जहाँ-कहीं भी जाता है, उसको वही समझना चाहिए। वह कुरुक्षेत्र ही (वह प्राणस्थान ही) इन्द्रियों का देवयजन है, और समस्त प्राणियों का ब्रह्मसदन (ब्रह्मस्थान) है। जब इस जगत् में जीव के प्राणों का उत्क्रमण होता है, तब उस समय रुद्र उसको तारक ब्रह्म का उपदेश देते हैं। इससे वह जीव अमृतत्व को प्राप्त करके मोक्ष को प्राप्त करता है। इसलिए सबको अविमुक्त की ही उपासना करनी चाहिए। अविमुक्त को कभी छोड़ना नहीं चाहिए।' तब बृहस्पति ने कहा—'हाँ याज्ञवल्क्य ! ऐसा ही है।'

यहाँ प्रथम खण्ड पूरा हुआ।

❋

द्वितीयः खण्डः

अथ हैनं भरद्वाजः पप्रच्छ याज्ञवल्क्यं—किं तारकं किं तारयतीति ॥1॥

स होवाच याज्ञवल्क्यः—तारकं दीर्घानलं बिन्दुपूर्वकं दीर्घानलं पुनर्मायां नमश्चान्द्राय नमो भद्राय नम इत्येतद् ब्रह्मात्मकाः सच्चिदानन्दाख्या इत्युपासितव्यम् ॥2॥

अकारः प्रथमाक्षरो भवति। उकारो द्वितीयाक्षरो भवति। मकारस्तृतीयाक्षरो भवति। अर्धमात्रश्चतुर्थाक्षरो भवति। बिन्दुः पञ्चमाक्षरो भवति। नादः षष्ठाक्षरो भवति। तारकत्वात्तारको भवति। तदेव तारकं ब्रह्म त्वं विद्धि। तदेवोपासितव्यमिति ज्ञेयम्। गर्भजन्मजरामरणसंसारमहद्भयात् संतारयतीति। तस्मादुच्यते षडक्षरं तारकमिति ॥3॥

अब भारद्वाज ने याज्ञवल्क्य से पूछा—'तारक क्या है ? तारता कौन है ?' तब याज्ञवल्क्य ने कहा—'दीर्घ अनल बिन्दु से युक्त होता है, अर्थात रां जो है, उसके बाद दीर्घ अनल अर्थात् 'रा' और उसके बाद 'माय' और उसके बाद नमः बोलना चाहिए ('रां रामाय नमः'—ऐसे पूरा मन्त्र होता है) और भी राम के बाद 'चन्द्राय' या 'भद्राय' लगाकर 'नमः' लगाये जाने पर 'रां रामचन्द्राय नमः' और 'रां रामभद्राय नमः'—ऐसे मन्त्र बनते हैं। ये सब अक्षर ब्रह्मात्मक ही हैं, वे शब्द सच्चिदानन्द के ही वाचक हैं ऐसा मानकर उपासना करनी चाहिए।

(ॐ कार का) 'अ' कार पहला अक्षर होता है, 'उ' कार दूसरा अक्षर होता है, 'म' कार तीसरा अक्षर होता है, अर्धमात्र चौथा अक्षर होता है, बिन्दु पाँचवाँ अक्षर होता है, नाद छठा अक्षर होता है। तारण करता है इसलिए तारक कहलाता है। तुम उसी को तारक ब्रह्म के रूप में जानो। वही उपासना करने योग्य है, ऐसा जानना चाहिए। गर्भवास-जन्म-मरण-संसार के महान् भय से तारण करता है, इसीलिए इस षडक्षर मन्त्र को 'तारक' कहा जाता है।

य एतत्तारकं ब्रह्म ब्राह्मणो नित्यमधीते स पाप्मानं तरति स मृत्युं तरति स ब्रह्महत्यां तरति स भ्रूणहत्यां तरति स वीरहत्यां तरति स सर्वहत्यां तरति स संसारं तरति स सर्वं तरति सोऽविमुक्तमाश्रितो भवति स महान् भवति सोऽमृतत्वं च गच्छति ॥4॥

जो कोई भी ब्राह्मण इस तारक का नित्य अध्ययन करता है, वह पापों को तैर जाता है, वह मृत्यु को तैर जाता है, वह ब्रह्महत्या के पाप को तैर जाता है, वह भ्रूणहत्या के पाप को तैर जाता है, वह वीरहत्या के पाप को पार करता है, वह सर्वहत्या के पाप को पार कर जाता है, वह संसार को तैर जाता है, वह सबको तैर जाता है, वह अविमुक्त का आश्रित हो जाता है, वह महान् होता है और वह अमरपद को प्राप्त होता है।

अत्रैते श्लोका भवन्ति—
अकाराक्षरसम्भूतः सौमित्रिर्विश्वभावनः।
उकाराक्षरसम्भूतः शत्रुघ्नस्तैजसात्मकः ॥5॥
प्राज्ञात्मकस्तु भरतो मकाराक्षरसम्भवः।
अर्धमात्रात्मको रामो ब्रह्मानन्दैकविग्रहः ॥6॥
श्रीरामसान्निध्यवशाज्जगदाधारकारिणी।
उत्पत्तिस्थितिसंहारकारिणी सर्वदेहिनाम् ॥7॥
सा सीता भवति ज्ञेया मूलप्रकृतिसंज्ञिका।
प्रणवत्वात् प्रकृतिरिति वदन्ति ब्रह्मवादिनः ॥8॥ इति ॥

इस विषय में ये श्लोक कहे गए हैं—ॐ कार के 'अ' कार अक्षर से 'विश्व'स्वरूप सौमित्री लक्ष्मणजी उत्पन्न हुए। 'तैजस' स्वरूप शत्रुघ्न 'उ'कार से उत्पन्न हुए। 'प्राज्ञ' स्वरूप भरत ने 'म' कार से जन्म लिया है और अर्धमात्रा स्वरूप राम तो ब्रह्मानन्दैकरस ही हैं। भगवान् श्रीराम के सान्निध्य के कारण जगत् के आधारस्वरूप तथा सभी प्राणियों की उत्पत्ति, स्थिति और विनाशकारिणी वह सीता उत्पन्न होती हैं। वह मूलप्रकृतिस्वरूपा हैं। राम के साथ अविनाभाव सम्बन्ध से जुड़ी होने के कारण वह भी प्रणव रामरूप है, इसीलिए वह मूल प्रकृति है उसकी कोई प्रकृति (कारण) नहीं हो सकती।

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भव्यं भवष्यदिति सर्वमोंकार एव। यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव। सर्वं ह्येतद् ब्रह्म। अयमात्मा ब्रह्म। सोऽयमात्मा चतुष्पात् ॥9॥

यह सब कुछ 'ओम्' इस अक्षर स्वरूप ही है, इसका व्याख्यान यह है कि भूत, वर्तमान और भविष्य सब ओंकार ही है। और जो इन तीन कालों से परे है, वह भी तो ॐकार ही है। यह सब कुछ ब्रह्म ही है। यह जो हमारा आत्मा है, वह भी ब्रह्म है। वह आत्मा चार चरणों वाला है।

जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः ॥10॥
स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयः पादः ॥11॥
यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम्। सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः ॥12॥
एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् ॥13॥

पहला चरण जाग्रत् स्थान का—स्थूलविश्व के स्थान में रहने वाला बाहर के पदार्थों का बोध कराने

वाला है। वह सात अंगों से (सात लोकों से या किरणों से) युक्त है। उसके उन्नीस मुख हैं (दस इन्द्रियाँ + पाँच प्राण + अन्त:करणचतुष्टय = 19)। वह स्थूल पदार्थों का भोक्ता है। दूसरा चरण स्वप्नस्थानीय है। वह अन्त:प्रज्ञ – अव्यक्त विश्व रूप अधिष्ठान वाला है। इसके द्वारा अन्त:चक्षुओं से अदृश्य वस्तुओं का ज्ञान होता है। वह सूक्ष्म वस्तुओं का भोक्ता है। वह भी पहले चरण वाले की भाँति सात लोकों वाला तथा उन्नीस मुखों वाला ही होता है। वह ज्योतिर्मय है, वही 'तैजस' ब्रह्म का या आत्मा का दूसरा चरण है। जिस अवस्था में सोया हुआ मनुष्य किसी भी वस्तु की कामना नहीं करता और कोई स्वप्न भी नहीं देखता, ऐसी सुषुप्त अवस्था में जो एकाग्र वृत्तिवाला, प्रकृष्ट ज्ञानस्वरूप और आनन्दरूप ही है, और जो केवल आनन्द का ही भोगने वाला होता है, जिसका मुख चैतन्यमय ही है, वह प्राज्ञरूप उस ब्रह्म का तृतीय चरण है। यह ब्रह्म ही सबका ईश्वर है। यह सर्वज्ञ, अन्तर्यामी और संपूर्ण विश्व का कारण (मूल) है। यही सभी की (भूतों और प्राणियों की) उत्पत्ति-स्थिति-लय का कारण है।

**नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञं नाप्रज्ञं न प्रज्ञानघन-
मदृश्यमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं
प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥14॥**

जो भीतर की या बाहर की प्रज्ञावाला नहीं है, जो दोनों ओर की प्रज्ञावाला नहीं है, जो ज्ञानरूप भी नहीं है और अज्ञानरूप भी नहीं है, जो प्रज्ञानघन अर्थात् प्रकृष्ट ज्ञानराशि भी नहीं है, जो ज्ञानेन्द्रियों से भी नहीं जाना जा सकता और कर्मेन्द्रियों से भी नहीं जाना जा सकता। जो अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, लक्षणरहित, विचार से परे है, अकथनीय है, जो केवल अनुभव से ही जाना जा सकता है, जो संपूर्ण प्रपंचों का लयस्थान रूप है, जो शान्त, मंगलकर, अद्वैतरूप है, वही ब्रह्म का चतुर्थ चरण है। वही आत्मा और वही परमात्मा है, वही जानने योग्य है।

**सदोज्ज्वलोऽविद्यातत्कार्यहीनः स्वात्मबन्धहरः सर्वदा द्वैतरहित आनन्द-
रूपः सर्वाधिष्ठानसन्मात्रो निरस्ताविद्यातमोमोहोऽहमेवेति सम्भाव्यो-
ऽहम् ॥15॥
ओं तत् सद्यत् परं ब्रह्म रामचन्द्रश्चिदात्मकः।
सोऽहमों तद्रामभद्रपरंज्योती रसोऽहमोम् ॥16॥
इत्यात्मानमादाय मनसा ब्रह्मणैकीकुर्यात् ॥17॥**

सदैव उज्ज्वल, अविद्या और उसके कार्य से रहित, अपने आत्मा के बन्धन को दूर करने वाला, सर्वदा द्वैतरहित, आनन्दस्वरूप, सबके अधिष्ठानरूप, सन्मात्र, अविद्या (अज्ञानरूपी अन्धकार) को और मोह को हटा देने वाला मैं आत्मा ही परमात्मरूप से संभाव्य (मानने लायक) हूँ। ॐ तत् सत् रूप जो परब्रह्म है, जो चिन्मय श्री रामचन्द्र जी हैं, वही ओंकारस्वरूप मैं भी हूँ। रामभद्र रूप 'परं ज्योति' मैं ही हूँ। वह रसस्वरूप मैं ही हूँ। इस प्रकार अपने मन में ध्यान करते हुए साधक अपने आत्मा को राम के साथ एकीभूत (अद्वैत) कर दे।

**सदा रामोऽहमस्मीति तत्त्वतः प्रवदन्ति ये।
न ते संसारिणो नूनं राम एव न संशयः ॥18॥
इत्युपनिषत्। य एवं वेद स मुक्तो भवतीति याज्ञवल्क्यः ॥19॥**

इति द्वितीयः खण्डः।

जो साधक तत्त्व को समझते हुए सर्वदा 'मैं राम ही हूँ'—ऐसा कहते हैं, सत्य कहा जाए तो वे संसारी हैं ही नहीं। निःसंदेह रूप से वे स्वयं राम ही हैं, ऐसा समझना चाहिए। यह ब्रह्ममात्र पर्यवसायी उपनिषद् है। जो इसे इस प्रकार जानता है, वह मुक्त हो जाता है—ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा।

यहाँ दूसरा खण्ड समाप्त होता है।

❈

तृतीयः खण्डः

अथ हैनमत्रिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्यं—य एषोऽनन्तोऽव्यक्तपरिपूर्णानन्दैक-चिदात्मा तं कथमहं विजानीयामिति ॥1॥

स होवाच याज्ञवल्क्यः—सोऽविमुक्त उपास्यो य एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा सोऽविमुक्ते प्रतिष्ठित इति ॥2॥

सोऽविमुक्तः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति ॥3॥

वरणायां नास्यां च मध्ये प्रतिष्ठित इति ॥4॥

का वै वरणा का च नासीति ॥5॥

जन्मान्तरकृतान् सर्वान् दोषान् वारयतीति तेन वरणा भवतीति। सर्वानिन्द्रियकृतान् पापान् नाशयतीति तेन नासी भवतीति ॥6॥

अब अत्रि ने याज्ञवल्क्य से पूछा—'जो यह अनन्त, अव्यक्त, परिपूर्ण, आनन्दस्वरूप, अद्वैत चिदात्मा है, उसे मैं किस तरह जान सकता हूँ ?' तब याज्ञवल्क्य ने कहा—'उस 'अविमुक्त' की उपासना करनी चाहिए। यह जो अनन्त और अव्यक्त आत्मा है, वह उस अविमुक्त में ही प्रतिष्ठित है।' तब अत्रि ने पूछा—'वह 'अविमुक्त' किसमें प्रतिष्ठित हुआ है ?' इस पर याज्ञवल्क्य बोले—'वह 'वरणा' और 'नसी' के बीच प्रतिष्ठित हुआ है।' तब अत्रि ने पुनः पूछा—'वरणा कौन है और नासी कौन है ?' तो याज्ञवल्क्य बोले—'जन्मजन्मान्तर में किए हुए सभी दोषों का वारण करती है इसलिए वह वारणा कहलाती है, और इन्द्रियों के द्वारा किए गए सभी पापों का वह नाश करती है, इसलिए वह 'नासी' कहलाती है।

कतमं चास्य स्थानं भवतीति ॥7॥

भ्रुवोर्घ्राणस्य च यः सन्धिः, स एष द्यौर्लोकस्य परस्य च सन्धि-र्भवतीति। एतद्वै सन्धिं सन्ध्यां ब्रह्मविद उपासत इति। सोऽविमुक्त उपास्य इति। सोऽविमुक्तं ज्ञानमाचष्टे यो वा एतदेवं वेद ॥8॥

दोनों भौंहों की और नासिका की जहाँ पर सन्धि होती है, वही उसका स्थान है। वही ब्रह्मकपालस्थानीय द्युलोक की तथा चुबुकस्थानीय भूलोक की सन्धि होती है। ब्रह्मज्ञानी लोग इसी द्युलोक और भूर्लोक की सन्धि की सन्ध्या समय में भ्रूघ्राण के बीच उपासना करते हैं। उसी 'अविमुक्त' की उपासना करनी चाहिए। जो विद्वान् इस प्रकार 'अविमुक्त' की यथार्थता को जानता है, वह अपने भक्तों को इस अविमुक्त ज्ञान का (अविमुक्त तत्त्व के साक्षात्कार के हेतुरूप ज्ञान का) उपदेश करता है (निर्विशेष आत्मा का=तारक ज्ञान का उपदेश करता है) और स्वयं भी निर्विशेष ब्रह्म हो जाता है।

अथ तं प्रत्युवाच—

श्रीरामस्य मनुं काश्यां जजाप वृषभध्वजः।

मन्वन्तरसहस्त्रैस्तु जपहोमार्चनादिभिः ॥9॥
ततः प्रसन्नो भगवान् श्रीरामः प्राह शङ्करम् ।
वृणीष्व यदभीष्टं तद्दास्यामि परमेश्वर ॥10॥ इति ॥

याज्ञवल्क्य ने अत्रि से पुनः यह कहा—'काशीपुरी में भगवान् वृषभध्वज शिव ने श्रीराम के इस मन्त्र का जाप किया था। उन्होंने हजार मन्वन्तर काल तक जप-होम-पूजा से यह जाप किया, तब प्रसन्न होकर भगवान् श्रीराम शंकर से बोले—'हे परमेश्वर ! अपना मनोवांछित वर माँग लीजिए, मैं आपको वह दूँगा।'

अथ सच्चिदानन्दात्मानं श्रीराममीश्वरः पप्रच्छ—
मणिकर्ण्यां मम क्षेत्रे गङ्गायां वा तटे पुनः ।
म्रियते देहि तज्जन्तोर्मुक्तिं नातो वरान्तरम् ॥11॥ इति ।
अथ स होवाच श्रीरामः—
क्षेत्रेऽस्मिंस्तव देवेश यत्र कुत्रापि वा मृताः ।
कृमिकीटादयोऽप्याशु मुक्ताः सन्तु न चान्यथा ॥12॥
अविमुक्ते तव क्षेत्रे सर्वेषां मुक्तिसिद्धये ।
अहं संनिहितस्तत्र पाषाणप्रतिमाऽऽदिषु ॥13॥

तब सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीराम से ईश्वर (शिव) ने कहा—'मेरे मणिकर्णिका के क्षेत्र में, गंगा के तट पर जो कोई प्राणी मृत्यु को प्राप्त करे, उसको मुक्ति दे दीजिए। और कोई वरदान मुझे नहीं चाहिए।' तब श्रीराम ने कहा—'हे देवेश ! इस क्षेत्र में जहाँ-कहीं भी कीड़े-मकोड़े भी मरेंगे तो वे शीघ्र ही मुक्त हो जाएँगे। उनकी कोई दूसरी स्थिति नहीं होगी। आपके इस अविमुक्त क्षेत्र में सभी लोगों की मुक्ति की सिद्धि के लिए मैं वहाँ की पत्थर की मूर्तियों में भी संनिहित ही रहूँगा।'

क्षेत्रेऽस्मिन् योऽर्चयेद्भक्त्या मन्त्रेणानेन मां शिव ।
ब्रह्महत्यादिपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥14॥
त्वत्तो वा ब्रह्मणो वाऽपि ये लभन्ते षडक्षरम् ।
जीवन्तो मन्त्रसिद्धाः स्युर्मुक्ता मां प्राप्नुवन्ति ते ॥15॥
मुमूर्षोर्दक्षिणे कर्णे यस्य कस्यापि वा स्वयम् ।
उपदेक्ष्यसि मन्मन्त्रं स मुक्तो भविता शिव ॥16॥
इति श्रीरामचन्द्रेणोक्तम् ।

इति तृतीयः खण्डः ।

'हे शिव ! इस क्षेत्र में षडक्षर के द्वारा जो भी मेरी पूजा करेगा, उसे मैं ब्रह्महत्यादि पापों से मुक्त कर दूँगा, आपको इस विषय में चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। आपसे या ब्रह्माजी से जो लोग इस षडक्षर मन्त्र को प्राप्त करेंगे वे जीते जी मन्त्रसिद्ध हो जाएँगे और मुक्त होकर मुझे प्राप्त होंगे। किसी भी मरणासन्न पुरुष के दाहिने कान में यदि आप मेरे इस मन्त्र का उपदेश करेंगे तो हे शिव ! वह मुक्त हो जाएगा।'—ऐसा श्रीरामचन्द्र ने कहा।

यहाँ तृतीय खण्ड पूरा हुआ।

चतुर्थः खण्डः

अथ हैनं भरद्वाजो याज्ञवल्क्यमुवाच—अथ कैर्मन्त्रैः स्तुतः श्रीरामचन्द्रः प्रीतो भवति। स्वात्मानं दर्शयति तान्नो ब्रूहि भगवन्निति।
स होवाच याज्ञवल्क्यः—पूर्वं सत्यलोके श्रीरामचन्द्रेणैवं शिक्षितो ब्रह्मा पुनरेतया गाथया नमस्करोति—
विश्वरूपधरं विष्णुं नारायणमनामयम्।
पूर्णानन्दैकविज्ञानं परब्रह्मस्वरूपिणम्॥
मनसा संस्मरन् ब्रह्मा तुष्टाव परमेश्वरम्॥
ॐ यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवानद्वैतपरमानन्द आत्मा यत्परं ब्रह्म भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः ॥1॥
(यथा प्रथममन्त्रोक्तावाद्यन्तौ तथा सर्वमन्त्रेषु ज्ञातव्यौ)

अब भरद्वाज ने याज्ञवल्क्य से कहा—'ये रामचन्द्र किन-किन मन्त्रों से स्तुति करने पर प्रसन्न होते हैं ? और अपने स्वरूप को प्रकट करते हैं ? हे भगवन् ! वह आप हमें बताइए।' तब याज्ञवल्क्य ने कहा—प्राचीन समय में श्रीरामचन्द्रजी के द्वारा उपदेश दिए गए ब्रह्माजी ने इस गाथा से उनकी स्तुति की है—"विश्व का रूप धारण करने वाले निष्कलंक, पूर्णानन्दस्वरूप, विज्ञानमात्र, परब्रह्मरूप विष्णु का स्मरण करते हुए ब्रह्मा ने उन परमेश्वर को प्रसन्न किया—ॐ जो यह रामचन्द्र हैं, वह भगवान् अद्वैत परमानन्द आत्मा है जो परब्रह्म है, ॐ भूर्भुवः स्वः उन्हें नमस्कार हो, नमस्कार हो।" (इसी प्रकार के अब आगे दूसरे से लेकर अड़तालीस मन्त्रों तक ब्रह्माजी की स्तुति-गाथा है। इन मन्त्रों में आदिभाग और अन्तभाग तो प्रथम मन्त्र की तरह ही हैं। यथा—)

.....यश्चाखण्डैकरसात्मा..... ॥2॥ .....यच्च ब्रह्मानन्दामृतम्..... ॥3॥ .....यत्तारकं ब्रह्म..... ॥4॥ .....यो ब्रह्मा विष्णुर्महेश्वरो यः सर्वदेवात्मा..... ॥5॥ .....ये सर्वे वेदाः साङ्गाः सशाखाः सेतिहासपुराणाः..... ॥6॥ .....यो जीवान्तरात्मा..... ॥7॥ .....यः सर्वभूतान्तरात्मा..... ॥8॥ .....ये देवासुरमनुष्यादिभावाः..... ॥9॥ .....ये मत्स्यकूर्माद्यवताराः.... ॥10॥ ....योऽन्तःकरणचतुष्टयात्मा..... ॥11॥ .....यश्च प्राणः..... ॥12॥ .....यश्च यमः..... ॥13॥ .....यश्चान्तकः..... ॥14॥ .....यश्च मृत्युः..... ॥15॥ .....यच्चामृतम्..... ॥16॥ .....यानि च पञ्च महाभूतानि..... ॥17॥ .....यः स्थावरजङ्गमात्मा..... ॥18॥ .....ये पञ्चाग्नयः.... ॥19॥ ....याः सप्त महाव्याहृतयः.... ॥20॥ ....या विद्या.... ॥21॥ .....या सरस्वती..... ॥22॥ .....या लक्ष्मीः..... ॥23॥ .....या गौरी..... ॥24॥ .....या जानकी.... ॥25॥ .....यच्च त्रैलोक्यम्..... ॥26॥ .....यः सूर्यः..... ॥27॥ .....यः सोमः..... ॥28॥ .....यानि च नक्षत्राणि..... ॥29॥ .....ये च नव ग्रहाः..... ॥30॥ ....ये चाष्टौ लोकपालाः..... ॥31॥ .....ये चाष्टौ वसवः..... ॥32॥ .....ये चैकादश रुद्राः..... ॥33॥ .....ये च द्वादशादित्याः..... ॥34॥ .....यच्च भूतं भव्यं भविष्यत्.... ॥35॥ ....यद्ब्रह्माण्डस्य बहिर्व्याप्तम्.... ॥36॥

.....यो हिरण्यगर्भः..... ॥37॥ .....या प्रकृतिः..... ॥38॥ .....यश्चोंकारः..... ॥39॥ .....याश्चतस्त्रोऽर्धमात्राः..... ॥40॥ .....यः परमपुरुषः..... ॥41॥ .....यश्च महेश्वरः..... ॥42॥ .....यश्च महादेवः..... ॥43॥ .....य ॐ नमो भगवते वासुदेवाय..... ॥44॥ .....यो महाविष्णुः..... ॥45॥ .....यः परमात्मा..... ॥46॥ .....यो विज्ञानात्मा..... ॥47॥

ब्रह्मा जी ने पारमार्थिक रूप से कैवल्य रूप होते हुए उस परब्रह्म की सगुण रूप में—भूः भुवः स्वः = त्रैलोक्यरूप देहधारी के रूप में भी स्तुति करके सविशेष और निर्विशेष दोनों को बार-बार नमस्कार करते हुए जो त्रैलोक्यशरीरधारी विराट्, निष्कलंक, पूर्णानन्दस्वरूप, केवलविज्ञान-रूप, की स्तुति की कि वह ॐ स्वरूप भगवान् रामचन्द्र अद्वैत परमानन्दस्वरूप आत्मा परब्रह्म, अखण्डैकरसात्मा, ब्रह्मानन्दामृत, तारकब्रह्म, ब्रह्मा-विष्णु-महेशरूप, सर्वदेवात्मा, अंगों-शाखाओं-इतिहास-पुराणादि सर्व वेदरूप, जीवों के अन्तरात्मा, सभी भूतों के अन्तरात्मा, देव-असुर-मनुष्यादि के अस्तित्वरूप, मत्स्यकूर्मादि अवताररूप, अन्तःकरणचतुष्टय के आत्मरूप, प्राण, यम, अन्तक, वायु, मृत्यु, अमृत, जो महाभूत और स्थावर जंगम हैं, उनके आत्मा, पाँच अग्नि, सात प्रसिद्ध व्याहृतियाँ, विद्या, सरस्वती, लक्ष्मी, गौरी, जानकी, त्रैलोक्य, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रगण, नवग्रह, आठ लोकपाल, आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, भूत-वर्तमान-भविष्यकाल, ब्रह्माण्ड के बाहर भी जो कुछ व्याप्त है वह, हिरण्यगर्भ, प्रकृति, ओंकार, चार अर्धमात्राएँ, परमपुरुष, महेश्वर, महादेव हैं और जो ॐ नमो भगवते वासुदेवाय है। जो महाविष्णु, परमात्मा, विज्ञानात्मा आदि सब कुछ हैं।

ॐ यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवानद्वैतपरमानन्द आत्मा। यः सच्चिदानन्दाद्वैतैकचिदात्मा भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमोः नमः ॥ इति ॥ तान् ब्रह्माऽब्रवीत्। सप्तचत्वारिंशन्मन्त्रैर्नित्यं देवं स्तुवध्वम्। ततो देवः प्रीतो भवति। स्वात्मानं दर्शयति। तस्माद्य एतैर्मन्त्रैर्नित्यं देवं स्तौति स देवं पश्यति सोऽमृतत्वं च गच्छतीति महोपनिषत् ॥48॥

इति चतुर्थः खण्डः।

जो यह रामचन्द्र हैं, वह भगवान् अद्वैतरूप परमानन्दस्वरूप आत्मा ही हैं। जो सच्चिदानन्द अद्वैत चैतन्यस्वरूप हैं, वही त्रिभुवन (भू भुवः स्वः) के रूप में हुए हैं। उन्हीं को बार-बार नमस्कार है—ऐसा उन देवों से ब्रह्मा जी ने कहा। सदैव इन उपर्युक्त सैंतालीस मन्त्रों से उस देव की स्तुति करो। इससे देव प्रसन्न होंगे और अपने स्वरूप को बताएँगे। इसलिए जो कोई भी इन मन्त्रों से उन देव की स्तुति करेगा, वह देव का साक्षात्कार करेगा एवं अमृतत्व को प्राप्त करेगा। इस तरह यह महोपनिषत् पूरी हुई।

यहाँ चौथा खण्ड पूरा हुआ।

❋

पञ्चमः खण्डः

अथ हैनं भरद्वाजो याज्ञवल्क्यमुपसमेत्योवाच—श्रीराममन्त्रराजस्य माहात्म्यमनुब्रूहीति ॥1॥

अब भारद्वाज ने याज्ञवल्क्य के पास जाकर कहा—'श्रीराममन्त्रराज का माहात्म्य मुझे बताइए।'

स होवाच याज्ञवल्क्यः—
स्वप्रकाशः परंज्योतिः स्वानुभूत्येकचिन्मयः।
तदेव रामचन्द्रस्य मनोराद्यक्षरः स्मृतः ॥2॥
अखण्डैकरसानन्दस्तारकब्रह्मवाचकः।
रामायेति सुविज्ञेयः सत्यानन्दचिदात्मकः ॥3॥
नमःपदं सुविज्ञेयं पूर्णानन्दैकविग्रहम्।
सदा नमन्ति हृदये सर्वे देवा मुमुक्षवः ॥4॥ इति।

तब याज्ञवल्क्य ने कहा—जो स्वप्रकाश है, जो ज्योतिस्वरूप है, जो स्वानुभूति से ही गम्य है, जो चिन्मय है वही श्रीरामचन्द्र के षडक्षर मन्त्र के आद्य बीजमन्त्र का अर्थ होता है। अब 'रामाय' इन तीन अक्षरों का यह अर्थ है कि जो अखण्ड, एकरस, आनन्दरूप है और तारक ब्रह्म का वाचक है, वही सच्चिदानन्द रूप अर्थ 'रामाय' इन तीन अक्षरों का होता है, ऐसा जानना चाहिए। और जो 'नमः' पद है, उसे पूर्णानन्द स्वरूप ही जानना चाहिए। मुक्ति को चाहने वाले सभी देव भी ऐसे स्वरूप को हृदय में रखकर सदा नमस्कार करते हैं।

य एतं मन्त्रराजं श्रीरामचन्द्रषडक्षरं नित्यमधीते। सोऽग्निपूतो भवति। स वायुपूतो भवति। स आदित्यपूतो भवति। स सोमपूतो भवति। स ब्रह्मपूतो भवति। स विष्णुपूतो भवति। स रुद्रपूतो भवति। स सर्वैर्देवैर्ज्ञातो भवति। स सर्वक्रतुभिरिष्टवान् भवति। तेनेतिहासपुराणानां रुद्राणां शतसहस्राणि जप्तानि फलानि भवन्ति। श्रीरामचन्द्रमनुस्मरणेन गायत्र्याः शतसहस्राणि जप्तानि फलानि भवन्ति। प्रणवानामयुतकोटि-जप्ता भवन्ति। दश पूर्वान् दशोत्तरान् पुनाति। स पङ्क्तिपावनो भवति। स महान् भवति। सोऽमृतत्वं च गच्छति ॥5॥

जो साधक श्रीराम के इस षडक्षरमन्त्र को सदैव पढ़ता है, वह अग्नि जैसा पवित्र हो जाता है, वह वायु जैसा पवित्र हो जाता है, वह सूर्य जैसा पवित्र हो जाता है, वह चन्द्र जैसा पवित्र हो जाता है, वह ब्रह्मा जैसा पवित्र हो जाता है, वह विष्णु जैसा पवित्र हो जाता है, वह रुद्र जैसा पवित्र हो जाता है, वह सभी देवों के द्वारा जाना जाता है, वह सभी यज्ञों का करने वाला हो जाता है, उसको पुराणों और इतिहासों में कहे गए रुद्र के एक लाख मन्त्रजप के फल मिल जाते हैं। श्रीराम के इस षडक्षर मन्त्र के स्मरण से गायत्री-मन्त्र के एक लाख मन्त्रजाप के फल मिलते हैं। अयुत कोटि ओंकार जप का भी इससे फल मिल जाता है। यह मन्त्र साधक की पहले की दस और बाद की दस पीढ़ियों को भी पवित्र कर देता है। इसका साधक पंक्तिपावन—अपने सहपन्थियों को पवित्र करता है, वह महान् बन जाता है। वह अमृतत्व को प्राप्त करता है।

अत्रैते श्लोका भवन्ति—
गाणपत्येषु शैवेषु शाक्तसौरेष्वभीष्टदः।
वैष्णवेष्वपि सर्वेषु राममन्त्रः फलाधिकः ॥6॥
गाणपत्यादिमन्त्रेषु कोटिकोटिगुणाधिकः।
मन्त्रस्तेष्वप्यनायासफलदोऽयं षडक्षरः ॥7॥

षडक्षरोऽयं मन्त्रः स्यात् सर्वाघौघनिवारणः ।
मन्त्रराज इति प्रोक्तः सर्वेषामुत्तमोत्तमः ॥8॥
कृतं दिने यद्दुरितं पक्षमासर्तुवर्षजम् ।
सर्वं दहति निःशेषं तूलाचलमिवानलः ॥9॥

गाणपत्यमन्त्रों, शैवमन्त्रों, शाक्तमन्त्रों, सूर्यमन्त्रों, वैष्णवमन्त्रों और सभी अन्य मन्त्रों में भी यह षडक्षर राममन्त्र अभीष्ट फल और अधिक फल देने वाला है। गाणपत्य आदि मन्त्रों में करोड़ों-करोड़ों गुण वाले मन्त्र तो होते हैं, परन्तु उन ऐसे मन्त्रों में भी यह षडक्षर राममन्त्र तो अनायास ही फल देने वाला मन्त्र है। यह षडक्षर मन्त्र पापों के सर्वसमूहों का निवारण कर देने वाला है। सभी मन्त्रों में उत्तमोत्तम यह षडक्षर मन्त्र मन्त्रों का राजा कहा गया है। जो कुछ भी पाप दिन में, पक्ष में, मास में, ऋतु में या वर्ष में किया गया हो, उस पापसमूह को, जैसे रूई के पहाड़ को आग जला देती है, वैसे ही यह मन्त्र जला देता है।

ब्रह्महत्यासहस्राणि ज्ञानाज्ञानकृतानि च ।
स्वर्णस्तेयसुरापानगुरुतल्पायुतानि च ॥10॥
कोटिकोटिसहस्राणि उपपातकजान्यपि ।
सर्वाण्यपि प्रणश्यन्ति राममन्त्रानुकीर्तनात् ॥11॥
भूतप्रेतपिशाचाद्याः कूश्माण्डब्रह्मराक्षसाः ।
दूरादेव प्रधावन्ति राममन्त्रप्रभावतः ॥12॥
ऐहलौकिकमैश्वर्यं स्वर्गाद्यं पारलौकिकम् ।
कैवल्यं भगवत्त्वं च मन्त्रोऽयं साधयिष्यति ॥13॥

जाने-अनजाने किए गए जो पाप हैं उनका और हजारों ब्रह्महत्या के पापों का तथा सुवर्ण की चोरी, सुरापान, गुरु की शय्या पर सोना—आदि कार्यों से उत्पन्न हुए पापों का और अन्यान्य लाखों-करोड़ों उपपातकों का भी इस षडक्षर राममन्त्र के जप के द्वारा नाश हो जाता है। इस मन्त्र-जाप से श्रीरामचन्द्र के प्रभाव से भूत, प्रेत, पिशाच, कूष्माण्ड और ब्रह्मराक्षस दूर से ही भाग जाते हैं। ऐहलौकिक ऐश्वर्य और स्वर्ग आदि पारलौकिक सुख तथा भगवत्ता तथा कैवल्य को भी यह मन्त्र सिद्ध कर सकता है।

ग्राम्यारण्यपशुघ्नत्वं संचितं दुरितं च यत् ।
मद्यपानेन यत्पापं तदप्याशु विनाशयेत् ॥14॥
अभक्ष्यभक्षणोत्पन्नं मिथ्याज्ञानसमुद्भवम् ।
सर्वं विलीयते राममन्त्रस्यास्यैव कीर्तनात् ॥15॥
श्रोत्रियस्वर्णहरणाद्यच्च पापमुपस्थितम् ।
रत्नादेश्चापहारेण तदप्याशु विनाशयेत् ॥16॥
ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं हत्वा च किल्बिषम् ।
सञ्चिनोति नरो मोहाद्यद्यत्तदपि नाशयेत् ॥17॥

ग्राम्य (पालतू) या अरण्य के पशुओं की हत्या से इकट्ठा किया गया पाप और मद्यपान का पाप भी यह मन्त्र सर्वथा नष्ट कर देता है। अभक्ष्य के भक्षण से उत्पन्न हुआ पाप और मिथ्याज्ञान से उत्पन्न हुआ पाप—यह सब इस राममन्त्र के कीर्तन से नष्ट हो जाता है। श्रोत्रिय (शास्त्रज्ञ) का धन चुराने से

जो पाप होता है, और रत्न आदि के लूटने से जो पाप होता है, यह सब भी इस मन्त्र के जपने से शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र की मोहवश हत्या करके मनुष्य जो पाप इकट्ठा करता है, वह भी इस मन्त्र के जप से नष्ट हो जाता है।

गत्वाऽपि मातरं मोहादगम्याश्चैव योषितः।
उपास्यानेन मन्त्रेण रामस्तदपि नाशयेत् ॥18॥
महापातकपापिष्ठसङ्गत्या सञ्चितं च यत्।
नाशयेत्तत्कथाऽऽलापशयनासनभोजनैः ॥19॥
पितृमातृवधोत्पन्नं बुद्धिपूर्वमघं च यत्।
तदनुष्ठानमात्रेण सर्वमेतद्विलीयते ॥20॥
यत् प्रयागादितीर्थोक्तप्रायश्चित्तशतैरपि।
नैवापनोद्यते पापं तदप्याशु विनाशयेत् ॥21॥

माता के साथ संयोग करके भी और अगम्य अन्य स्त्रियों के साथ संभोग किये जाने पर भी इस मन्त्र की उपासना करने से राम ऐसे पापों का भी नाश कर देते हैं। किसी पापी मनुष्य के साथ संग करते हुए यदि वार्तालाप में, शयन में, आसन में या भोजनादि में जो भी पापों को एकत्रित क्रिया गया हो, उसे भी यह मन्त्र नाश कर देता है। पिता या माता के वध से उत्पन्न हुआ पाप और जो पाप बुद्धिपूर्वक किया गया हो वह सब इस मन्त्र के अनुष्ठान से नष्ट हो जाता है। जो पाप प्रयागादि तीर्थों में कहे गए प्रायश्चित्त करने से भी नष्ट नहीं होता, वह पाप भी यह मन्त्र शीघ्र नष्ट कर देता है।

पुण्यक्षेत्रेषु सर्वेषु कुरुक्षेत्रादिषु स्वयम्।
बुद्धिपूर्वमघं कृत्वा तदप्याशु विनाशयेत् ॥22॥
कृच्छ्रैस्तप्तपराकाद्यैर्नानाचान्द्रायणैरपि।
पापं च नापनोद्यं यत् तदप्याशु विनाशयेत् ॥23॥
आत्मतुल्यसुवर्णादिदानैर्बहुविधैरपि।
किञ्चिदप्यपरिक्षीणं तदप्याशु विनाशयेत् ॥24॥
अवस्थात्रितयेष्वेवं बुद्धिपूर्वमघं च यत्।
तन्मन्त्रस्मरणेनैव निःशेषं प्रविलीयते ॥25॥

कुरुक्षेत्र आदि सभी पवित्र तीर्थस्थलों में बुद्धिपूर्वक (जानबूझकर) किया हुआ पाप भी यह मन्त्र नष्ट कर देता है। जो पाप तप्तपराक आदि कष्टदायक प्रायश्चित्तों से और तरह-तरह के चान्द्रायण व्रतों से भी नष्ट नहीं होता, उस पाप को भी यह मन्त्र शीघ्र नष्ट कर देता है। जो पाप अपने प्राण जैसे प्यारे स्वर्ण के और ऐसी ही प्रिय अन्य वस्तुओं के बहुत-बहुत दानों से भी लेशमात्र भी क्षीण नहीं हो सकता, वह पाप भी इस मन्त्र के द्वारा शीघ्र नष्ट हो जाता है। जाग्रदादि तीनों अवस्थाओं में जो पाप बुद्धिपूर्वक किया गया हो, ऐसे पाप का भी इस मन्त्र के स्मरणमात्र से निःशेष रूप से ही नाश हो जाता है।

अवस्थात्रितयेष्वेवं मूलबन्धमघं च यत्।
त र.न्मन्त्रोपदेशेन सर्वमेतत् प्रणश्यति ॥26॥
अ.ब्रह्मबीजदोषाश्च नियमातिक्रमोद्भवाः।
स्त्रीणां च पुरुषाणां च मन्त्रेणानेन नाशिताः ॥27॥
येषु येष्वपि देशेषु रामभद्र उपास्यते।
दुर्भिक्षादिभयं तेषु न भवेत्तु कदाचन ॥28॥

शान्तः प्रसन्नवदनो नक्रोधो भक्तवत्सलः ।
अनेन सदृशो मन्त्रो जगत्स्वपि न विद्यते ॥29॥
सम्यगाराधितो रामः प्रसीदत्येव सत्वरम् ।
ददात्यायुष्यमैश्वर्यमन्ते विष्णुपदं च यत् ॥30॥

तीनों अवस्थाओं में इस तरह जो पाप मूलबन्ध को हो गया है, वह भी उस-उस मन्त्र के उपदेश—जपादि अनुष्ठान से सब नष्ट हो जाता है। अनुष्ठान के नियमों का अतिक्रमण करके ब्रह्ममन्त्र से लेकर बीजमन्त्र सम्बन्ध तक के जो-जो दोष स्त्रियों के द्वारा या पुरुषों के द्वारा होते हैं वे सभी इस मन्त्र के द्वारा नष्ट हो जाते हैं। जिन-जिन देशों में रामभद्र की उपासना की जाती है, उन देशों में अकाल आदि का भय नहीं होता। इस मन्त्र के (देवता) जैसा शान्त, प्रसन्नवदन, अक्रोधी, भक्तवत्सल जगत् में कहीं भी नहीं है। विधिपूर्वक अच्छी तरह से आराधित ऐसे श्रीराम शीघ्र ही प्रसन्न हो जाते हैं और भक्तों को आयुष्य एवं ऐश्वर्य प्रदान कर अन्त में विष्णुपद (परमपद) भी प्रदान करते हैं।

तदेतदृचाऽभ्युक्तम्—
ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥31॥
तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।
दिवीव चक्षुराततम् ॥32॥
तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते ।
विष्णोर्यत् परमं पदम् ॥33॥
ॐ सत्यमित्युपनिषत् ॥34॥

इति पञ्चमः खण्डः ।

इति श्रीरामोत्तरतापिन्युपनिषत्समाप्ता ।

यही बात ऋचा में कही गई है—जिसमें समस्त देवगण अधिष्ठित हैं उस अविनाशी परमव्योम में (परमधाम में) समग्र वेद (ज्ञानराशि) विद्यमान है। जो लोग इसे नहीं जानते, वे केवल वेद-ऋचाओं के द्वारा क्या करेंगे ? पर जो उस परमधाम स्थिति को जान लेते हैं, वे सम्यक् रूप से उसी तत्त्व में (परमात्मा में) कृतार्थ होकर निवास करते हैं। ......विष्णु का वह परमपद है जिसे विद्वान् लोग द्युलोक में फैले हुए चक्षु की तरह देखते हैं।......उसे ही भवत्रस्त और जागरूक ज्ञानी लोग प्रज्वलित करते हैं, वह विष्णु का परमपद है। वह परमपद ॐ है, ऐसा यह उपनिषद् कहती है।

यहाँ पंचम खण्ड पूरा हुआ।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः.....देवहितं यदायुः । (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

(58) वासुदेवोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

यह उपनिषद् सामवेद की परंपरा में है। इसमें ऊर्ध्वपुण्ड्र की महिमा है। चक्रतीर्थ से गोपीचन्दन नामक मिट्टी से ऊर्ध्वपुण्ड्र किया जाता है। इसमें ब्रह्मचारी आदि का धारण-प्रकार, त्रिपुण्ड्र की त्रिमूर्ति आदि की रूपता, ऊर्ध्वपुण्ड्र की प्रणवाधिकारी द्वारा ही धारणयोग्यता, परमहंस के लिए भी उसकी धारणयोग्यता, वासुदेव का ध्यान-प्रकार, वासुदेव की सर्वात्मता, वासुदेव के ध्यान के स्थान में गोपीचन्दन का उपयोग, गोपीचन्दन और भस्म के धारण की विधि, फलश्रुति आदि वर्णित हैं।

शान्तिपाठः

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि····ते मयि सन्तु। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (आरुण्युपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

ॐ नमस्कृत्य भगवान् नारदः सर्वेश्वरं वासुदेवं पप्रच्छ—अधीहि भगवन्नूर्ध्वपुण्ड्रविधिं द्रव्यमन्त्रस्थानादिसहितं मे ब्रूहीति ॥1॥
स होवाच भगवान् वासुदेवः—वैकुण्ठस्थानादुत्पन्नं मम प्रीतिकरं मद्भक्तैर्ब्रह्मादिभिर्धारितं विष्णुचन्दनं ममाङ्गे प्रतिदिनमालिप्तं गोपीभिः प्रक्षालनाद् गोपीचन्दनमाख्यातं मदङ्गलेपनं पुण्यं चक्रतीर्थान्तःस्थितं चक्रसमायुक्तं पीतवर्णं मुक्तिसाधनं भवति ॥2॥

ॐ नमस्कार करके भगवान् नारद ने सर्वेश्वर वासुदेव से पूछा—'मुझे आप द्रव्य, स्थान और मन्त्र आदि के साथ ऊर्ध्वपुण्ड्र की विधि बताइए।' तब उन भगवान् वासुदेव ने कहा—'वैकुण्ठ के स्थान से मेरा प्रीतिकर विष्णुचन्दन उत्पन्न हुआ है। वह ब्रह्मा आदि मेरे भक्तों के द्वारा धारण किया जाता है। वह मेरे अंगों में भी सदैव आलिप्त रहता है। उसे गोपियाँ प्रक्षालित करती हैं, इसलिए इसका नाम गोपीचन्दन पड़ गया है। वह मेरा अंगलेपन चक्रतीर्थ में होता है (चक्रतीर्थ की मिट्टी के रूप में है) और मेरे चक्र से (चक्र से बनने के कारण) युक्त है। वह पीले रंग का होता है। वह मुक्ति का साधन है।

अथ गोपीचन्दनं नमस्कृत्योद्धृत्य—
गोपीचन्दन पापघ्न विष्णुदेहसमुद्भव।
चक्राङ्कित नमस्तुभ्यं धारणान्मुक्तिदो भव ॥3॥
इमं मे गङ्गे इति जलमादाय विष्णोर्नुकमिति मर्दयेत्।
अतो देवा अवन्तु न इत्येतैर्मन्त्रैर्विष्णुगायत्र्या केशवादिनामभिर्वा धायेरत् ॥4॥

उस चक्रतीर्थ से गोपीचन्दन को लाकर—'हे पापनाशक गोपीचन्दन ! हे विष्णु के देह से उत्पन्न होने वाले ! हे चक्र से अंकित ! तुम्हें नमस्कार हो ! तुम्हें धारण किए जाने पर मेरी मुक्ति को देने वाले तुम हो !' इस प्रकार कहते हुए गोपीचन्दन को यथेष्ट मात्रा में लेकर उसे देवगृह में रखकर, फिर थोड़ा-सा हाथ में लेकर 'इमं मे गंगे'—इस प्रकार बोलकर जल को लेकर विष्णु गायत्री बोलते हुए उसका मर्दन करना चाहिए। इसके बाद 'अतो देवा भवन्तु नः'—इन मन्त्रों से या विष्णुगायत्री मन्त्र से या केशवादि नामों से उसे धारण करना चाहिए। (विष्णुगायत्री यह है—'नारायणाय विद्महे। वासुदेवाय धीमहि। तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्')।

ब्रह्मचारी वानप्रस्थो वा ललाटहृदयकण्ठबाहुमूलेषु वैष्णवगायत्र्या कृष्णादिनामभिर्वा धारयेत्।
इति त्रिवारमभिमन्त्र्य—
शङ्खचक्रगदापाणे द्वारकानिलयाच्युत।
गोविन्द पुण्डरीकाक्ष रक्ष मां शरणागतम्॥
इति ध्यात्वा गृहस्थो ललाटादिद्वादशस्थलेष्वनामिकाङ्गुल्या वैष्णवगायत्र्या केशवादिनामभिर्वा धारयेत्॥5॥
ब्रह्मचारी गृहस्थो वा ललाटहृदयकण्ठबाहुमूलेषु वैष्णवगायत्र्या कृष्णादिनामभिर्वा धारयेत्॥6॥
यतिस्तर्जन्या शिरोललाटहृदयेषु प्रणवेनैव धारयेत्॥7॥

ब्रह्मचारी को और वानप्रस्थी को ललाट, हृदय, कण्ठ और बाहुमूलों में वैष्णवगायत्री अथवा कृष्णादि के नामों का उच्चारण करते हुए इसे धारण करना चाहिए। गृहस्थ को इसे तीन बार अभिमंत्रित करना चाहिए। फिर ध्यान करते समय पठनीय मन्त्र यह है—'हे शंख-चक्र-गदा को हाथ में लिए हुए द्वारकानिवासि ! हे अच्युत ! हे गोविन्द ! हे कमलनयन ! आप मुझ शरणागत की रक्षा कीजिए।' इस मन्त्र से ध्यान करना चाहिए। बाद में उसे अनामिका अँगुली से ललाट आदि बारह स्थलों में, वैष्णव गायत्री या केशव आदि नाम बोलते हुए, धारण करना चाहिए। ब्रह्मचारी को या गृहस्थ को ललाट, हृदय, कण्ठ और बाहुमूलों पर वैष्णव गायत्री या कृष्णादि नामों को बोलते हुए उसे धारण करना चाहिए। और यति को उसे तर्जनी अँगुलि के द्वारा प्रणव मन्त्र का उच्चारण करते हुए मस्तिष्क, ललाट और हृदय में धारण करना चाहिए।

ब्रह्मादयस्त्रयो मूर्तयस्तिस्रो व्याहृतयस्त्रीणि छन्दांसि त्रयोऽग्नय इति ज्योतिष्मन्तस्त्रयः कालास्तिस्रोऽवस्थास्त्रय आत्मानः पुण्ड्रास्त्रय ऊर्ध्वा अकार उकारो मकार एते प्रणवमयोर्ध्वपुण्ड्रस्तदात्मा सदेतदोमिति॥8॥
ऊर्ध्वमुन्नमयत इत्योंकाराधिकारी तस्मादूर्ध्वपुण्ड्रं धारयेत्॥9॥
परमहंसो ललाटे प्रणवेनैकमूर्ध्वपुण्ड्रं वा धारयेत्॥10॥

ब्रह्मा आदि तीन मूर्तियाँ हैं, भूर्भुवःस्वः ये तीन व्याहृतियाँ हैं, तीन छन्द हैं, तीन अग्नि हैं, तीन काल हैं, तीन अवस्थाएँ हैं, तीन आत्मा (आत्मा, अन्तरात्मा, परात्मा) हैं, इसी प्रकार पुण्ड्र भी तीन ही हैं। यह त्रिपुण्ड्र की त्रिमूर्त्यादिरूपता है। अकार, उकार और मकार ये ऊर्ध्व हैं जो प्रणवमय है वह ऊर्ध्वपुण्ड्र है। वह उन सबका आत्मा है। वह सत् है, वह ओम् है। यह ऊर्ध्वपुण्ड्र प्रणवरूप होने से इसे प्रणवाधिकारी

को ही धारण करना चाहिए, क्योंकि वह ऊर्ध्वगति होता है इसलिए उसे धारण करना चाहिए। अवधूत (परमहंस) को भी इसे प्रणवमन्त्र द्वारा त्रिपुण्ड्र या ऊर्ध्वपुण्ड्र के रूप में धारण करना चाहिए।

तत्त्वप्रदीपप्रकाशं स्वात्मानं पश्यन् योगी मत्सायुज्यमवाप्नोति ॥11॥
अथ वा न्यस्तहृदयः पुण्ड्रमध्ये वा हृदयकमलमध्ये वा ॥12॥

अब वासुदेव का ध्यान प्रकार इस प्रकार है—'तत्त्वज्ञानरूपी प्रदीप से प्रकाशित ऐसे अपने आत्मा को परमात्मरूप में देखकर योगी मेरे सायुज्य को प्राप्त हो जाता है। यदि इस प्रकार अपने आत्मा को परमात्मरूप में देखने में वह अशक्त हो, तो वह अपने हृदय को भगवान् में धारणकर हृदयकमल के मध्य में मेरा ध्यान करके या हृदय पर न्यस्त किए गए पुण्ड्र में मेरा ध्यान करके भी मेरे सायुज्य को प्राप्त करता है।

तस्य मध्ये वह्निशिखा अणीयोर्ध्वा व्यवस्थिता।
नीलतोयदमध्यस्था विद्युल्लेखेव भास्वरा ॥13॥
नीवारशूकवत्तन्वी विद्युल्लेखेव भास्वरा।
तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः ॥14॥ इति।

उस हृदय के मध्य भाग में मूलाधार स्थित वह्निशिखा, जो कि ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त व्यवस्थित है, वह अणु जैसी अतिसूक्ष्म, ऊर्ध्वगामिनी, काले बादलों में चमकती हुई बिजली जैसी चमकीली है। वह नीवारतन्तु जैसी पतली योगकाल में स्फुरित होती है। उस शिखा के बीच उससे भी सूक्ष्म रूप में परमात्मा वासुदेव अवस्थित हैं।

अतः पुण्ड्रस्थं हृदयपुण्डरीकेषु तमभ्यसेत्।
क्रमादेवं स्वमात्मानं भावयेन्मां परं हरिम् ॥15॥
एकाग्रमनसा यो मां ध्यायते हरिमव्ययम्।
हृत्पङ्कजे च स्वात्मानं स मुक्तो नात्र संशयः ॥16॥
मद्रूपमद्वयं ब्रह्म आदिमध्यान्तवर्जितम्।
स्वप्रभं सच्चिदानन्दं भक्त्या जानाति चाव्ययम् ॥17॥

इसलिए पुण्ड्र में अवस्थित परमात्मा को हृदयस्थपुण्ड्र में अभ्यास करना चाहिए अर्थात् हृदय में ध्यान करना चाहिए। इस प्रकार क्रम से धीरे-धीरे अपने आत्मा में मेरी (हरि की – परमतत्त्व की) भावना करनी चाहिए। जो साधक एकाग्र मन से मेरा (हरि का) अर्थात् अव्ययरूप का अपने आत्मरूप से इस तरह हृदयकमल में ध्यान करता है, वह मुक्त हो ही जाता है, इसमें कोई भी सन्देह नहीं है। मेरा रूप अद्वैत है, वह आदि-मध्य-अन्त से रहित है। वह स्वयंप्रकाश है, मेरे इस अव्यय रूप को भक्ति के द्वारा साधक जानता है।

एको विष्णुरनेकेषु जङ्गमस्थावरेषु च।
अनुस्यूतो वसत्यात्मा भूतेष्वहमवस्थितः ॥18॥
तैलं तिलेषु काष्ठेषु वह्निः क्षीरे घृतं यथा।
गन्धः पुष्पेषु भूतेषु तथाऽऽत्माऽवस्थितो ह्यहम् ॥19॥

इन अनेकानेक स्थावर-जंगमों में एक ही विष्णु है। सभी का आत्मस्वरूप मैं (विष्णु) इन सभी भूतों में अनुस्यूत (पिरोया हुआ) हूँ। जिस प्रकार तिलों में तैल और काष्ठों में अग्नि व्याप्त होकर रहता है, या दूध में ही घी होता है, पुष्पों में गन्ध होती है, वैसे ही मैं सभी भूतों में व्याप्त होकर रहता हूँ।

ब्रह्मरन्ध्रे भ्रुवोर्मध्ये हृदये चिद्रविं हरिम्।
गोपीचन्दनमालिप्य तत्र ध्यात्वाऽऽप्नुयात् परम् ॥20॥
ऊर्ध्वदण्डोर्ध्वरेताश्च ऊर्ध्वपुण्ड्रोर्ध्वयोगवान्।
ऊर्ध्वं पदमवाप्नोति यतिरूर्ध्वचतुष्कवान् ॥21॥
इत्येतन्निश्चितं ज्ञानं मद्भक्त्या सिध्यति स्वयम्।
नित्यमेकाग्रभक्तिः स्याद् गोपीचन्दनधारणात् ॥22॥

अब वासुदेव के ध्यानस्थानों में गोपीचन्दन की धारण-विधि इस प्रकार है—ब्रह्मरन्ध्र में, दोनों भौहों के बीच में, हृदय में गोपीचन्दन लगाकर वहाँ पर चित्प्रकाश हरि का ध्यान करके साधक परमपद को प्राप्त करे। जो योगी ऊर्ध्व दण्डवाला है, ऊर्ध्व रेतस् वाला है, ऊर्ध्व पुण्ड्र को धारण किए हुए है, और ऊर्ध्व योग वाला होता है—इन चार **ऊर्ध्व** को धारण करने वाला योगी ऊर्ध्व पद को ही प्राप्त करता है। इस प्रकार का यह निश्चित ज्ञान मेरी भक्ति से स्वयं ही सिद्ध हो जाता है। इस गोपीचन्दन को धारण करने से हमेशा एकाग्र भक्ति प्राप्त होती है।

ब्राह्मणानां तु सर्वेषां वैदिकानामनुत्तमम्।
गोपीचन्दनवारिभ्यामूर्ध्वपुण्ड्रं विधीयते ॥23॥
यो गोपीचन्दनाभावे तुलसीमूलमृत्तिकाम्।
मुमुक्षुर्धारयेन्नित्यमपरोक्षात्मसिद्धये ॥24॥
अतिरात्राग्निहोत्रभस्माऽग्नेर्भसितमिदं विष्णुस्त्रीणि पदेति मन्त्रैर्वैष्णव-गायत्र्या प्रणवेनोद्धूलनं कुर्यात् ॥25॥
एवं विधिना गोपीचन्दनं च धारयेत् ॥26॥

सभी वैदिक धर्मानुयायी ब्राह्मणों के लिए तो यह उत्तमोत्तम जल से मिश्रित गोपीचन्दन को ऊर्ध्वपुण्ड्र के रूप में धारण करने का विधान है। गोपीचन्दन के अभाव में तुलसी के मूल में स्थित मिट्टी भी मुमुक्षु साधक को सदैव अपरोक्ष ज्ञान की सिद्धि प्राप्त करने के लिए धारण करनी चाहिए। उस गोपीचन्दन के ऊपर अतिरात्र और अग्निहोत्र की भस्मयुक्त अग्नि से भस्म लेकर 'इदं विष्णुस्त्रीणि' इत्यादि मन्त्रों से भस्म का लेप करना चाहिए। वैष्णवी गायत्री तथा प्रणवमन्त्र से भी भस्मलेपन करना चाहिए। इसी विधि से गोपीचन्दन को भी धारण करना चाहिए।

यस्त्वधीते वा स सर्वपातकेभ्यः पूतो भवति। पापबुद्धिस्तस्य न जायते। स सर्वेषु तीर्थेषु स्नातो भवति। स सर्वैर्यज्ञैर्याजितो भवति। स सर्वैर्देवैः पूज्यो भवति। श्रीमन्नारायणे मय्यचञ्चला भक्तिश्च भवति। स सम्यग् ज्ञानं च लब्ध्वा विष्णुसायुज्यमवाप्नोति। न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते ॥27॥
इत्याह भगवान् वासुदेवः ॥28॥
यस्त्वेतद्वाऽधीते सोऽप्येवमेव भवतीत्यों सत्यमित्युपनिषत् ॥29॥

इति वासुदेवोपनिषत्समाप्ता।

अथवा इसका जो अध्ययन भी करता है, वह भी सभी पापों से मुक्त (पवित्र) हो जाता है। उसको कभी पाप करने की बुद्धि ही नहीं होती। उसने सभी तीर्थों में स्नान कर लिया होता है, अर्थात् उसे सर्वतीर्थों में किए गए स्नानों का पुण्य मिल जाता है। उसने सभी प्रकार के यज्ञ कर लिए होते हैं, अर्थात् उसे सभी प्रकार के यज्ञों का फल मिल जाता है। वह सभी देवों के द्वारा पूजनीय माना जाता है। उसकी श्रीमन्नारायण ऐसे मुझमें अचल भक्ति उत्पन्न होती है। वह सम्यग् ज्ञान को प्राप्त करके विष्णु के सायुज्य को प्राप्त करता है। वह फिर से इस मर्त्यलोक में जन्म नहीं लेता, उसे पुनर्जन्म नहीं लेना पड़ता—यह भगवान् वासुदेव ने कहा है। जो इसका पाठ भी करता है, वह भी ऐसा ही होता है। ॐ सत्यम्—यह सत्य है। यही उपनिषत् है।

यहाँ वासुदेवोपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

आप्यायन्तु ममाङ्गानि''''ते मयि सन्तु। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

❈

(59) मुद्गलोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

ऋग्वेदीय परम्परा की इस उपनिषद् के चार खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में यजुर्वेदीय पुरुष-सूक्तों के पहले सोलह मंत्रों का रहस्योद्घाटन है। दूसरे में शरणागत इन्द्र को भगवान् द्वारा दिया हुआ उपदेश है। उसमें पुरुषसूक्त के व्यक्त और अव्यक्त दो पुरुषों के सम्बन्ध में वर्णन है। तीसरे में भिन्न-भिन्न योनियों के साधकों के द्वारा भिन्न-भिन्न रूपों में उस पुरुष की उपासना करने की पद्धति एवं उसकी फलश्रुति भी कही गई है। चौथे में उत्तम पुरुष की विलक्षणता तथा उसके अभिव्यक्त होने के विविध विशिष्टांशों की (घटकों की) चर्चा करके साधना के द्वारा उसी पुरुषस्वरूप हो जाने की बात कही गई है। बाद में इस रहस्यमय (गोपनीय) ज्ञान को प्राप्त करने के बाद अनुशासन बताया गया है।

शान्तिपाठः

ॐ वाङ्मे मनसि''' वक्तारमवतु वक्तारम्। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

प्रथमः खण्डः

ॐ पुरुषसूक्तार्थनिर्णयं व्याख्यास्यामः। पुरुषसंहितायां पुरुषसूक्तार्थः संग्रहेण प्रोच्यते।
सहस्त्रशीर्षेत्यत्र सशब्दोऽनन्तवाचकः। अनन्तयोजनं प्राह दशाङ्गुल-वचस्तथा ॥1॥

अब हम पुरुषसूक्त के अर्थ के निर्णय की विवेचना कर रहे हैं। पुरुषसंहिता में इस पुरुषसूक्त का अर्थ संक्षेप में कहा गया है। पुरुषसूक्त में जो 'सहस्त्र' शब्द है, वह अनन्त का वाचक है। उसी प्रकार 'दशांगुल' शब्द का अर्थ भी 'अनन्तदूरी वाला' ऐसा होता है।

तस्य प्रथमया विष्णोर्देशतो व्याप्तिरीरिता।
द्वितीयया चास्य विष्णोः कालतो व्याप्तिरुच्यते ॥2॥

इस पुरुषसूक्त की प्रथम ऋचा में (प्रथम मन्त्र के द्वारा) 'सहस्त्रशीर्ष' इत्यादि द्वारा भगवान् विष्णु की देशगत व्यापकता बताई गई है, और द्वितीय मन्त्र—'पुरुष एवेदं' इत्यादि द्वारा भगवान् विष्णु की काल के सन्दर्भ में व्यापकता बताई गई है।

विष्णोर्मोक्षप्रदत्वं च कथितं तु तृतीयया।
एतावानिति मन्त्रेण वैभवं कथितं हरेः ॥3॥
एतेनैव च मन्त्रेण चतुर्व्यूहो विभाषितः।
त्रिपादित्यनया प्रोक्तमनिरुद्धस्य वैभवम् ॥4॥

पुरुषसूक्त के 'एतावानस्य' इत्यादि तीसरे मन्त्र द्वारा विष्णु को मोक्ष प्रदान करने वाले लक्षण को बताया गया है और साथ ही हरि के वैभव को दर्शाया गया है। इन्हीं मन्त्रों के द्वारा (इन तीन मन्त्रों के समूह द्वारा) विष्णु भगवान् का चतुर्व्यूह बताया गया है। इनमें 'त्रिपादूर्ध्व' इत्यादि मन्त्र के द्वारा भगवान् के चार व्यूहों में से 'अनिरुद्ध' व्यूह का वैभव बताया गया है।

तस्माद्विराडित्यनया पादनारायणाद्धरेः।
प्रकृतेः पुरुषस्यापि समुत्पत्तिः प्रदर्शिता ॥5॥
यत्पुरुषेणेत्यनया सृष्टियज्ञः समीरितः।
सप्तास्यासन्परिधयः समिधश्च समीरिताः ॥6॥
तं यज्ञमिति मन्त्रेण सृष्टियज्ञः समीरितः।
अनेनैव च मन्त्रेण मोक्षश्च समुदीरितः ॥7॥
तस्मादिति च मन्त्रेण जगत्सृष्टिः समीरिताः।
वेदाहमिति मन्त्राभ्यां वैभवं कथितं हरेः ॥8॥
यज्ञेनेत्युपसंहारः सृष्टेर्मोक्षस्य चेरितः।
य एवमेतज्जानाति स हि मुक्तो भवेदिति ॥9॥

इति प्रथमः खण्डः।

पुरुषसूक्त के 'तस्माद्विराडजायत' इत्यादि पाँचवें मन्त्र में पादविभूतिरूप भगवान् नारायण हरि के द्वारा स्वाश्रयभूत प्रकृति तथा अधिपुरुष – जीव का आविष्कार बताया गया है। फिर इसी सूत्र के 'यत्पुरुषेण देवा हविषा' इत्यादि मन्त्र के द्वारा सृष्टिस्वरूप यज्ञ का वर्णन किया गया है। और 'सप्तास्यासन्परिधयः' इत्यादि मन्त्र के द्वारा इस सृष्टिरूप यज्ञ के लिए समिधों का प्रतिपादन किया गया है। इसके बाद, 'तं यज्ञं' इत्यादि मन्त्र के द्वारा इसी सृष्टियज्ञ का वर्णन किया गया है, और इसी मन्त्र के द्वारा मोक्ष का निर्देश भी किया गया है। इस पुरुषसूक्त के 'तस्माद्यज्ञात्' इत्यादि सात मन्त्रों के द्वारा इस समग्र सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। और बाद के 'वेदाहमेतं' आदि दो मन्त्रों से भगवान् हरि की कीर्ति-गाथा कही गई है। फिर 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त' इस मन्त्र के द्वारा सृष्टि का उपसंहार किया गया है और साथ-ही-साथ मोक्ष का भी उपसंहारात्मक वर्णन किया गया है। इस तरह कोई भी मनुष्य यदि पुरुषसूक्त को उपर्युक्त ज्ञान के साथ आत्मसात् करता है, तो वह अवश्य ही मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

यहाँ प्रथम खण्ड समाप्त होता है।

❋

द्वितीयः खण्डः

अथ तथा मुद्गलोपनिषदि पुरुषसूक्तस्य वैभवं विस्तरेण प्रतिपादितम्। वासुदेव इन्द्राय भगवज्ज्ञानमुपदिश्य पुनरपि सूक्ष्मश्रवणाय प्रणतायेन्द्राय परमरहस्यभूतं पुरुषसूक्ताभ्यां खण्डद्वयाभ्यामुपादिशत् ॥1॥

इस तरह मुद्गलोपनिषद् में पुरुषसूक्त का वैभव (भव्यता) विस्तार से (प्रथम खण्ड में) वर्णित किया गया। यह विशिष्ट उपदेश वासुदेव ने पहले इन्द्र को दिया था। उस रहस्यमय तत्त्वज्ञान को फिर से सुनने के लिए इन्द्रदेव सिर नवाँकर आए और भगवान् ने उस परमकल्याणकर रहस्य का पुरुषसूक्त के दो खण्डों में उन्हें उपदेश दिया।

द्वौ खण्डावुच्येते। योऽयमुक्तः स पुरुषो नामरूपज्ञानागोचरं संसारिणा-

मतिदुर्ज्ञेयं विषयं विहाय क्लेशादिभिः संक्लिष्टदेवादिजिहीर्षया सहस्र-कलावयवकल्याणं दृष्टमात्रेण मोक्षदं वेषमाददे। तेन वेषेण भूम्यादि-लोकं व्याप्यानन्तयोजनमत्यतिष्ठत् ॥2॥

इस पुरुषसूक्त के दो खण्ड किए गए हैं। इसमें जिस विराट् पुरुष को कहा गया है, वह नाम, रूप और ज्ञान से अतीत होने के कारण उनका विषय नहीं है और संसारी जीवों के लिए तो अत्यन्त दुर्विज्ञेय है। इसलिए उसने अपनी उस दुर्विज्ञेयता को छोड़कर क्लेशादि में पड़े हुए उन देवों आदि की (और अन्य प्राणियों की) भलाई के (श्रेय के) लिए अनेक कलाओं वाला रूप धारण किया। यह अवयवादि वाला रूप दर्शनमात्र से ही मोक्ष देने वाला है। उसी रूप (वेष) वह पृथिवी आदि लोकों में व्याप्त होकर अनन्त योजनों तक विस्तृत हो गया।

पुरुषो नारायणो भूतं भव्यं भविष्यच्चासीत्। स एष सर्वेषां मोक्षदश्चा-सीत्। स च सर्वस्मान्महिम्नो ज्यायान्। तस्मान्न कोऽपि ज्यायान् ॥3॥ महापुरुष आत्मानं चतुर्धा कृत्वा त्रिपादेन परमे व्योम्नि चासीत्। इतरेण चतुर्थेनानिरुद्धनारायणेन विश्वान्यासन् ॥4॥

इस सृष्टि की उत्पत्ति के पहले भगवान् नारायण ही केवल भूतकाल, वर्तमान काल और भविष्यकाल के रूप में अवस्थित थे और वही सबको मोक्ष प्रदान करने वाले भी थे (हैं)। वही अपनी महिमा से सबसे महान् हैं। उनसे अधिक विशिष्ट तो कोई भी नहीं है। उन परमपुरुष परमात्मा ने अपने आपको चार भागों में बाँटकर उसके तीन भागों को परम व्योम में रखा (यहाँ ऐसा अर्थ भी लिया जा सकता है कि नारायण ने चतुर्व्यूहों में अपने को विभक्त करके तीन भागों को वैकुण्ठ में रखा) और चौथे भाग से (अन्य अर्थ में अनिरुद्ध से) ये सब लोक उत्पन्न हुए। (वैकुण्ठ में अवस्थित तीन भाग—वासुदेव, प्रद्युम्न और संकर्षण हैं—यह अन्य अर्थ भी है)।

स च पादनागय्रणो जगत्स्रष्टुं प्रकृतिमजनयत्। स समृद्धकायः सन्सृष्टिकर्म न जज्ञिवान्। सोऽनिरुद्धनारायणस्तस्मै सृष्टिमुपादिशत्। ब्रह्मंस्तवेन्द्रियाणि याजकानि ध्यात्वा कोशभूतं दृढं ग्रन्थिकलेवरं हविर्ध्यात्वा मां हविर्भुजं ध्यात्वा वसन्तकालमाज्यं ध्यात्वा ग्रीष्ममिध्मं ध्यात्वा शरदृतुं रसं ध्यात्वैवमग्नौ हुत्वाङ्गस्पर्शात्कलेवरो वज्रं हीष्यते। ततः स्वकार्यान्सर्वप्राणिजीवान्सृष्ट्वा पश्चाद्याः प्रादुर्भविष्यन्ति। ततः स्थावरजङ्गमात्मकं जगद्भविष्यति ॥5॥

चतुर्थपादस्वरूप उन नारायण ने जगत् की रचना करने के लिए प्रकृति को उत्पन्न किया अर्थात् ब्रह्माजी को उत्पन्न किया। वह समृद्ध शरीर वाले थे (समर्थ थे), फिर भी अपने में अवस्थित आवरण से (अज्ञानावरण से) सृष्टि-रचना की प्रक्रिया से अनभिज्ञ थे। तब उन अनिरुद्ध नारायण ने उन्हें (ब्रह्माजी को) सृष्टि रचने की प्रक्रिया का उपदेश दिया। वे बोले कि हे ब्रह्मन्! आप अपनी वागिन्द्रिय आदि सभी इन्द्रियों को यज्ञकर्ता के रूप में समझें और कमलकोश से उद्भूत सुदृढ शक्तियुक्त अपने शरीर को हवि के रूप में मानें। बसन्त ऋतु को घी, ग्रीष्मऋतु को समिध और शरदृऋतु को रस मानकर और मुझे हवि का भोक्ता मानकर अग्नि में इस तरह हवन करें। ऐसा करने से आपका शरीर अत्यन्त शक्तिशाली हो जाएगा कि वज्र भी उसके स्पर्श से कुण्ठित हो जाएगा। आपके इस यज्ञकर्म के परिणाम स्वरूप समस्त प्राणि-समूह भी उत्पन्न होंगे। तब स्थावर-जंगमरूप यह सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न होगा।

एतेन जीवात्मनोर्योगेन मोक्षप्रकारश्च कथित इत्यनुसन्धेयम् ॥6॥

य इमं सृष्टियज्ञं जानाति मोक्षप्रकारं च सर्वमायुरेति ॥7॥

इति द्वितीयः खण्डः ।

इस वर्णन के द्वारा जीव और आत्मा के मिलन से मोक्ष की प्राप्ति का प्रकार भी कहा गया है, ऐसा समझना चाहिए। जो साधक इस सृष्टियज्ञ को और मोक्ष के प्रकार को जानता है, वह व्यक्ति सम्पूर्ण आयुष्य को प्राप्त करता है।

यहाँ दूसरा खण्ड पूरा हुआ।

❄

तृतीयः खण्डः

एको देवो बहुधा निविष्ट अजायमानो बहुधा विजायते ॥1॥
तमेतमग्निरित्यध्वर्यव उपासते। यजुरित्येष हीदं सर्वं युनक्ति। सामेति छन्दोगाः। एतस्मिन्हीदं सर्वे प्रतिष्ठितम्। विषमिति सर्पाः। सर्प इति सर्पविदः। ऊर्गिति देवाः। रयिरिति मनुष्याः। मायेत्यसुराः। स्वधेति पितरः। देवजन इति देवजनविदः। रूपमिति गन्धर्वाः। गन्धर्व इत्यप्सरसः ॥2॥
तं यथायथोपासते तथैव भवति। तस्माद् ब्राह्मणः पुरुषरूपं परंब्रह्मै-वाहमिति भावयेत्। तद्रूपो भवति। य एवं वेद ॥3॥

इति तृतीयः खण्डः ।

इस जगत् में एक ही देव अनेक रूपों में समाविष्ट होकर अवस्थित है। वह स्वयं तो जन्मादि-रहित है, फिर भी अनेकानेक प्रकार से जन्म लेता है। उसी एक पुरुष की उपासना अध्वर्यु लोग अग्नि के रूप में करते हैं। यजुर्वेदीय लोग उसे 'यह यजु है' ऐसा मानकर सभी यज्ञ-कार्यों में उसे नियोजित करते हैं। सामगान करने वाले लोग उसी को साम के रूप में मानते हैं। यह सम्पूर्ण जगत् उसी में प्रतिष्ठित रहा है। सर्प उसे विष मानते हैं, सर्पविद् लोग उसे सर्प मानते हैं। (इसका दूसरा अर्थ—सर्प = गतिशील प्राण उसे विषरूप में और सर्पविद् = प्राणविद् योगी उसे सर्प = प्राणरूप में मानते हैं—इस प्रकार भी लिया जा सकता है)। देवलोग इसे अमृत मानते हैं, सामान्य मनुष्य इसे धन (जीवन) मानते हैं, असुर लोग इसे माया मानते हैं, पितृलोग इसे स्वधा मानते हैं, देवोपासक इसे देव मानते हैं। गन्धर्व इसे रूप मानते हैं, अप्सराएँ इसे गन्धर्व मानती हैं। इस विराट् को जो जिस रूप में मानता है, वह उसी रूपवाला हो जाता है। इसलिए ब्रह्मज्ञानी को चाहिए कि वह उस पुरुषरूप को 'वह परब्रह्मरूप पुरुष मैं ही हूँ'—ऐसी भावना करे। जो इस प्रकार जानता है और भावना करता है, वह तद्रूप (ब्रह्मरूप) ही जाता है।

यहाँ तृतीय खण्ड पूरा हुआ।

❄

चतुर्थः खण्डः

तद्ब्रह्म तापत्रयातीतं षट्कोशविनिर्मुक्तं षडूर्मिवजितं पञ्चकोशातीतं षड्भावविकारशून्यमेवमादिसर्वविलक्षणं भवति ॥1॥
तापत्रयं त्वाध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकं कर्तृकर्मकार्यज्ञातृज्ञानज्ञेय-भोक्तृभोगभोग्यमिति त्रिविधम् ॥2॥

वह ब्रह्म (पूर्णपुरुष) तीनों तापों से रहित, छः कोषों से रहित, छः ऊर्मियों से रहित, पंच कोशों से रहित, छः भावविकारों से शून्य है। इस प्रकार यह ब्रह्म सभी से विलक्षण है। पूर्वकथित तीन ताप आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक हैं। इन तीनों में कर्त्ता-कर्म-कार्य तथा ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय तो एक-एक ही हैं फिर भी वे तीन प्रकार के हैं।

त्वङ्मांसशोणितास्थिस्नायुमज्जाः षट्कोशाः ॥3॥
कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्यमित्यरिषड्वर्गः ॥4॥
अन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमया इति पञ्चकोशाः ॥5॥
प्रियात्मजननवर्धनपरिणामक्षयनाशाः षड्भावाः ॥6॥

ऊपर जो छः कोश कहे गए हैं वे हैं—त्वचा, मांस, अस्थि, स्नायु, रक्त और मज्जा। निर्दिष्ट षड्वर्ग ये हैं—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य। पूर्वोक्त पाँच कोश हैं—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय। और षड्भाव ये हैं—प्रियत्व, जन्म, संवर्धन, परिणाम, क्षय और नाश। (षड्वर्ग को षड्‌रिपु और षड्भावों को षड्विकार भी कहा जाता है)।

अशनायापिपासाशोकमोहजरामरणानीति षडूर्मयः ॥7॥
कुलगोत्रजातिवर्णाश्रमरूपाणि षड्भ्रमाः ॥8॥
एतद्योगेन परमपुरुषो जीवो भवति नान्यः ॥9॥

क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह, वृद्धावस्था और मृत्यु—ये छः ऊर्मियाँ हैं और कुल (वंश), गोत्र, जाति, वर्ण, आश्रम और रूप—ये छः भ्रम कहे गए हैं। इन सबके संयोग से वह परमपुरुष ही जीव का रूप धारण करता है। जीव कोई परमपुरुष से अन्य (पृथक्) तो नहीं है।

य एतदुपनिषदं नित्यमधीते सोऽग्निपूतो भवति। स वायुपूतो भवति। स आदित्यपूतो भवति। अरोगी भवति। श्रीमांश्च भवति। पुत्रपौत्रादिभिः समृद्धो भवति। विद्वांश्च भवति। महापातकात्पूतो भवति। सुरापानात्पूतो भवति। अगम्यागमनात्पूतो भवति। मातृगमनात्पूतो भवति। दुहितृस्नुषाभिगमनात्पूतो भवति। स्वर्णस्तेयात्पूतो भवति। वेदोजन्महानात्पूतो भवति। गुरोरशुश्रूषणात्पूतो भवति। अयाज्ययाजनात् पूतो भवति। अभक्ष्यभक्षणात् पूतो भवति। उग्रप्रतिग्रहात्पूतो भवति। परदारगमनात्पूतो भवति। कामक्रोधलोभमोहेर्ष्यादिभिरबाधितो भवति। सर्वेभ्यः पापेभ्यो मुक्तो भवति। इह जन्मनि पुरुषो भवति ॥10॥

जो मनुष्य (साधक) इस उपनिषद् का हमेशा अध्ययन (सार्थ पाठ) करता है, वह अग्नि जैसा पवित्र हो जाता है। वह वायु जैसा निर्मल हो जाता है। वह सूर्य जैसा पवित्र हो जाता है। वह नीरोगी होता है। वह सम्पत्तिशाली होता है। वह पुत्र-पौत्रादि से समृद्ध होता है। वह विद्वान् होता है। वह बड़े पापों से मुक्त होकर पवित्र हो जाता है। वह मद्यपान के पाप से मुक्त (पवित्र) हो जाता है। वह असंभोग्य के साथ संभोग करने के पाप से मुक्त हो जाता है। वह माता के साथ संगम करने के पाप से छुटकारा पाकर पवित्र हो जाता है। वह पुत्री और बहन के साथ दुराचरण के पाप से मुक्त होकर पवित्र हो जाता है। वह सुवर्ण की चोरी के पाप से मुक्त होकर पवित्र हो जाता है। वह वेदों से उपलब्ध ज्ञान की हानि (नाश) के पाप से छूटकर पवित्र हो जाता है। वह गुरु-सेवा के अभाव के पाप से मुक्त होकर पवित्र हो जाता है। वह अपूजनीय की पूजा (अयाजनीय के याज) के पाप से मुक्त होकर पवित्र

हो जाता है। अभक्ष्य का भक्षण करने के पाप से बचकर वह पवित्र हो जाता है। उग्र (निम्न प्रकार का) दान लेने के पाप से भी मुक्त होकर पवित्र हो जाता है। परस्त्रीगमन के पाप से मुक्त होकर पवित्र हो जाता है। काम-क्रोध-लोभ-मोह-ईर्ष्या आदि छः शत्रुओं से वह किसी प्रकार भी बाधित नहीं होता। वह सभी पापों से मुक्त हो जाता है। इसी जन्म में वह पुरुष (परमपुरुष) बन जाता है।

तस्मादेतत्पुरुषसूक्तार्थमतिरहस्यं राजगुह्यं देवगुह्यं गुह्यादपि गुह्यतरं नादीक्षितायोपदिशेत्। नानूचानाय। नायज्ञशीलाय। नावैष्णवाय। नायोगिने। न बहुभाषिणे। नाप्रियवादिने। नासंवत्सरवेदिने। नातुष्टाय। नानधीतवेदायोपदिशेत् ॥11॥

इस तरह पुरुषसूक्त का यह अर्थ अतिरहस्यमय है। गुह्यवस्तुओं का वह राजा (परमगुह्य) है। यह देवों के लिए भी गुह्य है। गुह्य से भी अधिक गुह्य है। दीक्षा लिए बिना किसी को इसका उपदेश नहीं करना चाहिए। जो जानते हुए भी जिज्ञासारहित होकर कुतूहल के लिए प्रश्न पूछने वाला हो, उसे भी इस सूक्त का उपदेश नहीं करना चाहिए। जो यज्ञ करने वाला न हो और जो वैष्णव न हो, उसे भी इसका उपदेश नहीं करना चाहिए। जो अयोगी हो, जो ज्यादा बकवास करने वाला हो, जो अप्रिय वचन बोलने वाला हो, जो प्रतिवर्ष एक बार वेदाध्ययन न करता हो, जो असन्तुष्ट हो, जिसने वेदाध्ययन न किया हो—ऐसे लोगों को इस सूक्त का उपदेश नहीं देना चाहिए।

गुरुरप्येवंविच्छुचौ देशे पुण्यनक्षत्रे प्राणानायम्य पुरुषं ध्यायन्नुपसन्नाय शिष्याय दक्षिणकर्णे पुरुषसूक्तार्थमुपदिशेद्विद्वान्। न बहुशो वदेत्। यातयामो भवति। असकृत्कर्णमुपदिशेत्। एतत्कुर्वाणोऽध्येताध्यापकश्च इह जन्मनि पुरुषो भवतीत्युपनिषत् ॥12॥

इति चतुर्थः खण्डः।

इति मुद्गलोपनिषत्समाप्ता।

इस सूक्त के अर्थ को सही रूप में जानने वाले गुरु भी किसी पवित्र देश में, पवित्र-शुभ-नक्षत्रों में, प्राणायाम करके, उस परमपुरुष का ध्यान करके, नम्रतापूर्वक पास में आए हुए शिष्य के दाहिने कान में पुरुषसूक्त के अर्थ का उपदेश करे। गुरु को मन्त्र के अलावा ज्यादा नहीं बोलना चाहिए क्योंकि इससे वह उपदेश यातयाम (बासी-उच्छिष्ट-निःसार) को जाएगा। इस मन्त्र (मन्त्ररहस्य) का बार-बार कान में उपदेश करना चाहिए। इस प्रकार से करने वाले गुरु और शिष्य (दोनों) इसी जन्म में परमपुरुष रूप अर्थात् परब्रह्मरूप हो जाते हैं। यही यह उपनिषद् है।

मुद्गलोपनिषद् यहाँ समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ वाङ्मे मनसि""वक्तारमवतु वक्तारम्। (पूर्ववत्)

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

मन्त्रानुक्रमणिका

अ

ऐ

ओ

प

ब

म

वैखानसऋषेः पूर्वं	सीता० 32
वैखानसमतस्तस्मिन्नादौ	सीता० 26
वैद्युदादिमयं तेजो	बृहज्जा० 2.6
वैराग्यतैलसम्पूर्णे	द०मू० 27
व्यञ्जनैः स्वरसंयोगं	रा०र० 5.6
व्यानः श्रोत्रोरुकट्यां	त्रि०ब्रा० 2.82
व्यानः सर्वेषु चाङ्गेषु	अमृ० 35
व्योमरन्ध्रगतो नादो	ध्या०बि० 103
व्योम्नि मारुतमारोप्य	त्रि०ब्रा० 2.142
व्रजत्यूर्ध्वं हठाच्छक्त्या	ध्या०बि० 86
श	
शंसन्तमनुशंसन्ति	मन्त्रि० 9
शक्तिसेना कल्पना च	रामपूर्व० 1.10
शङ्खचक्रगदापाणे	वासु० 5
शङ्खतोयेन मूलेन	बृहज्जा० 4.11
शतं च नवशाखासु	सीता० 25
शतरुद्रेण मन्त्रेण	बृहज्जा० 6.8
शतारं शतपत्राढ्यं	ध्या०बि० 34
शनैः शनैरथ बहिः	त्रि०ब्रा० 2.96
शनैः समस्तमाकृष्य	ध्या०बि० 100
शब्दं सर्वमसद्विद्धि	ते०बि० 3.57
शब्दकाललयेन दिवा०	मं०ब्रा० 2.2.4
शब्दमायावृतो यावत्	ब्र०बि० 15
शब्दस्पर्शमया येऽर्था	मैत्रे० 1.5
शब्दस्पर्शादयो येऽर्था	मैत्रा० 4.2
शब्दाक्षरं परंब्रह्म	ब्र०वि० 16
शब्दादिविषयान् पञ्च	अमृ० 5
शमो विचारः सन्तोषः	ते०बि० 5.79
शरं धनुषि सन्धाय	रा०र० 2.72
शरा जीवास्तदङ्गेषु	शरभ० 30
शरीरमिति कस्मात्	गर्भ० 19
शशशृङ्गेण नागेन्द्रः	ते०बि० 6.74
शशिमध्यगतो वह्निः	ध्या०बि० 27
शशिस्थाने वसेद्बिन्दुः	ध्या०बि० 88
शाङ्करीयं महाशास्त्रम्	ते०बि० 6.108
शाटीद्वयं कुटीचकस्य	ना०परि० 7.6
शान्तः प्रसन्नवदनः	रामोत्तर० 5.29
शान्ताशान्तादिहीनात्मा	ते०बि० 5.5
शान्तो दान्तोऽतिविरक्तः	त्रि०वि० 1.4
शास्त्रज्ञानात्पापपुण्यलोक	ना०परि० 5.4
शास्त्राण्यधीत्य मेधावी	अमृ० 1
शास्त्रे मयि त्वयीशे च	ते०बि० 2.42
शिखा ज्ञानमयी	ब्रह्म० 14
शिखा ज्ञानमयी यस्य	ना०परि० 3.89
शिखा ज्ञानमयी वृत्तिः	त्रि०ब्रा० 2.23
शिखा तु दीपसंकाशा	ब्र०वि० 9
शिरोललाटभ्रूमध्ये	रा०र० 2.43
शिव एव सदा ध्येयः	शरभ० 34
शिववक्षसि स्थितं	बृहज्जा० 6.10
शिवश्चोर्ध्वमयः शक्तिः	बृहज्जा० 2.12
शिवाग्निना तनुं दग्ध्वा	बृहज्जा० 2.19
शिवाय विष्णुरूपाय	स्क० 8
शिष्याश्च स्वस्वकार्येषु	यो०त० 78
शीतोष्णाहारनिद्रा०	मं०ब्रा० 1.1.3
शीतोष्णो क्षुत्पिपासे च	ते०बि० 1.13
शीर्षके च ललाटे च	बृहज्जा० 4.22
शीर्षोपरि द्वादशाङ्गुलि०	मं०ब्रा० 1.2.10
शुक्लं चन्द्रेण संयुक्तं	यो०चू० 64
शुक्लदन्तो भस्मदिग्धो	बृहज्जा० 3.26
शुक्लो रक्तः कृष्णो धूम्रः	गर्भ० 7
शुचिर्वाऽप्यशुचिर्वाऽपि	यो०चू० 88
शुचौ देशे सदा भिक्षुः	ना०परि० 4.18
शुद्धज्ञानामृतं प्राप्य	ब्र०वि० 46
शुद्धस्फटिकसंकाशं	ध्या०बि० 29
शुद्धस्फटिकसंकाशम्	यो०त० 90,100, 107
शुद्धाकाशे वने जाते	ते०बि० 6.98
शुद्धाकाशो मनुष्येषु	ते०बि० 6.97
शुद्धिमेति यदा सर्वं	यो०चू० 94
शुद्धोऽहमान्तरोऽहम्	आ०बो० 2.10
शुद्धौ यतेत नाडीनां	त्रि०ब्रा० 2.89
शुभं यद्यशुभं विद्धि	ते०बि० 5.23
शून्यात्मा सूक्ष्मरूपात्मा	ते०बि० 4.43

❋

उपनिषदें वैदिक वाङ्मय के विकास के अन्तिम सोपान हैं, अतएव इन्हें 'वेदान्त' के नाम से भी कहा जाता है। उपनिषदें भारतीय संस्कृति के प्राण हैं। इनमें वेदों की सर्वोत्कृष्ट ज्ञाननिधि [illegible]क्षित है। औपनिषदि[illegible] ज्ञान-गंगा में अक्षय प्रवाह है, औदार्य है। यहाँ अन्धवि[illegible] रूढ़ियों के प्रति विद्रोह है तथा वैज्ञानिक चिन्तन को आमन्त्रण है। प्रश्नकर्ता [illegible]ज्ञासु का यहाँ [illegible]र है, उसके प्रति शंका, घृणा या दुत्कार नहीं। सबको अप[illegible] कहने की छूट [illegible]दि खण्डन है तो सतर्क और सटीक है; किसी दुराग्रह या [illegible] को या पूर्वाग्रह [illegible]थोपने का प्रयास नहीं है। उपनिषदों के समस्त कथन यु[illegible] और वैज्ञानि[illegible]तुतीकरण पर आधारित हैं। अस्तु।

उपनिषदों के मतों में दिखाई देनेवाली असमानताओं के कारण अथवा यों कहें कि उन मतों की सर्वाभिमुखता से उनमें से अलग-अलग अर्थ निकालने का बहुत बड़ा अवकाश है। भाष्यकारों के विविध मतों का भी यही कारण है। इस पर अनेक भाष्य-टीका-वार्तिक आदि होने पर भी अभी और नये अर्थ निकालने की सम्भावना यथावत् बनी हुई ही है। अर्थ-वैविध्य ही इसका वैशिष्ट्य है। इन्द्रधनुष के किस रंग को आप नकार सकते हैं, सभी रंग वास्तविक ही तो हैं।

उपनिषदों के इस संग्रह को अपने मूल स्वरूप में प्रकाशित करने का यही हेतु है। अनेक अर्थों की सम्भावना वाले मन्त्रों का कोई यदि नया ही अर्थ प्रकाशित करता है तो इससे भारतीय चिन्तन को लाभ ही होगा, हानि नहीं।

इस उद्देश्य को ध्यान में रखकर प्रकृत संस्करण में विद्वान् लेखक ने मूलपाठों का, जहाँ तक बन सका है अन्वय करके शब्दशः अनुवाद करने का प्रयास किया है। प्रासादिकता का जतन हो और अर्थ समझने में सरलता हो, इसको दृष्टि में रखते हुए आवश्यकतानुरूप यत्र-तत्र कतिपय शब्दों को ब्रैकेट ( ) में तथा कुछ को स्वतन्त्र रखकर विषयवस्तु को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। साथ ही प्रत्येक उपनिषद् के आरम्भ में उसका परिचय भी प्रस्तुत किया गया है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक खण्ड के अन्त में अकारादि क्रम से मन्त्रानुक्रमणिका दी गई है तथा ग्रन्थान्त में पारिभाषिक कोश का समायोजन भी किया गया है।

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

दिल्ली